प्रकाशक
सरस्वती सदन, मसूरी।

प्रथम संस्करण, १९६०
द्वितीय संशोधित संस्करण, १९६१
तृतीय संशोधित संस्करण, १९६३
चतुर्थ संशोधित संस्करण, १९६५
पंचम संशोधित संस्करण, १९६७

प्रातः स्मरणीय

पूज्य माँ

की

पवित्र स्मृति में

जिनके ऋण से मैं कभी उऋण नहीं हो सकता !

पंचम संस्करण के लिये दो शब्द

मुझे हर्ष है कि विद्यार्थियों तथा अध्यापकों, दोनों ही ने पुस्तक के चौथे संस्करण का हृदय से स्वागत किया। मैं इन दोनों वर्गों का अत्यंत आभारी हूँ। इस संस्करण में पुस्तक को, एक दृष्टि से नवीन रूप प्रदान किया गया है। आँकड़े तो नवीनतम दिये ही गये हैं किन्तु अधिक बल भाषा तथा विषय-सामग्री पर दिया गया है। प्रस्तुत पुस्तक अर्ध-विकसित तथा अविकसित अर्थ-व्यवस्थाओं के संदर्भ में लिखी गई है। प्रत्येक समस्या का अध्ययन अर्ध-विकसित देशों को ध्यान में रख कर किया गया है। नये संस्करण में अनेक अध्यायों को दुबारा लिखा गया है और बहुत से अध्यायों में नया मैटर जोड़ दिया गया है। हर जगह अद्यतन सामग्री और आंकड़े देने का प्रयत्न किया गया है। नये बजट को परिशिष्ट के रूप में प्रस्तुत किया गया है। पिछले संस्करण की अपेक्षा इस संस्करण में रेखाचित्र, चार्ट आदि बढ़ा दिये गये हैं, जिनसे विषय को समझने में सहायता मिलेगी। मैं उन सभी का हृदय से कृतज्ञ हूँ जिन्होंने मुझे पुस्तक के परिवर्धन तथा संशोधन में सहयोग दिया है और सबसे अधिक अपने प्रिय विद्यार्थियों तथा अध्यापकगण का जिनके कारण पुस्तक का पंचम संस्करण सम्भव हो सका। मुझे विश्वास है कि यह पुस्तक, जिनके लिये लिखी गई है उनको अब और भी अधिक उपयोगी सिद्ध होगी।

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, तिलक नारायण हजेला
नई दिल्ली

प्रस्तावना

गत ५० वर्षों से राजस्व के सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक क्षेत्र में अथाह प्रगति हुई है। आज 'राजस्व', अर्थ-विज्ञान का एक महत्वपूर्ण अंग बन चुका है। व्यावहारिक क्षेत्र में अब 'राजस्व नीति' ही, सरकार की सबसे महत्वपूर्ण नीति, समझी जाने लगी है। बजट घोषित होने से पहले सम्पूर्ण देश का आर्थिक जीवन कुछ शिथिल पड़ जाता है और बजट घोषित होते ही एक नई स्फूर्ति, एक नए जीवन का संचार हो जाता है। यही नहीं, एक देश के बजट में आज विदेशों को भी उतना ही कौतूहल होता है जितना देशवासियों को। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की दिशा एवं प्रकृति बहुत कुछ बजट द्वारा ही निर्धारित किये जाते हैं। इसीलिये राजस्व नीति का भली-भाँति समझना और अपने देश की राजस्व नीति के निर्माण में भाग लेना प्रत्येक नागरिक का पवित्र कर्त्तव्य हो जाता है।

वैसे तो 'राजस्व' पर पुस्तकों का कोई अभाव नहीं है। साहित्य के इस अपार समुद्र में एक से एक सुन्दर और अच्छी पुस्तकें लिखी गई हैं, जिनके लेखक अपने

विषय के पण्डित हैं। किन्तु यह कहना ही पड़ता है कि हिन्दी के राष्ट्र भाषा घोषित हो जाने से अब तक और भारत के स्वतन्त्र होने से अब तक, कोई भी पुस्तक हिन्दी में ऐसी नहीं लिखी गई है जिसे 'राजस्व' का एक न्यायपूर्ण अध्ययन कहा जा सके। अब तक 'राजस्व' पर संक्षिप्त अध्ययन ही राष्ट्रभाषा में प्रस्तुत किये गये हैं। प्रस्तुत पुस्तक, राष्ट्रभाषा में राजस्व सम्बन्धी समस्याओं की एक विस्तृत विवेचना प्रस्तुत करने के हेतु एक छोटा-सा प्रयास है। मैंने विभिन्न समस्याओं को सरल से सरल भाषा में समझाने का प्रयत्न किया है। यह पुस्तक एम० ए० तथा एम० काम० के विद्यार्थियों के लिये लिखी गई है, वैसे बी० ए० और बी० काम० के छात्र भी इससे लाभ उठा सकते हैं। आशा है यह विद्यार्थियों के लिये उपयोगी सिद्ध होगी और उनकी एक बड़ी कमी को दूर करेगी।

विषय या विचारों की दृष्टि से पुस्तक में कुछ भी नवीनता न मिल सकेगी। मैंने विषय के सभी पण्डितों तथा विशेषज्ञों के विचारों का बड़ी ही स्वतन्त्रता के साथ प्रयोग किया है। मैं उन सभी का हृदय से आभारी हूँ। यद्यपि मैंने यथास्थान उनके ऋण को स्वीकार किया है, किन्तु यदि कहीं छूट गया है तो केवल भूल मात्र से और आशा है, वे क्षमा करेंगे।

इस पुस्तक को लिखने में मुझे सबसे अधिक प्रेरणा, सदैव की भांति अपने गुरु श्री कालका प्रसाद भटनागर, वाइस चान्सलर, आगरा यूनिवर्सिटी से प्राप्त हुई है। मैं उनकी कृतज्ञता को अभिव्यक्त करने के लिये अपने कोष में शब्दों का अभाव पा रहा हूँ। सचमुच जितना कहा जाय उतना ही कम होगा। संक्षेप में, जो कुछ है सब उन्हीं का है।

मैं अपने गुरुजनों में डा० महेन्द्र प्रसाद माथुर, प्रिंसिपल, महाराणा कालेज, उदयपुर और प्रो० अनंतराम निगम, अध्यक्ष, अर्थशास्त्र विभाग, डी० ए० वी० कालेज, कानपुर का विशेष रूप से आभारी हूँ। अपने मित्र गणों में, प्रो० त्रिभुवन नाथ भगोलीवाल, डाक्टर सुरेशचन्द्र गुप्त और डाक्टर सुरेन्द्र प्रसाद सक्सेना, अध्यापक अर्थशास्त्र विभाग, डी० ए० वी० कालेज, कानपुर और डाक्टर गिरधारील[illegible] वाणिज्य विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ से मुझे समय-समय पर [illegible] प्रस्ताव प्राप्त होते रहने से, मैं पुस्तक की रचना करने में समर्थ हो सका हूँ। [illegible] कालेज के अपने सहयोगी अध्यापक मित्रों को भी विस्मरण नहीं कर सकता, जिन्होंने इस ग्रंथ की रचना के लिए मुझे समय-समय पर प्रोत्साहन दिया है। मेरा उनके लिये हृदय से धन्यवाद। पुस्तक की रूप-रेखा तथा सूची तैयार करने में मुझे अपनी धर्मपत्नी श्रीमती उर्मिला हजेला तथा प्रो० कृष्ण मोहन सहाय, महाराजा कालिज, जोधपुर से अपूर्व सहायता प्राप्त हुई। मैं इनका भी कृतज्ञ हूँ।

तिलक नारायण हजेला

बरेली कालेज,
बरेली।

विषय-सूची

—:o:—

'राजस्व'

भाग—१

राजकीय व्यय

भाग—४

संघीय वित्त-व्यवस्था

भाग—५

भारतीय कर-प्रणाली और उसके मुख्य अंग

भाग—६

राजकीय ऋण

भाग—७

वित्तीय प्रशासन (Financial Administration)

भाग—८

बेकारी, पूर्ण-रोजगार तथा राजस्व नीति X

राजस्व

अध्याय १

भूमिका
(INTRODUCTION)

प्राक्कथन—

पिछले लगभग ६० वर्षों से राज्य का कार्य-क्षेत्र इतना विस्तृत हो गया है कि लगभग सब प्रकार के राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक कार्य उसी के द्वारा किये जाते हैं। यह ही नहीं, आज का समाज भी उससे बहुत-से ऐसे कार्यों की आशा करने लगा है जो पहले कोई सोचता भी न था जैसे सामाजिक सुरक्षा, मूल्य-नियन्त्रण तथा धन का समान वितरण आदि। इस प्रकार राज्य का कार्य केवल राजनैतिक सुरक्षा एवं शान्ति स्थापित करना ही नहीं बल्कि इसके अतिरिक्त समाज में संतुलन अवस्था उत्पन्न करना भी है। प्रो० लास्की ने ठीक ही कहा कि राज्य, "समाज की महराब की आधारशिला है, जो उन अनेकों मानव-जीवनों के रूप और प्रकृति को साँचे में ढालता है जिनके भाग्यों की संरक्षता का दायित्व उस पर है।"[1] राज्य इन कार्यों को सरकार द्वारा करता है। सरकार के अनेकों कार्यालय होते हैं और वह अनेकों संस्थाओं द्वारा अपने कार्यों को सम्पन्न करती है। देश का प्रत्येक नागरिक राज्य का एक अंग है परन्तु वह सरकार का अंग नहीं होता। व्यावहारिक जीवन में राज्य और सरकार में भेद करना कठिन है। हमें यहाँ पर इस वाद-विवाद में उलझना नहीं है केवल इतना जानना है कि राज्य एक सार्वजनिक संस्था है और प्रत्येक नागरिक के हित में कार्य करना उसका परम कर्तव्य है। सामाजिक हित में कार्य करने के लिए, इसे व्यक्तिगत क्रियाओं में यदि वे सामाजिक हित अग्रसर नहीं करतीं, हस्तक्षेप भी करना होता है। पिछली शताब्दी तक राज्य का सम्बन्ध मनुष्य के केवल राजनैतिक जीवन से ही था, परन्तु अब मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन पर ही राज्य का आधिपत्य है। सच तो यह है कि अब राज्य, गर्भ से श्मशान भूमि तक मनुष्य की देखभाल करता है। "प्रत्येक मनुष्य के जन्म की सूचना राज्य द्वारा नियुक्त संस्था को देनी होती है। शिशु अवस्था में राज्य के नियमानुसार प्रत्येक व्यक्ति को टीका लगवाना होता है। राज्य के नियमानुसार ही हमारे माता-पिता हमें शिक्षा प्रदान करते हैं। शिक्षा प्राप्त करके हम जीविका के साधन ढूंढते हैं, जिनकी प्राप्ति

1. "The Keystone of the social arch, moulding the form and substance of the myriad human lives whose destinies it is charged."

में भी राज्य सहायता करता है। हमारे काम के घंटे, दूकान या फैक्टरियों में हमें प्राप्त होने वाली हवा की मात्रा आदि सभी के लिए राज्य के नियम हैं। सामाजिक दुर्घटनाओं के विरुद्ध हमारी सुरक्षा करने के लिए हमारे वेतन में से अनिवार्य रूप से वीमें की राशि ले ली जाती है, चाहे हमें बीमा योजना पसन्द हो या नहीं। विशेष प्रकार के व्यवसायों के लिए हमें राज्य से लाइसेन्स लेना होता है। वस्तुओं में मिलावट करने पर राज्य दण्ड देता है। हमारे कुछ विदेशी वस्तुओं के क्रय पर भी राज्य नियन्त्रण रखता है। यह हमारी आय और व्यय पर कर लगाकर उनको नियन्त्रित करता है और यहाँ तक कि हमारी मृत्यु की सूचना भी राज्य द्वारा निश्चित संस्था को दी जाती है और जिस स्थान पर हमारी अन्तिम क्रिया की जाती है उसकी देखभाल भी राज्य की एक संस्था ही करती है।"[2] इस प्रकार राज्य अब केवल देश की सुरक्षा का ही प्रवन्ध नहीं करता वल्कि समाज के आर्थिक जीवन का प्रबन्ध और नियन्त्रण भी करता है। इसीलिए आज राज्य का कार्यक्षेत्र इतना विस्तृत हो गया है। स्टीनर के अनुसार, "सरकार की शक्ति साधारण शब्दों में, आजकल प्रत्येक घर, प्रत्येक कारखाने तथा प्रत्येक खेत में अनुभव की जाती है। यह अपने अन्तर्गत प्रत्येक प्रकार की आर्थिक क्रियाओं को समेट लेती है, उनका मार्ग-दर्शन, निर्देशन और नियन्त्रण करती है। आर्थिक संस्थायें सरकारी कार्यवाही अथवा सरकारी हस्तक्षेप के सचेत अभाव के आधार पर कार्य करती हैं। आर्थिक जीवन का कोई भी कोना सरकार के हाथ से मुक्त नहीं है। कभी स्पर्श हलका होता है और कभी भारी, कभी उपयोगी तो कभी रुकावट उत्पन्न करने वाला, यह मन के अनुकूल भी हो सकता है अथवा मनमाना भी और लाभप्रद अथवा आकांक्षायुक्त भी। किन्तु किसी एक स्थान पर, चाहे जो भी उसका चरित्र हो, सरकार की शक्ति हमारे आर्थिक जीवनों को निकट से प्रभावित करती है और अधिकतर दृढ़ता से। सरकारी नियम सभी आर्थिक क्रियाओं का मूक सहभागी है और अधिकतर आर्थिक क्रिया का चपल सहभागी है।"[3]

आर्थिक जीवन में राज्य का स्थान—

राज्य मनुष्य के आर्थिक जीवन में क्यों हस्तक्षेप करता है? यह एक स्वाभाविक प्रश्न अवश्य है परन्तु महत्वपूर्ण भी है। राज्य के हस्तक्षेप का कोई न कोई कारण अवश्य होता है। या तो वह इसलिए हस्तक्षेप करता है कि उसके ऐसा न करने से किसी ऐसे सामान्य हित को आघात पहुँचेगा, जिसकी सुरक्षा का दायित्व उस पर है या उसके हस्तक्षेप न करने से कुछ ऐसे कार्य अपूर्ण रह जायेंगे, जो सामान्य कल्याण के लिए आवश्यक हैं। परन्तु इन सभी का कुछ न कुछ उद्देश्य अवश्य होता है जिसको कुछ शब्दों से सम्वोधित किया जाता है जैसे, सामान्य हित, कल्याण, आवश्यक कामों या अनिवार्य कार्यों की पूर्ति इत्यादि।

प्रारम्भिक काल से ही, जब से राज्य को एक स्थायी रूप प्राप्त हुआ है, राज्य

2. R. H. Soltau, *The Economic Functions of the State*, 1931., p. 12.
3. George Stainer, *Government's Role in Economic Life*, p. 2.

मनुष्य के आर्थिक जीवन में भाग लेता रहा है। राज्य के कुछ कार्य तो शताब्दियों पुराने हैं, जिनका जन्म राज्य के साथ ही साथ हुआ है, क्योंकि इनको राज्य के अतिरिक्त कोई और संस्था कर भी नहीं सकती थी जैसे, देश की आन्तरिक एवं वाह्य सुरक्षा का प्रबन्ध करना। इस कार्य के लिए राज्य केवल उतना ही कर लगाता था, जितना फौज और पुलिस की व्यवस्था में खर्च होता था। धीरे-धीरे क्रियाओं का क्षेत्र बढ़ा। सुरक्षा के लिए न्याय की एक विस्तृत प्रणाली, और सड़कों आदि के बनवाने की आवश्यकता हुई। व्यापार पर नियंत्रण लगाने पड़े। आन्तरिक एकता के लिए धार्मिक एकरूपता भी स्थापित करनी पड़ी। निर्धन, अपाहिजों और भिखारियों की उपस्थिति आन्तरिक एकता और शान्ति को भंग कर सकती थी, इसलिए, उनके लिए सुरक्षित स्थानों और आर्थिक सहायता का प्रबन्ध भी राज्य ने करना आरम्भ किया। इस प्रकार केवल देश की सुरक्षा के हेतु राज्य इतने सारे काम करता था। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उत्तराधिकारों और प्रसंविदों (Contracts) सम्बन्धी नियमों और नहरों को बनवाना, सड़कों पर पेड़ लगाना, स्कूल और अस्पताल खोलना, पुल और बाँध बनवाना आदि कार्य भी राज्य आरम्भ से ही कर रहा था।

प्रारम्भिक काल से ही राज्य अपने एजेन्ट, सरकार, द्वारा मनुष्य के आर्थिक जीवन में भाग लेता रहा है। उदाहरणार्थ, आरम्भ में सभी सरकारों ने सम्पत्ति के स्वामित्व तथा हस्तान्तरण के सम्बन्ध में नियम बनाये थे। इसी प्रकार से सरकारें, सड़कें बनवाने, सिंचाई सम्बन्धी व्यवस्था करने तथा इसी प्रकार की अन्य क्रियाओं को सम्पन्न करना अपना परम कर्तव्य समझती थीं। राज्य, प्राचीन मिस्र, बेबीलोन तथा अन्य यूरोपीय तथा एशियाई देशों में आर्थिक जीवन को पूर्ण रूप से नियन्त्रित करता था। कहीं कहीं पर यह नियन्त्रण इतना अधिक था कि मजदूरी मूल्यों, सेवाओं की लागतों के निर्धारण तथा वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादन एवं वितरण को भी राज्य नियन्त्रित करता था। कुछ समय पश्चात् यूनानी सभ्यता में कुछ ऐसे राज्य भी थे जहाँ प्रजातांत्रिक व्यवस्था थी और व्यक्तियों को राजनैतिक तथा आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त थी। किन्तु बाद में यूनान पर जब रोम का आधिपत्य स्थापित हो गया तो राजा पूर्ण रूप से एकाधिपति था और वह अपनी सैनिक शक्ति द्वारा व्यक्तिगत क्रियाओं को नियन्त्रित करता था। रोम-साम्राज्य के पतन के बाद भी राजकीय नियन्त्रण कम होने के स्थान पर बढ़ता ही गया। जागीरदारी प्रथा में खेतों पर काम करने वाले व्यक्तियों पर जमींदारों का पूर्ण स्वामित्व था और वे उनकी सभी प्रकार की व्यक्तिगत क्रियाओं को नियन्त्रित करते थे। सन् १००० के पश्चात् से एक ऐसा युग आया जब कि राजाओं तथा जमींदारों की सत्ता कम होती गई और आर्थिक नियन्त्रण धीरे-धीरे ढीले पड़ने लगे। इनके मुख्य कारण धार्मिक विचारधारा में परिवर्तन, व्यापारिक उन्नति, पूँजी का संचय, पुनर्जागरण और नये-नये महाद्वीप की खोज थे। किन्तु यह सब परिवर्तन जो पिछले एक हजार वर्षों की कहानी है, मानव-जाति को एक नई प्रकार की व्यवस्था की ओर ले गया और परिणामतया शक्ति-

शाली राष्ट्रवादी तथा वणिकवादी राज्यों की स्थापना होने लगी और धीरे धीरे आर्थिक एवं राजनैतिक शक्ति केन्द्रीय सरकार के हाथों में एकत्रित होती गई।

राज्य, इस प्रकार, अनादि काल से ही मनुष्य के आर्थिक जीवन में हस्तक्षेप करता आ रहा था पन्द्रहवीं शताब्दी में वणिकवादी (Mercantilist) लेखकों ने, राज्य-हस्तक्षेप को राज्य की नीति का एक मुख्य अंग बताया। इसका परिणाम यह हुआ कि राज्य का कार्य-क्षेत्र और अधिक बढ़ा और योरुप के अधिकांश देशों में राज्य ने राष्ट्रीय नीति के स्तर पर आर्थिक जीवन को नियमित करना आरम्भ कर दिया, और उपभोग, उत्पादन, मज़दूरी, सूद की दर, मूल्य, आयात, निर्यात पर कड़े नियन्त्रण लगाने आरम्भ कर दिए। परन्तु कुछ समय बाद फ्रांस और इङ्गलैण्ड में इस नीति का बड़ा कड़ा विरोध हुआ। फ्रांस में प्रकृतिवादी (Physiocrats) लेखकों ने और इंगलैण्ड में एडम स्मिथ (Adam Smith) ने आर्थिक स्वतन्त्रता का डंका बजाना शुरू कर दिया। फिज्योक्रैट्स प्राकृतिक अवस्था (Na'ural Order) में विश्वास करते थे। इसी प्रकार एडम स्मिथ और उसके अनुयायियों ने कहा कि स्वयं हित की 'अदृश्य शक्ति' से साधनों का ऐसा अधिकतम प्रयोग होता है, जो किसी भी प्रकार के हस्तक्षेप से प्राप्त नहीं किया जा सकता। जब कोई व्यक्ति अपने स्वयं हित से कोई काम करता है तो उससे केवल उसी का नहीं बल्कि सारे समाज का हित अग्रसर होता है। स्वतन्त्र प्रतियोगिता के वातावरण में एक-दूसरे के हित आपस में कभी नहीं टकराते। हाँ, यदि राज्य हस्तक्षेप करेगा तो साधनों को सर्वोत्तम उपयोगों में लगाना कठिन हो जाएगा। एडम स्मिथ ने कहा था कि, "राजा पूर्ण रूप से इस कर्तव्य से मुक्त है कि वह निजी व्यक्तियों के उद्योग की व्यवस्था करे, और ऐसे उपयोगों में लगाए जिससे समाज के हितों की वृद्धि हो, क्योंकि इसमें उससे सदैव ही अनेकों त्रुटियाँ होनी चाहियें और जिसको पूरा करने के लिये किसी प्रकार की भी मानवीय बुद्धिमानी और ज्ञान पर्याप्त नहीं होते।" उसका विश्वास था कि राज्य-हस्तक्षेप क्रूरता और अन्यायपूर्ण व्यवहार को ही जन्म नहीं देता, बल्कि इससे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता भी समाप्त हो जाती है। वास्तव में बात यह थी कि स्मिथ जानता था कि प्रत्येक व्यक्ति की अपनी अलग रुचि होती है और अपने-अपने भ्रम होते हैं, इसलिए यदि राजा व्यक्तिगत विनियोगों का पथ-प्रदर्शन करेगा तो सम्भव है कि व्यक्तियों के दृष्टिकोण से, उनका हित अग्रसर न हो। इसलिए उसने राज्य के लिए केवल वे कार्य सौंपे थे, जिनके सम्पन्न होने से अदृश्य शक्ति अपना काम सुचारु रूप से करती रहे, अर्थात् जिनसे स्वतन्त्र प्रतियोगिता का वातावरण बना रहे। यह कार्य तीन प्रकार के हैं—विदेशी आक्रमणों के विरुद्ध सुरक्षा प्रदान करना, आन्तरिक शान्ति की स्थापना करना और कुछ उन सार्वजनिक निर्माण कार्यों की व्यवस्था करना जिनको व्यक्ति न तो कर ही सकते हैं और न उनके हित में होता है। इस प्रकार इन विचारों से आर्थिक स्वतन्त्रता की एक लहर सी उत्पन्न हो गई और व्यक्तिवाद (Individualism) का काल आरम्भ हुआ। एडम स्मिथ की भाँति अन्य प्राचीन अर्थशास्त्रियों ने भी

आर्थिक स्वतंत्रता के नारे लगाने आरम्भ कर दिए और चारों ओर 'स्वतन्त्र व्यापार' या 'करने दो' (laissez-faire) की नीति के झण्डे लहराने लगे। परन्तु औद्योगिक क्रान्ति के दुष्ट परिणामों से ऊब कर लोगों ने इस नीति की निन्दा करनी आरम्भ कर दी। इंगलैण्ड में रावर्ट ओविन (Robert Owen) और फ्रांस में सिसमोण्डी (Sismondi) ने इस नीति की कड़े शब्दों में आलोचना की। यहाँ तक कि मिल (J. S. Mill) जो आरम्भ से प्राचीन विचारों के समर्थक थे, बाद में उन्होंने भी इस नीति को ठुकराया और स्पष्ट रूप से कहा कि अधिकतम सामाजिक लाभ के लिए राज्य के कार्यों में वृद्धि होनी चाहिए। St. Simonians ने भी कहना आरम्भ किया कि जो कुछ बुराइयाँ थीं वे केवल व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के कारण थीं। इस प्रकार नीति पर चारों ओर से आक्रमण होने लगे। सबसे भीषण आक्रमण कार्ल मार्क्स (Karl Marx) और रोडवर्टस (Rodbertus) ने किये और तत्पश्चात् सब ही लोगों ने जैसे Webbs, Prof. Laski, G. B. Shaw, Keynes आदि ने एक आवाज़ में राज्य हस्तक्षेप के पक्ष में अपने मत प्रगट किए।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में जैसे-जैसे पूँजीवादी देशों में स्वतन्त्र प्रतियोगिता भीषण रूप धारण करती गई और बाजार संकुचित होते गए, जैसे-जैसे देशों का अधिकाधिक औद्योगीकरण होने लगा और जैसे-जैसे संसार में आर्थिक राष्ट्रीयवाद (nationalism) की भावना ज़ोर पकड़ती गई, वैसे ही वैसे आर्थिक क्षेत्र में पुरानी नीति का अन्त होता गया। आर्थिक स्वतन्त्रता के कारण व्यापार-चक्रों, निरन्तर बढ़ती हुई बेकारी और धन की असमानताओं, जैसी विषम समस्याओं का जन्म हुआ था, इनको सुलझाने का एकमात्र उपाय आर्थिक नियोजन (Economic Planning) ही था। आर्थिक नियोजन, योजनाबद्ध अर्थ-व्यवस्था (Planned Economy) का प्रतीक था, जिसमें राज्य केवल आर्थिक जीवन में हस्तक्षेप ही नहीं करता बल्कि निजी उद्योगों की व्यवस्था स्वयं आरम्भ कर देता है या उनका पथ-प्रदर्शन करता है। बीसवीं शताब्दी में मुख्यतया चार ऐसी घटनायें और हुईं, जिनके कारण संसार-भर को 'आर्थिक स्वतन्त्रता' की नीति का परित्याग करना हीं पड़ा। यह घटनायें थीं—प्रथम विश्वयुद्ध, रूस की १९१७ की क्रान्ति, महा मंदीकाल और दूसरा विश्व-युद्ध। सौभाग्यवश रूस ने आर्थिक नियोजन की नीति अपनाकर संसार को एक नया मार्ग दिखाया। परन्तु पूँजीवादी देश इस नीति को अपनाना नहीं चाहते थे। रूस एक साम्यवादी देश था और पूँजीवादी देश डरते थे कि आर्थिक नियोजन केवल साम्यवाद का ही प्रतीक था और उसे देश की सामान्य नीति का अंग नहीं बनाया जा सकता था इसलिए वे लम्बे काल तक इसकी आलोचना करते रहे, परन्तु प्रथम महायुद्ध की घोर आपत्तियों ने उनकी रुचि को इस ओर बढ़ाया। महा मंदीकाल ने तो अग्नि में घी का काम किया और इनकी आँखें खोल दीं। इन देशों को आर्थिक नियोजन की नीति को अपनाने के लिए मजबूर होना पड़ा। संयुक्त राष्ट्र में 'न्यू डील' (New Deal) और फ्रांस में ब्लम प्रयोग (Blum Experiment) की सफलता ने अन्य पूँजीवादी देशों का भ्रम दूर कर दिया और यह सिद्ध कर दिया

कि राज्य का आर्थिक जीवन में हस्तक्षेप आवश्यक ही नहीं वरन् अनिवार्य है और जनहित केवल राज्य द्वारा ही अग्रसर हो सकता है। और आजकल आर्थिक नियोजन प्रत्येक देश में ही राष्ट्रीय नीति का एक मुख्य अंग है चाहे वह देश पूँजीवादी है या समाजवादी।

आधुनिक राज्यों की आर्थिक क्रियाएँ—

उपर्युक्त में हमने आर्थिक जीवन में राज्य के हस्तक्षप के सम्बन्ध में बदलती हुई विचारधाराओं के इतिहास पर दृष्टि डाली और देखा कि आज सामान्य विचार यह है कि राज्य का कार्य केवल देश की रक्षा करना ही नहीं बल्कि मनुष्यों की आर्थिक क्रियाओं को निर्धारित करना भी है। हर समय में हर राज्य की नीति पर देश-विदेशों में प्रचलित विचारधारा का प्रभाव पड़ता रहा है और विचारधाराओं के परिवर्तनों के साथ-साथ राज्य की नीति भी बदलती रही है। इसीलिए राज्य अब अनेकों प्रकार के कार्य करता है। कुछ लेखकों ने इनको निम्न तीन वर्गों में विभाजित किया है :—

(१) **रक्षात्मक कार्य** (Protective Functions)—इस वर्ग में राज्य के वे कार्य सम्मिलित किये गए हैं जिनका सम्बन्ध देश की आन्तरिक एवं बाह्य सुरक्षा से है; अर्थात् सैनिकों, युद्ध-यन्त्र, गोला-बारूद आदि की व्यवस्था, पुलिस, जेलों, न्यायालयों आदि की व्यवस्था एवं प्रबन्ध करना आदि। यह तो राज्यों को प्रत्येक अवस्था में करने ही होते हैं, इसीलिए इनको राज्य के अनिवार्य कार्य भी कहा जाता है।

(२) **वाणिज्यिक कार्य** (Commercial Functions)—राज्य आजकल देश के उत्पादन पर भी नियन्त्रण रखता है ताकि देश में उपभोक्ताओं का शोषण न होने पाए। जैसे राजकीय उद्योगों, जंगलों, खानों आदि की व्यवस्था एवं नियन्त्रण। परन्तु सब ही देशों में ये कार्य सामान्य रूप से राज्य द्वारा नहीं किये जाते हैं। कहीं पर राज्य केवल नियन्त्रण करता है और कहीं पर स्वयं उत्पादन-कार्य सम्पन्न करता है।

(३) **राष्ट्रीय निर्माण-कार्य** (Nation Building Functions)—आजकल राज्य के कार्यों में इन कार्यों की संख्या सबसे अधिक है क्योंकि राज्य का मुख्य उद्देश्य सामाजिक लाभ को अधिकतम करना तथा राष्ट्र की सामाजिक एवं आर्थिक उन्नति को अग्रसर करना होता है। राज्य द्वारा किए जाने वाले कार्यों की सूची में जितनी अधिक संख्या इन कार्यों की होती है उतनी ही अधिक राज्य की प्रगतिशीलता का परिचय मिलता है। इसीलिए लगभग प्रत्येक प्रगतिशील देश में राज्य आज बेकारी को रोकता है और स्वास्थ्य, शिक्षा, सामाजिक सुरक्षा आदि की व्यवस्था करता है।

परन्तु उपर्युक्त वर्गीकरण से राज्य की आर्थिक क्रियाओं का पूर्ण और स्पष्ट ज्ञान प्राप्त नहीं हो पाता। इसीलिए इनका विस्तृत अध्ययन नितान्त आवश्यक है। वास्तव में राज्य की आर्थिक क्रियाओं के इतने विविध रूप हैं और इनका क्षेत्र इतना

व्यापक है कि उपर्युक्त वर्गीकरण से इनका स्पष्टीकरण सम्भव नहीं होता। इन क्रियाओं की गणना निम्न प्रकार की गई है :—

(१) **राष्ट्र के आर्थिक ढाँचे की रक्षा करना** (Maintenance of the Economic Framework of the Nation)—राज्य देश के आर्थिक जीवन का रूप और प्रकृति निश्चित करता है। राष्ट्र के आर्थिक जीवन का ढाँचा कैसा हो और उसको स्थायी किस प्रकार बनाया जाय ? इन प्रश्नों का उत्तर, राज्य देश की परिस्थितियों को ध्यान में रखकर निश्चित करता है। इस प्रकार प्रत्येक देश में आर्थिक जीवन का रूप और प्रकृति अलग-अलग होते हैं क्योंकि प्रत्येक देश की परिस्थितियाँ, साधन, सभ्यता और इतिहास भी तो अलग-अलग होते हैं। इस आर्थिक ढाँचे को सुरक्षित रखने के लिए राज्य क़ानूनों की एक विस्तृत प्रणाली स्थापित करता है। सरकार और अन्य संस्थाएँ इन क़ानूनों को बनाती हैं और कार्य-रूप देती हैं। ये क़ानून, सम्पत्ति के उत्तराधिकारियों, मालिकों और श्रमिकों के आपसी सम्बन्धों, प्रसंविदों आदि के सम्बन्ध में होते हैं और इनका मुख्य उद्देश्य देश के आर्थिक जीवन की अड़चनों को दूर करना होता है। हमारे जीवन को, देश की चलन-प्रणाली की प्रकृति और विदेशों से हमारे आर्थिक एवं व्यापारिक सम्बन्ध भी प्रभावित करते हैं। इसलिए राज्य इनका भी निर्धारण करता है और समय-समय पर परिस्थितियों के बदलने के साथ-साथ राज्य इनमें उचित परिवर्तन करता रहता है। यह राज्य की आर्थिक क्षेत्र में प्राथमिक क्रिया है।

(२) **नियमन एवं नियन्त्रण** (Regulation and Control)—राज्य आर्थिक जीवन को नियमित और नियन्त्रित भी करता है। इसके कई उद्देश्य हो सकते हैं। जैसे, श्रमिकों और मालिकों के सम्बन्धों को नियमित करना ताकि चालाक मालिकों द्वारा श्रमिकों का शोषण न हो। उपभोक्ताओं के हित में एकाधिकारियों की क्रियाओं पर नियन्त्रण रखना, मूल्यों की स्थिरता प्राप्त करने के लिए बैंकों और व्यापारियों की क्रियाओं को नियन्त्रित करना, राष्ट्र के हित में देश के साधनों के उपयोगों पर प्रतिबन्ध लगाना और कुछ आधारभूत उद्योगों को स्वयं चलाना, हानिकारक वस्तुओं के उपभोग पर नियन्त्रण लगाना, वस्तुओं की पूर्ति एवं गुणों को नियन्त्रित करना आदि। इन कार्यों को सम्पन्न करने के लिए राज्य क़ानून बनाता है और क़ानून तोड़ने वाले को उचित दण्ड भी देता है।

(३) **आर्थिक सहायता** (Economic Assistance)—व्यक्तियों को उनकी आर्थिक क्रियाओं के सम्पन्न करने के लिए राज्य अनेक प्रकार की आर्थिक सहायता प्रदान करता है। इस दृष्टि से राज्य व्यक्तियों के आर्थिक हितों का संरक्षक है। वह कृषकों और उद्योगपतियों को धन की सहायता देता है, उन्हें ऋण प्रदान करता है और समय-समय पर उन्हें यन्त्रात्मक (technical) सलाह भी देता है। यह उद्योगों को संरक्षण (Protection) प्रदान करता है। वस्तुओं के उचित मूल्य पर बिकने के लिए बाज़ारों का नियमन करता है और गोदामों की व्यवस्था करता है। व्यक्तियों को विभिन्न व्यवसायों के सम्बन्ध में आवश्यक सूचना देता रहता है। इस

प्रकार राज्य, व्यवसाय, उद्योगों, मूल्यों और विक्रय-सम्बन्धी सूचनाएँ व्यक्तियों को प्रदान करके आर्थिक जीवन की अनिश्चितताओं और बाधाओं को दूर करता है।

(४) **प्रत्यक्ष सहभागिता** (Direct Participation)—राज्य व्यक्तियों के आर्थिक जीवन में प्रत्यक्ष भाग भी ले सकता है। वह मुख्य-मुख्य व्यापारिक सेवाओं और उद्योगों का राष्ट्रीयकरण कर सकता है या सारी ही आर्थिक क्रियाओं को स्वयं कर सकता है जैसा कि रूस में है। भारत और अन्य देशों में भी इसके उदाहरणों की कमी नहीं है। भारत में राज्य ने जीवन बीमा, रिज़र्व बैंक, इम्पीरियल बैंक, हवाई यातायात तक का राष्ट्रीयकरण किया है। रेलें तो लगभग सब ही देशों में राज्य द्वारा चलाई जाती हैं। प्रत्यक्ष सहभागिता का या तो यह कारण हो सकता है कि उन उद्योगों को चलाने के लिए निजी व्यवसाय तैयार ही न हो या उनके द्वारा चलाया जाना राष्ट्र के हित में न हो। राष्ट्रीय आय की वृद्धि भी इसका उद्देश्य हो सकता है या इसका ध्येय आर्थिक विकास एवं उन्नति को अग्रसर करना भी हो सकता है।

(५) **मौद्रिक नीति** (Monetary Policy)—देश के औद्योगिक एवं व्यापारिक विकास के लिए राज्य एक उचित मौद्रिक नीति का निर्माण करता है। यह देश में मुद्रा की पूर्ति और साख-व्यवस्था पर उचित नियन्त्रण लगाता है और उत्पादन, मूल्यों और व्यवसाय की स्थिति को स्थायी रखता है। इन्हीं कार्यों की पूर्ति के लिए आजकल केन्द्रीय बैंकों के राष्ट्रीयकरण की अधिक चर्चा है और कुछ देशों में तो केन्द्रीय बैंकों का राष्ट्रीयकरण भी हो गया है, जैसे इङ्गलैण्ड, भारत इत्यादि।

(६) **राजकीय वित्त अथवा राजस्व** (Public Finance)—देश में धन के वितरण की असमानताओं को दूर करने के लिए और उपर्युक्त क्रियाओं को सफलता-पूर्वक सम्पन्न करने के लिए राज्य वित्त-सम्बन्धी क्रियायें सम्पन्न करता है। यह व्यक्तियों से कर के रूप में या ऋण के रूप में धन प्राप्त करता है और उन्हीं के हित में उसको खर्च कर देता है। इन क्रियाओं से भी राष्ट्र के आर्थिक जीवन का विकास होता है और उत्पादन और वितरण की समस्यायें दूर होती हैं।

राज्य की आर्थिक क्रियाओं की वृद्धि के कारण—

उपरोक्त वितरण से यह स्पष्ट है कि राज्य की आर्थिक क्रियाओं में निरन्तर वृद्धि होती गई है। यदि हम इतिहास पर एक दृष्टि डालें तो ज्ञात होगा कि प्रजातन्त्र और सामाजिक विचारधारा के विकास के कारण ही इन क्रियाओं में इतनी वृद्धि हुई है और इसका मुख्य इतिहास उन्नीसवीं शताब्दी से आरम्भ होता है। प्रसिद्ध जर्मन अर्थशास्त्री Wagner ने १९वीं शताब्दी के अन्तिम भाग में अपना प्रसिद्ध "राज्य की क्रियाओं की वृद्धि का नियम" (Law of the Increase of State Activities) प्रतिपादित किया था। उसके अनुसार "प्रगतिशील जातियों के भिन्न-भिन्न देशों और समयों की विस्तृत तुलना से यह स्पष्ट होता है कि केन्द्रीय और

स्थानीय सरकारों, दोनों ही की क्रियाओं में नियमित रूप से वृद्धि हुई है। यह वृद्धि गहन (Intensive) और विस्तृत (Extensive) दोनों ही प्रकार की है; केन्द्रीय और स्थानीय सरकारें निरन्तर नए कार्य करती हैं और वे पुराने और नए कार्यों में से दोनों ही को पूर्णतया और अधिक कुशलता से करती हैं। इस प्रकार से केन्द्रीय और स्थानीय सरकारें व्यक्तियों की आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति, बढ़ती हुई संख्या में और अधिक संतोपजनक ढंग से करती हैं।"[4]

यदि हम आधुनिक सरकारों के खर्चों के आँकड़ों का अध्ययन करें तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि Waguer ने जिस प्रवृत्ति को एक नियम का रूप दिया है वह पूर्णरूप से सही है। संयुक्तराज्य में सन् १९१३ में केन्द्रीय सरकार का कुल व्यय ७२·५ करोड़ डालर था जो सन् १९४५ में १००४०·५ करोड़ डालर हो गया था, राज्य सरकारों का व्यय ३८·३ करोड़ डालर से ६०२·९ करोड़ डालर हो गया था और नगर-सम्बन्धी सरकारों का ९८·४ करोड़ डालर से २९८·५ करोड़ डालर हो गया था।[5] *यद्यपि यह सच है कि बीसवीं शताब्दी के आधुनिक सरकारों के खर्चों* में जो वृद्धि हुई है मुख्यतः दो महायुद्धों के कारण मूल्यों में वृद्धि होने का परिणाम है, परन्तु इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि "सरकार के क्षेत्र का विस्तार आधुनिक समयों की मुख्य प्रवृत्तियों में से एक है।" [6]निम्न में हम उन मुख्य बातों का वर्णन करेंगे जिनके कारण सरकार के कार्यक्षेत्र का विस्तार हुआ है :—

(१) प्रथम कुछ कार्य तो इतने आवश्यक हैं कि उनको राज्य के अतिरिक्त कोई दूसरी संस्था कर ही नहीं सकती जैसे, सुरक्षा और शान्ति स्थापित करना, न्याय करना और नियम बनाना और इन कार्यों की पूर्ति के लिए सरकार को एक लम्बे काल से सड़कों आदि और शिक्षा का प्रबन्ध भी करना पड़ रहा है। आधुनिक समय में इन आवश्यकता कार्यों में वृद्धि हो गई है और आज सामाजिक सुरक्षा और विदेशी विनिमय-नियन्त्रण को भी आवश्यक कार्यों में सम्मिलित किया जाता है।

(२) गत वर्षों में मानवीय आवश्यकताओं में भी बहुत अधिक वृद्धि हो गई है और उत्पादन एवं वितरण की प्रणालियाँ पहले की अपेक्षा अधिक जटिल हो गई हैं। इसलिए इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए यह आवश्यक हो गया है कि सामूहिक रूप से प्रयत्न किया जाए अर्थात् राज्य की सहायता से इन आवश्यकताओं की पूर्ति की जाये। इसलिए सरकार ने इनका भी दायित्व अपने कन्धों पर लिया और बहुत-सी जनोपयोगी सेवायें (Public Utility Services) जैसे यातायात, पानी और बिजली की व्यवस्था आदि सेवाओं की व्यवस्था भी सरकार ने स्वयं अपने हाथ में ले ली हैं।

(३) आधुनिक सरकारों ने बहुत से कार्य केवल इसलिए सम्पन्न करने

4. Phillipe E. Taylor. *The Economics of Public Finance*, p. 42.
5. *Ibid.*, p. 43.
6. "Extension of the Scope of Government.........is one of he marked tendencies of modern times."—*Ibid.*, p. 45.

आरम्भ कर दिए हैं कि व्यक्तियों को सहायता मिल सके और वे अपने उत्पादक प्रयत्नों को कुशलता से फलीभूत कर सकें और देश का आर्थिक विकास भी तीव्रगति से हो जाए, जैसे सड़क और रेलों की व्यवस्था, सिंचाई और शक्ति के साधनों का प्रबन्ध, उद्योगों का संरक्षण, विक्रय-सम्बन्धी सुविधायें इत्यादि।

(४) इसके अतिरिक्त यन्त्रकला-सम्बन्धी कुछ ऐसे परिवर्तन हुए जिनसे आर्थिक जीवन काफ़ी प्रभावित हुआ जिनके परिणामस्वरूप निर्बाधावादी सिद्धान्त पर आधारित आर्थिक जीवन का ढाँचा लगभग टूट-सा गया। नई-नई मशीनों के प्रयोग के कारण व्यक्तियों को एक-दूसरे के साथ सहयोग तथा सद्भावना से कार्य करने की आवश्यकता अनुभव हुई। परिणामतया श्रम-विभाजन और विशिष्टीकरण के कारण बड़े पैमाने का उत्पादन आरम्भ हुआ। इन सब का परिणाम यह हुआ कि धन थोड़े-से पूँजीपतियों के हाथों में एकत्रित होता गया, व्यापार संघों का संगठन आरम्भ हुआ, श्रमिकों तथा मालिकों के बीच झगड़े उत्पन्न होने लगे, समय-समय पर मंदीकाल के भीषण परिणाम व्यक्तियों को सहन करने पड़े और इस प्रकार सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था फेल हो गई। इन सब का मूल कारण यन्त्र-कला सम्बन्धी परिवर्तन ही कहे जा सकते हैं, जिन्होंने यह सिद्ध कर दिया था कि प्राचीन निर्बाधावादी सिद्धान्त पूर्णतया अव्यावहारिक है। इन सब परिवर्तनों के परिणाम एक तो व्यक्तियों की निर्भरता आर्थिक शक्तियों के स्वतन्त्र कार्य-संचालन पर कम होती गई, दूसरे सरकार का ध्यान इन ऐसे कार्यों को सम्पन्न करने की ओर दिलाया गया जिनसे सामाजिक कल्याण में वृद्धि हो जैसे जन स्वास्थ्य, जन शिक्षा इत्यादि जो निर्बाधावादी अर्थ-व्यवस्था में सम्भव न थे और तीसरे सरकार को उन आर्थिक क्रियाओं को भी अपने कार्य-क्षेत्र में सम्मिलित करना पड़ा, जिनके द्वारा वह उन बुराइयों को दूर कर सकी जो निर्बाधावादी नीति के टूटने के कारण उत्पन्न हुई थीं।

(५) वर्तमान शताब्दी में देश के आर्थिक साधनों के और समचय की समस्या ने एक गम्भीर रूप धारण कर लिया। यद्यपि आर्थिक साधनों के अधिकतम उपयोग की समस्या लगभग प्रत्येक समय में ही अनुभव होती आई है किन्तु इनकी तीव्रता औद्योगिक क्रान्ति के पश्चात् बहुत अधिक हो गई। आधुनिक समाज बहुत जटिल हो गया है और आर्थिक प्रणाली का सफल संचालन विभिन्न आर्थिक साधनों के सप्रभाविक समचय पर निर्भर करता है। प्राचीन लेखकों का यह विश्वास कि स्वतन्त्र प्रतियोगिता और स्वहित के कारण आर्थिक साधनों का सर्वोत्तम समचय बिना किसी हस्तक्षेप के सम्भव हो जाता है, अब पूर्ण रूप से खंडित हो गया था और आर्थिक मन्दी, बेकारी इत्यादि से सभी देश काफी परेशान हो चुके थे। इसी कारण वर्तमान शताब्दी में आधुनिक सरकारों ने आर्थिक साधनों के समचय की ओर अनेक प्रयत्न किये जैसे एकाधिकारी संघों का नियन्त्रण, आर्थिक साधनों के उचित उपयोग के लिए सूचना प्रदान करना, निजी व्यवसाय को प्रोत्साहित करने के लिए ऋण तथा आर्थिक सहायता प्रदान करना तथा देशों में पूर्ण रोज़गार की परिस्थितियाँ प्रस्तुत करना। द्वितीय

महायुद्ध में तथा उसके पश्चात् विभिन्न देशों में आर्थिक साधनों के नियन्त्रण एवं नियमन की ओर काफी प्रयत्न किए गए।

(६) आर्थिक स्वतन्त्रता एवं पूंजीवाद की प्रगति से अनेक समस्याएँ उत्पन्न हो गई थीं जिनमें से मुख्य धन के वितरण की असमानता थी। इस असमानता को दूर करने के लिए सरकार ने अनेकों नए-नए कार्य अपने हाथ में ले लिये हैं। यद्यपि यह सत्य है कि असमानता अब भी प्रत्येक देश में है परन्तु यह भी सत्य है कि प्रत्येक देश में इस समस्या को उचित महत्त्व दिया जा रहा है और यह भी सिद्ध हो गया है कि बिना सरकारी प्रयत्नों के यह समस्या दूर भी न हो पाएगी। इसलिए सरकार ने अब धन की असमानताओं को दूर करने, बेकारी को कम करने, मूल्यों के उतार-चढ़ाव को रोकने और उपभोक्ताओं के शोषण को कम करने का भार भी अपने कन्धों पर ले लिया है। इनको पूरा करने के लिए एक ओर तो सरकार ने भारी कर लगाने आरम्भ कर दिए हैं और दूसरी ओर सामाजिक बीमा, शिक्षा का मुफ्त प्रबन्ध, स्वास्थ्य रक्षा की मुफ्त व्यवस्था आरम्भ कर दी है।

(७) आजकल सरकार के लिए यह आवश्यक हो गया है कि वह कुछ क्रियाओं का या तो नियमन करे या स्वयं सम्पन्न करे ताकि व्यक्तियों के हितों की उचित रक्षा हो सके, जैसे नशीली व अन्य हानिकारक वस्तुओं का उत्पादन एवं विक्रय और नियन्त्रण या करारोपण, मोटर गाड़ियों के लिए लाइसेन्स देना, विभिन्न वस्तुओं के मूल्यों और गुणों को नियन्त्रण करना इत्यादि।

(८) वर्तमान शताब्दी में इस बात की आवश्यकता भी हुई कि सरकार उन सभी जोखिमों के दुष्परिणामों को कम करने की ओर प्रयत्न करे जिनसे आधुनिक समाज पीड़ित होता रहता है। वैसे तो सभी समयों में व्यक्तियों को ऐसे जोखिम सहन करने पड़े हैं किन्तु यह जोखिम जितने अधिक आज हैं उतने पहले नहीं थे, विशेषकर औद्योगीकरण के कारण जब से आर्थिक जीवन बहुत ही अनिश्चित हो गया उदाहरणार्थ व्यापार-चक्रों के दुष्परिणाम, बेकारी की समस्या, वृद्धावस्था, दुर्घटना, बीमारी, आदि में बहुत अधिक वृद्धि औद्योगीकरण के कारण ही हुई है। सरकार ने व्यक्तियों को इन सब से बचाने के लिए भी अधिक कार्य किए हैं।

(९) आर्थिक स्थिरता का दायित्व भी सरकार ने अपने ऊपर ले लिया है। सरकार देश में मूल्यों को स्थिर तथा उत्पादन एवं रोजगार स्तरों को स्थायी बनाने का कार्य भी करती है जिसके लिए वह सार्वजनिक व्यय, करारोपण और ऋण जैसे उपाय अपनाती है।

(१०) सरकार को आधुनिक युद्धों के लिए देश के सम्पूर्ण आर्थिक साधनों के उपयोगों में परिवर्तन करने होते हैं। एक तो आधुनिक युद्ध अत्यधिक महँगे होते हैं और दूसरे सम्पूर्ण देश के आर्थिक जीवन और आर्थिक स्थिरता को छिन्न-भिन्न कर देते हैं। इस प्रकार सरकार को एक तो युद्ध के लिए वस्तुओं, हथियारों, सैनिकों आदि का उत्पादन एवं व्यवस्था करनी होती है और दूसरी ओर युद्ध से जो हानि

देश को होती है उसको पूरा करना होता है और इसलिए सरकार के आर्थिक कार्यों में इतनी वृद्धि हो गई है।

(११) अन्त में, आजकल आर्थिक नियोजन प्रत्येक देश में राष्ट्रीय नीति का एक मुख्य अंग बन चुका है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सरकार को बहुत बड़े पैमाने पर खर्चा करना पड़ता है जिसको पूरा करने के लिए सरकार कर लगाती है; ऋण लेती है और घाटे के बजट बनाती है। इसमें सन्देह नहीं कि कुछ देशों में विशेषकर पूंजीवादी देशों में नियोजन का इतना महत्त्व नहीं है जितना कि समाजवादी, अविकसित और कम विकसित देशों में है। परन्तु पूंजीवादी देश में भी आर्थिक नियोजन किसी न किसी रूप तथा कुछ न कुछ अंश में विद्यमान अवश्य है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मनुष्य के आर्थिक जीवन में सरकार इतना अधिक भाग ले रही है कि यह कहना कठिन हो जाता है कि सरकार के कौन से कार्य राजनैतिक हैं और कौन से आर्थिक; और यदि यही प्रवृत्ति चलती रही तो वह समय दूर नहीं जबकि मनुष्य प्रत्येक कार्य के लिए राज्य पर निर्भर हो जाएगा, जैसा कि रूस में आजकल है।

अध्याय २

राजस्व की परिभाषा एवं क्षेत्र
(DEFINITION AND SCOPE OF PUBLIC FINANCE)

राजस्व की परिभाषा (Definition of Public Finance)—

राजस्व अर्थशास्त्र का एक महत्वपूर्ण भाग है। इस शब्द का अभिप्राय राज्य की वित्तीय व्यवस्था के विज्ञान एवं कला से है। राज्य किस प्रकार अपनी आय इकट्ठा करता है और किस प्रकार उसका व्यय करता है, यही मुख्य में राजस्व का विषय है। वास्तव में राजस्व अंग्रेजी भाषा के शब्द Public Finance का शब्दार्थ नहीं है। इसका सही शब्दार्थ तो 'जनता वित्त' होता। किन्तु क्योंकि जनता का प्रतिनिधित्व करने वाली संस्था 'राज्य' होती है, इसलिये हम जनता का प्रतिनिधित्व करने वाली संस्था 'राज्य' की वित्तीय व्यवस्था का अध्ययन 'राजस्व' के अन्तर्गत करते हैं। इसीलिये हिन्दी में अंग्रेजी भाषा के शब्द का अर्थ 'राजस्व' किया गया है। 'राजस्व' एक विस्तृत शब्द है, जिसमें सारी राजकीय संस्थाओं एवं पदाधिकारियों की वित्तीय व्यवस्था का अध्ययन सम्मिलित है। इस प्रकार राजस्व में हम व्यक्तियों का अध्ययन व्यक्तिगत रूप में न करके सामूहिक रूप में करते हैं। राजस्व की अनेक परिभाषायें देखने में आती हैं। हम उनमें से कुछ अधिक महत्वपूर्ण परिभाषाओं का यहाँ पर अध्ययन करेंगे :

प्रो० सी. एफ. बस्टेबिल (C. F. Bastable) के शब्दों में, "राजकीय साधनों की पूर्ति एवं उनका उपयोग एक अध्ययन की विषय-सामग्री बन गये हैं, जिसे अंग्रेजी में 'राजस्व' कहते हैं।" कुछ लेखकों[1] को इस परिभाषा में कुछ आपत्तियाँ हैं। इनके अनुसार 'साधन' शब्द अस्पष्ट है। यह सब ही प्रकार के साधनों—चाहे मौद्रिक हों या अमौद्रिक, भौतिक हों या अभौतिक—को सम्बोधित करता है, जब कि इन लेखकों का विचार है कि राजस्व में केवल राज्य के मौद्रिक तथा साख-सम्बन्धी साधनों को ही सम्मिलित करना चाहिए। परन्तु यहाँ पर यह बता देना उपयुक्त होगा (जैसा कि इन लेखकों ने स्वयं ही माना है) कि विभिन्न भौतिक एवं अभौतिक, या मौद्रिक एवं अमौद्रिक साधनों के बीच भेद करना सरल नहीं है। दूसरे, राज्य अपने कार्य-संचालन के लिए सभी प्रकार के साधनों से काम लेता है,

1. Mehta and Agrawal, *Public Finance—Theory and Practice*. 1951, p. 7.

और फिर आज का युग मुद्रा का युग है। मुद्रा का आजकल वह स्थान है, जो किसी अन्य वस्तु का नहीं है। आज के युग में देश-प्रेम, माँ का प्यार, सच्चाई जैसी अभौतिक वस्तुओं का अस्तित्व समाप्त-सा हो गया है और इनका महत्व मुद्रा में ही सिमटकर रह गया है। इसलिए 'साधन' शब्द का प्रयोग वैस्टेबिल ने बहुत ठीक किया है। इस बात पर किसी प्रकार की आपत्ति करना अनावश्यक है।

श्रीमती उर्सला हिक्स (Mrs. U. K. Hicks) व्यक्तिगत मामलों तथा राजकीय मामलों के भेद को स्पष्ट करते हुए कहती हैं कि दूसरा समूह उन सेवाओं (और कुछ स्थितियों में वस्तुओं) की व्यवस्था करने में व्यस्त रहता है, जिनका क्षेत्र और विविधता उपभोक्ताओं की प्रत्यक्ष इच्छाओं द्वारा नहीं बल्कि सरकारी संस्थाओं के निर्णय द्वारा निर्धारित होते हैं, अर्थात् प्रजातन्त्र में, नागरिकों के प्रतिनिधियों द्वारा······राजस्व में हम केवल दूसरे समूह की क्रियाओं से ही सम्बन्धित हैं।"[2]

श्रीमती हिक्स के इन शब्दों से राजस्व के विषय में एक बात के अतिरिक्त और कुछ नहीं ज्ञात होता, अर्थात् राजस्व में केवल राजकीय संस्थाओं की क्रियाओं का अध्ययन होता है। यदि देखा जाय तो यह "राजकीय अर्थशास्त्र (Public Economics) की परिभाषा हुई। राजस्व में हम राजकीय अर्थशास्त्र के केवल उस भाग से सम्बन्धित हैं जिसमें राज्य द्वारा एकत्रित धन और उसके उपयोग का अध्ययन किया जाता है। श्रीमती हिक्स ने भी कदाचित् इस पर ध्यान दिया हो। इसीलिए आगे चलकर उन्होंने कहा है कि "राजस्व का मुख्य विषय उन विधियों का निरीक्षण एवं मूल्यांकन करना है जिनके द्वारा सरकारी संस्थायें आवश्यकताओं की सामूहिक सन्तुष्टि करने का प्रबन्ध करती हैं और अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए आवश्यक कोष प्राप्त करती हैं।"[3]

प्रोफेसर फिनले शिराज के अनुसार, "संक्षेप में, राजस्व उन सिद्धान्तों का अध्ययन है, जिनके अनुसार राजकीय पदाधिकारियों के कोषों का एकत्रीकरण एवं व्यय होता है। एक वास्तविक विज्ञान के रूप में इनका सम्बन्ध उन तथ्यों से है, जैसा कि वे होते हैं। यह उन वित्तीय घटनाओं के जटिल प्रवाह में खोज करता है और धैर्ययुक्त और क्रमबद्ध खोज, जिसको हम अनुसंधान कहते हैं, जिनसे उनमें छिपी हुई एकरूपता का पता लगता है; और एकरूपता के वाक्यों को नियमों की भाँति बताया जाता है।"[4]

इस परिभाषा में शिराज ने राजस्व के विषय एवं क्षेत्र पर अन्य लेखकों की अपेक्षा अधिक विचार किया है। उन्होंने इसको कला और विज्ञान दोनों ही माना है। इसलिए यह परिभाषा अधिक स्पष्ट और वैज्ञानिक है। कुछ लेखकों ने इसे सन्तोषजनक तो माना है परन्तु इससे पूर्णतया संतुष्ट नहीं हैं। उनका कहना है कि 'राजकीय संस्थायें' जिनके लिए शिराज ने अंग्रेजी के शब्दों (Public authorities)

2. U. K. Hicks, *Public Finance, 1948*, p. 1.
3. *Ibid.*, p. 6.
4. Findlay Shirras, *Science of Public Finance*, Part 1.

का प्रयोग किया है; उनके अन्तर्गत, प्रमण्डल (Corporation) आदि संस्थाएँ भी सम्मिलित हो जाती हैं, जबकि राजस्व में हम केवल राज्य की क्रियाओं से ही सम्बन्धित रहते हैं। यह लेखक यह ही भूल गये कि अंग्रेजी भाषा के शब्द authorities और bodies में बहुत अन्तर है। जबकि public authorities पूर्णतया Public bodies हो सकती हैं, public bodies हर स्थिति में public authorities नहीं हो सकतीं। प्रमण्डल public body अवश्य है परन्तु public authorities नहीं। Public authorities के अन्तर्गत हम केन्द्रीय सरकार, प्रान्तीय सरकार, नगरपालिकाओं, नगर सुधार ट्रस्ट, वैधानिक ग्राम पंचायतों, जिला बोर्ड आदि जो राज्य की ओर से काम करती हैं और जिन्हें राज्य ने वैधानिक अधिकार दे रखा है उन्हीं को सम्मिलित करते हैं। प्रमण्डल और कम्पनी public bodies में सम्मिलित होंगी। इसलिए इस विषय पर आपत्ति करना अन्यायपूर्ण है।

डा० डाल्टन का कथन है कि राजस्व उन विषयों में से एक है, जो अर्थशास्त्र और राजनीति-शास्त्र की सीमाओं पर स्थित है। "यह राजकीय पदाधिकारियों की आय और व्यय से सम्बन्धित है, और इनके पारस्परिक समन्वय से भी। राजस्व के सिद्धान्त सामान्य सिद्धान्त हैं जो इन मामलों के विषय में प्रतिपादित किए जा सकते हैं।"[5]

शिराज और डाल्टन की परिभाषाओं में, स्पष्ट ही है, कोई अन्तर नहीं है।

आर्मिटेज स्मिथ (Armitage Smith) के अनुसार, "राजकीय व्यय तथा राजकीय आय की प्रकृति तथा उसके सिद्धान्तों की खोज को राजस्व कहते हैं।"[6]

लुट्ज (Lutz) के शब्दों को दुहराने के लिए, "राजस्व उन साधनों की व्यवस्था, सुरक्षा तथा वितरण का अध्ययन करता है, जो राजकीय अथवा प्रशासन सम्बन्धी कार्यों को चलाने के लिए आवश्यक होते हैं।"[7]

प्लैहन के अनुसार, "राजस्व राजकोषीय आय-व्यय की नीतियों का एक अध्ययन है।"[8]

शुल्ज तथा हैरिस के अनुसार, "राजस्व सरकारी पदाधिकारियों द्वारा राशि प्राप्त करने और व्यय करने के तथ्यों, सिद्धान्तों, विधियों और प्रभावों तथा सरकारी ऋण के प्रबन्ध का अध्ययन है।"[9]

ब्यूहलर के शब्दों में, "राजस्व के क्षेत्र में शासन के व्यय, ऋण एवं अन्य विधियों से प्राप्त होने वाली आय तथा वित्तीय प्रशासन को सम्मिलित किया जाता है।"[10]

उपर्युक्त परिभाषाओं के अध्ययन से यह विदित होता है कि इनमें केवल शब्दों का ही हेर-फेर है वरन् अभिप्राय सब का एक समान है, अर्थात् राजस्व

5. Hugh Dalton, *Principles of Public Finance*, p. 1.
6. Armitage Smith, *Principles and Methods of Taxation*, p. 14.
7. H. L. Lutz, *Public Finance*, p. 3.
8. C. Plehn, *Introduction to Public Finance*.
9. W. F. Shultz and C. L. Harriss, *American Public Finance*.
10. A. G Buehler, *Public Finance*, p. 5.

राजकीय संस्थाओं के आय और व्यय का एक अध्ययन है।

राजस्व का विषय एवं क्षेत्र—
(Subject Matter and Scope of Public Finance)

राजस्व की परिभाषाओं से इसकी विषय-सामग्री भली-भाँति विदित हो जाती है। राज्य और उनसे सम्बन्धित संस्थायें, प्रशासन एवं सामाजिक कल्याण के लिए किस प्रकार धन एकत्रित करती हैं और उसको किस प्रकार व्यय करती हैं—यही राजस्व के अध्ययन का विषय है। इस प्रकार राज्य की क्रियाओं के साथ-साथ यह भी आवश्यक है कि उसके धन के स्रोतों और खर्चों की मदों का भी ज्ञान प्राप्त हो। यह ध्यान रहे कि हम राज्य की केवल उन क्रियाओं का ही अध्ययन नहीं करते जिनका सम्बन्ध आवश्यकताओं की सामूहिक सन्तुष्टि से होता है, बल्कि उनका अध्ययन वित्तीय दृष्टिकोण से करते हैं और उनकी वित्तीय जटिलताओं पर भी दृष्टिपात करते हैं। कल्याणकारी राज्य के विचार के उद्गम के बाद से तो यह निश्चित करना ही दुर्लभ हो गया है कि राज्य की किन क्रियाओं से सम्बन्धित वित्तीय जटिलताओं का अध्ययन राजस्व में किया जाय, क्योंकि आजकल तो लगभग सारी क्रियाएँ एक-दूसरे से आपस में ऐसी गुँथी हुई हैं कि किसी एक क्रिया को अलग करना या उसके किसी भी पहलू की ओर संकेत करना सम्भव ही नहीं है। हाँ, इतना अवश्य है कि राज्य द्वारा सम्पन्न की जाने वाली सामाजिक क्रियाओं की वांछनीयता अर्थात् बुराइयों तथा अच्छाइयों के सम्बन्ध में खोज करना राजस्व का विषय नहीं है। यह तो राजकीय अर्थशास्त्र का विषय है। राजस्व में केवल वित्त एकत्रित करने और उसको व्यय करने से सम्बन्धित क्रियाओं का ही अध्ययन किया जाता है। इन क्रियाओं की वांछनीयता के विषय में खोज की जाती है और उचित सिद्धान्तों को प्रतिपादित किया जाता है, और समाज तथा देश पर पड़ने वाले प्रभावों का अध्ययन किया जाता है। चाहे इन वित्तीय क्रियाओं का सम्बन्ध राज्य की आर्थिक क्रियाओं से है, या राजनैतिक क्रियाओं से, या सामाजिक क्रियाओं से, इसके विषय में सोचने का काम राजस्व का अध्ययन करने वाले का नहीं है।

हैरोल्ड ग्रोव्ज के अनुसार राजस्व, "खोज की वह शाखा है जो सरकारों (संघीय, राज्य तथा स्थानीय) की आय तथा व्यय से सम्बन्धित है। आधुनिक समय में उसके चार बड़े-बड़े मान हैं—राजकीय आय, राजकीय व्यय, राजकीय ऋण और राजकोषीय व्यवस्था की कुछ समस्यायें जैसे राजकोषीय प्रबन्ध और राजकोषीय नीति।"[11]

ऊपर से देखने में तो राजस्व का क्षेत्र बहुत ही छोटा लगता है, अर्थात् राज्य की आय और राज्य का व्यय। वास्तव में यह तो राजस्व के दो बड़े-बड़े भाग हैं। इन भागों को निम्न प्रकार अन्य उपविभागों में विभाजित किया गया है। इस प्रकार राजस्व के सम्पूर्ण क्षेत्र के अन्तर्गत निम्न विषयों का अध्ययन किया जाता है :—

11. *Financing Government*, 5th Ed., p. 1.

(अ) **राजकीय व्यय**—राज्य को किन-किन मदों पर कितना-कितना व्यय करना आवश्यक है, यह व्यय किन सिद्धान्तों के अनुसार किया जाय, इससे सम्बन्धित क्या कठिनाइयाँ हैं, इत्यादि बातों का अध्ययन इस भाग में किया जाता है।

(आ) **राजकीय आय**—इस भाग में हम यह अध्ययन करते हैं कि राज्य अपनी आय किन-किन स्रोतों से प्राप्त करता है, करों का क्या महत्व है ? करारोपण के क्या सिद्धान्त हैं ? करों के क्या प्रभाव होते हैं ? इत्यादि।

(इ) **राजकीय ऋण**—वैसे तो राजकीय ऋण भी राजकीय आय का एक स्रोत है, और इसका अध्ययन भी उसी के अन्तर्गत किया जाना चाहिए। परन्तु इसका अध्ययन बिलकुल अलग रूप से किया जाता है। इसका कारण यह है कि राजकीय आय के जो वास्तविक स्रोत होते हैं, उनसे प्राप्त किये हुए धन को लौटाने का प्रश्न नहीं उठता, परन्तु राज्य ऋण द्वारा जो धन प्राप्त करता है वह तो आय नहीं ऋण है, जिसका भुगतान राज्य को करना ही होगा। इस भाग के अन्तर्गत हम यह अध्ययन करते हैं, कि राज्य किन सिद्धान्तों के आधार पर ऋण प्राप्त करता है, ऋण क्यों लिये जाते हैं, किस प्रकार के लिये जाते हैं, इनके क्या प्रभाव होते हैं और इन ऋणों का भुगतान किस प्रकार किया जाता है ? इत्यादि।

(ई) **वित्तीय प्रबन्ध**—इस भाग में हम यह अध्ययन करते हैं कि राज्य की ओर से सरकार वित्तीय क्रियाओं का प्रबन्ध किस प्रकार करती है। बजट किस प्रकार बनाया जाता है, बजट बनाने के क्या उद्देश्य होते हैं, घाटे के बजट और आधिक्य के बजट का क्या महत्व है ? इत्यादि बातों पर खोज इस भाग में की जाती है।

(उ) **राजकोषीय नीति**—आजकल सरकार की राजकोषीय नीति का महत्व, राजस्व के एक भाग के रूप में लगभग सभी आधुनिक अर्थशास्त्रियों द्वारा स्वीकार किया जाने लगा है। राजकोषीय नीति के अध्ययन की महत्ता सन् १९३० की महामन्दी के पश्चात् ही आरम्भ हुई। ऐसी नीति का मुख्य उद्देश्य देश में आर्थिक स्थायित्व उत्पन्न करना होता है। हम अगले अध्यायों में देखेंगे कि अर्द्ध-विकसित देशों में आर्थिक स्थायित्व केवल राजकोषीय नीति द्वारा ही उत्पन्न किया जा सकता है। ऐसी नीति देश में उत्पादन-सम्बन्धी क्रियाओं को नियमित करती है, वितरण को न्यायपूर्ण बनाने की ओर प्रयत्न करती है, मूल्यों को स्थिर बनाये रखने की चेष्टा करती है और देश मे पूर्ण रोजगार की स्थिति उत्पन्न करने के लक्ष्य को पूरा करती है। इसका विस्तृत अध्ययन हम आगे चलकर करेंगे।

राजस्व एवं व्यक्तिगत वित्त-व्यवस्था में भेद—
(Distinction between Public and Private Finance)

यद्यपि राजकीय और व्यक्तिगत समस्यायें लगभग एक समान हैं, दोनों ही क्षेत्रों में आय और व्यय के बीच सामंजस्य स्थापित करना पड़ता है और दोनों ही क्षेत्रों में वित्त-व्यवस्था का रूप एक-सा ही होता है, फिर भी दोनों, राज्य और व्यक्ति—दोनों ही की स्थिति एवं वित्तीय व्यवस्था में कुछ भेद बताये जाते हैं।

यह भेद निम्नांकित हैं। यहीं पर हम यह भी निर्णय करेंगे कि यह भेद कहाँ तक न्यायसंगत हैं :—

(१) **राज्य का अपेक्षाकृत अधिक प्रभुत्व**—यह स्वीकार करने में किसी को भी कोई आपत्ति नहीं होगी कि राज्य का व्यक्ति की अपेक्षा अधिक प्रभुत्व होता है। वह अधिक शक्तिशाली है। यद्यपि दोनों के स्रोत एक-से हैं—दोनों ही अपनी आय प्राप्त कर सकते हैं, दोनों ही दूसरों से दान ले सकते हैं और दोनों ही ऋण ले सकते हैं—फिर भी राज्य शक्तिशाली होने के कारण व्यक्तियों की सम्पत्ति पर अपना अधिकार जमा सकता है और उसको आवश्यकता होने पर हड़प भी कर सकता है, जो व्यक्ति के हाथ की बात नहीं। एक व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति की सम्पत्ति हड़प नहीं कर सकता। परन्तु बात यह है कि राज्य अपने ही नागरिकों की सम्पत्ति पर अधिकार जमा सकता है, क्योंकि वे उसके आधीन हैं। यह विचार कुछ ठीक नहीं है क्योंकि राज्य नागरिकों का ही एक सामूहिक रूप है। नागरिक राज्य का एक अंग है। नागरिकों की सम्पत्ति राज्य की सम्पत्ति है और राज्य की सम्पत्ति नागरिकों की। इस प्रकार जब राज्य किसी नागरिक की सम्पत्ति हड़प करता है तो ऐसा करने में उसका यही प्रयत्न होता है कि वह नागरिक-विशेष की अपेक्षा उसका अधिक अच्छा उपयोग करे। अतः ऐसा करने में राज्य केवल अपनी आय के एक भाग को व्यय की एक मद से निकालकर दूसरी मद में लगा देता है, जैसा कि व्यक्ति भी करता है। इसलिए राजकीय और व्यक्तिगत वित्त-व्यवस्था में इस प्रकार भेद करना न्याय-संगत नहीं है।

(२) **राजकीय आय की अनिवार्य प्रकृति**—कुछ लेखकों का विश्वास है कि बिना आय के राज्य का कोई अस्तित्व ही नहीं होता, क्योंकि यह जब चाहे आय प्राप्त कर सकता है। यह व्यक्तियों को कर देने पर बाध्य कर सकता है। इसी कारण दोनों—राजकीय और व्यक्तिगत वित्त व्यवस्था—में अन्तर होता है। एक व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति को रुपया देने के लिए मजबूर नहीं कर सकता। राज्य ऐसा कर सकता है। परन्तु इस प्रकार का भेद भी भ्रमपूर्ण है। एक राज्य दूसरे राज्य को भी धन देने के लिए विवश नहीं कर सकता, जैसे कि एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को मजबूर नहीं कर पाता। राज्य केवल अपने नागरिकों से ही धन ले सकता है। परन्तु वह उस धन के बदले में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सेवायें प्रदान करता है। व्यक्तियों से प्राप्त धन राज्य पूरा का पूरा व्यक्तियों को ही लौटा देता है। यह हो सकता है कि जिस व्यक्ति से धन प्राप्त किया है, या कर की राशि वसूल की गई है उसको कोई प्रत्यक्ष सेवा न प्राप्त हो। इसलिए इस प्रकार का भेद भी ठीक नहीं है।

(३) **राजकीय ऋणों का अनिवार्य चरित्र**—यह भी विश्वास किया जाता है कि राज्य अपने नागरिकों को ऋण देने के लिए विवश कर सकता है, जबकि एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को ऋण देने के लिए विवश नहीं कर सकता। परन्तु यह विचार भी भ्रमपूर्ण है। हम ऊपर कह चुके हैं कि जिस प्रकार एक व्यक्ति दूसरे

व्यक्ति को किसी भी कार्य के लिए विवश नहीं कर सकता उसी प्रकार एक राज्य दूसरे राज्य को भी बाध्य नहीं कर सकता। एक बुद्धिमान व्यक्ति को सदैव समान प्रकृति वाली वस्तुओं की ही आपस में तुलना करनी चाहिए। इसके अतिरिक्त यह भी सोचना अनुचित है कि राज्य नागरिकों को ऋण देने पर विवश कर सकता है। यह केवल तानाशाही में ही हो सकता है प्रजातन्त्र में नहीं, जहाँ राज्य अपने नागरिकों का सामूहिक रूप होता है।

(४) **राजकीय आय की लोच**—राजकीय आय व्यक्तिगत आय की अपेक्षा अधिक लोचपूर्ण होती है। यह सच है। राज्य अपनी आय को अधिक सरलता से बढ़ा सकता है। कुछ लोगों का कहना है कि जैसे-जैसे राज्य अपनी आय बढ़ाने का प्रयास करता है, व्यक्तियों की व्यक्तिगत आय कम होती जाती है। इस प्रकार राज्य केवल उस अनुपात को बदल सकता है जिसमें देश की सम्पूर्ण आय नागरिकों और राज्य के बीच विभाजित रहती है। श्रीमती हिक्स का भी यही विचार है। वह कहती हैं कि व्यक्ति अपनी आय का एक भाग स्वयं खर्च करते हैं और दूसरे को वे आवश्यकताओं की सामूहिक सन्तुष्टि में खर्च करते हैं। इस दूसरे भाग में सुगमता से परिवर्तन किया जा सकता है। यह ध्यान रहे कि कुल आय में भी वृद्धि हो सकती है। एक तो राज्य धन का विनियोग उत्पादक योजनाओं में कर सकता है और दूसरे व्यक्तियों की असमुचित क्रियाओं की अपेक्षा राज्य की समुचित क्रियाओं से कुल आय में सरलता से वृद्धि हो जाती है और इस प्रकार सत्य ही व्यक्ति की अपेक्षा राज्य की आय अधिक लोचपूर्ण होती है।

(५) **राज्य की आय उसके व्यय से निर्धारित होती है**—बहुधा यह कहा जाता है कि राजकीय एवं व्यक्तिगत वित्त में यह सबसे बड़ा भेद है कि जबकि व्यक्ति अपने व्यय का सामंजस्य अपनी आय के साथ करता है, दूसरी ओर राज्य अपनी आय को व्यय के अनुसार प्राप्त करता है। इस प्रकार दोनों एक-दूसरे के विपरीत हैं। व्यक्ति का व्यय उसकी आय से निर्धारित होता है। इसके विपरीत राज्य पहले यह निश्चित करता है कि उसे विभिन्न मदों पर कब, कितना और कैसे खर्च करना है, तत्पश्चात् वह आय के साधन निश्चित करता है। यह ध्यान रहे कि यह भेद दृढ़ नहीं है। बहुधा ऐसा होता है कि राज्य तथा व्यक्ति दोनों ही अपने अपने क्षेत्रों में अपनी प्रकृति से बिल्कुल विपरीत दिशा में कार्य करते हैं। बहुत से अवसरों पर व्यक्ति अपनी आय से कहीं अधिक खर्चा करता है। जैसे, त्यौहारों पर, शादी में, जन्म तथा मृत्यु आदि अवसरों पर। यही कारण है कि भारतीय कृषक एवं श्रमिक इतने ऋणग्रस्त रहते हैं। यदि उनमें इस प्रकार की भावना जाग्रत हो जाये तो भारत की आधी कठिनाइयाँ दूर हो जायें। तो, व्यक्ति इस प्रकार अपनी निश्चित एवं स्थायी आय से अधिक खर्च करके अपनी आय को बढ़ाने का प्रयत्न करता है। राज्य के विषय में ऐसा होता है कि यह आवश्यक नहीं कि राज्य सदैव ही अपने व्यय के अनुसार आय प्राप्त करने में सफल हो जाये। बहुत बार सरकार को अपने खर्च कम करने पड़ जाते हैं। जैसे, आजकल ही लीजिए, भारत सरकार को अपने

नागरिक प्रशासन-सम्बन्धी खर्चों को कम करना पड़ रहा है। कभी-कभी तो यहाँ तक स्थिति पहुँच जाती है कि सरकार को अपनी उत्पादक योजनाओं को स्थगित कर देना पड़ता है। जैसे, आजकल भारत सरकार और प्रान्तीय सरकारें अपनी बहुत-सी योजनाओं में कमी कर रही हैं। अतः व्यक्ति और राज्य की वित्त-व्यवस्था में यह भेद केवल नाममात्र ही है।

(६) **राज्य का उद्देश्य लाभ-प्राप्ति नहीं होता**—यह विश्वास कर लिया गया है कि व्यक्ति सदैव ही निजी लाभ की दृष्टि से कार्य करता है, परन्तु राज्य के सम्बन्ध में ऐसा नहीं कहा जा सकता। व्यक्ति अधिकांश अवसरों में यही प्रयत्न करता है कि वह अपनी आय में से कुछ न कुछ अवश्य बचा ले और इस बचत को सदैव ही वह अधिकतम करना चाहता है। परन्तु प्रश्न यह है कि क्या यह सारे ही व्यक्तियों की प्रवृत्ति होती है? वास्तव में ऐसी बात नहीं है। अधिकांश व्यक्ति अपनी वर्तमान आवश्यकताओं की पूर्ति करके अधिक आनन्द प्राप्त करते हैं अपेक्षाकृत बैंकों में जमा करने के। कुछ तो अपनी आय से भी अधिक व्यय करने के आदी हो जाते हैं और फिर क्या राज्य सदैव ही लाभ-रहित उद्देश्यों से कार्य करता है? जिस प्रकार व्यक्ति अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। उसी प्रकार राज्य भी अधिकतम लाभ प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। राज्य का उद्देश्य यह ही होता है कि वह सामाजिक लाभ को अधिकतम करे। अधिकाधिक व्यक्तियों को अधिकाधिक मात्रा में सेवायें प्रदान करे। इसी उद्देश्य की पूर्ति में वह निरन्तर संलग्न रहता है। इस प्रकार इस आधार पर भेद करना भी न्यायसंगत नहीं है।

(७) राजस्व और व्यक्तिगत वित्त-व्यवस्था में भेद करते हुए कुछ लेखकों का कहना है कि जबकि व्यक्तिगत व्यय आदतों तथा रीति-रिवाजों से प्रभावित होता है, राजकीय व्यय सरकार द्वारा निर्धारित रीति से निर्धारित एवं नियमित होता है। व्यक्ति किसी विशेष सामाजिक वर्ग का सदस्य होने के नाते उस वर्ग की आर्थिक एवं व्यावसायिक परिस्थितियों से बहुत सीमा तक प्रभावित होता है जिसका प्रभाव उसके व्यय पर भी पड़ता है। दूसरी ओर, किसी देश की सरकार अपने पूर्व-निश्चित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए खूब सोच-समझकर नीति निर्मित करती है और उसी के अनुसार अपने व्यय को भी निश्चित करती है।

यह उचित होते हुए भी इतना अवश्य कहना पड़ेगा कि यह अन्तर भी नाम मात्र का ही है। जिस प्रकार व्यक्ति विशेष अपने समूह की आर्थिक एवं सामाजिक परिस्थितियों से प्रभावित होता है उसी प्रकार सरकार भी अपनी नीति देश की आर्थिक एवं सामाजिक परिस्थितियों को ध्यान में रखकर निर्धारित करती है। उदाहरणार्थ, पूर्व-विकसित देश में सरकार का मुख्य लक्ष्य पूर्ण रोजगार की स्थिति को सुरक्षित रखना हो सकता है। एक अर्द्ध-विकसित देश में सरकार का उद्देश्य बेकारी को दूर करना और उत्पादन को प्रोत्साहन देना होता है। स्पष्ट है कि सरकार भी, व्यक्ति-विशेष की भाँति परिस्थितियों से प्रभावित होती है। जिस प्रकार व्यक्ति अपनी परिस्थितियों को देखकर अपने व्यय को निर्धारित करता है उसी प्रकार

सरकार भी अपने व्यय को परिस्थितियों के अनुकूल निर्धारित करने की चेष्टा करती है।

(८) कुछ लेखकों के अनुसार इन दोनों प्रकार की वित्तीय व्यवस्था में एक अन्तर यह भी है कि, जबकि व्यक्ति-विशेष वर्तमान को अधिक महत्व प्रदान करता है, सरकार भावी आवश्यकताओं की पूर्ति की ओर अधिक ध्यान देती है। व्यक्ति वर्तमान की ओर इसलिए अधिक ध्यान देता है क्योंकि वह सोचता है कि उसको संसार में बहुत थोड़े समय तक जीवित रहना है और इसी कारण वह वर्तमान की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अपनी आय का एक बहुत बड़ा भाग नियत करता है, और भविष्य के लिए अपनी आय में से बहुत थोड़ा ही बचाकर रखता है। दूसरी ओर, राज्य एक स्थायी संगठन होता है जो कि केवल वर्तमान पीढ़ी के कल्याण की ओर ही ध्यान नहीं देता, वरन् भावी पीढ़ियों के हितों को भी ध्यान में रखता है और इसीलिए वह अपनी आय का एक बड़ा भाग आर्थिक साधनों को सुरक्षित रखने एवं भावी पीढ़ियों के कल्याण को बढ़ाने पर खर्च करता है। उदाहरणार्थ, आधुनिक सरकारें बहुत काफी धन जंगल बढ़ाने, भूमि की शक्तियों को सुरक्षित रखने, जन-स्वास्थ्य एवं शिक्षा, सामाजिक शिक्षा सम्बन्धी योजनाओं पर खर्च करती हैं जिनके फल तुरन्त ही प्राप्त नहीं होते, बल्कि भावी पीढ़ियों के कल्याण की दृष्टि से जो अत्यधिक महत्वपूर्ण होते हैं।

(९) अन्त में व्यक्तिगत वित्त-व्यवस्था में व्यक्ति अपनी आय तथा व्यय-सम्बन्धी सूचना अन्य व्यक्तियों को बताने के लिए तैयार नहीं होते, जबकि सरकार अपने बजट-सम्बन्धी प्रस्तावों का खूब प्रचार करती है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि राजकीय और व्यक्तिगत वित्त में केवल अंश का ही अन्तर है।

राजस्व का उद्देश्य अर्थात् 'अधिकतम सामाजिक कल्याण का सिद्धान्त'—

(Principle of Maximum Social Advantage)

हम अभी कह रहे थे कि एक व्यक्ति की भांति राज्य भी अपनी आय और व्यय का सामंजस्य इस प्रकार करता है कि वह सामाजिक कल्याण को अधिकतम कर सके। अतः अधिकतम सामाजिक कल्याण का प्राप्त करना ही सरकार का मुख्य उद्देश्य होता है और यह उसकी समस्त क्रियाओं जैसे, आय प्राप्त करना, व्यय करना, ऋण लेना और सुरक्षित कोष रखना इत्यादि में विद्यमान रहता है। दूसरे शब्दों में हम यह भी कह सकते हैं कि राज्य की वित्तीय क्रियाओं का नियमन 'अधिकतम सामाजिक कल्याण नियम' द्वारा होता है।

इस नियम के अनुसार राजकीय व्यय हर दिशा में उस बिन्दु तक बढ़ते रहना चाहिए जब तक कि इस व्यय से उत्पन्न होने वाला संतोष राज्य द्वारा लगाए हुए करों से उत्पन्न होने वाले असंतोष के बराबर न हो जाए। इस प्रकार सामाजिक

कल्याण उसी स्थिति में अधिकतम होगा जबकि संतोष और असंतोष पूर्ण संतुलन की स्थिति में होंगे। अतः यह नियम उन सीमाओं के निर्धारित करने में सहायता देता है, जिन तक राज्य कर लगाता जाय और अपनी क्रियाओं के क्षेत्र को बढ़ाता जाय। आधुनिक समय में इन विषयों का बड़ा महत्व है। इसीलिए अधिकतम सामाजिक कल्याण के नियम का भी विशेष महत्व है। प्राचीन अर्थशास्त्रियों की तो बात ही और थी। वे राज्य-हस्तक्षेप को पसन्द ही नहीं करते थे। उनका विचार था कि राज्य को प्रजा के कार्यों में अनावश्यक हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। उदाहरणार्थ, जे० बी० से का विचार था, कि "वित्त की सारी योजनाओं में सबसे अच्छी योजना यह है कि कम खर्च करे और सब करों में वह कर सबसे अच्छा है जिसकी राशि सबसे कम हो।" पुराने विचारकों का यह भी कहना था कि "सबसे अच्छी सरकार वही है जो सबसे कम शासन करे।" इन लोगों के इन नारों कि, "हर कर एक बुराई है" या "द्रव्य को व्यक्तियों की जेबों में बढ़ने के लिए छोड़ देना चाहिए" या "व्यक्तियों द्वारा व्यय किया हुआ द्रव्य उत्पादक है और सरकार द्वारा व्यय किया गया अनुत्पादक" का परिणाम यह हुआ कि प्राचीन समय में राजस्व का आकार बहुत ही छोटा रहा। परन्तु आजकल राजस्व का क्षेत्र बहुत ही विस्तृत हो गया है और यह सभी का विश्वास है कि राज्य की अपेक्षा व्यक्ति कभी भी आय और व्यय में संतुलन इस प्रकार नहीं कर सकता जिससे सामाजिक कल्याण अधिकतम हो। सरकार अपने व्यय को पूरा करने के लिए जनता से करों द्वारा धन प्राप्त करती है और उसको अपने निर्देशन में व्यय करती है।

यह नियम "उपयोगिता ह्रास नियम" पर आधारित है। जैसे-जैसे मनुष्य के पास धन जमा होता जाता है धन की प्रत्येक वृद्धि के साथ उसकी उपयोगिता मनुष्य के लिए घटती जाती है। इसके विपरीत मनुष्य के पास धन की मात्रा कम होने के साथ-साथ उपयोगिता बढ़ती जाती है। इसीलिए सरकार धनी व्यक्तियों पर ऊँची दर पर कर लगाती है और निर्धन व्यक्तियों को कर से मुक्त कर देती है। इस प्रकार करारोपण द्वारा सरकार धन की असमानताओं को कम करने का प्रयत्न करती है। दूसरी ओर वह धन प्राप्त करके खर्च करती है और कुल उपयोगिताओं को अधिकतम करती है और सामाजिक कल्याण अधिकतम करने के ध्येय की पूर्ति करती है। अतः सरकार को उस सीमा तक कर लगाकर अपनी क्रियाओं को बढ़ाते जाना चाहिए जब तक कि व्यय से प्राप्त कुल उपयोगिताएँ अधिकतम न हो जाएँ। इसी विचार को एक चित्र द्वारा प्रदर्शित किया जा सकता है।

निम्न चित्र में अ ब रेखा पर आय व व्यय की इकाइयाँ ली गई हैं और अ स पर उपयोगिता एवं अनुपयोगिता की इकाइयाँ। 'सी उप०' रेखा सरकारी व्यय की सीमांत उपयोगिताओं को प्रदर्शित करती है और 'सी अनुप०' रेखा कर द्वारा उत्पन्न अनुपयोगिता दिखाती है। सरकारी व्यय बढ़ने के साथ-साथ सीमांत उपयोगिता कम होती जाएगी, जैसा कि 'सी उप०' रेखा से स्पष्ट होता है। करदाता को कर का भुगतान करने से अनुपयोगिता बढ़ती जाएगी, जैसा कि 'सी अनुप०' रेखा से स्पष्ट

होता है। दोनों रेखाएँ 'र' विन्दु पर एक-दूसरे को काटती हैं। यह अनुकूलतम विन्दु है जिस पर कुल उपयोगिता अधिकतम होगी। यदि सरकार 'क' तक कर लगाएगी तब कुल उपयोगिता कम होगी अपेक्षाकृत उस स्थिति के जब कर 'क₁' तक लगाएगी। यह संतत (dotted) रेखा से दिखाया गया है। यदि सरकार कर को 'क₂' तक वढ़ाती जाए तब कुल उपयोगिता कम हो जाएगी क्योंकि अनुपयोगिता भी वढ़ती जाएगी, जैसा कि दूसरी संतत रेखा (dotted line) से दिखाया गया है।
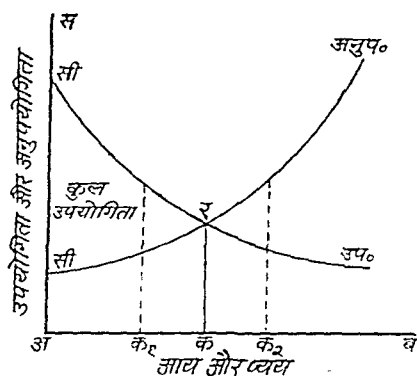
पीगू तथा डाल्टन ने करारोपण तथा राजकीय व्यय दोनों के लिए वजट के आकार के नियमन के हेतु दो सिद्धान्त प्रतिपादित किए हैं। प्रथम, राजकीय संस्थाओं को अपना व्यय इस प्रकार करना चाहिए अथवा अपने साधनों को विभिन्न उपयोगों में इस प्रकार लगाना चाहिए कि सभी उपयोगों से प्राप्त होने वाली सीमान्त उपयोगिता अथवा कल्याण वरावर हो। दूसरे, राजकीय व्यय को केवल उसी विन्दु तक सम्पन्न करना चाहिए, जिस पर कि अन्तिम इकाई से प्राप्त होने वाला सीमान्त सामाजिक लाभ इस सीमान्त सामाजिक त्याग के वरावर हो जो कर के रूप में द्रव्य की अन्तिम इकाई देने में किया जाता है। जैसा हम ऊपर कह ही चुके हैं कि पहला सिद्धान्त 'सम सीमान्त उपयोगिता नियम' पर आधारित है। और उसको व्यक्ति वस्तु की अपेक्षा सम्पूर्ण समाज पर ही लागू किया गया है। दूसरे सिद्धान्त में यह वताया गया है कि व्यय से प्राप्त होने वाला सीमान्त सामाजिक लाभ राजकीय सेवाओं की सीमान्त लागत के वरावर होना चाहिए। मसग्रेव ने इसी विचार को एक चित्र द्वारा प्रदर्शित किया है।[12]

निम्न चित्र में 'अ व' रेखा उस कोष के आकार को वताती है, जो राजकीय पदाधिकारी सेवाओं को प्रदान करने के लिए खर्च करने को तैयार हैं। क्योंकि यह कोष, समाज द्वारा दिए गए करों से एकत्रित होते हैं, इसलिए समाज के दृष्टिकोण से यह त्याग हुआ। इस प्रकार चित्र में 'अ व' से ऊपर का हिस्सा सामाजिक कल्याण को और नीचे का हिस्सा सामाजिक त्याग को दिखाता है। ल ल' रेखा सीमान्त

12. Musgrave, *The Theory of Public Finance*, p. 114.

सामाजिक कल्याण को और त त' रेखा सीमान्त सामाजिक त्याग को प्रदर्शित करती है। ल ल' रेखा का नीचे की ओर झुकना इस बात को व्यक्त करता है कि व्यय की अतिरिक्त राशियों से समाज को प्राप्त होने वाला कल्याण गिर रहा है। त त' रेखा का नीचे की ओर झुकना इस बात को बताता है कि यदि सरकार समाज से अधिकाधिक मात्रा में कोष एकत्रित करती है तो उससे समाज के त्याग की मात्रा में कमी होती जाती है। स स' रेखा वास्तविक सामाजिक कल्याण को दर्शाती है। 'म' वह बिन्दु है जिस पर वास्तविक सामाजिक कल्याण अधिकतम होता है, और 'अ म' वे कोष हैं जो सरकार को समाज से प्राप्त करने चाहिएँ और सेवाओं पर खर्च करने चाहिएँ। यह एक नया दृष्टिकोण है और बजट के आकार को नियन्त्रित करने के लिए अधिक उपयुक्त है।
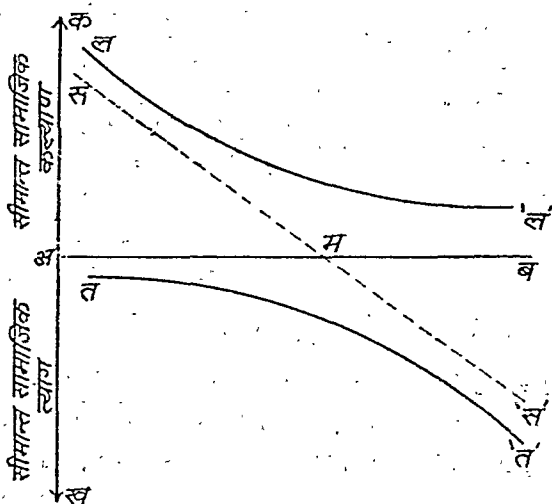
व्यावहारिक कठिनाइयाँ—परन्तु यह ध्यान रहे कि यह कोई सरल बात नहीं कि करों से उत्पन्न होने वाली सीमान्त अनुपयोगिता और व्यय से प्राप्त होने वाली सीमान्त उपयोगिता में सन्तुलन स्थापित किया जा सके। पहले तो यह ही सम्भव नहीं कि अनुपयोगिता और उपयोगिता को मापा जा सके। फिर जब केवल एक व्यक्ति के लिए यह बताना कठिन है कि उसकी त्याग से प्राप्त होने वाली अनुपयोगिता और आय से प्राप्त होने वाली उपयोगिता कब बराबर होगी तो राज्य के लिए तो यह और भी कठिन होगा। क्योंकि राज्य को तो प्रत्यक्ष रूप से कोई उपयोगिता प्राप्त होती नहीं है; जो कुछ उपयोगिता प्राप्त होती है वह व्यक्तियों को ही होती है और जब व्यक्तियों को यह ज्ञात नहीं हो पाता तो राज्य को कैसे हो सकता है। दूसरे, राज्य को बहुत-सी बातों में भविष्य का अनुमान लगाना पड़ता है। करों से जो अनुपयोगिता व्यक्तियों को प्राप्त होती है वह कई कारणों से उत्पन्न होती है—प्रथम, कर के रूप में प्रत्येक व्यक्ति को कुछ न कुछ मुद्रा अपने पास से देनी पड़ती है, जिसकी उसको कुछ न कुछ उपयोगिता अवश्य होती है। अतः जितना कर बढ़ता जाता है उतनी ही उपयोगिता की हानि करदाता को बढ़ती जाती है। दूसरे, कर का भुगतान करने से

व्यक्तियों को या तो अपना उपभोग कम करना होता है या बचत कम करनी होती है। दोनों ही परिस्थितियों में देश की उत्पादन-शक्ति कम होगी। हाँ, यदि लोग आवश्यकता से अधिक बचा रहे थे तो करारोपण से हानि के स्थान पर लाभ होगा। तीसरे, करारोपण व्यक्तियों में अशान्ति उत्पन्न करता है, जिसके कारण अनुपयोगिता में वृद्धि होती है। इसी प्रकार राजकीय व्यय से भी कई प्रकार से समाज को लाभ प्राप्त होता है। प्रथम, व्यक्तियों को वस्तुओं और सेवाओं का प्रत्यक्ष उपभोग करने को मिलता है। पूँजीगत वस्तुओं के प्रयोग से भी समाज को लाभ होता है। व्यक्तियों की सामान्य उत्पादन-शक्ति में वृद्धि होती है और अन्त में धन का समान वितरण हो जाता है, जिससे अनेक लाभ प्राप्त होते हैं।

परन्तु राज्य के लिये यह सम्भव नहीं कि वह अनुपयोगिताओं और उपयोगिताओं का पूर्ण ब्यौरा तैयार करके उनमें सन्तुलन स्थापित कर सके। इसलिये यह निश्चित करने के लिये कि राज्य की वित्तीय क्रियाओं से सामाजिक कल्याण अधिकतम हुआ या नहीं डाल्टन ने निम्न आधार बताये है[13] :—

प्रथम, देश बाह्य आक्रमणों और आन्तरिक झगड़ों से सुरक्षित है, या नहीं। यह राज्य का मौलिक कर्तव्य है कि वह देश को इन आपत्तियों से सुरक्षित रक्खे। बिना शान्ति के किसी भी क्षेत्र में प्रगति के विषय में सोचना-भर भ्रम होगा। आर्थिक जीवन के लिए तो शान्तिमय वातावरण और भी आवश्यक है। इसीलिये राज्य द्वारा पुलिस, जेल, न्यायालयों, सैनिक, और सैनिक उद्योगों पर किया गया व्यय प्रत्यक्ष रूप से अनुत्पादक होते हुए भी न्याययुक्त है। डाल्टन ने तो यहाँ तक कहा है कि राज्य की नीति ही ऐसी होनी चाहिये, जिससे न तो विदेशी आक्रमणों को प्रोत्साहन मिले और न अन्दरूनी झगड़े बढ़े। विदेशों को उत्तेजित करने वाली नीति न केवल विदेशी आक्रमणों की सम्भावना ही बढ़ती है बल्कि देश में भी सैनिकों आदि पर व्यय बढ़ जाता है। इसी प्रकार यदि देश में आर्थिक, राजनैतिक और सामाजिक नीतियाँ बुद्धिमानी से निर्मित न की जायें तो देश में आन्तरिक अशान्ति बढ़ेगी और शान्ति-व्यवस्था पर व्यय भी अधिक होगा।

डाल्टन के अनुसार सामाजिक कल्याण अधिकतम करने के लिये दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि देश के आर्थिक कल्याण में वृद्धि हो। इसके अन्तर्गत दो मुख्य बातें आती हैं—(अ) प्रथम, यह है कि देश की उत्पादन-शक्ति में वृद्धि हो और (आ) दूसरी, यह है कि जो कुछ उत्पन्न किया जा रहा है उसके वितरण में उचित सुधार हो। इसका अभिप्राय यह है कि वित्त-व्यवस्था ऐसी होनी चाहिये जिससे उत्पादन बढ़े। यदि राजस्व के अन्तर्गत सम्पन्न की गई किसी भी क्रिया से उत्पादन में वृद्धि होती है या उत्पादन को हानि नहीं होती, तो वह क्रिया उचित है, अन्यथा अनुचित कहलायेगी। इसीलिये, अनिवार्य वस्तुओं या जीवन-रक्षक वस्तुओं पर लगाया गया कर न्याययुक्त नहीं कहा जाता, क्योंकि ऐसी वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि हो जाने से व्यक्तियों को उनका उपभोग बन्द कर देना होता है जिससे उनकी कार्यक्षमता कम

13. *Op. cit.*, pp. 7-15.

हो जाती है। किसी उद्योग-विशेष पर लगा हुआ कर उसके विकास को निरुत्साहित करेगा। विदेशी वस्तुओं के आयातों पर कर लगाने से देश के उद्योग विकसित होंगे। अतः यह न्याययुक्त होगा। इसी प्रकार धन के वितरण में आवश्यक सुधारों का अभिप्राय यह है कि धन के वितरण की असमानताएँ कम हों, साथ ही साथ व्यक्तियों और कुटुम्बों की आय में होने वाले परिवर्तन भी कम से कम हों। धन के वितरण की असमानताओं को कम करना इसलिये आवश्यक है, कि एक तो व्यक्तियों और कुटुम्बों को आय अपनी आवश्यकताओं के अनुसार प्राप्त हो सकेगी और दूसरे उनकी आय उपयोग करने की शक्ति के अनुसार भी होगी। आय के परिवर्तनों को कम करना भी वाछनीय है ताकि समाज का आर्थिक जीवन अधिक स्थायी बने, विशेष रूप से व्यक्तियों की आय और रोज़गार-स्थिति। अतः राजस्व की प्रत्येक क्रिया जिसका उद्देश्य धन के वितरण की असमानताओं को कम करना हो, आय के परिवर्तनों को न्यूनतम करना हो और देश में रोज़गार और आय के स्तरों को उन्नत करना हो, जिसके परिणामवश देश का आर्थिक जीवन अधिक स्थायी बने, न्यायोचित होगी और सामाजिक कल्याण में वृद्धि भी करेगी। इसके अतिरिक्त राजस्व के अन्तर्गत कोई नीति न्यायसंगत है या नहीं इस वात पर भी निर्भर करेगी कि उस नीति के भविष्य में क्या प्रभाव होंगे। यदि कोई कर भविष्य में या दीर्घकाल में लोगों की कार्य करने की इच्छा और शक्ति को कम करता है तो वह उचित नहीं और उससे सामाजिक कल्याण कम होगा। इसी प्रकार यदि कोई व्यय वर्तमान में न करके भविष्य में व्यक्तियों की उत्पादन शक्ति में वृद्धि करता है तो उसको केवल इसी कारण स्थगित करने का विचार नहीं करना चाहिये। अतः सामाजिक कल्याण का अनुमान करते समय वर्तमान और भविष्य दोनों ही प्रभावों को आँकना चाहिये और उनकी तुलना करके निर्णय लेना चाहिये। डाल्टन ने ठीक ही कहा है, कि किसी भी वित्तीय प्रस्ताव की विवेचना करते समय इस प्रस्ताव से उत्पन्न होने वाले प्रभावों को ध्यान में रखना चाहिये; समाज को होने वाले लाभों तथा हानियों के वीच पता लगाया जाय कि कौन अधिक है, इसकी तुलना अन्य प्रस्तावों के लाभ तथा हानियों से करके जो निष्कर्ष प्राप्त हो उसी के अनुसार कार्य करना चाहिये।[14] इस प्रकार के कार्य बहुत ही कठिन होते हैं, क्योंकि एक तो यह ही सरल नहीं कि भविष्य के वारे में सही अनुमान लगाये जा सकें और दूसरे अधिकांश निर्णय आर्थिक और अनआर्थिक उद्देश्यों से प्रभावित होते हैं। परन्तु यदि अधिकतम सामाजिक कल्याण के सिद्धान्त के अनुसार काम करना है तो यह प्रयत्न करने ही होंगे। यह ध्यान रहे कि हम किसी भी क्रिया को अकेले ही नहीं देख सकते और यह निर्णय नहीं कर सकते कि क्रिया-विशेष उचित है या अनुचित। हमें देश की समुचित राजस्व-व्यवस्था को ध्यान में रखकर ही किसी क्रिया-विशेष के प्रभावों का अध्ययन करना होगा। यही नहीं, वल्कि राजस्व नीति का न्यायपूर्ण अध्ययन करने के लिये हमें देश की आर्थिक नीति को भी ध्यान में रखना होगा। इसलिये किसी भी एक क्रिया

14. *Ibid.*, p. 15.

की अच्छाई और बुराई का ज्ञान उसको सम्पूर्ण देश के आर्थिक ढांचे से अलग करके प्राप्त नहीं किया जा सकता। यही बात सामाजिक कल्याण का पता लगाते समय भी ध्यान में रखनी होगी।

श्रीमती हिक्स के विचार[15]—श्रीमती उर्सला हिक्स का विचार है कि राजस्व की किसी भी नीति को निर्मित करते समय दो बातों को आधार बनाना चाहिये, एक तो 'उत्पादन स्तर' (Production optimum) और दूसरे, 'उपयोगिता स्तर' (Utility optimum)।

"यह ध्यान में रखकर कि प्रत्येक नीति का उद्देश्य आवश्यकताओं की संतुष्टि है, हमारी खोज का पहला पग, स्पष्टतया यह बताना है कि आवश्यकताओं को संतुष्ट करने के साधनों को—उत्पादन—अधिकतम किया जाये। यह स्पष्ट ही है कि साधनों के स्थिर रहने की दशा में यदि उत्पादन को अधिकतम न किया जाये तो वस्तु का वितरण किसी प्रकार भी क्यों न किया जाये, संतुष्टि कम ही प्राप्त होगी। उत्पादन को अधिकतम करने या 'उत्पादन स्तर' का, इस प्रकार, साधनों के बटवारे से सम्बन्ध है। उत्पादन को अधिकतम करने की शर्त यह है कि वस्तुओं की व्यवस्था के सामान्य रहने की स्थिति में यह असम्भव होगा कि साधनों का पूर्ण वितरण करके एक वस्तु का उत्पादन दूसरी वस्तु के बिना कम हुए बढ़ जाय। यद्यपि 'उत्पादन स्तर' का आधार बहुत पहले ही साधनों के समान सीमान्त उत्पत्ति के नियम के रूप में प्रकट हो चुका था और यह कोई नया विचार नहीं है, परन्तु एक तो यह अधिक सूक्ष्म है और दूसरे इसमें वस्तुओं का प्रस्थापन मूल्य के आधार पर नहीं किया जाता और इस लिये यह सभी क्षेत्रों में लागू होता है।"

"यहाँ तक तो तर्क-सम्बन्धी कोई कठिनाई नहीं है परन्तु जब हम उन समस्याओं की ओर ध्यान देते हैं जो साधनों की अविभाज्यता, बाह्य बचतों और साधनों की पूरकता जैसी जटिलताओं के कारण उत्पन्न होती हैं तब उत्पादन-स्तर तक को प्राप्त करने की नीति को कार्यान्वित करने में स्पष्ट रूप से बहुत-सी विशेष प्रकार की कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं। दूसरा पग तनिक अधिक जटिल है। उत्पादन-स्तर में हमको ऐसी व्यवस्था का चुनाव करना है जो सन्तुष्टियों को अधिकतम करेगी। और यहाँ पर एक व्यक्ति की सन्तुष्टियों की दूसरे व्यक्तियों की संतुष्टियों से तुलना करने की कठिनाई अनुभव होती है। इस कठिनाई को हम क्षतिपूर्ति द्वारा दूर कर सकते हैं। यदि वस्तुओं का कोई विशेष पुनर्वितरण पहले व्यक्ति को पहले से इतनी अधिक संतुष्टि प्रदान कर दे कि वह दूसरे व्यक्ति की क्षतिपूर्ति कर सके और फिर भी अधिक अच्छा रहे (उस स्थिति से जैसा कि आरम्भ में था) तब दोनों ही इससे सहमत होंगे कि यह परिवर्तन पहली स्थिति पर एक सुधार होगा। इस प्रकार संतुष्टियों को अधिकतम करना या 'उपयोगिता स्तर' भी ठीक उसी प्रकार परिभाषित किया जा सकता है, जैसे कि 'उत्पादन स्तर'। उपयोगिता उस समय अधिक-

15. U. K. Hicks, *Op. cit.*, pp. 119-123.

तम होती है, जबकि एक व्यक्ति की संतुष्टि को बिना दूसरे की संतुष्टि कम करे हुए बढ़ाना (स्थिति को उन्नत करना) असम्भव हो।

श्रीमती हिक्स ने अपने विचारों की व्यावहारिकता पर अधिक ध्यान नहीं दिया। सच तो यह है कि अधिकतम सामाजिक कल्याण के नियम की भाँति श्रीमती हिक्स द्वारा बताये गये आधार भी केवल सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से ही महत्वपूर्ण हैं, क्योंकि इनको कार्यरूप प्रदान करने के लिए बड़ी सतर्कता की आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त मनुष्य को बहुत ही निष्पक्ष और हिसाब किताब में निपुण होना चाहिये। इतना अवश्य है कि इन आधारों पर यदि राजस्व नीतियों को निर्मित किया जाये तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि अपेक्षाकृत अधिक लाभ समाज को प्राप्त होगा। किन्तु इनकी सफलता में इतनी कठिनाइयाँ हैं कि सरलता से दूर नहीं की जा सकतीं।

राजस्व का महत्व—

काफी लम्बे समय तक, आंग्ल अर्थशास्त्रियों के प्रभाव के कारण राजस्व-सम्बन्धी अध्ययन को अधिक महत्ता प्रदान नहीं की गई थी, किन्तु बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ और विशेषकर सन् १९३० की महामन्दी के पश्चात् राजस्व के अध्ययन का बहुत अधिक महत्व हो गया है। आजकल लगभग प्रत्येक अर्थशास्त्री इस बात को स्वीकार करने लगा है कि राज्य की करारोपण नीति तथा राजकीय ऋण और राजकीय व्यय सम्बन्धी नीतियाँ देश में आर्थिक क्रियाओं के स्तर को प्रभावित करने में एक महत्वपूर्ण भाग ले सकती हैं। राजस्व के क्षेत्र और महत्त्व का विकास लगभग १९वीं शताब्दी के अन्त से आरम्भ होता है। उन्हीं वर्षों में जर्मन अर्थशास्त्री वैगनर (Wagner) ने अपना 'राज्य की बढ़ती हुई क्रियाओं' का नियम प्रतिपादित किया था। राज्य की क्रियाओं में तो, वैसे उस समय तक काफी वृद्धि हो चुकी थी परन्तु पिछले लगभग ७० वर्षों में और विशेषकर वैगनर नियम के बाद तो राजकीय कार्यों की वृद्धि इतनी तीव्र गति से हुई है कि वैगनर नियम पूर्ण रूप से सिद्ध हो गया है। राजकीय क्रियाओं की वृद्धि के साथ-साथ ही राजस्व के क्षेत्र में भी वृद्धि हुई है। अब तो राज्य केवल नागरिकों और देश की सुरक्षा का काम ही नहीं करता बल्कि नागरिकों के जीवन के प्रत्येक पहलू पर अपना नियंत्रण रखता है। अपनी इन बढ़ती हुई क्रियाओं की वित्तीय व्यवस्था करने के लिए राज्य को आय के नये-नये स्रोत ढूँढ़ने पड़ते हैं। और अपने व्यय को भी सतर्कता से करना होता है। यदि आय कम होती है तो आन्तरिक तथा बाह्य ऋण भी प्राप्त करने होते हैं। राजकीय आय, व्यय और ऋण-सम्बन्धी नीतियों पर देश के आर्थिक जीवन की व्यवस्था निर्भर करती है। देश के आर्थिक जीवन की व्यवस्था सरकार की आर्थिक नीति पर निर्भर करती है। अतः राजस्व और प्रशासन एक-दूसरे पर अवलम्बित हैं। इसीलिए अर्थशास्त्र और राजनीतिशास्त्र और समाजशास्त्र में राजस्व को मुख्य स्थान प्रदान किया गया है।

अधिकांश प्राचीन अर्थशास्त्री निर्बाधावादी नीति (*Laissez-faire* Policy) के समर्थक थे। उनके अनुसार नागरिकों के जीवन में राज्य को हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। एडम स्मिथ ने तो केवल सुरक्षा, शिक्षा, सार्वजनिक निर्माण कार्य आदि जैसे महत्वपूर्ण कार्यों में ही राजकीय हस्तक्षेप देश के लिये उत्तम बताया था। बीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक यही विचारधारा चलती रही, धीरे-धीरे इसका बल कम होता गया है और आज केवल इने-गिने लोग ही इस नीति का समर्थन करते हैं। गत वर्षों में आर्थिक राष्ट्रीयवाद (Economic Nationalism) की बढ़ती हुई लहर ने राज्य के कार्यों तथा दृष्टिकोणों को बदलकर ही रख दिया और मौद्रिक अर्थ-व्यवस्था तथा साख प्रणाली के विकास ने तो राज्य के कार्य-क्षेत्र को और भी विस्तृत कर दिया है। पूँजीवादी प्रणाली की बढ़ती हुई बुराइयों ने तो राज्य की क्रियाओं के क्षेत्र को यहाँ तक बढ़ा दिया है कि अब राज्य नागरिकों के आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक सभी क्षेत्रों में नियमन करने लगा है।

हमारे आर्थिक जीवन में और देश के आर्थिक ढाँचे में राजस्व का महत्व इसलिए भी अधिक होता जा रहा है क्योंकि हमारा दृष्टिकोण पहले की अपेक्षा अब विस्तृत हो गया है और अब यह विश्वास किया जाने लगा है कि करारोपण द्वारा धन और आय के वितरण को सुधारा जा सकता है और सामाजिक बुराइयों को दूर किया जा सकता है। इसी प्रकार शराब आदि हानिकारक वस्तुओं के उपभोग को भी नियन्त्रित किया जा सकता है। राजकीय व्यय द्वारा नये-नये उद्योगों और व्यवसायों का निर्माण हो सकता है। रोज़गार तथा मज़दूरी की दरों में वृद्धि हो सकती है और मज़दूरों को सामाजिक बुराइयों से सुरक्षित रक्खा जा सकता है। राज्य अपनी राजकोषीय नीति (Fiscal Policy) द्वारा विभिन्न साधनों के विभिन्न व्यवसायों में वितरण को निर्धारित कर सकता है और देश का संतुलित विकास कर सकता है। शिशु उद्योगों को संरक्षण प्रदान करके विदेशी प्रतियोगिता से बचा सकता है। इसी नीति द्वारा राष्ट्रीय उपक्रमों का विकास कर सकता है और साधनों का ऐसे उद्योगों में प्रयोग कर सकता है जो देश के लिए हितकारी हों। राज्य अपने व्यय द्वारा देश में बेकारी दूर कर सकता है और नागरिकों की उत्पादन-शक्ति में वृद्धि कर सकता है। आधुनिक युग में राज्य की क्रियात्मक वित्तीय व्यवस्था के कारण ही राजस्व का महत्त्व है। आधुनिक अर्थशास्त्रियों का विचार है कि राज्य की राजकोषीय नीति का मुख्य उद्देश्य आर्थिक जीवन के ढाँचे में इच्छानुसार और आवश्यकतानुसार परिवर्तन करना है। राजस्व द्वारा अर्थ-व्यवस्था में क्रियात्मक परिवर्तन (Functional changes) किये जा सकते हैं। इसीलिये राजस्व का महत्त्व है।[16]

---

16. A. P. Lerner, *The Economics of Control.*

अध्याय ३

राजस्व तथा अर्ध-विकसित देश (PUBLIC FINANCE AND UNDER-DEVELOPED COUNTRIES)

अर्ध-विकसित देश का अर्थ—

अर्ध-विकसित क्षेत्र या देश की सही परिभाषा करना एक कठिन कार्य है। सच तो यह है कि 'विकास' सम्बन्धी विचार १९वीं शताब्दी की पाश्चात्य विचारधारा की देन है। इससे पहले यह शब्द आर्थिक स्थिति के संदर्भ में कभी भी उपयोग में नहीं लाया गया था। देखा जाये तो विकसित तथा अविकसित क्षेत्रों में भेद करना सरल नहीं है। पुराने समय में या यूँ कहिए कि पिछली शताब्दी में जो देश पाश्चात्य देशों की बस्तियाँ (Colonies) थीं, जहाँ के आर्थिक साधन शासक देश के हित के लिए उपयोग किये जाते थे, वे ही देश पिछड़े हुए, या अविकसित या अर्ध-विकसित देशों के नाम से पुकारे जाते हैं।[1] पाश्चात्य देश तो अपना विकास करते ही रहे किन्तु उनके आधीन देश जिनको वे 'कालोनी' के नाम से पुकारते थे, जब स्वतन्त्र हुए तो वे अपने शासक देशों की तुलना में सच में ही अविकसित या अर्ध-विकसित क्षेत्र हैं। अतः विकसित देशों का अभिप्राय पाश्चात्य देशों से लेना चाहिए और अविकसित देशों का अभिप्राय रूस को छोड़कर अन्य देशों से लेना चाहिए। पाश्चात्य देशों की कुछ अपनी विशेषतायें होती हैं।[2] जैसे, वहाँ पर व्यक्तिवाद का प्रभुत्व है, किन्तु उसमें विवेकशीलता है। प्राणी सामाजिक परम्पराओं या पूर्वजों के कार्यों से बंधा हुआ नहीं होता। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में वह पहला पग बढ़ाने के लिए स्वतन्त्र होता है और मार्ग में जो कठिनाइयाँ आती हैं उन्हें वह स्वयं सोच-समझकर दूर करने का प्रयत्न करता है और सफल होता है। दूसरी आश्चर्यजनक घटना यह हुई कि वहाँ के व्यक्तियों ने यन्त्र-विज्ञान (Technology) में बहुत उन्नति कर ली है प्रकृति पर विजय प्राप्त कर ली है और उनमें इतनी यन्त्रात्मक सामर्थ्य है कि वे अपने साथियों को ऐसे साधन उपलब्ध कर दें जिससे कि वे धनी और अधिक धनी होते

1. Cf. Phillips Ruopp, *Approaches to Community Development*, p. 61.
2. *Ibid.*, p. 64.

जायें। यह सब सामर्थ्य उनमें केवल विज्ञान की उन्नति के कारण ही आई है, जो पाश्चात्य सभ्यता का एक अंग है। पाश्चात्य वातावरण एवं सभ्यता से अलग हट कर उनका वैज्ञानिक ज्ञान पूर्णतया समझ में नहीं आ सकता।[3] अन्त में पाश्चात्य देशों ने आगे बढ़कर लगभग सभी देशों के मामलों में अपने धन, ज्ञान, अपनी शक्ति से हस्तक्षेप करने का प्रयत्न किया है। इसके बड़े ही महत्वपूर्ण परिणाम दृष्टिगोचर हुए हैं। सच तो यह है कि अर्ध-विकसित देशों की विशेपताओं का उल्लेख ही नहीं किया जा सकता, क्योंकि उनकी मुख्य विशेपताओं का पता लगाना कठिन है। इनकी संस्कृति के नमूने इतने विविध हैं कि किसी एक को सारे क्षेत्र का प्रतिनिधि नहीं कह सकते। पाश्चात्य तथा ग़ैर पाश्चात्य देशों में एक अन्तर यह है कि जब कि पहले प्रकार के देशों में व्यक्ति समाज पर निर्भर रहते हुए भी अलग और स्वतन्त्र होता है, दूसरे प्रकार के देशों में व्यक्ति पर समाज का प्रभुत्व होता है। राज्य और शासन प्रबन्ध मुख्यतया देश के रीति-रिवाज और जाति-प्रथा पर निर्भर करते हैं। न्याय-सम्बन्धी निर्णय तथा क़ानून बनाने में ज्ञान तथा अनुभव की आवश्यकता नहीं होती। ये सब निर्णय तुरन्त ही ले लिये जाते हैं।[4] ग़ैर पाश्चात्य देशों में दर्शनशास्त्र की विशेप प्रगति हुई है। विज्ञान और यन्त्रकला की उन्नति पाश्चात्य देशों की भाँति नहीं हुई है और जो कुछ उन्नति हुई है वह वहाँ के वातावरण और संस्कृति को देखते हुए सराहनीय है, किन्तु वह पूर्वस्थित व्यवस्था को ही बनाये रखने के लिए काफी है। वह नई बातों को जन्म नहीं दे सकती और न नये विचारों को स्वीकार ही कर सकती है। फिर भी यह नहीं कह सकते कि ये सारी विशेपतायें सभी ग़ैर पाश्चात्य देशों में सामान्य रूप से पाई जाती हैं। वास्तव में यह सब विशेपतायें सामाजिक-सांस्कृतिक दृष्टिकोण के अनुसार हैं। आर्थिक दृष्टिकोण से विकसित तथा अविकसित देशों के बीच भेद करना यद्यपि सरल नहीं होता फिर भी सामाजिक-सांस्कृतिक दृष्टिकोण की अपेक्षा सरल होता है। अविकसित तथा अर्ध-विकसित देशों में राष्ट्रीय आय बहुत कम होती है, जीवन-स्तर बहुत गिरा हुआ होता है, पूँजी-निर्माण बहुत धीमा और व्यापार तथा उद्योग की अवस्था बहुत पिछड़ी हुई होती है और अधिकतर विदेशों पर निर्भरता रहती है। हम इन्हीं आधारों पर विकसित तथा अविकसित देशों में की गई तुलना का उल्लेख यहाँ पर करेंगे। सन् १९४७ में संयुक्त राज्य अमेरिका में अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक तथा वित्तीय समस्याओं पर 'नेशनल एडवाइज़री काउन्सिल' (National Advisory Council) ने सन् १९३९ के आधार पर ५३ देशों की, जिसमें संसार की ८५% जनसंख्या थी, प्रति व्यक्ति आय का अध्ययन किया था। काउन्सिल ने ५३ देशों को तीन मोटे वर्गों में विभाजित किया था। पहले वर्ग में संयुक्त राज्य, जर्मनी, फ्रांस और यू० के० थे जहाँ पर औसत प्रति व्यक्ति आय $ २०० अर्थात् १००० रुपयों के लगभग थी। दूसरे वर्ग में अर्ध-विकसित देश थे जैसे दक्षिणी अफ्रीका की यूनियन, फिनलैण्ड, आस्ट्रिया, इटली, यूनान, जिसकी औसत

3. *Ibid.*, p. 66.
4. *Ibid.*, p. 72.

प्रति व्यक्ति आय $ १०० से २००, अर्थात् ५०० रुपए से १००० रुपयों के बीच में थी। तीसरे वर्ग में भारत, पाकिस्तान, ब्रह्मा, चीन, इन्डोनेशिया, फिलिपाइन्स, लेटिन अमेरिका के अधिकांश देश थे जिनकी प्रति व्यक्ति वार्षिक आय $१०० या इससे कम अर्थात् ५०० रुपये के लगभग थी। तीसरे वर्ग के देशों में प्रति व्यक्ति आय कम होने के कारण जीवन-स्तर निम्नतम सीमा पर है, इसी कारण इनको कम विकसित देश कहा गया है। इस दृष्टि से विकास का अभिप्राय उन सारे ढंगों तथा विधियों से है जिनके द्वारा प्रति व्यक्ति वार्षिक आय में विकसित देशों जैसी वृद्धि हो जाये।

कभी-कभी आर्थिक विकास की वास्तविक स्थिति पता लगाने के लिए एक देश में प्राप्त होने वाली प्रति व्यक्ति मशीन शक्ति (mechanical power) के आधार पर विभिन्न देशों में तुलना की जाती है।[5] सन् १९३९ से पहले कम विकसित देशों में, जिनकी प्रति व्यक्ति वार्षिक आय $१०० या उससे कम थी, प्रति व्यक्ति प्रतिदिन लगभग १.२ horse power hours उपलब्ध थे जबकि विकसित देशों में यह संख्या २६.६ थी और संयुक्त राज्य में यह ३७.६ थी। उसी समय भारत में यह संख्या १.० से भी कम थी। कभी-कभी विभिन्न देशों के विकास का स्तर कृषि उत्पादन से भी पता लगाने का प्रयत्न किया गया है, क्योंकि किसी भी देश के आर्थिक विकास की प्रगति की दर इस बात पर निर्भर करती है कि उसमें अपनी जनसंख्या के लिए खाद्यान्न उत्पादन करने की कितनी क्षमता है।[6] किन्तु इस प्रकार के तुलनात्मक अध्ययन विभिन्न देशों की वास्तविक स्थिति का ज्ञान नहीं करा पाते। साथ ही ऐसे अध्ययन का कोई लाभ भी नहीं होता, क्योंकि कुछ देश पूर्ण रूप से कृषि-प्रधान हैं और कुछ औद्योगिक हैं। इसके अतिरिक्त कृषि उत्पादन प्रकृति पर निर्भर करता है। फसलों का कोई ठीक नहीं। यदि अच्छी फसलें हो रही हैं तो कई वर्षों तक चलती ही रहेंगी। और यदि खराब फसलों का चक्र आरम्भ हो गया तो कई वर्षों तक खराब फसलें ही चलती रहेंगी। इसलिये कृषि उत्पादन आर्थिक विकास का एक उपयुक्त सूचक नहीं होता।

सन् १९४९ में संयुक्त राष्ट्र ने संसार के ७० देशों में राष्ट्रीय आय के अनुमान लगाये थे। इन अनुमानों के अनुसार संसार की लगभग दो तिहाई जनसंख्या को संसार की आय का $\frac{1}{6}$ भाग से भी कम प्राप्त होता है। इन देशों को अर्ध-विकसित देश कहा गया है। इनकी प्रतिव्यक्ति आय $ ५४ थी जबकि ऊंची आय वाले देशों की प्रति व्यक्ति आय $९१५ थी और मध्यम आय वाले देशों की प्रति व्यक्ति आय $३१० थी। निम्न आय वाले देशों में, इस अध्ययन के अनुसार एशिया, अफ्रीका, दक्षिणी-पूर्वी यूरुप और दक्षिणी अमेरिका के देश थे। सन् १९४९ में संसार में आय का विवरण संयुक्त राष्ट्र के अनुमानों के अनुसार निम्न प्रकार था।[7]

5. A. Ghosh, *Indian Economy—Its Nature and Problems*, p. 7.
6. *Ibid.*, p. 8.
7. Ragnar Nurkse, *Problems of Capital Formation in Under-developed Countries*, p. 63, Based on National and Per Capita Income in 70 Countries. Statistical office of the United Nations, 1950.

संसार में आय का वितरण—१९४९

	संसार की आय	संसार की जनसंख्या	प्रति व्यक्ति आय
उच्च आय वाले देश	६७%	१८%	$९१५
मध्यम आय वाले देश	१८%	१५%	$३१०
निम्न आय वाले देश	१५%	६७%	$ ५४

अर्द्ध-विकसित अर्थ-व्यवस्था के लक्षण—

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि अर्द्ध-विकसित देशों की मुख्य समस्यायें प्रति व्यक्ति आय, जीवन-स्तर तथा पूँजी निर्माण की गति को बढ़ाने से सम्बन्धित हैं। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं कि अर्द्ध-विकसित अर्थ-व्यवस्था केवल एक सापेक्षिक स्थिति है। यह असम्भव है कि सभी देशों में आर्थिक विकास का स्तर समान हो, किन्तु अर्द्ध-विकसित देशों की समस्यायें साधारणतया समान होती हैं। प्रमुख कारण ऐसे देशों की निर्धनता है जिसके कारण सप्रभाविक माँग, बचत विनियोग तथा राष्ट्रीय आय के स्तर नीचे होते हैं। सारांश में, पूँजी का अभाव तथा पूँजी निर्माण के अभाव में ऐसे देशों का विकास नहीं हो पाता। बर्नस्टीन के शब्दों में "अर्द्ध-विकसित राष्ट्र वह है जिसमें प्रति व्यक्ति उत्पादन अपेक्षाकृत नीचा हो तथा जिसमें यदि उत्पादन कुशलता में कोई वृद्धि हो भी रही हो तो उसकी गति अत्यन्त धीमी हो।" हम संक्षेप में अर्द्ध-विकसित राष्ट्रों के लक्षणों का वर्णन निम्न प्रकार से कर सकते हैं :—

१. **बेकारी**—अधिकांश अर्द्ध-विकसित देशों में, विशेषकर एशिया में, जन-आधिक्य की स्थिति पाई जाती है। यहाँ पर जन्म-दर बहुत ऊँची होती है। प्रत्येक व्यक्ति को एक बड़े कुटुम्ब का पालन-पोषण करना पड़ता है। जनसंख्या वृद्धि की तीव्र गति के कारण व्यक्तियों को उत्तम भोजन प्राप्त नहीं हो पाता, उनका स्वास्थ्य हीन रहता है तथा ग्रामीण और नगर क्षेत्रों में जनसंख्या का घनत्व दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही जाता है। जनसंख्या की तीव्र वृद्धि के कारण श्रम की पूर्ति, माँग की अपेक्षा अधिक होती है। अधिकतर व्यक्तियों का व्यवसाय कृषि होता है। उद्योगों की गिरी हुई अवस्था के कारण पूँजीगत साधनों तथा मानवीय शक्ति का उचित उपयोग नहीं हो पाता, बचत तथा विनियोग के लिए उचित अवसर प्राप्त नहीं होते और इन सबका सामूहिक परिणाम यह होता है कि बेकारी बढ़ती जाती है और प्रति व्यक्ति आय कम होती जाती है। इसके अतिरिक्त कृषि जैसे उद्यम में सभी लोगों की खपत नहीं हो पाती। कृषि-व्यवसाय में लगे हुए लोग भी साल में अधिकतर बेकार ही रहते हैं और वे ग्रामीण क्षेत्रों से नगर की ओर काम की खोज में आते चले जाते हैं जिनके कारण नगरों में भी बेकारी बढ़ती चली जाती है। इस प्रकार अर्द्ध-विकसित देशों की मुख्य विशेषता बढ़ती हुई जनसंख्या तथा बेकारी है।

२. **निर्धनता**—कृषि ही मुख्य व्यवसाय होने के कारण, जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, ७० से ९० प्रतिशत तक जनसंख्या कृषि पर आश्रित होती है, किन्तु अर्द्ध-विकसित राष्ट्रों में एक तो कृषि में लगे हुए व्यक्ति ही वर्ष में काफी दिन बेकार रहते हैं और दूसरे ग्रामीण क्षेत्रों के सभी व्यक्तियों को रोजगार नहीं मिलता, क्योंकि प्रति व्यक्ति भूमि तथा पूँजी बहुत कम होती है जिसके परिणाम-स्वरूप व्यक्ति निर्धन बने रहते हैं। भूमि की उत्पादन-शक्ति भी कम होती जाती है और खाद, पानी तथा अकुशल उत्पादन-विधियों के कारण कृषि से पर्याप्त आय भी प्राप्त नहीं हो पाती। परिणामतः राष्ट्रीय आय, ऐसे देशों में, बहुत नीची होती है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से भी देश को अधिक आय प्राप्त नहीं होती, क्योंकि ऐसे देशों में निर्यात करने के लिए खाद्यान्न ही होते हैं जबकि उन्हें विदेशों में निर्मित वस्तुओं का एक बड़ी मात्रा में आयात करना पड़ता है। परिणाम स्वरूप विदेशी व्यापार का आकार बहुत ही छोटा होता है। इसके अतिरिक्त बैंकिंग सुविधाएँ पर्याप्त मात्रा में न मिल पाने के कारण भी व्यापार को प्रोत्साहन नहीं मिल पाता है और साथ ही यातायात की पर्याप्त सुविधाओं के अभाव में व्यापार और भी कम हो जाता है।

स्पष्ट ही है कि प्रति व्यक्ति आय कम होने के कारण अधिकतर लोगों में बचत करने की शक्ति नहीं होती। देश में जो थोड़ी-बहुत बचत होती भी है वह बड़े-बड़े ज़मींदारों, व्यापारियों तथा व्यवसायियों द्वारा ही होती है। ये लोग अधिकतर अपनी बचतों को बेकार के उपभोग तथा सट्टे-सम्बन्धी कार्यों में ही लगाते हैं और उत्पादक विनियोग के लिए बहुत कम बचतें ही शेष रह जाती हैं। भारत को ही लीजिये अधिकतर लोग अपनी पूँजी मन्दिर, धर्मशालायें, बड़े-बड़े भवन बनाने में लगाते हैं और साधारण व्यक्ति गहनों तथा घर के बर्तनों को प्राप्त करने में खर्च करता है। इस प्रकार अर्द्ध-विकसित राष्ट्रों में पूँजी का संग्रह बहुत ही कम होता है। एक ओर तो कृषि की पिछड़ी हुई अवस्था, कृषकों की निर्धनता तथा ऋण-ग्रस्तता और दूसरी ओर उद्योगों की पिछड़ी हुई अवस्था के कारण पूँजी कुछ थोड़े से हाथों में ही एकत्र हो जाती है और आय का वितरण असमान रहता है। कुछ थोड़े से धनी व्यक्ति सरकारी नीतियों को ही प्रभावित करते हैं और यदि सरकार चाहे भी तो आय के पुनर्वितरण हेतु नीति निर्मित नहीं कर सकती। सारांशतः ऐसे देशों में निर्धनता का एक ऐसा जाल सा बिछा रहता है कि उससे बाहर निकलना असम्भव-सा प्रतीत होता है।

३. **उत्पादन का निम्न स्तर**—निर्धनता के कारण तथा बचतों के अभाव में देश के प्राकृतिक साधनों तथा श्रम-शक्ति का उचित उपयोग नहीं हो पाता है, और उत्पादन का आकार संकुचित रहता है। प्रति व्यक्ति आय कम होने के कारण सप्रभाविक माँग भी कम रहती है जिसके कारण उत्पादन को प्रोत्साहन भी प्राप्त नहीं होता। नई पूँजी के निर्माण का तो प्रश्न ही नहीं, उपस्थित पूँजी का ही सदुपयोग नहीं हो पाता। इसके अतिरिक्त कुशल श्रमिक तथा प्रबन्धकों का भी

अभाव ही रहता है। फलस्वरूप देश के अधिकांश साधन वेकार रहते हैं और उत्पादन का स्तर निम्न रहता है।

४. सांस्कृतिक और राजनीतिक स्थिति—सांस्कृतिक दृष्टिकोण से अर्द्ध-विकसित देशों के निवासी रूढ़िवादी होते हैं और उनमें साक्षरता का स्तर निम्न होता है। सम्पूर्ण समाज विभिन्न सामाजिक वर्गों में विभक्त होता है जिनमें आपसी सम्पर्क वहुत कम होता है। समाज में स्त्रियाँ, पुरुषों की अपेक्षा हेय समझी जाती हैं। सामाजिक तथा अन्य मान्यताओं के अन्तर्गत भौतिक परिवर्तनों तथा विकास को कोई विशेष महत्त्व नहीं दिया जाता। इस प्रकार ऐसे राष्ट्र सांस्कृतिक एवं राजनीतिक दृष्टि से भी पिछड़े हुए होते हैं।

संक्षेप में, हम कह सकते हैं कि अर्द्ध-विकसित देशों की मुख्य विशेषतायें प्रति व्यक्ति नीची आय, निम्न जीवन-स्तर और पूंजी निर्माण की धीमी गति हैं। प्रश्न यह है कि संसार के अधिकांश देशों में आय इतनी कम और जीवन-स्तर इतना नीचा क्यों है ? इसके कई कारण हैं जिनका वर्णन हम नीचे प्रस्तुत कर रहे हैं।

(१) सामाजिक कारण—अधिकांश अविकसित देशों की सामाजिक प्रणाली ऐसी है कि वहाँ की जनता का सामाजिक और आर्थिक कल्याण का स्तर ऊँचा होना सम्भव ही नहीं है। इन देशों का आर्थिक विकास उसी समय सम्भव हो सकता है जबकि वहाँ की सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों में पूर्ण परिवर्तन कर दिया जाये। ऐसे देशों में सामाजिक ढांचे में सबसे ऊँची सीढ़ी पर कुछ थोड़े-से धनवान, चरित्रहीन, निरंकुश वर्ग के लोग होते हैं जिनमें अधिकतर जमींदार, व्यापारी और सरकारी कर्मचारी होते हैं। सामाजिक ढाँचे की सबसे नीची सीढ़ी वहुत चौड़ी होती है और इसमें देश की अधिकांश जनसंख्या सम्मिलित रहती है। इस वर्ग के लोग मेहनत करके अपना पेट पालते हैं और सभी किसान, कारीगर और श्रमिक वर्ग के लोग होते हैं। ऊँचे वर्ग के लोग अपनी जीविका और समाज में अपनी सत्ता श्रमिकों, कारीगरों तथा किसानों का शोषण करके बनाये रखते हैं। इस प्रकार सामाजिक ढाँचे की निम्न सीढ़ी पर जो व्यक्ति होते हैं उनको अपना उत्थान करने के लिये अवकाश ही नहीं प्राप्त हो पाता और वे सदैव ही मेहनत करते रहते हैं। प्रत्येक देश में सामाजिक ढांचे की कुछ अपनी-अपनी विशेषतायें होती हैं। भारत के सामाजिक ढाँचे की मुख्य विशेषतायें जाति-प्रथा तथा संयुक्त परिवार-प्रथा हैं। भारतीय नागरिक, अशिक्षित होने के कारण अपनी जाति के रीति-रिवाज, धार्मिक परम्पराओं में जकड़ा हुआ पड़ा रहता है। यदि वह उनका पालन नहीं करता तो उसे जाति से बाहर कर दिया जाता है। एक जाति का व्यक्ति दूसरी जाति के व्यवसायों को करने की नहीं सोच सकता। इस प्रकार आर्थिक शोषण का चक्र निरन्तर चलता रहता है। ऊँची जाति के लोग नीची जाति के व्यक्तियों का शोषण करते ही रहते हैं। इसके अतिरिक्त श्रमिकों की गतिशीलता में देश की उचित ढंग पर आर्थिक उन्नति भी नहीं हो पाती है। पूंजी-निर्माण में भी वृद्धि नहीं हो पाती क्योंकि उद्योग और व्यापार कुछ थोड़े से ही व्यक्तियों के हाथों में रहते हैं। एक

निरन्तर बढ़ती हुई अर्थव्यवस्था के लिए यह आवश्यक है कि नये विनियोगों का क्षेत्र निरन्तर बढ़ता ही रहे और चक्र कभी बीच में नहीं टूटे। नये विनियोगों से नई-नई वस्तुओं का उत्पादन होगा और नये-नये क्षेत्रों का विकास होगा। श्रम तथा पूँजी की गतिशीलता में वृद्धि होगी, पूँजी का निर्माण होगा और देश में बेरोज़गारी कम होगी। किन्तु भारत जैसे देश में जाति-प्रथा की बुराइयों के कारण आर्थिक विकास की गति बहुत ही धीमी रही है, और सच तो यह है कि इसने आर्थिक विकास की क्रियाओं का गला ही घोंट दिया है। वास्तव में जाति-प्रथा से मनुष्य का दृष्टिकोण बहुत ही संकीर्ण हो गया है। वह हर समय हर विषय में अपनी जाति से ही सम्बन्धित बातों का ध्यान रखता है। वह अपने देश और सारे संसार के आर्थिक उत्थान की ओर ध्यान ही नहीं देता और न उन पुराने रीति-रिवाजों की क़ैद से बाहर निकलना चाहता है। जाति-प्रथा की भाँति संयुक्त परिवार प्रणाली ने भी भारत के आर्थिक विकास में अनेकों कठिनाइयाँ उत्पन्न की हैं। संयुक्त परिवार प्रणाली में, क्योंकि प्रत्येक सदस्य भोजन तथा कपड़े के विषय में निश्चिंत रहता है इसलिये वह आलसी हो जाता है, उसमें जोखिम सहन करने की शक्ति समाप्त हो जाती है और उसे काम करने के लिए कोई भी प्रेरणा नहीं मिलती है। व्यक्तियों का दृष्टिकोण भी संकीर्ण रहता है क्योंकि वे घर में पड़े-पड़े ठलुआ जीवन व्यतीत करते रहते हैं। इस प्रकार संयुक्त परिवार से भी श्रमिकों की गतिशीलता बहुत सीमित रही है और पूंजी-निर्माण भी बहुत कम हुआ है।

दक्षिणी-पूर्वी एशिया के अधिकांश देश कृषि-प्रधान हैं। जनसंख्या तीव्र गति से बढ़ती जा रही है और भूमि पर जनसंख्या का भार भी दिन-प्रति-दिन अधिक होता जा रहा है। परिणामस्वरूप प्रति व्यक्ति उपज कम होती जा रही है। व्यक्ति इस अवस्था में ही नहीं हैं कि वे कुछ जमा कर सकें और अपना जीवन-स्तर ऊँचा कर सकें। इन देशों की जन्म-दर भी अधिक होने के कारण सामाजिक और आर्थिक उत्थान की सारी योजनायें बेकार हो जाती हैं। बिना उत्पत्ति में वृद्धि किये किसी भी देश में व्यक्तियों का जीवन-स्तर ऊँचा नहीं हो सकता और साथ ही यदि उत्पादन जनसंख्या की तुलना में तीव्र गति से नहीं बढ़ रहा है तो भी देश के आर्थिक विकास की गति धीमी रहेगी। इसलिए दक्षिणी-पूर्वी एशिया के देशों की मुख्य समस्या, सामाजिक दृष्टिकोण से यह भी है, कि जनसंख्या-वृद्धि को कैसे नियन्त्रित किया जाय और श्रमिकों की गतिशीलता में बाधा उत्पन्न करने वाले कारणों को किस प्रकार समाप्त किया जाय।

(३) **राजनैतिक कारण**—किसी भी देश की सामाजिक परिस्थितियाँ वहाँ की राजनैतिक परिस्थितियों पर निर्भर करती हैं। हम पहले ही कह चुके हैं कि अविकसित देशों में से अधिकांश देश पहले विकसित देशों की कालोनीज़ थीं, जिनमें शासक देशों ने सरकार स्थापित कर रखी थीं। यह सरकारें जनता के सर पर बिना उनकी इच्छा के शासक देशों ने स्थापित कर दी थीं, अर्थात् ऐसी सरकारों की स्थापना प्रजातन्त्रीय शक्तियों द्वारा नहीं हुई थी। इसका परिणाम यह हुआ कि

इन देशों में व्यापार और वाणिज्य ही प्रमुख व्यवसाय थे जिन्हें व्यक्तियों ने अपनाया था। इन व्यवसायों को अपनाने का मुख्य कारण यह था कि इनसे लाभ की प्राप्ति शीघ्र ही होती थी। किन्तु दुर्भाग्य यह था कि न तो जनता ही ने और न सरकार ने ही अपने लाभों को उन योजनाओं पर खर्च किया जिनसे स्थानीय जनता का कल्याण हो सकता। अधिकतर लाभ कमाने वाले व्यक्तियों की संख्या बहुत थोड़ी ही थी। धनी व्यक्तियों के पास राजनैतिक और आर्थिक दोनों ही प्रकार की सत्ता थी। निर्धन व्यक्ति तो केवल जीवित थे। धीरे-धीरे इन मनुष्यों में देश-प्रेम और राष्ट्रीयता की भावना उत्पन्न हुई और इन्होंने स्वतन्त्रता-संग्राम लड़ा और स्वतन्त्रता प्राप्त की। अभी इन देशों को स्वतन्त्रता प्राप्त किए अधिक समय नहीं हुआ है और इनमें आज भी थोड़े-बहुत अंश में वही चिह्न दीखते हैं जो उस समय थे जबकि वह दासता की बेड़ियों में जकड़े हुए थे। जैसे-जैसे दासता की छाप मिटती जायगी इन देशों की उन्नति होती जायगी।

(४) **आर्थिक कारण**—किसी भी अविकसित देश का एक बड़ा लक्षण यह भी है कि वहाँ पर उत्पादन, व्यक्तियों की आवश्यकता की अपेक्षा बहुत कम होता है। परिणामस्वरूप व्यक्तियों का जीवन-स्तर बहुत नीचा रहता है और मूल्य ऊंचे होने के साथ-साथ उन्हें वस्तुओं की पूर्ति के लिए अधिकतर विदेशों पर निर्भर रहना पड़ता है। यदि अविकसित देशों के आर्थिक कल्याण में वृद्धि करनी है तो यह आवश्यक है कि उत्पादन इतना किया जाय जो व्यक्तियों की न्यूनतम आवश्यकताओं से अधिक हो। इसलिए ऐसे देशों के आर्थिक विकास की प्रमुख समस्या यह है कि उत्पादन में वृद्धि की जाय और एक क्षेत्र के सभी भागों का आर्थिक विकास समान हो। परन्तु प्रश्न यह है कि उत्पादन में वृद्धि किस प्रकार की जाए? क्योंकि जब पूंजी और भूमि की अपेक्षा श्रमिकों की संख्या अधिक होती है तो प्रति व्यक्ति कम उत्पादन होना स्वाभाविक ही है। हमारे देश की भी यही स्थिति है। उत्पत्ति के अन्य साधनों की अपेक्षा श्रमिकों की संख्या अधिक होती जा रही है। इसीलिए जीवन-स्तर भी गिरता जा रहा है। बचतें भी इसीलिए निम्न स्तर पर हैं और केवल वही व्यक्ति सर्व-सम्पन्न हैं जो व्यापार और उद्योग में भाग ले रहे हैं। परन्तु इनकी संख्या बहुत थोड़ी होने के कारण धन की असमानताएँ काफी कठोर है। स्पष्ट है कि अर्ध-विकसित देशों के आर्थिक विकास के लिए सबसे पहली शर्त यह है कि इनकी सामाजिक दशाएँ उन्नत की जाएँ और बढ़ती हुई श्रम-शक्ति का उपयोग करने के लिए उचित व्यवस्था की जाए। यह सब लक्ष्य उसी समय पूरे हो सकते हैं जबकि सम्पूर्ण देश के विकास के लिए एक समुचित योजना तैयार की जाय या आर्थिक नियोजन का एक समुचित तथा विस्तृत कार्य-क्रम आरम्भ किया जाय। अर्ध-विकसित देशों में जनसंख्या के बढ़ने के कारण देश के साधनों का सप्रभाविक उपयोग केवल आर्थिक नियोजन द्वारा ही सम्भव हो सकता है।

अर्ध-विकसित राष्ट्रों में राजस्व-क्रियाओं के उद्देश्य—

राजस्व के उद्देश्य, स्वरूप तथा परिणाम भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में भिन्न-भिन्न होते हैं। अर्द्ध-विकसित राष्ट्रों तथा पूर्ण-विकसित राष्ट्रों के लिए भी राजस्व के उद्देश्य तथा स्वरूप में भिन्नता पाई जाती है। अर्द्ध-विकसित अर्थ-व्यवस्था की प्रमुख आवश्यकता तीव्र प्रगति तथा संरचनात्मक परिवर्तन करना है, तो पूर्ण विकसित राष्ट्रों की प्रमुख समस्या व्यापार चक्रों के परिवर्तन में स्थायित्व लाना है।[८] पूर्ण विकसित राष्ट्र, जिनको "विश्व-समाज का आर्थिक उच्च-वर्ग"[९] भी कहा गया है, उसमें राजस्व का मुख्य लक्ष्य आर्थिक स्थायित्व स्थापित करना होता है ताकि देश में पूर्ण रोज़गार की स्थिति बनी रहे। किन्तु अर्द्ध-विकसित राष्ट्रों में समस्याएँ अनेक होती हैं और वे भीषण भी अधिक होती हैं। इसीलिए वहाँ राजस्व-नीति के उद्देश्य भिन्न होते हैं। कुछ लेखकों का विचार है कि राजस्व के दोनों प्रकार के राष्ट्रों के लिए समान ही उद्देश्य होते हैं, जैसे, हेन्सन ने कहा है कि राजस्व का एक उद्देश्य "एक प्रगतिशील आयकर प्रणाली जिसकी दर कम से कम इतनी नीची अवश्य हो, कि पर्याप्त मात्रा में निजी व्यय एवं विनियोग प्रोत्साहित हो सकें। इसके साथ ही खर्च की जाने वाली उन सम्पूर्ण व्यय-राशियों को देखते हुए उपभोग की वर्तमान प्रवृत्ति एवं विनियोग के स्तर को बनाए रखने के उद्देश्य से कुल माँग को सुरक्षित रखने के लिए कुछ सार्वजनिक ऋण की भी आवश्यकता हो सकती है।"[१०] यदि देखा जाय तो यह उद्देश्य पूर्ण विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं की दृष्टि से तो ठीक है किन्तु अर्द्ध-विकसित राष्ट्रों के लिए उचित नहीं है। यदि राजस्व नीति अर्द्ध-विकसित राष्ट्रों में इन उद्देश्यों की पूर्ति हेतु अपनायी जाए तो वह तीव्र औद्योगीकरण और पिछड़े तथा निर्धन देशों के विकास के लिए केवल कमजोर यन्त्र के समान ही होगी। एक अर्द्ध-विकसित देश में आर्थिक नीति का उद्देश्य प्राथमिक अवस्थाओं में उत्पादन को बढ़ाने का होना चाहिए और इस दृष्टि से राजकोषीय नीति को पूँजी-संग्रह के यन्त्र के रूप में कार्य करना चाहिए।[११] इसका अभिप्राय यह नहीं कि राजस्व-नीति अर्द्ध विकसित देशों के लिए प्रभावशाली सिद्ध नहीं हो सकती। वास्तव में पूँजी-निर्माण तथा पूँजी-संग्रह के दृष्टिकोण से अर्द्ध-विकसित देशों में राजस्व नीति का महत्त्व और अधिक हो जाता है।[१२]

सैद्धान्तिक विवेचना—

हम पहले कह ही चुके हैं कि आधुनिक लेखकों के अनुसार राजस्व-सम्बन्धी नीतियों तथा क्रियाओं का उपयोग अर्थ-व्यवस्था के दोषों को दूर करने तथा आर्थिक

---

8. Dr. Baljit Singh, *Federal Finance and Under-developed Economy*, p. 135.
9. G. Myrdal, *Economic Theory and Under-developed Regions*, p. 15.
10. *Economic Policy and Full Employment*, p. 138.
11. Dr. Baljit Singh, *op. cit.*, p. 66.
12. R. Nurkse, *Problem of Capital Formation in Under-developed Countries*, p. 143.

'विकास की एक स्थायी दर प्राप्त करने के हेतु अनिवार्य-सा प्रतीत होता है। इस विषय पर सन् १९३० की महामन्दी तथा प्रथम विश्व-युद्ध की मुद्रा स्फीति के बाद से और विशेषकर केन्स के 'सामान्य सिद्धान्त' के प्रकाशन के पश्चात् सैद्धान्तिक वाद-विवाद आरम्भ हुआ और अब यह स्पष्ट रूप से मान लिया गया है कि विशेष करों तथा राजकीय व्यय के प्रभावों से सम्बन्धित विवेचना, राजस्व-सम्बन्धी अध्ययन का एक भाग ही है। वास्तव में सम्पूर्ण विषय के अन्तर्गत सरकार की राजकोषीय क्रियाओं के आर्थिक क्रियाओं तथा रोज़गार पर पड़ने वाले प्रभावों की विस्तृत विवेचना सम्मिलित होनी चाहिए।[13] सचमुच ही केन्स ने आर्थिक सिद्धान्तों के क्षेत्र में राजस्व-नीतियों की महत्ता को प्रदर्शित करके एक क्रान्ति-सी उत्पन्न कर दी है। उसके अनुसार देश में पूर्ण रोजगार की अवस्था को बनाये रखने तथा अर्थ-व्यवस्था में अनायास ही उत्पन्न होने वाले उतार-चढ़ावों को नियन्त्रित करने के लिए राजस्व-क्रियाओं का नियमन अत्यन्त ही आवश्यक है। केन्स ने अपने विचार को इस प्रकार प्रस्तुत किया है: अधिक बचत व विनियोग की स्थिति में अत्यधिक उत्पादन होने की सम्भावना रहती है और उपभोग प्रवृत्ति के निम्न स्तर पर रहने के कारण सप्रभाविक माँग भी कम रहती है जिसके कारण व्यक्ति विनियोग तथा उत्पादन करने के लिए आकर्षित नहीं होते। परिणामतया बेकारी और अर्थ-व्यवस्था में उतार-चढ़ाव उत्पन्न हो जाते हैं। अतः केन्स का विचार है कि सरकार को अपनी राजस्व नीति इस प्रकार से संचालित करनी चाहिये कि निजी व्यय प्रोत्साहित हो, व्यक्तियों का जीवन-स्तर ऊँचा हो, उपभोग-सम्बन्धी वस्तुओं का उत्पादन बढ़े और पूर्ण रोज़गार की स्थिति बनी रहे।

यद्यपि केन्स के इस विचार की काफी सराहना की जाती है और उसका समर्थन भी बहुत से अर्थशास्त्रियों ने किया है किन्तु कुछ लोगों ने इसकी आलोचना भी की है। आलोचकों के अनुसार केन्स का विचार अर्द्ध-विकसित राष्ट्रों के लिए सहायक सिद्ध नहीं होता, क्योंकि ऐसे राष्ट्रों की मुख्य समस्या जीवन-स्तर तथा उत्पादन को बढ़ाने के लिए पूंजी-निर्माण की है। इस दिशा में कुछ लेखकों ने राजस्व के 'क्रियात्मक' (Functional) स्वरूप पर अधिक ज़ोर दिया है और कुछ लोगों ने 'कार्यशील' (Activating) स्वरूप को अधिक महत्ता प्रदान की है। प्रथम विचारधारा के अनुसार, कर, राजकीय व्यय तथा ऋण सभी के अर्थ-व्यवस्था पर पड़ने वाले प्रभावों का अध्ययन करना चाहिये। इस विचारधारा के प्रमुख प्रवर्तक लर्नर हैं। दूसरी विचार-धारा के अनुसार राजस्व सम्बन्धी सभी क्रियाओं को कार्यशील बनाकर उत्पादन में वृद्धि करनी चाहिये। वोकर ने केन्स के विचारों का समर्थन करते हुए कहा है कि "हमारा केन्स के सिद्धान्त की ओर चाहे जो भी रुख हो, तो भी, मेरा यह विचार है कि यदि हम भारत के लिए एक उचित राजकोषीय नीति की बात सोचें तो हम केन्स द्वारा बतायी हुई विधि के अनुसार उसी समय कार्य कर सकते हैं जबकि हम अवज्ञा-

13. A. R. Prest, *Public Finance in Theory and Practice*, p. 15.

निक होने का जोखिम उठाने को तैयार हों।"[14] यहाँ पर यह आवश्यक है कि हम आधुनिक लेखकों द्वारा प्रस्तुत की गई दोनों विचारधाराओं पर कुछ और दृष्टिपात करें।

राजस्व का क्रियात्मक स्वरूप—

वर्तमान शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक लगभग सभी लेखक राजस्व-नीति को आय तथा व्यय का एक सीधा-सादा लेखा-जोखा मानते थे। इन लेखकों का मुख्य विचार यह था कि देश की कर-प्रणाली न्यायोचित, सुविधाजनक हो तथा समानता के सिद्धान्तों पर आधारित हो और उससे सरकार के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अधिकतम कोष एकत्रित हो सके। इसी प्रकार राजकीय व्यय का संचालन भी इस प्रकार किया जाए कि सार्वजनिक कल्याण अधिकतम हो सके और उसका लाभ अधिकतर उन्हीं लोगों को मिले जो उसके सर्वथा योग्य हों। स्पष्ट है कि इन लेखकों ने अपने विचार पूर्ण विकसित राष्ट्रों के संदर्भ में प्रस्तुत किए। वे पिछड़े हुए तथा अर्द्ध-विकसित राष्ट्रों के विषय में सोच ही न सके। केन्स ही पहला अर्थशास्त्री था जिसने इस बात पर जोर दिया कि राजस्व-नीतियों द्वारा अर्थ-व्यवस्था जी प्रवृत्तियों को प्रभावित किया जा सकता है। केन्स के बाद लर्नर ने इस विचारधारा को और भी आगे बढ़ाया और बताया कि करारोपण का उद्देश्य केवल धन एकत्रित करना ही नहीं है, वरन् मुद्रा-स्फीति को रोकना भी है और राजकीय व्यय का उद्देश्य पूर्ण-रोजगार की अवस्थाओं को उत्पन्न करना है। इसी विचार को क्रियात्मक वित्त-सम्बन्धी विचार कहते हैं। क्रियात्मक वित्त के सम्बन्ध में दो बातें ध्यान देने योग्य हैं :[15] प्रथम, "सरकार का यह कर्त्तव्य है कि वह देश में उन वस्तुओं तथा सेवाओं पर जिनका उत्पादन करना सम्भव है व्यय की सम्पूर्ण दर को उस स्तर तक रखे जिस पर वे सभी वस्तुएँ वर्तमान मूल्यों पर खरीदी जा सकें।" और दूसरे, "सरकार ऐसा करने की स्थिति में तभी हो सकती है जब कि वह राजस्व-सम्बन्धी क्रियाओं का प्रयोग करे।"

यह ध्यान रहे कि राजस्व के क्रियात्मक रूप का उद्देश्य पूर्ण विकसित तथा अर्द्ध-विकसित राष्ट्रों के लिए अलग-अलग होगा। प्रथम प्रकार के राष्ट्रों में इसका प्रयोग अर्थ-व्यवस्था के स्थायित्व के लिए किया जायेगा जबकि दूसरे प्रकार के देशों में केवल आर्थिक विकास की गति को तीव्र करने के लिए।

राजस्व का कार्यशील रूप—

डा० बलजीत सिंह ने क्रियात्मक वित्त तथा क्रियाशील वित्त में भेद किया है।[16] उनके अनुसार क्रियात्मक वित्त में हम वित्तीय विधियों को उनके कार्य (Function) की कसौटी पर कसते हैं और यह पता लगाते

---

14. V. V. Broker, *Public Finance and Full Employment*, p. 2.
15. Baljit Singh : *op. cit.*, p. 37.
16. *Ibid.*, pp. 85-86.

हैं कि वित्त के विभिन्न रूपों का अर्थ-व्यवस्था के लिए क्या क्रियात्मक महत्त्व है। दूसरी ओर कार्यशील वित्त-सम्बन्धी सिद्धान्त के अनुसार हम यह पता लगाते हैं कि विभिन्न वित्तीय विधियां किस प्रकार अर्थ-व्यवस्था में स्फूर्ति उत्पन्न करती हैं। लर्नर ने केन्स के पद-चिह्नों पर ही आगे बढ़कर यह बताया कि सभी प्रकार का व्यय बेकारी तथा मुद्रा-स्फीति को दूर करने में सहायक होता है। दूसरी ओर बलजीतसिंह ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि केन्स तथा लर्नर के विचार केवल पूर्ण विकसित राष्ट्रों के लिए उत्तम हैं और ऐसे ही राष्ट्रों के लिए व्यय का अधिक महत्त्व है। ऐसे राष्ट्रों में व्यय का उद्देश्य अर्थ व्यवस्था में स्फूर्ति उत्पन्न करने का नहीं होता। अर्द्ध-विकसित देशों में हमको अधिक बल बचत तथा विनियोग पर ही देना चाहिए। इसलिए हमें अर्द्ध-विकसित राष्ट्रों के लिए यदि उचित रूप से समस्या का समाधान करना है तो उत्पादन से प्रारम्भ करना चाहिए। उत्पादन को बढ़ाने के लिए राजकोषीय नीति का संचालन इस प्रकार करना चाहिए कि व्यक्तियों को काम करने के अवसर प्राप्त हों तथा उनकी कार्य-क्षमता में वृद्धि हो और उन्हें काम करने के लिए उचित प्रेरणा मिले। सच तो यह है कि दोनों सिद्धान्तों में कोई विशेष अन्तर प्रतीत नहीं होता। क्रियात्मक वित्त का सिद्धान्त यह बताता है कि वित्त अर्थ-व्यवस्था में क्या काम करता है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि यदि वित्त अर्थ-व्यवस्था की परिस्थितियों के अनुसार उचित कार्य नहीं कर रहा है तो उसमें पूर्व निश्चित उद्देश्यों की प्राप्ति की दिशाओं में फेर-बदल करनी होगी। दूसरी ओर कार्यशील वित्त का सिद्धान्त यह बताता है कि अर्थ-व्यवस्था के विकास के लिए वित्त-नीति को किस प्रकार प्रभावशील बनाना चाहिए अर्थात् यदि वित्त अर्थ-व्यवस्था को कार्यशील नहीं बना रहा है और उद्देश्यों की पूर्ति नहीं हो पा रही है तो तदनुसार उसमें भी परिवर्तन करने होंगे। इस प्रकार दोनों ही सिद्धान्तों के लक्ष्य समान हैं और उनका उपयोग परिस्थितियों के अनुसार बदलता जाएगा। अर्द्ध-विकसित राष्ट्रों के लिए दोनों ही सिद्धान्तों का उपयोग आवश्यक है। विकास के प्रथम चरणों में दूसरे सिद्धान्त के अनुसार वित्त-नीतियों को निर्मित करना होगा और अन्तिम चरणों में पहले सिद्धान्त को लागू करना होगा। सारांशतः हम कह सकते हैं कि राजकोषीय नीतियों का निर्माण चाहे किसी भी सिद्धान्त के अनुसार क्यों न किया जाये किन्तु यह स्पष्ट है अर्थ-व्यवस्था के दोषों को दूर करने के लिए राजकोषीय नीति एक प्रभावशाली यन्त्र है।

उपर्युक्त सैद्धान्तिक विवेचना के पश्चात् अब हम इस स्थिति में हैं कि अर्द्ध-विकसित राष्ट्रों में राजकोषीय नीति के प्रमुख उद्देश्यों की गणना कर सकें। ये निम्न प्रकार हैं—

(१) **आय में वृद्धि**—यह तो विदित ही है कि अर्द्ध-विकसित राष्ट्रों में आय का स्तर निम्न होता है। ऐसे देशों में व्यक्तियों की आय इतनी कम होती है

16. *Ibid.*, pp. 85-86.

कि वे अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर पाते, बचाने का तो प्रश्न ही नहीं उठता और यदि बचाने का प्रयत्न किया भी जाए तो उपभोग स्तर गिरने के कारण कार्यक्षमता कम हो जाएगी। अतः अर्द्ध-विकसित राष्ट्रों में आय का एक बहुत बड़ा भाग उपभोग पर खर्च हो जाने के कारण बचतों की मात्रा बहुत कम होती है। ऐसे देशों में व्यक्तियों की मांग केवल खाद्य-पदार्थों और उपभोग की अन्य आवश्यक वस्तुओं तक ही सीमित रहती है। इसी प्रकार विनियोग भी इन्हीं प्रकार की वस्तुओं के उत्पादन में किए जाते हैं और अन्य उद्योगों के विकास की ओर कोई ध्यान ही नहीं देता, जैसे, भारत ही को लीजिए। यहाँ पर जनसंख्या का अधिकांश भाग केवल कृषि व्यवसाय में लगा हुआ है। इसका परिणाम यह होता है कि न तो व्यवसाय ही बहुमुखी हो पाता है और न व्यक्तियों की आय ही बढ़ पाती है। इसके अतिरिक्त व्यक्तियों की उत्पादकता भी दिन प्रति-दिन गिरती जाती है। अतएव ऐसे राष्ट्रों के लिए यह नितान्त आवश्यक है। राजस्व नीति को राष्ट्रीय आय में वृद्धि करने के उद्देश्य से निर्मित किया जाए। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए करारोपण नीति का लक्ष्य देश में विनियोगों के स्तर को ऊँचा उठाना होना चाहिए। राजकीय व्यय तथा ऋण को भी उन दिशाओं में संचालित करना चाहिए जिनसे कि उत्पादन में वृद्धि हो और विकास की गति तीव्र हो, तभी राष्ट्रीय आय में वृद्धि हो सकती है। यह भी सम्भव है कि आय में जो वृद्धि हो वह विनियोगों में न जाकर उपभोग में खप जाए, इसलिए राजकोषीय नीति द्वारा व्यक्तियों में बचत तथा विनियोग करने की प्रवृत्ति उत्पन्न करनी होगी। इसके लिए सरकार को आयकर में कुछ रियायतें करनी होंगी तथा सम्मिलित पूँजी वाली कम्पनियों के हिस्सेदारों द्वारा किए गए विनियोगों को कर रहित घोषित करना होगा। यह आवश्यक है कि इस नीति से सरकार को आय कम प्राप्त होगी, किन्तु अर्थ-व्यवस्था को जागरूक बनाने के लिए, प्रारम्भिक चरणों में यह अत्यन्त उपयुक्त सिद्ध होगी।

(२) **पूंजी का निर्माण**—पूंजी-निर्माण की गति को तीव्र करना, राजस्व-नीति का प्रमुख उद्देश्य होना चाहिए। इसके लिए यह आवश्यक है कि राजस्व-नीति राष्ट्रीय स्तर पर निर्मित की जाए। यह तभी सम्भव हो सकता है जबकि देश में कार्यशील वित्त की नीति अपनायी जाए। अर्द्ध-विकसित राष्ट्रों में सरकार को विकास की गति को तीव्र करने के लिए अनिवार्य बचत की योजना चालू करनी होगी ताकि पूँजी का निर्माण हो सके और उत्पादन प्रोत्साहित हो सके। सरकार को व्यक्तियों का इस प्रकार पथ-प्रदर्शन करना होगा कि उन्हें विनियोगों के अवसर ज्ञात हो सकें क्योंकि बचत को व्यक्तियों की स्वेच्छा पर नहीं छोड़ा जा सकता। यह देखने में आ रहा है कि अर्द्ध-विकसित राष्ट्रों के व्यक्तियों में पूर्ण विकसित राष्ट्रों के व्यक्तियों की देखा-देखी अपने उपभोग के स्वरूप को तेजी से बदलने की प्रवृत्ति, उत्पन्न हो रही है और वे अपने जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने के लिए लालायित हो रहे हैं, जिसके कारण व्यक्तियों से बचत करने की आशा बेकार सी प्रतीत होने लगी है। इस प्रवृत्ति को रोकने के लिए

यह आवश्यक है कि व्यय कर लागू किया जाए। यदि करारोपण द्वारा इस प्रवृत्ति को नहीं रोका गया तो देश में नई पूंजी का निर्माण नहीं हो सकेगा। विशेष कर भारत जैसे देश के लिए यह अत्यन्त ही आवश्यक प्रतीत होता है। नर्क्स ने ठीक ही कहा है कि राजस्व का "उद्देश्य तो राष्ट्रीय आय के उस अनुपात को बढ़ाना है जो कि पूंजी-निर्माण में लग जाता है।"[17]

(३) **बेकारी को दूर करना**—अर्द्ध-विकसित राष्ट्रों में बेकारी तथा अर्द्ध-बेकारी की समस्याओं ने एक भीषण रूप धारण कर रखा है। इसका प्रमुख कारण यह है कि ऐसे राष्ट्रों में आर्थिक क्रियाओं के विकास के लिए पर्याप्त सुविधाएं उपलब्ध नहीं हैं। कृषि प्रमुख व्यवसाय है किन्तु वहाँ पर भी पूंजी की कमी, जनसंख्या का आधिक्य, ऋणग्रस्तता, जोत के अनार्थिक आकार इत्यादि के कारण व्यक्ति वर्ष के अधिकांश भाग में बेकार ही रहते हैं। इसके अतिरिक्त नगर-क्षेत्रों में उद्योगों के अविकसित रहने के कारण व्यक्तियों को रोजगार नहीं मिल पाता। राजकोषीय नीतियों द्वारा बेकारी तथा अर्द्ध बेकारी की समस्या को दूर किया जा सकता है। यह तभी सम्भव है जबकि राजकोषीय क्रियाओं का उद्देश्य पूंजी के विनियोग को बहुमुखी उत्पादन के क्षेत्रों में लगाना हो। अर्थात् विनियोगों को सुनिश्चित दिशाओं की ओर मोड़ा जाए और देश में बहुमुखी औद्योगिक विकास की ओर प्रयत्न किए जाएँ। पूर्ण विकसित राष्ट्रों में क्योंकि बेकारी एक अल्पकालीन समस्या होती है जो व्यापार-चक्रों के प्रभाव में उत्पन्न होती है और उसको राजकोषीय क्रियाओं में तनिक फेर-बदल करने से ही दूर किया जा सकता है तथा पूर्ण रोजगार की स्थिति को पुनः स्थापित किया जा सकता है किन्तु अर्द्ध विकसित देशों में बेकारी एक सर्व-व्यापी समस्या है जिसका समाधान एक दीर्घ-कालीन विकास-नीति ही कर सकती है। अतः राजकीय व्यय तथा ऋण-सम्बन्धी नीतियों का उद्देश्य देश में बहुमुखी विनियोग को प्रोत्साहित करना होना चाहिए और करारोपण नीति का उद्देश्य उपभोग को नियन्त्रित तथा बचतों को प्रोत्साहित करना होना चाहिए।

(४) **अन्य उद्देश्य**—हम कह ही चुके हैं कि अर्द्ध-विकसित राष्ट्रों की मुख्य समस्या उत्पादन को बढ़ाना है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए सरकार को राजकीय उद्योगों तथा उपक्रमों के क्षेत्र को बढ़ाना होगा ताकि देश के बढ़ते हुए साधन कुछ ही व्यक्तियों के हाथों में केन्द्रित न हो जाएँ। इसके साथ ही आय तथा उत्पादन में वृद्धि होने से जो आर्थिक शक्तियाँ सृजित होंगी उन पर भी राज्य का स्वामित्व होना चाहिए। यह इसलिए भी आवश्यक है कि देश में आय का समान वितरण हो और समाज का कल्याण अधिकतम हो। इन्हीं दिशाओं में सरकार को अपनी राजकोषीय नीति निर्मित करनी होगी। यह ध्यान रहे कि ऐसी नीति के कारण व्यक्तियों को कुछ त्याग करना होगा। और व्यक्ति त्याग करने के लिए उस समय तक तैयार नहीं होंगे जब तक कि उनको सरकार की नीतियों के प्रति विश्वास न हो। इसलिए सरकार

17. R. Nurkse, *op. cit.*, p. 147.

को कर प्रणाली का स्वरूप इस तरह से ढालना होगा कि कर का भार उचित व्यक्तियों को ही सहन करना पड़े और राजकीय व्यय को इस प्रकार सम्पन्न करना होगा कि उसका लाभ उन्हीं व्यक्तियों को प्राप्त हो जो उसके योग्य हों तथा जो राष्ट्रीय उत्पादन को बढ़ाने में अधिक योग दे रहे हों। यदि ऐसा नहीं हुआ तो व्यक्ति केवल बचत करने के लिए ही हतोत्साहित नहीं होंगे, वरन् वे देश में उत्पादन तथा विकास की गति के तीव्र होने में सकारात्मक रूप से बाधा उत्पन्न करेंगे, जैसे कि आजकल हमारे देश में हो रहा है।

भाग १

राजकीय व्यय

अध्याय ४

राजकीय व्यय की प्रकृति एवं सिद्धान्त

(NATURE AND PRINCIPLES OF PUBLIC EXPENDITURE)

प्राक्कथन—

राजकीय व्यय, वैयक्तिक व्यय की भांति राज्य की क्रियाओं का आदि और अन्त, दोनों ही है। जिन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए सरकार विभिन्न क्रियाएँ सम्पन्न करती है, उन उद्देश्यों का अध्ययन हम राजस्व के इसी विभाग में करते हैं और राजकीय व्यय के परिणामों और आकार से ही हमको यह ज्ञात होता है कि राज्य का क्या स्थान मनुष्य के जीवन में है और राज्य किस सीमा तक नागरिकों के संरक्षक के रूप में कार्य कर रहा है। हम देख ही चुके हैं कि राज्य बहुधा पहले अपने व्यय को देखता है तत्पश्चात् वह आय के स्रोतों को खोजता है। इसीलिए राजस्व की प्रत्येक पुस्तक में राजकीय व्यय का अध्ययन राजकीय आय से पहले किया जाता है। जिस प्रकार अर्थशास्त्र में उपभोग का महत्त्व है उसी प्रकार राजस्व में राजकीय व्यय का महत्त्व है।

पिछले अध्याय में हम देख ही चुके हैं कि गत वर्षों में राजस्व का क्षेत्र बहुत अधिक विस्तृत हो गया है। अतः राजकीय व्यय के आकार में भी वृद्धि हुई है। इस वृद्धि के वैसे तो अनेक कारण हैं, परन्तु मुख्य यही है कि राज्य की क्रियाओं का क्षेत्र पहले से कई गुना बढ़ गया है। यदि हम आधुनिक राज्यों के व्यय की ओर ध्यान दें और उन आँकड़ों का अध्ययन करें तो ज्ञात होगा कि राज्य के कार्यों में केवल विस्तृत वृद्धि ही नहीं हुई है बल्कि गहरी वृद्धि भी हुई है।[1] विस्तृत वृद्धि (Extensive increase) से हमारा अभिप्राय यह है कि राज्यों के कार्यों की संख्या पहले से अधिक हो गई है और कई गुनी बढ़ गई है, अर्थात् राज्य

1. Philips E, Taylor, *The Economics of Public Finance*, pp., 48-68.

के कार्यों का क्षेत्र और आकार गत वर्षों में बहुत बढ़ गया है। गहरी वृद्धि (Intensive increase) से हमारा आशय यह है कि पहले जो कार्य राज्य के मौलिक कार्य समझे जाते थे उनमें पहले की अपेक्षा अब अधिक व्यय की आवश्यकता है और पहले की अपेक्षा वे गत वर्षों में बहुत व्यय-पूर्ण हो गये हैं। निम्न में हम इन दोनों प्रकार की वृद्धियों का अध्ययन करेंगे।

सरकार के कार्यों में गहरी वृद्धि—
(Intensive Expansion of Governmental Functions)[2]

एक लम्बे काल से सरकार की यह जिम्मेदारी रही है कि वह देश को विदेशी अत्याचार के विरुद्ध सैनिक व्यवस्था द्वारा सुरक्षित रक्खे, सड़कों इत्यादि को बनवाए और नागरिकों के लिए शिक्षा का प्रबन्ध करे। गत वर्षों में इन तीन कार्यों के कारण ही राजकीय व्यय में वृद्धि हुई है और पिछली एक शताब्दी की तुलना में इसका रूप बिल्कुल ही बदल गया है। आजकल के युद्ध इतने महँगे और खर्चीले हो गए हैं कि साधारण मनुष्य इसका अनुमान ही नहीं कर सकता। "सैनिक कला और विज्ञानों की इतनी तीव्र प्रगति हुई है कि युद्ध के यन्त्रों का क्रय अत्यधिक खर्चीला हो गया है और विनाश की दर अत्यधिक ऊँची हो गई है। सरकार द्वारा, युद्धपीड़ित व्यक्तियों और उनके कुटुम्बों की देखभाल करने का और उनको बोनस, शिक्षा और पुनर्वास आदि के रूप में लाभ प्रदान करने का दायित्व स्वीकार कर लेने से सरकार की युद्ध-सम्बन्धी लागतें तो बहुत अधिक बढ़ गई हैं।"[3] यह हिसाब लगाया गया है कि सन् १७८९ और १९२० के वर्षों में अमेरिका की संघ सरकार के कुल खर्चों में ७८.९% खर्चे केवल युद्ध-सम्बन्धी थे।[4]

इसी प्रकार सड़कों और प्रधान मार्गों को बनवाने और उनका प्रबन्ध करने का व्यय भी बहुत अधिक हो गया है। प्रथम महायुद्ध से, स्वचलित (automobiles) गाड़ियों के विकास से अच्छी किस्म की और अधिक सड़कों की माँग में दिन प्रतिदिन वृद्धि होती गई है। अधिक भारी गाड़ियों और अधिक गति वाली गाड़ियों के कारण तो नई सड़कों की संख्या में बहुत वृद्धि हुई है और पुरानी सड़कों के स्थान पर अब नई प्रकार की मजबूत सड़कें बनाई जाने लगी हैं। पहले की अपेक्षा अब अधिक चौड़ी सड़कों की भी आवश्यकता बढ़ गई है। इन्हीं सब कारणों से सड़कों का बनवाना पहले की अपेक्षा अब बहुत खर्चीला हो गया है। जनसंख्या की वृद्धि के कारण अब अधिकाधिक व्यक्तियों को शिक्षा प्रदान करने की आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त गत वर्षों में प्रारम्भिक और उत्तर माध्यमिक निःशुल्क शिक्षा प्रदान करने के विचार का बहुत प्रचार हुआ है। अतः परिणाम यह हुआ कि शिक्षा-सम्बन्धी व्यय भी पहले से बहुत अधिक हो गया है।

नागरीकरण (Urbanisation)—गत वर्षों में यह प्रवृत्ति रही है कि व्यक्ति

2. *Ibid.* pp. 48-56.
3. *Ibid.*, p. 44.
4. *Ibid.*, p. 51.

गाँव छोड़-छोड़ कर शहरों में आने लगे हैं। कुछ तो शहरों की रौनक से आकर्षित होकर और अधिकतर शहरों में रोजी कमाने के लिए लोग ग्रामों से नगरों में आते हैं। इसके अतिरिक्त शिक्षा के विकास और यातायात के साधनों की उन्नति ने भी इस प्रवृत्ति में और भी अधिक वृद्धि की है। परिणामस्वरूप नगरों की संख्या लगभग प्रत्येक देश में बढ़ गई है। इस प्रवृत्ति ने भी सरकार के व्यय को बढ़ाने में सहायता की है। नगरों में भीड़-भाड़ बढ़ने के कारण सरकार का जन-स्वास्थ्य और कल्याण की देखभाल करने का दायित्व पहले से कई गुना अधिक हो गया है। खाने की वस्तुओं और उनके वितरण का निरीक्षण, अस्पतालों की संख्या में वृद्धि और उनकी उचित व्यवस्था करना, निर्धनों के लिए नि:शुल्क स्वास्थ्य सेवाएँ प्रदान करना, खेल के मैदानों और मनोरंजन के स्थानों एवं साधनों की व्यवस्था करना, इत्यादि। आवश्यकताओं को बढ़ते हुए नागरीकरण ने ही जन्म दिया है। नागरीकरण से सरकार के कार्यों की गहरी और विस्तृत दोनों ही प्रकार की वृद्धि हुई है।

सरकार के कार्यों में विस्तृत वृद्धि—
(Extensive Expansion of Governmental Functions)[5]

पिछले तीस वर्षों में सरकार को बहुत से नए-नए कार्य करने पड़े हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि जनता की ओर से इन कार्यों की सरकार द्वारा किए जाने की माँग रही है और यह माँग दिन प्रतिदिन बढ़ती ही जा रही है। इन कार्यों की प्रकृति और कारणों का विवरण निम्नांकित है :—

महान् अवसाद से उत्पन्न होने वाले कार्य (Depression-born Functions):—

सन् १९३० के महान् अवसाद ने सरकारी हस्तक्षेप की आवश्यकता को बहुत स्पष्ट कर दिया था। विभिन्न स्तरों पर—संघीय, प्रान्तीय, और स्थानीय स्तरों पर उदार सरकारें स्थापित होना आरम्भ हुईं। सरकारों ने मुख्य रूप से तीन क्षेत्रों में नए-नए दायित्वों को स्वीकार किया। यह क्षेत्र निम्न प्रकार हैं :—

(अ) उद्योग, कृषि तथा श्रम को प्रोत्साहन देना,
(ब) अर्थ-व्यवस्था पर बढ़ती हुई मात्रा में नियन्त्रण रखना,
(स) जन-कल्याण में वृद्धि करना।

यद्यपि सन् १९३० के महान् अवसाद से पहले भी इसी किस्म के कार्य आरम्भ हो गए थे, परन्तु अवसाद काल में तो इनमें आश्चर्यजनक वृद्धि हुई। उद्योगों की सहायता के लिए सरकार ने अनेक सार्वजनिक योजनायें निर्मित कीं, श्रमिकों के लिए मकानों की व्यवस्था सम्बन्धी नये-नये कार्यक्रम बनाये, कृषि के क्षेत्र में कृषकों को साख-सम्बन्धी सुविधायें देने के लिए वस्तुओं के मूल्य को ऊँचा करने के लिए, भूमि के कटाव को कम करने के लिए, सभी देशों में विभिन्न प्रकार के क़ानून बनाये गये। इसी प्रकार श्रम की सामूहिक सौदा करने की शक्ति को बढ़ाने के लिए

5. *Ibid.*, pp. 55-68.

अधिनियम बने। सरकारी रोजगार सेवायें स्थापित हुईं, बेकारी मुआवजा और वृद्ध अवस्था पेन्शन तथा अन्य प्रकार की सुविधायें श्रमिकों को दी जाने की व्यवस्था की गई।

"महान् अवसाद से पहले सरकार के नियमन अथवा नियन्त्रण-सम्बन्धी कार्य अधिकतर अपनी प्रकृति में अनार्थिक थे। पुलिस और न्याय सम्बन्धी कार्यों का मुख्य उद्देश्य विस्तृत और मौलिक सामाजिक अधिकारों की रक्षा करना था। आर्थिक क्षेत्र में सरकार यातायात और जन उपयोगी सेवाओं के मूल्यों तथा उनके संचालन, शुद्ध भोजन और दवाइयों का निरीक्षण, एकाधिकार निरोधक सम्बन्धी क्षेत्रों का नियमन करती थी। वास्तव में यह वृद्धि इतने अधिक क्षेत्रों में हुई थी और इतनी अधिक तेजी से हुई थी कि बहुत से व्यक्तियों के मस्तिष्क में यह प्रश्न उठ रहे थे कि सरकार की अवसाद सम्बन्धी नीति का उद्देश्य पुरानी स्थिति को पुनः स्थापित (Recovery) करना था या पूर्णरूप से एक नई स्थिति स्थापित (Reform) करना था।"[6]

"सामान्य रूप से इन वर्षों में नियमन कार्य का उद्गम शोषण (Exploitation) की एक विस्तृत परिभाषा से हुआ है। जहाँ कहीं भी आर्थिक शक्ति का उपयोग जन-हित के विरुद्ध हुआ है या विभिन्न वर्गों के कल्याण के लिए हानिकारक रहा है, सरकार को उसी क्षेत्र में उचित कार्य संचालन के नियमों को निर्मित करने के लिए विवश होकर प्रवेश करना पड़ा है............नियमन कार्य तुलनात्मक रूप से कम खर्चीले होते हैं। इसमें प्रबन्ध करने वाले कर्मचारियों की एक बड़ी संख्या की आवश्यकता तो हो सकती है परन्तु इनमें वस्तुओं और आर्थिक सहायता के रूप में एक बड़ी मात्रा में धन लगाने की आवश्यकता नहीं होती...........विकास-कार्यों में सामान्य रूप से ऋणों तथा अन्य प्रकार के भुगतानों के रूप में अधिक धन की आवश्यकता होती है। तीसरे क्षेत्र में—जन कल्याण की वृद्धि—मौद्रिक सहायता और सार्वजनिक निर्माण कार्य तो लगभग अनिवार्य ही है और इसलिए सामान्य रूप से यह कार्य प्रत्यक्ष सहायता प्राप्त करने वाले व्यक्तियों की संख्या की तुलना में अधिक व्ययपूर्ण हैं।"[7]

इसमें कोई सन्देह नहीं कि गत वर्षों में सरकार ने सामाजिक सुरक्षा-सम्बन्धी तथा जन-कल्याण के क्षेत्र में इतने अधिक कार्य करने आरम्भ कर दिये हैं कि सरकार का व्यय पहले से कई गुना अधिक हो गया है। उपर्युक्त विवरण में सरकार के कार्यों की वृद्धि का एक सामान्य उल्लेख किया गया है[8], परन्तु कुछ लेखकों ने इन्हीं कारणों को अलग-अलग भागों में विभाजित करके दिया है। इनको हम बहुत संक्षेप में निम्न में देते हैं:—

आवश्यकताओं की सामूहिक सन्तुष्टि—बहुत से कार्य ऐसे हैं जो पहले

---

[6] ..., p. 58.
[7] ... p. 59.
[8] ...र्थशास्त्री वैगनर तथा प्लैहन ने भी यही कारण बताये हैं।

व्यक्ति ही करते थे परन्तु अब वे राज्य द्वारा किए जाते हैं, कदाचित् इसलिए कि एक तो सरकार द्वारा उनका किया जाना अधिक मितव्ययी हो गया है, और दूसरे इसलिए कि जनता की यह माँग रही है कि इन कार्यों को सरकार ही करे। नगरों में पानी, बिजली, यातायात आदि की व्यवस्था करना इसी प्रकार के कार्य हैं। यदि ये कार्य व्यक्तियों द्वारा किए जाएँ तो एक तो सेवाओं की दुबारगी (Duplication) के कारण अपव्यय बहुत होगा, दूसरे बड़े पैमाने की उत्पत्ति के लाभ प्राप्त नहीं होंगे, और अन्त में जनोपयोगी सेवाओं में एकाधिकार स्थापित होने की सम्भावना के कारण समाज का शोषण होने का भी भय रहता है। इसलिए नागरिक भी चाहते हैं कि ये कार्य सरकार द्वारा किए जाएँ। परिणामस्वरूप राज्यों के कार्यों में वृद्धि हुई है।

(२) **उद्योगों का समाजीकरण**—निर्बाधावादी नीति की असफलताओं और समाजवादी विचारधारा की प्रगति के साथ-साथ राज्यों ने अनेकों उद्योगों का राष्ट्रीयकरण करना आरम्भ कर दिया है जिस कारण भी राज्य के कार्यों में वृद्धि हुई है।

(३) **उत्पादन में सहायता**—छोटे-छोटे कृषकों और उद्योगपतियों को राज्य ने विभिन्न प्रकार की आर्थिक सहायता प्रदान करना आरम्भ कर दी है, ताकि वे विदेशी प्रतियोगिता से टक्कर ले सकें और देश का औद्योगिक विकास हो सके।

(४) **कल्याणकारी क्रियाएँ**—आधुनिक सरकारों ने कल्याणकारी तथा सामाजिक सुरक्षा-सम्बन्धी क्रियाएँ भी सम्पन्न करना आरम्भ कर दी हैं, जैसे बेकारी बीमा, स्वास्थ्य बीमा, प्रसव लाभ, बीमारी बीमा, वृद्धावस्था पेन्शन देना आदि। पहले राज्य इन क्रियाओं को सम्पन्न नहीं करता था। राज्य की ये क्रियाएँ पूर्णतया नवीन हैं।

(५) **आर्थिक अवसाद सम्बन्धी कार्य**—हम ऊपर बता आए हैं कि सन् १९३० के आर्थिक अवसाद के दोषों को दूर करने के कारण भी राज्य को अनेकों प्रकार की नई क्रियाओं को अपने कार्य-क्षेत्र में सम्मिलित करना पड़ा है। परिणामस्वरूप उसका कार्य-क्षेत्र और भी विस्तृत हो गया है।

(६) **आर्थिक नियोजन**—बीसवीं शताब्दी के आरम्भ से ही आर्थिक नियोजन सम्बन्धी विचारधारा ने बहुत जोर पकड़ा। विशेषकर रूस में आर्थिक नियोजन की सफलता के पश्चात् तो प्रत्येक देश की सरकार ने इसको किसी न किसी रूप में अवश्य ही अपनाया है। अविकसित देशों में तो इसका बड़ा ही बोलबाला है।

(७) **युद्ध-सम्बन्धी व्यय**—पिछले चालीस वर्षों में संसार को दो विश्वयुद्धों की कठिनाइयों को सहन करना पड़ा है। आधुनिक युद्ध अत्यधिक खर्चीले होते हैं। सैनिक व्यवस्था भी बहुत महँगी हो गई है। यही कारण है कि आजकल प्रत्येक देश में राजकीय आय का एक बहुत बड़ा भाग सुरक्षा-सम्बन्धी बातों पर खर्च किया जा रहा है।

(८) **नागरिक प्रशासन**—गत वर्षों में नागरिक प्रशासन पर भी व्यय बढ़ता ही जा रहा है। इसका एक कारण तो यह है कि संसार में प्रजातन्त्रीय सरकारों की संख्या बढ़ जाने के कारण प्रजातान्त्रिक संस्थाओं की स्थापना एवं व्यवस्था पर सरकारों को बहुत अधिक व्यय करना पड़ रहा है। चुनाव, सभाओं, संसद आदि पर बहुत अधिक व्यय किया जा रहा है। पिछले वर्षों में संसार में स्वतन्त्र राष्ट्रों की संख्या बहुत अधिक हो गई है। प्रत्येक राज्य को अपनी मित्रता बनाए रखने के लिए दूतावास आदि विदेशों में स्थापित करने पड़ते हैं जिनमें बहुत अधिक व्यय होता है। इसके अतिरिक्त जनसंख्या की वृद्धि के कारण आन्तरिक सुरक्षा-सम्बन्धी व्यवस्था भी बहुत खर्चीली हो गई है। अन्त में प्रशासन-सम्बन्धी दफ्तर भी इतने अधिक हो गए हैं कि पहले की अपेक्षा दफ्तरों और अफसरों व क्लर्कों की संख्या कई गुणी बढ़ गई है, फलस्वरूप प्रशासन-कार्य भी अधिक देरी से होने के साथ-साथ खर्चीला भी अधिक हो गया है।

यहाँ पर यह उल्लेख करना अनुचित न होगा कि आजकल लगभग सभी उन्नतिशील एवं पूर्ण विकसित देशों ने अर्द्ध-विकसित देशों की आर्थिक विकास-सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अपने साधनों द्वारा सहायता देना अपना एक परम कर्त्तव्य समझ लिया है। परिणामतया ऐसे देशों के राजकीय व्यय में वृद्धि हो गई है।

इन्हीं सब कारणों से राजकीय व्यय में गत वर्षों में इतनी अधिक वृद्धि हुई है।

डाल्टन का विचार है कि वेग्नर (Wagner) के नियम के लागू होने के तीन मुख्य कारण हैं। प्रथम, आधुनिक प्रगतियों के कारण राजकीय संस्थाओं की कार्य-कुशलता, निजी संस्थाओं की अपेक्षा अधिक हो गई है। इसीलिए अब अधिकांश व्यक्ति यह चाहने लगे हैं कि अधिकाधिक कार्य राजकीय संस्थाओं द्वारा किए जाएँ। द्वितीय, आधुनिक प्रगतियों के कारण कुछ क्षेत्रों में अब यह आवश्यक सा हो गया है कि राज्य उन नए कार्यों को सम्पन्न करे जो निजी व्यवसाय द्वारा नहीं किए जा सके हैं। तृतीय, जबकि व्यक्तिगत व्यय द्वारा व्यक्तिगत वस्तुओं एवं सेवाओं का उपयोग ही सम्भव होता है, राजकीय व्यय द्वारा ऐसी सेवाएँ प्रस्तुत की जाती हैं जिनका उपयोग सम्पूर्ण समाज कर सकता है जैसे पार्क, अजायबघर, कलाकक्ष इत्यादि।

राज्य के इस प्रकार बढ़ते हुए व्यय के विषय पर विभिन्न मत प्रगट किए गए हैं। वामपंथी लेखकों ने इसका स्वागत किया है। दूसरी ओर कुछ लोग ऐसे भी हैं जो राज्य की बढ़ती हुई क्रियाओं को केवल इसलिए ही स्वीकार करते हैं क्योंकि वे समझते हैं कि निरन्तर परिवर्तनशील जटिल आधुनिक समाज में ऐसा होना स्वाभाविक ही है, किन्तु वे इस ओर कुछ सशंकित से प्रतीत होते हैं। उनका यह विश्वास है कि राजकीय व्यय अपनी प्रकृति में अमितव्ययी होता है क्योंकि एक ओर

तो सरकारी प्रबन्ध अकुशल होता है और दूसरी ओर सरकार द्वारा सम्पन्न की गई क्रियाओं से आय प्राप्त नहीं होती और समाज का बोझा बढ़ जाता है। प्रजातान्त्रिक राज्यों में नियमों तथा प्रतिबन्धों का एक जाल-सा बिछ जाने के कारण कार्यालय-सम्बन्धी कार्यवाहियों के कारण अकुशलता और व्यय अधिक हो जाता है। इसके अतिरिक्त सरकार के अधिकांश कार्य ऐसे होते हैं जिनसे समाज को लाभ तो अवश्य पहुँचता है किन्तु सरकार को कोई प्रत्यक्ष आय प्राप्त नहीं होती। अधिकतर लोगों को सरकार की बढ़ती हुई क्रियाओं के सम्बन्ध में इस बात का भय है कि वह दिन दूर नहीं जबकि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पूर्ण रूप से समाप्त हो जायेगी। कुछ लोग इस आधार पर भी आपत्ति प्रकट करते हैं कि सरकारी कोषों के वितरण द्वारा सरकार तथा शक्तिशाली राजनैतिक दल सदैव ही अपनी स्थिति को बनाये रख सकती है।

राजकीय व्यय का महत्त्व—

पिछली शताब्दी के अन्त तक राजकीय व्यय की ओर बड़ी उदासीनता से देखा जाता था और अर्थशास्त्री लगभग सभी प्रकार के राजकीय व्यय को बुरा समझते थे। यह पिछले ७० वर्षों में ही सम्भव हो सका कि व्यक्तियों ने राजकीय व्यय की वास्तविक महत्ता को समझने का प्रयत्न किया है। आधुनिक अर्थशास्त्रियों के अनुसार सभी प्रकार का राजकीय व्यय उत्तम होता है। यद्यपि यह पूर्णतया सत्य नहीं है, तथापि यह स्वीकार करना पड़ेगा कि राजकीय व्यय, यदि सोच-समझकर किया जाय और उसकी व्यवस्था ठीक हो तो उससे समाज को पूरा लाभ पहुँचता है। हमने पिछले पृष्ठों में उन कारणों का उल्लेख किया है जिनसे राजकीय व्यय में वृद्धि हुई है, जैसे; सुरक्षा-सम्बन्धी भारी व्यय, जनसंख्या की वृद्धि, अत्यधिक नगरीकरण, देश के कृषि तथा औद्योगिक विकास-सम्बन्धी व्यय, व्यक्तियों के कल्याण की ओर राज्य का बढ़ता हुआ ध्यान, पूर्ण रोजगार की स्थिति को बनाये रखना और बेकारी को दूर करना इत्यादि। इसके अतिरिक्त राज्य उन क्रियाओं को भी सम्पन्न करने लगा है जो व्यक्तियों द्वारा नहीं की जा सकतीं। कुछ कार्य ऐसे भी हैं जिन्हें राज्य व्यक्तियों की अपेक्षा अच्छी प्रकार कर सकता है। इसीलिए अब सभी व्यक्ति यह चाहते हैं कि राज्य सभी क्षेत्रों में भाग ले।

संक्षेप में, हम कह सकते हैं कि राजकीय व्यय का अध्ययन अर्थशास्त्र के अध्ययन का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। हम अगले पृष्ठों में राजकीय व्यय से सम्बन्धित सैद्धान्तिक विवेचना प्रस्तुत करेंगे।

राजकीय व्यय का सिद्धान्त—

आधुनिक समय में, हमने अभी देखा कि राज्य का कार्य-क्षेत्र कितना विस्तृत हो गया है। स्पष्ट ही है कि राज्य को कितनी बड़ी मात्रा में व्यय करना पड़ता है और कितने अधिक मदों के लिए धन एकत्रित करके उन पर बाँटना भी होता है। अतः

राज्य के लिए यह आवश्यक है कि व्यय करने से पहले और बाद में यह विचार करे कि व्यय को पूरा करने के लिए किन स्रोतों से धन प्राप्त किया जाये और उसके बाद में यह सोचे कि विभिन्न मदों पर व्यय ठीक प्रकार से हुआ या नहीं। राज्य के पुराने कार्यों में प्रत्येक वर्ष ही कुछ न कुछ नये कार्य बढ़ते ही जाते हैं, इसलिए राज्य के लिए यह आवश्यक है कि वह आय और व्यय दोनों का ही एक साथ विचार करे, और इस प्रकार नियोजन करे कि अधिक से अधिक उद्देश्यों की पूर्ति हो, तभी राज्य अधिकतम सामाजिक लाभ के सिद्धान्त का पूर्ण उपयोग कर पायेगा। व्यवहार में सरकार यह ही करती है। इसी उद्देश्य से आजकल बजट बनाये जाते हैं। बजट बन जाने के बाद सरकार के लिए एक नयी समस्या उत्पन्न होती है—वह है जनता के धन को व्यय करने की। यह ध्यान रहे कि बजट पास हो जाने के बाद सरकार को कोई विशेष विचार करने की आवश्यकता नहीं रहती। वह केवल संसद द्वारा पास किए हुए व्यय में थोड़ा-सा ही परिवर्तन कर सकती है, परन्तु उसके लिए भी संसद से आज्ञा लेनी होती है। सरकार को इतनी स्वतन्त्रता अवश्य होती है कि वह जिस व्यय को अधिक महत्त्वपूर्ण समझे उसे पहले करे और अन्य मदों पर बाद में। एक मद में भी अनेकों क्षेत्र होते हैं और एक क्षेत्र में उन्नति तथा विकास में अनेकों पहलू होते हैं। इन सब की पूर्ति राज्य किसी एक वर्ष में पूर्ण रूप से तो कर नहीं सकता, इसलिए किस हिसाब से व्यय किया जाये, वह उस मद पर व्यय किये जाने वाले धन की कुल राशि पर निर्भर करता है। अतः किस मद पर पहले व्यय किया जाये और किस पर बाद में—यह आय की राशि द्वारा निश्चित नहीं होता। यह केवल इस बात पर निर्भर करता है कि आय किस प्रकार प्राप्त की गई है। उदाहरणार्थ, यदि आय का एक बड़ा भाग ग्रामीण क्षेत्रों से प्राप्त किया गया है तो यह आवश्यक है कि ग्रामीण जनता के कल्याण को व्यय के कार्य-क्रम में अवश्य ही प्राथमिकता मिलेगी। अतः अप्रत्यक्ष रूप से राजकीय आय द्वारा राजकीय व्यय की प्राथमिकतायें भी निर्धारित होती हैं। सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से तो राज्य के लिए सबसे उत्तम सिद्धान्त यह ही है कि सामाजिक लाभ को अधिकतम करने के उद्देश्य को सामने रख कर व्यय करे। अर्थात् विभिन्न मदों पर व्यय किए हुए धन के सीमान्त सामाजिक लाभ को बराबर रखने का प्रयत्न करे। डाल्टन के शब्दों में, "राजकीय व्यय को उस सीमा तक ले जाना चाहिए जहाँ सभी दिशाओं में होने वाले व्यय से उत्पन्न सीमान्त सामाजिक लाभ समान हों और उन सभी सीमान्त-सामाजिक-क्षति के बराबर हों जो कि विभिन्न प्रकार से राजकीय आय के अतिरिक्त साधनों के जुटाने से उत्पन्न होती है..........राजकीय व्यय के सभी लाभ पूर्णतः अथवा अंशतया आर्थिक नहीं हैं, तथापि उनमें से अधिकांश के प्रभाव आर्थिक होते हैं और आर्थिक लागत तो सभी में होती है।"[6] व्यावहारिक जीवन में भी, यह जाँचने के लिए कि राज्य का व्यय न्यायसंगत और उचित है कि नहीं कुछ नियमों को निर्मित किया गया है।

6. Hugh Dalton, *Principles of Public Finance*, P. 142.

राजकीय व्यय के नियम—
(Canons of Public Expenditure)

फिनले शिराज के नियम (Finlay Shirras's Canons)—प्रोफेसर फिनले शिराज ने राजकीय व्यय के चार नियम बताए हैं। यह नियम निम्न प्रकार हैं :—

(१) लाभ का नियम (Canon of Benefit)—अधिकतम सामाजिक लाभ का सिद्धान्त, राजस्व का सर्वोच्च नियम है। दूसरे शब्दों में, यह नियम अधिकतम सन्तुष्टि के नियम की भाँति ही है। जिस प्रकार व्यक्ति-विशेष अपनी आय का बटवारा विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति पर अधिकतम संतुष्टि प्राप्त करने के उद्देश्य से करता है, उसी प्रकार राज्य को भी अपना व्यय अधिकतम सामाजिक लाभ प्राप्त करने के उद्देश्य से करना चाहिए। डाल्टन के अनुसार, "राजकीय व्यय प्रत्येक दिशा में इस प्रकार होना चाहिए कि किसी एक दिशा में तनिक-सी वृद्धि होने से समाज को प्राप्त होने वाला लाभ उस हानि के बराबर हो जाए जो कर की मात्रा में तनिक-सी वृद्धि के कारण होती है और अन्य किसी स्रोत से राजकीय आय को होती है। यही राजकीय व्यय और राजकीय आय का आदर्श होना चाहिए।"[10] कुछ इसी प्रकार के विचार पीगू के भी हैं। वह कहते हैं कि, "सभी दिशाओं में व्यय को उस बिन्दु तक बढ़ाया जाए जिस पर कि व्यय की गई मुद्रा की अन्तिम इकाई से प्राप्त होने वाली सन्तुष्टियाँ उन अन्तिम इकाइयों की सन्तुष्टियों के बराबर हों जो सरकार सेवा प्रदान करने पर व्यय करती है।"[11]

अधिकतम सामाजिक लाभ के नियम से यह आशय है कि सरकारी व्यय से किसी एक व्यक्ति या समूह को ही लाभ नहीं पहुँचना चाहिए, बल्कि सम्पूर्ण समाज का हित अग्रसर हो। इसलिए यह आवश्यक है कि सरकार इस बात का पूरा ध्यान रखे कि समाज से प्राप्त होने वाली आय किसी समूह-विशेष के हित के लिए व्यय न की जाये। इस सम्बन्ध में राजस्व-सम्बन्धी लेखकों ने कुछ कसौटियाँ निर्धारित की हैं जिनके द्वारा यह पता लगाया जा सकता है कि राजकीय व्यय से समाज के आर्थिक कल्याण में वृद्धि हो रही है या नहीं। पहली कसौटी यह है कि राज्य जो व्यय देश की सुरक्षा एवं शान्ति की स्थापना पर करता है उससे देश के सामाजिक कल्याण में वृद्धि हो। दूसरी कसौटी, डाल्टन के अनुसार यह है कि देश में उत्पादन तथा राष्ट्रीय आय के आकार में वृद्धि होनी चाहिए। तीसरे, देश में आय का न्यायपूर्ण तथा समान वितरण होना चाहिए। चौथे, देश में आर्थिक स्थायित्व बनाये रखा जाये अर्थात् सरकार मुद्रा-स्फीति तथा मुद्रा-संकुलन की अवस्थाओं को दूर करती रहे और अर्थ-व्यवस्था में पूर्ण रोजगार की स्थिति स्थापित की जाये। अन्त में, राजकीय व्यय केवल वर्तमान पीढ़ी के लिए ही नहीं, वरन् भावी पीढ़ियों के हित को ध्यान में रखकर किया जाये। साधारणतया सामाजिक लाभ का सिद्धान्त सर्वोच्चतम

10. Dalton, *op. cit.*, p. 7.
11. Pigou, *Public Finance*, p. 31.

प्रतीत होता है, किन्तु, जैसाकि हम पिछले अध्याय में कह चुके हैं, इस सिद्धान्त के लागू करने में अनेक कठिनाइयाँ होती हैं। यह पता लगाना असम्भव है कि सरकार के किस व्यय से समाज को कितना लाभ होता है। इसी प्रकार, यद्यपि सुरक्षा-सम्बन्धी व्यय आवश्यक है और देश के हित को अग्रसर करता है, किन्तु ऐसा व्यय भी किसी एक निश्चित सीमा तक ही लाभप्रद हो सकता है क्योंकि ऐसे व्यय से आर्थिक साधन उत्पादक क्षेत्रों से अनुत्पादक क्षेत्रों की ओर मोड़ दिए जाते हैं, इस लिए यह आवश्यक है कि सरकार ऐसे व्यय को सोच-समझकर ही करे। यह उचित है कि राजकीय व्यय किसी एक विशेष वर्ग के हित को ध्यान में रखकर न किया जाए, किन्तु किसी-किसी देश की परिस्थितियाँ यह माँग करती हैं कि ऐसा व्यय अवश्य ही किया जाए, जैसे, हमारे ही देश में हरिजनों के हित के लिए किया जाने वाला व्यय आवश्यक है। इसी प्रकार पिछड़े हुए क्षेत्रों की उन्नति के लिए किया जाने वाला व्यय भी न्यायोचित है। सारांश में यही कहा जा सकता है कि सरकार को अपना व्यय देश की परिस्थितियों के अनुकूल ही करना चाहिए।

इस नियम के अनुसार सरकार को अपना व्यय इस प्रकार करना चाहिए कि समाज को अधिकाधिक लाभ प्राप्त हो, समाज की उन्नति हो और देश में उत्पत्ति की मात्रा बढ़े। इस नियम से यह अर्थ नहीं लगा लेना चाहिए कि कुछ मदों को दूसरों की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण समझकर सदा उन्हीं पर अधिक व्यय किया जाए। यह देश की आर्थिक, राजनैतिक और सामाजिक दशाओं पर निर्भर करेगा कि किस वर्ष में किस मद पर अधिक व्यय किया जाये और किस पर कम। जो मद एक वर्ष महत्वपूर्ण है, वह दूसरे वर्ष बिल्कुल अनावश्यक हो सकती है। इस नियम के अनुसार कोई भी राजकीय व्यय किसी एक व्यक्ति या किसी एक विशेष वर्ग के हित में नहीं होना चाहिए, बल्कि सम्पूर्ण समाज के लाभ के लिए किया जाए। किसी व्यक्ति-विशेष, या समूह-विशेष या संस्था-विशेष पर उसी समय व्यय किया जाए जबकि (अ) व्यय की धन राशि कम हो, (आ) वह न्यायालयों द्वारा वसूल की जा सके, और (इ) वह किसी एक निश्चित नीति एवं सामाजिक रिवाज के अनुसार हो। अतः स्कूल, अस्पताल आदि संस्थाओं को तो आर्थिक सहायता दी जा सकती है परन्तु मन्दिर या गिरजों आदि को कोई भी सहायता देना न्यायोचित नहीं होगा।

(२) **मितव्ययिता का नियम** (Canon of Economy)—सरकार जिस धन को जनता से प्राप्त करती है वह एक प्रकार की धरोहर होती है, जिसका उपयोग सरकार को बड़ी सतर्कता से करना चाहिये। मितव्ययिता का अर्थ यह है कि सरकार को केवल उन्हीं मदों पर और उसी समय व्यय करना चाहिये जहाँ वह आवश्यक हो। इसके अतिरिक्त सरकार को व्यय के अन्तिम परिणामों और प्रभावों की ओर भी ध्यान देना आवश्यक है। वही व्यय मितव्ययी समझा जायेगा, जिसके परिणामवश नागरिकों की उत्पादन-शक्ति में वृद्धि होती है। आजकल सरकारी संस्थाओं के विरुद्ध सामान्य शिकायत यह है कि वे बेहद अपव्ययी और लापरवाह

है। व्यय करते समय उचित नियोजन नहीं करतीं और दूरदर्शिता से तनिक भी काम नहीं लेतीं। दफ्तरों और अफसरों की संख्या तो दिन-प्रतिदिन बढ़ती जाती है परन्तु सरकार का वित्तीय नियन्त्रण एवं नियमन उतना ही ढीला होता जा रहा है। इस प्रकार प्रत्येक सरकार को अधिकतम सामाजिक लाभ प्राप्त करने के लिये यह आवश्यक है कि वह इस सिद्धान्त का पालन करे।

(३) **अनुमोदन का नियम** (Canon of Sanction)—इस नियम के अनुसार प्रत्येक अधिकारी को व्यय करते समय अपने उच्च अधिकारी से अनुमोदन प्राप्त कर लेना चाहिये। ऐसा करने से बहुत से बेकार खर्चे कम हो जाते हैं। इस नियम में निम्न मुख्य बातें सम्मिलित हैं—(अ) किसी भी सरकारी अफसर को उस राशि से अधिक व्यय करने की मन्जूरी नहीं देनी चाहिये, जितना कि उसे स्वयं अधिकार है। (ब) ऋण केवल उन्हीं मदों पर खर्च करना चाहिये, जिनके लिये वह प्राप्त किया गया है। साथ ही साथ ऋण को उचित समय पर लौटाने की भी व्यवस्था करते जाना चाहिए। (स) सारी व्यय की गई राशियों के हिसाब-किताब का उचित आंकेक्षण (auditing) भी होना चाहिये ताकि अनुचित ढंग से धन व्यय न किया जा सके और विभिन्न अफसर अपने अधिकारों का अनुचित उपयोग और अपनी सीमाओं का उल्लंघन न कर सकें। इस प्रकार आजकल अनुमोदन-कार्य का रूप अति विस्तृत हो गया है।

जनतन्त्र की स्थापना तथा संसदीय प्रणाली के विकास के कारण स्वयं सरकार को विधान सभा अथवा संसद से प्रत्येक व्यय की स्वीकृति प्राप्त करनी होती है। इसी प्रकार हर विभाग अपने मन्त्रालय से, हर अफसर अपने उच्च अफसर से मंजूरी लेता है। इसमें समय अवश्य नष्ट होता है किन्तु सामाजिक हित को अधिकतम करने के लिये नितान्त आवश्यक है।

(४) **आधिक्य का सिद्धान्त** (Canon of Surplus)—प्रो० शिराज के शब्दों में, "आधिक्य के सिद्धान्त का अभिप्राय राजकीय व्यय में हीनता (deficits) या घाटों को दूर करना है ... राजकीय संस्थाओं को अपनी आय की प्राप्ति एवं व्यय साधारण व्यक्तियों के समान करना चाहिए। व्यक्तिगत व्यय के समान संतुलित बजट ही सामान्य नीति होनी चाहिये।" प्रो० शिराज ने सन् १६२० में ब्रुसेल्स (Brussels) के अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय सम्मेलन के एक प्रस्ताव को अपनी पुस्तक में दुहराया है कि "जो देश घाटे के बजटों की नीति को स्वीकार करता है वह उस फिसलने वाले मार्ग पर चल रहा है जो सामान्य विनाश की ओर ले जाता है; मार्ग से बचने के लिये कोई बलिदान भी बहुत बड़ा नहीं है।" यह बात सही भी है क्योंकि घाटे के बजटों से जनता का ऋण-भार बढ़ जाता है और देश तथा विदेशों में, सरकार का विश्वास कम होता जाता है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि सरकार को घाटे के बजट बनाने ही नहीं चाहियें। देश के आर्थिक विकास की स्थिति में तो ऐसे बजट नितान्त आवश्यक होते हैं। इसी प्रकार युद्धकाल में भी सरकार का घाटे के बजटों के बिना काम नहीं चलता। सामान्य रूप से सरकार को सन्तुलित बजट बनाने

चाहियें। आधिक्य बजट भी ठीक नहीं होते क्योंकि ऐसे बजटों से नागरिकों के मस्तिष्क में यह आपत्ति उत्पन्न होती है कि उन पर कर-भार बहुत अधिक है। यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि कब कैसा बजट बनाया जाये, परिस्थितियों पर निर्भर करता है। अवसाद काल में घाटे के बजट, मुद्रा-स्फीति में आधिक्य बजट और सामान्य परिस्थितियों में सन्तुलित बजट बनाने चाहियें।

शिराज़ द्वारा प्रस्तुत किये गये उपर्युक्त सिद्धान्तों के अतिरिक्त कुछ लेखकों ने अन्य सिद्धान्तों की ओर भी संकेत किया है। ये सिद्धान्त निम्न प्रकार हैं :—

(१) **लोच का सिद्धान्त** (Canon of Elasticity)—सामाजिक लाभ को अधिकतम करने के उद्देश्य की पूर्ति के लिये यह नितान्त आवश्यक है कि व्यय का सामान्य ढाँचा लचीला हो अर्थात्, राजकीय व्यय में आवश्यकतानुसार परिवर्तन हो सके। यह तो विदित ही है कि महान् अवसाद के बाद से राजकीय व्यय में बहुत वृद्धि हुई है और भविष्य में भी इस वृद्धि के कम होने की कोई सम्भावना नहीं दीखती। यह स्वाभाविक ही है कि इस व्यय की पूर्ति के लिये सरकारों को आय के नये-नये स्रोतों को ढूंढ़ने के लिये प्रयत्न करने ही पड़ेंगे। किन्तु साधनों की उपलब्धि की भी कोई सीमा होती है। इस सीमा से परे राजकीय व्यय को नहीं [illegible]ाया जा सकता। साथ ही बढ़े हुए व्यय की पूर्ति के लिये राजकीय आय में जो [illegible]द्धि करनी आवश्यक होगी उसके बुरे तथा अच्छे परिणामों को भी ध्यान में रखना [illegible]गा। ब्यूहलर के शब्दों में, "व्यय के परिणामों का अनुमान करते समय हमें उन [illegible]रिणामों की ओर भी ध्यान देना होगा जो उस व्यय की पूर्ति करने के सम्बन्ध में [illegible]रारोपण अथवा आय के अन्य उपयोगों के परिणामस्वरूप सामने आ सकते हैं"[12]। [illegible]सीलिये यह आवश्यक है कि समयानुसार राजकीय व्यय में परिवर्तन किये जा सकें [illegible]र उनसे सामाजिक हित को क्षति भी न पहुँचे तभी राजकीय व्यय को उत्तम कहा [illegible]ा सकता है। यह ध्यान रहे कि राजकीय व्यय में वृद्धि करना तो सरल होता है [illegible]न्तु संकटकाल में उसको कम करना या किसी एक मद पर होने वाले व्यय को [illegible]म करना तथा दूसरी मद पर व्यय को, आर्थिक ढाँचे पर बिना प्रभाव पड़े, बढ़ाना [illegible]रल नहीं होता। इसीलिये यह अधिक आवश्यक है कि राजकीय व्यय का ढांचा ऐसा [illegible]चीला हो कि संकट के समय उसमें कमी की जा सके।

(२) **उत्पादकता का सिद्धान्त** (Canon of Productivity)—राजकीय [illegible]य का उचित अथवा अनुचित होना इस बात पर भी निर्भर करता है कि उससे [illegible]श की उत्पादन-शक्ति में वृद्धि होती है या नहीं। जिस राजकीय व्यय से उत्पादन [illegible] प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से तनिक भी वृद्धि होती है उसी को उत्तम कहेंगे। इसी[illegible]ये पिछली शताब्दी तक सुरक्षा व्यय को अनुत्पादक तथा अनुचित माना जाता [illegible]ा। इसी प्रकार सामाजिक सेवाओं पर होने वाले व्यय को ठीक नहीं समझा जाता [illegible]ा। किन्तु वर्तमान शताब्दी में ऐसे विचारों का तिरस्कार कर दिया गया और [illegible]व निश्चित रूप से यह विश्वास किया जाने लगा है, कि क्योंकि सुरक्षा व्यय, राज-

12. A. G. Buehler, *Public Finance*, p. 61

नैतिक शान्ति बनाये रखने के लिये आवश्यक है और बिना राजनैतिक शान्ति के कोई भी उत्पादन-कार्य संभव नहीं, इसलिये अप्रत्यक्ष रूप से सुरक्षा व्यय भी उत्पादन होता है। इसी प्रकार सामाजिक सेवाओं तथा सामाजिक सुरक्षा पर होने वाले व्यय से व्यक्तियों की कार्यक्षमता में वृद्धि होती है, इसलिये वह भी उत्पादक होता है। किन्तु इसका अभिप्राय यह ही नहीं कि केवल उपभोग वस्तुओं को उत्पन्न करने की शक्ति में ही वृद्धि करने वाले व्यय को उत्पादक समझा जाये। वास्तव में जो व्यय पूँजी-निर्माण की गति बढ़ाने, बेकारी को दूर करने, उपभोग वस्तुओं के उत्पादन को बढ़ाने तथा सामाजिक हित अग्रसर करने आदि में से किसी एक या अधिक उद्देश्यों की पूर्ति के हेतु किया जाये, उसी को उत्पादक कहेंगे और तभी वह उचित भी होगा।

(३) समान वितरण का सिद्धान्त (Canon of Equitable Distribution)—राजकीय व्यय का औचित्य इस बात पर भी निर्भर करता है कि वह कहाँ तक धन के वितरण में समानता उत्पन्न करने में सहायक हुआ है। विशेष रूप से अर्ध-विकसित तथा पिछड़े हुए देशों में तो राजकीय व्यय का यह एक महत्वपूर्ण आधार होना चाहिये। इस दृष्टि से निर्धन व्यक्तियों के लिये निःशुल्क शिक्षा एवं चिकित्सा की व्यवस्था, सस्ते तथा स्वस्थ रहने के स्थान और सामाजिक सुरक्षा-सम्बन्धी योजनाओं पर होने वाला व्यय उचित होगा क्योंकि इससे निर्धन व्यक्तियों का जीवन-स्तर ऊँचा होगा, जबकि इन्हीं सुविधाओं को प्राप्त करने के लिये धनी व्यक्तियों को व्यय करना पड़ेगा। परिणामस्वरूप धन के वितरण की प्रवृत्ति समान होने की रहेगी किन्तु यदि राजकीय व्यय से धनी व्यक्तियों तथा पूँजीपतियों को लाभ पहुँचता है, तो वह अनुचित होगा क्योंकि उससे धन के वितरण की असमानताएँ और भी अधिक हो जायेंगी।

इस प्रकार सरकार को अधिकतम सामाजिक लाभ प्राप्त करने के उद्देश्य की पूर्ति करने के लिए उपर्युक्त नियमों का पालन करना चाहिए।

राजकीय व्यय का वर्गीकरण—
(Classification of Public Expenditure)

राजकीय व्यय का वर्गीकरण अनेकों प्रकार से किया गया है। प्रत्येक लेखक ने अपने-अपने ढंग से यह वर्गीकरण किया है और अलग-अलग आधारों पर आश्रित किया है। निम्न में हम इन वर्गीकरणों का अध्ययन करेंगे —

(अ) कोहन तथा प्लेहन का वर्गीकरण (Cohn's and Plehn's Classification)—जर्मन अर्थशास्त्री कोहन और अमेरिकन अर्थशास्त्री प्लेहन ने राजकीय व्यय को निम्न चार भागों में विभाजित किया है :—

(१) पहला, वह व्यय जिसका लाभ सामान्य रूप से सारे समाज को पहुँचता है, जैसे सुरक्षा-सम्बन्धी व्यय, शिक्षा, स्वास्थ्य, यातायात आदि पर किया गया व्यय।

(२) दूसरा, वह व्यय जो कुछ विशेष व्यक्तियों अथवा वर्गों के लाभ के हेतु किया जाता है, परन्तु यदि देखा जाये तो यह लाभ सामान्य ही लाभ होता है, क्योंकि यह व्यय उन व्यक्तियों के लिये किया जाता है, जो स्वयं अपनी सहायता नहीं कर सकते। जैसे बेकारी बीमा, बीमारी बीमा, वृद्धावस्था पैन्शन आदि।

(३) तीसरा, वह व्यय जिससे कुछ व्यक्तियों को विशेष लाभ पहुँचाने के साथ-साथ सारे समाज को भी लाभ पहुँचता है जैसे पुलिस, न्यायालयों आदि का प्रबन्ध एवं व्यवस्था।

(४) चौथा, वह व्यय जिससे केवल कुछ विशेष व्यक्तियों को ही लाभ पहुँचता है, जैसे, राजकीय उद्योगों पर व्यय।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि यह वर्गीकरण इन अर्थशास्त्रियों ने 'लाभ' को आधार मानकर किया है। वैसे तो यह वर्गीकरण अत्यधिक सरल और न्यायपूर्ण है क्योंकि यह प्रत्येक व्यक्ति को प्राप्त होने वाले लाभों के अनुसार किया गया है परन्तु इसमें सबसे बड़ा दोष यह है कि यह चार वर्ग एक दूसरे से पूर्णतया अलग नहीं हैं। यह सरलता से एक दूसरे के क्षेत्र में सम्मिलित किये जा सकते हैं। वास्तव में इस प्रकार के आधार पर सरकारी व्यय में भेद करना सरल नहीं होता, क्योंकि लगभग प्रत्येक प्रकार का राजकीय व्यय एक ओर तो सामूहिक लाभ प्रदान करता है और दूसरी ओर वही व्यय कुछ विशेष व्यक्तियों एवं वर्गों को भी लाभ पहुँचाता है।

(ब) **प्रो० निकलसन का वर्गीकरण** (Nicholson's Classification)—राजकीय व्यय के लिए राजकीय आय साधन भी है, और साध्य भी। इसीलिए निकलसन ने अपने वर्गीकरण को 'आय' के आधार पर आधारित किया है अर्थात् उन्होंने अपना वर्गीकरण इस आधार पर किया है कि राजकीय व्यय की, आय उत्पन्न करने की शक्ति कितनी है या राजकीय व्यय से कितनी आय प्राप्त होने की आशा है। इन्होंने भी राजकीय व्यय को चार वर्गों में विभाजित किया है:—

(अ) प्रथम, वह व्यय जिससे राज्य को किसी प्रकार की भी आय प्राप्त नहीं होती, जैसे युद्ध व्यय, बेकारों की सहायता, वृद्धावस्था पैन्शन आदि।

(आ) दूसरा, वह व्यय जिससे राज्य को कोई प्रत्यक्ष आय नहीं प्राप्त होती परन्तु राज्य की आय में दीर्घकाल में अप्रत्यक्ष रूप से वृद्धि होती है, जैसे निःशुल्क शिक्षा, क्योंकि शिक्षा व्यक्तियों की कार्यकुशलता तथा उत्पादन शक्ति में वृद्धि करती है, जिससे अन्त में जनता की करदान शक्ति बढ़ जाती है।

(इ) तीसरा, वह व्यय जिससे राज्य को केवल थोड़ी सी ही आय प्राप्त होती है अर्थात् जिसमें शुल्क की दर सेवा के मूल्य से कम होती है, जैसे शुल्क सहित शिक्षा प्रदान करना।

(ई) चौथा, वह व्यय जिससे राज्य को व्यय पूर्ति के बाद अतिरिक्त आय प्राप्त होती है। राज्य द्वारा संचालित सब ही जनोपयोगी सेवाएं (Public utility

services) तथा उद्योग इसी वर्ग में आते हैं, जैसे रेल, डाक, तार आदि की व्यवस्था।

यह वर्गीकरण भी वैज्ञानिक नहीं है। यह केवल वित्तमन्त्री के लिए लाभप्रद हो सकता है क्योंकि उसको यह जानना जरूरी है कि किस मद से कितनी आय होगी। व्यय के उचित अध्ययन के लिये यह आवश्यक है कि वर्गीकरण ऐसा हो जिससे राजकीय व्यय की किसी विशेषता का स्पष्टीकरण होता हो। इसके अतिरिक्त विभिन्न वर्गों का क्षेत्र भी अस्पष्ट है क्योंकि कदाचित् कोई भी व्यय ऐसा नहीं होगा जिससे प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से आय में वृद्धि न हो।

(स) एडम का वर्गीकरण (Adam's Classification)—प्रो० एडम ने राजकीय व्यय का वर्गीकरण, व्यक्तियों पर पड़ने वाले प्रभावों के आधार पर किया है। उनके अनुसार राजकीय व्यय तीन प्रकार का है, अर्थात् संरक्षात्मक, व्यापारिक और विकासात्मक। कुछ व्यय तो राज्य नागरिकों की जान और माल की रक्षा करने के लिए करता ही है, जैसे सैनिकों तथा युद्ध-सम्बन्धी हथियारों की व्यवस्था करना, पुलिस आदि का प्रबन्ध करना इत्यादि। इस प्रकार के खर्चे एडम ने प्रथम वर्ग में सम्मिलित किए हैं। दूसरे वर्ग में उन व्ययों को सम्मिलित किया है जो व्यापार और वाणिज्य की उन्नति के लिए किए जाते हैं जैसे रेल, तार, डाक की व्यवस्था-सम्बन्धी व्यय। अन्तिम वर्ग में राज्य के सामाजिक कार्यों पर किया जाने वाला व्यय सम्मिलित किया गया है, अर्थात् वे खर्चे जिनके करने से नागरिकों का और देश का विकास होता है जैसे शिक्षा, स्वास्थ्य, सामाजिक, बीमा, गृह निर्माण इत्यादि पर किया गया व्यय। बैस्टाबिल तथा नित्ती ने भी इसी मत को स्वीकार किया है।

परन्तु अर्थशास्त्री इस वर्गीकरण से भी सन्तुष्ट नहीं हो पाये हैं। उनके अनुसार यह भेद करना कठिन है कि कौनसा व्यय किस वर्ग में रक्खा जाये, क्योंकि एक ही व्यय विकासात्मक और वाणिज्यक हो सकता है या रक्षात्मक और विकासात्मक हो सकता है। अप्रत्यक्ष रूप से प्रत्येक व्यय देश और नागरिकों के विकास में सहायता करता है। इस तर्क पर सैलिगमैन, और मिल ने इसकी आलोचना की है।

(द) मिल का वर्गीकरण (Mill's Classification)—मिल ने प्रो० एडम की आलोचना करते हुए राजकीय व्यय को दो भागों में विभाजित किया है, अर्थात् आवश्यक और इच्छानुसार (Necessary and Optional)। परन्तु यह स्पष्ट ही है कि यह निर्णय करना कितना कठिन होगा कि कौन-सा व्यय राज्य ने अपनी इच्छानुसार किया है। वास्तव में आजकल राज्य का प्रत्येक व्यय ही आवश्यक है। इसके अतिरिक्त राज्य कोई भी व्यय बेकार कर ही नहीं सकता। एक बार व्यक्ति ऐसा कर सकता है परन्तु राज्य से ऐसी आशा नहीं की जा सकती।

(य) रोशर का वर्गीकरण (Roscher's Classification)—जर्मन अर्थशास्त्री रोशर ने राजकीय व्यय को आवश्यक, उपयोगी और बेकार—तीन वर्गों में

विभाजित किया है। कदाचित् रोशर ने व्यय की अविलम्बता के अंश (Degree of urgency) के आधार पर यह वर्गीकरण किया है। पहले वर्ग में जो खर्चे हैं वे तो किसी प्रकार भी टाले नहीं जा सकते। दूसरे प्रकार के खर्चे उपयोगी हैं परन्तु उनको थोड़े काल के लिए स्थगित किया जा सकता है और अन्तिम प्रकार के व्यय तो अनावश्यक और बेकार होते हैं। इस वर्गीकरण के विरुद्ध भी वे सभी आलोचनाएँ की गई हैं जो उपरोक्त वर्गीकरणों के विरुद्ध की जा चुकी हैं।

(र) **शिराज का वर्गीकरण** (Shirras's Classification)—प्रो० शिराज़ ने राजकीय व्यय को दो भागों में बाँटा—प्राथमिक (Primary) व्यय और गौण (Secondary) व्यय। प्राथमिक व्यय वे हैं जो नितान्त आवश्यक हैं, जिन्हें अन्य व्यय से पहले करने की राज्य सोचता है जैसे रक्षा, शान्ति-व्यवस्था इत्यादि। गौण व्यय वे व्यय हैं जिन्हें राज्य बाद में करता है या बजट में जिनको पहली प्राथमिकता नहीं दी जाती जैसे सामाजिक सुरक्षा, शिक्षा, स्वास्थ्य तथा अन्य प्रकार की जन उपयोगी सेवायें आदि सम्बन्धी खर्चे।

प्राथमिक और गौण व्यय में राजकीय व्यय का वर्गीकरण ऊपर से देखने पर स्पष्ट और सरल दीखता है परन्तु यह भी संतोषजनक नहीं है। प्रथम, तो यह ही कठिन है कि प्राथमिक और गौण व्यय में भेद किया जा सके क्योंकि राज्य का कोई भी व्यय स्थायी रूप से न तो प्राथमिक ही है और न गौण ही। समयानुसार खर्चों की प्रकृति में परिवर्तन होता रहता है। जो इस वर्ष प्राथमिक व्यय है वह ही दस वर्ष बाद गौण व्यय हो सकता है। इसके अतिरिक्त प्राथमिक और गौण व्यय वे व्यय हैं जो अपनी परिभाषा के लिए एक दूसरे पर आधारित हैं। इस प्रकार यह वर्गीकरण भी उपयुक्त नहीं है।

(ल) **डाल्टन का वर्गीकरण** (Dalton's Classification)—डाल्टन ने राजकीय व्यय के अन्तर्गत निम्नांकित मदों को सम्मिलित किया है :—

१—राज्य प्रमुख विदेश में कूटनीतिक प्रतिनिधियों इत्यादि के रख-रखाव सम्बन्धी व्यय।

२—नागरिक प्रशासन-सम्बन्धी व्यय जैसे, कार्यकारिणी (Executive) और विधान सभा (Legislature) आदि से सम्बन्धित व्यय।

३—विदेशी आक्रमणों के विरुद्ध देश की रक्षा तथा देश में शान्ति-व्यवस्था से सम्बन्धित व्यय।

४—न्याय-व्यवस्था सम्बन्धी व्यय।

५—कृषि, उद्योग तथा वाणिज्य के विकास और इसी प्रकार का अन्य विकास सम्बन्धी व्यय।

६—शिक्षा, जन-हित, सामाजिक सुरक्षा-सम्बन्धी योजनाओं इत्यादि पर सामाजिक व्यय।

७—राजकीय ऋण-सम्बन्धी व्यय।

डाक्टर डाल्टन ने राजकीय व्यय के दो भाग किये हैं–(१) अनुदान (Grant), और (२) क्रय मूल्य (Purchase Price)। जब सरकार को किसी व्यय के बदले में न तो कोई वस्तु और न कोई सेवा प्राप्त हो तो ऐसे व्यय को अनुदान कहेंगे जैसे, अकाल या बाढ़-पीड़ितों को आर्थिक सहायता, वृद्धावस्था पेन्शन इत्यादि। अनुदान को निर्यात प्रव्याज (Bounty) और अर्थ-सहायता (Subsidies) के रूप में भी दिया जा सकता है। अनुदान दो प्रकार के बताये गये हैं—प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष। प्रत्यक्ष अनुदान वे हैं जो उन्हीं व्यक्तियों को लाभ पहुँचाते हैं जिनको वह दिये गये हैं। अप्रत्यक्ष अनुदान वे हैं जो किसी एक व्यक्ति को दिये जाते हैं परन्तु उनका लाभ किसी दूसरे व्यक्ति या व्यक्तियों को प्राप्त होता है। जब सरकार को किसी व्यय के बदले में सेवा या वस्तु प्राप्त हो जाती है तो ऐसे व्यय को क्रय-मूल्य कहते हैं; परन्तु जैसा कि डाल्टन ने स्वयं ही कहा है कि व्यवहार में कभी-कभी ये दोनों एक साथ ही उपस्थित हो सकते हैं। उदाहरणार्थ सरकार किसी सेवा के लिए जो मूल्य दे रही है वह यदि उस मूल्य से ऊँचा हो जो निजी व्यक्ति द्वारा दिया जायेगा तो यह जो आधिक्य है अनुदान कहलायेगा। व्यवहार में इस आधिक्य को आँकना सरल नहीं है। डाक्टर डाल्टन का विचार है कि ऋण पर दिया गया सूद अनुदान भी है और क्रय-मूल्य भी। जिस समय सूद का भुगतान किया जाता है, उस दृष्टिकोण से तो यह अनुदान हुआ और अतीत के दृष्टिकोण से यह क्रय-मूल्य हुआ क्योंकि वास्तविकता में सूद ऋण का मूल्य नहीं तो और क्या है? परन्तु डाक्टर डाल्टन के विरुद्ध इतना कहना पड़ेगा कि सूद अनुदान नहीं होता केवल क्रय-मूल्य ही रहता है। उस समय भी जब सूद का भुगतान किया जाता है वह क्रय-मूल्य ही रहता है क्योंकि सरकार ऋण से बराबर लाभ प्राप्त करती रहती है।

(ब) **प्रो० पीगू का वर्गीकरण** (Pigou's Classification)—प्रो० पीगू के अनुसार राजकीय व्यय दो भागों में बांटा जा सकता है—हस्तान्तरित होने वाला (Transferable) और हस्तान्तरित न होने वाला (Non-transferable) व्यय। उन्हीं के शब्दों में "हस्तान्तरित होने वाला व्यय वह है जो नागरिकों के लिए 'या तो निःशुल्क किये जाते हैं या उपस्थित सम्पत्ति अधिकारों को क्रय करने के लिये' किये जाते हैं। हस्तान्तरित न होने वाला व्यय वह है जो राष्ट्र के साधनों की वर्तमान सेवाओं को खरीदने' के लिए किये जाते हैं। प्रथम प्रकार के व्यय के अन्तर्गत—ऋण पर दिया गया व्याज, पेन्शन, बीमारी बीमा, बेकारी-लाभ, अर्थ-सहायता इत्यादि सम्मिलित हैं और दूसरी श्रेणी में सेना, जहाजी बेड़ा, वायु शक्ति, नागरिक शासन, जन-उपयोगी सेवाओं आदि का व्यय सम्मिलित है। इन दोनों प्रकार के व्ययों के बीच भेद करने के सम्बन्ध में पीगू का कहना है कि जब कि हस्तान्तरित होने वाले व्यय का एकदम यह प्रभाव नही होता कि साधन व्यक्तिगत उपयोगों में से एकदम बाहर आ जायें, हस्तान्तरित न होने वाले व्यय का यह प्रभाव होता है। किसी भी समय राष्ट्र के साधनों का उपयोग सरकार द्वारा भी किया जाता है और व्यक्तियों द्वारा भी और जब हस्तान्तरित न होने वाले व्यय में वृद्धि की जाती है तो साधन

व्यक्तिगत उपयोगों से निकलकर सरकारी उपयोगों में आने लगते हैं। प्रो० पीगू के मतानुसार जबकि हस्तान्तरित होने वाला व्यय व्यक्तिगत और सरकारी उपयोगों में साधनों का पुनर्वितरण तो नहीं करता, परन्तु विभिन्न वस्तुओं या सेवाओं के उत्पादन में अवश्य करता है। क्योंकि जब करदाताओं से धन लेकर वृद्ध व्यक्तियों या बेकार व्यक्तियों को दिया जाता है तो कुछ वस्तुओं की माँग तो बढ़ती है और कुछ की गिरती है और पहले प्रकार की वस्तुओं के उत्पादन में अधिक साधनों का उपयोग होने लगता है।

(श) **जे० के० मेहता का वर्गीकरण** (Mehta's Classification)—भारत के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री प्रो० मेहता ने राजकीय व्यय के दो भाग किये हैं—(१) अपरिवर्ती व्यय (Constant Expenditure) और परिवर्ती व्यय (Variable Expenditure)। इनके अनुसार पहले भाग में वे व्यय आते हैं जो उपयोग में वृद्धि होने पर भी समान रहते हैं जैसे, रक्षा-सम्बन्धी व्यय, हवाई अड्डों पर प्रकाश स्तम्भ पर व्यय इत्यादि। दूसरे भाग में वे व्यय आते हैं जो उपयोग बढ़ने के साथ-साथ बढ़ते हैं और उपयोग घटने के साथ-साथ घटते हैं जैसे डाक सेवाओं, शिक्षा आदि पर व्यय। प्रो० मेहता का कथन है कि इस वर्गीकरण से यह निश्चय नहीं कर लेना चाहिये कि सरकार का प्रत्येक व्यय इनमें से केवल किसी एक ही वर्ग में आ जायेगा। उनके कहने का अभिप्राय यह है कि प्रत्येक व्यय इन दोनों ही भागों में पूर्णतया या अंशतया सम्मिलित किया जा सकता है जैसे डाक-सेवाओं का बहुत-सा व्यय परिवर्तित व्यय है। अत: यह स्पष्ट है और प्रो० मेहता ने स्वयं भी स्वीकार किया है कि उनके वर्गीकरण में भी एक वर्ग को दूसरे वर्ग से अलग नहीं किया जा सकता।

(ह) **श्रीमती हिक्स के विचार:**—श्रीमती हिक्स ने एडम स्मिथ द्वारा बताए गए राज्य के तीन कार्यों के आधार पर राजकीय व्यय का वर्गीकरण किया है। उनके अनुसार राजकीय व्यय की प्रथम मद सुरक्षा-सम्बन्धी व्यय है, दूसरी नागरिक प्रशासन-सम्बन्धी व्यय; तीसरी आर्थिक व्यय जैसे निजी व्यवसाय को दिए गए अनुदान तथा आर्थिक सहायता और राजकीय उपक्रमों के संचालन-सम्बन्धी व्यय इत्यादि; और चौथा सामाजिक व्यय।

कुछ लेखकों ने राजकीय व्यय का वर्गीकरण दो बातों को ध्यान में रखकर प्रस्तुत किया है—एक ओर तो राज्य के उपयोग तथा विनियोग-सम्बन्धी कार्यक्रमों को और दूसरी ओर राज्य द्वारा सम्पन्न की गई हस्तान्तरण एवं स्थानान्तरण सम्बन्धी क्रियाओं को आधार बनाया है। प्रथम वर्ग में सरकार की उन क्रियाओं को सम्मिलित किया जाता है जैसे राष्ट्रीय सुरक्षा, शान्ति-व्यवस्था, यातायात एवं संवाद-वाहन, शिक्षा इत्यादि। दूसरी ओर सरकार देश में आय के वितरण की असमानताओं को दूर करने और समानता स्थापित करने के लिए कोषों को एकत्रित करती है और उनका वितरण करती है, जैसे, समाज कल्याण सम्बन्धी कार्यक्रम, देश में अनाज के उचित मूल्यों की व्यवस्था आदि।

संयुक्त राज्य अमेरिका में संघ सरकार के व्यय के सम्बन्ध में क्रियात्मक

वर्गीकरण (Functional Classification) को अपनाया गया है जिसके अनुसार व्यय को इन मदों में बांटा गया है:—१–राष्ट्रीय सुरक्षा, २–अन्तर्राष्ट्रीय मामले तथा वित्त, ३–आवश्यक सेवायें तथा लाभ, ४–श्रम तथा कल्याण, ५–कृषि, ६–प्राकृतिक साधन, ७–वाणिज्य तथा गृह-सम्बन्धी, ८–सामान्य प्रशासन और ९–व्याज। इनमें से प्रत्येक मद के अन्तर्गत बहुत से सहायक कार्य सम्मिलित हैं। वास्तव में ऐसा वर्गीकरण व्यवहार में लाना बहुत ही कठिन प्रतीत होता है क्योंकि एक मद में सम्मिलित होने वाला व्यय कई अन्य मदों में भी सम्मिलित हो सकता है। जैसे, राष्ट्रीय सुरक्षा-सम्बन्धी व्यय में सम्मिलित होने वाली मदें अन्तर्राष्ट्रीय मामलों-सम्बन्धी मदों में भी सम्मिलित की जा सकती हैं, विशेषकर विदेशी सहायता। कुछ भी हो, अधिकतर अमेरिकन अर्थशास्त्री इस वर्गीकरण को ही उत्तम मानते हैं।

कुछ लेखकों ने राजकीय व्यय के उत्पादक और अनुत्पादक, दो भाग किये है। यद्यपि यह सोचा भी नहीं जा सकता कि राज्य कभी अनुत्पादक व्यय कर भी सकता है, परन्तु व्यवहार में ऐसे व्यय देखने में आते हैं। भारत में मद्यनिषेध-सम्बन्धी खर्चे इसी प्रकार के हैं। एक ओर तो सरकार का व्यय बढ़ रहा है और दूसरी ओर आबकारी कर की आय कम होती जा रही है।

उपर्युक्त वर्गीकरणों के अध्ययन से स्पष्ट है कि सब ही किसी न किसी दृष्टि से दोषपूर्ण हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि इन लेखकों ने अपने सामने राजकीय व्यय की किसी विशेषता को रखकर वर्गीकरण नहीं किये हैं। सच तो यह है कि राज्य का स्थान व्यक्ति की उन्नति में इतना महत्वपूर्ण हो गया है और उसके कार्यों में इतनी अधिक वृद्धि हो गई है और विभिन्न कार्यों का क्षेत्र इतना अस्पष्ट है कि व्यय को भी स्पष्ट रूप से अलग-अलग वर्गों में नहीं बांटा जा सकता। जो भी प्रयत्न इस सम्बन्ध में किये गये हैं वे सराहनीय हैं।

अध्याय ५

राजकीय व्यय के प्रभाव

(EFFECTS OF PUBLIC EXPENDITURE)

प्राक्कथन—

हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं कि गत वर्षों में राजकीय व्यय में कितनी अधिक वृद्धि हुई है और उसके कारणों की भी विवेचना हम कर चुके हैं। इस अध्याय में हम राजकीय व्यय के विभिन्न प्रभावों का स्पष्टीकरण करेंगे। राजकीय व्यय के प्रभावों के अध्ययन के सम्बन्ध में दो दृष्टिकोण मिलते हैं—संकीर्ण और विस्तृत। परम्परावादी लेखक एडम स्मिथ और उसके अनुयायियों के विचार अपेक्षाकृत अधिक संकीर्ण थे और आधुनिक लेखकों के विचार अत्यधिक विस्तृत हैं।[1] एडम स्मिथ से लेकर आज तक राजस्व के मुख्य-मुख्य लेखकों ने इस विचार की पुष्टि की है कि राजस्व की जितनी भी क्रियायें हैं उनका सम्बन्ध केवल व्यक्तियों के धन को प्राप्त करके राज्य के उपयोग में लाना है ताकि वह उपभोक्ताओं को सेवाएँ प्रदान कर सके। इस बात की ओर किसी का भी ध्यान नहीं गया कि राजकीय व्यय एक प्रकार की आय है जो उन लोगों को प्राप्त होती है जिन पर उसका व्यय होता है। सब ही लेखकों ने करों की राशि को राष्ट्रीय आय में से घटाया है और उसके आय उत्पन्न करने वाले पहलू की ओर बिल्कुल भी ध्यान नहीं दिया। एडम स्मिथ का विचार था कि सरकारी खर्चे अनुत्पादक श्रम के लिए किये गये भुगतान होते हैं[2] और इसलिये इनसे राष्ट्रीय उत्पत्ति में वृद्धि नहीं होती।[3] इसी प्रकार रिकार्डो, मिल, बैस्टेबिल और एच. सी. एडम्स ने भी अपने विचार प्रस्तुत किए हैं और करों को निजी आय की धारा में से निकाले हुए कोष समझा है। वे यह नहीं समझते थे कि इन कोषों को निजी आय की धारा में डालकर नई आय उत्पन्न की जाती है। क्या एक व्यक्ति का व्यय दूसरे की आय नहीं होती? यदि व्यक्तिगत व्यय के सम्बन्ध में यह सही है तो राजकीय व्यय के

1. Phillips, E. Taylor, *The Economics of Public Finance*, p. 78.
2. *Wealth of Nations*, pp. 87-88.
3. *Ibid.*, p. 315.

विषय में भी यह सच है। इन दोनों ही दृष्टिकोणों से राजकीय व्यय के प्रभावों को निम्न में अध्ययन करेंगे :—

राजकीय व्यय और उत्पादन—
(Public Expenditure and Production)

राजकीय व्यय राष्ट्रीय उत्पादन में वृद्धि करता है या उसको कम करता है? इसके द्वारा व्यक्तियों की उत्पादन शक्ति प्रोत्साहित होती है या निरुत्साहित होती है?—बड़े ही विवादग्रस्त विषय हैं। हम अभी कह ही चुके हैं कि प्राचीन लेखक सब ही राजकीय व्ययों को अनुत्पादक मानते थे। परन्तु यह विचार सही नहीं है। सही तो यह है, कि न तो सभी व्यय अनुत्पादक होते हैं और न सभी उत्पादक—यदि हम व्यय को प्रत्यक्ष परिणामों की दृष्टि से देखें। यदि हम व्यय को अप्रत्यक्ष परिणामों की दृष्टि से देखें तो सभी व्यय दीर्घकाल में उत्पादक होते हैं। अन्तिम विचार सबसे उपयुक्त है। डाल्टन के अनुसार उत्पादन पर राजकीय व्यय के प्रभावों को तीन शीर्षकों में बाँट कर अध्ययन किया जा सकता है[4] :—

(अ) व्यक्तियों की कार्य करने की तथा बचत करने की क्षमता पर प्रभाव,

(ब) व्यक्तियों की कार्य करने तथा बचत करने की इच्छा पर प्रभाव, और

(स) विभिन्न स्थानों और उपयोगों में आर्थिक साधनों के स्थानान्तरण पर प्रभाव।

(अ) कार्य करने तथा बचत करने की क्षमता पर प्रभाव:—राज्य द्वारा किया गया व्यय व्यक्तियों की कार्य करने की शक्ति को कई प्रकार से प्रभावित कर सकता है। प्रथम, इस व्यय से अनेकों व्यक्तियों को आय प्राप्त होती है और उनकी क्रय शक्ति बढ़ती है। पैन्शन, भत्ते, बेकारी व बीमारी लाभ, वस्तुओं और सेवाओं पर किया गया व्यय—सब ही व्यक्तियों की क्रय-शक्ति में वृद्धि करते हैं। व्यक्तियों में अधिक वस्तुओं को खरीदने और अपने उपभोग-स्तर को ऊँचा करने की सामर्थ्य आती है। उनकी कार्य-क्षमता में वृद्धि होती है और दीर्घकाल में उत्पादन में वृद्धि होती है। इस प्रकार राजकीय व्यय देश में उत्पत्ति को अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करता है। इस प्रकार का व्यय निर्धन व्यक्तियों के लिए, और बच्चों के लिए तो बहुत ही लाभप्रद होता है, बच्चों को आरम्भ से ही पौष्टिक भोजन मिलने से उनका स्वास्थ्य ठीक रहता है और वह अपनी युवावस्था में अधिक कार्यकुशल हो जाते हैं। ठीक इसी प्रकार निर्धन व्यक्तियों की भी कार्यकुशलता में वृद्धि होती है। यह भी सम्भव हो सकता है कि इसका उलटा प्रभाव पड़े, इन व्यक्तियों में बुरी आदतें पड़ जायें, और अपव्यय की प्रवृत्ति आरम्भ हो जाये और कार्य-क्षमता बढ़ने के स्थान पर कम हो जाये। ऐसी शंका स्वाभाविक है क्योंकि निर्धन व्यक्ति अधिकतर अशिक्षित होते हैं। अल्पकाल में तो कार्यक्षमता न भी बढ़े परन्तु दीर्घकाल में कार्यक्षमता अवश्य ही बढ़ेगी। इसके अतिरिक्त यह इस बात पर भी

4. Dalton; *Public Finance*, p. 206.

निर्भर करेगा कि राज्य अपना व्यय किस प्रकार करता है। यदि निर्धनों को आर्थिक सहायता एकदम नकदी के रूप में दी जाती है तो सम्भव है कि वे इस राशि को जूए और शराब पर लगादें। यदि राज्य इस सहायता को धीरे-धीरे देता है और वस्तुओं अथवा सेवाओं के रूप में देता है तो सम्भव है कि इस प्रकार की बुराइयाँ उनमें उत्पन्न न हों।

(५) दूसरे, राज्य अपने व्यय द्वारा व्यक्तियों, विशेषकर निर्धन व्यक्तियों, को वस्तुएँ और सेवायें प्रदान करके, उनकी कार्यक्षमता को बढ़ा सकता है। राज्य इन सेवाओं और वस्तुओं को या तो मुफ्त या कम मूल्य पर दे सकता है जैसे निःशुल्क शिक्षा, औषधिक सहायता, सस्ते और कम किराये वाले मकान इत्यादि। इन सभी से व्यक्तियों की कार्यक्षमता में वृद्धि होती है। इसीलिये दिन-प्रति-दिन आधुनिक सरकारें अपना व्यय इन मदों पर बढ़ाती जा रही हैं।

तीसरे, राज्य अपने व्यय द्वारा कुछ ऐसी सुविधायें प्रदान कर सकता है जिनसे व्यक्तियों को अपनी उत्पादक क्रियाओं को सम्पन्न करने में सहायता मिले और अधिकाधिक व्यक्तियों में उत्पत्ति करने की रुचि उत्पन्न हो। रेलों और सड़कों के उन्नत होने से या अविकसित क्षेत्रों में इन साधनों की उपलब्धता से व्यक्तियों की उत्पादन शक्ति में कई गुनी वृद्धि होती है और सभ्यता का विकास होता है। सिंचाई के साधनों की वृद्धि से कृषि उत्पादन में वृद्धि होती है और जलविद्युत शक्ति के विकास से उद्योगों को प्रोत्साहन मिलता है।

इस प्रकार राजकीय व्यय से व्यक्तियों की आय में वृद्धि होती है और उनमें अधिक बचत करने की सामर्थ्य उत्पन्न होती है।

(ब) कार्य करने तथा बचत करने की इच्छा पर प्रभावः—राजकीय व्यय दो प्रकार का होता है, एक तो वर्तमान-सम्बन्धी और दूसरा भविष्य-सम्बन्धी। वर्तमान व्यय से तो व्यक्तियों के कार्य करने और बचाने की इच्छा में वृद्धि होती है। हम पिछले भाग में अध्ययन कर ही चुके हैं कि राजकीय व्यय से अधिकतर व्यक्तियों को अपना जीवन-स्तर ऊँचा करने के लिए प्रोत्साहन मिलता है। यह सम्भव है कि कुछ व्यक्तियों में बुरी आदतें उत्पन्न हो जायें, जिनको न होने देने के लिए सरकार को वस्तुओं और सेवाओं के रूप में सहायता देनी चाहिए। व्यक्तियों में सदैव प्रगति करते रहने की इच्छा रहती है। वे अपनी इस इच्छा को राजकीय व्यय द्वारा कार्य रूप दे सकते हैं। अतः राजकीय व्यय से व्यक्तियों में अपना उत्थान करने की इच्छा उत्पन्न होती है। इसी प्रकार यदि सरकार भविष्य में आर्थिक लाभ देने का वायदा करले तो सम्भव है कि व्यक्तियों के कार्य करने की रुचि कम हो जाये। परन्तु यदि यह व्यय कुछ शर्तों के आधीन किया जाता है तो इससे व्यक्तियों के कार्य करने और बचाने की रुचि में वृद्धि होती है। जैसे बीमारी तथा बेकारी लाभ, जिसमें राज्य अपना अंशदान उसी समय देता है, जब कि लाभ प्राप्त करने वाला अपना अंशदान (Contribution) देने को तैयार हो जाता है।

यदि सरकार काम की मात्रा में वृद्धि के साथ-साथ लाभ की दर में वृद्धि करदे तो भी कार्य करने की इच्छा में वृद्धि होगी।

(स) आर्थिक साधनों के स्थानान्तरण पर प्रभाव:—राजकीय व्यय आर्थिक साधनों के उपयोगों में भी परिवर्तन कर सकता है। यह दो प्रकार का हो सकता है—प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्ष रूप से राजकीय व्यय स्वयं साधनों का स्थानान्तरण है। राज्य व्यक्तियों के धन को स्वयं व्यय करता है। यदि राज्य ऐसा न करे तो यही धन व्यक्तियों द्वारा बिल्कुल ही भिन्न प्रकार से खर्च किया जायेगा। अतः राज्य प्रत्यक्ष स्थानान्तरण द्वारा व्यक्तियों की उत्पादन शक्ति को बढ़ाता है। वह उन कार्यों को करता है जिन्हें व्यक्ति अपने व्यक्तिगत रूप में साधनों की कमी के कारण नहीं कर सकते हैं—जैसे, सिंचाई योजनाओं को कार्यान्वित करना, रक्षा-सम्बन्धी व्यय करना, न्यायालयों पर व्यय इत्यादि। परोक्ष रूप से राजकीय व्यय व्यक्तियों में इस बात के लिए रुचि उत्पन्न कर सकता है कि वे अपने धन के व्यय के ढंग को बदल दें। जैसे जल-विद्युत शक्ति के विकास से व्यक्तियों में यह रुचि उत्पन्न हो सकती है कि वे अपना रुपया अन्य प्रकार से खर्च न करके उद्योगों में व्यय करें।

प्राचीन लेखकों का मत था कि सरकारी व्यय द्वारा साधनों का स्थानान्तरण सदैव ही हानिकारक होता है। उससे व्यक्तिगत हित अग्रसर नहीं होता। इस विषय में राज्य को हस्तक्षेप करना ही नहीं चाहिये। स्वतन्त्र प्रतियोगिता में मूल्य-यन्त्र के संचालन से और व्यक्तियों के स्वयं हित से प्रेरित होने के कारण साधनों को बटवारा सर्वोत्तम होता है। इस प्रकार राज्य हस्तक्षेप से यह सर्वोत्तम बटवारा भंग हो जाता है और समाज उसके लाभों से वंचित रहता है। परन्तु समय ने यह सिद्ध कर दिया कि स्वतन्त्र प्रतियोगिता में सदैव ही साधनों का अधिकतम उपयोग नहीं होता और इसीलिये राज्य हस्तक्षेप आवश्यक प्रतीत हुआ। इसी प्रकार यह भी सत्य नहीं है कि राज्य द्वारा साधनों का प्रत्येक स्थानान्तरण लाभप्रद होता है और न यह कहना ही सही होगा कि प्रत्येक स्थानान्तरण हानिकारक होता है। वास्तव में ये परिस्थितियों पर निर्भर होता है। उदाहरणार्थ, सुरक्षा-सम्बन्धी व्यय को लीजिये। आजकल लगभग प्रत्येक देश में सुरक्षा-व्यय बढ़ ही रहा है और बजट में व्यय की मदों में इसका प्रमुख स्थान है। वैसे तो यह व्यय, जो व्यक्तियों से प्राप्त किया हुआ धन ही है, आवश्यक है, क्योंकि शान्त वातावरण में ही उत्पादन-कार्य सम्भव हो सकता है, परन्तु यदि दूसरे दृष्टिकोण से देखा जाये और यह सारा धन उत्पादक कार्यों में लगा दिया जाये तो संसार की कितनी उन्नति हो, इसका अनुमान भी नहीं किया जा सकता। परन्तु जब तक प्रत्येक व्यक्ति अपने आप को सुरक्षित न समझे, उस समय तक देश की उत्पत्ति में प्रगति की आशा करना व्यर्थ होगा, इसलिये रक्षा व्यय तो परम आवश्यक है। यह भी तो आवश्यक नहीं कि रक्षा पर इतनी बड़ी मात्रा में व्यय किया जाये। यदि सब देश आपस में समझौता करलें और एक ही अनुपात में अपना सुरक्षा-व्यय कम कर दें तब भी व्यक्ति उतने ही सुरक्षित रहेंगे जितने आज हैं। यदि आज युद्ध छिड़ जाये तो यही व्यय कई गुना और अधिक हो जायेगा। इसी

प्रकार जितना व्यय आजकल सरकार संरक्षण (Protection) सम्बन्धी नीतियों पर कर रही है उतना पिछली शताब्दी में नहीं किया करती थी और न आने वाली शताब्दी में होने की आशा ही की जा सकती है। सामाजिक सुरक्षा-सम्बन्धी व्यय के बारे में भी यही कहा जा सकता है। समाज की उन्नति के साथ-साथ इस व्यय में अवश्य ही कमी होगी, परन्तु आजकल यह व्यय अत्यन्त ही आवश्यक है, विशेष रूप से निर्धन और अविकसित देशों में। रेलों तथा यातायात के अन्य साधनों की प्रगति, शक्ति के साधनों का विकास, साधनों के स्थानान्तरण में परोक्ष रूप से सहायक होता है। नये-नये आविष्कारों और वैज्ञानिक खोजों का भी यही प्रभाव होता है।

वर्तमान से भावी उपयोगों में और विभिन्न स्थानों में साधनों का स्थानान्तरण—सरकार के कुछ व्यय इस प्रकार के होते हैं कि व्यक्तियों को भविष्य के लिए अपने साधनों को बचाकर रखना ही पड़ता है—जैसे बेकारी व स्वास्थ्य बीमा, वृद्धावस्था पेंशन इत्यादि। इसी प्रकार व्यक्तियों के साधनों का स्थानान्तरण सरकारी व्यय द्वारा अपने आप ही वर्तमान उपयोगों से भावी उपयोगों में हो जाता है जैसे, आर्थिक विकास-सम्बन्धी योजनाएँ जिनसे देश की स्थायी पूँजी में वृद्धि होती है और भविष्य में प्राप्त होने वाली पूँजीगत वस्तुओं की मात्रा बढ़ती है। सच तो यह है कि पूँजीगत वस्तुओं पर किए गए प्रत्येक व्यय की ही यही प्रकृति होती है।[5] उत्पादन कार्यों में श्रम का महत्त्व सक्रिय साधन होने के नाते बहुत अधिक है। डाल्टन ने ठीक ही कहा है कि, "मानव पूँजी अथवा ज्ञान के स्थान पर भौतिक पूँजी के विकास को बढ़ाना एक त्रुटिपूर्ण नीति है, जो उत्पादन को घटायेगी, बढ़ायेगी नहीं।"[6] अतः यह भी आवश्यक है कि मानव पूँजी (human capital) को भी भविष्य के लिए बढ़ाया जाये। जब सरकार स्वास्थ्य, मकानों, सामाजिक सुरक्षा पर व्यय करती है या बच्चों को निःशुल्क शिक्षा प्रदान करती है, उनके लिये निःशुल्क दूध का प्रबन्ध करती है तो वह मानव पूँजी के विकास और वृद्धि के लिए प्रयत्न करती है जिनकी प्रकृति भी ठीक वैसी ही होती है जैसी पूँजीगत वस्तुओं पर किये गये व्ययों की होती है। कभी-कभी यह भी आवश्यक होता है कि सरकार अपने व्यय द्वारा देश के उत्पादक साधनों का स्थानान्तरण एक स्थान से दूसरे स्थान को करे अर्थात् जब सरकार विकसित क्षेत्रों पर कम व्यय करे और अविकसित या पिछड़े हुए भागों पर अधिक व्यय करे तो इस व्यय द्वारा वह साधनों का स्थानान्तरण विकसित क्षेत्रों से अविकसित क्षेत्रों को कर रही है।

---

5. To quote Hansen, "Current outlays on education and health are surely as sound a "Public Investment" as outlays on power developments or highways.........To-day more than ever before, intangibles such as scientific knowledge, skills, technical training, personal health and efficiency, social unity and capacity to co-operate are of prime importance. Programmes that contribute to the development of a society that has these characteristics in high degree are surely even more basic to the promotion as national wealth than mere brick and mortar."

A. H. Hansen, *Economic Policy and Full Employment*, pp 185-86.

6. Dalton, *op. cit.*, p. 159.

उत्पादन तथा रोजगार पर राजकीय व्यय के प्रभावों का विश्लेषण करते हुए डाल्टन इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि, "यदि करारोपण को अकेले ही ध्यान में रखा जाए तो इसके द्वारा उत्पादन पर बुरा प्रभाव पड़ता है और यदि राजकीय व्यय को ही ध्यान में रखा जाए तो उत्पादन में अवश्य ही वृद्धि होनी चाहिए।"[7]

राजकीय व्यय की क्षतिपूरक प्रवृत्ति—

राजस्व-सम्बन्धी प्राचीन लेखकों ने उत्पादन तथा रोजगार पर राजकीय व्यय के प्रभावों का अध्ययन मुख्यतया काम करने, बचाने तथा विनियोग करने की योग्यता तथा इच्छा और आर्थिक साधनों के स्थानान्तरण के दृष्टिकोण से ही किया था। आधुनिक अर्थशास्त्री जो राजस्व की क्रियात्मक प्रकृति पर जोर देते हैं, वे राजकीय व्यय का अध्ययन देश में आर्थिक क्रियाओं के स्तर को प्रभावित करने वाले अस्त्र के रूप में करते हैं। इस दृष्टिकोण से राजकीय व्यय एक ऐसा सोच-समझकर प्रयोग में लाया गया अस्त्र हो जाता है जिसका उपयोग देश में आर्थिक क्रिया को प्रभावित करने के लिए सरकार करती है। संक्षेप में, सरकार राजकीय व्यय द्वारा उत्पादन, राष्ट्रीय आय तथा रोजगार, आर्थिक स्थायित्व, मुद्रा-प्रसार तथा मुद्रा-संकुचन की अवस्थाओं आदि को प्रभावित करने की चेष्टा करती है। इस दृष्टि से राजकोषीय नीति केन्द्रीय बैंक की मौद्रिक नीति की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली सिद्ध हुई है। अतः स्पष्ट है कि राजकीय व्यय-सम्बन्धी उद्देश्य देश की परिस्थितियों द्वारा निर्धारित होंगे और इस प्रकार पूर्ण विकसित तथा अर्द्ध-विकसित देशों के लिए अलग-अलग होंगे।

एक पूर्ण विकसित देश में, जहाँ पूर्ण-रोजगार की स्थिति प्राप्त हो चुकी है, उत्पादक प्रमुखतः लाभ-प्राप्ति के भावी अनुमानों से निर्धारित होता है। यदि भविष्य में, अच्छे लाभ प्राप्त होने की आशा है तो व्यवसायी वर्ग उत्पादन को बढ़ाने की चेष्टा करेगा और यदि भविष्य में लाभ की मात्रा गिरने की सम्भावना है तो उनकी क्रियायें भी मन्द पड़ जायेंगी। इसी प्रकार से ऐसे राष्ट्रों की राष्ट्रीय आय तथा रोजगार भी लाभ प्राप्त होने की आशा तथा निराशा के अनुसार बदलते रहेंगे। ऐसे देशों की मुख्य समस्या देश के उत्पादन, आय तथा रोजगार को पूर्ण रोजगार के बिन्दु पर बनाये रखने की होती है और इस बात का प्रयत्न किया जाता है कि बाजार में अवसाद तथा समृद्धि की स्थितियाँ उत्पन्न न होने पायें। अवसाद काल में निजी व्यय कम होता है और इसलिए उत्पादन तथा रोजगार के स्तर भी नीचे होते हैं। इसी कारण कैन्स तथा बाद के लेखकों ने उत्पादन तथा रोजगार को बढ़ावा देने के लिए राजकीय व्यय पर अधिक जोर दिया है और सार्वजनिक निर्माण-कार्यों पर राज्य द्वारा किए जाने वाले व्यय के महत्त्व की चर्चा की है। इन कार्यों पर व्यय बैंकों से उधार लेकर किया जाना चाहिए। उत्पादन तथा रोजगार पर, सरकारी व्यय दो प्रकार से प्रभाव डालता है : प्रथम प्रत्यक्ष रूप से बेकार व्यक्तियों को काम

7. *Ibid.*, p. 162.

पर लगाकर और द्वितीय, अप्रत्यक्ष रूप से आय तथा वस्तुओं और सेवाओं की कुल माँग में वृद्धि करके। एक बार जब उत्पादन और रोज़गार का स्तर ऊँचा होने लगता है तो इसके गुणक प्रभावों से उत्पादन तथा रोज़गार के स्तर और भी उच्च होते चले जाते हैं और अन्त में निजी विनियोगों की मात्रा में वृद्धि होने से मन्दी की अवस्था दूर हो जाती है। कुछ ऐसे भी लेखक हैं जिन्होंने इस नीति के विरुद्ध आपत्तियाँ प्रगट की हैं। उनके अनुसार सबसे पहली बात तो यह है कि सरकार सार्वजनिक निर्माण-कार्यों की उचित योजनायें ही न निर्मित कर पाये और अधिक रोज़गार प्रदान करने के नाम में बेकार सी योजनाएँ आरम्भ कर दे। दूसरे, सरकार में इतनी कुशलता ही न हो कि वह राजकीय व्यवसायों का ठीक प्रकार से संचालन कर सके। तीसरे, यदि सरकारी व्यय की व्यवस्था हीनार्थ प्रबन्धन द्वारा की जाए तो देश में मुद्रा-स्फीति की परिस्थितियाँ उत्पन्न हो सकती हैं क्योंकि सरकार यह पता लगाने में असमर्थ हो सकती है कि हीनार्थ प्रबन्धन की नीति को कहाँ रोक दिया जाए। अन्त में, अधिक उधार लेने से राजकीय व्यय का आकार बहुत बढ़ जाएगा जिससे सम्बन्धित व्यय में भी वृद्धि हो जाएगी। इन्हीं कारणों से कुछ अमेरिकन अर्थशास्त्री इस नीति को उत्तम नहीं समझते हैं, किन्तु यदि सोच-समझकर और भूतकाल के अनुभवों को ध्यान में रखकर अवसाद काल में राजकीय व्यय को किया जाए तो बहुत से दोष दूर हो सकते हैं और राजकीय व्यय उत्पादन तथा रोज़गार के स्तर को ऊँचा उठाने में सहायक सिद्ध हो सकता है।

राजकीय व्यय द्वारा मुद्रा-स्फीति का नियन्त्रण—

एक पूर्ण विकसित अर्थ-व्यवस्था में राजकीय व्यय का प्रयोग मुद्रा-प्रसार को नियन्त्रित करने के लिए भी किया जा सकता है। हम सभी जानते हैं कि जब देश में हीनार्थ प्रबन्धन की नीति अपनायी जाती है तो उसके परिणामस्वरूप मुद्रा-प्रसार की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। ऐसी परिस्थितियों में यदि हम राजकीय व्यय को कम कर दें तो मुद्रा-प्रसार के परिणामों को एक बड़ी सीमा तक कम किया जा सकता है। साधारण परिस्थिति के लिए यह उपाय ठीक है किन्तु युद्धकाल में जबकि सरकार सेना पर अधिक व्यय करती है या शान्तिकाल में सरकार अपनी सैनिक शक्ति बढ़ाने के लिए अधिक खर्च करती है तो यह राजकीय व्यय, जोकि निजी व्यय के अतिरिक्त होगा, मुद्रा का और भी अधिक प्रसार कर देगा। ऐसी परिस्थिति में सरकार दो उपाय कर सकती है। प्रथम, वह अपने व्यय में इस प्रकार उलट-फेर करे कि मुद्रा-प्रसार का दबाव कम हो जाए अर्थात् वह उन सब योजनाओं को बन्द कर दे जो मुद्रा-संकुचन की परिस्थिति के लिए उचित थीं किन्तु मुद्रा-प्रसार की स्थिति के लिए अनुपयुक्त हैं। इसके साथ-साथ सरकार इमारतों के बनवाने तथा इसी प्रकार की अन्य योजनाओं को भी स्थगित कर सकती है ताकि लोगों की आय कम हो जाए। द्वितीय, सरकार ऐसी वस्तुओं के उत्पादकों को आर्थिक सहायता प्रदान कर सकती है जिनके मूल्य बढ़ रहे हों ताकि वे उन वस्तुओं के उत्पादन को बढ़ावें

या उन्हें नीचे मूल्य पर बेचे। जहाँ तक इस उपाय का सम्बन्ध है, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि सरकार द्वारा दी गई आर्थिक सहायता मुद्रा-स्फीति की अवस्था को नियन्त्रित करने में सफल होगी। इसलिए केवल यही आवश्यक है कि सरकार अपने व्यय को कम करे और अन्य योजनाओं को या तो स्थगित कर दे या पूर्णतया समाप्त कर दे। इसी प्रकार मुद्रा-संकुचन की परिस्थिति में सरकार को करों की मात्रा कम कर देनी चाहिए और अपने व्यय को बढ़ा देना चाहिए।

एक पिछड़ी हुई अर्थ-व्यवस्था में जहाँ उत्पादन, आय तथा रोजगार सामान्यतया निम्न स्तर पर होते हैं, सरकारी व्यय देश में उत्पादन तथा रोजगार के स्तर को ऊँचा करने के उद्देश्य से किया जा सकता है। शिक्षा, जन-स्वास्थ्य, सामाजिक सुरक्षा आदि सम्बन्धी व्यय से लोगों की कुशलता एवं उत्पादनशीलता में वृद्धि होगी और उत्पादन का स्तर ऊँचा होगा। इसी प्रकार यातायात और संवादवाहन-सम्बन्धी व्यय से बाजार विस्तृत होंगे, पिछड़े हुए क्षेत्रों तक सरलता से पहुँच हो सकेगी और उत्पादन को प्रोत्साहन मिलेगा। शक्ति के उत्पादन तथा बैंकिंग और बीमा सम्बन्धी सुविधाओं पर जो व्यय किया जाएगा उससे वस्तुओं और सेवाओं का उत्पादन एवं वितरण सुगम बनेगा। अन्त में, सरकार नये-नये उद्योगों की व्यवस्था करे ताकि नयी-नयी वस्तुयें तथा सेवाएं प्राप्त हो सकें और निजी क्षेत्र के उद्योगों को प्रोत्साहन मिल सके। इन सब व्ययों का एक अर्द्ध-विकसित देश में गुणक प्रभाव बहुत अधिक होगा, क्योंकि लोगों का उपभोग करने का सीमान्त स्तर बहुत ऊँचा होता है और गुणक प्रभाव उपभोग स्तर के सदैव ही विपरीत दिशा में चलता है। रूस पहला देश था जिसने इस मार्ग को प्रदर्शित किया और आज एशिया तथा अफ्रीका के अधिकांश देश इस मार्ग को अपना रहे हैं। सारांशतः, पिछड़े हुए देशों में राजकीय व्यय विकास को प्रोत्साहन देता है।

मन्दी-काल में क्षति-पूरक व्यय—

जैसा कि हम पहले ही कह चुके हैं, मन्दी-काल में मूल्य तथा लाभ के गिरने की आशा में निजी उपभोग और विनियोग के स्तर गिरने लगते हैं और व्यक्तियों में बचाने तथा धन को जमा करके रखने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। ऐसी स्थिति में सरकारी व्यय इन प्रवृत्तियों को कम करने में सहायक सिद्ध हो सकता है। सरकारी व्यय इस प्रकार का होना चाहिए कि उसके गुणक प्रभाव अधिक से अधिक हों और जो अर्थ-व्यवस्था को मन्दी की अवस्था से बाहर निकालने के लिए प्रोत्साहित कर सके। सरकार के इस प्रकार व्यय करने की प्रणाली को क्षति-पूरक व्यय कहते हैं। प्रारम्भ में जबकि राष्ट्रीय आय गिर रही हो और बेकारी बढ़ रही हो तो क्षति-पूरक व्यय केवल अल्प मात्रा में ही किया जा सकता है, इस आशा से कि कदाचित् उसके प्रभाव से ही राष्ट्रीय आय और रोजगार के स्तर ऊँचे हो जायें। यदि सरकार यह देखती है कि उसको आशातीत सफलता प्राप्त नहीं हुई तो वह एक बड़े पैमाने पर क्षति-पूरक व्यय कर सकती है ताकि

वह माँग, उत्पादन तथा रोजगार के स्तरों को गिरने से रोक सके और निजी क्षेत्र के व्यवसायियों को प्रोत्साहन प्रदान कर सके। दूसरे प्रकार के क्षति-पूरक व्यय को नलकूप प्रक्रिया (Pump Prim ng) कहते हैं। इस नीति का स्वरूप भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न होता है। मन्दी-काल में सरकारी व्यय सार्वजनिक निर्माण-कार्यों पर बहुत अधिक किया जाना चाहिए। पुनरुत्थान (Recovery) के काल में राजकीय व्यय उसी अनुपात में कम होता जाना चाहिए जिस अनुपात में निजी व्यय बढ़ रहा हो और समृद्धि (Prosperity) के काल में सरकारी व्यय को बिल्कुल कम कर देना चाहिए ताकि बजट में आधिक्य प्राप्त हो।

मन्दी-काल में इस प्रकार घाटे के बजट बनाने चाहिए और अपने चालू व्यय को चालू आय से अधिक रखना चाहिए। सरकारी व्यय का उद्देश्य मुख्यतया बेकार व्यक्तियों को काम पर लगाने का होना चाहिए। क्षति-पूरक व्यय को पूरा करने के लिये आवश्यक वित्त या तो अधिक करारोपण या उधार लेकर या नयी मुद्रा को प्रकाशित करके प्राप्त किया जा सकता है। जहाँ तक करारोपण का सम्बन्ध है, अवसाद-काल में इसका प्रयोग नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार जनता से ऋण भी अधिक मात्रा में नहीं लिए जा सकते, क्योंकि इससे निजी उपभोग और विनियोग के स्तर गिर जाएँगे। इसलिए हीनार्थ प्रबन्धन ही एक ऐसी नीति है जिसका उपयोग उचित प्रतीत होता है।

मन्दी-काल में क्षति-पूरक व्यय का उद्देश्य यह भी होना चाहिए कि राष्ट्रीय आय अधिकतम हो जाये और साथ ही निजी क्षेत्र के उद्योगों पर बुरा प्रभाव भी न पड़े। इसलिए यह आवश्यक है कि सरकार को सबसे पहले बेकार व्यक्तियों को काम पर लगाना चाहिए और उनको आर्थिक सहायता प्रदान करनी चाहिए। तत्पश्चात् रेलों, सड़कों, सिंचाई एवं विद्युत् सम्बन्धी योजनाओं को हाथ में लेना चाहिए ताकि राष्ट्रीय आय में वृद्धि हो और विनियोग प्रोत्साहित हों।

क्षति-पूरक व्यय के सम्बन्ध में यह बात ध्यान रखने योग्य है कि सरकार इस व्यय को इस प्रकार करे कि सामान्य जनता और व्यवसायियों में विश्वास उत्पन्न हो। यदि व्यक्ति सरकार द्वारा चालू की गई योजनाओं से सन्तुष्ट नहीं हैं तो वे न तो उनके लिए ऋण ही देंगे और न विनियोग करने के लिए तैयार होंगे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि क्षति-पूरक व्यय द्वारा मन्दी-काल में उत्पादन, रोजगार तथा आय के स्तरों को ऊँचा उठाया जा सकता है और व्यापार-चक्रों में उत्पन्न होने वाली बेकारी तथा राष्ट्रीय आय की गिरावट को नियन्त्रित किया जा सकता है।

व्यापार-चक्र के पुनरुत्थान (Recovery) की अवस्था में सरकारी व्यय को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है:—१—प्रारम्भिक अवस्था में सरकार को घाटे का व्यय (deficit spending) करना चाहिए, और २—व्यापार समृद्धि के बाद की अवस्थाओं में सरकार को आधिक्य बजट रखना चाहिए ताकि मूल्यों में अत्यधिक वृद्धि न हो। इस प्रकार अवसाद-काल में क्षति-पूरक व्यय के साथ-साथ सरकार को

करारोपण में वृद्धि नहीं करनी चाहिये। दूसरे, सरकार की राजकोषीय नीति के साथ-साथ केन्द्रीय बैंक की मौद्रिक-नीति का भी प्रयोग होना चाहिए। तीसरे, राजकीय संस्थाओं को पुनरुत्थान-सम्बन्धी कार्यक्रमों के साथ-साथ सहायता प्रदान करने वाली योजनाओं को भी अपनाना चाहिए। चौथे, सरकार को खूब सोच-विचार कर योजनाएँ बनानी चाहिए जिनको बढ़ती हुई बेकारी की स्थिति में प्रयोग किया जा सके। पाँचवें, सरकार को पुनरुत्थान के क्रम में निजी-क्षेत्र को सहायता प्रदान करनी चाहिए। और अन्त में, सरकार को यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि क्षति-पूरक व्यय निजी व्यय का प्रतिस्थापन नहीं कर सकता।

कुछ लेखकों ने आर्थिक विकास के सम्बन्ध में राजकीय व्यय के महत्त्व की भी चर्चा की गई है। इनका विचार है कि एक अर्द्ध-विकसित देश में आर्थिक विकास को बढ़ावा देने के लिए अतिरिक्त उत्पादन को एक बढ़ते हुए अनुपात में पूँजी निर्माण हेतु लगानी चाहिए। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सरकार को एक ओर तो अतिरिक्त उत्पादन को विकास-कार्यों के लिए बढ़ते हुए अनुपात में उपलब्ध करना चाहिए और दूसरी ओर सरकार को अपनी आय में से अधिकाधिक विकास-सम्बन्धी व्यय के लिए आवश्यक वित्त प्रदान करना चाहिए।

यदि विकास कार्यक्रमों की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि सरकार अपने व्यय को इस दिशा में अधिकाधिक सम्पन्न करे तो साथ ही यह भी आवश्यक है कि उसे अन्य मदों पर अपने खर्चे कम करने होंगे। बहुधा यह देखा जाता है कि अर्द्ध-विकसित देशों में सरकारी शासन-प्रबन्ध अत्यन्त ही अकुशल, सुस्त और अपव्ययी होता है। इसलिए यह आवश्यक है कि सरकार शासन-प्रबन्ध-सम्बन्धी खर्चों को कम करे और उसमें कुशलता का संचार करे। इसके अतिरिक्त यह भी आवश्यक है कि अर्द्ध-विकसित देश अपनी आय का अधिक भाग सुरक्षा सम्बन्धी अवस्था पर न करके आर्थिक विकास पर करे। साथ ही ऐसे देश की सरकार को सामान्य तथा तकनीकी शिक्षा पर अधिक व्यय करना चाहिए क्योंकि ऐसे व्यय से आर्थिक विकास को प्रोत्साहन मिलता है। यह सत्य है कि दूसरे महायुद्ध के बाद अधिकतर अर्द्ध-विकसित देशों ने अपने विकास सम्बन्धी व्यय में वृद्धि की है, किन्तु यह कहना कठिन है कि यह व्यय देश-विशेष की आवश्यकताओं तथा परिस्थितियों के कहां तक अनुकूल रहा है।

एक प्रजातान्त्रिक किन्तु अर्द्ध-विकसित देश में यह नितान्त आवश्यक है कि सरकार का व्यय निजी प्रयत्नों तथा व्यवसायों के पूरक और उसको प्रोत्साहित करने वाला होना चाहिए। इस प्रकार प्रजातांत्रिक राज्यों में मिश्रित अर्थव्यवस्था स्थापित करना नितान्त आवश्यक है। प्रयत्नों को प्रोत्साहित करने के लिए सरकार को निजी क्षेत्र को ऋण तथा आर्थिक सहायता प्रदान करनी होगी। करों में छूटें तथा रियायतें देनी होंगी, और बाजारों-सम्बन्धी सूचना तथा अनुसंधान-सम्बन्धी सुविधायें उपलब्ध करनी होंगी। इन सबसे निजी क्षेत्र को प्रत्यक्ष सहायता प्राप्त होगी। इनके अतिरिक्त सरकार को शिक्षा तथा जन-कल्याण, विद्युत-शक्ति, यातायात तथा संवाद-वाहन के साधनों

से सम्बन्धित योजनाओं को क्रियान्वित करना होगा। अन्त में कुछ विशेष प्रकार के उद्योगों को भी चलाना होगा, अर्थात् वे उद्योग जिनको निजी क्षेत्र या तो चलाने योग्य नहीं हैं या उनको चलाने के लिए इच्छुक नहीं हैं और ऐसे उद्योग जो समाज तथा देश के लिए लाभप्रद हैं और जो देश के भावी आर्थिक विकास में सहायता प्रदान करेंगे।

अर्द्ध-विकसित देशों में व्यापार चक्रीय परिवर्तनों को नियन्त्रित करने के लिए राजकीय व्यय का प्रयोग बड़े सोच-विचार से करना चाहिए। अवसाद काल में विकास-सम्बन्धी कार्य-क्रमों को बढ़ाना चाहिए और समृद्धि काल में इनको कम कर देना चाहिए। इस प्रकार की नीति का प्रत्यक्ष प्रभाव इसलिए नहीं कि कुल प्रभाव युक्त माँग में वृद्धि होगी वरन् इसलिए होगा क्योंकि पूँजीगत वस्तुओं में अधिक वृद्धि होगी अपेक्षाकृत उस स्थिति के जबकि अर्थ-व्यवस्था को पूर्णतया व्यापार चक्रों पर छोड़ दिया जाये।[8] किन्तु यह ध्यान रहे कि यदि अर्द्ध-विकसित देशों में पूर्ण रूप से तथा कठोरता से आर्थिक नियोजन का ही सहारा लिया जाय तो व्यापार चक्रों की समस्याओं का सामना ही नहीं करना पड़ेगा। हाँ इतना अवश्य है कि, जैसा लीविस ने कहा है कि अर्द्ध-विकसित देशों में विकास कार्यक्रमों को इस प्रकार लागू करना चाहिए कि अर्थ-व्यवस्था के सभी क्षेत्रों का विकास समान रूप से एक साथ हो ताकि उद्योग और कृषि, उत्पादन तथा उपभोग और उत्पादन तथा निर्यात में उचित संतुलन बना रहे।[9]

राजकीय व्यय और वितरण—
(Public Expenditure and Distribution)

धन का असमान वितरण, पूँजीवादी समाज की एक प्रमुख विशेषता है। धन के असमान वितरण का पक्षपात किसी भी आधार पर नहीं किया जा सकता। यही कारण है कि आधुनिक सरकारों ने राजस्व की क्रियाओं द्वारा धन की असमानताओं को दूर करने के विशेष प्रयत्न किये हैं। यद्यपि प्राचीन लेखक इस ओर भी राज्य हस्तक्षेप को बुरा समझते थे, परन्तु आजकल तो सब ही इससे सहमत हैं। सरकार धन के वितरण में समानता स्थापित करने के लिए करारोपण करती है और विशेष दशाओं में व्यय सम्पन्न करती है। करारोपण द्वारा धनी व्यक्तियों के धन को कम करती है और व्यय द्वारा निर्धनों के धन को बढ़ाती है। यद्यपि यह दोनों क्रियाएँ एक दूसरे पर अवलम्बित हैं किन्तु यहाँ पर हम इस वाद-विवाद में न पड़कर केवल राजकीय व्यय के प्रभावों का ही अध्ययन करेंगे।

प्रतिगामी (Regressive) **अनुपातिक** (Proportional) **और प्रगतिशील** (Progressive) **व्यय**—धन के वितरण पर राजकीय व्यय के पड़ने वाले प्रभावों की विवेचना करते समय डाल्टन ने राजकीय व्यय को करों की भाँति तीन प्रकार

8. Van Philips, *Public Finance in Less Developed Economies*, p. 97.
9. W. A. Lewis, *The theory of Economic Growth*, p. 274,

का बताया है—प्रतिगामी, आनुपातिक और प्रगतिशील।[10] कोई भी राजकीय व्यय प्रतिगामी होगा, यदि लाभ प्राप्त करने वाले व्यक्ति की जितनी आय कम है उतना ही कम अनुपात में लाभ प्राप्त हो; आनुपातिक होगा, यदि लाभ प्राप्त करने वाले व्यक्ति को आय के अनुपात में ही लाभ प्राप्त हो; और प्रगतिशील होगा, यदि लाभ प्राप्त करने वाले की आय जितनी कम हो उतना ही अधिक लाभ का अनुपात उसे प्राप्त हो। उदाहरण के लिए, यदि महँगाई भत्ते की दर आय बढ़ने के साथ-साथ बढ़ती जाये तो यह प्रतिगामी व्यय होगा, यदि सभी व्यक्तियों के लिए समान प्रतिशत है तो यह आनुपातिक व्यय होगा और यदि आय बढ़ने के साथ-साथ दर कम होती जाये और एक निश्चित आय के बाद महँगाई भत्ता न दिया जाए तो यह व्यय प्रगतिशील होगा। यह स्पष्ट ही है कि प्रतिगामी व्यय या आर्थिक सहायता से असमानता दूर होने की अपेक्षा और अधिक होगी। अनुपातिक व्यय भी असमानताओं को दूर करने में अधिक सफल नहीं होता। प्रगतिशील व्यय ही धन के वितरण की असमानताओं को बहुत सीमा तक दूर कर सकता है। कुछ सीमा तक तो आनुपातिक और थोड़ा प्रतिगामी व्यय (mildly regressive expenditure) भी असमानताओं को कम कर सकता है। परन्तु अधिक उपयुक्त यही होगा कि तीव्र प्रगतिशील व्यय किया जाये। प्रगतिशील व्यय के कई रूप हो सकते हैं। जैसे, नक़दी के रूप में आर्थिक सहायता, नि:शुल्क या सस्ती सेवाओं और वस्तुओं को प्रदान करना, इत्यादि। नक़दी के रूप में आर्थिक सहायता जैसे, वृद्धावस्था पेंशन, दुर्घटना लाभ, प्रसव लाभ, बेकारी एवं बीमारी लाभ, निर्धन व्यक्तियों को उस समय प्राप्त होते हैं जबकि उन्हें उनकी बहुत आवश्यकता होती है। लगभग प्रत्येक देश में इन सहायताओं को अब प्रमुख स्थान दिया जा रहा है। इसी प्रकार सरकार निर्धन व्यक्तियों को नि:शुल्क सेवायें और मुफ्त वस्तुएँ प्रदान करती है, जैसे, नि:शुल्क शिक्षा, चिकित्सा सुविधाएँ, सस्ते मकान, मुफ्त दूध इत्यादि। ऐसी सेवाओं और वस्तुओं से धन के वितरण की कुछ असमानतायें अवश्य ही कम होती हैं और निर्धन व्यक्तियों को अच्छा जीवन व्यतीत करने का अवसर प्राप्त होता है। यदि ये सेवायें जो मनुष्य की प्रगति के लिए इतनी आवश्यक हैं, मुफ्त या सस्ते मूल्यों पर मिलती रहें तो आय की असमानताएँ इतनी कष्टदायक नहीं होतीं।

राजकीय व्यय की प्रकृति—यदि राजकीय व्यय व्यक्तिगत आवश्यकताओं या कुटुम्ब-विशेष के अनुसार किया जाये तो भी धन से वितरण की असमानताएँ बहुत सीमा तक कम की जा सकती हैं। अत: एक व्यक्ति जिसके कुटुम्ब में सदस्यों की संख्या बहुत अधिक है, अधिक सहायता का अधिकारी है अपेक्षाकृत उस व्यक्ति के जिसके कुटुम्ब में सदस्यों की संख्या कम है। इसी प्रकार आय समान रहने की दशा में यदि एक व्यक्ति को दूसरे की अपेक्षा अपने कुटुम्ब में अधिक बीमारों का इलाज कराना होता है, वह अधिक निर्धन है तो उसे अधिक आर्थिक सहायता की आवश्यकता है। वास्तव में व्यक्तिगत आवश्यकताओं और राजकीय व्यय में समायोजन

10. *Op. cit.*, p. 222.

(adjustment) करना कोई सरल बात नहीं है। इसलिये उपयुक्त यहीं होगा कि शिक्षा, चिकित्सा-सम्बन्धी सुविधाएँ आदि सामान्य रूप से निःशुल्क प्रदान की जायें, और सामान्य रूप स वृद्धावस्था पेंशन, प्रसव व बीमारी लाभ तथा अन्य प्रकार के सामाजिक लाभ प्रदान किए जायें।

लुट्ज़[11] का विचार है कि धन के वितरण को समान करने की नीति को स्थायी बनाने से देश को हानि होगी। उनके अनुसार यदि व्यय करते समय केवल इसी उद्देश्य को ध्यान में रखा जायेगा तो सरकार का बहुत-सा व्यय अनुत्पादक कार्यों पर होगा। इसके अतिरिक्त पूंजी के एकत्रीकरण तथा उत्पादन पर भी बुरा प्रभाव पड़ेगा। किन्तु लूट्ज आवश्यकता के अधिक सशंकित हुए हैं। यह कैसे कहा जा सकता है कि धन के वितरण की असमानताओं को दूर करने के हेतु किया गया व्यय का एक बड़ा भाग अनुत्पादक होगा? वास्तव में सरकार का कोई भी व्यय यदि व्यक्तियों के हित में किया गया है, अनुत्पादक नहीं हो सकता। जहाँ तक पूंजी के एकत्रीकरण का सम्बन्ध है, सो यह तो सही है कि थोड़े से पूंजीपतियों की बचाने तथा कार्य करने की क्षमता पर अवश्य ही बुरा प्रभाव पड़ेगा, किन्तु दूसरी ओर एक बहुत बड़े वर्ग की बचत करने तथा कार्य करने की क्षमता में वृद्धि होगी और इस प्रकार समाज की कुल बचत करने की क्षमता में वृद्धि ही होगी। ब्यूहलर[12] का भी यही विचार है कि धन के वितरण की असमानताओं को कम करने के लिए सरकार को निर्धन व्यक्तियों पर उदार व्यय तथा उच्च आय वालों पर अधिक करारोपण की नीति को कुछ समय तक लागू करना ही पड़ेगा।

कुछ लेखकों का विचार है कि निःशुल्क सेवायें प्रदान करने से व्यक्तियों की कार्य करने की इच्छा पर बुरा प्रभाव पड़ता है। धन का वितरण तो समानता की ओर अग्रसर होता है परन्तु उत्पादन गिरने लगता है, राष्ट्रीय आय कम हो जाती है और अन्त में प्रति व्यक्ति आय भी कम होती जाती है। दूसरी ओर इन व्ययों को पूरा करने के लिए बहुत बड़ी मात्रा में धन की आवश्यकता होगी। जिसे प्राप्त करने के लिए सरकार को करारोपण करना होगा। यह करारोपण भी उत्पादकों को निरुत्साहित करेगा। साधनों के इस प्रकार के पुनर्वितरण से तो 'समृद्धि का वितरण' नहीं होता बल्कि 'निर्धनता का वितरण' होता है। परन्तु इस प्रकार का प्रभाव सदैव ही नहीं पड़ता। एक तो सरकार इस बात का सदैव ही ध्यान रखती है कि करारोपण तीव्र प्रतिगामी (sharply regressive) न हो जाए क्योंकि केवल तीव्र प्रतिगामी करों से ही देश में उत्पादन निरुत्साहित होता है। दूसरे, कभी-कभी धन के वितरण की असमानताओं को कम करने के लिए ऐसे कर लगाने आवश्यक हो जाते हैं। इसलिए अधिक अच्छा उत्पादन या अधिक अच्छा धन का वितरण इन दोनों में से सरकार को कौन सा उद्देश्य अपनी नीति का बनाना चाहिये, केवल परिस्थितियाँ ही बता सकती हैं। सच तो यह है कि सरकार की सफलता तो

11. *Op. cit., p. 133.*
12. Buehler, *op. cit.*, pp.184 -85.

इसी में है कि दोनों में उचित संतुलन रहे क्योंकि न्यायपूर्ण वितरण के अभाव में अधिक उत्पादन का कोई महत्व नहीं और जब उत्पादन ही न बढ़ेगा तो वितरण में व्यक्तियों को प्राप्त क्या होगा। अतः दोनों उद्देश्य साथ-साथ चलने चाहियें।

अन्य प्रभाव—यह ध्यान रहे कि इस प्रकार के पुनर्वितरण का एक अच्छा प्रभाव यह भी होता है कि आर्थिक जीवन अधिक संतुलित और स्थायी हो जाता है। केन्स ने सिद्ध किया है कि निर्धनों में धनी व्यक्तियों की अपेक्षा अपनी आय में से अधिक भाग उपभोग पर व्यय करने की प्रवृत्ति अधिक होती है। अतः धनी व्यक्तियों पर कर लगाकर जब धन लिया जाता है और निर्धनों पर उसको खर्च किया जाता है तो देश में कुल खर्च किये हुए धन की मात्रा में वृद्धि होगी और देश में पूर्ण रोज़गार की स्थिति उन्नत होगी।[13] इस प्रकार की नीति अवसाद काल में बहुत अच्छी सिद्ध हो सकती है। अवसाद काल में जबकि निजी व्यापारों एवं उद्योगों में लगे हुए व्यक्तियों की छटनी शुरू हो जाती है, तब सरकार रेल, सड़क, नहर बनवाकर तथा अन्य सार्वजनिक निर्माण-कार्य अपने हाथ में लेकर और कुछ उद्योगों को आर्थिक सहायता प्रदान करके रोज़गार के स्तर को गिरने से रोक सकती है। करारोपण द्वारा इतना लाभ अवसाद काल में नहीं होगा जितना कि मुद्रा-स्फीति में क्योंकि करारोपण से केवल धन का स्थानान्तरण व्यक्ति से सरकार को ही होता है। अधिक महत्व तो राजकीय व्यय का है। इसके अतिरिक्त सरकार ऋण लेकर करारोपण की अपेक्षा अधिक अच्छा कार्य कर सकती है, क्योंकि ऋण प्राप्त करने की नीति में, चाहे नोट प्रकाशन करे, चाहे व्यक्तियों से प्रत्यक्ष ऋण प्राप्त करे या विदेशी ऋण प्राप्त करे, परन्तु हर स्थिति में उसे अतिरिक्त क्रय-शक्ति व्यक्तियों के हाथों में पहुंचाने का अवसर मिलेगा, जिससे आर्थिक क्रियाओं का स्तर ऊँचा शीघ्रतया और अधिक तीव्रता से होगा।

13. इसकी विस्तृत विवेचना एक अलग अध्याय में दी गई है।

भाग-२

अध्याय ६

भारत में राजकीय व्यय
(PUBLIC EXPENDITURE IN INDIA)

भारत में राजकीय व्यय की मुख्य प्रवृत्तियाँ—

किसी भी देश में राजकीय व्यय की प्रकृति एवं आकार, उस देश की आर्थिक एवं राजनैतिक दशाओं और सरकार की आर्थिक नीति के लक्ष्यों पर निर्भर करते हैं। एक अविकसित या कम विकसित देश में, विकसित देश की अपेक्षा, राजकीय व्यय का आकार बहुत बड़ा होना चाहिये। अवसाद काल में, समृद्धि काल की अपेक्षा राज्य को अधिक व्यय करना होगा। इसी प्रकार युद्धकाल और आन्तरिक झगड़ों की अवस्था में शान्तिमय वातावरण की अपेक्षा राजकीय व्यय बहुत अधिक होगा। राजकीय व्यय को प्रभावित करने वाली दूसरी मुख्य बात सरकार की आर्थिक नीति के उद्देश्य हैं। एक देश में राजकीय व्यय का आकार बहुत संकीर्ण होगा, यदि सरकार का उद्देश्य केवल रक्षा करना और शान्ति स्थापित करना ही है, परन्तु दूसरे देश में यही विस्तृत होगा, यदि सरकार का उद्देश्य 'कल्याणकारी' राज्य स्थापित करना है। इन्हीं सब बातों से राजकीय व्यय-सम्बन्धी नीतियाँ निर्धारित होती हैं।

भारत में भी राजकीय व्यय इन्हीं सब बातों से प्रभावित होता रहा है। भारत एक विशाल कृषक देश है। यहाँ की कृषि पिछड़ी हुई अवस्था में है। औद्योगिक विकास भी बहुत कम हुआ है। प्रति व्यक्ति आय बहुत कम है, जीवन-स्तर न्यून है। समय-समय पर स्थितियों के बदलने के साथ-साथ राजकीय व्यय का आकार भी बदलता रहा है। फिर भी आज भारत एक अर्ध-विकसित देश है। भारत में राजकीय व्यय पर जितना प्रभाव सरकारी नीति का पड़ा उतना किसी और बात का नहीं पड़ा है। सन् १९४७ में ही भारत स्वतन्त्र हुआ। उससे पूर्व भारत में विदेशी सरकार का मुख्य उद्देश्य देश में शान्ति बनाए रखना था ताकि वह ठीक प्रकार से शासन करती रहे। इसीलिए वह निर्बाधावादी नीति को ही अपनाती रही। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् राष्ट्रीय सरकार का उद्देश्य भारत में एक कल्याणकारी राज्य स्थापित करना हुआ। समाजवादी समाज की स्थापना के हेतु भारत ने आर्थिक नियोजन का मार्ग अपनाया। इन्हीं सब कारणों से भारत के राजकीय व्यय का

आकार पिछले वर्षों में बहुत ही विस्तृत हो गया है। इसके अतिरिक्त भारत में संघीय वित्त व्यवस्था से भी राजकीय व्यय का आकार समय-समय पर बदलता रहा है।

भारत में राजकीय व्यय पर एक दृष्टि—सन् १९३९ से पूर्व भारत में विदेशी सरकार की नीति देश के आर्थिक विकास के हित में नहीं थी, इसीलिए राजकीय आय का बहुत थोड़ा सा भाग ही सामाजिक एवं विकास-कार्यों पर खर्च किया जाता था और अधिकांश भाग रक्षा और नागरिक प्रशासन पर खर्च होता था। राजकीय व्यय का उद्देश्य धन की असमानताओं को कम करना भी नहीं था। निम्न तालिका[1] इस स्थिति का स्पष्टीकरण करती है :—

(करोड़ रुपयों में)

व्यय की मदें	१९००–०१	१९१३–१४	१९२०–२१	१९२९–३०	१९३९–४०
भौतिक सुरक्षा (रक्षा, पुलिस, जेलें, न्याय-व्यवस्था, ऋण सेवाएँ इत्यादि)	४७.१	५९.४	१४२.९	१४४.८	१५९.६
आर्थिक सुरक्षा (रेलें, सार्वजनिक निर्माण कार्य, उद्योग एवं नियोजन, कृषि एवं ग्रामीण विकास)	३१.८	३४.९	५०.८	३१.०	२९.९
सामाजिक सुरक्षा (शिक्षा एवं स्वास्थ्य)	९.२	८.३	१३.१	२१.७	१८.५

अत: स्पष्ट है कि आर्थिक विकास और सामाजिक सुरक्षा पर बहुत कम खर्च हो रहा था। इसके अतिरिक्त जबकि 'भौतिक सुरक्षा' पर व्यय सन् १९००–१९४० के बीच में तिगुने से भी अधिक हो गया था, आर्थिक सुरक्षा पर लगभग समान था और सामाजिक सुरक्षा पर दो गुना हो गया था। यही कारण था कि राजकीय व्यय का आकार इतना संकीर्ण था। सन् १९१९ के एक्ट में राजकीय व्यय में कुछ परिवर्तन अवश्य हुए थे परन्तु वे अधिक प्रशंसनीय नहीं थे। सन् १९३५ में कुछ प्रान्तों में राष्ट्रीय सरकारों के आ जाने के कारण कुछ समय के लिये सामाजिक सेवाओं पर अधिक व्यय हुआ, परन्तु सन् १९३९ से स्थिति फिर बिगड़ने लगी।

सन् १९३९ में दूसरा महायुद्ध आरम्भ हुआ। भारत सरकार ने ब्रिटेन की सरकार की ओर से बहुत से युद्ध-सम्बन्धी खर्च किए। इन वर्षों में रक्षा-व्यय, जो सन् १९३९-४० में ४९.५४ करोड़ रुपये था, बढ़कर सन् १९४४-४५ में ४५८.३२ करोड़ रुपए हो गया। इसी प्रकार नागरिक प्रशासन पर भी व्यय में बहुत वृद्धि हुई क्योंकि सरकार को अनेकों नए विभाग खोलने पड़े और पुराने विभागों को बढ़ाना

1. M. H Gopal, *Indian Public Finance*, Commerce Annual No., (1950)

पड़ा। मुद्रा-प्रसार के कारण सरकार को मुद्रा-प्रसार निरोधक उपाय करने पड़े। उपभोग, मूल्यों, आयात, निर्यात, विदेशी विनिमय, उत्पादन आदि पर नियन्त्रण लगाने पड़े। परिणामस्वरूप सरकार के व्यय में बहुत वृद्धि हुई परन्तु इस वृद्धि से देश को कोई भी लाभ प्राप्त नहीं हुआ।

युद्ध समाप्ति के बाद और युद्ध के अन्तिम वर्षों में सरकार ने निर्बाधावादी नीति को त्याग दिया और दामोदर घाटी योजना जैसी योजनाओं को निर्मित करना आरम्भ किया। सन् १९५० के संविधान से तो सरकार की नीति की रूपरेखा ही बदल गई और अब सरकार की नीति का मुख्य लक्ष्य समाजवादी समाज की स्थापना करना हो गया था। इसी बीच मूल्यों की वृद्धि के कारण सरकार के खर्चों में बहुत वृद्धि हुई। साथ ही साथ बहुत सी योजनाओं को स्थगित करना पड़ा या उनका आकार कम कर दिया गया और 'अधिक अन्न उपजाओ' आन्दोलन पर व्यय बढ़ा दिया गया। उधर देश के विभाजन से भी राजकीय व्यय की राशि में वृद्धि हुई। शरणार्थियों के पुनर्वासन पर सरकार को बहुत बड़ी मात्रा में व्यय करना पड़ा। देश में झगड़ों और दंगों के कारण भी शान्ति स्थापित करना बहुत महंगा हो गया था और सरकार को कुछ वर्षों तक इन मदों पर बहुत अधिक खर्च करना पड़ा था। देश के विभाजन से खाद्यान्न-समस्या बढ़ गई और जूट कपास की कमी देश में अनुभव होने लगी। परिणामवश सरकार को इन वस्तुओं के आयात पर बहुत व्यय करना पड़ा और यह व्यय आजकल भी चल रहा है।

भारत सरकार को स्वतन्त्र देश होने के नाते कुछ नये खर्चों को आरम्भ करना पड़ा और पुराने खर्चों को बढ़ाना पड़ा। संसद सम्बन्धी व्यय, कूटनीतिक सम्बन्धों (Diplomatic relations) और रक्षा पर पहले की अपेक्षा कई गुना अधिक व्यय करना पड़ा—ये व्यय तो स्वतन्त्रता-सम्बन्धी थे और स्थायी थे। इसके अतिरिक्त उस समय ये व्यय विकास-सम्बन्धी व्यय से भी अधिक महत्वपूर्ण थे और इसीलिए इनको प्राथमिकता मिली। अतः भारत में राजकीय व्यय पिछले वर्षों में बड़ी तीव्रता से बढ़ा है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के तुरन्त बाद के चार वर्षों में यह व्यय अधिकतर रक्षा, नागरिक प्रशासन, शरणार्थियों और खाद्यान्न पर हुआ और तत्पश्चात् सन् १९५१ से विकास-सम्बन्धी कार्यों और सामाजिक सुरक्षा पर सरकार को और व्यय करना पड़ा।

इस प्रकार स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् भारत में राजकीय व्यय की मात्रा ही नहीं बढ़ी है वरन् प्रकृति में भी परिवर्तन हुआ है। बढ़ते हुए व्यय के मुख्य कारण—बढ़ता हुआ मूल्य स्तर, नागरिक प्रशासन सम्बन्धी व्यय में वृद्धि और आर्थिक विकास-सम्बन्धी कार्य-क्रमों पर होने वाला व्यय था। सन् १९५१ से लेकर आज तक राजकीय व्यय का मुख्य उद्देश्य, देश में आर्थिक विकास की आवश्यकताओं की पूर्ति रहा है। इसीलिए प्रत्येक योजना में विभिन्न मदों पर होने वाले व्यय में भी फेर-बदल की जाती रही है।

केन्द्रीय सरकार का आय खाते में कुल व्यय सन् १९५०-५१ में ३४६·६४

करोड़ रुपये से बढ़कर सन् १९५६-५७ में ४७३·८३ करोड़ रुपये, १९६१-६२ में ६११·९४ करोड़ रुपये, १९६४-६५ में १८५०·०५ करोड़, १९६५·६६ में २१८७·४२ करोड़ रुपये था, और १९६६-६७ में २४०७·४१ करोड़ रुपये हो जाने का अनुमान था। पूँजीगत व्यय में भी इसी प्रकार की वृद्धि हुई है। भारत सरकार का यह व्यय सन् १९५०-५१ में ७१·०३ करोड़ रुपये था, जो सन् १९५६-५७ में २४७·५१ करोड़ रुपये १९६१-६२ में ४३६·३३ करोड़ रुपये, १९६४-६५ में ९१२·४२ करोड़ रुपये, १९६५-६६ में २२४७·८६ करोड़ रुपये हो गया था। यह अनुमान है कि सन १९६६-६७ में यह व्यय १९५२·५० करोड़ रुपये होगा।

पिछले वर्षों के बजटों पर दृष्टिपात करने से यह ज्ञात हो जाता है कि सरकार इन मदों के महत्त्व को भी बदलती रही है। उदाहरणार्थ सन् १९५०-५१ में सामाजिक तथा विकास सेवाओं पर होने वाले व्यय का प्रतिशत कुल आय खाते का व्यय का ११·५ था, जो सन् १९६१-६२ में बढ़कर २३ हो गया था। बाद के वर्षों में इस में फिर कमी हुई और इस मद पर होने वाले व्यय का प्रतिशत १९६६-६७ के बजट अनुमानों में केवल ८ ही रह गया। प्रतिरक्षा व्यय का कुल व्यय में प्रतिशत सन् १९५०-५१ में ३९; १९५६-५७ में ३२, १९६२-६३ में ३३ था, किन्तु इसी वर्ष चीनी उपद्रव के कारण व्यय में वृद्धि करनी पड़ी और सन् १९६४-६५ और सन् १९६५-६६ में इस मद पर होने वाले व्यय का प्रतिशत ३९ था, किन्तु अगस्त १९६५ में भारत पाकिस्तान संघर्ष के कारण और हमारी सीमाओं पर निरन्तर बने रहने वाले चीनी खतरे के कारण इस मद पर होने वाले व्यय को और भी बढ़ाना पड़ा। सन् १९६६-६७ के बजट अनुमानों के अनुसार इस व्यय का प्रतिशत ४० होगा। नागरिक प्रशासन पर व्यय लगभग समान ही रहा है। जहाँ तक पूंजीगत व्यय का सम्बन्ध है, विकासात्मक कार्यों पर जो व्यय सन् १९५०-५१ में ५७·४० करोड़ रुपया था वह १९६५-६६ में ५९१·४४ करोड़ रुपये हो जाने का अनुमान था। यह ध्यान रहे कि जबकि व्यय की राशि में वृद्धि हुई है, कुल व्यय में प्रतिशत कम होता गया है अर्थात् सन् १९५०-५१ में इस मद पर होने वाले व्यय का कुल व्यय में प्रतिशत ८० था जो सन् १९६५-६६ में केवल ७० रह जाने का अनुमान था। इसका मुख्य कारण यही है कि सरकार को देश की प्रतिरक्षा पर बहुत अधिक व्यय पिछले वर्षों में करना पड़ा है।

भारत सरकार के आय तथा पूंजीगत खातों की एक महत्वपूर्ण मद राज्यों को दिये जाने वाले ऋण तथा अनुदान हैं। भारत सरकार अपनी कर आय में से राज्य सरकारों को जो अंशदान देती है उसका कुल व्यय में प्रतिशत, सन् १९५०-५१ में ५ से बढ़कर सन् १९६१-६२ में २२ हो गया था, किन्तु चीनी आक्रमण के बाद सुरक्षा व्यय में वृद्धि होने से यह घटकर सन् १९६५-६६ में १७ रह जाने का अनुमान था। पूंजीगत खाते में राज्यों को दिये जाने वाले ऋणों का भी प्रतिशत तथा राशि में पिछले एक वर्ष में कमी हो गई है। इसकी राशि सन् १९५०-५१ में ६१·६४ करोड़ रुपये थी, जो सन् १९५६-५७ में २०९·५३ करोड़ रुपये, सन् १९६१-६२ में

४५२·५२ करोड़ रुपये, सन् १९६३-६४ में ६३७·४१ करोड़ रुपये, और सन् १९६४-६५ में ७०७ ९२करोड़, १९६५-६६ में ८२३·३८ करोड़, और १९६६-६७ में ६३५·९३ करोड़ रुपये का ही अनुमान था।

राज्यों के आय तथा पूंजीगत खातों के व्यय में भी पिछले १९ वर्षों में काफी वृद्धि हुई है। आय खाते का कुल व्यय जो सन् १९५१-५२ में ३९२·६३ करोड़ रुपये था। वह सन् १९५६-५७ में ६५४·१९ करोड़, सन् १९६१-६२ में ११२१·२७ करोड़, सन् १९६३-६४ में १५२४ १ करोड़, और सन् १९६५-६६ में बढ़कर १८४०·६४ करोड़ रुपये हो जाने का अनुमान था। इसी प्रकार सभी राज्यों का कुल पूंजीगत व्यय सन् १९५१-५२ में १२७·५७ करोड़ रुपये से बढ़कर सन् १९६५-६६ में ४३७·५२ करोड़ रुपये हो जाने का अनुमान था। सामाजिक तथा विकास सेवाओं पर व्यय का कुल व्यय में प्रतिशत सन् १९५१-५२ में ५० से बढ़कर सन् १९६५-६६ में ५९ हो जाने का अनुमान था। पूंजीगत बजट में विकास व्यय सन् १९५१-५२ में १००·२९ करोड़, सन् १९५६-५७ में ३१५·९२ करोड़, सन् १९६३-६४ में ३५७·३ करोड़ रुपये तथा सन् १९६५-६६ में ४०६·०९ करोड़ रुपये हो जाने का अनुमान है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि विकास-सम्बन्धी व्यय बढ़ता गया है और गैर-विकास सम्बन्धी व्यय भी बढ़ता गया है। परन्तु कर जाँच आयोग ने कहा था कि गैर-विकास सम्बन्धी व्यय (१९५३-५४) में विकास व्यय की अपेक्षा अधिक था। अपने निष्कर्ष निकालते हुए आयोग ने बताया था कि केन्द्रीय तथा अन्य राज्य सरकारों द्वारा किये गये कुल व्यय में—१ रुपया में से ९ आ० ६ पाई गैर-विकास कार्यों पर व्यय किया जाता था, ३ आ० २ पाई सामाजिक सेवाओं पर और ३ आ० ४ पाई आर्थिक विकास पर। यदि प्रतिशत में इस व्यय को व्यक्त करें तो यह प्रतिशत क्रमानुसार ६०, १९ और २१ था।[2] यह आँकड़े केवल उन व्ययों से सम्बन्धित थे जो कि ऋण के अतिरिक्त आय में से किये जाते थे। प्राप्त किए गए ऋणों के व्यय-सम्बन्धी आँकड़े अलग थे। किन्तु अब स्थिति में बहुत परिवर्तन हो गया है। तीसरी योजना में तो विकास सम्बन्धी व्यय में और भी अधिक वृद्धि हो जाती किन्तु भारत पाक संघर्ष ने स्थिति को फिर से बिगाड़ दिया है।

इसमें सन्देह नहीं कि भारत में विकास-कार्यों पर राजकीय व्यय बढ़ता जा रहा है और गैर-विकास कार्यों पर कम बढ़ रहा है, फिर भी यह स्थिति सन्तोषजनक नहीं है। सामाजिक कल्याण पर अब भी बहुत कम व्यय किया जाता है। आय की असमानतायें अब भी पहले ही जैसी हैं। हमारे यहाँ प्रशासन में भ्रष्टाचार और फिजूलखर्ची बहुत अधिक बढ़ गई है। इसके प्रमुख कारण देशवासियों में राष्ट्रीयता की भावना की कमी और उचित नियन्त्रण रखने में सरकार की असमर्थता है। अनुमान समितियों (Estimates Committees) और सार्वजनिक लेखा समितियों

2. Report : Taxation Enquiry Commission, p. 39

(Public Accounts Committees) ने भी सरकार का ध्यान इस ओर आकर्षित करने का प्रयत्न किया है, परन्तु स्थिति में सुधार होता नहीं दीखता।

भारत के संविधान में संघ तथा राज्य सरकारों के बीच कार्यों का वितरण—हमारे देश के संविधान में मुख्य-मुख्य कार्यों का संघ एवं राज्य सरकारों के बीच वितरण किया गया है। इसके अनुसार संघ सरकार के व्यय की मुख्य-मुख्य मदें—रक्षा, नागरिक प्रशासन, रेलें, डाक व तार इत्यादि हैं। इसी प्रकार राज्यों के व्यय की मुख्य मदें—शान्ति, पुलिस, स्थानीय संस्थायें, स्वास्थ्य एवं सफाई इत्यादि हैं। कुछ मदों जैसे, आर्थिक एवं सामाजिक नियोजन, श्रम कल्याण, सामाजिक सुरक्षा आदि पर दोनों सरकारें मिलकर व्यय करेंगी।

संघ सरकार के व्यय की मुख्य मदें—भारत में संघ सरकार का व्यय दो खातों द्वारा किया जाता है।—प्रथम, आय-सम्बन्धी खाता (revenue account) और दूसरा पूंजीगत खाता (capital account)। प्रथम खाते में व्यय की पूर्ति, करों की आय, रेलों, डाक व तार और नागरिक निर्माण-कार्यों (civil works) के अंशदानों द्वारा की जाती है। इस हिसाब में व्यय की मुख्य मदें—रक्षा और नागरिक प्रशासन हैं। दूसरे खाते में व्यय की पूर्ति ऋणों द्वारा की जाती है। इसमें व्यय की मुख्य मदें—ऋणों का भुगतान करना, राज्यों को ऋण देना, रक्षा, बन्दरगाहों, हवाई यातायात, रेलों, डाक व तार, सिंचाई, जल-विद्युत तथा औद्योगिक विकास से सम्बन्धित पूंजीगत वस्तुओं का क्रय आदि हैं। अब हम इन मदों की विवेचना करेंगे।

(१) रक्षा व्यय (Defence Expenditure)

भारत सरकार के व्यय की मदों में रक्षा व्यय का सदैव ही प्रथम स्थान रहा है। सन् १९११ में रक्षा (सेवाओं तथा पूंजीगत) पर कुल व्यय का ९३·२९% खर्च किया जाता था। किन्तु इसमें निरंतर वृद्धि होती ही गई। सन् १९२१ में यह प्रतिशत ८२·३१ और सन् १९४३–४४ में ८१·१ था। राष्ट्रीय सरकार ने रक्षा व्यय में आरम्भ से ही कमी करने की चेष्टा की। परिणामतया सन् १९५०–५१ में यह रक्षा व्यय कुल व्यय का केवल ४७%, सन् १९५८–५९ में ३४% और सन् १९६१–६२ में ३२% रह गया था। किन्तु सन् १९६२–६३ से इसमें पुनः वृद्धि होनी आरम्भ हुई। वास्तव में इस व्यय का प्रतिशत अक्टूबर १९६२ तक ३२ ही रहा किन्तु इसी मास चीनियों के आक्रमण के कारण इस व्यय को तेजी से बढ़ाना पड़ा। इस वर्ष बजट में केवल ३४३·९७ करोड़ रुपयों की ही व्यवस्था की गई थी, किन्तु कुल रक्षा व्यय सन् १९६२-६३ में ४५१·८१ करोड़ रुपये था। इसी प्रकार सन् १९६३-६४ में ७०४·१५ करोड़ रु० था और सन् १९६६-६७ में ९१८·२७ करोड़ रु० का अनुमान है।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति से पूर्व, जैसा कि आंकड़ों से विदित ही है, यह व्यय बहुत अधिक था। इसके कई कारण थे। प्रथम, भारत सरकार को केवल भारत की ही रक्षा नहीं करनी पड़ती थी वल्कि पास-पड़ौस के देशों में भी शान्ति स्थापित करनी पड़ती थी। दूसरे अँग्रेजी सरकार भारत में इसलिए भी अधिक सेना रखती थी

कि वह आन्तरिक विद्रोह को आसानी से दवा सके। तीसरे, सेना में जो अंग्रेजी सिपाही और अफसर थे उनको वहुत अधिक वेतन दिया जाता था। चौथे, भारत को ब्रिटिश युद्ध दफ्तर (British War Office) को, जो भारत की सेना के लिए सिपाही रखता था और इन्हें शिक्षा देता था, एक वड़ी रकम चुकानी पड़ती थी। इसके अतिरिक्त भारत सरकार को अंग्रेजी अफसरों की अदला-वदली का आधा व्यय भी देना पड़ता था। इन्हीं सब कारणों से भारत का रक्षा व्यय वहुत अधिक था। उस समय इसके विरुद्ध वड़ी कटु आलोचनायें की जाती थीं। लोगों का कहना था कि भारतीय सेना में अंग्रेजों के स्थान पर भारतीयों को रखा जाये क्योंकि वे देश के लिए अपव्ययी थे। प्रो० के० टी० शाह ने ठीक ही कहा था कि भारतीय सेना उतनी ही व्ययपूर्ण है जितनी वेकार है, और जो कुछ सेवा यह भारतीयों की करती है वह लागतों की तुलना में वहुत कम है।[3] कुछ का विचार था कि भारत में जितनी सेना रखी जाती थी वह केवल देश की रक्षा के लिए नहीं वल्कि वह अंग्रेजी शासन को दृढ़ करने के लिए रखी जाती थी। यू० के० के भूतपूर्व प्रधान मन्त्री श्री मैकडोनल (Macdonald) ने इसी वात को एक वार कहा था "कि भारत में सेना का एक वड़ा भाग—निश्चय ही आधा—शाही सेना है जिसकी हमको भारत के अतिरिक्त अन्य देशों के लिए आवश्यकता होती है और इसलिए उसका व्यय भारतीय कोषों से नहीं वल्कि शाही कोषों से पूरा होना चाहिये।"

द्वितीय महायुद्ध के छिड़ते ही भारत को भी युद्ध में भाग लेना पड़ा और परिणामस्वरूप भारत का युद्ध-व्यय हर वर्ष वढ़ता ही गया। जैसा कि निम्न आंकड़ों से विदित होता है :—

(करोड़ रुपयों में)

वर्ष	रक्षा-व्यय	वर्ष	रक्षा-व्यय	वर्ष	रक्षा-व्यय
१९३९-४०	४९·५४	१९४१-४२	१०३·९३	१९४३-४४	३९५·८६
१९४०-४१	७३ ६१	१९४२-४३	२६७·१३	१९४४-४५	४५८·३२

युद्ध छिड़ते ही भारत और यू० के० सरकार में एक वित्तीय समझौता हुआ जिसके अनुसार रक्षा-व्यय को दो भागों में विभाजित कर दिया गया था, अर्थात् एक वह भाग जो भारत को सहन करना था और दूसरा ब्रिटिश सरकार को। यहाँ पर हम इस समझौते का पूर्ण वृत्तान्त देना उचित नहीं समझते इसलिए केवल इतना ही कहते हैं कि व्यवहार में भारत को युद्ध पर इतना अधिक व्यय करना पड़ा था, जिसकी कभी आशा भी नहीं की जा सकती थी।

देश के स्वतन्त्र होने पर यह आशा की जाती थी कि भारत का रक्षा-व्यय

3. *Wealth and Taxable Capacity of India*, p. 276.

कम हो जायेगा क्योंकि युद्ध समाप्त हो ही चुका था और देश का विभाजन हो जाने से अब कम क्षेत्र की रक्षा का भार रह गया था और अंग्रेजी शासन-काल में भारत को जो अनुचित खर्चे देने पड़ते थे वे भी अब समाप्त हो गये थे। परन्तु यह आशा पूरी न हो सकी और हमारा रक्षा-व्यय बढ़ता ही गया। इसके कई कारण थे—

१. आरम्भ में भारत को बहुत अधिक सेना रखनी पड़ी थी क्योंकि अंग्रेजी सेना से पहले जैसी सहायता नहीं मिल रही थी।

२. स्वतन्त्रता प्राप्त होने पर भारत में इतने आन्तरिक उपद्रव हुए जिनको ठीक करने के लिए भी एक बड़ी सेना रखनी पड़ी थी।

३. भारतवर्ष का सेना-व्यय काश्मीर और हैदराबाद के कारण भी बहुत अधिक था। यद्यपि हैदराबाद-सम्बन्धी व्यय तो अब समाप्त हो गया है फिर भी काश्मीर पर काफ़ी खर्चा हो रहा है।

४. विभाजन के कारण भारतवर्ष की स्थल सेना बहुत बढ़ गई है। उसकी सीमा पाकिस्तान से मिली हुई है, पाकिस्तान ने अमेरिका, इंगलैंड तथा मुसलमान देशों से समझौते कर रखे हैं। पाकिस्तान के सिपाही समय-समय पर सीमाओं का उल्लंघन करते हैं। इन सब झगड़ों को शान्त करने के लिए तथा पाकिस्तानी आक्रमणों को रोकने के लिए सेना पर बहुत अधिक व्यय करना पड़ रहा है।

५. भारतवर्ष में उच्च प्रकार की सैनिक शिक्षा प्रदान करने के लिये कई केन्द्र खोले गये हैं जिन पर काफी व्यय होता है।

६. भारतवर्ष में युद्ध का सामान बनाने के लिये भी कई कारखाने खोले गये हैं।

७. सेना के रहने के लिए स्थानों का प्रबन्ध करने के लिए भी सरकार को बहुत सा धन खर्च करना पड़ा।

८. सेनाओं को पूर्ण रूप से आधुनिक शस्त्रों और यन्त्रों से सुसज्जित किया गया। साथ ही समुद्री बेड़े को तैयार करने तथा वायु-शक्ति का विकास करने पर भी काफी व्यय हुआ।

९. अनेक प्रकार की सहायक सैनिक सेवाओं जैसे—National Cadet Corps, Territorial Army के संगठन पर भी सरकार को काफी व्यय करना पड़ा।

इन्हीं सब कारणों से भारत के स्वतन्त्र होने के कई वर्षों बाद तक रक्षा व्यय में पर्याप्त कमी नहीं की जा सकी, क्योंकि नई-नई प्राप्त स्वतन्त्रता की रक्षा करने के लिए न्यूनतम मात्रा में सेना तथा सामग्री रखनी आवश्यक थी। फिर भी कुल व्यय में रक्षा-व्यय का प्रतिशत सन् १९४३-४४ में ८१.१ से गिरकर सन् १९६१-६२ में ३२ रह गया था। रक्षा व्यय में और भी कमी की जा सकती थी, किन्तु पाकिस्तान से सम्बन्ध अच्छे न होने के कारण, इसमें वांछनीय मात्रा में कमी नहीं की जा सकी। सन् १९६२-६३ से रक्षा-व्यय में जो वृद्धि हुई है उसका मुख्य

कारण चीनी आक्रमण था। इस वृद्धि का अनुमान निम्न तालिका से लगाया जा सकता है।

(करोड़ रुपयों में)

आय खाते में	१९५०-५१	१९५६-५७	१९६१-६२	१९६३-६४	१९६६-६७ (वजट)
कुल व्यय	३४६·६४	४७३·८३	१०६९·११	१९६४·९४	२४०७·४१
रक्षा व्यय	१६४·१३	१९२·१५	३०१·९३	६९२·५५	७९७·४१
कुल व्यय में रक्षा व्यय का प्रतिशत	४७·३	४०·५	२८	३०·३	३३·१

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि पिछले तीन वर्षों में हमारे रक्षा व्यय का अनुपात कुल व्यय में वहुत तेजी से वढ़ा है। यह ध्यान रहे कि ऊपर के आंकड़े केवल आय सम्वन्धी खाते के ही हैं। इसके अतिरिक्त पूँजीगत खाते में भी रक्षा व्यय में काफी वृद्धि हुई है। जो निम्न तालिका से भली भाँति विदित हो जाता है।

(करोड़ रुपयों में)

पूँजी खाते में	१९५०-५१	१९५६-५७	१९६१-६२	१९६३-६४	१९६६-६७ (वजट)
कुल व्यय	१८२·५९	६१६·७८	११७१·६१	१८२५·८९	१९५२·५०
रक्षा व्यय	४·१९	१९·१७	२२·९५	११५·६३	१२०·६०
कुल व्यय में रक्षा व्यय का प्रतिशत	२·२९	३ ११	१·९५	६·३३	६·१७

सन् १९६२-६३ में दोनों, आय तथा पूंजी खातों को मिलाकर वजट में केवल ३४३·३७ करोड़ रुपये की व्यवस्था की गई थी किन्तु अक्टूबर में चीनी आक्रमण के कारण अन्त में रक्षा व्यय वढ़कर ४५१·८१ करोड़ रुपये हो गया था। सन् १९६३-६४ में कुल ८०८·१८ करोड़ रु० ही व्यय हुए। सन् १९६६-६७ के लिए दोनों खातों में ९१८ ०१ करोड़ रु० की व्यवस्था की गई है।

यह ध्यान रहे कि अभी निकट भविष्य में भारत के रक्षा व्यय में कमी होने की कोई सम्भावना नजर नहीं आती। हमारे सभी पड़ौसी देशों की नीति कुछ टिकाऊ नहीं मालूम पड़ती। सिक्किम, भूटान में राजनीतिक स्थिरता नहीं है। तिव्वत तो चीन के हाथों में है ही, और नेपाल पर भी चीन का प्रभाव वढ़ता ही जा रहा है। उधर पाकिस्तान से चीन की घनिष्ठ मित्रता स्थापित हो गई है। मैलेसिया और इन्डोनेशिया के सम्वन्ध अभी भी ठीक नहीं हैं। भारत को इस समय सवसे अधिक

खतरा चीन से है। जब से अणुबम का विस्फोट किया है तब से तो खतरा और भी अधिक हो गया है। रूस में ख्रुश्चेव के हटने से भी भारत की स्थिति कुछ बिगड़ी है। यद्यपि रूसी नेताओं ने हमें यह विश्वास दिलाया है कि रूस और भारत के सम्बन्धों में कोई अन्तर नहीं आयेगा। इंगलैंड में श्रम-पार्टी के द्वारा शासन-प्रबन्ध सम्भाल लेने से भी भारत के ऊपर आर्थिक और राजनैतिक प्रभाव अवश्य ही पड़ेगा। इन सब परिवर्तनों से भारत की नीतियों में भी परिवर्तन होना स्वाभाविक ही है। चीनी आक्रमण ने हमारे आर्थिक विकास की गति को ठेस पहुँचाई है और यही कारण है कि सरकार को रक्षा व्यय में वृद्धि करनी पड़ी। और क्योंकि चीन से खतरा दिन प्रति दिन बढ़ ही रहा है, इसलिये भविष्य में भारत के रक्षा व्यय में अभी वृद्धि होने की आशा ही की जा सकती है।

इधर, पाकिस्तान से भी तनातनी चल ही रही है। सन् १९६५ में पाकिस्तान ने दो बार भारत पर आक्रमण किया। प्रथम कच्छ के रण में और दूसरे जम्मू तथा काश्मीर में। यद्यपि रूस की सहायता से ताशकन्द समझौता तो हो गया है किन्तु यह अधिक टिकाऊ प्रतीत नहीं होता। हाल के वर्षों में पाकिस्तान और चीन की सांठ गांठ भी बढ़ती जा रही है। अमरीका और इंगलैंड की नीति भी स्पष्ट नहीं है। स्पष्ट है कि भारत को अपनी प्रतिरक्षा का स्वयं ही प्रबन्ध करना होगा और इसीलिये भविष्य में प्रतिरक्षा व्यय अधिक ही रहेगा।

२. नागरिक व्यय (Civil Expenditure)—

इस मद में निम्न मदों के व्यय सम्मिलित किये जाते हैं :—

(अ) नागरिक प्रशासन (ब) विकास एवं सामाजिक सेवाएँ (स) आय पर प्रत्यक्ष माँगें और (द) ऋण-सम्बन्धी सेवाएँ।

नागरिक प्रशासन के अन्तर्गत प्रान्तीय तथा केन्द्रीय सरकारों के प्रशासन व्यय सम्मिलित थे। किन्तु इसी वर्ष सन् १९१९ से प्रान्तीय सरकारों का हिसाब अलग कर दिया गया और इस मद में केवल केन्द्रीय सरकार का ही व्यय दिखाया जाने लगा। सन् १९३७ से इस मद में निम्नलिखित व्यय सम्मिलित किये जाने लगे :—

१. इण्डिया हाउस से सम्बन्धित व्यय; २. सरकारी विभागों का वेतन तथा अन्य व्यय; ३. मन्त्रिमण्डल का व्यय; ४. केन्द्रीय विधान सभा का व्यय।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् इस मद के अन्तर्गत अब निम्नलिखित व्यय सम्मिलित किये जाते हैं :—

१. मन्त्रिमण्डल का व्यय; २. लोक सभा का व्यय; ३. सरकार के विभिन्न मंत्रियों के दफ्तरों का व्यय।

यह आशा थी कि नागरिक प्रशासन पर व्यय कम हो जायेगा परन्तु कम होने के स्थान पर यह व्यय और भी बढ़ गया। यह निम्न आंकड़ों से स्पष्ट होता है:—

(लाख रुपयों में)

वर्ष	व्यय	वर्ष	व्यय
१९३८–३९	१·८७	१९६३–६४	८०·४५
१९४६–४७	६·१६	१९६४–६५	८२·१७
१९५०–५१	२१·२९	१९६५–६६	९२·३१
१९५६–५७	३८·०६	१९६६–६७	११०·०८
१९६०–६१	५९·१७	(अनुमानित)	

उपर्युक्त आँकड़ों से स्पष्ट है कि हमारे देश में नागरिक प्रशासन पर व्यय बढ़ता ही जा रहा है। ब्रिटिश काल में तो इस व्यय के अधिक होने का कारण यह था कि सरकार को शान्ति स्थापित करने में बहुत अधिक खर्चा करना पड़ता था और भारतीय सिविल सर्विस तथा अन्य विभागों के कर्मचारियों के वेतन बहुत ऊंचे थे। साथ ही साथ विकास और सामाजिक सेवाओं को कोई भी महत्त्व नहीं दिया जाता था। स्वतन्त्रता प्राप्त होने के बाद हमारे देश में दृष्टिकोण ही बदल गया और अब हमारे देश में कल्याणकारी राज्य की स्थापना की ओर प्रयत्न हो रहे हैं। अतः सरकार के कार्यों में बहुत वृद्धि हो गई है जिसके कारण नागरिक प्रशासन व्यय भी बढ़ता जा रहा है। इस व्यय के बढ़ने के निम्न कारण हैं :—

१. बहुत से नये-नये मंत्रालय स्थापित हो गए हैं।

२. मंत्रियों की संख्या बढ़ गई है।

३. लोक सभा का व्यय पहले से अधिक हो गया है।

४. केन्द्रीय वेतन आयोग के सुझावों के अनुसार कर्मचारियों तथा अफसरों के वेतन बढ़ गए हैं।

५. कर्मचारियों और अफसरों की संख्या भी बढ़ गई है।

६. दूतावासों की स्थापना तथा उनकी संख्या में वृद्धि हो गई है।

इनमें कोई सन्देह नहीं कि दूतावासों की संख्या और उनसे सम्बन्धित खर्चों को कम किया जा सकता था परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भारत के स्थान को देखते हुए इस व्यय को कम करना सरल नहीं है।

सामाजिक तथा विकास सेवायें

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् सरकार को बहुत सी नई-नई राष्ट्रीय निर्माण, विकास और सामाजिक सेवाओं जैसे शिक्षा, चिकित्सा, सार्वजनिक स्वास्थ्य, कृषि, सामाजिक कल्याण संगठन, पिछड़ी हुई जातियों का कल्याण, प्राकृतिक आपत्तियों से

पीड़ित व्यक्तियों की सहायता, शरणार्थियों को फिर से बसाने का कार्य, राष्ट्रीय विकास सेवाएँ और सामुदायिक विकास योजनाएं इत्यादि का व्यय भी नागरिक व्यय के अन्तर्गत ही आता है। यह सन्तोष की बात है कि विकास-कार्यों पर व्यय की राशि बढ़ती ही जा रही है। इस मद पर कुल व्यय सन् १९५१-५२ में ३९·५० करोड़ रु० था जो बढ़कर १९६४-६५ में १९६·९७ करोड़ हो गया और १९६५-६६ में २१९·४६ करोड़ हो जाने का अनुमान था।

इसी प्रकार कर एकत्रित करने के व्यय में भी वृद्धि हुई है। यह निम्न आँकड़ों से स्पष्ट है।

(करोड़ रुपयों में)

वर्ष	व्यय	वर्ष	व्यय
१९३८-३९	४·२४	१९६३-६४	२३·६७
१९५०-५१	१०·२४	१९६४-६५	२५·३४
१९५६-५७	१४·४५	१९६५-६६	२९·६४
१९५८-५९	१९·४४	१९६६-६७	३०·८४
१९६०-६१	२१·१६	(बजट)	

+3 C

आर्थिक नियोजन कार्य के आरम्भ होने से भारत को विदेशों से भी बहुत ऋण लेने पड़े हैं; और देश में भी आन्तरिक ऋणों को प्राप्त किया है। इसलिए ऋण सम्बन्धी सेवाओं पर भी खर्चा कम होने का प्रश्न नहीं उठता। यह निम्न तालिका से विदित हो जाता है।

(करोड़ रुपयों में)

वर्ष	व्यय	वर्ष	व्यय
१९३८-३९	१४·१२	१९६३-६४	२८२·०६
१९५०-५१	३६·३६	१९६४-६५	३१८·४१
१९५८-५९	४८·६३	१९६५-६६	३७२·६१
१९५९-६०	६५·१४	१९६६-६७	४१४·८३
१९६०-६१	८२·८५	(बजट)	

(३) पूंजीगत व्यय (Capital Expenditure)

पूंजीगत व्यय किसी भी प्रकार से भारत सरकार की आय पर भार नहीं होता और यह व्यय ऋण तथा अन्य कोषों द्वारा पूरा होता है। साधारणतया इसी सिद्धान्त का पालन किया जाता है परन्तु हमारे देश में सन् १९४८-४९ से सरकार पूंजीगत व्यय का कुछ भाग आय बजट से प्राप्त करती है जिसका परिणाम यह हुआ कि करदाताओं पर कर भार बढ़ता जा रहा है, देश में बचतों की मात्रा कम हो रही है और पूंजी-निर्माण की गति भी कम है। इस मद के अन्तर्गत पूंजीगत वस्तुओं को

खरीदने के लिये किये गये व्यय के अतिरिक्त वह ऋण भी सम्मिलित रहते हैं जो राज्य सरकारों तथा अन्य संस्थाओं को दिये जाते हैं। गत वर्षों में पूंजीगत वस्तुओं पर व्यय में बहुत वृद्धि हुई है। सन् १९५०-५१ में यह व्यय ७१·०३ करोड़, सन् १९५६-५७ में २७४·५१ करोड़ और सन् १९६४-६५ में बढ़ कर ९१२·४२ करोड़ रु० हो गया। सन् १९६५-६६ में ८४२·६१ करोड़ रु० का ही अनुमान था। इस कमी का मुख्य कारण यह है कि सरकार को बहुत अधिक व्यय प्रतिरक्षा पर करना पड़ा है।

संघ सरकार के पूंजीगत व्यय को विकास-सम्बन्धी तथा गैर-विकास सम्बन्धी भागों में विभाजित किया जाता है। विकास-सम्बन्धी व्यय में रेल, तार, डाक, नागरिक विमान चालन, सिंचाई तथा बहु-उद्देशीय योजनायें, नागरिक निर्माण कार्य, औद्योगिक विकास सम्बन्धी व्यय आदि सम्मिलित किये जाते हैं। ये सभी हमारे देश के आर्थिक विकास को अग्रसर करने के लिए परमावश्यक हैं। पिछले १४ वर्षों में अर्थात् सन् १९५०-५१ में यह व्यय ५७·४० करोड़ रु० से बढ़कर सन् १९६४-६५ में ६२३·५९ करोड रु० हो गया और यह अनुमान है कि सन् १९६५-६६ में ५९१·४४ करोड़ रु० ही रहेगा। गैर-विकास व्यय में रक्षा व्यय, पेन्शनें, राजकीय व्यापार, मुद्रा, टकसाल, सुरक्षा सम्बन्धी छपाई आदि व्यय सम्मिलित किये जाते हैं। यह व्यय सन् १९५०-५१ में १३·६३ करोड़ रु० था, जो बढ़कर सन् १९६४-६५ में २८८·८३ करोड़ रु० हो गया और सन् १९६५-६६ में २५१·१९ करोड़ रु० हो जाने का अनुमान है।

संघ सरकार के पूंजीगत बजट में वाह्य तथा आन्तरिक ऋणों की अदायगी सम्बन्धी व्यय तथा राज्यों को दिये जाने वाली अग्रिम राशियों को भी सम्मिलित किया जाया है।

राज्यों के व्यय की मुख्य मदें

पिछले पृष्ठों में हमने देखा कि संघ सरकार के पास व्यय की ऐसी मदें हैं जिनमें वृद्धि तो अवश्य हो रही है परन्तु इस वृद्धि की गति तीव्र नहीं है। साथ ही एक विशेष बात यह भी है कि जैसे-जैसे उन मदों का विकास होता जाता है वह स्वावलम्बी होती जाती हैं और संघ सरकार का व्यय कम होता जाता है। दुर्भाग्यवश राज्यों को जो कार्य सौंपे गए हैं उनमें से अधिक पर खर्चा होने का ही प्रश्न है, आय का प्रश्न ही नहीं उठता, और यदि कोई आय होती भी है तो उसका कोई विशेष महत्त्व नहीं है। राज्यों पर शान्ति व व्यवस्था रखने का और राष्ट्रीय निर्माण-कार्यों जैसे शिक्षा, स्वास्थ्य, सामाजिक सेवा, सहकारिता आदि की व्यवस्था करने का दायित्व है। स्पष्ट ही है कि राज्यों के कार्य अधिक व्ययपूर्ण हैं। राज्यों के व्यय को निम्न दो भागों में बाँटा जा सकता है:—

(अ) प्रारम्भिक कार्यों पर व्यय, जैसे राज्य के संचालन का व्यय, शान्ति-व्यवस्था तथा नियम अनुशासन का व्यय जिसमें न्यायालयों, जेलों और पुलिस का व्यय

सम्मिलित है और ऋणों से सम्बन्धित व्यय। वजट में इन तीनों व्ययों को क्रमशः "आय पर प्रत्यक्ष माँग," "सुरक्षा सेवाएँ," "ऋण दायित्व" लिखा जाता है।

(व) गौण कार्यों पर व्यय, जिसमें शिक्षा, चिकित्सा, स्वास्थ्य, सिचाई, कृषि, उद्योग, ग्रामीण विकास, सहकारिता आदि सम्मिलित हैं। इन सभी सेवाओं को वजट में सामाजिक तथा विकास सेवाएँ या राष्ट्रीय निर्माण सेवाओं के नामों से व्यक्त किया जाता है।

राज्य सरकारों के व्यय का अनुमान निम्न तालिका से लगाया जा सकता है:—

भारत में राज्य सरकारों के आय खातों (Revenue Account) में विकास एवं गैर विकास सम्वन्धी व्यय

राज्य सरकारों का विकास व्यय

(आय खाते में) (करोड़ रुपयों में)

व्यय की मदें	१९५१–५२	१९५६–५७	१९६१–६२	१९६४–६५ (संशोधित)	१९६५–६६ (वजट)
शिक्षा	६०·३०	११९·९३	२३४·५६	३२०·८३	३६५·८७
चिकित्सा एवं स्वास्थ्य	२९·२२	५४·२७	९३·९५	१३१·७४	१५१·७४
कृषि, पशु-चिकित्सा तथा सहकारिता	२९·७१	४६·६६	७५·७७	१२२·६५	१४६·७२
सिचाई	१७·६२	२२·९३	३५·५२	५०·९४	५६·४१
विजलीयोजनायें	४·६१	९·१४	३·०६		७·४
ग्रामीण तथा सामुदायिक विकासयोजनायें	०·८२	३२·९७	५७·५९	७८ ०७	९०·५०
नागरिकनिर्माण कार्य	४०·९३	८९·९२	८४·४५	१०७·३९	१२७·८४
उद्योग एवं पूर्ति	५·८१	१९·७७	२३·८२	३१·६१	३१·९१
अन्य विकास व्यय	११·००	२१·५६	५१·५१	९३·०४	१०६·४९
कुल विकास व्यय	१९६·२१	४८७·१५	६६०·२३	९४१·२९	१०८१·४३
कुल गैर विकास व्यय	१९६·४२	२६७·०४	४६१·०४	६९९·७८	७५९·२१
कुल व्यय	३९२·६३	६५४·१९	११२१·२७	१६४१·०७	१८४०·६४

अब हम राज्य सरकारों के व्यय की मुख्य-मुख्य मदों का विवरण संक्षेप में निम्न पृष्ठों में देंगे :—

(१) **नागरिक प्रशासन**—जब तक भारत में विदेशी राज्य रहा उस समय तक राज्यों का मुख्य कर्त्तव्य देश में शान्ति एवं नियम अनुशासन की ही व्यवस्था करना था और इसलिये सरकारी दफ्तरों, जिलों में प्रशासन-कार्य, पुलिस, जेल और न्यायालयों पर सबसे अधिक व्यय होता था। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद भी, आशा के बिलकुल विपरीत, इस व्यय में कमी होने के स्थान पर वृद्धि ही होती गई। इस वृद्धि के कदाचित दो कारण हो सकते हैं। एक तो सरकारी कार्य-संचालन की वही परम्परागत विधि और दूसरे सरकार के कार्यक्षेत्र में वृद्धि होना। प्रारम्भिक वर्षों में तो कुछ वृद्धि इस कारण भी हुई क्योंकि देश के विभाजन से बड़ी गड़बड़ी हुई और सरकार को उन उपद्रवों को दबाने में बहुत अधिक व्यय करना पड़ा। इसके अतिरिक्त देश में संसदात्मक सरकार के विकास से सरकार के खर्चों में और भी वृद्धि हुई। इस प्रकार जबकि सन् १९३८--३९ में केवल २७ करोड़ रुपया इस मद पर खर्च होता था सन् १९५१--५२ में १०५·६५ करोड़ रुपया खर्च हो रहा था। यह ध्यान रहे कि सन् १९३८--३९ में जबकि नागरिक प्रशासन व्यय राज्यों के कुल व्यय का ३३% था सन् १९५१--५२ में २४·५% रह गया था। सन् १९६१--६२ में नागरिक प्रशासन व्यय की कुल राशि १८५·३६ करोड़ रुपया थी, अर्थात् कुल व्यय का १४%। इस प्रकार हमने देखा कि यद्यपि व्यय की राशि में तो वृद्धि हो रही है परन्तु नागरिक व्यय का राज्यों के कुल व्यय में प्रतिशत कम होता जा रहा है। यह एक अच्छा चिह्न है। सन् १९६२--६३ में इस मद पर व्यय का कुल व्यय में प्रतिशत गिर कर १३·५ रह गया था। सन् १९६५--६६ में कुल व्यय इस मद पर २४७·०२ करोड़ रु० होने का अनुमान था।

(२) **शिक्षा**—हमारे देश में शिक्षा का स्तर तथा शिक्षित व्यक्तियों की संख्या कितनी कम है इस सम्बन्ध में यहाँ पर वाद-विवाद करना उचित न होगा। हमारे देश के आर्थिक और सामाजिक उत्थान में शिक्षा की कितनी आवश्यकता है हम सभी इससे परिचित हैं। इसी दृष्टि से भारत के संविधान में भी इस बात की व्यवस्था की गई है कि संविधान लागू होने के १० वर्षों के अन्दर ६ से ११ वर्ष की आयु तक के बच्चों को निःशुल्क तथा अनिवार्य शिक्षा प्रदान करने की व्यवस्था राज्य की ओर से की जायेगी। यद्यपि चारों ओर से यही प्रयत्न हो रहे हैं कि संविधान द्वारा निर्धारित लक्ष्य की पूर्ति हो जाय, परन्तु यह सम्भव नहीं है कि इस उद्देश्य की पूर्ति हो सके। सन् १९५१--५२ से अब तक शिक्षा-सम्बन्धी व्यय में ४००% से अधिक की वृद्धि की जा चुकी है किन्तु अभी भी हम अपने लक्ष्य से बहुत दूर हैं।

(३) **स्वास्थ्य**—भारत में स्वास्थ्य का स्तर भी न्यूनतम है। पंचवर्षीय योजनाओं में अनेक कार्यक्रम सम्मिलित किये गये हैं, जिनमें पानी तथा नालियों की व्यवस्था करना, मलेरिया को रोकना, ग्रामीण जनता के लिए स्वास्थ्य सुविधाएँ प्रदान

करना, औरतों तथा बच्चों के लिए स्वास्थ्य सेवाओं की व्यवस्था करना, डाक्टरों, नर्सों इत्यादि के लिए प्रशिक्षण का प्रबन्ध करना, दवाइयों के क्षेत्र में अनुसन्धान-कार्य की व्यवस्था करना और Antibiotics बनाने तथा डी० डी० टी० बनाने के कारखाने स्थापित करने थे। यद्यपि १९५१--५२ से १९६५ तक जनस्वास्थ्य तथा चिकित्सा पर व्यय में ३५०% से अधिक की वृद्धि हुई है, फिर भी इस दिशा में अभी बहुत कुछ करना है।

(४) **कृषि, सिंचाई, ग्रामीण विकास इत्यादि**—भारत एक कृषि-प्रधान देश है। यहाँ पर कृषि-सम्बन्धी समस्याओं को सुलझाने की शक्ति कृषक में नहीं है इसीलिए भारतीय कृषि बहुत पिछड़ी हुई अवस्था में है। प्रथम पंचवर्षीय योजना में कृषि विकास पर तथा सिंचाई योजनाओं पर सबसे अधिक धन व्यय किया गया था। दूसरी योजना में औद्योगिक विकास की ओर अधिक ध्यान देने के कारण व्यय की राशि कुछ कम हो गई है।

हमारे देश में ग्रामीण विकास कार्यक्रम की मुख्य विशेषता सामुदायिक विकास योजनाएँ हैं जिनके द्वारा ग्रामवासियों में अपनी उन्नति आप करने की भावना उत्पन्न की जा रही है। दूसरी विशेषता यह है कि कृषि एवं ग्रामीण विकास के लिए सहकारी आन्दोलन को बढ़ाने की ओर सरकार बहुत अधिक ध्यान दे रही है। इसके अतिरिक्त सरकार ने आर्थिक समानता स्थापित करने के लिए ज़मींदारी तथा जागीरदारी का उन्मूलन कर दिया है। इसीलिए इन कार्यक्रमों पर राज्यों को काफी खर्चा करना पड़ रहा है। इन मदों पर होने वाले व्यय में १९५१--५२ तथा १९६५ के बीच के काल में ३७०% से अधिक की वृद्धि हुई है, किन्तु खाद्यान्न के उत्पादन में आशातीत वृद्धि नहीं हो पाई है। स्पष्ट है कि अभी इस ओर पहले से भी अधिक प्रयत्न करने की आवश्यकता है।

(५) **उद्योग**—अपने-अपने राज्यों में स्थित उद्योगों को विकसित करने का दायित्व राज्य सरकारों पर है। राज्य सरकारों को विशेष रूप से कुटीर तथा लघु उद्योगों का विकास करना है और साधारणतया बड़े और मध्यम उद्योगों को सहायता देना है। कुटीर तथा लघु उद्योगों के विकास के लिए प्रशिक्षण, वित्त और व्यय-सम्बन्धी सुविधाओं की ओर ध्यान देना राज्य सरकारों का परम कर्त्तव्य है। सन् १९५१--५२ से १९६५--६६ के काल में उद्योगों के विकास-सम्बन्धी व्यय में ६००% से भी अधिक की वृद्धि हुई है। १९५१--५२ में कुल व्यय ५·८१ करोड़ था और १९६५--६६ में ३१·९१ करोड़ रु० होने की आशा थी।

(६) **सार्वजनिक निर्माण-कार्य**—इस मद में मुख्यतया सड़कों के बनवाने का व्यय सम्मिलित है। हमारे देश में जहाँ लगभग ८०% जनता ग्रामों में रहती है सड़कों का जो महत्व है उसको हर कोई जानता है। परन्तु दुःख की बात यह है कि भारत के स्वतन्त्र होने से पहले सड़कों की ओर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया गया। आर्थिक विकास कार्यक्रम की प्रगति के साथ-साथ तो सड़कों का महत्व और भी अधिक होता जा रहा है। इसलिए प्रथम योजना में राज्यों द्वारा २५७·६ करोड़

रुपयों के व्यय की व्यवस्था की गई थी और दूसरी योजना में सब राज्यों को मिलाकर २७९·१४ करोड़ रुपये खर्च हुए थे। दूसरी योजना-काल में ग्रामीण सड़कों की ओर विशेष रूप से ध्यान दिया गया।

यदि राज्यों के व्यय का अध्ययन उसी प्रकार दो भागों में विभाजित करके करें जैसे संघ सरकार के व्यय का अध्ययन हम पिछले पृष्ठों में कर चुके हैं तो स्थिति का अधिक अच्छा स्पष्टीकरण हो सकेगा। अतः राज्यों के खर्चे दो प्रकार के होते हैं, प्रथम आय-सम्बन्धी व्यय और द्वितीय पूँजीगत व्यय।

(१) **आय-सम्बन्धी व्यय**—इस खाते में सब राज्यों का कुल व्यय १९५१-५२ में ३९२·९३ करोड़ रुपये था जो १९६४-६५ में बढ़कर १६४१·०७ करोड़ रुपये हो गया था। और सन् १९६५-६६ में १८४० करोड़ हो जाने की आशा थी। परन्तु विकास-सम्बन्धी व्यय में जो १९६·२१ करोड़ रुपयों से बढ़कर ९४१·२९ करोड़ रुपये हो गया, और सन् १९६५-६६ में १०८१·४३ करोड़ हो जाने का अनुमान था, बहुत अधिक वृद्धि हुई अपेक्षाकृत गैर विकास-सम्बन्धी व्यय के, जो १९६·४२ करोड़ रुपयों से बढ़कर ६९९·७८ करोड़ रुपये हो गया था। और सन १९६५-६६ में ७५९·२१ करोड़ हो जाने का अनुमान था।
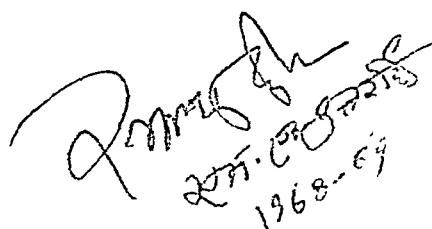
इन तालिकाओं से स्पष्ट है कि यद्यपि गैर-विकास सम्बन्धी व्यय में आनुपातिक कमी होती जा रही है फिर भी यह व्यय काफी अधिक है, जिसके परिणामस्वरूप राज्य सरकारें दूसरी पंचवर्षीय योजना के व्यय को पूरा करने में असमर्थ रहीं और जनता को सरकार के व्यय से पूरा लाभ प्राप्त नहीं हो सका है। जितनी आशा की जाती थी, राज्य सरकारें अपने गैर-विकास सम्बन्धी व्यय में उतनी कमी नहीं कर पाई हैं। गैर-विकास सम्बन्धी व्यय नागरिक सेवाओं तथा अन्य मदों पर बढ़ता गया है किन्तु अकाल-सम्बन्धी व्यय में अपेक्षाकृत कमी हुई है।

जहाँ तक विकास-सम्बन्धी व्यय का प्रश्न है, सबसे अधिक वृद्धि शिक्षा सम्बन्धी व्यय में हुई है। इसके बाद सिंचाई, चिकित्सा एवं जन-स्वास्थ्य, कृषि, पशु-सम्बन्धी तथा सहकारिता और ग्रामीण तथा सामुदायिक विकास का नम्बर है।

(२) **पूँजीगत व्यय**—संघ सरकार की भाँति राज्य सरकारों के पूँजीगत व्यय को भी दो भागों में विभाजित किया जाता है :—विकास तथा गैर-विकास। विकास-सम्बन्धी व्यय के अन्तर्गत निम्न मदों पर होने वाला व्यय सम्मिलित किया जाता है। बहुद्देश्यीय नदी योजनायें, जल-विद्युत, सिंचाई तथा नौकाचालन, कृषि सुधार एवं अनुसंधान, सड़क यातायात, औद्योगिक विकास इत्यादि। पंचवर्षीय योजनाओं के कारण पिछले वर्षों में इन मदों पर होने वाले व्यय में बहुत वृद्धि हुई है। सभी राज्यों का विकास व्यय जो सन् १९५१–५२ में १००·२९ करोड़ रु० था वह सन् १९६४–६५ में बढ़कर ४२९·३५ करोड़ रु० हो गया और बजट अनुमानों के अनुसार १९६५–६६ में इसके ४०९·०९ करोड़ रु० हो जाने की आशा है। कुल पूँजीगत व्यय सन् १९६४-६५ में ४८०·४१ करोड़ रु० था और सन् १९६५–६६ में ४३७·५२ करोड़ रु० होने का अनुमान है। गैर-विकास व्यय की मुख्य मदें, राजकीय

व्यापार, जमींदारी उन्मूलन के कारण जमींदारों को दिया जाने वाला मुआवजा है। यह व्यय सन् १९५१–५२ में २७·२८ करोड़ रु० था, और सन् १९५६–५७ में कम होकर केवल १·८० करोड़ रु० रह गया था। किन्तु पुनः इसमें वृद्धि होनी आरम्भ हुई और सन् १९६१–६२ में ५·१० करोड़ रु०, सन् १९६२–६३ में १५·४४ करोड़ रु० और सन् १९६५–६६ में ३१·४३ करोड़ रु० का अनुमान था।

पूंजीगत बजट में पूंजीगत व्यय के अतिरिक्त अन्य व्यय भी सम्मिलित किये जाते हैं, जैसे राज्य सरकारों द्वारा ऋणों, स्थायी ऋणों का भुगतान, केन्द्रीय सरकार को ऋणों का भुगतान आदि। राज्य सरकारों का कुल पूंजीगत व्यय पिछले वर्षों में निरन्तर बढ़ता ही रहा है। सन् १९५१–५२ में कुल राशि १८८·७२ करोड़ रु० थी और सन् १९६५–६६ में ११५५·७८ करोड़ रु० हो जाने का अनुमान था।

भाग ३
राजकीय व्यय

अध्याय ७

राजकीय आय के स्रोत
(SOURCES OF PUBLIC REVENUE)

प्राक्कथन—

पिछले पृष्ठों में हम राज्य के निरन्तर बढ़ते हुए कार्यक्षेत्र के विषय का विस्तृत अध्ययन कर ही चुके हैं। हम यह भी देख चुके हैं कि कार्यों की वृद्धि के परिणामस्वरूप ही राजकीय व्यय में वृद्धि हुई है। क्योंकि आय के बिना व्यय सम्भव ही नहीं, इसलिए राज्य को अपनी आय बढ़ाने के लिए नये-नये साधन अधिकाधिक मात्रा में जुटाना भी परमावश्यक है। ये साधन राज्य को देश के भीतर ही ढूँढने पड़ते हैं और मुख्यतया व्यक्तियों के रोज़गार तथा आय के स्तर और उद्योग तथा व्यापार की स्थिति पर निर्भर करते हैं। किन्तु ध्यान रहे कि आय के साधनों से अधिक महत्वपूर्ण राज्य की आय प्राप्त करने की नीति तथा ढंग होते हैं। आजकल आय-सम्बन्धी साधनों का उपयोग केवल आय प्राप्त करने के लिए नहीं वरन् एक सप्रभाविक राजकोषीय (Fiscal) यंत्र के रूप में किया जाने लगा है, विशेषकर उत्पादन, रोज़गार, बचत तथा विनियोगों में वृद्धि करने के लिए। राजकीय आय की नीतियाँ, इस प्रकार विकसित तथा अर्द्धविकसित, दोनों प्रकार की अर्थव्यवस्थाओं के लिए ही महत्वपूर्ण होती हैं और इसीलिए इसके अध्ययन का महत्व है।

'राजकीय आय' वाक्यांश का उपयोग विस्तृत तथा संकीर्ण, दो अर्थ में किया गया है। विस्तृत अर्थ में इसमें सभी प्रकार की प्राप्तियों को सम्मिलित किया जा सकता है, किन्तु संकीर्ण अर्थ में केवल सरकार की वास्तव में प्राप्त होने वाली आय को ही सम्मिलित करते हैं। इस प्रकार विस्तृत अर्थ में हम राजकीय ऋणों को भी सम्मिलित कर सकते हैं, किन्तु राजकीय आय में, संकीर्ण अर्थ में, केवल सरकार की वही

आय सम्मिलित की जायगी जिसे लौटाना न पड़े। अतः हम संकीर्ण अर्थ में राजकीय आय में राजकीय ऋण की प्राप्ति, राजकीय सम्पत्ति के विक्रय से प्राप्त राशि और पत्र मुद्रा प्रकाशन से प्राप्त राशि को सम्मिलित नहीं करेंगे। हम इसी अर्थ में राजकीय आय का अध्ययन अगले पृष्ठों में करेंगे।

राजकीय आय के स्रोत—

राज्य अपनी आय निम्न स्रोतों से प्राप्त करता है :—

(१) कर (Tax) —कर राज्य की आय का मुख्य स्रोत है। प्लैहन[1] (Plehn) के शब्दों में, "कर धन के रूप में दिया गया वह सामान्य अनिवार्य अंशदान है, जो राज्य के निवासियों को सामान्य लाभ पहुँचाने के लिए किए गये व्यय को पूरा करने के लिए, व्यक्तियों से लिया जाता है। कर सामान्य लाभ पहुँचाने के कारण न्यायसंगत कहा जा सकता है, परन्तु उससे मापा नहीं जा सकता।" ठीक इसी प्रकार की परिभाषा सैलिगमैन[2] ने दी है। इनके अनुसार कर एक व्यक्ति का, सरकार के लिए अनिवार्य अंशदान है, उन खर्चों को पूरा करने के लिए जो सब के सामान्य हित में किए जाते हैं, जिसका संकेत विशेष लाभों की प्राप्ति की ओर नहीं होता।" फिलिप्स इ० टेलर[3] ने भी ऐसा ही कहा है कि "वे अनिवार्य भुगतान जो सरकार को, बिना करदाता को किसी प्रत्यक्ष लाभ की आशा के किये जाते हैं, कर हैं।" इन परिभाषाओं में कर की निम्न विशेषताओं की ओर संकेत किया गया है:—

(अ) कर एक अनिवार्य भुगतान है। प्रत्येक व्यक्ति को किसी न किसी रूप में कर का भुगतान अवश्य ही करना होता है। कोई भी व्यक्ति, सरकार द्वारा लगाये कर का भुगतान करने को मना नहीं कर सकता। देश में कदाचित ही कोई व्यक्ति ऐसा हो जिस पर कर न लगाया जाता हो। प्रत्यक्ष कर तो समाज के कुछ ही व्यक्तियों को देना पड़ता है। परन्तु परोक्ष कर तो सब ही व्यक्तियों को वस्तुओं को खरीदते समय देना ही पड़ता है। कर का भुगतान मना करने पर या कर की चोरी करने पर व्यक्ति को सजा दी जाती है। प्राचीन समय में तो किसी व्यक्ति को यह भी अधिकार नहीं था कि वह किसी भी कर के विरुद्ध कुछ कह सके किन्तु आजकल प्रजातन्त्र के युग में संसद के सदस्य तथा व्यक्ति कर की आलोचना कर सकते हैं। यह ध्यान रहे कि सरकार के लिए यह कोई आवश्यक नहीं कि वह इन आलोचनाओं से प्रभावित हो। संक्षेप में कर का भुगतान अनिवार्य होता है।

(ब) कर की आय का उपयोग सामान्य लाभ के लिए किया जाता है। राज्य सब ही नागरिकों का प्रतिनिधित्व करता है। यह अधिकतर ऐसे कार्य करता है, जिनसे सब ही को लाभ हो। अतः कर का उपयोग ऐसे ही कार्यों को सम्पन्न करने में किया जाता है। सरकार इन करों की आय को किसी व्यक्ति या किसी एक जाति या समूह पर व्यय नहीं कर सकती। आजकल इस विशेषता का उल्लेख करने

1. *Introduction to Public Finance*, p. 59.
2. *Essays in Taxation*, p. 432.
3. *The Economics of Public Finance*, p. 240

का कोई विशेष लाभ नहीं क्योंकि राज्य कोई भी काम आजकल ऐसा नहीं करता जिससे सब ही व्यक्तियों को लाभ न होता हो।

(स) सरकार करदाता को कर के बदले में कोई विशेष लाभ प्रदान नहीं करती। प्रत्येक व्यय सामान्य लाभ के लिए किया जाता है। न तो करदाता को किसी प्रत्यक्ष लाभ की आशा ही करनी चाहिए और न सरकार ही किसी करदाता को विशेष लाभ प्रदान करने का प्रयत्न कर सकती है। प्रो० टाज़िग के शब्दों में, "आय के अन्य स्रोतों की तुलना में कर का सार इसी बात में है कि राजकीय अधिकारी और करदाता के बीच में कोई प्रत्यक्ष 'जैसे को तैसा' (*quid pro quo*) के व्यवहार का अभाव होता है।"[4] परन्तु यह बात प्रत्येक कर के सम्बन्ध में सही नहीं है कभी-कभी कर की आय केवल व्यक्तियों के उस समूह पर ही व्यय कर दी जाती है जिनसे वह प्राप्त की गई है, जैसे, पैट्रोल से वसूल किया गया कर सड़कों को ठीक करवाने पर ही खर्च कर दिया जाय। परन्तु यह ध्यान रहे कि यह उदाहरण भी कर की उपर्युक्त विशेषता का अपवाद नहीं है। क्या सड़कों का केवल वे ही लोग उपयोग करते हैं जिनके पास मोटर गाड़ियाँ हैं? इसके अतिरिक्त प्रत्येक व्यक्ति पर कर की दर उस अनुपात में निश्चित नहीं की जाती जिसमें वह सड़क का उपयोग करता है। यदि ऐसा होता तो कर की उपर्युक्त विशेषता पर आपत्ति करना अनुचित नहीं होता। परन्तु पुराने अर्थशास्त्रियों एवं विचारकों ने इस ओर ध्यान ही नहीं दिया। प्राचीन लेखकों में से कुछ का तो विचार यह था कि कर का भुगतान राज्य की उस सेवा के लिए किया जाता है जो वह व्यक्तियों को सुरक्षित रखने के लिए करता है।[5] परन्तु हम सभी जानते हैं कि राज्य रक्षा के अतिरिक्त अन्य बहुत से कार्य और भी करता है और कर का भुगतान केवल राज्य को सामर्थ्य प्रदान करने के लिए किया जाता है ताकि वह इन सब कार्यों को उचित रूप से सम्पन्न कर सके। साथ ही साथ यह भी ध्यान रहे कि राज्य को जो कुछ भी कर के रूप में दिया जाता है वह परोक्ष रूप से फिर व्यक्तियों को ही लौटा दिया जाता है। राज्य नागरिकों का ही सामूहिक रूप है। उसका अस्तित्व व्यक्तियों के अस्तित्व से अलग नहीं है। आधुनिक लेखकों ने भी इस विषय पर सोचने में त्रुटि की है। वे यह सोचते हैं कि राज्य और व्यक्तियों में कर का भुगतान एक प्रकार की विनिमय क्रिया है। व्यक्ति भुगतान करते हैं और राज्य उनको इस भुगतान के बदले में सेवाएँ प्रदान करता है। जैसे कि आधुनिक लेखक प्रो० डि० मार्को का विचार है कि "कर वह मूल्य है जो प्रत्येक नागरिक राज्य को, सामान्य राजकीय सेवाओं, जिनका वह उपभोग करेगा उनकी लागतों में अपने भाग को पूरा करने के लिए देता है।"[6] यह निष्कर्ष उसने इस आधार पर निकाला है कि आधुनिक राज्यों में करारोपण का नियम विनिमय सम्बन्धों की मान्यता पर आधारित है : अर्थात् राज्य को एक भुगतान का विनिमय

4. *Principles of Economics*, p. 485.
5. *Lutz : Public Finance*, p. 262.
6. *First Principles of Public Finance*, p. 113.

राज्य द्वारा प्रस्तुत की गई राजकीय सेवाओं की व्यवस्था के लिए।"[7] परन्तु साधारण से साधारण व्यक्ति इस बात को बता सकता है कि डि० मार्को के ये विचार केवल अनुचित ही नहीं बल्कि भ्रमपूर्ण भी हैं। प्रत्येक देश में अनेकों ऐसे बच्चे होंगे जिनको राज्य की सेवाएँ उपलब्ध होती हैं, जिनका सम्पूर्ण भरण-पोषण राज्य करता है परन्तु वह कोई भी कर नहीं देता जैसे लाखों अनाथ व्यक्ति, पागल, अपाहिज व्यक्ति, लाखों बेकार व्यक्ति, बूढ़े व्यक्ति, विधवा औरतें और नव-शिशु जिनको राज्य से सारी सेवाएँ प्राप्त होती हैं। इसके अतिरिक्त इन लेखकों को यह भी नहीं भूलना चाहिए कि करारोपण का उद्देश्य केवल नागरिकों के लिए सेवाएँ उपस्थित करना ही नहीं है, बल्कि धन की असमानताओं को दूर करना भी है।

(२) राजकीय सम्पत्ति तथा उद्योग—आजकल राज्यों को उद्योगों के संचालन एवं सम्पत्ति के उपयोग से भी काफी आय प्राप्त होती है। अब राज्यों को सम्पत्ति से इतनी आय प्राप्त नहीं होती जितनी पिछली शताब्दियों में होती थी। आजकल जंगलों को ठेके पर देकर या भूमि और खानों को किराए पर देकर सरकार को कुछ आय प्राप्त अवश्य होती है।

गत वर्षों में राज्यों ने उद्योगों का संचालन भी अपने हाथ में लेना आरम्भ कर दिया है और धीरे-धीरे यह आय का एक बहुत बड़ा स्रोत बनते जा रहे हैं। यह ध्यान रहे कि उद्योगों के संचालन में राज्य का उद्देश्य आवश्यक रूप से आय प्राप्त करना नहीं होता। राज्य उद्योगों का संचालन अनेकों दूसरे महत्त्वपूर्ण कारणों से करता है।

कुछ उद्योग तो राज्य इसलिए चलाता है कि यदि वे निजी व्यक्तियों द्वारा चलाए जायें तो उनमें उपभोक्ताओं का शोषण होने का भय रहता है, जैसे जनोपयोगी सेवायें—यातायात, पानी, बिजली, डाक, तार आदि की व्यवस्था। कुछ उद्योग राज्य इसलिए चलाता है क्योंकि निजी व्यक्ति उनको चलाना नहीं चाहते या उनमें सामर्थ्य नहीं होती, जैसे रेलों की व्यवस्था। कुछ उद्योग राष्ट्रीय महत्त्व के होते हैं या जिनकी सूचना गुप्त रखने की आवश्यकता होती है। यह आवश्यक होता है कि राज्य ही उनका संचालन करे जैसे युद्ध सम्बन्धी उद्योग। कुछ उद्योग राज्य केवल उपभोग को नियमित करने के उद्देश्य से चलाता है जैसे अफीम, गाँजा इत्यादि का उत्पादन एवं विक्रय। राज्य उद्योगों का संचालन समाजीकरण की नीति के अधीन भी करता है। चाहे जो भी उद्देश्य हो राज्य को इस स्रोत से काफी आय प्राप्त होती है।

इस प्रकार के स्रोतों में "जैसे को तैसा" का अंश होता है। नागरिक, राज्य से प्रत्यक्ष सेवाएँ और वस्तुएँ प्राप्त करते हैं और उनके लिए मूल्य चुकाते हैं। यह मूल्य सेवा की मात्रा के अनुसार उपभोक्ताओं को चुकाने पड़ते हैं। जैसे बसों और मोटरों के किराये मील के अनुसार लिए जाते हैं और बिजली की शक्ति का मूल्य प्रति १००० वाट की एक इकाई मानकर लिया जाता है। इस प्रकार की सेवाओं का मूल्य सुगमता से निश्चित हो सकता है। 'कर' और मूल्य में यही अन्तर है।

7. *Ibid.* pp. 112-113.

राज्य को इन सेवाओं का कितना मूल्य लेना चाहिए ? इस प्रश्न पर काफी मतभेद दीखता है। वास्तव में इसमें मतभेद की कोई गुन्जाइश नहीं है। मूल्य लागतों से न बहुत अधिक ऊँचे और न कम होने चाहिए। यदि मूल्य अधिक ऊँचे होंगे तो उपभोक्ताओं को शोषण से बचाने का उद्देश्य ही पूरा न होगा, और यदि कम होंगे तो सामान्य आय के स्रोतों पर यह उद्योग एक प्रकार का भार हो जायगे और उनके घाटे की पूर्ति सामान्य स्रोतों की आय में से करनी होगी। पहली स्थिति में तो उपभोक्ताओं को कोई लाभ प्राप्त नहीं होगा और दूसरी स्थिति में वस्तुएँ तो अवश्य ही सस्ती मिलेंगी पर देश में कर-भार बढ़ जायेगा, क्योंकि उद्योगों के घाटों को पूरा करने के लिए कर की दर बढ़ानी पड़ेगी। अतः दोनों ही स्थितियाँ ठीक नहीं हैं। इसलिए सबसे उत्तम स्थिति यही होगी कि उद्योगों का संचालन इस प्रकार हो कि न लाभ हो और न हानि। यदि कुछ लाभ प्राप्त हो जाये तो इसमें कुछ हानि भी नहीं है। परन्तु किस प्रकार की नीति अपनाई जाये—यह परिस्थितियों पर निर्भर करेगा। यदि दूरदर्शिता यह चाहती है कि देश के कल्याण में वस्तुओं को लागत से भी कम बेचा जाये तो सरकार को यह ही नीति अपनानी पड़ेगी। लाभ की अपेक्षा समाज का कल्याण अधिक स्वच्छ उद्देश्य है। परन्तु जनोपयोगी सेवाओं में एक नये प्रकार की समस्या उपस्थित होती है। इन सेवाओं की प्रकृति एकाधिकार की होती है इसलिए मूल्यों और करों में भेद करना सरल नहीं होता। ऐसी वस्तुओं के मूल्य के उस भाग में, जो लागतों से अधिक होता है, और ऐसी वस्तुओं के कर में—इन दोनों में भेद नहीं किया जा सकता।[8]

(३) **प्रशासन-सम्बन्धी आय**—फीस, विशेष निर्धारण (Special Assessments) जुर्माना व दण्ड आदि स्रोतों से सरकार को जो आय प्राप्त होती है वह प्रशासन-सम्बन्धी आय कहलाती है। वास्तव में इन सब आयों को मोटे तौर पर एक शीर्षक में सम्मिलित कर देना ठीक भी है क्योंकि ये सब आय सरकार के प्रशासन-कार्यों के कारण उत्पन्न होती हैं।

(अ) **फीस**—जब किसी व्यक्ति से, सरकार द्वारा प्राप्त होने वाले किसी विशेष लाभ के बदले, पूरी अथवा आंशिक लागत ले ली जाती है, तो इस प्रकार के अनिवार्य भुगतान को फीस कहते हैं। फीस भी 'कर' की भांति एक अनिवार्य भुगतान है, परन्तु यह एक विशेष लाभ की लागत होती है, जबकि 'कर' के बदले में कोई विशेष लाभ प्राप्त नहीं होता। फीस किसी व्यापारिक सेवा का भुगतान नहीं वरन् प्रशासन-सम्बन्धी या न्याय-सम्बन्धी सेवाओं का भुगतान है। फीस के सम्बन्ध में एक विशेष बात यह भी है कि यह सेवा के मूल्य से अधिक नहीं होती। जो फीस सेवा के मूल्य से अधिक होती है उसमें फीस तथा विशेष निर्धारण भी सम्मिलित होता है। सैलिगमैन के शब्दों में फीस, "एक भुगतान जो सरकार द्वारा प्रदान की गई प्रारम्भिक रूप से जनहित में, परन्तु फीस दाता को विशेष लाभ पहुँचाते हुए, बार-बार उत्पन्न

8. Dalton : *Public Finance*, p 27.

होने वाली प्रत्येक सेवा की लागत को पूरा करने के लिए दी जाती है।"[9] प्लेहन के अनुसार, "फीस वन के रूप में वह अनिवार्य अंशदान है जो कि किसी व्यक्ति को, चाहे वह प्राकृतिक हो या मिलकर बनाया गया हो, राजकीय अधिकारी की आज्ञा से सरकार से किसी कार्य में लगे खर्चे के किसी अंश या सबका भुगतान करने के लिए देना पड़ता है; यह जहाँ सामान्य लाभ पहुंचाता है वहाँ एक विशेष लाभ भी पहुँचाता है।"[10]

(ब) **लाइसेन्स फीस**—कुछ लेखकों ने फीस और लाइसेन्स फीस में भेद किया है। साधारण बोल-चाल में और व्यावहारिक जीवन में तो इस प्रकार का भेद देखने में नहीं आता। इन लेखकों के अनुसार फीस उन मामलों में दी जाती है जबकि वास्तव में कोई सेवा सम्पन्न की जाती है, अर्थात् जब वास्तव में सरकारी कर्मचारी कोई क्रिया करता है और लाइसेन्स फीस उन मामलों में दी जाती है जबकि सरकारी अधिकारी स्वयं क्रिया न करके किसी व्यक्ति को आज्ञा दे देता है या अधिकार सौंप देता है।[11] लाइसेन्स फीस में नियमन एवं नियन्त्रण का अंश भी छिपा हुआ है। समाज-हित में कुछ सेवाओं को सम्पन्न करने के लिए केवल कुछ ही व्यक्तियों को अधिकार दिया जाता है और लाइसेन्स द्वारा इन व्यक्तियों की क्रियाओं को नियमित किया जाता है जैसे मादक पेयों एवं वस्तुओं के विक्रय के लिए या बन्दूक प्रयोग करने के लिए लाइसेन्स दिये जाते हैं और लाइसेन्स फीस ली जाती है। इसीलिए यदि कोई व्यक्ति लाइसेन्स फीस का भुगतान करना भूल जाये तब वह उन क्रियाओं को नहीं कर सकता जिनके लिए उसे अधिकार प्राप्त था।

(स) **विशेष निर्धारण**—जब किसी राजकीय अधिकारी की क्रियाओं के परिणामस्वरूप किसी व्यक्ति की सम्पत्ति का मूल्य बढ़ जाये तो ऐसी मूल्य-वृद्धि को बिना कमाई हुई वृद्धि (unearned increment) कहेंगे। यदि राजकीय अधिकारी इस वृद्धि पर कर लगा दे तो उसे विशेष निर्धारण कहेंगे। सैलिगमैन के अनुसार विशेष निर्धारण, "एक अनिवार्य अंशदान है जो प्राप्त हुए विशेष लाभों के अनुपात में लगाया जाता है ताकि जनहित में सम्पत्ति पर विशेष सुधार करने की लागतें पूरी हो जायें।"[12] उदाहरणार्थ यदि किसी शहर में नगरपालिका कोई नई सड़क बना दे या पार्क बना दे तब व्यक्तियों को इससे विशेष लाभ प्राप्त होगा, जिसके लिए नगरपालिका विशेष निर्धारण करेगी। सर्वप्रथम इसका उपयोग अमेरिका में हुआ था।

विशेष निर्धारण और कर में कुछ मौलिक समानताएँ हैं—दोनों में जनहित का अंश विद्यमान है और दोनों ही अनिवार्य हैं। इसके अतिरिक्त दोनों में कुछ महत्वपूर्ण भिन्नताएँ भी होती हैं। कर से प्राप्त आय सामान्य लाभ में व्यय की

---

9. *Op. Cit.*, p. 432.
10. *Op. Cit*,, p. 60.
11. Lutz : *Op. Cit.*, p. 293.
12. *Op. Cit.*, p. 411.

जाती है, जबकि विशेष निर्धारण की आय केवल विशेष स्थानीय सुधारों के ही काम में आती है। विशेष निर्धारण से प्राप्त लाभ को आंका जा सकता है, जबकि कर के लाभ को ज्ञात नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त कर का निर्धारण किसी निश्चित आधार पर होता है। जैसे, आय, सम्पत्ति, उपभोग, परन्तु विशेष निर्धारण लाभ के अनुपात में लगाया जाता है। इन दोनों में एक भेद यह भी है कि कर की आय को किसी प्रकार भी खर्च किया जा सकता है, परन्तु विशेष निर्धारण केवल समाज की स्थायी पूँजी की मात्रा बढ़ाने के लिए ही व्यय किया जा सकता है। अन्त में, कर कोई विशेष लाभ प्रदान नहीं करता, जबकि विशेष निर्धारण करता है।

इसी प्रकार विशेष निर्धारण फ़ीस से भी भिन्न है। प्रथम, विशेष निर्धारण केवल विशेष स्थानीय सुधारों के लिए लगाये जाते हैं परन्तु फ़ीस प्रशासन-सम्बन्धी कार्यों के लिए ली जाती है। विशेष निर्धारण कुछ व्यक्तियों पर एक साथ लगाए जाते हैं, अर्थात्, जब अचल सम्पत्ति पर सुधार होने से एक स्थान पर रहने वाले लोगों को लाभ पहुँचता है तो सब ही पर विशेष निर्धारण होंगे, परन्तु फीस व्यक्तियों पर व्यक्तिगत रूप में लगती है और इसमें केवल व्यक्ति-विशेष को होने वाले लाभ के अनुसार फीस का भुगतान करना होगा। इसके अतिरिक्त फीस की दर निश्चित रहती है परन्तु विशेष निर्धारण में सुधार से प्राप्त होने वाले लाभ के अनुपातों में भुगतान की राशि निर्धारित होती है। विशेष निर्धारण केवल सम्पत्ति के मूल्य में वृद्धि होने की स्थिति में ही देना होता है परन्तु फीस किसी भी प्रकार के प्रबन्ध से उत्पन्न होने वाले लाभों के लिए दी जाती है। विशेष निर्धारण केवल एक बार ही देना पड़ता है परन्तु फीस का भुगतान बार-बार होता है।

विशेष निर्धारण बहुधा मनमाना होता है। इसलिए विशेष निर्धारण के सम्बन्ध में कुछ समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। इन समस्याओं को दूर करने के लिए कुछ सिद्धान्त प्रतिपादित किए गए हैं परन्तु उनका केवल सैद्धान्तिक महत्व ही है। व्यवहार में प्रत्येक देश में स्थानीय अधिकारियों ने अपनी-अपनी सुविधानुसार नियम बना लिए हैं। प्रथम समस्या तो यह उत्पन्न होती है कि किस प्रकार और किस सीमा तक व्यक्तियों को विशेष निर्धारण का भुगतान करने के लिए बाध्य किया जा सकता है? इस प्रकार की सीमा का निर्धारण तो बहुत कठिन है परन्तु सामान्य रूप से विशेष निर्धारण में न्याय का अंश लाने के लिए, सुधार-सम्बन्धी योजना के बारे में स्थान-विशेष पर रहने वालों को बता दिया जाता है। यदि स्थान के अधिकांश व्यक्ति उस योजना को स्वीकार कर लेते हैं तो योजना कार्यान्वित की जायेगी वरना नहीं। जिन व्यक्तियों की सम्पत्ति को हानि होती है उन्हें मुआवजा दिया जाता है। जिनको लाभ होता है उन पर विशेष निर्धारण लगा दिया जाता है। इस सम्बन्ध में दूसरी समस्या यह है कि यदि सुधार-सम्बन्धी किसी योजना से सारे नगरवासियों को भी लाभ होता है और सुधार होने वाले स्थान पर रहने वाले व्यक्तियों को विशेष लाभ प्राप्त होता है तब विशेष निर्धारण कैसे किया जाए? जैसे, यदि किसी स्थान पर पार्क बन जाए या किसी सड़क को पक्का मोटर चलाने योग्य बना दिया जाए तो

ऐसी स्थिति में सुधार के खर्चों को कुछ तो स्थानीय अधिकारी सहन करेंगे और कुछ विशेष निर्धारण के रूप में लाभ प्राप्त करने वाले व्यक्तियों से वसूल किया जाएगा। दोनों में क्या अनुपात होगा, यह निर्धारित करना कठिन है और अधिकतर स्थानीय परिस्थितियों पर निर्भर करता है। अन्तिम समस्या यह है कि कुल व्यय को व्यक्तियों में किस अनुपात में बाँटा जाये? यह भी एक गम्भीर समस्या है और इसमें मनमानेपन का अंश बहुत अधिक ह त । प्रत्येक स्थान पर अलग-अलग आधार निश्चित कर लिए जाते हैं। कहीं पर लाभ प्राप्त करने वाली सम्पत्ति के मूल्यानुसार, कहीं पर सुधार-विशेष से निकटतानुसार, कहीं पर लाभ की मात्रानुसार, इसी प्रकार के अन्य आधारों पर विशेष निर्धारण की मात्रा निश्चित कर ली जाती है। यद्यपि विशेष निर्धारण में मनमानेपन का काफी अंश है, और कभी-कभी तो केवल लालच से ही स्थानीय अधिकारी सुधार की सोचते हैं और अनावश्यक व्यय कर देते है, या कभी-कभी स्वयं व्यक्ति भूमि खरीद कर विशेष निर्धारण द्वारा सुधार करवा कर ऊंचे मूल्यों पर लाभ कमाने के लालच से बेच सकते हैं और इसी प्रकार की अन्य बुराइयां हैं। परन्तु आजकल विशेष निर्धारण का विशेष महत्व है और इसी को अनेकों प्रकार से नवीन स्थानीय सुधारों का श्रेय प्राप्त है।

(द) **जुर्माना एवं सम्पत्ति को जब्त कर लेना**—जब देश के नागरिक सरकार द्वारा बनाए हुए नियमों को तोड़ते हैं या उल्लंघन करते हैं तो सरकार उन पर जुर्माना लगाती है। यह आय का बहुत ही मामूली सा साधन है और इसका उद्देश्य लाभ कमाना होता भी नहीं है। यह तो केवल व्यक्तियों को कानून तोड़ने से रोकने के लिए लगाया जाता है। इसी प्रकार जब कोई व्यक्ति बिना उत्तराधिकार के या बिना वसीयतनामा लिखे मर जाता है तब ऐसे व्यक्ति की सम्पत्ति सरकार जब्त कर लेती है। सरकार, इस अधिकार के अन्तर्गत अन्य प्रकार की सार्वजनिक सम्पत्ति, जिसका कोई भी वारिस या देखभाल करने वाला न हो, भी जब्त कर लेती है। प्रायः यह आय का स्रोत केवल नाममात्र ही है।

(६) **उपहार एवं अनुदान** (Gifts and Grants)—सरकार को कुछ आय उपहारों एवं अनुदानों से भी प्राप्त हो जाती है। प्रत्येक देश में कुछ उदार हृदय वाले व्यक्ति, कुछ देशभक्त, कुछ सरकार से सहानुभूति रखने वाले व्यक्ति होते हैं जो सरकार को उपहार, भेंट करते रहते हैं। ये उपहार राजकीय कार्यों के लिए नहीं दिये जाते हैं वरन् विशेष कार्यों के लिए दिये जाते हैं–जैसे युद्ध संचालन, अकालपीड़ितों की सहायता के लिए, स्कूल खोलने के लिए, अस्पताल बनवाने के लिए इत्यादि। यह उपहार स्वेच्छा से दिये जाते हैं और व्यक्तियों पर किसी प्रकार का दबाव नहीं होता। परन्तु युद्ध तथा अन्य राष्ट्रीय आपत्ति में इनमें दबाव का अंश विद्यमान होता है, चाहे, ऊपर से देखने में यही मालूम हो कि उपहार देने वाला अपनी इच्छा से दान या उपहार दे रहा है। आधुनिक काल में इसका कोई भी महत्व नहीं है।

अनुदान, एक सरकार को दूसरी सरकार से प्राप्त आर्थिक सहायता होती है।

अनुदान देश की मुख्य सरकार द्वारा अधीन या द्वितीय सरकार को भी दिए जाते हैं। इनका महत्व अधिकतर संघीय संविधान वाले देशों में अधिक है। अधिकांश देशों में यह स्थानीय सरकारों की आय का एक महत्वपूर्ण स्रोत है। आजकल अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में ऐसे अनुदानों का महत्व बहुत अधिक हो गया है। अधिकतर उन्नत देश अनुन्नत या कम विकसित देशों को अनुदानों के रूप में आर्थिक सहायता देते हैं। यह सैनिक सहायता, विकास सहायता, या अन्य रूपों में भी दी जाती है।

अब हम कुछ अन्य लेखकों के मतों का अध्ययन करेंगे।

राजकीय आय का वर्गीकरण—

राजकीय आय का वर्गीकरण भिन्न-भिन्न प्रकार से किया गया है। हर लेखक ने अलग-अलग दृष्टिकोण अपनाया है। सबसे सरल वर्गीकरण निम्न प्रकार किया जा सकता है[13] :—
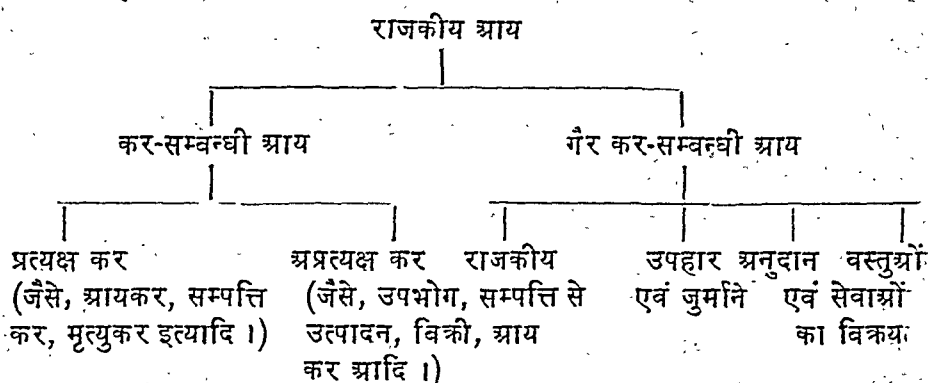
प्रो० **सैलिगमैन** ने राजकीय आय को निम्न भागों में बांटा है :—

(अ) स्वयं इच्छा से दी गई आय (Gratuitous Revenue) जैसे उपहार, चन्दे इत्यादि। (ब) प्रसंविदिक आय (Contractual Revenue) जैसे भूमि, सम्पत्ति के किरायों की आय, व्यापार तथा उद्योगों के मुनाफों की आय अर्थात् रेल, डाक व तार, टेलीफून, नहर, बिजलीघर, लोहे, कपड़े आदि के कारखाने, आदि के मूल्य एवं मुनाफे। (स) अनिवार्य आय (Compulsory Revenue) जैसे जुर्माने तथा दण्ड से, फीस, विशेष निर्धारण से प्राप्त आय।

बैस्टेबिल ने राजकीय आय के दो भाग किये हैं[14]:—

(क) वह आय जो राज्य को एक बड़ा प्रमण्डल होने के नाते तथा जनता को वस्तुएँ अथवा सेवाएं उपलब्ध करने के कारण प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त जब राज्य न्यायाधीश के रूप में कार्य करता है और इस कार्य से उसे जो आय प्राप्त होती है वह भी इसी के अन्तर्गत सम्मिलित है।

(ख) वह आय "जो राज्य अपनी सत्ता के कारण समाज की आय में से ले लेता है।"

एडम्स ने राजकीय आय को निम्न प्रकार विभाजित किया है :—

33. Reserve Bank of India : *Report on Currency and Finance, Bombay.*
44. *Op, Cit.*, Book 2, P. 154.

राजकीय आय
प्रत्यक्ष (Direct)
व्युत्पादित (Derivative)
अनुमानजनक (Anticipatory)
राजकीय क्षेत्र (Public Domain)
राजकीय उद्योग (Public Industries)
उपहार (Gifts)
जब्त तथा हरजाने (Confiscation) and Indemnities)
साख विपत्रों की बिक्री (Sale of Bonds etc.)
कोषागार पत्र (Treasury Notes)
कर (Taxes)
फीस, जुर्माने, दण्ड तथा विशेष निर्धारण (Fees, Fines, Penalties and Assessment)
प्रत्यक्ष (Direct)
अप्रत्यक्ष (Indirect)
व्यक्तिगत (Personal)
सम्पत्तिगत (Properties)
उपभोग कर (Consumption Taxes)
वस्तु कर (Taxes on Commodities)
पूंजी मूल्य (Capital Value)
वार्षिक मूल्य (Annual Value)
उत्पादन कर (Excise)
सीमा कर (Customs)
आयात (Imports)
निर्यात (Exports)

लुट्ज के अनुसार राजकीय आय इन स्रोतों से प्राप्त होती है—(१) व्यापारिक क्रियाएँ; (२) प्रशासनिक कार्य; (३) कर; (४) ऋण; (५) आर्थिक सहायता (Subventions) तथा अनुदान (Grants); और (६) हस्तान्तरण। यद्यपि लुट्ज ने ऋणों को भी राजकीय आय का एक स्रोत माना है, किन्तु आगे चलकर उसने यह स्वीकार कर लिया है कि ऋणों द्वारा राज्य को वास्तविक आय प्राप्त नहीं होती और "दीर्घकाल में वास्तविक आय करों तथा व्यक्तियों की चालू आय में से प्राप्त राशियों से प्राप्त होती है।[15]

टेलर ने सम्भवत: लुट्ज के वर्गीकरण की त्रुटियों को हटाकर राजकीय आय को चार स्रोतों से प्राप्त होने वाली आय बताया है। उसके अनुसार ये स्रोत—(१) अनुदान तथा उपहार; (२) प्रशासनिक कार्य; (३) व्यापारिक क्रियाएँ तथा (४) कर हैं।[16]

राजकीय आय के स्रोतों का वर्णन करते हुए डाल्टन ने निम्न वर्गों में राजकीय आय को विभाजित किया है :—

(१) कर। (२) उपहार तथा हर्जाने (tribute and indemnity), जो युद्ध या अन्य कारणों से उत्पन्न होते हैं। (३) बलात्-ऋण (forced loans) जैसे कि प्राचीनकाल में राजा जनता पर दबाव डाल कर लेते थे।(४) न्यायालयों द्वारा लगाये गये दण्ड। (५) सार्वजनिक सम्पत्ति, जैसे खेतों, मकानों आदि से प्राप्त आय। (६) राजकीय उद्योगों से प्राप्त आय। (७) फीस तथा अन्य भुगतान जो उन सेवाओं के लिए दिये जाते हैं जो सरकार केवल व्यावसायिक दृष्टिकोण से ही नहीं करती वरन् जिनका सम्पन्न करना उसके लिए, एक प्रशासक के नाते आवश्यक होता है। (८) स्वेच्छा से दिये गये राजकीय ऋणों से प्राप्त आय। (९) ऐसे उपक्रमों की आय, जिनमें सरकार अपनी एकाधिकारी शक्ति का प्रयोग करके मूल्यों को स्पर्धा-स्तर से ऊँचा रखती है, जैसे मादक पेयों या वस्तुओं का उत्पादन एवं विक्रय, विद्युतशक्ति एवं अणुशक्ति का उत्पादन एवं वितरण। (१०) विशेष निर्धारणों से प्राप्त आय। (११) छापेखानों का मुनाफा जबकि इनका उपयोग सरकारी खर्चों को पूरा करने के लिए पत्र मुद्रा छापने के लिए किया जाता है। (१२) अपनी इच्छा से दिए गए उपहार (Voluntary gifts)

ऊपर हमने विभिन्न लेखकों द्वारा प्रस्तुत किए गए राजकीय आय के स्रोतों का अध्ययन किया, परन्तु सब ही ने अधिकतर उन्हीं मुख्य स्रोतों का उपविभाजन कर दिया है, जिनका वर्णन हमने आरम्भ में किया था, अर्थात् जो टेलर ने प्रस्तुत किया है। हमने यह भी देखा कि इन सब ही स्रोतों में कर का प्रमुख स्थान है। हम कर-सम्बन्धी अन्य बातों का अध्ययन अगले अध्यायों में करेंगे।

—: ० :—

---

15. Lutz, *Op. Cit.*, pp. 146—147
16. Philips. E. Taylor. *Op. Cit.*, p. 206.

अध्याय ८

करारोपण के सिद्धान्त एवं रूप
(PRINCIPLES AND FORMS OF TAXATION)

करारोपण के उद्देश्य—

पिछले अध्याय में हमने यह देखा है कि राज्य की आय के स्रोतों में करों का प्रमुख स्थान है। राज्य करारोपण केवल आय प्राप्त करने के उद्देश्य से ही नहीं करता वरन् उसके और भी अधिक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य होते हैं। करारोपण के निम्न तीन उद्देश्य होते हैं :—

(अ) धन एकत्रित करना—इसमें तो किसी को भी सन्देह नहीं होगा कि प्राचीन काल में कर मुख्यतया राजकीय कार्यों के लिए धन एकत्रित करने के उद्देश्य से लगाए जाते थे। अत: कर लगाते समय इस बात की ओर विशेष ध्यान दिया जाता था कि लगाये गये कर से कितनी राजकीय आय खज़ाने में आती है। सरकार केवल उसी कर को लगाती थी जिससे अधिक आय प्राप्त होने की आशा होती थी। परन्तु आधुनिक काल में करारोपण की रीतियाँ अधिक वैज्ञानिक हो गई हैं। सरकार कर-विशेष लगाने से पहले उसके आर्थिक और नैतिक प्रभावों का अध्ययन करती है, तत्पश्चात् कर लगाने का निश्चय करती है।

(ब) नियमन करना—कर लगाने का दूसरा उद्देश्य नियमन एवं नियन्त्रण करना है। करों द्वारा लाभों, उपभोग, आयातों, निर्यातों को नियन्त्रित किया जा सकता है। यदि सरकार तम्बाकू का उपभोग कम करना चाहती है तो वह तम्बाकू पर उत्पादन कर लगा देगी और यदि आयातों को कम करना चाहती है तो आयात की वस्तुओं पर आयात कर लगा कर उनके मूल्यों की वृद्धि करके उनको निरुत्साहित कर सकती है। यह याद रहे कि नियन्त्रण के हेतु जो कर लगाये जाते हैं उनका मुख्य उद्देश्य नियन्त्रण करना ही होता है, आय प्राप्त करना नहीं। यदि सरकार को इन करों से कुछ आय प्राप्त होती है तो ठीक है वरना सरकार के प्राथमिक उद्देश्य की पूर्ति तो हो ही जाती है।

(स) आय का वितरण समान करना—आजकल सरकार का किसी भी कर को लगाने में आय प्राप्ति के अतिरिक्त यह भी उद्देश्य रहता है कि देश में आय की असमानतायें दूर हो जायें। कर लगाने से व्यक्तियों की आय का एक भाग सरकारी खज़ाने में चला जाता है। उनकी क्रय-शक्ति कम हो जाने से उनके उपभोग तथा

विनियोग की रूपरेखा ही बदल जाती है। इसलिए समृद्धिकाल में सरकार करों की दरों में वृद्धि कर देती है और नये कर लगाती है। इसके विपरीत अवसाद काल में करों को कम कर देती है।

प्रो० लर्नर के अनुसार करारोपण का मुख्य उद्देश्य व्यक्तियों की क्रयशक्ति को कम करना है अथवा व्यक्तियों की जेबों को खाली करना है। जब सरकार यह चाहती है कि व्यक्ति कम खर्च करें तो वह कर की दरों को बढ़ाकर या नये कर लगा कर अपने उद्देश्य को प्राप्त करती है। इसीलिए मुद्रा-स्फीतिक परिस्थितियों में तो अवश्य ही करारोपण का अधिक प्रयोग होना चाहिये।[1] इस प्रकार लर्नर के विचार में करारोपण का उद्देश्य आय प्राप्त करना नहीं होना चाहिये। इसके विपरीत लुट्ज[2] तथा टेलर का विचार है कि करारोपण का प्रयोग केवल आय एकत्रित करने के लिए करना चाहिये। किन्तु लर्नर का मत अधिक सही है, विशेष रूप से अर्ध-विकसित तथा कम उन्नत देशों के लिए जहाँ बेकारी, धन की असमानता, अस्थायी व्यापार, पूँजी निर्माण की धीमी गति, बचत तथा विनियोग के निम्न स्तर आदि अनेक आर्थिक विषमताओं का साम्राज्य होता है।

करारोपण के सिद्धान्त (Canons of Taxation)—

इन उद्देश्यों की पूर्ति के हेतु प्रत्येक सरकार देश में करारोपण करती है। करारोपण, जैसा कि हम अभी कह चुके हैं, आजकल क्रमबद्ध और वैज्ञानिक हो गया है। इसीलिए कुछ सामान्य सिद्धान्तों की रचना हुई है। कोई कर उचित है या नहीं इसको इन्हीं सिद्धान्तों की कसौटी पर कसके देखा जा सकता है।

एडम स्मिथ के सिद्धान्त—

(१) **समानता (Equity)**—स्मिथ का कहना था कि "हर राज्य की प्रजा को सरकार के पालन-पोषण के लिए, जहाँ तक सम्भव हो अपना अंशदान, अपनी-अपनी योग्यताओं के अनुपात में देना चाहिए; अर्थात् उस आय के अनुपात में जिसका आनन्द वे राज्य की संरक्षता में प्राप्त करते हैं।"[3] यद्यपि यह सबसे अधिक स्वीकृत सिद्धान्त है, फिर भी इसको व्यावहारिक रूप देना सरल नहीं है। स्मिथ के ये शब्द 'उस आय के अनुपात में जिसका आनन्द वे राज्य की संरक्षता में प्राप्त करते हैं' और 'अपनी-अपनी योग्यताओं के अनुपात में' इस बात की ओर संकेत करते हैं कि हर व्यक्ति को अपने-अपने धन के अनुपात में कर देना चाहिए, अर्थात् धनी व्यक्तियों को निर्धनों की अपेक्षा अधिक कर देना चाहिए। आगे चलकर स्मिथ ने इसको स्पष्ट करते हुए कहा है कि धनी व्यक्तियों को 'अनुपात से अधिक' देना चाहिए। **एडम स्मिथ और चेपमैन** दोनों ही समानता को कारारोपण का सही सिद्धान्त

1. A.P. Lerner : *'Functional Finance and The Federal Debt'—on article in the Readings in Fiscal Policy* (1955), p. 470.
2. Lutz, *Op. Cit.*, p. 259.
3. *Wealth of Nations*, 1938, Book 2., Ch. II., p. 307.

मानते हैं। सैलिगमैन और कोहन इस सिद्धान्त को भी स्वीकार करते हैं और इससे उनका अभिप्राय प्रगतिशील (Progressive) करारोपण से है, परन्तु दूसरी ओर चाकर तथा अन्य प्राचीन अर्थशास्त्रियों का यह विचार है कि समानता का आशय आनुपातिक (Proportional) करारोपण से है। कुछ भी हो, इस सिद्धान्त को सभी स्वीकार करते हैं।

(२) निश्चितता (Certainty)—स्मिथ के अनुसार करारोपण का दूसरा सिद्धान्त यह है कि प्रत्येक कर की राशि, भुगतान का समय और भुगतान की विधि सभी कुछ निश्चित हो और करदाता को स्पष्ट हो। एडम स्मिथ के शब्दों में "हर व्यक्ति को जो कर देना है, निश्चित होना चाहिए, मनमाना नहीं। भुगतान का समय, भुगतान की विधि, भुगतान की जाने वाली राशि, करदाता तथा हर दूसरे व्यक्ति को स्पष्ट और साधारण होना चाहिए........................करारोपण में इस बात की निश्चितता कि प्रत्येक व्यक्ति को क्या देना चाहिए इतने अधिक महत्त्व की है कि असमानता का एक बहुत बड़ा अंश, सभी राष्ट्रों के अनुभव से प्रतीत है, मुझे विश्वास है, इतनी बड़ी बुराई नहीं है जितनी कि अनिश्चितता का एक बहुत छोटा अंश है।"[4] हैडले ने भी इस सिद्धान्त को स्वीकार किया है। वास्तव में कर की निश्चितता करदाता और राज्य दोनों ही के लिए लाभप्रद होती है। करदाता अपने बजट के बारे में निश्चित रहता है और उसका कर भुगतान व्यय कम होता जाता है। इसी प्रकार राज्य अपने बजट के बारे में निश्चित रहता है और उसको कर एकत्रित करने का व्यय भी कम होता जाता है। इन सब बातों का परिणाम यह होता है कि आर्थिक कल्याण बढ़ता जाता है।

(३) सुविधा (Convenience)—एडम स्मिथ के अनुसार करारोपण का तीसरा सिद्धान्त 'सुविधा' है। उसके कथनानुसार, प्रत्येक कर ऐसे समय पर या इस ढंग से लगाया जाए, कि करदाता को भुगतान करने के लिए अत्यधिक सुविधाजनक हो।"[5] दूसरे शब्दों में, कर का भुगतान करने की विधि या समय ऐसा होना चाहिए कि कर देने वालों को कम से कम असुविधा हो। यदि कर ऐसे ढंग से या ऐसे समय एकत्रित किया जाता है कि करदाता को भुगतान करने में कठिनाई होती है तो वह कम से कम कर के भार को भी बहुत अधिक महसूस करेगा। इसी कारण कर को उसी समय पर वसूल किया जाए जबकि उसे आय प्राप्त होती हो।

(४) मितव्ययिता (Economy)—एडम स्मिथ द्वारा दिए हुए करारोपण के सिद्धान्तों में मितव्ययिता का अन्तिम स्थान है। उनके अनुसार, "प्रत्येक कर की रचना इस प्रकार की जाए कि जो भी राजकीय खजाने को प्राप्त हो उसके अतिरिक्त व्यक्तियों की जेबों से कम से कम निकले।"[6] स्मिथ का आशय यह है कि कर वसूल करन का व्यय कम से कम हो। यदि कर एकत्रित करने में बहुत अधिक व्यय होता

4. *Ibid.*, p. 306–307
5. *Ibid.*, p. 308.
6. *Ibid.*,

है तो व्यक्तियों पर जितना कर-भार पड़ता है उतने अनुपात में राज्य को आय प्राप्त नहीं होगी। स्मिथ के अनुसार कर एकत्रित करने में अपव्ययिता के चार कारण हो सकते हैं—प्रथम, कर को एकत्रित करने में इतने अधिक व्यक्तियों को नौकर रक्खा जाये कि कर की राशि का अधिकांश भाग उन्हीं के वेतनों पर खर्च हो जाए। दूसरा, कर व्यक्तियों को ऐसे व्यवसायों में विनियोग करने के लिए प्रोत्साहित करे जिनसे बड़ी मात्रा में व्यक्तियों को रोजगार मिलता हो। तीसरा, कर की चोरी करने वाले व्यक्तियों पर जुर्माने लगने या उनकी सम्पत्ति जब्त किए जाने से, वे नष्ट हो सकते हैं और उनकी पूँजी के उपयोग से समाज को जो लाभ प्राप्त होते वे समाप्त हो जाते हैं। अन्त में, कर अधिकारियों के बार-बार चक्कर काटने से और पूछताछ करने से करदाताओं को बहुत परेशानी होती है, जो एक प्रकार का व्यय ही समझना चाहिए। हॉबसन, विकस्टीड, वैगनर और रोबर्ट जोन्स भी मितव्ययिता को करारोपण का उचित सिद्धान्त मानते हैं।

करारोपण के अन्य सिद्धान्त—एडम स्मिथ के पश्चात् अन्य अर्थशास्त्रियों ने करारोपण के अन्य सिद्धान्तों का विश्लेषण किया है। ये सिद्धान्त निम्न प्रकार हैं :—

(१) **उत्पादकता** (Productivity)—यह भी करारोपण का एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त है। किसी भी कर के उत्पादक होने का आशय यह है कि राज्य को कर से खूब आय प्राप्त होती रहे। उत्पादकता, वर्तमान और भविष्य दोनों दृष्टिकोणों से होनी चाहिए, अर्थात् वर्तमान की आय के अतिरिक्त भविष्य में भी आय का प्रवाह जारी रहे। इस सिद्धान्त को बेस्टेबिल ने प्रतिपादित किया था। कोई भी कर उत्पादक उसी समय समझा जायेगा जबकि उसको वसूल करने के व्यय से राज्य को अधिक आय प्राप्त हो अर्थात् कर से वसूली अधिक हो और खर्चा कम हो। इसलिए अनेकों छोटे-छोटे करों की अपेक्षा एक बड़ा कर अधिक अच्छा समझा जाता है। परन्तु क्या यह आवश्यक है कि जो कर राज्य को पर्याप्त आय दे वह अच्छा ही हो? वास्तव में सदैव ऐसा नहीं होता। यदि कर-भार करदाताओं की उत्पादन-शक्ति को नष्ट कर देता है, उनके उपभोग का स्तर गिर जाता है और काम करने व बचत करने की शक्ति पर उल्टा प्रभाव पड़ता है, तब ऐसे कर को उत्पादक नहीं कह सकते, क्योंकि ऐसा कर वर्तमान में तो उत्पादक होता है परन्तु भविष्य में इसकी उत्पादकता कम होती जायेगी। इस प्रकार यदि ध्यान से देखा जाय तो यह सिद्धान्त, मितव्ययिता के सिद्धान्त की ही भाँति है। रोबर्ट जोन्स ने इस सिद्धान्त पर बैस्टेबिल का बड़ा मज़ाक उड़ाया है। उसके अनुसार यह एक बेकार तथ्य है।

(२) **लोच** (Elasticity)—समाज की हर प्रगति के साथ-साथ राजकीय व्यय भी बढ़ता जाता है। अतः बढ़ते हुए व्यय की पूर्ति करने के लिए राज्य की कर-प्रणाली भी ऐसी होनी चाहिए कि आय में आवश्यकतानुसार वृद्धि की जा सके। कर प्रणाली की लोच का अभिप्राय यही है कि करों से प्राप्त होने वाली आय को परिस्थितियों के अनुसार बढ़ाया और घटाया जा सके। यदि कर-प्रणाली में लोच

का अभाव है तो सरकार को सदैव ही संकटों का सामना करना होगा। आयकर इस सिद्धान्त के पूर्णतया अनुकूल है।

(३) विविधता (Diversity)—कर प्रणाली में हर प्रकार के कर होने चाहिए अर्थात् प्रणाली इतनी बड़ी हो और उसमें इतनी प्रकार के कर हों, जिनसे हर व्यक्ति से अंशदान प्राप्त किया जा सके। परन्तु विविधता का अभिप्राय यदि करों की संख्या को बढ़ाते जाना है तो यह सिद्धान्त मितव्ययिता और उत्पादकता के सिद्धान्तों के विरुद्ध प्रभाव डालेगा, क्योंकि अधिक करों से कर प्रणाली में अपव्ययिता बढ़ती जायेगी। इस प्रकार विविधता का प्रयोग केवल निश्चित सीमाओं के अन्तर्गत ही होना चाहिए।

(४) सरलता (Simplicity)—कर प्रणाली सरल होनी चाहिए अर्थात् कर प्रणाली में ऐसे कर हों जिनके निर्धारण सम्बन्धी उद्देश्यों तथा उनके प्रभावों को समझने में कठिनाई न हो और उनकी दरों तथा एकत्रित करने की मशीनरी को भी समझा जा सके। सरलता के अभाव में न तो करदाता सरकार से संतुष्ट ही रहेंगे और न कर ही पूरी मात्रा में वसूल हो पायेगा।

शिराज के कोमलता तथा पर्याप्तता के सिद्धान्त (Shirras' Canons of Flexibility and Sufficiency)—फिनले शिराज के अनुसार कोमलता (Flexibility) और पर्याप्तता (Sufficiency) भी करारोपण के आवश्यक सिद्धान्त हैं। शिराज का कोमलता से अभिप्राय यह है कि कर प्रणाली इस प्रकार की हो कि बिना किसी उथल-पुथल के एक नये कर को प्रणाली में बढ़ाया जा सके और पुराने कर को निकाला जा सके। हम ऊपर लोच के सिद्धान्त की विवेचना कर ही चुके हैं। वास्तव में, कोमलता और लोच के सिद्धान्त में कोई विशेष भेद नहीं है। जहाँ तक पर्याप्तता का प्रश्न है, यह बड़ा ही अस्पष्ट गुण है, क्योंकि पर्याप्तता का सम्बन्ध आवश्यकताओं से है। दूसरे शब्दों में, आय पर्याप्त है कि नहीं, इस बात पर निर्भर करता है कि राज्य की आवश्यकतायें कितनी हैं। राज्य का कार्यक्षेत्र पिछले वर्षों में निरन्तर बढ़ता ही रहा है। जो आय पिछले वर्ष पर्याप्त थी यह आवश्यक नहीं है कि इस वर्ष भी पर्याप्त हो क्योंकि राज्य के कार्यक्षेत्र में वृद्धि होना स्वाभाविक ही है। मूल्यों की वृद्धि आजकल के आर्थिक जगत की एक साधारण घटना है। मूल्यों की वृद्धि से आवश्यकतायें समान रहते हुए भी राजकीय व्यय में वृद्धि हो सकती है और पिछले वर्ष की पर्याप्त आय इस वर्ष अपर्याप्त हो सकती है। इसलिए पर्याप्तता एक निरपेक्ष शब्द नहीं है। इसका सम्बन्ध अन्य परिस्थितियों से है। इसलिए जब तक उन परिस्थितियों का उल्लेख न किया जाय, तब तक यह गुण बेकार है।

एकरूपता का सिद्धान्त (Canon of Uniformity)—निटी और कोनार्ड (Nitty and Conard) का विचार है कि एकरूपता (Uniformity) या सामान्यता (generality) करारोपण का सही सिद्धान्त है, इसलिए एक अच्छी कर-प्रणाली में जितने भी कर हों उन सभी में एकरूपता होनी चाहिए। एकरूपता का अभिप्राय यह है कि सभी करों के लगाने की विधि समान हो और उन सभी की दरों

का निर्धारण सामान्य उद्देश्यों से किया जाये। यह वांछनीय है कि कर प्रणाली में सामान्यता का गुण हो क्योंकि कर प्रणाली अधिक साधारण हो जाती है और अधिक हिसाब-किताब की जटिलतायें समाप्त हो जाती हैं।

अच्छी कर प्रणाली के गुण—
(Characteristics of a Good Tax System)

कर प्रणाली उत्तम तथा उपयुक्त होने के लिए उपर्युक्त सिद्धान्तों पर आधारित होनी चाहिए। सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से तो यह विचार ठीक है किन्तु व्यवहार की दृष्टि से यह सम्भव नहीं है कि ये सभी गुण सभी करों में या सम्पूर्ण कर प्रणाली में विद्यमान हों। लुट्ज ने ठीक ही कहा है, "कि, न तो कोई कर पूर्ण है और न ही कोई पूर्णतया खराब है।" अतः यह सम्भव है कि उपर्युक्त सभी नियमों का पालन न किया जा सके और प्रत्येक कर में कोई न कोई दोष रह जाये। इसलिए व्यक्तिगत करों की ओर ध्यान न देकर सम्पूर्ण प्रणाली की ओर ध्यान देना चाहिए क्योंकि एक कर के दोष दूसरे करों द्वारा दूर हो सकते हैं। श्रीमती हिक्स के शब्दों में, "प्रत्येक कर को अलग-अलग न लेकर हमें समस्त कर प्रणाली को ध्यान में रखना चाहिए और वांछित विवरण-व्यवस्था की स्थापना एक ऐसे क्षतिपूरक कर-ढाँचे द्वारा करनी चाहिए जिसमें एक कर के दोष दूसरे करों से दूर हो जायें। केवल उन्हीं करों को चुनने का प्रयत्न करना, जिनसे कर-सम्बन्धी सभी सिद्धान्तों का पालन हो सके व्यर्थ है। ऐसे कर हैं ही नहीं।"

आधुनिक विचार:—

आधुनिक लेखकों के अनुसार एक सुदृढ़ कर प्रणाली में निम्नांकित बातें होनी चाहियें—

१—कर प्रणाली प्रगतिशीलता के सिद्धान्त पर आधारित होनी चाहिए अर्थात् कर-भार सबसे अधिक धनी वर्ग पर पड़ना चाहिए और जहाँ तक सम्भव हो आनुपातिक तथा प्रतिगामी करों को नहीं लगाना चाहिए। इसके अतिरिक्त, इन लेखकों के अनुसार प्रत्यक्ष करों को प्राथमिकता देनी चाहिए।

२—कर प्रणाली बहु-दिशायी होनी चाहिए अर्थात् कई प्रकार के कर एक साथ लागू किए जाने चाहियें। केवल एक ही कर पर आय प्राप्ति के लिए निर्भर नहीं होना चाहिए।

श्रीमती हिक्स का विचार है कि एक अच्छी कर प्रणाली में निम्नांकित गुण होने चाहियें। प्रथम कर-प्रणाली का उपयोग राजकीय सेवाओं के लिए आवश्यक वित्त प्रदान करने के लिए किया जाए; दूसरे साधारण जनता पर कर उसकी भुगतान करने की योग्यता के अनुसार लगाया जाए; और तीसरे कर प्रणाली भेद-भाव रहित होनी चाहिए अर्थात् समान हैसियत वाले व्यक्तियों के साथ समान व्यवहार होना चाहिए।

अतः हम कह सकते हैं कि एक सुदृढ़ कर प्रणाली में निम्नांकित गुणों का होना आवश्यक है:—

(अ) कर-भार का वितरण न्यायपूर्ण होना चाहिए।

(ब) कर-प्रणाली उत्पादक हो।

(स) कर-प्रणाली कर-दाताओं के अधिकार तथा समस्याओं को ध्यान में रखकर निर्मित की जाए।

(द) कर-प्रणाली लोचपूर्ण होनी चाहिए अर्थात् उसमें परिस्थिति तथा आवश्यकताओं के अनुसार आवश्यक परिवर्तन किए जा सकें।

यह ध्यान रहे कि किसी एक समय पर यह आवश्यक नहीं कि किसी भी देश की कर-प्रणाली में उपर्युक्त सभी गुण विद्यमान हों। साथ ही यह भी सम्भव है कि उपर्युक्त में से प्रत्येक गुण का महत्त्व अलग-अलग देशों में अलग-अलग हो सकता है। अर्द्ध-विकसित देशों में प्रमुख समस्या उत्पादन के निम्न स्तर तथा घोर निर्धनता के कुचक्र को तोड़ने की है ताकि सप्रभाविक मांग के स्तर को ऊंचा किया जा सके और उत्पादन, रोजगार तथा आय के स्तरों को ऊपर उठाया जा सके। यह केवल सरकार अपनी कर तथा व्यय नीति द्वारा ही कर सकती है। करारोपण नीति का मुख्य उद्देश्य देश में समवृद्धि की गति को बढ़ाना है, और देश में व्यक्तियों को काम करने, बचत करने और विनियोग करने को प्रोत्साहन देना है ताकि आर्थिक विकास को पर्याप्त सहायता प्राप्त हो सके। सारांश में, कर-नीति का उद्देश्य पूंजी-निर्माण की गति को तीव्र करना होना चाहिए। इसके अतिरिक्त कर प्रणाली को देश में बढ़ते हुए आर्थिक साधनों को गतिशील भी बनाना चाहिए। आर्थिक विकास के परिणामस्वरूप चालू उत्पादन तथा चालू व्यय के बीच जो आधिक्य होता है उसका सदुपयोग होना चाहिए और उसको उत्पादक विनियोगों में लगना चाहिए। यह उचित ही कहा गया है कि "आर्थिक विकास के लिए कर-नीति का कार्य इस आधिक्य को गतिशील बनाना है, उसको उत्पादक क्षेत्रों की ओर मोड़ना है और उसके आकार को निरन्तर बढ़ाना है।"[7]

इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए यह आवश्यक है कि साधनों के निजी उपभोग से राजकीय विनियोग की दिशाओं में मोड़ दिया जाए। हम सभी जानते हैं कि आर्थिक विकास की प्रारम्भिक अवस्था में राष्ट्रीय आय में वृद्धि होती है। यदि इस बढ़ती हुई आय को केवल उपभोग कार्यों के लिए छोड़ दिया जाए तो आर्थिक आधिक्य का आकार लगभग स्थिर रहेगा। इसलिए यह आवश्यक है कि करारोपण नीति इस प्रकार लागू की जाए कि उपभोग आय की वृद्धि के अनुपात में न बढ़ सके, और ऐसा करने के लिए वस्तु करारोपण की दरों को ऊँचा करना ही सबसे उत्तम विधि प्रतीत होती है। एक अर्द्ध-विकसित देश के लिए यह भी आवश्यक है कि हर व्यक्ति को अपनी योग्यतानुसार कर-आय में अंशदान करने के लिए बाध्य किया जाए अर्थात् हर व्यक्ति पर कर उसकी उस अंशदान योग्यता के अनुसार लागू किए जायें जो वह आर्थिक विकास के लिए कर सकता है। किसी भी व्यक्ति की आर्थिक-विकास में अंशदान योग्यता आय आधिक्य के उस भाग से मालूम की जा सकती है जिसको

7. Raja Chelliah : *Fiscal Policy in Under-developed Countries*, p. 66.

वह उत्पादक विनियोगों में नहीं लगाता। दूसरे शब्दों में आय का जो भाग आवश्यक आवश्यकताओं की पूर्ति के बाद बच रहता है उसको वह उत्पादक विनियोगों में लगाए। किस व्यक्ति में कितनी योग्यता है इसका अनुमान केवल सरकार द्वारा ही लगाया जा सकता है।

इस प्रकार कर-प्रणाली से सम्बन्धित मुख्य रूप से दो समस्यायें हैं। प्रथम, आर्थिक विकास हेतु अतिरिक्त साधनों को जुटाना और द्वितीय कर भार के वितरण को न्यायशील बनाना। ऊपर से देखने पर ये दोनों बातें एक दूसरे के विपरीत प्रतीत होती हैं। हम दोनों का अध्ययन तनिक विस्तार में करेंगे।

१ अर्द्ध-विकसित देशों में मुख्य उद्देश्य आर्थिक विकास की गति को तीव्र करना है और करारोपण, इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए विभिन्न साधनों में से एक है। निर्धन से निर्धन व्यक्ति को भी कुछ न कुछ कर अवश्य देने होंगे। अनिवार्य आवश्यकताओं की वस्तुओं पर भी कर लगाने होंगे और इस प्रकार भुगतान करने की योग्यता का सिद्धान्त और कर-भार के वितरण में न्याय का सिद्धान्त दोनों ही के आधार पर अर्द्ध-विकसित देशों में कर-प्रणाली को निर्मित करना कठिन है। किन्तु एक विस्तृत दृष्टिकोण से देखने पर कर-प्रणाली में न्यायशीलता उत्पन्न की जा सकती है। न्याय का अभिप्राय यह है कि देश में विभिन्न वर्गों पर आर्थिक समृद्धि के भार का न्यायपूर्ण वितरण हो अर्थात् ऊंची आय वाले वर्ग अपने आप आधिक्य के अनुसार विनियोगों में धन लगायें और नीची आय वाले वर्ग अपने उपभोग को नियन्त्रित करें। यह वस्तु करारोपण द्वारा सम्भव हो सकता है।

सभी प्रकार के विकासात्मक व्यय से मुद्रा-प्रसार की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। एक ओर जबकि विनियोगों की मात्रा बढ़ती है तो दूसरी ओर उत्पादन में वृद्धि नहीं हो पाती, फलतः उपभोग के लिए वस्तुएँ प्राप्त नहीं होतीं। आय-वृद्धि के कारण माँग में वृद्धि होती है और वस्तुयें आवश्यक मात्रा में प्राप्त न हो पाने के कारण उनके मूल्य बढ़ जाते हैं और मुद्रा-स्फीति की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। मुद्रा-स्फीति को रोकने के लिए सभी ने करारोपण को एक उपयुक्त साधन माना है। अधिक लाभ-कर तथा वस्तु-कर दोनों ही इस दिशा में प्रभावशील सिद्ध हो सकते हैं।

एक सुदृढ़ कर-नीति को अर्द्ध-विकसित देशों में आय के वितरण की असमानताओं को भी कम करना चाहिए। जिस प्रकार करारोपण, पूंजी निर्माण की दर तथा उत्पादन बढ़ाने में सहायता करता है उसी प्रकार यह आय के वितरण को समान करके आर्थिक कल्याण को बढ़ाने में भी सहायता कर सकता है। भारतीय कर-जाँच आयोग ने भी इस बात पर जोर दिया था और कहा था कि "अधिक उत्पादन और अधिक अच्छा वितरण दोनों को ही साथ-साथ प्राप्त करने के लिए विधियाँ अपनायी जायें।"[8]

अन्त में कर-प्रणाली का उद्देश्य यह भी होना चाहिए कि किसी भी व्यक्ति को यह महसूस नहीं हो कि उससे अनुचित रूप से कर लिया जा रहा है जब कि

8. Report : *Taxation Enquiry Commission* (1953-54), Volume I, p. 145.

उसी जैसी स्थिति वाले लोगों को कर-मुक्त कर दिया गया है। यह भी आवश्यक है कि व्यक्तियों में यह विश्वास उत्पन्न हो कि कर रूप में जो धन वह दे रहा है उसका उचित उपयोग किया जा रहा है और वह शासन-प्रबन्ध की अकुशलता या भ्रष्टाचार के कारण बर्बाद नहीं हो रहा है।

एक तथा बहु कर-प्रणाली—
(Single and Multiple Tax System)

एक कर-प्रणाली—प्राचीन समय से ही इस विषय पर बड़ा वाद-विवाद चला आ रहा है कि किसी देश की कर-प्रणाली में केवल एक ही कर हो या अनेकों कर हों ? निर्बाधावादियों (Physiocrats) विशेषकर केने (Quesney) और तुर्गो (Turgot) का यह विचार था कि एक कर प्रणाली सर्वोत्तम होती है और इसलिए वे केवल भूमि पर ही कर लगाने के पक्ष में थे। उनका विचार था कि सरकार को न्याय के किसी सिद्धान्त के आधार पर केवल एक ही वस्तु पर कर लगाना चाहिए। उनके अनुसार भूमि ही उत्पत्ति का एकमात्र साधन था, जिस पर आधिक्य (Surplus) प्राप्त होता है, जिसे लगान कहते हैं। इन लोगों का मत था कि क्योंकि सभी प्रकार के करों का भार अन्त में लगान ही पर पड़ता है, इसलिए केवल लगान पर ही कर लगना चाहिए। ऐसा करने से बहुत-सी कठिनाइयाँ और गलत-फ़हमियाँ दूर हो जायेंगी। इसी प्रकार रिकार्डो आदि लेखक लगान को बिना कमाई हुई आय (unearned income) मानकर केवल उसी पर कर लगाने का सुझाव देते थे। अमेरिकी लेखक हैनरी जार्ज (Henry George) ने लगान पर कर लगाने का प्रस्ताव एक और कारण से भी दिया था, वह यह कि लगान पर कर लगाने से उद्योग हतोत्साहित नहीं होंगे। एक कर-प्रणाली का पक्षपात करने वालों का विचार था कि ऐसी नीति से संसार में सम्पत्ति का न्यायपूर्ण वितरण किया जा सकता है।

केवल भूमि पर ही कर—केवल भूमि पर कर लगाने के सम्बन्ध में यह कहना उचित है कि एक तो, आजकल सरकार के कार्यों में इतनी अधिक वृद्धि हो गई है कि केवल भूमि पर कर लगाने से इतनी आय प्राप्त नहीं हो सकती कि सारे कार्यों को वह सम्पन्न कर सके। दूसरे, यह न्यायपूर्ण भी नहीं है, क्योंकि यह कर करदान योग्यता सिद्धान्त के विरुद्ध है। एक तो छोटी-छोटी भूमि पर खेती करने वालों पर कर लगेगा जबकि लखपति और करोड़पति व्यापारी कर से विमुक्त रहेंगे, परिणामस्वरूप भूमि के मालिक अपनी भूमि बेच-बेचकर अन्य सम्पत्ति खरीदते जायेंगे और एक स्थिति ऐसी आयेगी जबकि भूमि पर लगान प्राप्त होना बन्द हो जायेगा। तीसरे, यह कर लोचपूर्ण भी नहीं है। सरकार के खर्चों में वृद्धि के साथ-साथ इसकी दर में वृद्धि नहीं की जा सकती। चौथे, यह निर्णय करना भी कठिन है कि भूमि से प्राप्त आय में से कितनी बिना कमाई हुई है और कितनी कृषक की दूरदर्शिता, परिश्रम और जोखिम के कारण प्राप्त हुई है। पाँचवें, इस प्रणाली में

बहुत-सी शासन-सम्बन्धी कठिनाइयाँ उत्पन्न हो सकती हैं, जैसे मूल्य गिरने या बढ़ने के साथ-साथ कर की दरों में परिवर्तन करना, हिसाब-किताब रखना, फसलों के ठप्प हो जाने पर कर वसूल करने की समस्या। अन्त में, यह कर अनिश्चित भी है क्योंकि सरकार को कभी यह निश्चित ही नहीं हो पायेगा कि उसकी आय कितनी है। कृषि स्वयं एक अनिश्चित व्यवसाय है, इसलिए उसकी आय भी अनिश्चित रहती है। इस प्रकार यह कर हर दृष्टिकोण से उचित नहीं है।

केवल आय पर ही कर—समाजवादी विचारों की प्रगति के साथ-साथ कुछ समाजवादियों का यह विश्वास है कि केवल आय पर ही कर लगाना चाहिए। क्योंकि एक तो सरकार को बड़ी मात्रा में आय प्राप्त हो सकेगी; दूसरे, विभिन्न प्रकार की आयों के कारण कर-भार को उचित ढंग से बाँटा जा सकता है; तीसरे, इसमें लोच भी रहेगी। यद्यपि यह सही है कि आय-कर भूमि-कर की अपेक्षा अधिक अच्छा रहेगा परन्तु आलोचकों ने इसके विरुद्ध भी प्रहार किये हैं। प्रथम, इस कर के द्वारा हर व्यक्ति को असुविधा होगी क्योंकि सभी को कर देना होगा। दूसरे, ऐसे करों को एकत्रित करना बहुत ही व्ययपूर्ण और कठिनाई से परिपूर्ण है। तीसरे, अकेला आय-कर राजकीय कार्यों के लिए पर्याप्त धनराशि प्रदान करने में असमर्थ हो सकता है। चौथे, इससे बचतों पर बुरा प्रभाव पड़ता है। पाँचवें, इस कर का भार सभी पर समान रूप से नहीं पड़ता। छठे, यदि उत्तराधिकारी की सम्पत्ति पर कर न लगाया गया तो वह कर से बच जाएगी। अन्त में, एक ही प्रकार का कर होने से करों की चोरी की सम्भावना बढ़ जाएगी और इसको रोकने के लिए जो भी नियम बनाये जायेंगे वह असफल रहेंगे।

केवल सम्पत्ति मूल्य पर ही कर—कुछ लोगों का विचार है कि आय-कर की अपेक्षा सम्पत्ति मूल्य पर कर उचित रहेगा। यह कर न्यायपूर्ण होगा। परन्तु एक तो इस कर का क्षेत्र अति सीमित है; दूसरे, सम्पत्ति का उचित मूल्य मालूम करना भी सरल नहीं है और अन्त में इससे भी राज्य को पर्याप्त आय प्राप्त नहीं हो सकेगी। अतः यह भी उचित कर नहीं है।

बहु-कर प्रणाली—उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि एक कर-प्रणाली में धन की अपर्याप्तता और कर की चोरी जैसे दोष होने के कारण यह प्रणाली न्यायोचित नहीं है। इसलिए बहु-कर प्रणाली इन सभी दोषों को दूर कर देने के कारण अधिक रुचिकर है। बहु-कर प्रणाली में विभिन्न श्रेणी के लोगों पर कर-भार ठीक प्रकार से बाँटा जा सकता है, दूसरे कर की चोरी को बड़े अंश तक रोका जा सकता है और तीसरे सरकार को आवश्यकतानुसार आय प्राप्त हो सकती है। इसके अतिरिक्त एक प्रकार के कर से उत्पन्न होने वाले दोष दूसरे प्रकार के कर से दूर हो सकते हैं। परन्तु बहु-कर प्रणाली से यह अभिप्राय नहीं कि बहुत से कर लगा दिये जायँ जैसा कि आर्थर यंग का विश्वास था। स्पष्ट ही है कि बहुत अधिक कर लगने से कर-प्रणाली, अव्यावहारिक, असुविधाजनक तथा अपव्ययी हो जाती है। परन्तु केवल 'बहुत' शब्द के कारण ही आपत्ति करना उचित नहीं होगा। 'बहुत' और 'कम' शब्द

की परिभाषा नहीं की जा सकती और न ही उनका कोई निश्चित माप ही है। इसलिए इसका निर्णय केवल सरकार ही कर सकती है कि वह कितने कर लगाये और यह निर्णय देश की परिस्थितियों के अनुसार होगा। इसमें किसी को भी कोई आपत्ति नहीं कि बहु-कर प्रणाली अधिक अच्छी है। इसी कारण व्यवहार में बहु-कर प्रणाली ही स्थापित की गई है।

करों का वर्गीकरण—

बहु-कर प्रणाली में अनेकों प्रकार के कर लगाए जाते हैं। एक वर्गीकरण के अनुसार करों को दो प्रकार का बताया गया है—प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष। एक दूसरे वर्गीकरण के अनुसार कर चार प्रकार के होते हैं—समानुपातिक (Proportional), प्रगतिशील (Progressive), प्रतिगामी (Regressive) और अधोगामी (Degressive)। अब हम इनमें से प्रत्येक की विवेचना निम्न पृष्ठों में करेंगे।

प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष कर (Direct and Indirect Taxes)—प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष करों का वर्गीकरण तो साधारण सी बात है परन्तु इन दोनों करों में भेद करने के सम्बन्ध में इतने मत हैं कि किसी एक को स्वीकार करना और दूसरे को स्वीकार न करना सरल कार्य नहीं है। प्रोफेसर बुलक के अनुसार इन दोनों करों की लगभग एक दर्जन विभिन्न परिभाषायें देखने को मिलती हैं जिनमें से कुछ निम्न प्रकार हैं :—उत्पादन पर लगने वाले करों को प्रत्यक्ष और उपभोग पर लगने वाले करों को अप्रत्यक्ष; आय-सम्बन्धी करों को प्रत्यक्ष और व्यय-सम्बन्धी करों को अप्रत्यक्ष; जो कर स्पष्ट होते हैं उनको प्रत्यक्ष और जो छुपे हुए होते हैं उनको अप्रत्यक्ष कर कहते हैं इत्यादि। मिल के अनुसार "प्रत्यक्ष कर उसी व्यक्ति से वसूल किया जाता है जिससे यह आशा की जाती है कि वह ही उसका भुगतान करे। अप्रत्यक्ष कर वे कर हैं जो किसी व्यक्ति से इस आशा से प्राप्त किये जाते हैं कि वह दूसरे व्यक्ति से वसूल करके क्षति-पूर्ति कर लेगा।"[9] मिल का कथन है कि करों का प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष होना इस बात पर निर्भर करेगा कि उनका भुगतान वास्तव में उन्हीं व्यक्तियों द्वारा किया जाता है अथवा नहीं, जिन पर कि उनका भार पड़ा है। इस दृष्टिकोण से आय कर तथा सम्पत्ति कर प्रत्यक्ष कर होंगे और बिक्री कर तथा सीमा कर अप्रत्यक्ष। मिल के इस विचार की आलोचना कई आधारों पर की गई है। प्रथम, कर के अन्तिम भुगतान के सम्बन्ध में कर लागू करने वाले अधिकारियों के इरादे अनिश्चित हो सकते हैं। दूसरे, यह पता लगाना भी कठिन है कि कर के भार का विवर्तन हुआ है या नहीं और अन्त में, यह पता लगाना भी कठिन है कि कर के अंश का विवर्तन दूसरों पर किया गया है, क्योंकि कुछ कर ऐसे होते हैं जिनका भार केवल अंशतया ही दूसरों पर डाला जा सकता है और कुछ ऐसे होते हैं जिनका भार पूर्णतया एक क्षेत्र में दूसरों पर डाला जा सकता है किन्तु दूसरे क्षेत्रों में ऐसा करना सम्भव न हो। डाल्टन के अनुसार प्रत्यक्ष कर वे कर हैं जो पूर्णतः उसी व्यक्ति द्वारा

9. E. H. Plank : *Public Finance*, p. 131.

चुकाए जाते हैं, जिस पर वे लगाये जाते हैं, अर्थात् वह कर का भार (Incidence) किसी दूसरे पर नहीं टाल सकता। इस प्रकार कर का भुगतान करने का दायित्व (Impact) एवं भार दोनों उसी व्यक्ति पर पड़ते हैं, जो आरम्भ में कर को चुकाता है। ऐसे कर के भार को दूसरे पर टाला नहीं जा सकता। दूसरी ओर अप्रत्यक्ष करों में कर ऐसे व्यक्ति पर लगाया जाता है जो उसके भार को किसी दूसरे पर टाल सकता है। अत: कर के भुगतान करने का दायित्व उस व्यक्ति के ऊपर है जिसके ऊपर कर लगाया गया है, परन्तु क्योंकि वह कर की राशि किसी दूसरे व्यक्ति से वसूल कर लेता है इसलिए कर का अन्तिम भार दूसरे के ऊपर पड़ता है। अत: करदाता, वस्तुओं एवं सेवाओं के मूल्य में कर के अनुसार वृद्धि करके कर के भार को उपभोक्ताओं पर टाल देता है। वस्तुओं और सेवाओं पर लगाए गए कर अप्रत्यक्ष कर होते हैं।[10]

कुछ लेखकों ने प्रशासन-सम्बन्धी मामलों को ध्यान में रखकर प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष करों में भेद किया है। इनमें से कुछ के अनुसार प्रत्यक्ष कर वह है जो व्यक्तियों की आय पर उस समय भार डालता है जबकि उत्पादन हो रहा होता है। अप्रत्यक्ष कर व्यक्तियों के निजी उपभोग एवं सम्पत्ति के हस्तान्तरण के समय भार डालते हैं। दूसरे शब्दों में, प्रत्यक्ष करों में उत्पत्ति के समय होने वाली आय पर कर लगता है और अप्रत्यक्ष कर उपभोग के समय व्यय किए जाने वाले धन पर लगते हैं। परन्तु कुछ कर ऐसे होते हैं जिनका भुगतान न तो उत्पादन के समय किया जाता है और न उपभोग के समय, तो इस परिभाषा के अनुसार, ऐसे कर कहीं भी नहीं रक्खे जा सकते—न तो प्रत्यक्ष करों में और न अप्रत्यक्ष करों में ही। अत: इस परिभाषा का दोष स्पष्ट ही है। दूसरे लेखकों के अनुसार "प्रत्यक्ष कर वे हैं जो उन सूचियों के अनुसार एकत्रित किए जाते हैं जिनमें करदाताओं के नाम होते हैं और जो निश्चित समय के अवकाश के बाद बार-बार उपस्थित होते हैं।" जबकि अप्रत्यक्ष कर वे हैं जो "कुछ विशेष निश्चित कार्यों के अवसर पर एकत्रित किए जाते हैं, जो निश्चित समय की अवधि के बाद बार-बार उत्पन्न नहीं होते और जो उस विधि के अनुसार नहीं एकत्रित किए जाते, जिनमें नाम की सूचियों की आवश्यकता होती है।"[11]

बैस्टेबिल के अनुसार प्रत्यक्ष कर वे कर हैं "जो स्थायी तथा बार-बार उत्पन्न होने वाले अवसरों पर लगते हैं" और अप्रत्यक्ष कर वे कर हैं "जो कभी-कभी उत्पन्न होने वाले विशेष अवसरों पर लगाए जाते हैं।"[12] परन्तु यह परिभाषा पूर्णत: अस्पष्ट है क्योंकि इसका आधार ही स्पष्ट नहीं है अर्थात् बैस्टेबिल बार-बार उत्पन्न होने वाले और विशेष अवसरों से क्या समझते हैं, स्पष्ट नहीं है।

---

10. Dalton : *Op. Cit.*, pp. 23–24.
11. Antonio-di-Vitti de Marco : *First Principles of Public Finance* p. 130.
12. Bastable : *Public Finance*, p. 291.

कुछ लेखकों के अनुसार प्रत्यक्ष कर वह है जो उसी व्यक्ति पर लगाया जाता है, जिससे सरकार का इरादा कर वसूल करने का होता है या जिस व्यक्ति से चाहती है कि वह ही कर का भुगतान करे, और अप्रत्यक्ष कर वह है जब सरकार का इरादा यह हो कि पहला भुगतान करने वाला व्यक्ति कर की राशि को अंशतः या पूर्णतः किसी दूसरे व्यक्ति पर टाल दे। मिल का भी यही विचार है।[13] इस परिभाषा में भी पिछली परिभाषाओं की भाँति अस्पष्टता का दोष है। साथ ही साथ, यह भी कोई आवश्यक नहीं कि व्यक्तियों पर कर-भार सरकार के इरादे या इच्छा के अनुसार ही पड़े। व्यवहार में यह भी देखा गया है कि सरकार के न चाहते हुए भी कर-भार दूसरों पर टाल दिया जाता है और सरकार के चाहते हुए भी कर-भार दूसरों पर टाला नहीं जा सकता। इस प्रकार की परिभाषा भी उपयुक्त नहीं है।

प्रो० डि० मार्को का विचार है कि प्रत्यक्ष कर वे होते हैं जो उस समय लगाए जाते हैं, जबकि व्यक्ति की आय का प्रत्यक्ष अनुमान लगाया जा सकता है और अप्रत्यक्ष कर वे होते हैं जो उस समय लगाए जाते हैं, जबकि व्यक्ति की आय का प्रत्यक्ष अनुमान सम्भव नहीं होता। उनका कहना है कि कुछ मौकों पर तो व्यक्ति की आय का सीधे ही पता लगाया जा सकता है और इन आयों को प्रत्यक्ष रूप से कर के क्षेत्र में लाया जा सकता है। परन्तु कभी-कभी ऐसा होता है कि प्रत्यक्ष कर द्वारा आय पूर्ण रूप से कर के क्षेत्र में नहीं आ पाती अर्थात् कर की चोरी हो जाती है या आय का प्रत्यक्ष अनुमान सम्भव नहीं होता, इसलिए उस बची हुई आय को भी कर के क्षेत्र में लाने के लिए अप्रत्यक्ष कर लगाए जाते हैं।[14] परन्तु यह विचार भी उचित नहीं है क्योंकि सरकार के लिए यह सम्भव नहीं कि वह कर की चोरी को रोक सके। प्रत्येक कानून में ही कुछ न कुछ कमी अवश्य रहती है और बेईमानी करने वाले उसी कमी का लाभ उठाते हैं। सरकार कर की चोरी को रोकने के इरादे से कभी भी अप्रत्यक्ष कर नहीं लगाती है। यह विचार भी सन्तोष-जनक नहीं है।

प्रो० शिराज के अनुसार प्रत्यक्ष कर वे हैं जो, "शीघ्र ही व्यक्तियों की सम्पत्ति और आय पर लगाए जाते हैं और जिनका भुगतान उपभोक्ताओं द्वारा सरकार को सीधा ही होता है। इस प्रकार, आय एवं सम्पत्ति कर, मृत्यु-कर, व्यक्ति-कर (Toll-tax) और उपभोग-कर जो सीधे सरकार को दिए जाते हैं, प्रत्यक्ष करों के समूह के अन्तर्गत हैं, जबकि और सब कर अप्रत्यक्ष करों के समूह में रक्खे जायेंगे, अर्थात् जो व्यक्ति की आय और सम्पत्ति तक उनके कार्यों तथा भोग द्वारा और वस्तुओं के उपयोग द्वारा भी पहुँचते हैं········व्यवसाय पर कर मनोरंजन पर कर, बिक्री-कर इत्यादि।[15] इस परिभाषा में भी वही कठिनाई है जो पिछली परिभाषाओं में थी। एक तो उपभोग करों को दोनों ही करों में सम्मिलित किया

13. J. S. Mill : *Principles of Economics*, Book V, Ch. 3.
14. Antonio-di-Vitti de Marco : *Op Cit.*, p. 131.
15. F. Shirras : *Science of Public Finance*, p. 119.

गया है। सभी उपभोग कर अप्रत्यक्ष कर होते हुए भी प्रत्यक्ष हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त इस परिभाषा में केवल भुगतान करने की विधि के अनुसार ही प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष करों में भेद किया गया है, जो अवास्तविक है (क्योंकि प्रत्येक कर का भुगतान सीधे सरकार को ही होता है इसलिए प्रत्येक कर अप्रत्यक्ष कर है)। कर-भार की ओर कोई भी ध्यान नहीं दिया गया है।

श्रीमती हिक्स के विचार में प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष करों सम्बन्धी वर्गीकरण सर्वमान्यता प्राप्त होने के कारण उपयुक्त हैं। इंगलैण्ड का उदाहरण देते हुए उन्होंने लिखा है कि "प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष करों का अन्तर करदाता तथा राजस्व अधिकारियों के पारस्परिक सम्बन्ध पर निर्भर है। वे कर जिनका उत्तरदायित्व करदाता की परिस्थितियों के कारण विभिन्न रहता है, उनकी गणना प्रत्येक करदाता के लिए पृथक् पृथक् की जाती है जिससे कि उसके तथा राजस्व अधिकारी के बीच में सिद्धान्ततः एक सीधा सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। कुछ अन्य करों के सम्बन्ध में राजस्व अधिकारियों को इसी बात में सुविधा है कि वे कर संग्रह करने वाले सरकारी कर्मचारियों के द्वारा ही प्रत्यक्ष रूप से करदाता से कर वसूल करवा लें, जबकि अन्य करों के सम्बन्ध में उत्पादकों तथा व्यापारियों का एक गैर-सरकारी संग्रहों के रूप में प्रयोग करना एक साधारण बात है जिससे कि अब राजस्व अधिकारियों तथा करदाता के बीच कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं रहता।"[16]

किन्तु श्रीमती हिक्स का विचार इंगलैण्ड की ही परिस्थितियों के लिए उपयुक्त है, क्योंकि वहाँ पर इसे वैधानिक मान्यता प्राप्त है। अन्य देशों के विषय में यह सच नहीं है।

वास्तव में प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष करों के बीच भेद करना सरल नहीं है। उपर्युक्त विवरण से तो यह पूर्णतः स्पष्ट हो ही गया है। हमारे विचार में पहली परिभाषा ही सबसे उपयुक्त है। एक तो वह व्यावहारिक है और दूसरे कर-भार के आधार पर दोनों करों में भेद करना सरल भी है और वैज्ञानिक भी, क्योंकि इसी बात का ज्ञान अधिक महत्वपूर्ण है कि कर का भार किस व्यक्ति पर पड़ता है अपेक्षाकृत अन्य बातों के।

तुलनात्मक अध्ययन

प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष करों की तुलना विभिन्न दृष्टिकोणों से की जा सकती है। पुराने लेखकों ने कर-भार के प्रश्न को सम्मुख रख कर यह निष्कर्ष निकाला था कि अप्रत्यक्ष कर प्रत्यक्ष करों की अपेक्षा खराब होते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि अप्रत्यक्ष करों से जो आय सरकार को होती है उसका भार अधिक होगा, अपेक्षाकृत यदि वह प्रत्यक्ष करों द्वारा प्राप्त की जाए। सारांश में इन लेखकों का अभिप्राय यह था कि साधनों के वितरण पर प्रत्यक्ष करों का प्रभाव, अप्रत्यक्ष करों की अपेक्षा कम हानिकारक होता है। प्रो० प्रेस्ट ने दूसरी ओर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया

16. U. K. Hicks : *Public Finance*, p. 132.

है कि अप्रत्यक्ष करों के प्रभाव अधिक अच्छे हो सकते हैं।[17]

कुछ लेखकों ने प्रशासन की दृष्टि से प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष करों के बीच भेद किया है। प्रशासन के दृष्टिकोण से प्रत्यक्ष कर नीची आय वाले व्यक्तियों पर नहीं लगाये जाते और उनके लिए उपयुक्त कर रहित सीमायें भी निश्चित कर दी जाती हैं। ऐसे करों को वसूल करना कठिन होता है और करदाताओं के लिए असुविधाजनक भी। ये दोष अप्रत्यक्ष करों में नहीं होते। किन्तु उस आधार पर दोनों प्रकार के करों के बीच भेद करना उचित प्रतीत नहीं होता। प्रथम, किसी भी देश में समाज को ऐसे वर्गों में विभाजित नहीं किया जाता कि प्रत्यक्ष कर एक वर्ग पर लागू किए जाएं और अप्रत्यक्ष कर दूसरे वर्ग पर। कहने का अभिप्राय यह है कि जिन व्यक्तियों पर प्रत्यक्ष कर लागू नहीं होते उनको अप्रत्यक्ष करों का भुगतान अवश्य करना होता है। दूसरे आधुनिक प्रशासन-सम्बन्धी व्यवस्था में ऐसा प्रबन्ध कर दिया जाता है कि आय तथा प्रत्यक्ष कर नीची से नीची आय वाले व्यक्तियों पर भी लागू किए जा सकते हैं। इसलिए दोनों करों के बीच उस आधार पर तुलना करना उचित नहीं है। प्रो० प्रेस्ट के अनुसार कुछ कारणों वश अप्रत्यक्ष करों का पक्ष अधिक शक्तिशाली हो जाता है, जैसे, अर्द्ध-विकसित देशों के लिए ऐसे कर अत्यन्त उपयुक्त होते हैं, क्योंकि इन देशों में छोटे तथा स्वतन्त्र उत्पादक एक बहुत बड़ी संख्या में होते हैं, अधिकांश व्यक्ति अशिक्षित होते हैं और अपनी आय-व्यय सम्बन्धी हिसाब नहीं रख पाते तथा व्यापार वस्तु-विनिमय द्वारा होता है और अधिकतर व्यक्ति अपनी जीविका चलाने भर को ही कमा पाते हैं।"[18]

कभी-कभी दोनों करों में वितरण-सम्बन्धी पहलू को ध्यान में रख कर ही तुलना की जाती है। यह कहा जाता कि पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था में आय की असमानताओं को कम किया जा सकता है और इसलिए ऐसे करों को प्रयत्नशील समझा जाता था। दूसरी ओर अप्रत्यक्ष करों को प्रतिगामी समझते थे, क्योंकि उनका भार सभी व्यक्तियों को वहन करना होता है। किन्तु यह ध्यान रहे कि जहाँ तक वितरणात्मक प्रभावों का सम्बन्ध है दोनों ही करों को समान सिद्धान्तों के आधार पर लागू किया जाता है और दोनों ही कर वितरण-सम्बन्धी दोषों को दूर करने के लिए उपयोग में लाए जा सकते हैं। हाँ, इतना अवश्य है कि आय के पुनर्वितरण के लिए अलग-अलग विधियों का उपयोग करना पड़ता है। प्रत्यक्ष करों में आवश्यक सन्तुलन उत्पत्ति के साधनों के बाजार द्वारा प्राप्त करना होता है, क्योंकि आय के आकार तथा कर-भुगतान की राशि के बीच एक घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। अप्रत्यक्ष करों में यह सन्तुलन वस्तु-बाजार द्वारा प्राप्त किया जाता है। इसलिए यह कहना कि प्रत्यक्ष-कर प्रगतिशील होते हैं और अप्रत्यक्ष-कर प्रतिगामी, उचित प्रतीत नहीं होता। वास्तव में यदि प्रत्यक्ष-कर का भार भी उपभोक्ताओं पर वितरित कर दिया जाये तो वह भी प्रतिगामी हो जायेगा। इसी प्रकार यदि अप्रत्यक्ष कर द्वारा साधनों

17. A. R. Prest : *Public Finance*, pp. 36–49.
18. *Op. cit.*, pp. 41–42.

का पुर्नवितरण विलासयुक्त वस्तुओं के उत्पादन से अनिवार्य आवश्यकताओं की वस्तुओं के उत्पादन की ओर मोड़ दिया जाए तो ऐसे अप्रत्यक्ष कर भी प्रगतिशील हो सकते हैं।

प्रत्यक्ष करों के गुण—प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष करों के तुलनात्मक महत्व का ज्ञान करने के लिए यह आवश्यक है कि इन दोनों के गुणों तथा अवगुणों की विवेचना पहले की जाए। प्रत्यक्ष करों के गुण निम्न प्रकार हैं :—

(१) प्रत्यक्ष कर कर-दान योग्यता के अनुकूल होते हैं, क्योंकि इनको प्रगतिशील बनाया जा सकता हैं। अर्थात् इनको इस प्रकार लगाया जा सकता है कि कर का भार धनी व्यक्तियों पर अधिक पड़े और निर्धन व्यक्तियों पर कम पड़े। (२) ये कर मितव्ययी भी होते हैं, क्योंकि इनको इकट्ठा करने का व्यय बहुत कम होता है। बात यह है कि इन करों में अधिकांश धन तो स्रोत पर ही इकट्ठा कर लिया जाता है। (३) ये कर निश्चित होते हैं। (४) ये कर उत्पादक भी हैं, क्योंकि देश की आर्थिक उन्नति के साथ-साथ इन करों में स्वयं वृद्धि होती जाती है। (५) ये कर लोचदार भी होते हैं, क्योंकि इनकी दर आवश्यकतानुसार बढ़ाई-घटाई जा सकती है। (६) अन्त में व्यक्तियों में जागृति तथा नागरिकता की भावना उत्पन्न होती है। क्योंकि हर व्यक्ति को यह पता रहता है कि वह सरकार के खजाने में कितना धन दे रहा है। इस कारण वह अपने अधिकारों को प्राप्त करने की तथा कर्त्तव्यों को समझने की चेष्टा करता है।

प्रत्यक्ष करों के दोष—प्रत्यक्ष करों में निम्न दोष बताये जाते हैं :—

(१) प्रत्यक्ष कर असुविधाजनक होते हैं। करदाताओं को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, जैसे हिसाब-किताब का पूरा ब्यौरा तैयार करना, उसका निरीक्षण कराना, बार-बार कर दफ्तरों को आना-जाना इत्यादि। इसके अतिरिक्त कर के भुगतान करने में भी कठिनाई होती है, क्योंकि आय तो थोड़ी-थोड़ी प्राप्त होती है, परन्तु कर राशि का भुगतान एकदम करना होता है। (२) ऐसे करों में चोरी की सम्भावना बहुत अधिक होती है। वास्तव में यह कर व्यक्ति की ईमानदारी पर लगाया जाता है। परन्तु वास्तविक जीवन में बड़ी बेईमानी होती है और व्यापारी लोग झूठे बही खाते बनाकर कर की चोरी कर लेते हैं। (३) ऐसे करों में कर की दर का निर्धारण पूर्णतः कर अधिकारी की इच्छानुसार होता है, अर्थात् कर की दर मनमाने ढंग पर निर्धारित की जाती है। (४) अन्त में कुछ लोगों के अनुसार ये कर व्ययपूर्ण भी होते हैं क्योंकि कर अफसरों को व्यक्तिगत रूप से प्रत्येक व्यक्ति के पास जाना पड़ता है।

अप्रत्यक्ष करों के गुण—अप्रत्यक्ष करों के गुण निम्नांकित हैं:—

(१) ये कर न्यायपूर्ण होते हैं, क्योंकि यह निर्धन तथा धनी, सभी प्रकार के व्यक्तियों पर लगाए जाते हैं और अपनी-अपनी स्थिति के अनुसार सभी इसका भुगतान करते हैं। यह कर वस्तुओं और सेवाओं पर लगाए जाते हैं, जिनको सभी

व्यक्ति अपनी-अपनी हैसियत के अनुसार खरीदते हैं और कर का भुगतान करते हैं। इस दृष्टि से तो ये कर आनुपातिक हुए, परन्तु इनको प्रगतिशील भी बनाया जा सकता है यदि विलास की वस्तुओं पर अधिक ऊँचा कर लगाया जाये, और दूसरी वस्तुओं पर कम कर लगाया जाए। (२) इन करों से, देश का कर-आधार बहुत ही विस्तृत हो जाता है। (३) ये कर सुविधापूर्ण होते हैं। वास्तव में करदाता को यह ज्ञान भी नहीं होता कि वह कर का भुगतान कर रहा है, क्योंकि कर वस्तुओं के मूल्य में ही मिला होता है। उपभोक्ता तो यह समझता है कि वह वस्तु का मूल्य दे रहा है, परन्तु वह उसके साथ-साथ कर भी देता रहता है। (४) इस प्रकार के करों की चोरी करना सरल नहीं होता क्योंकि करदाता कर का भुगतान वस्तु के मूल्य के साथ-साथ कर देता है। (५) इन करों को लोचपूर्ण भी बनाया जा सकता है क्योंकि आवश्यक वस्तुओं पर तनिक-सा कर भी लग जाने पर बहुत आय प्राप्त हो जाती है। कुछ लोगों के अनुसार ऐसा करने से कर की न्यायशीलता कम हो जायेगी। क्योंकि आवश्यक वस्तुओं पर कर लगाने से कर का भार निर्धनों पर अधिक पड़ता है और कर प्रगतिशील होने के स्थान पर प्रतिगामी हो जायेगा। परन्तु यह विचार भ्रमपूर्ण है। आवश्यक वस्तुओं पर कर लगाने से प्रगतिशीलता में कोई कमी नहीं होती, उस समय तक जब तक कि विलास की वस्तुओं पर बहुत ऊँची दर से कर लग रहा है और आवश्यक वस्तुओं पर बहुत ही नीची दर से कर लगाया गया है। आवश्यक वस्तुओं पर कर लगाने से निर्धन व्यक्तियों से भी कर लिया जा सकता है और इस प्रकार कर प्रणाली पूर्णरूप से करदान योग्यता के सिद्धान्त के अनुकूल हो जाती है। अन्त में, इन करों से हानिकारक वस्तुओं के उपयोग को रोका जा सकता है। हानिकारक वस्तुएँ जैसे मद्य, तम्बाकू आदि पर कर लगाकर तथा विलासिता की वस्तुओं पर कर लगाने से मूल्य ऊँचे हो जाते हैं और उनका उपभोग भी कम हो जाता है।

अप्रत्यक्ष करों के दोष—अप्रत्यक्ष करों के निम्न दोष बताये जाते हैं:—

(१) ये कर समानता तथा कर-दान योग्यता-सिद्धान्त का उल्लंघन करते हैं। इनका भार अधिकतर निर्धन व्यक्तियों पर पड़ता है क्योंकि इनको अधिक उत्पादक बनाने के लिए जीवन तथा उपभोग की आवश्यक वस्तुओं पर लगाया जाता है। यह स्पष्ट ही है कि निर्धन व्यक्ति अपनी आय का अधिकांश भाग अनिवार्य वस्तुओं पर ही व्यय करते हैं, जबकि धनी व्यक्ति अपनी आय का बहुत थोड़ा प्रतिशत इन वस्तुओं पर खर्च करते हैं, इसलिए कर-भार निर्धन व्यक्तियों पर अधिक और धनी व्यक्तियों पर कम पड़ता है। अतः अप्रत्यक्ष कर अधिकतर प्रतिगामी होते हैं। (२) ये कर लोचपूर्ण भी नहीं होते, यदि ये केवल विलास की वस्तुओं पर ही लगाये जायँ। (३) इसके अतिरिक्त ये कर कम उत्पादक होते हैं और इनमें निश्चितता का भी अभाव रहता है। सरकार यह निश्चय ही नहीं कर सकती कि उसको इन करों से कितनी आय प्राप्त होगी। (४) ये कर मितव्ययी भी नहीं होते। इनको इकट्ठा करने में बहुत खर्च करना होता है जबकि इनसे उतनी आय प्राप्त नहीं

हो पाती। (५) अन्त में, इनकी चोरी भी की जा सकती है, झूठे वही खाते बनाकर इत्यादि।

यद्यपि काफी लम्बे काल से इस बात होता वाद-विवाद पर चला आया है कि इन दोनों करों में से कौन अच्छा है? फिर भी उपर्युक्त विवरण के पश्चात् यह स्पष्ट ही है कि किसी देश की कर-प्रणाली को न्यायपूर्ण बनाने के लिए तथा कर-प्रणाली को कर-दान योग्यता सिद्धान्त पर आधारित करने के लिए, दोनों ही करों को लगाना चाहिए। दोनों कर एक-दूसरे के दोषों को दूर करते हैं। इनमें से किस कर का अधिक प्रयोग किया जाए यह देश-विशेष की आर्थिक एवं सामाजिक उन्नति पर निर्भर करता है। किसी देश में प्रत्यक्ष कर अधिक अच्छे रहेंगे और किसी में अप्रत्यक्ष कर। परन्तु दोनों का साथ-साथ प्रयोग होना अनिवार्य है। ग्रेट स्काटमैन (Great Scottman) के शब्दों में, "मैं प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष करों के विषय में और कुछ नहीं सोच सकता, अतिरिक्त इसके कि मैं उनको दो आकर्षक बहनों के समान मानूं जो कि लन्दन के सुन्दर संसार में आई हैं। दोनों ही विपुल भाग्यशालिनी हैं, दोनों के माता-पिता एक हैं—मेरा विश्वास है कि दोनों के माता-पिता 'आवश्यकता' और 'आविष्कार' हैं—उनमें अन्तर केवल इतना ही हो सकता है जितना कि दो बहनों में होता है.........।"[19] हम स्काटमैन के विचार से सहमत नहीं हैं क्योंकि कर के रूप में तो यह दो बहनों की भाँति हैं, परन्तु अपने भार की दृष्टि से दोनों एक दूसरे से पूर्णतः भिन्न हैं। इसके अतिरिक्त न्यायशीलता तथा व्यावहारिकता के लिए दोनों बहनों का होना इतना आवश्यक नहीं जितना कि इन दोनों करों का। इस प्रकार प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष कर गाड़ी के दो पहियों के समान हैं। कर-प्रणाली की गाड़ी बिना दूसरे पहिये के चल ही नहीं सकती।

डिमार्को के विचार—प्रो० डिमार्को ने इन दोनों करों के सम्बन्ध में दो बातें बताई हैं। प्रथम यह कि अप्रत्यक्ष और प्रत्यक्ष कर एक-दूसरे के पूरक (Complementary) हैं[20], और दूसरे इससे अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि प्रत्यक्ष करों द्वारा उत्पन्न होने वाले रगड़ात्मक प्रभावों (Frictional forces) को अप्रत्यक्ष कर कम करते हैं।[21] अतः किसी भी कर-प्रणाली में दोनों करों का समन्वय होना चाहिए।

डिमार्को का विचार है कि समाज में कुछ व्यक्तियों की आय तो इतनी प्रत्यक्ष तथा स्पष्ट है कि उसको सही तौर पर मालूम किया जा सकता है, जैसे वेतन-भोगी व्यक्ति, तथा कुछ व्यक्तियों की आय ऐसी होती है जिसका अनुमान ही नहीं लगाया जा सकता, जैसे व्यापारी। प्रत्यक्ष करों का भार पहले प्रकार के व्यक्तियों पर अधिक पड़ेगा और दूसरे प्रकार के व्यक्तियों पर कम। कर-भार की इस असमानता को दूर करने के लिए अप्रत्यक्ष कर लगाए जाते हैं। धनी व्यक्तियों और व्यापारियों

19. Quoted by Shirras, *Science of Public Finance, 1936*, p. 297
20. *Op. Cit.*, pp. 132–136.
21. *Ibid*, pp. 136–137.

के पास. कर कम लग पाने के कारण, आय का बहुत अधिक भाग खर्च करने के लिए रह जाएगा। अप्रत्यक्ष करों द्वारा आय के इस भाग पर भी कर वसूल कर लिया जायेगा और सभी व्यक्तियों में कर-भार समान रूप से बँट जाएगा। अतः अप्रत्यक्ष कर प्रत्यक्ष करों की इस कमी को दूर करते हैं और उनके पूरक होते हैं। एक दूसरी प्रकार से भी अप्रत्यक्ष कर प्रत्यक्ष करों के पूरक होते हैं। व्यक्तियों की आयों में थोड़े-थोड़े समय बाद परिवर्तन होते रहते हैं जिन्हें निश्चित करना कठिन होता है। परन्तु इतना अवश्य है कि आय बढ़ने से उपभोग बढ़ता है और आय घटने से उपभोग कम होता है। अप्रत्यक्ष कर आय के इस प्रकार के परिवर्तनों को भी अपने क्षेत्र में ले लेते हैं।

इसी प्रकार प्रत्यक्ष कर भी अप्रत्यक्ष करों के पूरक होते हैं। एक तो अप्रत्यक्ष कर उन वस्तुओं पर नहीं लगाये जा सकते जिनका उपभोग स्वयं उत्पादकों द्वारा किया जाता है। दूसरे अप्रत्यक्ष कर सभी प्रकार की वस्तुओं और सेवाओं पर भी नहीं लगाए जा सकते और अन्त में अप्रत्यक्ष करों में भी कर की चोरी हो सकती है। इन सब कारणों से अप्रत्यक्ष करों के साथ-साथ प्रत्यक्ष कर भी होने चाहिये।

डिमार्को के विचार में अप्रत्यक्ष कर एक महत्वपूर्ण कार्य और भी करते हैं, वह यह है कि ये कर के एकत्र करने में और आय का अनुमान लगाने में जो रगड़ात्मक शक्तियाँ (Frictional forces) उत्पन्न होती हैं उनको न्यून करने में सहायता देते हैं। कर बड़ी ही अरुचिकर वस्तु है। कोई भी इसका स्वागत नहीं करता। अतः कर लगते ही कुछ लोग इसका विरोध करते हैं और ऐसी क्रियाएँ आरम्भ हो जाती हैं, जैसे कर-भार दूसरे व्यक्तियों पर टालना (shifting) कर का सम्मिश्रण (diffusion), पूँजीकरण (capitalisation) और कर की चोरी (evasion), ये सब क्रियाएँ उस समय तक चलती रहती हैं जब तक कि आर्थिक प्रणाली में कर द्वारा उत्पन्न होने वाला असंतुलन दूर नहीं हो जाता और फिर से संतुलन स्थापित नहीं हो जाता। उसका विश्वास है कि इसी असंतुलन द्वारा ये सब क्रियाएँ उत्पन्न होती हैं। उदाहरणार्थ, यदि मजदूरी पर कर न लगकर उसी अनुपात में लाभों के ऊपर कर बढ़ जाता है तो वेतनभोगियों को कर से उसी समय तक छूट मिलेगी जब तक कि मजदूरियों और लाभों में नया संतुलन स्थापित नहीं हो जाता।[22] इसी प्रकार तीव्र प्रतिगामी कर द्वारा यदि सरकार बड़ी-बड़ी सम्पत्तियों का अन्त करना चाहती है, तो यह भी उसी समय तक हो सकेगा जब तक कि पुरानी स्थिति पुनः स्थापित नहीं हो जाती अर्थात् बचत, नया उत्पादन, नए क्रेता इत्यादि सब पुरानी स्थिति में नहीं हो जाते।[23] इसीलिए डिमार्को का विचार है कि "पहले ही क्षण से करों का बँटवारा ऐसा होना चाहिए जिससे उपस्थित आर्थिक संतुलन या तो भंग न हो या जहाँ तक सम्भव हो कम हो।[24] कर लगने से इस प्रकार का असंतुलन उत्पन्न होना स्वाभाविक है। प्रत्यक्ष करों का भुगतान करते समय प्रत्येक

22. *Op. Cit.*, p. 163.
23. *Ibid,*, pp. 163–164.
24. *Ibid.*, p. 165.

व्यक्ति को ज्ञान होता है कि वह कर के रूप में कितने धन का भुगतान कर रहा है और जिसका भुगतान करने के लिए उसको अपनी कितनी आवश्यकताएँ कम करनी पड़ी हैं। इसीलिए वह सदैव यही प्रयत्न करता है कि किसी न किसी प्रकार उसको कम कर देना पड़े। एक ओर सरकार कर द्वारा आय प्राप्त करना चाहती है, दूसरी ओर करदाता कर का भुगतान नहीं करना चाहते—यह दोनों ही बातें एक-दूसरे के विपरीत हैं। यह स्वाभाविक ही है कि आर्थिक प्रणाली में कुछ रगड़ उत्पन्न हो, जिससे सरकार का उद्देश्य पराजित हो जाए। अप्रत्यक्ष करों के लग जाने से यह रगड़ बहुत कुछ कम हो जाती है। एक तो अप्रत्यक्ष करों का भुगतान करते समय करदाताओं के मस्तिष्क में वह विरोध की भावना उत्पन्न नहीं होती जो प्रत्यक्ष करों का भुगतान करते समय होती है। इसके दो कारण हो सकते हैं—पहला यह कि करदाता को यह ज्ञान ही नहीं हो पाता कि वह कर का भुगतान कर रहा है, क्योंकि कर वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य के साथ ही मिला रहता है। दूसरा यह कि कर का भुगतान उस समय होता है जबकि उपभोक्ता अपने व्यय से कुछ संतुष्टि भी प्राप्त करता है। उपभोक्ता को प्रत्यक्ष रूप से अपनी आवश्यकताओं में कमी नहीं करनी पड़ती है, जैसा कि प्रत्यक्ष करों में होता है। साथ ही उपभोक्ता अपनी आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करने के लालच से कर का भुगतान करने के लिए बाध्य होता है, क्योंकि वह यदि कर के भुगतान से बचना चाहे तो उसे आवश्यकताओं की सन्तुष्टि का त्याग करना होगा, जो कोई भी उपभोक्ता नहीं चाहेगा। उपभोक्ता के हृदय में विरोध करने की भावना इस कारण भी उत्पन्न नहीं होती क्योंकि कर का भुगतान एकदम नहीं करना होता बल्कि धीरे-धीरे थोड़ी-थोड़ी मात्रा उसको देनी होती है। अन्त में आय का प्रत्यक्ष अनुमान ही नहीं लगाया जाता और इस प्रकार करदाता और सरकार में कोई मतभेद का प्रश्न ही नहीं उठता। इस प्रकार अप्रत्यक्ष कर उन बुराइयों को भी कम करते हैं जो प्रत्यक्ष करों द्वारा उत्पन्न होती हैं और जिनका वर्णन हम अभी कर चुके हैं। इसीलिए प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष कर दोनों एक-दूसरे के पूरक होते हैं। डाल्टन के अनुसार भी "विभिन्न कर एक-दूसरे को ठीक करते हैं तथा साम्य उत्पन्न करते हैं।"

अर्धविकसित देशों में—

यद्यपि प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष करों का उद्देश्य एक समान होता है, अर्द्ध-विकसित देशों के लिए अप्रत्यक्ष कर ही अधिक उपयुक्त होते हैं। अप्रत्यक्ष करों द्वारा राजकीय विनियोगों के लिए आवश्यक साधन प्राप्त हो जाते हैं और देश में उपभोग को कम करके विनियोग की दर को बढ़ाया जा सकता है। अर्द्ध-विकसित देशों में आय तथा जीवन-स्तर के निम्न होने के कारण प्रत्यक्ष कर अधिक प्रभावशील नहीं होते। इसलिए उपभोग की वस्तुओं पर कर लगाकर सरकार आवश्यक सेवायें प्रदान करने के लिए धन एकत्रित कर सकती हैं। इसके अतिरिक्त, ऊँची दर से विलास-युक्त वस्तुओं पर कर लगाकर ऊँची आय वाले वर्गों को अधिक भुगतान करने

के लिए बाध्य किया जा सकता है और इस प्रकार न्याय तथा प्रगतिशीलता, दोनों के ही आधार पर अप्रत्यक्ष कर उपयुक्त सिद्ध होते हैं। आधुनिक लेखकों की यह धारणा है कि अप्रत्यक्ष करारोपण द्वारा आर्थिक सम्वृद्धि (growth) को भी तीव्र किया जा सकता है। अर्द्ध-विकसित देशों में जहाँ व्यक्ति अपनी आय को उपभोग पर ही खर्च करते हैं, ऐसे करों के द्वारा उपभोग को नियन्त्रित किया जा सकता है। विकास योजनाओं को लागू करने से राष्ट्रीय आय में जो वृद्धि होती है, वह उपभोग पर ही व्यय हो जाती है। यदि अप्रत्यक्ष करों द्वारा उपभोग को नियन्त्रित न किया जाए तो विकास की गति मन्द पड़ जाएगी। खेतिहर देशों में कृषि-उत्पादन में नियोजन काल में जो वृद्धि होती है उसको यदि कृषक वर्ग अपने ही उपभोग के कामों में ले आए तो बाजार में अनाज प्राप्त ही नहीं होगा। इसलिए कृषि-उत्पादन की वस्तुओं पर अप्रत्यक्ष कर लगाकर इस प्रवृत्ति को रोका जा सकता है। भारत में तो यह भी स्वीकार कर लिया गया है कि अर्द्ध-विकसित देशों में अनिवार्य आवश्यकताओं की वस्तुओं पर भी कर लगाए जाने चाहियें, यदि हम राजकीय विनियोगों के लिए आवश्यक साधन प्राप्त करना चाहते हैं।[25] किन्तु राजस्व-सम्बन्धी लेखकों का यह विचार है कि आर्थिक विकास के लिए अनिवार्य आवश्यकताओं की वस्तुओं पर कर लगाना नितान्त आवश्यक नहीं है।[26] इस सम्बन्ध में यह बताया गया है कि क्योंकि अधिकांश व्यक्ति केवल इतना ही कमाते हैं कि स्वयं को जीवित रख सकें, इसलिए यह आवश्यक है कि अनिवार्य आवश्यकताओं की वस्तुओं के उत्पादन को बढ़ाया जाए और ऐसी ग़ैर आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन भी बढ़ाया जाए जिनका उपभोग श्रमिक वर्ग द्वारा होता है। ऐसा करना इसलिए आवश्यक है, क्योंकि आर्थिक विकास के साथ-साथ ग्रामीण क्षेत्रों को छोड़कर जीविकोपार्जन के लिए वे नगरों में आ जाएँगे। वस्तु करारोपण का मुख्य उद्देश्य आवश्यक वस्तुओं के उत्पादन तथा उपभोग को कम करना नहीं होता. वरन् व्यक्तियों में बचत करने की भावना को जागृत करना होता है। प्रत्यक्ष करारोपण केवल ग़ैर आवश्यक और विलास-युक्त वस्तुओं के उपभोग तथा उत्पादन को ही नियन्त्रित करने के उद्देश्य से किया जाता है और इसका उद्देश्य आवश्यक वस्तुओं के बढ़े हुए उत्पादन को ग्रामीण क्षेत्रों से औद्योगिक तथा नगर क्षेत्रों को स्थानान्तरित करना भी होता है। इन उद्देश्यों की पूर्ति केवल आवश्यकताओं पर कर लगाकर नहीं की जा सकती। इसलिए स्पष्ट है कि यह आवश्यक नहीं कि अनिवार्य आवश्यकताओं की वस्तुओं पर कर लगाया ही जाए।

आनुपातिक, प्रगतिशील, प्रतिगामी, तथा अधोगामी करारोपण—करों को एक दूसरे प्रकार से चार भागों में बाँटा गया है—आनुपातिक, प्रगतिशील, प्रतिगामी और अधोगामी। यह वर्गीकरण मुख्य रूप से करों की दर और करदाताओं की आर्थिक शक्ति के पारस्परिक सम्बन्ध पर आधारित है। आनुपातिक कर वह है जिसकी दर सारे करदाताओं के लिए समान हो जैसे १०० रुपये की आय वाले

25. Taxation Enquiry Commission Report, Vol. I, p. 49.
26. Raja Chelliah, op. cit., pp. 87–89.

व्यक्ति पर भी ५% की दर से कर लगाया गया है और १०००० रुपये की आय पर भी वही दर है। इस कर के गुणों का वर्णन करते हुए कुछ लोगों का कहना है कि कर में एक तो गुण यह है कि यह धन के वितरण को पूर्ववत् रखता है, दूसरे यह सरल बहुत है। इसका हिसाब कोई भी व्यक्ति लगा सकता है। इस सम्बन्ध में जे० बी० से ने कहा है कि "आनुपातिक कर की परिभाषा करने की आवश्यकता नहीं है, यह साधारण त्रैराशिक नियम (Rule of three) है।" परन्तु केवल सरलता पर कर-प्रणाली की न्यायशीलता को बलि नहीं चढ़ाया जा सकता। यह कर न्याय-सिद्धान्त के बिल्कुल विरुद्ध है। हमारे उदाहरण में १०००० रुपये की आय वाले व्यक्ति को मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता अपेक्षाकृत १०० रुपये वाले के बहुत ही कम होगी इस कारण पहले व्यक्ति पर कर-भार कम होगा और दूसरे व्यक्ति पर अधिक। अतः यह कर न्यायपूर्ण नहीं है।

प्रगतिशील कर—आय बढ़ने के साथ-साथ जब कर की दर भी बढ़ती जाती है, तब ऐसे कर को प्रगतिशील कहते हैं। इसके अनुसार विभिन्न आयों को कुछ सामान्य वर्गों में बाँट दिया जाता है और वर्गों के अनुसार कर लगाया जाता है। आय ऊँची होने के साथ-साथ कर की दर भी बढ़ती जाती है, जैसे ३००० से ५००० रुपये तक दो पैसे प्रति रुपया, ५००० से १०००० रुपये तक ५ पैसे प्रति रुपया, १०००० से २०००० रुपये तक १० पैसे प्रति रुपया इत्यादि। आय को इस प्रकार के विभिन्न भागों में बांटने और कर लगाने की विधि को प्रतिगामिता (Graduation) और ऐसे कर को प्रतिगामित कर (Graduated Tax) कहते हैं।

पक्ष में—संसार के लगभग सभी देशों ने प्रगतिशील कर को ही उचित और न्यायसंगत माना है। इसके निम्न गुण बताए जाते हैं:—

(१) प्रगतिशील करों द्वारा धन का वितरण अधिक समान किया जा सकता है। एक ओर तो समाज के धनी वर्गों की क्रयशक्ति कम हो जाती है और दूसरी ओर निर्धन वर्गों को विभिन्न प्रकार की सहायताओं को प्रदान करके उनकी क्रय-शक्ति को बढ़ाया जाता है। आय पर भी सीमान्त उपयोगिता ह्रास-नियम लागू होता है। जैसे-जैसे आय में वृद्धि होती है, प्रत्येक अतिरिक्त इकाई से प्राप्त होने वाली उपयोगिता कम होती चली जाती है। इस प्रकार व्यक्तियों की सामान्य मनोवृत्ति तथा दृष्टिकोण यथास्थिर रहने की दशा में एक निर्धन व्यक्ति को आय की वृद्धि से अधिक संतुष्टि प्राप्त होगी अपेक्षाकृत एक धनी व्यक्ति के। यदि धनी व्यक्ति की आय में से एक इकाई निकाल कर निर्धन व्यक्ति को दे दी जाए तो धनी व्यक्ति को होने वाले नुकसान की तुलना में निर्धन व्यक्ति को प्राप्त होने वाली संतुष्टि कहीं अधिक होगी और यदि इसी प्रकार हस्तान्तरण किए जाते रहे तो समाज की कुल संतुष्टि में बहुत अधिक वृद्धि होगी। प्रो० मार्शल का भी यही विचार है।

(२) प्रगतिशील कर, कर-दान योग्यता के सिद्धान्त के अनुकूल है। हम ऊपर कह आए हैं कि धनी व्यक्ति को द्रव्य की सीमान्त इकाई की उपयोगिता अपेक्षाकृत एक निर्धन व्यक्ति के बहुत कम होती है। अतः धनी व्यक्ति को निर्धन व्यक्ति की

तुलना में कर देने से कम हानि होती है। धनी व्यक्ति कर भुगतान करने के लिए अपनी कम आवश्यक आवश्यकताओं को ही कम करेगा परन्तु निर्धन व्यक्ति को तो अपनी अनिवार्य आवश्यकताओं को कम करना पड़ेगा। इस कारण यह कर उपयोगिता ह्रास-नियम पर आधारित है। परन्तु प्रो० पीगू का विचार है कि उपयोगिता ह्रास-नियम से केवल इस बात का पता चलता है कि १००० पौंड वाली आय के अन्तिम पौंड की उपयोगिता १०० पौंड वाली आय के अन्तिम पौंड की उपयोगिता से कम है। परन्तु प्रगतिशील कर को न्यायसंगत बनाने के लिए यह जानना आवश्यक है कि १००० पौंड वाली आय के अन्तिम १० पौंड की उपयोगिता १०० पौंड वाली आय के अन्तिम एक पौंड की उपयोगिता से कम है, जो उपयोगिता ह्रास-नियम से पता नहीं लगता।

(३) उपर्युक्त दलील के आधार पर ही यह कहा जाता है कि ऐसे कर से समाज को सन्तुष्टि का ह्रास न्यूनतम होगा, क्योंकि धनी व्यक्तियों को ऊँचा कर देने पर भी इतनी असन्तुष्टि नहीं होगी जितना कि निर्धन व्यक्तियों को। अतः निर्धन व्यक्तियों को कर-मुक्त करके और धनी व्यक्तियों पर ऊँचा कर लगाकर समाज के बलिदान को न्यूनतम किया जा सकता है। साथ ही, जैसा पीगू ने कहा है कि बहुत से धनी व्यक्तियों को जो सन्तुष्टि प्राप्त होती है वह इसलिए नहीं कि वे धनी हैं वरन् इसलिए कि वे दूसरों से अधिक धनी हैं। इसलिए यदि इन सभी धनी व्यक्तियों की आय को एक ही अनुपात में कम कर दिया जाए तो इन लोगों को सन्तुष्टि की कोई विशेष हानि नहीं होगी। वे पहले की अपेक्षा निर्धन तो हो जाएँगे परन्तु वे रहेंगे उतने ही धनी (दूसरों की तुलना में) जितना पहले थे और इस प्रकार इनको सन्तुष्टि की इतनी अधिक क्षति नहीं होगी।

(४) प्रगतिशील कर मितव्ययी होते हैं क्योंकि इनको एकत्र करने का व्यय अधिक नहीं होता। आय बढ़ने के साथ-साथ भी इकट्ठा करने का व्यय पूर्ववत् रहता है। इस कारण यह कर मितव्ययी होते हैं।

(५) प्रो० हॉबसन ने प्रगतिशील कर को दूसरे ढंग से उचित बताया है। उन्होंने प्रत्येक व्यक्ति की आय को दो भागों में विभाजित किया है—लागत का अंग और बचत का अंग। पहले अंग पर कर लगाना हानिकारक होगा क्योंकि ऐसा करने से आय ही समाप्त हो जाएगी। इसलिए सब कर बचत के ऊपर ही लगने चाहिएं। इनके अनुसार जितनी आय कम होगी उतना ही उसमें लागत अंग अधिक होगा और जितनी आय अधिक होगी उतना ही लागत अंग कम होगा और बचत अंग अधिक होगा। अतः ऊँची आय पर प्रगतिशील कर लगाना चाहिए क्योंकि उनमें बचत अंग अधिक होता है। परन्तु हॉबसन ने यह स्पष्ट नहीं किया कि आय की लागतों का अनुमान किस प्रकार किया जाए और प्रत्येक आय में लागतों का अंग अधिक और बचतों का अंग कम या इसका उल्टा किस प्रकार मालूम किया जा सकेगा; क्योंकि बिना इसके ज्ञान के करों की दर निर्धारित नहीं की जा सकती।

(६) आधुनिक काल में सरकारों के व्यय दिन-प्रतिदिन बढ़ते जा रहे हैं। प्रगतिशील सिद्धान्त द्वारा धनी व्यक्तियों पर ऊँचे कर लगाकर सरकार आवश्यकतानुसार अपनी आय बड़ी सरलता से प्राप्त कर सकती है।

(७) प्रगतिशील कर अधिक लोचपूर्ण होते हैं। सरकार अपनी आवश्यकता के समय केवल धनी व्यक्तियों पर कर की दर को बढ़ाकर आय प्राप्त कर सकती है। आनुपातिक प्रणाली में यह सम्भव नहीं है, क्योंकि उसमें कर की दर बढ़ाने से निर्धनों पर ही कर-भार अधिक रहता है।

(८) कैन्स ने प्रगतिशील करों को पूर्ण रोज़गार की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण बताया है। अवसाद काल में यह आवश्यक है कि सरकार अधिक व्यय करे और व्यक्तियों पर कम कर लगाये ताकि स्वयं उनके पास भी कुछ क्रय-शक्ति रहे, जिससे वे खर्च करते रहें और मूल्य ऊपर उठने लगें और रोज़गार पहले ही जैसा रहे। यह ध्यान रहे कि केवल कम कर लगाने से ही रोज़गार में होने वाले परिवर्तन नहीं रुक जायेंगे, क्योंकि धनी व्यक्तियों पर कर-भार कम होते ही वे अपने धन को व्यय करने के स्थान पर संचित कर सकते हैं। उपभोग करने की प्रवृत्ति (propensity) वैसे ही कम होती है। इसलिये कर को कम करने का ध्येय ही पराजित हो जाएगा। निर्धन व्यक्तियों की उपभोग की प्रवृत्ति अधिक होने से, वे अपनी आय का अधिक भाग उपभोग पर ही व्यय करते हैं। अतः यह आवश्यक है कि धनी व्यक्तियों से भारी कर लगाकर धन प्राप्त किया जाए, उसे निर्धनों पर खर्च किया जाये या उनको आर्थिक सहायता के रूप में दे दिया जाये। समाज में उपभोग की मात्रा पहले की अपेक्षा अधिक होगी और रोज़गार बढ़ता जायेगा।

प्रगतिशील कर के विपक्ष में—आजकल प्रगतिशील करारोपण को सर्वमान्यता प्राप्त हो चुकी है, परन्तु प्राचीन लेखकों को अवश्य ही इसके विरुद्ध कुछ आपत्तियाँ थीं। हम इन आपत्तियों का आलोचनात्मक अध्ययन निम्न में करेंगे :—

(१) कुछ लेखकों ने तो नियम के आधार की ही आलोचना की है। हम ऊपर बता आए हैं कि प्रगतिशील करारोपण निम्न मान्यताओं पर आधारित हैं :—प्रथम, सामान्य रूप से आय की उपयोगिता सभी व्यक्तियों के लिए समान रहती है। दूसरे, आय की प्रत्येक वृद्धि के साथ प्राप्त होने वाली आय की उपयोगिता घटती जाती है और विलास की वस्तुओं पर व्यय अधिक होता जाता है। और तीसरे विलास की वस्तुओं की अपेक्षा अनिवार्य वस्तुओं पर किया गया व्यय कार्यक्षमता की वृद्धि के लिए अधिक आवश्यक है। परन्तु यह सारी मान्यताएँ भ्रमात्मक बताई गई हैं। यह तो हो सकता है कि आय की वृद्धि किसी व्यक्ति-विशेष को घटती हुई मात्रा में सन्तुष्टि प्रदान करे, परन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि एक व्यक्ति को प्राप्त होने वाली सीमान्त उपयोगिता दूसरे व्यक्ति की अपेक्षा कम होगी या अधिक। सन्तुष्टि एक मानसिक स्थिति है, जिसका कोई माप नहीं किया जा सकता। अतः धनी व्यक्तियों से निर्धनों को धन के हस्तान्तरण से यह आवश्यक

नहीं कि कुल सन्तुष्टि में वृद्धि हो ही जाये।[27] परन्तु इन लेखकों की त्रुटि यह है कि इन्होंने यह ध्यान नहीं दिया कि करारोपण में उपयोगिता ह्रास-नियम का इस मान्यता पर प्रयोग किया गया है कि मानव व्यवहार समान परिस्थितियों में समान रहता है। इस मान्यता के अपवाद हो सकते हैं परन्तु साधारणतया यह ही देखा गया है कि व्यावहारिक जीवन में यह मान्यता सही उतरती है। यही कारण है कि प्रगतिशील कर संसार में सफलतापूर्वक कार्य कर रहे हैं।

(२) कुछ लेखकों का विचार है कि प्रगतिशील करारोपण के कारण बचतें कम होने लगती हैं, पूँजी का प्रवाह देश के बाहर होने लगता है और देश में उत्पादन गिरने लगता है। व्यक्तियों को अधिक उत्पादन करके आय में वृद्धि करने के लिए कोई भी प्रेरणा नहीं मिलती, क्योंकि वे जानते हैं कि जो भी आय उन्हें प्राप्त होगी वह उनके पास नहीं रहेगी और कर के रूप में सरकार को चली जायेगी। परन्तु वास्तविकता यह है कि कर का प्रभाव प्रत्येक वर्ग पर समान नहीं पड़ता। कुछ व्यक्तियों की तो बचाने और कार्य करने की इच्छा पर बुरा प्रभाव पड़ता है कुछ पर बिल्कुल भी प्रभाव नहीं पड़ता और कुछ को कर द्वारा अधिक बचत करने और कार्य करने के लिए प्रेरणा प्राप्त होती है। व्यक्ति बचाने और कार्य करने के लिए निरुत्साहित उसी समय होता है जबकि कर अति तीव्र प्रगतिशील होता है।

(३) कुछ लेखकों का यह विचार है कि प्रगतिशील कर एक प्रकार की चोरी है और ईमानदारों एवं बुद्धिमानों को सजा दी जाती है। वे लोग जो अपव्ययी हैं और बेकार हैं वे कर-मुक्त रहते हैं, दूसरी ओर जो मेहनत और ईमानदारी से कार्य करते हैं, फिजूलखर्ची न करके बचत करते हैं और इस प्रकार समाज की सेवा करते हैं उन्हें सबसे अधिक कर-भार सहन करना पड़ता है। मिल तो इस कर को अति अन्यायपूर्ण समझते थे और करों की प्रगतिशीलता उनके लिए प्रगतिशील चोरी थी।[28] यह आलोचना अधिक महत्वपूर्ण नहीं है, क्योंकि किसी भी कर को चोरी या डकैती कहना बुद्धिमानी नहीं। सरकार का कोई स्वयं का हित नहीं होता। वह सारे समाज के लिए ही धन का पुनर्वितरण करती है। इसके अतिरिक्त सारा धन मेहनत के कारण ही जमा नहीं होता। सरकार की ओर से जो सुविधाएँ प्राप्त होती हैं वह भी धनी व्यक्तियों को धन एकत्रित एवं सुरक्षित रखने में सहायता करती हैं।

(४) कुछ लेखकों का विश्वास है कि प्रगतिशील करों की दर निर्धारण में मनमाने ढंगों से काम लिया जाता है। प्रगतिशीलता का क्या आधार होना चाहिए ? इसका कोई निश्चित मापदण्ड तो है नहीं, इसी कारण अन्याय होने की गुंजाइश भी बहुत है। इस सम्बन्ध में बहुधा मैक क्लो (Mc Culloch) के कथन को दुहराया जाता है कि "जब आप साधारण सिद्धान्त (अनुपातिक करों) को छोड़ देते हैं, तो आप समुद्र में बिना पतवार और कुतुबनुमा के होते हैं, और कोई भी मात्रा अन्याय

27. Lionel Robbins : *An Easay on the Nature and Significance of Economic Science*, p. 141.

28. Stampe : *Fundamental Principles of Taxation*, pp. 38-39.

की नहीं होगी, जो आप न कर सकें।" परन्तु प्रश्न यह है कि करारोपण में दरों के निर्धारण में मनमाने काम किस स्थान पर नहीं होते ? हर कर में ही यह दोष निकाला जा सकता है क्योंकि दरों के निर्धारण के लिए कोई प्रमापीकृत (Standard) माप तो अभी तक निश्चित नहीं किया जा सका है। रही न्याय और अन्याय की बात सो भी बड़ी विचित्र और हास्यप्रद है। एक व्यक्ति के साथ न्याय करने में किसी दूसरे के साथ अन्याय अवश्य ही होगा। न्याय और अन्याय की बात व्यक्ति सदैव स्वहित की दृष्टि से करते हैं। इसके अतिरिक्त सामाजिक लाभ अधिकतम करने में कुछ लोगों के साथ अन्याय होना कोई बुरी बात नहीं है।

(५) कुछ लेखक तो इस कर को व्यावहारिक ही नहीं मानते हैं। सैलिगमैन का कहना है कि, "यदि इस प्रकार, हम सारे वाद-विवाद का परिणाम निकालें, तो हम देखते हैं, कि जबकि प्रगतिशील कर को हम एक सिद्धान्त के रूप में किसी सीमा तक उचित कह सकते हैं, और व्यक्ति की योग्यता के अनुसार कर नीति को बनाने की सैद्धान्तिक माँग का कथन कह सकते हैं, यह बात निश्चय करनी अति कठिन होती है कि किस सीमा तक और किस ढंग से इस सिद्धान्त को व्यवहार में कार्यान्वित किया जाये।"

डिमार्को के विचार—डिमार्को के अनुसार करों में प्रगतिशीलता, आर्थिक कारणों से नहीं वरन् राजनैतिक कारणों से स्थापित की जाती है। उनके अनुसार अनुपातिक और प्रगतिशील करों-सम्बन्धी विवेचना वस्तुगत (Objective) और भावात्मक (Subjective) दृष्टिकोणों से नहीं की जा सकती है।[२९] डिमार्को का विचार है कि कर वह भुगतान है जो कोई व्यक्ति राजकीय सेवाओं का उपभोग करने के बदले में करता है। हर व्यक्ति राजकीय सेवाओं का उपभोग अपनी आय के अनुपात में करता है। जिस प्रकार व्यक्तिगत मूल्य निर्धारण में होता है कि जो व्यक्ति जितनी वस्तुएँ खरीदे उतना ही मूल्य दे, उसी प्रकार यहाँ पर भी यह होना चाहिए कि जो व्यक्ति जितनी आय कमाता है उतना ही कर दे। अर्थात् करारोपण आनुपातिक होना चाहिए, परन्तु क्योंकि राज्य एक एकाधिकारी की स्थिति में होता है इसीलिए वह प्रत्येक व्यक्ति से भिन्न-भिन्न मूल्य अपनी सेवाओं का ले सकता है। अतः राज्य धनी व्यक्तियों से अधिक मूल्य और निर्धन व्यक्तियों से कम मूल्य ले सकता है। इसलिए आनुपातिक करारोपण का आधार न तो उसका वस्तुगत महत्व (Objective value) है और न आर्थिक समानता ही।"

ठीक इसी प्रकार डिमार्को प्रगतिशील करों की विवेचना करता है। वह उन लेखकों से सहमत नहीं है जो बलिदान सिद्धान्त को प्रगतिशील करारोपण का आधार मानते हैं। उसके अनुसार विभिन्न व्यक्तियों की सन्तुष्टि या बलिदानों की तुलना नहीं की जा सकती। उसका मत है कि आय की वृद्धि के साथ आय प्राप्ति की लागत में भी वृद्धि होती जाती है, इस कारण यह आवश्यक नहीं कि एक धनी व्यक्ति की कुल सन्तुष्टि एक निर्धन व्यक्ति की अपेक्षा अधिक हो। केवल यही नहीं, सीमान्त

---

29. *Op. Cit.*, Ch. VI., pp. 171–183.

उपयोगिता कम होने के साथ-साथ राजकीय सेवाओं की उपयोगिता भी कम होती जाती है। इसीलिए सीमान्त उपयोगिता ह्रास-नियम और बलिदान का भावात्मक सिद्धान्त प्रगतिशील करारोपण के उचित आधार नहीं हैं।

डिमार्को के विचार में इन दोनों प्रकार के करों की विवेचना राजनैतिक आधार पर होनी चाहिए।[30] फ्रांस में क्रांति से पहले विपरीत आनुपातिक करारोपण था, जिसके अनुसार उन वर्गों पर कोई कर न था जो प्रबल थे या कर-भार केवल कृषकों और औद्योगिक धनी व्यक्तियों पर ही था। इसके बाद, तृतीय राज्य (*Third estate*) में आनुपातिक कर उन सिद्धान्तों के अनुकूल बनाया गया जिनका प्रचार क्रान्ति में किया गया था। अन्त में प्रजातन्त्र स्थापित हो जाने से अब प्रगतिशील कर का पलड़ा भारी हो गया।

प्रो० मार्को ने अपने विचार प्रस्तुत करते समय प्रगतिशील करों के राजनैतिक इतिहास का विश्लेपण किया है। उनका दृष्टिकोण आर्थिक के स्थान पर ऐतिहासिक है। उनके विचारों को सिद्धान्त कदापि भी नहीं कहा जा सकता। इसके अतिरिक्त, जैसा कि हम पीछे देख चुके हैं कि मार्को करारोपण को तथा व्यय को केवल, राज्य और नागरिकों के बीच एक विनिमय सम्बन्ध के रूप में देखता है; जो विचार व्यावहारिक जीवन के अनुकूल नहीं है। स्पष्ट ही है कि जिस विचार का आधार ही उचित नहीं है विचार स्वयं ही अनुचित होगा। इसलिए डिमार्को के विचारों का हम समर्थन करने में असमर्थ हैं।

प्रगतिशीलता का सिद्धान्त एवं अर्ध-विकसित अर्थ-व्यवस्था

राजस्व-सम्बन्धी अधिकांश लेखकों का यह विश्वास है कि योग्यता-सिद्धान्त तथा प्रगतिशीलता का सिद्धान्त करारोपण के मूल सिद्धान्त हैं और सर्वव्यापक हैं। यहाँ तक कि कुछ लेखकों ने करारोपण की प्रगतिशीलता को अर्ध-विकसित देशों के लिए भी उपयुक्त बताया है। किन्तु ये लेखक यह भूल गये कि अर्ध विकसित तथा पिछड़े हुए देशों में मुख्य समस्या आय की असमानताओं को दूर करने की नहीं है वरन् आर्थिक समवृद्धि (Growth) की गति को तीव्र करने की है। यह भी तो सच है कि आय के वितरण को समान बनाने के लिए और विधियाँ भी तो हैं, तो फिर करारोपण की प्रगतिशीलता को ही इतना अधिक महत्व क्यों दिया जाय? इसके अतिरिक्त ये दोनों सिद्धान्त इस धारणा के आधार पर लागू किये जाते हैं कि समाज को जो सामान्य लाभ प्राप्त होते हैं उनकी लागतों को पूरा करने के लिए करारोपण को पूरा योगदान प्रदान करना चाहिए। किन्तु क्रियात्मक वित्त तथा कार्यशील वित्त सम्बन्धी आधुनिक विचार करारोपण को आर्थिक उत्थान के हेतु साधन जुटाने का एक महत्वपूर्ण माध्यम मानते हैं। यह भी आवश्यक है कि राजकीय व्यय की पूर्ति के लिए वित्त प्राप्त किया जाय, किन्तु अधिक आवश्यकता इस बात की है कि विनियोगों को बढ़ाया जाए और आर्थिक विकास को प्रोत्साहित किया जावे। और तभी यह निर्धारित किया

30. *Op. Cit.*, Ch. VII,, pp. 184–203.

जाय कि सरकार किन सेवाओं को सम्पन्न करे। अतः यह स्पष्ट है कि अर्ध-विकसित देश में करारोपण नीति को योग्यता तथा प्रगतिशीलता के सिद्धान्तों पर आधारित किया जावे। यह भी बताना अनुचित न होगा कि अर्ध-विकसित देशों में अधिकतर वस्तु तथा अप्रत्यक्ष कर लागू होने के कारण प्रगतिशीलता के सिद्धान्त का उपयोग सीमित ही रहेगा।

प्रतिगामी कर—यह कर प्रगतिशील कर का ठीक विपरीत है। इसके अनुसार अधिक आय वाले व्यक्तियों पर कर की दर कम होती है और कम आय वालों पर अधिक। यद्यपि यह कर अनुचित और अन्यायपूर्ण होते हैं, फिर भी आपत्ति के समय में इनका प्रयोग करना ही पड़ता है। एक तो राज्य को अपना व्यय पूरा करने के कारण इन करों का सहारा लेना ही होता है, दूसरे यह कर जान-बूझकर नहीं लगाया जाता वरन् करदाताओं द्वारा इसका भार दूसरों पर टल जाने के कारण यह कर ऐसे हो जाते हैं। आधुनिक समय में इन करों का कोई विशेष महत्त्व नहीं है। क्योंकि एक तो इनमें न्यायशीलता नहीं है, दूसरे यह मितव्ययी नहीं हैं और उत्पादक भी नहीं हैं।

अधोगामी कर—इस प्रकार का कर आय के बढ़ने के साथ-साथ बढ़ता है परन्तु कर की दर कम होती जाती है। एक निश्चित सीमा तक प्रगतिशील रहता है उसके बाद आनुपातिक हो जाता है। इन चारों करों को निम्न तालिका द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है :—

	आनुपातिक		प्रगतिशील		प्रतिगामी		अधोगामी	
	दर	धनराशि	दर	धनराशि	दर	धनराशि	दर	धनराशि
३०,०००	५%	१,५००	५%	१,५००	५%	१,५००	५%	१,५००
५०,०००	५%	२,५००	७%	३,५००	४%	२,०००	६%	३,०००
१००,०००	५%	५,०००	१०%	१०,०००	१$\frac{1}{2}$%	१,५००	६%	६,०००

—:०:—

अध्याय ६

करारोपण में न्याय की समस्या
(PROBLEM OF JUSTICE IN TAXATION)

प्राक्कथन—

हमने पिछले अध्याय में करारोपण के सिद्धान्तों का अध्ययन किया था। समानता सिद्धान्त के अतिरिक्त बाकी जितने भी सिद्धान्तों की विवेचना की है, प्रशासन-सम्बन्धी सिद्धान्त हैं। समानता का सिद्धान्त करारोपण का नै तक सिद्धान्त है, परन्तु कठिनाई यह है, कि इस सिद्धान्त को व्यवहार में किस प्रकार लाग या जाये; अर्थात् कर-प्रणाली को न्याय-संगत किस प्रकार बनाया जाये? किसी भी कर-प्रणाली को न्याय-संगत होने के लिए यह आवश्यक है कि करारोपण का भार उन व्यक्तियों पर पड़े जो उसे सहन कर सकें। दूसरे शब्दों में प्रत्येक व्यक्ति पर कर उसकी आर्थिक दशा के अनुसार लगाया जाय। परन्तु आर्थिक दशा या कर दान योग्यता का क्या माप होना चाहिए? इस सम्बन्ध में अनेक सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये हैं। निम्न में हम कुछ महत्वपूर्ण सिद्धान्तों की विवेचना करेंगे :—

वित्तीय सिद्धान्त (Financial Theory)—प्राचीन लेखकों और राजस्व सम्बन्धी विशेषज्ञों का मत था कि करारोपण का परम कर्त्तव्य आय प्राप्त करना होना चाहिए। इस सिद्धान्त के प्रतिपादकों का कहना था कि कर इस प्रकार लगाया जाये कि जनता उसका विरोध कम से कम करे और राजकीय खजाने को अधिक से अधिक आय प्राप्त हो। फ्रांसीसी वित्तमन्त्री कालबर्ट के अनुसार "बत्तख को इस प्रकार नोचो कि वह कम से कम विरोध के साथ चिल्लाये।" इन लोगों के अनुसार करारोपण का उद्देश्य यह देखना नहीं है कि कर-भार का वितरण किस प्रकार हो रहा है, वरन् केवल अधिक से अधिक आय प्राप्त करना है। परन्तु यह उद्देश्य या तो केवल ऐकिक शासन में या विदेशी शासन में पूरा होना सम्भव है। प्रजातान्त्रिक शासन में सरकार का कभी भी यह दृष्टिकोण नहीं होना चाहिए। इस दृष्टिकोण से तो समाज का बहुत अहित होगा, क्योंकि कर-भार मुख्यत: उन निर्धन और निस्सहाय व्यक्तियों पर पड़ेगा, जिनमें विरोध करने की शक्ति बहुत कम होती है। आधुनिक सरकारें प्रजातन्त्रीय सिद्धान्तों पर आधारित हैं और वह न्याय तथा समाज-कल्याण की ओर पूरा ध्यान देती हैं और करारोपण में वित्तीय सिद्धान्त का पालन नहीं करतीं। यही कारण है कि आज इस सिद्धान्त का कोई भी व्यावहारिक महत्व नहीं है।

लाभ सिद्धान्त (Benefit Theory)—इस सिद्धान्त के प्रतिपादकों के अनुसार कर की दर एवं राशि उस लाभ के अनुसार होनी चाहिए, जो कि प्रत्येक नागरिक को राज्य की संरक्षता में प्राप्त होता है। राजकीय सेवाओं से जिस व्यक्ति को जितना लाभ प्राप्त होता है, उसको उसी अनुपात में राज्य के खर्चों को पूरा करने के लिए कर देना चाहिए। राज्य की कुछ सेवायें ऐसी होती हैं जिनसे कुछ व्यक्तियों को विशेष लाभ होते हैं और कुछ सेवाओं से सम्पूर्ण समाज को समान लाभ प्राप्त होता है। कॉन (Cohn) ने इस मोटे सिद्धान्त के आधार पर राजकीय व्यय का वर्गीकरण किया है। परन्तु इस सिद्धान्त में भी अनेक दोष हैं। प्रथम, यह कैसे निश्चित किया जाये कि प्रत्येक व्यक्ति को कितना लाभ प्राप्त हुआ है? विशेष रूप से उन सेवाओं के सम्बन्ध में, जहाँ समाज को सामान्य लाभ प्राप्त होता है। क्योंकि समाज को प्राप्त होने वाले कुल लाभ और किसी व्यक्ति-विशेष के लाभ में क्या अनुपात है, यह निश्चित किया ही नहीं जा सकता। सैलिगमैन के अनुसार सरकार कोई भी काम किसी व्यक्ति-विशेष के लाभ के लिए नहीं करती, बल्कि व्यक्ति को समाज का एक भाग मानकर करती है। इस प्रकार विशेष लाभ, सामान्य लाभ में विलीन हो जाता है।"[1] इसके अतिरिक्त राज्य की कुछ सेवायें ऐसी होती हैं, जिनसे प्राप्त लाभों का आसानी से ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है, जैसे सामाजिक सुरक्षा-सम्बन्धी आर्थिक सहायता। परन्तु इन सेवाओं का मूल्य लेना एक मज़ाक होगा।

सेवा की लागत का सिद्धान्त (Cost of Service Theory)—उपर्युक्त सिद्धान्तों की भांति यह सिद्धान्त भी संकीर्ण व्यक्तिवादी विचारों पर आधारित है। इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य जो सेवायें नागरिकों के लिए प्रदान करता है, उनकी वास्तविक लागत के अनुसार कर की दर निश्चित होनी चाहिए। ऊपर से देखने में तो यह सिद्धान्त बड़ा उचित जान पड़ता है, परन्तु इसका व्यावहारिक महत्व कुछ भी नहीं है। यह अवश्य है कि जब राज्य कुछ विशेष सेवायें करता है तब इस सिद्धान्त का उपयोग किया जा सकता है, जैसे डाक महसूल निश्चित करने में, रेलों का किराया निश्चित करने में, इस सिद्धान्त का पालन किया जा सकता है परन्तु अधिकांश करों में इस सिद्धान्त से काम नहीं लिया जा सकता है।[2] यह भी लाभ सिद्धान्त ही की भाँति है। जब सभी नागरिकों के लिए समान रूप से एक साथ सेवा प्रदान की जाती है, तब यह निश्चित करना कठिन होता है कि किस व्यक्ति को कितनी सेवा प्राप्त हुई और उसकी लागत कितनी हुई। आजकल आधुनिक सरकारें अधिकतर ऐसी सेवायें प्रदान करती हैं जिनसे निर्धनों को अधिक लाभ होता है जैसे निःशुल्क दूध वितरण, शिक्षा, सामाजिक सुरक्षा इत्यादि। यदि यह सिद्धान्त लागू किया जाए तो इन व्यक्तियों को न केवल प्राप्त की हुई वस्तु का मूल्य ही चुकाना होगा, या प्राप्त की हुई धनराशि चुकानी होगी, वरन् उसकी व्यवस्था करने में जो

1. *Essays in Taxation*, p. 337
2. P. E. Taylor, *The Economics of Public Finance*, p. 285.

व्यय हुआ है उसका भी भुगतान करना होगा।[3] इस प्रकार लाभ-सिद्धान्त की भाँति यह सिद्धान्त भी अव्यावहारिक है।

डिमार्को का आय सिद्धान्त[4] (De Marco's Income Theory)—डिमार्को ने अपना आय सिद्धान्त प्रस्तुत किया है, जो लाभ-सिद्धान्त का ही एक दूसरा रूप है। यह तो पिछले अध्यायों में बता चुके हैं कि मार्को के अनुसार नागरिकों और राज्य में एक विनिमय सम्बन्ध रहता है—राज्य सामान्य सार्वजनिक सेवाओं का उत्पादक है और नागरिक इन सेवाओं के क्रेता एवं उपभोक्ता हैं। नागरिक इन सेवाओं का उपभोग अपनी-अपनी आय के अनुपात में करते हैं। उनके अनुसार राज्य की सेवाओं से निजी व्यक्तियों द्वारा वस्तुओं के उत्पादन में सहायता मिलती है। साथ ही ये सेवायें इन वस्तुओं के उपभोग को सम्भव करने के लिए भी आवश्यक होती हैं। ये सेवायें सभी व्यक्तियों को लाभ पहुँचाती हैं—प्रत्यक्ष रूप से, वस्तुओं की उत्पत्ति में सहायता करके और अप्रत्यक्ष रूप से, राज्य सहायता द्वारा उत्पादित वस्तुओं के उपभोग द्वारा। इसलिए जितनी अधिक आय किसी व्यक्ति की है उतना ही अधिक कर उसे देना चाहिए, क्योंकि इतनी ही अधिक राजकीय सेवायें उसने प्राप्त की हैं। एक तो आय के उत्पादन में राज्य ने उसे सहायता दी है और दूसरे उस आय के उपभोग में उसे राज्य सहायता प्रदान करेगा। इस प्रकार करारोपण प्रत्येक व्यक्ति की आय के अनुपात में होना चाहिए।

यदि देखा जाय तो डिमार्को का स्पष्टतः संकेत प्रगतिशील आय कर की ओर है, परन्तु उनके सिद्धान्त को इसी कारण स्वीकार नहीं किया गया है, क्योंकि उन्होंने बहुत अधिक बल इस बात पर दिया है कि प्रत्येक व्यक्ति राज्य की सेवायें अपनी आय के अनुपात में प्राप्त करता है। उनके सिद्धान्त का यही पहलू उचित नहीं है, और इसी कारण यह करारोपण का आधार नहीं बनाया जा सकता। कल्याणकारी राज्य का विचार तो इसके बिलकुल ही विपरीत है। क्योंकि इन्होंने भी राज्य द्वारा प्रस्तुत की गई सेवाओं के लाभ की चर्चा की है, इसलिए यह सिद्धान्त भी लाभ सिद्धान्त की ही भाँति है।

करदान योग्यता सिद्धान्त (Ability to Pay Theory)—इस सिद्धान्त की चर्चा हम एडम स्मिथ के करारोपण सम्बन्धी नियमों का वर्णन करते समय कर चुके हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार कर-भार, व्यक्तियों पर उनकी करदान योग्यता के अनुसार होना चाहिए। यह सिद्धान्त बहुत ही उचित और न्यायसंगत है, परन्तु इस को व्यवहार में लाना इतना सरल नहीं है। पहली कठिनाई तो यह है कि करदान योग्यता कैसे तथा किस आधार पर निश्चित की जाए और दूसरी कठिनाई यह है कि करदान योग्यता किस प्रकार मापी जाए। व्यक्ति-विशेष की करदान योग्यता जानने के लिए उचित आधार की खोज करने के लिए हमें दो दृष्टिकोणों से समस्या का अध्ययन करना होगा। एक तो भावात्मक (Subjective) और दूसरा वस्तुगत

3. Dalton, *Public Finance*, p. 62.
4. *First Principles of Public Finance*, pp. 114-117.

(Objective)। प्रथम दृष्टिकोण में हम करदाता-विशेष का निजी दृष्टिकोण लेंगे और दूसरे में बाह्य पदार्थों की दृष्टि से अध्ययन करेंगे।

भावात्मक दृष्टिकोण (Subjective Approach)—यदि हम करदाता की व्यक्तिगत दृष्टि से कर भुगतान करने की समस्या पर विचार करें तो हमको कर भुगतान करने में छुपे हुए त्याग और बलिदान को दृष्टि में रखना होगा अर्थात् करदाता पर कितना भार पड़ता है—यह ज्ञात करना होगा। इस अध्ययन में हमें करदाता की मानसिक स्थिति का अध्ययन करना होगा। स्पष्ट ही है कि यह विधि कितनी कठिन है क्योंकि करदाता कर का कितना भार महसूस करता है, यह एक मानसिक क्रिया है। यह जानना अत्यन्त कठिन है कि किसी व्यक्ति के मस्तिष्क में क्या विचार उठ रहे हैं या कितना कष्ट हो रहा है या कितनी प्रसन्नता हो रही है? ये सभी मानसिक दशायें हैं और इनका निश्चित माप नहीं हो सकता। यह भी सम्भव नहीं कि विभिन्न व्यक्तियों की मानसिक दशाओं का तुलनात्मक अध्ययन किया जा सके। इस सिद्धान्त को कार्यरूप प्रदान करने के लिए यह मान लिया जाता है कि एक ही वर्ग में रखे जाने वाले व्यक्तियों पर कर का लगभग समान प्रभाव पड़ता है। प्रो० पीगू ने कहा है कि "जीवन के साधारण कार्यों में, जबकि यह मानते हुए कि व्यक्तियों के स्वभाव और प्रकृति में भिन्नता होती है, जातीय भिन्नतायें, आदतों, प्रशिक्षण आदि की भिन्नतायें होती हैं, हम सदैव ही यह मान लेते हैं कि प्रत्यक्षरूप से एक से ही व्यक्तियों के समूह पर समान परिस्थितियों का लगभग समान मानसिक प्रभाव पड़ेगा।"[5] यह ध्यान रहे कि यदि करारोपण पूर्णत: इसी सिद्धान्त पर आधारित होगा तो वह करों के अच्छे और बुरे परिणामों की ओर कोई भी ध्यान नहीं देगा। जैसे, मादक पेयों पर कर से व्यक्तियों को अधिक त्याग करना होगा, इस लिए त्याग की दृष्टि से तो यह कर बुरा है, परन्तु जहाँ तक यह इन वस्तुओं के उपभोग को निरुत्साहित करेगा, यह अच्छा है। वास्तव में ऐसे करों के सम्बन्ध में करों के अच्छे परिणामों की ओर अधिक ध्यान देना चाहिए, अपेक्षाकृत त्याग के। प्रो० पीगू का भी यही विचार है। भावात्मक दृष्टिकोण से करारोपण के विभिन्न आधार बताए गए हैं—समान त्याग, समानुपातिक त्याग और न्यूनतम त्याग।

समान त्याग का सिद्धान्त (Principle of Equal Sacrifice)—इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति के लिए त्याग की मात्रा समान होनी चाहिए तभी करारोपण न्यायसंगत हो सकता है। मिल ने करारोपण में समानता का अर्थ बताते हुए लिखा है कि "राजनीति के एक सिद्धान्त के रूप में करारोपण की समानता का अर्थ है कि सरकार के व्यय में प्रत्येक व्यक्ति का भाग इस प्रकार निर्धारित करना ताकि उसे अपने भाग से न तो अधिक और न कम ही असुविधायें अनुभव हों, अपेक्षाकृत उसके जो कि हर व्यक्ति को अपने-अपने भाग से अनुभव होंगी।"[6]

किन्तु यह ध्यान रहे कि त्याग का सम्बन्ध मनुष्य की मानसिक दशा से है,

5. *A Study in Public Finance*, p. 40.
6. *Principles of Political Economy*, Book V, p. 112.

जिसका माप सम्भव नहीं। यदि त्याग का हम कुछ अनुमान लगाने में सफल हो भी जायें तो वास्तविक त्याग का पता करना असम्भव है और इसलिए विभिन्न व्यक्तियों के त्याग की तुलना करने का तो प्रश्न ही नहीं उठता।

यदि हम आय को कर का आधार मान लें तो त्याग की समानता प्राप्त करने के लिए तीन परिस्थितियाँ उत्पन्न हो सकती हैं और उनमें से प्रत्येक में कर की दरें भिन्न-भिन्न होंगी। प्रथम परिस्थिति में जब आय तेजी से बढ़ती जाती है और उपयोगिता ह्रास नियम के अनुसार आय की प्रत्येक वृद्धि के साथ आय की सीमांत उपयोगिता तीव्र गति से गिरती जाती है, तो कर की दर प्रगतिशील होगी। अर्थात् आय की वृद्धि के साथ व्यक्ति को अधिक अनुपात में कर देना पड़ेगा कर की दरों को तीन प्रकार से प्रगतिशील बना सकते हैं। यह ऊपर दिए गए चित्र १ से स्पष्ट हो जाता है।

चित्र १
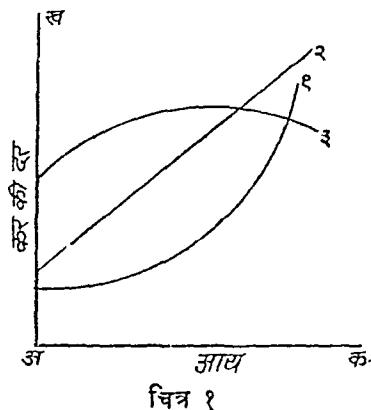
दूसरी परिस्थिति में जब आय में वृद्धि धीरे-धीरे होती है, और आय की सीमांत उपयोगिता धीरे-धीरे कम होती है तो त्याग को समान करने के लिए समानुपातिक दर से कर लागू किया जायगा अर्थात् ऊँची तथा नीची आय वाले सभी व्यक्तियों पर समान दर से कर लागू किया जायेगा। यह चित्र २ से स्पष्ट हो जाता है। इन तीन दरों में से किसी भी एक को लागू किया जा सकता है।

चित्र २
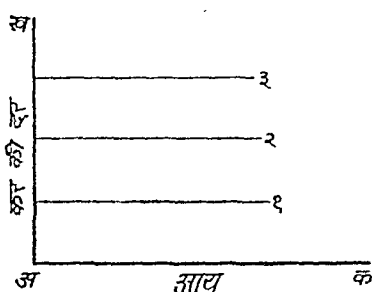
तीसरी परिस्थिति में जब आय की सीमांत उपयोगिता बढ़ती जाती है (जो केवल एक अनुमानजनक बात है) तो कर की दर प्रतिगामी होगी अर्थात् अधिक आय वाले कम अनुपात में और कम आय वाले अधिक अनुपात में कर देंगे। चित्र ३ में दिखायी गयी तीन दरों में से किसी एक के अनुसार कर लगाये जा सकते हैं।

चित्र ३
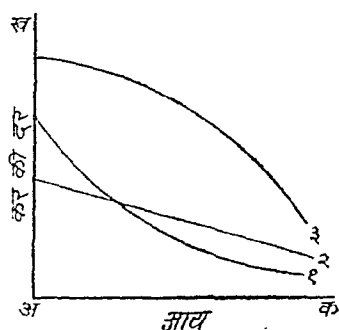
उपर्युक्त चित्रों में १, २, ३ वक्र विभिन्न दरें प्रदर्शित करते हैं, जिनमें से किसी को भी व्यवहार में लागू किया जा सकता है।

समानुपातिक त्याग का सिद्धान्त (Principle of Proportional Sacrifice)—इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को अपनी-अपनी आर्थिक शक्ति के अनुपात में कर देना चाहिए। जिन व्यक्तियों में अधिक त्याग करने की शक्ति है वे अधिक धनराशि कर के रूप में दें, जिनमें तुलनात्मक कम शक्ति है वे कम धनराशि दें और जिनमें बिल्कुल नहीं हैं वे कर-मुक्त रहें। इस सिद्धान्त के अनुसार करारोपण न्यायसंगत होने के लिए प्रगतिशील होना चाहिए। इसके लाभ तथा हानियों की विवेचना हम पिछले अध्याय में कर चुके हैं।

न्यूनतम त्याग का सिद्धान्त (Principle of Minimum Sacrifice)—यह सिद्धान्त कर-भार की समस्या का अध्ययन व्यक्तियों को सामूहिक रूप में लेकर करता है न कि व्यक्तिगत रूप में। इसके अनुसार सम्पूर्ण समाज पर कम से कम कर-भार होना चाहिए। इसके मुख्य प्रतिपादक ऐजवर्थ (Edgeworth) और कार्वर (Carver) थे। ऐजवर्थ इस सिद्धान्त को करारोपण का सर्वश्रेष्ठ सिद्धान्त मानते थे। यह अधिकतम सामाजिक लाभ के सिद्धान्त पर आधारित है। इसके अनुसार प्रत्येक करदाता का सीमान्त त्याग बराबर होना चाहिए अर्थात् कर इस प्रकार लगाया जाय कि प्रत्येक करदाता को मुद्रा की अंतिम इकाई देने से समान त्याग का अनुभव हो। यह सिद्धान्त सम-सीमांत त्याग-सिद्धान्त भी कहलाता है। यह सिद्धान्त सीमांत उपयोगिता ह्रास-नियम पर आधारित है, जिसके अनुसार आय बढ़ने के साथ उसकी उपयोगिता कम होती जाती है। इस कारण यदि बड़ी-बड़ी आय वाले व्यक्तियों की अंतिम इकाइयाँ कर के रूप में ले ली जायें तो करदाता को कोई विशेष त्याग नहीं करना पड़ेगा। साथ ही न्यून आय वालों को कर मुक्त कर दिया जाये। सरकार को इस प्रकार हर व्यक्ति पर कर नहीं लगाना चाहिए, केवल बड़ी-बड़ी आयों पर उस समय तक कर लगाते रहना चाहिए, जब तक कि सरकार की आवश्यकता पूरी न हो जाए। यह सच ही है कि अनिवार्य आवश्यकताओं का धनी और निर्धन व्यक्तियों के लिए समान महत्व होता है और दोनों ही वर्ग उसकी पूर्ति पहले करते हैं, परन्तु क्या यह सच नहीं कि एक निश्चित सीमा के बाद धनी व्यक्तियों की आय का अधिकांश भाग विलास-सम्बन्धी वस्तुओं पर खर्च होता है? इस कारण बढ़ती हुई आय के साथ-साथ अधिक कर देने में करदाता को कम त्याग करना पड़ता है। अतः यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि ऊँची आयों पर कर लगा कर समान स्तर पर ले आया जाए और इस प्रकार प्राप्त धन को निर्धन व्यक्तियों की आय को ऊपर उठाने के लिए खर्च किया जाए ताकि समाज में सब व्यक्तियों की आय लगभग समान हो जाए। परन्तु इस प्रकार की विधि को व्यवहार में लाना सरल नहीं है। पीगू भी इस विचार से सहमत हैं, और वह इसको करारोपण का अन्तिम सिद्धान्त मानते हैं।

उदासीनता का सिद्धान्त (Principle of Neutrality)—समान त्याग, समानुपातिक त्याग और न्यूनतम त्याग के सिद्धान्तों के साथ-साथ प्रो० पीगू तथा अन्य लेखकों ने एक अन्य सिद्धान्त को और सम्मिलित करने का सुझाव दिया है और वह है 'उदासीनता का सिद्धान्त'। इन लेखकों के अनुसार विभिन्न व्यक्तियों पर कर इस प्रकार लगाया जाय कि जो स्थिति कर लगने से पहले थी, अर्थात् जो आय की असमानताएँ पहले थीं वह कर देने के बाद भी बनी रहें। प्रो० पीगू ने इसी को 'Leave them as you found them' का सिद्धान्त कहा है। इसका अभिप्राय तो यह हुआ कि सरकार को केवल कर द्वारा धन एकत्रित करने से मतलब है और आय की असमानताओं को कम करने की ओर उदासीन रहना चाहिए। किन्तु यह सिद्धान्त न्याय की दृष्टि से उपयुक्त नहीं है।

आलोचना—यह ध्यान रहे कि त्याग सिद्धान्तों में केवल वर्तमान त्यागों की ओर ही ध्यान दिया गया है। उनके भावी परिणामों की ओर तनिक भी ध्यान नहीं दिया गया है। ये सिद्धान्त तीव्र प्रगतिशील करारोपण को महत्व प्रदान करते हैं, परन्तु इस प्रकार के करारोपण से बचत निरुत्साहित होगी, पूंजी का एकत्रीकरण कम होगा और अन्त में देश में उत्पादन और रोजगार का स्तर भी अपेक्षाकृत गिर जाएगा। परिणामस्वरूप धनी व्यक्तियों को और भी अधिक त्याग करना पड़ेगा। केवल यही नहीं बेरोजगारी की स्थिति में निर्धन व्यक्तियों के त्याग की मात्रा भी बढ़ेगी। अतः कुल त्याग की मात्रा भविष्य में वर्तमान की अपेक्षा अधिक हो जायगी और समाज का कल्याण भी अधिकतम होने के स्थान पर कम हो जाएगा। सरकार का उद्देश्य ही इस प्रकार पराजित हो जाएगा परन्तु यह सब विचार करने से पहले यह कठिनाई भी दूर करनी होगी कि इन त्यागों का माप कैसे किया जाए? भावात्मक दृष्टि से तो यह कठिनाई दूर नहीं होती, इसलिए अर्थशास्त्रियों ने वस्तुगत दृष्टिकोण को अधिक उपयुक्त बताया है।

वस्तुगत दृष्टिकोण (Objective approach)—अभी तक हमने करदाता के भाव एवं भावनाओं को दृष्टि में रखते हुए कर-भार के उचित बँटवारे की ओर ध्यान दिया था, परन्तु हमको अनेक कठिनाइयों के कारण यह दृष्टिकोण व्यावहारिक नहीं लगा। कुछ अर्थशास्त्रियों ने, विशेषकर अमेरिका में, करदान योग्यता का उचित आधार निश्चय करने के लिए वस्तुगत दृष्टिकोण अपनाया है। इस दृष्टिकोण से अध्ययन करने में वे मनुष्य की भावनाओं एवं त्याग की ओर ध्यान नहीं देते वरन् मनुष्य की करदान शक्ति को उसकी बाह्य बातों से पता लगाते हैं। इन्होंने करदान योग्यता के स्थान पर करदान सामर्थ्य (faculty) शब्दों का प्रयोग किया है। इन लेखकों के अनुसार, मनुष्य की करदान सामर्थ्य तीन बातों से जानी जा सकती है :—(अ) मनुष्य का उपभोग स्तर, (ब) सम्पत्ति और (स) आय।

(अ) कुछ लेखकों के अनुसार उपभोग स्तर या व्यय को करदान सामर्थ्य

का अच्छा प्रमाण विचार किया गया है। इन लेखकों का मत है कि जिस व्यक्ति का उपभोग स्तर ऊँचा है अर्थात् जो अधिक व्यय करे उसको अधिक कर देना चाहिये। स्पष्ट ही है कि उपभोग को आधार मान कर हम करारोपण को न्यायसंगत नहीं बना सकते। एक व्यक्ति जो बिल्कुल अकेला है दो सौ रुपये महावार कमा रहा है, परन्तु उसका उपभोग पर व्यय केवल सौ रुपया है। दूसरा व्यक्ति भी दो सौ रुपये कमा रहा हैं, उसे कुटुम्ब के छः सदस्यों का पेट पालना पड़ता है और उसका माहवारी व्यय दो सौ रुपये से अधिक है। सोचिये किसकी करदान सामर्थ्य अधिक है—पहले की या दूसरे की? यदि उपभोग को स्तर मानते हैं तब तो दूसरे व्यक्ति को अधिक कर देना चाहिये, परन्तु वास्तव में पहले व्यक्ति को अधिक कर देना चाहिये। उपभोग को आधार मानने में यही त्रुटियाँ होंगी। वैसे भी उपभोग को आधार मानने के बहुत बुरे परिणाम होंगे। उपभोग के अनुसार कर लगाने से व्यक्तियों को अपना उपभोग कम करना पड़ेगा, जिसका प्रभाव यह होगा कि व्यक्तियों की कार्य-क्षमता कम होने लगेगी और देश के उत्पादन पर अन्त में बुरा प्रभाव पड़ेगा। अतः इस आधार को न्यायसंगत नहीं कह सकते।

(ब) सम्पत्ति को, कुछ लेखकों ने कर-दान सामर्थ्य का अधिक अच्छा आधार बताया है। सम्पत्ति के आधार पर किसी व्यक्ति की कर-दान सामर्थ्य तुरन्त ही पता लग सकती है। जिस व्यक्ति के पास अधिक सम्पत्ति है उसमें अधिक कर-दान सामर्थ्य है। परन्तु वास्तव में सम्पत्ति को भी उचित आधार नहीं मान सकते क्योंकि, समाज में कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जिनकी आय बहुत अधिक होते हुए भी वे अपने पास नकदी रखना अधिक पसन्द करते हैं अपेक्षाकृत सम्पत्ति के, या जिन्हें सम्पत्ति एकत्रित करने की अपेक्षा ऊँचा जीवन-स्तर रखना अधिक रुचिकर होता है। यदि सम्पत्ति के अनुसार कर लगाते हैं तब ऐसे व्यक्तियों पर कोई भी कर नहीं लगाया जा सकता। इसके अतिरिक्त सम्पत्ति का वास्तविक मूल्य भी आँकना सम्भव नहीं है। फिर, यह भी सम्भव है कि सम्पत्ति के आधार पर व्यक्ति की करदान सामर्थ्य का अनुचित अनुमान भी लग सकता है। उदाहरणार्थ, यदि किसी व्यक्ति के १० मकान हैं, जिनका महावारी किराया १५० रुपये है, दूसरे व्यक्ति के पास केवल एक मकान है जिसका किराया १५० रुपये है। सम्पत्ति के आधार पर पहले व्यक्ति को अधिक करदान सामर्थ्य है और दूसरे को कम जबकि वास्तव में दूसरे व्यक्ति को अधिक कर देना चाहिये क्योंकि उसको सम्पत्ति से अधिक आय प्राप्त होती है। अन्त में इस प्रकार के आधार का एक परिणाम यह भी हो सकता है कि एक ओर तो करारोपण अन्यायपूर्ण हो जाये और दूसरी ओर व्यक्ति देश में सम्पत्ति एकत्रित करने के लिए हतोत्साहित हों। इस कारण यह आधार भी न्यायसंगत नहीं है।

(स) अन्त में, आय को करदान सामर्थ्य का उचित आधार माना गया। आजकल करारोपण का यही आधार है। ऊँची आय वाले व्यक्तियों पर अधिक कर लगाया जाता है और नीची आय वालों पर या तो कर लगता ही नहीं और यदि कर

लगता भी है तो बहुत कम। परन्तु मौद्रिक आय (money income) भी करदान सामर्थ्य का सन्तोषप्रद प्रमाण नहीं कहा जा सकता है। दो व्यक्तियों की मौद्रिक आय बराबर होते हुए भी, करदान सामर्थ्य अलग-अलग हो सकती है। एक के दायित्व दूसरे की अपेक्षा अधिक हो सकते हैं। एक को छोटे कुटुम्ब का जब कि दूसरे को एक बड़े कुटुम्ब का भार सहन करना पड़ रहा हो। अतः क्या इन दोनों व्यक्तियों पर एक ही दर से कर लगाना ठीक होगा? कदापि नहीं। इसी प्रकार एक व्यक्ति को आय, उत्तराधिकार में प्राप्त सम्पत्ति से प्राप्त हो रही हो, जब कि दूसरे व्यक्ति को अपने प्रयत्नों से आय प्राप्त करनी पड़ रही हो। दोनों व्यक्तियों पर भी कर की दर समान नहीं हो सकती है। इन्हीं कठिनाइयों को देखते हुए लार्ड स्टाम्प ने बताया है कि सामर्थ्य या योग्यता का उचित प्रमाण जानने के लिए व्यक्तियों की मौद्रिक आयों के अतिरिक्त हमें निम्न बातों पर भी विचार करना चाहिए :—

(१) आय-कर उसी समय लगाया जाये जबकि आयकर्ता को आय प्राप्त हो रही है। यदि ऐसा नहीं होता तो करदाता को बहुत कष्ट होगा। सब ही देशों में साधारणतः आय-कर के सम्बन्ध में यह बात प्रचलित है कि पिछले वर्ष की आय पर अगले वर्ष में कर लिया जाता है। अब यदि इसी वर्ष करदाता को घाटा हो गया है तो उसकी भुगतान करने की शक्ति कम हो जाने से, पिछले वर्ष का भुगतान करने में बहुत कठिनाई होगी। कभी-कभी तो यह भी देखा गया है कि कर की राशि लाखों-करोड़ों की संख्या में होने के कारण, पिछले वर्ष का भुगतान करने के लिए व्यक्तियों का दिवाला तक निकल जाता है। इसलिये यह आवश्यक है कि कर, आय-प्राप्ति के समय ही वसूल कर लिया जाए।

(२) आय का वास्तविक अनुमान लगाने के लिए यह आवश्यक है कि स्थायी पूँजी में जो घिसावट उस आय के प्राप्त करने के सम्बन्ध में होती है, उसकी ओर भी उचित ध्यान दिया जाये। अर्थात् कुल आय में से इस घिसावट के मूल्य को कम कर देना चाहिये। यदि ऐसा नहीं होता तो आय का अनुमान सर्वथा अवास्तविक होगा साथ ही भविष्य में पूँजी के निर्माण पर भी बुरा प्रभाव पड़ेगा, क्योंकि यदि स्थायी पूँजी की टूट-फूट की व्यवस्था उत्पादन के साथ ही साथ न होती जायेगी तब भविष्य में मशीनों को खरीदने के लिए नई पूँजी का विनियोग करना होगा। अन्त में इसका प्रभाव राष्ट्रीय आय पर भी पड़ेगा।

(३) आय-कर निश्चित करते समय इस बात पर भी ध्यान देना चाहिए कि कर-दाता को आय अपने निजी प्रयत्नों द्वारा प्राप्त हुई है या उत्तराधिकार में प्राप्त सम्पत्ति से प्राप्त हुई है। यदि आय निजी परिश्रम से प्राप्त हुई है तो उस पर कर की दर कम होनी चाहिये और यदि आय सम्पत्ति से प्राप्त हुई है तो उस पर ऊँची दर से कर लगाना चाहिये।

(४) आय कर की दर निश्चित करते समय यह भी देखना आवश्यक है कि व्यक्ति के कुटुम्ब के सदस्यों की संख्या कितनी है। यदि किसी व्यक्ति के कुटुम्ब के

सदस्यों की संख्या, दूसरे समान आय वाले व्यक्ति की अपेक्षा अधिक है तो उस पर दूसरे व्यक्ति की अपेक्षा ऊँची दर से कर लगाना चाहिए।

(५) अन्त में यह भी ध्यान रखना चाहिए कि आय में कुछ अतिरिक्त आय शामिल है या नहीं। यदि है तो अतिरिक्त आय पर ऊँची दर से कर लगाना चाहिए और शेष आय पर नीची दर पर कर लगाना चाहिए।

आधुनिक आय-कर प्रणाली में इन सब बातों की ओर साधारणतः ध्यान दिया जाता है।

कर-दान सामर्थ्य सिद्धान्त की सबसे बड़ी कमी यह है कि यह करारोपण और कर-दान योग्यता के बीच समन्वय स्थापित करने के लिए कोई उचित विधि नहीं प्रदान करता। इसी प्रकार न्यूनतम त्याग का सिद्धान्त भी इस दिशा में अपूर्ण है। दोनों ही सिद्धान्तों में यह कमी है परन्तु उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि ये दोनों सिद्धान्त एक बात की ओर अवश्य ही संकेत करते हैं—वह यह कि कर प्रणाली प्रगतिशील होनी चाहिए अर्थात् कर भुगतान करने की शक्ति के बढ़ने के साथ-साथ कर की दर भी बढ़ती जाये; आधुनिक कर-प्रणालियों में सभी बातों की ओर ध्यान एक साथ दिया जाता है, अर्थात् सम्पत्ति, व्यय और आय सभी पर कर लगाये जा रहे हैं परन्तु सामान्य रूप से दो बातों की ओर ध्यान देना नितान्त आवश्यक है। प्रथम, किसी भी एक कर के भार पर अकेले ही विचार नहीं करना चाहिए। समुचित कर-प्रणाली की ओर ध्यान देना चाहिए क्योंकि कोई भी कर अपने व्यक्तिगत रूप में कभी भी उचित नहीं होता। एक कर की बुराई दूसरे कर से दूर होती है। अलग-अलग करों में असमानता हो सकती है किन्तु सम्पूर्ण कर-प्रणाली में औचित्य हो सकता है। अतः किसी नये कर को लगाते समय केवल उस कर के भार के वितरण की ओर ध्यान ही नहीं देना चाहिए, वरन् यह भी देखना चाहिए कि नये कर और पहले से लगे हुए करों के भार का एक साथ वितरण किस प्रकार किया जाये? करारोपण के भार का अनुमान उस समय तक ठीक प्रकार से नहीं लगाया जा सकता, जब तक कि राजकीय व्यय के परिणामों का अध्ययन न किया जाये। अतः दूसरी ध्यान देने की बात यह है कि करारोपण के प्रभावों का उचित ज्ञान प्राप्त करने के लिए, राजकीय व्यय के परिणामों का भी अध्ययन करना चाहिए। कर-प्रणाली की असमानताओं को राजकीय व्यय द्वारा दूर किया जा सकता है। सबसे अधिक कर-भार सहन करने वाले व्यक्तियों को राजकीय व्यय द्वारा अनेक लाभ प्रदान करके, कर-भार को न्यूनतम किया जा सकता है। इस स्थिति में लाभ-सिद्धान्त और कर-दान योग्यता सिद्धान्त को एक साथ लागू किया जा सकता है। जहाँ तक व्यवहार में करारोपण नीतियों का सम्बन्ध है, वे किसी एक कर-सिद्धान्त के आधार पर निर्मित नहीं की जातीं। अलग-अलग समय तथा स्थिति में सरकारों को अलग-अलग उद्देश्यों से काम करना पड़ता है। कहीं पर लाभ और करदान योग्यता को एक साथ मिला दिया जाता है तो कहीं पर केवल आय प्राप्त करने के उद्देश्य को ही महत्त्व प्रदान किया जाता है और कर-दान योग्यता सिद्धान्त को पूर्णरूप से मुक्त कर दिया

जाता है। अत: व्यावहारिकता की दृष्टि से सभी सिद्धान्त उचित हैं और सभी अनुचित। हाँ एक बात और है। वह यह है कि किसी कर-प्रणाली की न्यायशीलता केवल इसी बात पर आधारित नहीं होती कि कर-भार का वितरण कैसा है वरन् इस बात पर भी निर्भर करती है कि करारोपण का उत्पत्ति, वितरण और देश में रोजगार के स्तर आदि पर कैसा प्रभाव पड़ रहा है।

आधुनिक मत—

आधुनिक लेखकों ने न्याय के सिद्धान्त के स्थान पर कल्याण को प्राथमिकता दी है। हम विभिन्न दृष्टिकोणों का अध्ययन निम्न में करेंगे :—

१. समान सीमान्त त्याग का सिद्धान्त :—एजवर्थ तथा पीगू ने समान सीमान्त त्याग सिद्धान्त का कल्याण के दृष्टिकोण से प्रतिपादन किया था। एजवर्थ का विचार था कि व्यक्तियों की अपनी अभिरुचि के अनुसार विभिन्न वस्तुओं के उपभोग पर आय का वितरण इस प्रकार होना चाहिए कि उनका कल्याण अधिकतम हो और साथ ही यह भी आवश्यक है कि कल्याण में क्षति कम से कम हो। यह ध्यान में रखकर कि आय की प्रत्येक वृद्धि से प्राप्त होने वाली उपयोगिता गिरती जाती है वह इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि जब सीमान्त उपयोगिताएँ समान होती हैं अर्थात् जब सभी व्यक्तियों की आय समान होती है तो व्यक्तियों का कल्याण भी अधिकतम होता है। अत: एजवर्थ के अनुसार करारोपण नीति को समान सीमान्त त्याग के आधार पर आधारित करने के उपरान्त भी समाज को अधिकतम कल्याण प्राप्त हो सकता है। पीगू ने दूसरी ओर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि न्यूनतम औसत त्याग का सिद्धान्त भी अधिकतम औसत कल्याण को प्राप्त करने में सहायता करता है। उनका कथन है कि "सभी इस बात से सहमत हैं कि सरकार की क्रियाओं का नियमन इस प्रकार से होना चाहिए जिससे उसके नागरिकों का कल्याण अधिकतम हो। यही सरकार की सम्पूर्ण कानून प्रणाली की कसौटी है, और करारोपण के क्षेत्र में यही न्यूनतम त्याग का सिद्धान्त है।"[7] अत: स्पष्ट है कि पीगू यह चाहते हैं कि कर-प्रणाली को न्यूनतम औसत त्याग पर आधारित किया जाए। सिजविक और मार्शल समान त्याग के सिद्धान्त को अच्छा समझते थे किन्तु पीगू ने इस सम्बन्ध में कहा है कि "समान तथा समान स्थिति में रहने वाले व्यक्तियों का समान त्याग उस स्थिति से भिन्न है जिसमें सभी व्यक्तियों को समान त्याग करना पड़ता है।"[8] समान त्याग-सम्बन्धी सिद्धान्त की सबसे बड़ी कमी यह है कि इसके द्वारा यह पता नहीं लगाया जा सकता कि सभी व्यक्तियों को वास्तविक सन्तोष समान मात्रा में प्राप्त हो रहा है अर्थात् इसके द्वारा हम यह तो निश्चित कर सकते हैं कि करारोपण द्वारा सभी व्यक्तियों को समान त्याग करना पड़े किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि करों के भुगतान के पश्चात् सभी व्यक्तियों को वास्तविक सन्तोष

7. *Pigou*, op. cit., 3rd edition, p. 43.
8. *Ibid*, p. 44.

समान मात्रा में प्राप्त होंगे। पीगू ने इसीलिए सिजविक के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया, परन्तु वह भी इसका कोई प्रमाण नहीं दे सके और उन्होंने केवल इतना ही कहा कि न्यूनतम औसत त्याग का सिद्धान्त करारोपण का अन्तिम सिद्धान्त है और उसकी उपयुक्तता के विषय में मेरी मानसिक चेतना ही मुझे बताती है।[9]

इसके पश्चात् पीगू ने करारोपण के वितरणात्मक पहलू का अध्ययन किया है अर्थात् उन्होंने विभिन्न आर्थिक परिस्थितियों में करारोपण के कुल मौद्रिक भार के वितरण के विषय का विश्लेषण किया है। उनके अनुसार न्यूनतम औसत त्याग प्राप्त करने के लिए करों का बँटवारा इस प्रकार होना चाहिए कि सभी करदाताओं को उनके द्वारा भुगतान किए गए द्रव्य की सीमान्त उपयोगिता समान हो। उनका कथन है कि न्यूनतम औसत त्याग के सिद्धान्त को लागू करने का अभिप्राय यह है कि समाज के सभी सदस्यों द्वारा किए गए सीमान्त त्याग न कि कुल त्याग समान हो। अत: कर-प्रणाली इस प्रकार निर्मित की जाए कि न्यूनतम आय की सीमा के ऊपर वाली सभी आयों पर कर का निर्धारण ऐसी दर से हो कि कर लागू होने के बाद सभी आय समान हो जायं अर्थात् सरकार सबसे पहले सबसे ऊँची आय पर कर लगाए, तत्पश्चात् मध्य आय वाले वर्गों पर कर लगाए और निम्नतम आय वाले वर्गों को उस समय तक सहायता दे जब तक कि सभी आयों में समानता स्थापित नहीं हो जाती।[10] किन्तु व्यवहार में सबसे अधिक कर-भार सबसे ऊँची आय वाले वर्ग को सहन करना होगा अर्थात् अधिकतर प्रगतिशील तथा प्रतिगामी करों का उपयोग होगा। वितरण-सम्बन्धी न्याय के लिए, इस प्रकार यह आवश्यक है कि करों का भार उन्हीं व्यक्तियों पर पड़े जो उसको सहन करने योग्य हैं, किन्तु पूँजीवादी प्रणाली में इसका प्रभाव उचित नहीं होगा और व्यवसायी वर्ग उत्पादन में वृद्धि करने के लिए हतोत्साहित होगा। इसलिए यह आवश्यक है कि न्यूनतम औसत त्याग की स्थिति को प्राप्त करने के लिए हमें करारोपण में इस प्रकार उलट-फेर करनी होगी कि उत्पादकों की उत्पादन करने की प्रेरणा पर बुरा प्रभाव न पड़े।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि आय की असमानताओं को दूर करने के लिए करारोपण को आधुनिक राजस्व अर्थशास्त्री एक महत्त्वपूर्ण यन्त्र समझते हैं और अधिकतर समाजवादी देशों में इस यन्त्र का उपयोग बड़ी ही सुगमता से किया जा रहा है।

—: o :—

9. *Ibid*, p. 43.
10. *Ibid*, p. 57.

अध्याय १०

करारोपण के आर्थिक प्रभाव
(ECONOMIC EFFECTS OF TAXATION)

प्राक्कथन—

डाल्टन के शब्दों में, "आर्थिक दृष्टिकोण से सबसे उत्तम कर-प्रणाली वही है, जिसके सबसे अच्छे या सबसे कम बुरे आर्थिक प्रभाव होते हैं।"[1] करारोपण अच्छा है, या बुरा इसका निर्णय करने के लिये हम करों के आर्थिक परिणामों का अध्ययन करते हैं। यद्यपि किसी भी कर-प्रणाली के न्यायसंगत होने के लिए यह आवश्यक है कि कर-भार का वितरण प्रत्येक व्यक्ति की योग्यता के अनुसार हो परन्तु अकेले कर-भार के समान वितरण पर ही कर-प्रणाली की न्यायशीलता निर्भर नहीं करती वरन् करारोपण के भावी तथा वर्तमान आर्थिक प्रभावों पर भी। इन प्रभावों का अध्ययन करना इसलिये आवश्यक है कि व्यवहार में सरकार किसी भी एक सिद्धान्त का निश्चय रूप से पालन नहीं करती, बल्कि अधिकतर अपनी आवश्यकताओं के अनुसार कर-नीति निर्धारित करती है। अतः करारोपण के प्रभाव में केवल व्यक्तिगत करों के प्रभाव ही सम्मिलित नहीं होते बल्कि कर-सम्बन्धी नीतियों के प्रभाव भी सम्मिलित होते हैं। करों के प्रभाव देश के उत्पादन, धन के वितरण तथा आर्थिक क्रियाओं की दशाओं पर पड़ते हैं। करों की दरों तथा भावी करों के लगने की आशा से उपर्युक्त सभी आर्थिक क्रियाओं की दशाओं में परिवर्तन होते रहते हैं। उत्पादन में कमी होती है और वृद्धि भी, धन का वितरण समान भी होता है और असमान भी, मूल्य-स्तर ऊपर भी उठता है और नीचे भी गिरता है, रोजगार और उपभोग, बचतें तथा पूँजी में भी वृद्धि होती है और कमी भी। अतः संक्षेप में करारोपण के प्रभाव बुरे भी होते हैं और अच्छे भी। यदि अच्छे प्रभाव अधिक से अधिक हैं और बुरे प्रभाव कम से कम तो कर-प्रणाली सबसे अच्छी समझी जानी चाहिये—यही तो डाल्टन ने भी कहा है। करारोपण किसी भी उद्देश्य से क्यों न किया जाये इस प्रकार के प्रभाव तो अनिवार्य ही हैं। परन्तु जैसा कि हम पिछले अध्याय में ही कह चुके हैं इस अध्ययन का केवल सैद्धान्तिक महत्त्व ही है। क्योंकि सभी व्यक्तिगत करों के प्रभाव एक दूसरे के प्रभावों पर आधारित रहते

1. *Public Finance*, 1932, p. 102.

हैं और आपस में मिले होते हैं, और करारोपण के बुरे प्रभावों को राजकीय व्यय द्वारा कम किया जा सकता है, इसलिये इस प्रकार के अध्ययन से व्यवहार में लाभ तो प्राप्त किया जा सकता है परन्तु वास्तविक प्रभाव किन दिशाओं में किये होते हैं, इनका अनुमान लगाना कोई सरल काम नहीं। इसका मुख्य कारण यह है कि मनुष्य की मनोवृत्तियाँ समय-समय पर वदलती रहती हैं और मनोवृत्तियों के परिवर्तनों के साथ-साथ किसी भी नीति में अच्छाई और बुराई उत्पन्न होना स्वाभाविक है। जो कर पिछली शताब्दी में वुरा था वही कर आज अच्छा है। अतः हम यहाँ पर केवल सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से ही कर-भार के आर्थिक प्रभावों का अध्ययन करेंगे।

डाल्टन के अनुसार इन प्रभावों का निम्न तीन शीर्षकों के अन्तर्गत अध्ययन किया जा सकता है[2] —(१) उत्पादन पर प्रभाव, (२) वितरण पर प्रभाव, और (३) अन्य प्रभाव।

करारोपण के उत्पादन पर प्रभाव—

डाल्टन ने करारोपण के उत्पादन पर पड़ने वाले प्रभावों को तीन भागों में विभाजित किया है :—(१) व्यक्तियों के काम करने तथा वचत करने की योग्यता पर प्रभाव; (२) व्यक्तियों के काम करने तथा वचत करने की इच्छा पर प्रभाव; और (३) विभिन्न उपयोगों और स्थानों में आर्थिक साधनों के वितरण पर प्रभाव।

(१) व्यक्तियों के काम करने तथा वचत करने की योग्यता पर प्रभाव— साधारण रूप में करारोपण से व्यक्तियों के काम करने तथा वचत करने की योग्यता कम हो जाती है। यह दो प्रकार से होता है। एक तो कर लगने से व्यक्ति की आय का एक भाग कर के रूप में निकल जाता है। आय में कमी हो जाने से, व्यक्तियों की क्रय-शक्ति कम हो जाती है। वे अपने उपभोग को कम करते हैं। परिणामस्वरूप उनकी कार्यक्षमता पर बुरा प्रभाव पड़ता है। यदि प्रतिष्ठा-सम्बन्धी आवश्यक वस्तुओं पर कर लगाया जाये तो भी यही प्रभाव होगा क्योंकि इन वस्तुओं के लिये तो मनुष्य को अपनी कार्यक्षमता-सम्बन्धी वस्तुओं तक का त्याग करना पड़ जाता है। निर्धन व्यक्तियों पर तो इसका वहुत ही अधिक वुरा प्रभाव पड़ेगा। इस प्रकार करारोपण विशेष रूप से, निर्धन वर्गों की कार्यक्षमता को गिराकर उनकी कार्य करने की योग्यता पर बुरा प्रभाव डालेगा। अतः निर्धन व्यक्तियों पर कम से कम कर-भार होना चाहिये और उन वस्तुओं पर जिनका उपभोग निर्धनों द्वारा किया जाता है, कम से कम कर लगाना चाहिये, ताकि उनके उपभोग का स्तर कम न हो और उनकी कार्यक्षमता, स्वास्थ्य और काम करने की योग्यता पर बुरा प्रभाव न पड़े। दूसरे, व्यक्तियों के वचत करने की योग्यता पर भी करारोपण के प्रभाव पड़ते हैं। करारोपण से वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि हो जाती है। व्यक्ति को अपने उपभोग पर पहले की अपेक्षा अधिक खर्च करना पड़ता है। परिणामस्वरूप उसकी वचत की मात्रा कम होने लगेगी। यद्यपि यह सच है कि करारोपण का

2. *Ibid.*

प्रभाव प्रत्येक व्यक्ति पर समान नहीं होगा। किसी का खर्चा बहुत अधिक बढ़ेगा तो किसी का बहुत कम। निर्धन व्यक्तियों का तो प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि उनके पास तो करारोपण से पहले भी बचत करने की शक्ति नहीं थी। इस प्रकार करारोपण से धनिक व्यक्तियों पर अधिक प्रभाव पड़ेगा। व्यक्ति जितना अधिक धनी होगा उतनी ही अधिक उसके बचत करने की योग्यता कम होगी। यही कारण है कि अब विभिन्न देशों की कर-प्रणाली में प्रगतिशीलता के सिद्धान्त का महत्त्व बढ़ता चला जा रहा है।

किन्तु कुछ अर्थशास्त्रियों के विचार में अधिक प्रगतिशील कर व्यक्तियों के बचाने की योग्यता पर बुरा प्रभाव डालते हैं। यह बात विशेषकर अर्ध-विकसित देशों के लिए अधिक उपयुक्त है। ऐसे देशों में भारी कर के कारण बचतें उत्पादन से निकलकर उपभोग में जाने लगती हैं। निर्धन व्यक्तियों में, नीचा कर अथवा कर-विमुक्त होने के कारण अधिक उपभोग करने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। परिणामतया व्यय बढ़ाने से बचतों की मात्रा कम होने लगती है और इस प्रकार उत्पादन कार्य के लिए उपलब्ध होने वाली पूँजी कम होने लगती है और निजी क्षेत्र में उत्पादन का स्तर गिरने लगता है। इसीलिये इन अर्थशास्त्रियों का यह विचार है कि अर्ध-विकसित देशों में कर-प्रणाली प्रतिगामी होनी चाहिए ताकि बचतें प्रोत्साहित होती रहें और उत्पादन का स्तर ऊँचा रहे और पूँजी निर्माण की गति तीव्र होती रहे। रूस का उदाहरण हमारे सामने है जहाँ नियोजन-काल में उपभोग की वस्तुओं पर बहुत ऊँचा कर लागू करके उपभोग को नियन्त्रित किया गया। इसीलिये एक निर्धन देश को अपनी अर्थव्यवस्था के पुनर्निर्माण के लिए आवश्यक पूँजी प्राप्त करने के लिए हर सम्भव उपाय अपनाने होंगे, चाहे वे न्यायसंगत हों अथवा नहीं। इस प्रकार प्रतिगामी कर-प्रणाली अधिक उपयुक्त होगी।[3]

(२) व्यक्तियों के काम करने तथा बचत करने की इच्छा पर प्रभाव—किसी भी मनुष्य की इच्छा-सम्बन्धी बातों का अध्ययन बड़ा ही कठिन होता है; क्योंकि इच्छा एक मानसिक दशा है। यह तो अवश्य है कि करारोपण से व्यक्तियों को कार्य करने तथा बचत करने की इच्छा पर प्रभाव पड़ता है, परन्तु इन प्रभावों की निश्चित माप सम्भव नहीं है। साधारणतः यह अनुभव किया गया है कि कर की पूर्व आशामात्र से ही व्यक्तियों के काम करने तथा बचाने की इच्छा कम होने लगती है। यह भी सम्भव है कि कर भुगतान करने की चिन्ता मनुष्य को अधिक बचत करने और कम विनियोग करने के लिए बाध्य करे, क्योंकि उसको बचतों के विनियोग करने से उतनी आय प्राप्त नहीं होती जितनी कि पहले होती। व्यक्तियों के बचत करने तथा काम करने की इच्छा को किस सीमा तक करारोपण हतोत्साहित करेगा या प्रोत्साहित करेगा यह एक तो कर-दाता की मानसिक प्रतिक्रियाओं और दूसरे, लागू किये गये कर की प्रकृति पर निर्भर करेगा। हम इन

3. Baljeet Singh : Federal Finance In Under-developed Economy, p. 69.

दोनों बातों का अध्ययन क्रमानुसार निम्न पृष्ठों में करेंगे।

करारोपण से उत्पन्न होने वाली मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रियाएँ (Psychologica Reactions to Taxation)—करारोपण से किसी भी व्यक्ति के मन में क्य प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न होती हैं बहुत सीमा तक उस व्यक्ति की आय की माँग क लोच पर निर्भर करता है अर्थात् वह अधिक आय प्राप्त करने के लिए कित प्रयत्न करने को तैयार है ? वह कितना इच्छुक है ? यदि किसी व्यक्ति ने य निश्चय कर लिया है कि उसे एक निश्चित आय प्राप्त करनी है, चाहे उसे कितन भी परिश्रम क्यों न करना पड़े, तब आय के लिए उसकी माँग बेलोच होगी उदाहरणार्थ यदि किसी व्यक्ति ने यह निश्चय कर लिया है कि उसे जीवन-भर ए अच्छा जीवन-स्तर बनाये रखना है और इसके लिए उसे ६०० रुपये महावा की आवश्यकता होती है। अब यदि उसकी आय पर दस रुपये महावार का क लग जाता है तो वह अपने जीवन-स्तर को बनाये रखने के लिए अब ६१० रुप कमाने का प्रबन्ध करेगा अर्थात् अधिक परिश्रम करेगा। यदि वह ऐसा नहीं करत तो वह अधिक बचत करेगा और उस बचत का विनियोग करेगा और इस प्रका अपनी आय में वृद्धि करने का प्रयत्न करेगा। इस प्रकार यदि किसी व्यक्ति क भावी आय की माँग बेलोच है, तब करारोपण से उसकी काम करने तथा बचा की इच्छा कम नहीं होगी। बहुधा यह विश्वास किया जाता है कि व्यक्तिगत विनियोगों पर ऊँचे तथा भारी कर का अवश्य ही बुरा प्रभाव पड़ता है और आर्थिक विकास की गति धीमी हो जाती है। किन्तु पिछले बीस वर्षों के आर्थिक इतिहास से यह स्पष्ट है कि करों के भार में निरन्तर वृद्धि होने पर भी आर्थिक विकास तथा औद्योगिक प्रगति की गति धीमी होने के स्थान पर तीव्र ही हुई है। इसी प्रकार यह कहा जाता है कि ऊँचे करों से व्यक्तिगत आधारभूत प्रेरणाओं पर अधिक बुरा प्रभाव नहीं पड़ता।[4] निस्सन्देह ही करारोपण से छोटे उद्योगों के विकास पर बड़े उद्योगों की अपेक्षा अधिक हानिकारक प्रभाव उत्पन्न होते हैं। किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि उद्योगों की स्थापना होगी ही नहीं वरन् इसका आशय यह है कि उद्योगों की स्थापना कहाँ और किस प्रकार करने से सम्बन्धित निर्णयों में उलट-फेर करने की आवश्यकता उत्पन्न हो जायगी। सच तो यह है कि विभिन्न करदाताओं पर विभिन्न प्रभाव पड़ते हैं और वे उनकी परिस्थितियों तथा दशाओं पर निर्भर करते हैं। दूसरी ओर यदि किसी व्यक्ति की आय की माँग लोचदार है अर्थात् वह इस बात के लिए इच्छुक नहीं है कि जो आय उसकी करारोपण से पूर्व थी वही रहे, या वह अपनी आय बढ़ाने के लिए अधिक परिश्रम नहीं करना चाहता, तो उसके काम करने तथा बचत करने की इच्छा पर बुरा प्रभाव पड़ेगा। वह यह जानते हुए भी कि कर लगने से उसकी वास्तविक आय में कमी हो गई है, परिश्रम नहीं करेगा और न अपनी आवश्यकताओं में और अधिक

4. J. Keith Butters : Taxation Incentives, and Financial Capacity published in the Readings in Fiscal Policy, pp. 503–507

कमी करके कुछ बचाने की ही चिन्ता करेगा, क्योंकि उसके मस्तिष्क में यह बात जम कर बैठ गई है कि मेहनत करके आय प्राप्त करने से भी कोई लाभ नहीं होगा ।

प्रत्येक देश में ऐसे व्यक्तियों के समूह मिलते हैं । अधिकतर यह विश्वास है कि वे व्यक्ति अधिक संख्या में होते हैं जिनकी माँग आय के लिए लोचदार होती है (दूसरे शब्दों में सामान्य रूप से करारोपण से व्यक्तियों के कार्य करने की तथा बचाने की इच्छा कम ही हो जाती है) । क्या वास्तव में यह बात सही है कि समाज में अधिकतर ऐसे ही व्यक्ति होते हैं जिनकी आय की माँग लोचदार होती है ? व्यावहारिक जीवन में तो यह बात सिद्ध नहीं होती, क्योंकि समाज में कुछ व्यक्ति तो ऐसे होते हैं जिनको अधिक निर्भरकर्त्ताओं का पालन-पोषण करना पड़ता है या जिनको भविष्य में एक निश्चित आय प्राप्त करने की आशा निरन्तर बचाते रहने के लिए बाध्य करती है । कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जो अच्छा जीवन व्यतीत करना चाहते हैं, जिसके लिए वे निरन्तर काम में लगे रहते हैं । कुछ को अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक शान से रहने की जिज्ञासा होती है । कुछ प्रतिष्ठा एवं संसार में बड़े बनने के लालच से अधिकाधिक धन एकत्रित करना चाहते हैं—ऐसे व्यक्तियों पर करारोपण का बुरा प्रभाव नहीं पड़ता । अतः "आय-कर की दर की प्रत्येक वृद्धि से उन प्रयत्नों में वृद्धि हुई है, जो उन आयों को बढ़ाने में सफल हुए हैं, जिनमें से बढ़े हुए कर का भुगतान किया जाए ।"[5] अतः समाज में अधिकांश व्यक्ति ऐसे होते हैं जिनकी आय की माँग बेलोच होती है । वे अधिक से अधिक परिश्रम करके या बचत करके अपनी पुरानी आय और जीवन-स्तर को बनाए रखना चाहते हैं, और यदि यह चक्र एक बार आरम्भ हो जाता है तो फिर चलता ही रहता है । जब एक व्यक्ति का एकत्रित धन, उस सीमा से अधिक हो जाता है जो उसके बच्चों के संरक्षण के लिए आवश्यक है, तब और अधिक एकत्रीकरण का उद्देश्य ही बदल जाता है । तब वह काम करने तथा शक्ति प्राप्त करने के प्रेम से व्यवसायों में भाग लेना आरम्भ कर देता है । एकत्रित की हुई पूँजी तब इस खेल के एक औजार का रूप धारण कर लेती है । जब तक की खिलाड़ी का इस औजार पर अधिकार है, और यदि वह खिलाड़ियों में से एक है तो वह एकत्रीकरण के लिए केवल इसी बात से हतोत्साहित नहीं होगा कि उसके मरने के बाद उत्तराधिकारियों की अपेक्षा राज्य को वह धन प्राप्त होगा ।[6] अतः समाज के अधिकांश व्यक्तियों के काम करने तथा बचत करने की इच्छा पर करारोपण का बुरा प्रभाव नहीं पड़ता । अन्त में कुछ लोग समाज में ऐसे भी होते हैं जिनकी आय की मांग की लोच इकाई पर होती है । दूसरे शब्दों में, चाहे उनकी भावी आय की आशा कैसी ही हो, उनके काम करने की तथा

5. Quoted from The *Six Hour Day and Other Essays*, p. 248 by Dalton, Op. cit., p. 108.
6. Cf. Carver, *Essays in Social Justice*, p. 328.

बचत करने की इच्छा लगभग समान रहती है। इसके दो कारण होते हैं, प्रथम, कुछ व्यक्तियों में काम करने और बचाने की आदत सी हो जाती है। वे काम करते ही रहते हैं और बचाते ही रहते हैं चाहे कर लगे या न लगे, चाहे कर की दर नीची हो या ऊँची। उनके लिए करारोपण तनिक भी चिन्ता की वस्तु नहीं होती। वे कर न लगने पर भी उतना ही कार्य करते हैं जितना कर लगने की अवस्था में। इसका दूसरा कारण यह है कि व्यक्ति में प्रकृति से प्रतियोगिता करने की आदत होती है। वह केवल उन्नति ही करना नहीं चाहता बल्कि दूसरों की अपेक्षा अधिक उन्नति करना चाहता है। वह हमेशा अपनी तुलना दूसरों से करता रहता है और दूसरों की अपेक्षा अधिक वस्तुयें प्राप्त करना चाहता है, अधिक महँगी वस्तुयें खरीदना चाहता है। अतः वह केवल धनवान बनना ही नहीं चाहता बल्कि अपने समूह के अन्य व्यक्तियों की तुलना में अधिक धन एकत्रित करना चाहता है। इसी कारण "धनी व्यक्तियों को अपनी निरपेक्ष (Absolute) आय की तुलना में सापेक्ष (Relative) आय की वृद्धि से संतुष्टि का अधिकांश भाग प्राप्त होता है। यदि सभी धनी व्यक्तियों की आयों को एक साथ कम कर दिया जाये तो संतुष्टि का यह भाग नष्ट नहीं होता।"[7]

उपर्युक्त विवरण से यह सिद्ध हो गया कि चाहे व्यक्तियों की आय के लिए मांग बेलोच है या इकाई पर है, उन पर करारोपण का बुरा प्रभाव नहीं पड़ेगा। उनके कार्य करने तथा बचाने की इच्छा पर कोई विशेष बुरा प्रभाव नहीं होगा। अपनी विवेचना को समाप्त करने से पहले एक और बात बतानी आवश्यक है। वह यह कि यदि कर की दर बहुत ऊँची है या करारोपण बहुत प्रगतिशील है तो मनुष्य के कार्य करने तथा बचाने की इच्छा अवश्य ही कम हो जायेगी, क्योंकि उनको पुरानी आय को बनाये रखने के लिए बहुत अधिक परिश्रम करना पड़ेगा, जो उनके लिए रुचिकर नहीं होगा। अत: सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि जब तक कर की दर अधिक प्रगतिशील नहीं होती, अधिकांश व्यक्तियों के काम करने और बचाने की शक्ति करारोपण से कम नहीं होती।

यह ध्यान रहे कि करारोपण किस सीमा तक कर-दाता के कार्य करने तथा बचाने की इच्छा को प्रभावित कर सकता है, यह इस बात पर निर्भर करता है कि करारोपण किन परिस्थितियों में किया गया है। यदि करारोपण समृद्धि काल में किया गया है तो व्यापारियों पर कोई भी प्रभाव नहीं पड़ेगा। यहाँ तक कि कर की ऊँची दर भी उनको काम करने से हतोत्साहित नहीं करेगी, क्योंकि उनको सदैव ही ऊँचा लाभ प्राप्त करने की आशा रहती है। इसके विपरीत मन्दीकाल में एक हल्का कर भी उनको उत्पादन करने तथा बचत करके विनियोग करने के लिए हतोत्साहित करेगा, क्योंकि उनको सदा हानि का ही भय रहता है। अन्त में यदि कोई कर केवल कुछ ही दिनों के लिए या थोड़े ही समय के लिए लगाया गया है तो भी व्यक्तियों के काम करने या बचाने की इच्छा कम नहीं होगी, क्योंकि वे जानते हैं कि कुछ

7. Cf. Pigou, *Economics of Welfare*, p. 90.

समय बाद वह हट ही जायेगा।

करों की प्रकृति—अभी तक हमने करारोपण के प्रभावों को, मनुष्य की मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रियाओं के दृष्टिकोण से देखा था, अब हम विशेष करों की प्रकृति के अनुसार करारोपण के प्रभावों का अध्ययन करेंगे। इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि क्योंकि सब करों की प्रकृति एक समान नहीं होती, इसीलिये सबके प्रभाव भी एकसे नहीं होते। कुछ कर व्यक्तियों के काम करने तथा बचाने की इच्छा को बहुत प्रभावित करते हैं, कुछ कम और कुछ बिल्कुल भी प्रभावित नहीं करते। हम इनका अलग-अलग वर्णन निम्न में करेंगे :—

कुछ कर ऐसे होते हैं जो बचत करने तथा काम करने की इच्छा पर बिल्कुल भी प्रभाव नहीं डालते, जैसे उन आयों पर कर जिनकी पहले से आशा न हो, या जो अकस्मात् ही प्राप्त हो जायें (Windfalls), युद्ध काल में अतिरिक्त लाभ पर कर (Excess Profit Tax) या उत्तराधिकार में प्राप्त की हुई सम्पत्ति या भूमि के मूल्यों में वृद्धि होने पर कर इत्यादि। ये सब कर ऐसी वस्तुओं पर लगते हैं, जिनकी पहले से कोई भी आशा नहीं होती। इस लिए कर-दाता को इनका भुगतान करना बुरा नहीं लगता। अतः ऐसे करों का व्यक्तियों के काम करने तथा बचत करने की इच्छा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसी प्रकार एकाधिकारी लाभ पर कर या क्रय-विक्रय कर भी व्यक्तियों के काम करने और बचत करने की इच्छा को कम नहीं करते। एकाधिकारी अपने लाभ को अधिकतम करने के लिए, उतना उत्पादन करेगा जिससे कर का भुगतान भी कर सके और लाभ भी अधिकतम रहे। यदि वह अपना उत्पादन बन्द करदे तो कभी भी अपने उद्देश्य (अपना लाभ अधिकतम करना) की पूर्ति नहीं कर पायेगा। ठीक इसी तरह क्रय-कर तथा बिक्री-कर से, उपभोग तो अवश्य कम हो जाता है, परन्तु काम करने तथा बचाने की इच्छा कम नहीं होती।

हम यह कह ही चुके हैं कि आय-कर उन व्यक्तियों के कार्य करने तथा बचत करने की इच्छा पर बुरा प्रभाव डालता है, जिनकी आय की मांग बहुत लोचदार होती है, इस प्रकार यदि आय-कर बहुत ही अधिक प्रगतिशील है तो सामान्य रूप से प्रत्येक व्यक्ति के काम करने तथा बचाने की इच्छा कम हो जाती है, क्योंकि प्रत्येक अतिरिक्त प्रयत्न के बदले में बहुत कम मात्रा आय की प्राप्त होती है। इसीलिए व्यक्ति कार्य करने के लिए हतोत्साहित होते हैं।

सम्पत्ति-कर, कुछ दशाओं में उत्पादन को प्रोत्साहित करता है और कुछ दशाओं में हतोत्साहित करता है। धन कर (Wealth Tax) या सम्पत्ति कर बचतों को भी निरुत्साहित करते हैं, परन्तु आय-कर की अपेक्षा इनके प्रभाव कम बुरे होते हैं। इसी प्रकार मृत्यु कर भी हर दशा में बचतों को हतोत्साहित नहीं करते। इसी प्रकार पूँजी कर (Capital levy) जो किसी विशेष कार्य के लिए ही लगाया गया है, काम करने तथा बचाने की इच्छा पर बुरा प्रभाव नहीं डालता, क्योंकि कर-दाता जानता है कि उसे इसका भुगतान बार-बार नहीं करना होगा।

वस्तुओं और सेवाओं पर जो कर लगाये जाते हैं, उनसे उपभोग कम हो सकता है और उत्पादन पर भी परोक्ष रूप से प्रभाव पड़ता है। वस्तुओं के मूल्य ऊँचे हो जाने से, उपभोक्ताओं की माँग कम होती है और अन्त में उत्पादकों को भी अपना उत्पादन कम करना पड़ेगा। यही प्रभाव विक्री-करों का भी होता है। सीमा कर दूसरी ओर देशीय उद्योगों को संरक्षण द्वारा प्रोत्साहन देते हैं। परन्तु सीमा कर से हानि भी हो सकती है यदि संरक्षण अकुशल उद्योगों को प्राप्त हो जाता है। अतः सीमा-कर उसी समय हितकर सिद्ध हो सकते हैं जबकि देश के कुशल उद्योगों को संरक्षण प्रदान किया जाता है।

करारोपण का सामान्य प्रभाव नव स्थापित उद्योगों पर बुरा होता है और पुराने उद्योगों पर इतना बुरा प्रभाव नहीं पड़ता, क्योंकि पुराने उद्योग तो कर के भार को सुगमता से सहन कर सकते हैं, परन्तु नये उद्योगों की अपनी ही व्यवस्था कठिनाई से हो पाती है, वे कर-भार को क्या सहन कर सकते हैं ? इसी प्रकार जब विद्यमान उद्योगों का विकास करना है तब भी करारोपण अहितकर सिद्ध हो सकता है। इसीलिए व्यवहार में नये उद्योगों को कर की छूट देनी चाहिए और उन पुराने उद्योगों पर जिनका विकास करना है हल्का कर लगाना उचित होगा।

कुछ लोगों ने करारोपण को पूर्णतः भिन्न-दृष्टिकोणों से देखा है। इन लोगों के अनुसार करों से प्राप्त आय भी एक प्रकार की बचत है। यह सामूहिक बचत है। यदि नागरिक फिजूलखर्च हैं, देश में बचतों की मात्रा बहुत कम है, विनियोग बहुत कम है, देश में बेकारी बहुत है, औद्योगिक प्रगति निम्न स्तर पर है, तो करारोपण द्वारा सरकार आय प्राप्त कर सकती है और उसका विनियोग करके उद्योगों को प्रोत्साहन दे सकती है, या पूँजीगत वस्तुओं (Capital goods) के उत्पादन में उसका विनियोग कर सकती है। यह अवश्य है कि करारोपण से व्यक्तियों के कार्य करने तथा बचाने की शक्ति और इच्छा, दोनों ही कम होंगी परन्तु इसकी क्षतिपूर्ति, सरकार द्वारा उत्पादित पूँजीगत वस्तुओं के उत्पादन से हो जाती है, क्योंकि समाज की सामूहिक उत्पादन-शक्ति में वृद्धि होती है, राष्ट्रीय आय में भी वृद्धि होती है और अन्त में व्यक्तियों के बचाने और काम करने की शक्ति और योग्यता, दोनों ही में वृद्धि हो जाती है। इसी कारण आर्थिक नियोजन के काल में इस नीति का इतना अधिक महत्त्व होता है।

अर्द्ध विकसित देशों में प्रेरणाओं पर करारोपण के प्रभाव—

अर्द्ध-विकसित राष्ट्रों में करारोपण द्वारा व्यवसाय तथा विनियोगों को प्रभावित किया जा सकता है। प्रथम, सरकार करारोपण का रूप इस प्रकार से निश्चित कर सकती है कि बचत और विनियोग प्रत्यक्ष रूप से प्रोत्साहित हों। उदाहरणार्थ, नये व्यवसायों को कर-सम्बन्धी छूट देकर अथवा करारोपण में रियायतें देकर पुराने व्यवसायों के विकास अथवा विस्तार में सहायता दी जा सकती है। इस प्रकार करारोपण नीति में तनिक-सी फेर-बदल होने से

निजी क्षेत्र के विस्तार एवं विकास को काफी सहायता मिल सकती है। दूसरे, करारोपण द्वारा विदेशी वस्तुओं के आयात को नियन्त्रित किया जा सकता है ताकि वे स्थानीय वस्तुओं से प्रतियोगिता न कर पायें और स्थानीय उद्योगों का विस्तार हो सके। बाद में सरकार, जब उद्योगों का विस्तार हो जाए, उत्पादन करों को लागू कर सकती है। अन्त में, करारोपण स्वयं ही सम्पूर्ण समाज की सामूहिक बचत के रूप में कार्य कर सकता है। हम सभी इस बात से सहमत हैं कि सरकार अर्द्ध-विकसित देशों में केवल चालू आवश्यकताओं की पूर्ति पर ही व्यय न करे वरन् उसको विकासात्मक कार्यों पर भी खर्च करना चाहिए, ताकि समाज में नई पूँजी का निर्माण हो सके।

(३) करारोपण का आर्थिक साधनों के पुनर्वितरण पर प्रभाव—प्राचीन लेखकों का विश्वास था कि कोई भी साधन अपने 'प्राकृतिक उपयोगों' से निकलकर जब नये उपयोगों में प्रयोग किया जाता है तो वह इतना लाभप्रद नहीं रहता जितना कि वह पुराने उपयोगों में था, क्योंकि उनका विश्वास था कि स्वतन्त्र प्रतियोगिता और 'स्वयं हित' से साधनों का सदैव ही सर्वोत्तम उपयोग होता है। यदि इन उपयोगों में कृत्रिम उपायों से कोई भी उलटफेर कर दी जायेगी तब उत्पादन की मात्रा पहले की अपेक्षा अवश्य ही कम हो जायेगी। आधुनिक लेखकों में से अधिकांश की भी यही राय है परन्तु अनेकों ऐसे उदाहरण मिलते हैं, जो इसको सिद्ध नहीं करते। वास्तविकता यह है कि साधनों का पुनर्वितरण या स्थानान्तरण न तो उत्पादन के लिए सदैव ही हानिकारक होता है और न लाभप्रद। कभी उत्पादन को हानि होती है तो कभी लाभ।

जहाँ तक साधनों का विभिन्न उपयोगों में स्थानान्तरण का सम्बन्ध है, कुछ कर ऐसे हैं जिनके पक्ष में यह कहा गया है कि वे किसी प्रकार का भी पुनर्वितरण नहीं करते; जैसे आकस्मिक लाभ, भूमि की स्थिति पर कर, एकाधिकारी पर ऐसे कर जो न तो उसको उत्पादन और न विक्रय मूल्य में परिवर्तन करने के लिए प्रेरित करते हैं, और ऐसे कर जो सम्पत्ति के सभी उपयोगों में समान भार डालते हों।

कुछ कर ऐसे होते हैं जो साधनों का स्थानान्तरण इस प्रकार करते हैं कि उत्पादन में वृद्धि होती है, या समाज को सामान्य रूप से लाभ होता है। उपभोग की हानिकारक वस्तुओं पर लगे हुए करों की यही प्रकृति होती है। ऐसी वस्तुओं के मूल्य बढ़ने से उनका उपभोग हतोत्साहित होता है और उसमें लगी हुई पूँजी व श्रम अन्य उद्योगों को स्थानान्तरित होने लगते हैं। इसी प्रकार जो धन उपभोक्ता इन वस्तुओं के उपभोग पर व्यय करता था, अब या तो उसे बचायेगा या अच्छी और लाभप्रद वस्तुओं पर खर्च करेगा। बचतों में वृद्धि होने से भी देश को लाभ होता है और अन्य लाभप्रद वस्तुओं का उपभोग बढ़ने से भी लाभ होगा। दोनों ही दशाओं में विनियोगों को प्रोत्साहन मिलेगा और देश की आर्थिक उन्नति होगी। साथ ही व्यक्तियों की कार्यक्षमता में वृद्धि होगी और देश की उत्पादन-शक्ति बढ़ेगी। इस प्रकार यह स्थानान्तरण लाभप्रद है। ठीक इसी प्रकार यदि विलास की वस्तुओं पर कर

लगाया जाये तो उससे भी साधनों का स्थानान्तरण समाज के हित में होगा। संरक्षण कर का भी यही प्रभाव होगा। अन्य उद्योगों से निकलकर साधन उस उद्योग में लगने लगेंगे जिसका अभी तक विदेशी प्रतियोगिता के कारण विकास नहीं हो सका था, परन्तु जिसका भविष्य संरक्षण प्राप्त होने से अब उज्ज्वल है।

यह ध्यान रहे कि साधनों का पुनर्वितरण हर स्थिति में देश या समाज के लिए लाभप्रद नहीं होता। कुछ ऐसे भी हस्तान्तरण हैं जो हानिकारक होते हैं। कभी-कभी संरक्षण कर ही हानिकारक सिद्ध होता है। यदि संरक्षण कर से प्राप्त आय ऐसे उद्योगों को आर्थिक सहायता देने में उपयोग की जाती है, जो अकुशल हैं या जो देश के लिए आवश्यक नहीं हैं या जिनके लिए देश की प्राकृतिक परिस्थितियाँ उचित नहीं हैं, तो ऐसे उद्योगों से लाभ के स्थान पर हानि होती है। कर द्वारा जो साधनों का पुनर्वितरण होता है, अर्थात् अन्य लाभप्रद उद्योगों से साधन निकलकर संरक्षित उद्योगों में लगने लगते हैं, उससे देश का हित अग्रसर नहीं होता। ऐसे उद्योग कदापि भी अपने पैरों पर नहीं खड़े हो पावेंगे और जैसे ही उन पर से संरक्षण हटाया जायेगा वह ठप्प हो जायेंगे। अतः जो साधन अधिक उपयोगी उद्योगों से निकलकर अकुशल संरक्षित उद्योगों में स्थानान्तरित हुए थे, उनका अपव्ययी उपयोग ही हुआ जो संरक्षण के अभाव में कभी भी नहीं होता। इसी प्रकार अनिवार्य आवश्यकताओं की वस्तुओं पर कर लगने से, यह सम्भव है कि ऐसे उद्योगों से पूँजी और श्रम निकलकर अनावश्यक उद्योगों में उपयोग में आने लगे। यदि ऐसा होता है तो भी साधनों का पुनर्वितरण हानिकारक होगा।

कुछ कर ऐसे होते हैं जो साधनों का स्थानान्तरण वर्तमान उपयोगों से भावी उपयोगों के लिए कर देते हैं। व्यक्ति अपने उपभोग को कम कर देते हैं और बचाने के लिए विवश हो जाते हैं। बचत द्वारा, व्यक्ति को भविष्य में अपनी आय का उपयोग करने का अधिकार प्राप्त हो जाता है। अतः व्यक्ति वर्तमान आवश्यकताओं पर खर्च न करके अपनी आय को भविष्य में खर्च करने के उद्देश्य से बचाकर रखता है। बिक्री-कर, आयात-निर्यात कर ऐसे करों का उदाहरण हैं। साधनों का स्थानान्तरण देश के हित में या अहित में, यह बहुत कुछ सरकारी व्यय पर निर्भर करता है। यदि कर द्वारा प्राप्त राशि, अनुत्पादक कार्यों में खर्च की जाती है और देश की पूँजीगत वस्तुओं के बढ़ाने के काम में नहीं लाई जाती, तो साधनों का स्थानान्तरण जो वर्तमान से भावी उद्योगों के लिए हुआ, उससे देश को तनिक भी लाभ नहीं हुआ।

करों से साधनों का पुनर्वितरण ऐसा भी होता है कि साधन एक स्थान से दूसरे स्थान को स्थानान्तरित होने लगते हैं। यदि किसी देश में आय या मुनाफा-कर बहुत ही प्रगतिशील है तो व्यक्ति उस देश से अपनी पूँजी निकालकर किसी ऐसे देश में विनियोग करने लगेंगे, जहां कर-भार कम हैं। यदि देश के भिन्न-भिन्न भागों में विशेष कर संघीय वित्त-व्यवस्था (Federal Financial Administration) में करों की दरें भिन्न-भिन्न हैं तब तो पूँजी का स्थानान्तरण बड़ी ही सुगमता से

होगा, चाहे विदेशों में यह स्थानान्तरण इतना सरल न हो। संघीय वित्त-व्यवस्था में इसकी सम्भावना इसलिए अधिक होती है कि उसमें अनेकों राज्य (States) होते हैं और हर राज्य में अलग-अलग सूद की दर हो सकती है। भारत में विभिन्न राज्यों में बिक्री कर की दरों के भिन्न-भिन्न होने से देश को काफी हानि हो रही है। यदि सब ही स्थानों पर कर की दरें समान हों तो सब ही क्षेत्रों का समान विकास होता है और देश को लाभ होता है।

करारोपण के वितरण पर प्रभाव—

इस अध्याय में हमने अभी तक करारोपण के उत्पादन पर पड़ने वाले प्रभावों की विवेचना की थी। अब हम यह अध्ययन करेंगे कि करारोपण के वितरण के क्षेत्र में क्या प्रभाव होते हैं। हम सभी बढ़ती हुई धन की असमानताओं के सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिणामों से भली-भाँति परिचित हैं। वास्तव में धन के वितरण की असमानताओं के कारण ही आज राज्य (State) की रूपरेखा इतनी बदल गई है। मानव-जीवन में राज्य का महत्त्व जितना आज है उतना पहले कभी न था। हम देख चुके हैं कि राज्य अपने व्यय को इस प्रकार सम्पन्न करता है कि धन की असमानताएँ न्यूनतम हो जायें। यदि राजकीय व्यय का उद्देश्य धन की असमानताओं को कम करना है तो करारोपण का भी यही उद्देश्य होता है। प्राचीन लेखक इस विचार से बिलकुल भी सहमत न थे कि करारोपण द्वारा धन की असमानतायें दूर हो सकती हैं। हम पहले भी कह चुके हैं कि पुराने लेखक केवल यही मानते थे कि करारोपण आय प्राप्त करने का एक साधन है, और इसके अतिरिक्त न तो उसका कोई कर्त्तव्य है और न कोई लाभ ही। यदि देखा जाय तो एडम स्मिथ ने करारोपण सम्बन्धी जो अपने नियम दिये थे उनका भी यह उद्देश्य था कि राज्य को पर्याप्त आय बिना नागरिकों को तंग किये ही प्राप्त हो जाये। यही विचार रिकार्डो, मिल, बैस्टेबिल और एडम्स का भी था। ये लेखक करों को नागरिकों की जेबों से धन निकालने का एक साधन मात्र मानते थे। बैस्टेबिल ने कहा है कि करारोपण को "धन की असमानताओं को ठीक करने का एक साधन मानने की एक बड़ी दृढ़ धारणा है। यह तो वित्तीय कला की शक्ति के अन्दर ही सम्भव है कि करों की दरों और रूपों को इस प्रकार चुना जाए कि बिना किसी वर्ग पर अनुचित दबाव के, आवश्यक धन प्राप्त हो जाये, परन्तु यदि धन के वितरण के प्रभावों की ओर ध्यान देना है और इस दिशा में कुछ विशेष उद्देश्यों की पूर्ति के लिए कोई तरतीब करनी है तो इस कार्य की कठिनाइयाँ अत्यधिक हो जाती हैं। यदि उद्देश्य समाजवादी प्रणाली स्थापित करना है तो करारोपण में चालाकी से व्यवस्था करने की अपेक्षा अधिक प्रत्यक्ष और प्रभावशाली विधियाँ उपस्थित हैं।" परन्तु समय की प्रगति के साथ-साथ अब अधिकांश लेखकों का यही मत है कि राजकीय व्यय और करारोपण—दोनों ही धन की असमानताओं को दूर करने के शक्तिशाली अस्त्र हैं। ये समाजीकरण के अन्य प्रत्यक्ष उपायों की भाँति क्रान्तिकारी भी नहीं हैं और उद्देश्य की पूर्ति भी कर देते हैं। धन

की असमानताओं को दूर करने के उद्देश्य से करारोपण की दरों में उलट-फेर की जाती है। यह तो स्पष्ट ही है कि प्रतिगामी करों से धन की असमानतायें और अधिक तीव्र होंगी, क्योंकि इनका भार धनी वर्गों की अपेक्षा निर्धन वर्गों पर अधिक पड़ता है, जैसे व्यक्ति कर (Poll Tax)। इसी प्रकार अनुपातिक कर भी असमानताओं को दूर नहीं कर पाते, और करों की दर समान रहने के कारण धन की असमानतायें पूर्ववत् ही रहती हैं। केवल प्रगतिशील करों से ही ये असमानतायें कम होती हैं, क्योंकि ऐसे करों का भार निर्धन व्यक्तियों की अपेक्षा धनी व्यक्तियों पर अधिक पड़ता है। हम इसके बारे में पहले भी कह चुके हैं कि धन की वृद्धि के साथ-साथ द्रव्य की सीमान्त उपयोगिता कम हो जाने से धनी व्यक्तियों की कर-दान योग्यता बढ़ती जाती है और धनी व्यक्तियों को कर भुगतान करना बुरा नहीं लगता। धन की असमानताओं को दूर करने के लिए यही सर्वोत्तम उपाय है। जहाँ तक प्रत्यक्ष करों का सम्बन्ध है उनका आय के वितरण पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ सकता है। सर्वप्रथम ऐसे व्यक्ति जिनके पास अनुपार्जित आय बहुत होती है या वे व्यक्ति जो निजी उपभोग पर बहुत अधिक व्यय करते हैं तथा वे व्यक्ति जिनके पास बहुत अधिक धन है, सामान्यतः उनकी भुगतान करने की शक्ति बहुत अधिक होती है। इसलिए आय तथा सम्पत्ति करों द्वारा आय की असमानताओं को कम किया जा सकता है। आय-कर व्यक्तियों द्वारा प्राप्त आय को कम करता है, सम्पत्ति कर व्यक्तियों की सम्पत्ति को कम करता है और मृत्यु तथा उपहार कर उत्तराधिकार में प्राप्त होने वाली सम्पत्ति के आकार को कम कर सकते हैं और यदि ये सब कर लागू कर दिए जाएँ तो कुछ समय पश्चात् आय तथा धन के वितरण की असमानताएँ एक बड़ी सीमा तक दूर हो जाएँगी। आयकर, सम्पत्तिकर, मृत्युकर तथा अन्य विलास की वस्तुओं पर लगे हुए करों की दरें प्रगतिशील रक्खी जाती हैं। आय करों को और सम्पत्ति करों को प्रगतिशील बनाना बड़ा ही सरल होता है। आय को विभिन्न खण्डों (Slabs) में बाँटकर, आय बढ़ने के साथ-साथ दर को बढ़ाते जाते हैं। इस प्रकार पूरी आय पर समान दर से कर नहीं लगता। कम आय पर कर की दर नीची होती है और ऊँची आय पर दर ऊँची हो जाती है। अधिकतर देशों में यह ही प्रचलित है। कहीं-कहीं पर कर को अधिक प्रगतिशील बनाने के लिए दो और उपाय किए जाते हैं। एक तो ऊँची आयों पर अतिरिक्त कर लगा दिए जाते हैं, जैसे अतिरिक्त लाभ कर (Excess Profit Tax) या अति कर (Super Tax) लगा दिए जाते हैं और दूसरे न्यूनतम कर रहित सीमा को बहुत ऊँचा कर दिया जाता है और निम्न आय वाले व्यक्तियों को अनेक प्रकार की रियायतें दे दी जाती हैं जैसे, उन व्यक्तियों को जिनके निर्भरकर्ताओं की संख्या अधिक है उनको कुटुम्ब भत्तों (Family Allowances) के रूप में कुछ सहायता देना। इसी प्रकार सम्पत्ति करों से भी धन की असमानताओं के कम होने में सहायता मिलती है। बड़ी-बड़ी सम्पत्तियों के एकत्रित होने के कारण ही समाज में असमानतायें उत्पन्न होती हैं। इन असमानताओं को दो प्रकार से दूर किया जाता है। प्रथम,

केवल सम्पत्ति वालों पर ही कर लगाया जाता है, और दूसरे अधिक सम्पत्ति वालों पर ऊँची दर पर कर लगाया जाता है और कम सम्पत्ति वालों पर नीची दर से कर लिया जाता है। आधुनिक समय में व्यय-कर को भी महत्व प्रदान किया जाने लगा है। यह स्वयं सिद्ध है कि निर्धनों की अपेक्षा धनी व्यक्ति अधिक व्यय करते हैं। अतः जितना जिस व्यक्ति का व्यय हो उसके अनुसार कर लगाया जावे। अर्द्ध-विकसित देशों में प्रत्यक्ष करों के साथ-साथ अप्रत्यक्ष करों का भी प्रयोग किया जाता है जबकि प्रत्यक्ष कर प्रगतिशील होने के कारण आय के वितरण की असमानताओं को दूर करने में सप्रभाविक सिद्ध होते हैं, अप्रत्यक्ष कर जो सामान्यतया प्रतिगामी होते हैं उनका प्रयोग अन्य उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किया जाता है। साधारणतया उत्पादन तथा बिक्री करों का भार धनी तथा निर्धन व्यक्तियों पर समान रूप से पड़ता है किन्तु हम ऐसी वस्तुओं को चुन सकते हैं जिनका उपभोग केवल धनी-वर्ग करता है और उन पर ऊँची दर से कर लागू कर सकते हैं। इसी प्रकार ऊँचे गुणों वाली वस्तुओं पर ऊँची दर से बिक्री-कर लगाया जा सकता है और घटिया वस्तुओं पर नीची दर से कर लगाया जा सकता है किन्तु यह ध्यान रहे कि कर लागू करने में इस प्रकार के भेद-भाव से कर की राशि को एकत्र करने में काफी कठिनाइयों का सामना करना होगा और सम्भावना इसी बात की है कि सरकार अपने प्रयत्नों में सफल न हो पाए। इसीलिए अर्द्ध-विकसित देशों के लिए अधिक अच्छा तो यही होगा कि प्रत्यक्ष करों को ही उपभोग में लाया जाए।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि समान वितरण के लिए अति प्रगतिशील कर आवश्यक है, परन्तु यह हम भी देख चुके हैं कि ऐसे करों से उत्पादन हतोत्साहित होता है। इसीलिए यह आवश्यक है कि करारोपण इस प्रकार किया जाए कि उत्पादन हतोत्साहित न हो क्योंकि यदि उत्पत्ति ही कम होती जाएगी तो वितरण किस वस्तु का होगा और फिर समान वितरण से क्या लाभ होगा ? अतः कर-प्रणाली का निर्माण इस प्रकार करना चाहिए कि दोनों उद्देश्यों की पूर्ति होती रहे अर्थात् उत्पादन भी हतोत्साहित न हो और धन का वितरण भी समान रहे।

जो कर धन के पुनर्वितरण में सहायता करते हैं वे आर्थिक जीवन को स्थायी बनाते हैं। मन्दी काल में जब वस्तुओं के मूल्य गिरते जाते हैं और बेकारी फैलने लगती है, उस समय निर्धन व्यक्तियों पर कर लगाना सामाजिक हित में नहीं होता है। हम सभी जानते हैं कि निर्धन व्यक्ति धनी व्यक्तियों की अपेक्षा अपनी आय का एक बहुत बड़ा अनुपात उपभोग पर व्यय करते हैं। यदि निर्धनों पर कर लगाए जाएँ तो उनका उपभोग कम होने से जो कुछ वस्तुओं की माँग बाजार में थी उसमें भी कमी आयेगी और बेकारी और उत्पन्न होगी। इसलिए निर्धनों पर कोई भी कर नहीं लगाना चाहिए, बल्कि धनी व्यक्तियों से कर वसूल करके ऐसी सेवाओं पर खर्च करना चाहिए जिससे निर्धन व्यक्तियों को लाभ पहुँचे और उनकी क्रय शक्ति में वृद्धि हो, उत्पादन बढ़े और बेकारी कम हो। अतः कर, धन के पुनर्वितरण द्वारा देश में आर्थिक जीवन को स्थायी बनाते हैं।

अर्द्ध-विकसित राष्ट्रों में करों के वितरणात्मक प्रभाव—

पूर्ण विकसित राष्ट्रों में क्योंकि उत्पादन तथा राष्ट्रीय आय के स्तर काफी उच्च होते हैं इसलिए वहाँ राष्ट्रीय आय के पुनर्वितरण पर अधिक बल दिया जाता है। किन्तु अर्द्ध-विकसित राष्ट्रों में एक ओर उत्पादन में वृद्धि करके राष्ट्रीय आय को बढ़ाने की समस्या होती है तथा दूसरी ओर राष्ट्रीय आय के वितरण को समान बनाने की समस्या। इस सम्बन्ध में दो प्रकार के विचार देखने में आते हैं। प्रथम विचारधारा के अनुसार अर्द्ध-विकसित देशों का मुख्य उद्देश्य उत्पादन तथा रोजगार के आकार को बढ़ाना होना चाहिए और आय के न्यायपूर्ण वितरण को प्रथम स्थान नहीं देना चाहिए। किन्तु द्वितीय विचारधारा के अनुसार अर्द्ध-विकसित देशों में सबसे पहले आय के वितरण को न्यायपूर्ण बनाने का उद्देश्य होना चाहिए। ये दोनों ही विचार-धाराएँ एक दूसरे के विपरीत प्रतीत होती हैं जबकि उत्पादन तथा रोजगार बढ़ाने के लिए कर-ढाँचे में ऐसे परिवर्तन करने होंगे जिनसे बचत करने तथा काम करने और जोखिम सहन करने की शक्तियों पर अधिक बुरा प्रभाव न पड़े, धन के पुनर्वितरण के लिए अति प्रगतिशील कर लागू करने होंगे। किन्तु वास्तविकता यह है कि अर्द्ध-विकसित देशों में इन दोनों उद्देश्यों की पूर्ति एक साथ की जा सकती है।

यह सर्वविदित है कि सभी कर काम करने तथा बचत करने की इच्छा पर बुरा प्रभाव नहीं डालते हैं। प्रत्यक्ष करों, विशेषकर आय तथा उत्तराधिकार करों का तो काम तथा बचत करने की इच्छा पर बुरा प्रभाव पड़ सकता है, किन्तु अप्रत्यक्ष करों के साथ ऐसी बात नहीं है। प्रत्यक्ष करों का प्रभाव भी उसी समय तक बुरा हो सकता है जब तक व्यक्तियों की आय-सम्बन्धी माँग लोचपूर्ण होती है। जब व्यक्तियों की आय के प्रति माँग बेलोच हो जाती है तो वे काम करने के लिए हतोत्साहित नहीं होते। इसी प्रकार पूँजी तथा मृत्यु करों का प्रभाव भी बचत करने की शक्ति पर बुरा नहीं पड़ता। अर्द्ध-विकसित देशों में नये उपक्रमों की स्थापना तथा पुराने व्यवसायों के विस्तार, सम्पत्ति के संग्रह तथा बड़े-बड़े औद्योगिक तथा व्यावसायिक संगठनों की स्थापना की सम्भावनायें इतनी अधिक होती हैं कि किसी भी प्रकार की आय तथा जायदाद-करों का व्यवसाय विनियोग और पूँजी-निर्माण पर बुरा प्रभाव नहीं पड़ सकता। इसके अतिरिक्त नियोजित आर्थिक विकास के कारण विनियोग की दर इतनी तेजी से बढ़ती है कि एक ओर आय में तीव्र वृद्धि होती है और दूसरी ओर वस्तुओं तथा सेवाओं की माँग बढ़ती जाती है। आवश्यक मात्रा में वस्तुओं तथा सेवाओं की उपलब्धि न होने के कारण उनके मूल्य बढ़ते जाते हैं और लाभ की मात्रा भी बढ़ती जाती है। व्यापारी-वर्ग तथा बड़े-बड़े उद्योगपति करों से भयभीत नहीं होते और इस प्रकार उनके विनियोग करने की प्रेरणाओं पर बुरा प्रभाव नहीं पड़ता। इसके साथ ही यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि कर-प्रबन्ध की जो कुशलता आज है और कर की चोरी करने की जो सम्भावनायें आज उपस्थित हैं उनमें तो और भी विनियोग करने की प्रेरणा पर

बुरा प्रभाव नहीं पड़ेगा। आज तो यही प्रवृत्ति देखने को मिलती है कि इतने अधिक करों के बावजूद भी नए-नए कारखाने तथा नए-नए उद्योग स्थापित होते जा रहे हैं।

अर्द्ध-विकसित देशों में यह भी आवश्यक है कि नियोजित आर्थिक विकास के कारण आय में जो वृद्धि हो रही है उसका व्यय उपभोग पर ही न किया जाये और आवश्यकता इस बात की है कि बचत तथा विनियोग में वृद्धि हो। इसलिए सरकार को निजी बचतों को प्राप्त करना होगा और देश की उत्पादक शक्ति को बढ़ाना होगा, [इसके लिए मामूली व्यक्तियों के उपभोग को नियन्त्रित करना होगा,] धनी व्यक्तियों के अपव्ययी उपभोग को कम करना होगा और निजी कोष को उत्पादक विनियोगों में लगाने के लिए राजकीय क्षेत्र का विस्तार करना होगा। यह करारोपण द्वारा ही सम्भव हो सकता है।

अर्द्ध-विकसित देशों में सरकार को यह भी देखना चाहिए कि धन कुछ ही हाथों में एकत्रित न हो जाए और इसके लिए उसको प्रगतिशील प्रत्यक्ष करों का प्रयोग करना होगा। यह इसलिए भी आवश्यक है कि नीची आय वाले वर्गों के मन में यह शंका उत्पन्न न हो जाए कि धनी व्यक्तियों को कर सहन ही नहीं करने पड़ रहे हैं। साथ ही कर-भार के वितरण को संतुलित बनाने की दृष्टि से भी यह आवश्यक है कि ऊँची आय वाले वर्गों पर कर का भार उतना ही पड़े जितना कि अप्रत्यक्ष करों की संख्या में वृद्धि होने से निर्धन वर्गों पर पड़ रहा है। यदि यह सब न हुआ तो देश में आय की असमानतायें और भी अधिक हो जाएँगी।

कुछ लोगों का विचार है कि आय तथा धन की असमानताएँ बचत के संग्रह में सहायता देती हैं और इसलिए आय के पुनर्वितरण-सम्बन्धी करारोपण से धनी व्यक्ति बचत करने के लिए हतोत्साहित होंगे जोकि देश के हित में न होगा। एक यह विचार भी प्रस्तुत किया जाता है कि पुनर्वितरण-सम्बन्धी करारोपण से निर्धन व्यक्तियों को अधिक आय प्राप्त होगी जिसको वे उपभोग पर ही खर्च करेंगे क्योंकि उनमें उपभोग करने की प्रवृत्ति अधिक होती है, और इस प्रकार देश में बचत तथा विनियोगों को ठेस पहुँचेगी। जहाँ तक पहले विचार का सम्बन्ध है, उसमें इस बात की ओर कोई भी ध्यान नहीं दिया गया है कि धनी वर्गों का उपभोग भी आय बढ़ने के साथ-साथ अपव्ययी होता जाता है। फिर, यह भी तो सच नहीं है कि धनी व्यक्तियों द्वारा जो बचत होती है वह अर्द्ध-विकसित देश को निर्धनता के जाल से बाहर निकालने के लिए पर्याप्त होगी। जहाँ तक दूसरे विचार का सम्बन्ध है, उसके प्रस्तुतकर्ता यह भूल गए कि निर्धन वर्ग को भी अप्रत्यक्ष करों का भार सहन करना पड़ता है और वह भी विकास-सम्बन्धी व्यय में अपना योग-दान करता है। हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि उपभोग स्तर के निम्न होने से व्यक्तियों की उत्पादन-क्षमता को क्षति पहुँचती है। इसलिए हम निम्न आय वाले वर्गों की आय में वृद्धि करके सम्पूर्ण राष्ट्र की उत्पादन-शक्ति को बढ़ाने में सहायता करते हैं।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि अर्द्ध-विकसित देशों में उत्पादन को बढ़ाने तथा आय के पुनर्वितरण, दोनों ही उद्देश्यों की पूर्ति एक साथ कर सकते हैं।

करारोपण और उपभोग—

करारोपण व्यक्तियों के उपभोग को भी प्रभावित कर सकता है। साधारणत: आय-कर व्यक्तियों के उपभोग-स्तर को कम करता है, परन्तु यदि आय-कर बहुत ही प्रगतिशील हो और प्रतिगामी भी हो तो इसके प्रभाव समाज के लिए बहुत घातक सिद्ध होते हैं। इसलिए छोटी आय वाले लोगों की आय पर कोई भी कर नहीं लगाया जाता, क्योंकि इसका भार निर्धनों पर पड़ने के कारण अन्तिम दशा में देश के उत्पादन पर प्रभाव पड़ता है। हम पहले भी कह चुके हैं कि आवश्यक और प्रतिष्ठा-सम्बन्धी आवश्यकताओं की वस्तुओं पर कर लगाने का भी यही परिणाम होता है। ऐसी वस्तुओं के मूल्य बढ़ जाते हैं, और उनकी मांग बेलोच रहने के कारण, कर का भार गरीबों पर अधिक पड़ता है। उनको या तो अपना उपभोग कम करना होता है या ऋणग्रस्त रहना पड़ता है। ये दोनों स्थितियाँ खराब होती हैं। ठीक इसी प्रकार की स्थिति उस समय उत्पन्न होती है जबकि उन वस्तुओं पर कर लगता है जो कार्य-क्षमता बढ़ाती हैं। ऐसी वस्तुओं की मांग की लोच अधिक होने के कारण, व्यक्ति मूल्य बढ़ने पर या तो उनका उपभोग कम कर देते हैं या उनका उपभोग बिलकुल बन्द ही कर देते हैं। इसीलिए ऐसी वस्तुओं पर कर लगाना बुरा समझा जाता है। दूसरी ओर विलासिता की वस्तुओं पर कर लगाना अच्छा समझा जाता है। इसका अभिप्राय यह नहीं कि करों से ऐसी वस्तुओं का उपभोग कम नहीं होता। उपभोग कम तो होता है परन्तु ऐसी वस्तुओं का उपभोग कम होने से समाज को लाभ होता है। व्यक्तियों की जो कार्यक्षमता इन वस्तुओं के उपभोग से कम होती थी वह अब नहीं होगी। दूसरे इसका भार धनी व्यक्तियों पर पड़ता है। इसी प्रकार हानिकारक तथा नशीली वस्तुओं पर कर लगाने से भी समाज को लाभ होता है, क्योंकि इनके मूल्य बढ़ने से जो उपभोग में कमी होती है वह व्यक्तियों के लिए लाभप्रद होती है।

यदि करारोपण के व्यक्तियों की सन्तुष्टि पर पड़ने वाले प्रभावों की ओर ध्यान दिया जाये तो यह ज्ञात होगा कि करारोपण द्वारा वस्तुओं का उपभोग कम होने से व्यक्तियों की सन्तुष्टि सदैव ही कम नहीं होती। यदि वस्तुओं की मांग लोचदार है तो कर लगने से वस्तुओं का जो उपभोग कम होगा, उसका अभिप्राय यह होगा कि या तो व्यक्तियों को उस वस्तु से सन्तुष्टि नहीं प्राप्त होती है या उस वस्तु के स्थान पर किसी दूसरी सस्ती वस्तु का उपभोग किया जा सकता है या उसका उपभोग आवश्यक नहीं है और भविष्य के लिए स्थगित किया जा सकता है। इसलिए ऐसी वस्तुओं पर कर लगाने से व्यक्तियों की सन्तुष्टि कम नहीं होती। यह ध्यान रहे कि ऐसे करों से सरकार को कोई विशेष आय प्राप्त नहीं होती। वस्तुओं की माँग लोचदार होने के कारण मूल्य बढ़ने के साथ-साथ माँग भी कम होती जाती है और बाजार में वस्तुओं की बिक्री की मात्रा भी कम होती जायेगी। यदि वस्तुओं की बिक्री पर कर लगा हुआ है तो बिक्री कम होते जाने से सरकार की आय भी कम होती जायेगी और यदि कर वस्तुओं के उत्पादन पर लगा है, तो उत्पत्ति कम होने

से (क्योंकि बाजार में वस्तुओं की माँग कम हो रही है) सरकार की आय भी कम होती जायेगी। अतः जब सरकार लोचदार माँग वाली वस्तुओं पर कर लगाती है तो उसका उद्देश्य आय प्राप्त करना नहीं होता। सरकार को बेलोच माँग वाली वस्तु पर कर लगाने से ही आय प्राप्त होती है। परन्तु इन वस्तुओं पर कर लगने से व्यक्तियों की सन्तुष्टि बहुत कम हो जाती है। आय-कर से व्यक्तियों को सन्तुष्टि इतनी कम नहीं होती जितनी वस्तुओं पर कर लगने से क्योंकि आय-कर से, केवल आय ही कम होती है, वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि नहीं होती। व्यक्तियों की सन्तुष्टि मूल्यों की वृद्धि से अधिक कम होती है।

करारोपण और आर्थिक स्थिरता—

हम राजकीय व्यय के प्रभावों का अध्ययन करते समय यह स्पष्ट कर चुके हैं कि राजकीय व्यय द्वारा आर्थिक जीवन को स्थायी बनाया जा सकता है। राज्य करों द्वारा भी देश में आर्थिक क्रियाओं का नियमन कर सकता है। और देश में रोजगार के स्तर को स्थायी बना सकता है और पूर्ण रोजगार की स्थिति स्थापित कर सकता है। प्रो० लरनर[8] (Lerner) का तो यह विचार है कि राज्य को आय के स्रोत के रूपों में करों को देखना ही नहीं चाहिए, वरन् करारोपण का एकमात्र उद्देश्य देश में आर्थिक क्रियाओं, अर्थात् उत्पादन, वितरण एवं उपभोग-सम्बन्धी क्रियाओं के आकार को नियमित करना ही होना चाहिए। इनको विश्वास है कि आय तो अन्य स्रोतों से भी प्राप्त की जा सकती है, जैसे नोट छाप कर। कर द्वारा व्यक्तियों की क्रय-शक्ति तथा व्यय-शक्ति को कम करना चाहिये। सरकार का करारोपण का कोई भी उद्देश्य क्यों न हो, यह निश्चित ही है कि आर्थिक क्रियाओं पर करारोपण का प्रभाव अवश्य ही पड़ेगा। करारोपण, व्यक्तियों के उपभोग और विनियोग करने की शक्ति को प्रभावित करके देश के व्यापार, उद्योग और रोज़गार की स्थिति को प्रभावित करता है। यह तो स्पष्ट ही है कि देश में सभी आर्थिक क्रियायें, उपभोग के स्तर से निर्धारित होती हैं। वस्तु-विशेष का उपभोग बढ़ने से उसकी माँग बढ़ती है, मूल्य बढ़ता है, उत्पादन बढ़ता है, और उस उद्योग-विशेष में अधिक व्यक्तियों को रोजगार मिलने लगता है। उपभोग के कम होने से स्थिति बिल्कुल विपरीत हो जाती है। विनियोगों द्वारा पूँजीगत वस्तुओं की उत्पत्ति बढ़ती है, जिनसे अन्य वस्तुओं का उत्पादन बढ़ता है, और इस प्रकार देश में रोज़गार में वृद्धि होती है। अतः जिन करों से उपभोग हतोत्साहित होता है और धन विनियोगों में लगने के स्थान पर संचित कोषों (Hoards) में जाने लगता है वे बेरोज़गारी बढ़ायेंगे और बुरे होते हैं।

मुद्रा-स्फीति के काल में करारोपण का उद्देश्य व्यक्तियों की क्रय-शक्ति को कम करना होता है। मुद्रा-स्फीति में मूल्यों की वृद्धि से समाज के अधिकांश वर्गों को हानि होती है। अतः व्यक्तियों की क्रय-शक्ति को कम करके मूल्यों के बढ़ने की प्रवृत्ति को रोका जाता है। व्यक्तियों की अतिरिक्त क्रय-शक्ति व्यक्तियों के पास से

8. *Cf. The Economics of Control*, p. 307.

करारोपण द्वारा सरकार के पास पहुँच जाती है। आय-कर तथा व्यय-कर इस सम्बन्ध में अधिक प्रभावशाली सिद्ध होते हैं। आय-कर आय को कम करके क्रय-शक्ति को कम करता है। और व्यय-कर व्यय करने की प्रवृत्ति को हतोत्साहित करता है। मुद्रा-स्फीति में आयों की अपेक्षा उत्पत्ति में वृद्धि नहीं हो पाती है इसलिये मूल्य बढ़ते जाते हैं। उत्पादन को प्रोत्साहित करने के लिए, कुछ करों की छूट भी लाभकारी सिद्ध होती है। नये उत्पादकों पर कोई कर न लगाया जाए ताकि उन्हें उत्पत्ति बढ़ाने के लिए प्रोत्साहन मिले। वस्तुओं की मात्रा आयातों द्वारा भी बढ़ाई जा सकती है। अतः मुद्रा-स्फीति में आयात करों को कम करने से आयातों को प्रोत्साहन मिलेगा और देश में सामान्य मूल्य स्तर भी कम होगा। इस प्रकार करारोपण द्वारा, मुद्रा-स्फीति में, मूल्यस्तर में स्थिरता लाई जाती है।

करारोपण द्वारा करदाताओं की क्रय-शक्ति को कम करके मुद्रा के प्रवाह को कम कर सकते हैं और इस प्रकार मूल्य-वृद्धि को रोका जा सकता है, किन्तु यह तभी सम्भव होगा जब कि सरकार अपनी व्यय-नीति को भी इसी के अनुसार निर्मित करे। इसके अतिरिक्त करारोपण वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि करके उनकी माँग को कम करने में सहायता करता है। और अन्त में सरकार एक ओर मूल्य-नियन्त्रण की नीति अपना सकती है और दूसरी ओर वस्तुओं पर कर लागू कर सकती है। इसका परिणाम यह होगा कि एक ओर तो उपभोक्ता पहले ही जैसे मूल्य देने को बाध्य होंगे और दूसरी ओर उत्पादन करों से उत्पादकों के लाभ की मात्रा कम हो जायेगी। परिणामतया विनियोगों की मात्रा कम होगी और मूल्यों के बढ़ने की प्रवृत्ति रुक जायेगी।

कुछ व्यक्तियों का विचार है कि करारोपण, एक सीमा के पश्चात् मूल्य-स्तर में स्थिरता लाने के स्थान पर मूल्यों में ऊपर बढ़ाने की प्रवृत्ति उत्पन्न कर देगा, क्योंकि एक ओर तो मौद्रिक प्रवाह में वृद्धि होगी और दूसरी ओर वस्तुयें तथा सेवायें पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध नहीं हो पायेंगी। इस सम्बन्ध में कई दलीलें दी गई हैं। प्रथम ऊँची दर पर कर लगने के कारण जहाँ व्यक्तियों की क्रय-शक्ति कम होगी, वहाँ श्रमजीवी तथा वेतन भोगी वर्ग ऊँची मजदूरियों तथा अधिक वेतन के लिए मांग करेंगे। यदि सरकार ने उनकी माँगें स्वीकार कर लीं तो मुद्रा-स्फीति और भी तीव्र हो जायेगी। दूसरे, करारोपण के ऊँचे स्तर के कारण सरकार के व्यय में भी वृद्धि होगी जिसका परिणाम यह होगा कि बाजार में मुद्रा का परिमाण अधिक हो जायेगा और उसके गुणक प्रभावों में मूल्यों में और भी अधिक ऊँचे होने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाएगी। तीसरे, करारोपण द्वारा सरकार विनियोगों को प्रोत्साहित कर सकती है। यदि सरकार दीर्घकालीन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अधिक विनियोगों को प्रोत्साहित करने हेतु विवेचनात्मक करारोपण की नीति अपनाती है तो वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि हुए बिना ही मौद्रिक आय में वृद्धि होगी और परिणाम यह होगा कि मुद्रा-स्फीति और भी अधिक हो जायेगी। चौथे करारोपण की ऊँची दरों के कारण व्यक्तियों का उपभोग व्यय अधिक हो जायेगा और बचतों

की मात्रा कम होने लगेगी जिसके कारण भी मुद्रा-स्फीति का भार अधिक हो जायेगा। अन्त में ऊँचे करारोपण के कारण श्रमिक वर्ग उपद्रव उत्पन्न करेगा और वस्तुओं का उत्पादन और भी कम हो जायेगा। इस प्रकार मौद्रिक आय के बढ़ने तथा वस्तुओं का उत्पादन गिरने के कारण करारोपण मुद्रा-स्फीति को रोकने के स्थान पर उसको तीव्र करने में सहायक बनेगा, उसी प्रकार जैसे कि अग्नि में आहुति।

सम्पूर्ण वाद-विवाद का मूल्यांकन—

उपर्युक्त विवरण से ऐसा प्रतीत होता है कि दोनों ही बातें सही हैं। करारोपण से मुद्रा-स्फीति और भी भयंकर हो जाती है, यदि करारोपण द्वारा मुद्रा का प्रवाह तीव्र हो जाता है। दूसरी ओर करारोपण द्वारा हम मुद्रा-स्फीति को नियन्त्रित कर सकते हैं, यदि हम मुद्रा के प्रवाह और वस्तुओं तथा सेवाओं की माँग को बढ़ने न दें। किन्तु सच तो यह है कि ऐसा कदाचित् भी सम्भव नहीं हो सकता। इसलिए यह आवश्यक है कि करारोपण की नीति को बड़ा सोच-समझकर निर्मित किया जाए तथा इसके साथ-साथ सरकार अपनी व्यय-नीति में उचित फेर-बदल करे और करारोपण के अतिरिक्त मुद्रा-स्फीति निरोधक अन्य उपाय भी अपनायें।

मुद्रा-संकुचन या मन्दी-काल में आर्थिक स्थिति मुद्रा-स्फीति के बिलकुल विपरीत होती है। मंदी-काल में विनियोगों में मन्दी आ जाती है, उत्पादन बन्द होने लगता है, और बेकारी बढ़ने लगती है। चारों ओर निराशा की एक लहर दौड़ने लगती है। ऐसी स्थिति में यदि नये कर लगाये जायेंगे तो वे क्रय-शक्ति और विनियोगों को हतोत्साहित करके स्थिति को और भी बिगाड़ देंगे। परिणामस्वरूप रोज़गारों की स्थिति और भी अधिक खराब हो जायेगी। इसलिये यह आवश्यक है कि कर की मात्रा पहले से कम कर दी जाए। राजकीय व्यय में वृद्धि कर दी जाय और ऐसे उद्योगों को चालू किया जाय, जिनमें अधिक व्यक्तियों को नौकरी मिले। ऐसी स्थिति में अधिकतर घाटे के बजट की व्यवस्था की जाती है। यह ध्यान रहे कि करों को इस प्रकार कम करना चाहिए कि कर-भार निर्धनों पर कम हो जाए। जिन करों का भार धनी व्यक्तियों पर अधिक पड़ता है, उनमें अधिक कमी करने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि उपभोग की मात्रा में, केवल निर्धनों का कर-भार कम करने से ही, वृद्धि होगी। अतः करों द्वारा जो धन का पुनर्वितरण होता है, वह भी मंदी को रोकने में सहायता करता है। कभी-कभी यह प्रस्ताव किया जाता है कि उपभोग को बढ़ाने के लिए, बचतों और धन को संचित करने पर कर लगाना चाहिए। साथ ही उन करों को कम कर देना चाहिए जिनसे विनियोग हतोत्साहित होते हैं। नये विनियोगों को प्रोत्साहन प्रदान करने के लिए कुछ प्रकार की रियायतें भी देनी चाहिएँ। मंदी काल में करारोपण द्वारा इस प्रकार हम, आर्थिक क्रियाओं को स्थायी रूप प्रदान कर सकते हैं और रोज़गार की स्थिति को सुधार सकते हैं।

अतः संक्षेप में हम कह सकते हैं कि मुद्रा-स्फीति में नए करों को लगाकर और पुराने करों की दरों को बढ़ाकर व्यक्तियों की जेबों से अतिरिक्त क्रय-शक्ति को कम करके और मुद्रा संकुचन में करों को हटा कर या दर कम करके और नए करों का विचार स्थगित करके मूल्यों को स्थिर और रोजगार की स्थिति को स्थायी बनाया जा सकता है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए राजस्व-सम्बन्धी क्रियाओं का उपयोग आधुनिक सरकारों द्वारा किया जाता है और करारोपण हर सरकार की आर्थिक नीति का मुख्य अंग बन गया है। आधुनिक लेखक इसी को कार्य-सम्पादन सम्बन्धी वित्त-व्यवस्था (functional finance) कहते हैं।[9] यही राजस्व का महत्व भी है। राजस्व, विशेष रूप से करारोपण का, कार्य-सम्पादन सम्बन्धी महत्त्व (functional importance) इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है। हलके और भारी कर लगाकर उत्पादन-सम्बन्धी क्रियाओं को नियमित कर सकते हैं, कुछ हानिकारक एवं विलास की वस्तुओं पर कर लगा कर उनके उपभोग को नियमित किया जा सकता है। करों द्वारा वस्तुओं और सम्पत्ति के विनिमय को भी नियन्त्रित किया जा सकता है। धन, आय तथा सम्पत्ति पर कर लगाकर धन की असमानताओं को दूर किया जा सकता है। व्यक्ति तथा यात्री कर द्वारा, व्यक्तियों के आवागमन को नियन्त्रित किया जा सकता है और अन्त में करों द्वारा मूल्यों तथा रोजगारों को स्थायी रक्खा जा सकता है। इसी कारण करारोपण सरकार की नीति का एक कार्य-साधक अंग बन गया है।

करारोपण तथा पूंजी-निर्माण—

हम पहले[10] ही कह चुके हैं कि अर्द्ध-विकसित देशों में प्रमुख समस्या पूंजी-निर्माण की गति को तीव्र करके उत्पादन को बढ़ाने की है। इसीलिए करारोपण को अर्द्ध-विकसित देशों के लिए पूंजी-निर्माण हेतु एक महत्वपूर्ण यन्त्र के रूप में स्वीकार किया गया है। ऐसे देशों में, यह अनुमान लगाया गया है कि जब तक पूंजी-निर्माण की दर में १२ से १५ प्रतिशत तक की वृद्धि नहीं होगी, उस समय तक वे पूर्ण विकसित देशों के समान नहीं हो सकेंगे।

पूंजी-निर्माण से हमारा अभिप्राय मुख्यतया तीन बातों से है :—

(अ) उन साधनों की जिनका उपभोग या तो उपभोग-सम्बन्धी क्रियाओं पर किया जा रहा है या जो बेकार पड़े हैं, पूंजीगत वस्तुओं के उत्पादन में लगाना।

(ब) एक सुदृढ़ बैंकिंग तथा वित्तीय व्यवस्था की स्थापना ताकि देश में बचतों को गतिशील बनाया जा सके और विनियोगों को प्रोत्साहित किया जा सके।

(स) देश के मौद्रिक तथा अन्य साधनों को पूंजीगत वस्तुओं के उत्पादन के लिये लगाना।

---

9. Lerner, *op. cit.*
10. इस पुस्तक का अध्याय ३ देखिए।

पूंजी-निर्माण के लिए करारोपण का महत्व—पूर्ण विकसित तथा अर्द्ध-विकसित दोनों ही प्रकार की अर्थ-व्यवस्थाओं में करारोपण पूंजी-निर्माण में सहायता कर सकता है। पूर्ण विकसित देशों में व्यक्तियों की आय ऊंची होने के कारण उनकी करदान-शक्ति भी अधिक होती है और इसीलिए करारोपण द्वारा सरकार राष्ट्रीय आय का अधिक भाग अपने कार्यों के लिए प्राप्त कर सकती है तथा इसको पूंजी निर्माण हेतु बड़ी-बड़ी योजनाओं में लगा सकती है। यही कारण है कि हम देखते हैं कि पूर्ण विकसित देशों में सरकार ने सड़कों, रेलों जल-कल, तार व टेलीफून, विद्युत शक्ति आदि की कितनी सुन्दर एवं सुगम व्यवस्था कर रक्खी है। इन सब की व्यवस्था या तो करारोपण द्वारा प्राप्त आय से की गई है या ऋणों द्वारा की गई है, जिनका भुगतान बाद में चलकर करारोपण द्वारा ही होगा। इस प्रकार पूर्ण विकसित देशों में करारोपण पूंजी-निर्माण में काफी सहायक सिद्ध हो सकता है। किन्तु कुछ लेखकों ने इसके विरुद्ध आपत्ति प्रकट की है। उन का विचार है कि प्रत्यक्ष कर व्यक्तियों के काम करने तथा बचत करने सम्बन्धी प्रेरणाओं को नष्ट करके पूंजी-निर्माण की गति को और भी मन्द करेंगे। अप्रत्यक्ष कर अप्रत्यक्ष रूप से पूंजी-निर्माण पर बुरा प्रभाव डालेंगे क्योंकि उत्पादन-कर वस्तुओं की मांग को कम करके उनके उत्पादन को भी कम करेंगे और इस प्रकार उद्योग का विस्तार रुक जाएगा। यद्यपि कुछ लेखकों ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि करारोपण व्यक्तियों में बचत करने तथा कार्य करने की शक्तियों को हतोत्साहित नहीं करता, किन्तु सच तो यह है कि व्यवहार में ऊंचे करारोपण से अर्थ-व्यवस्था को हानि अवश्य होती है और व्यक्तियों की बचत करने तथा विनियोग-सम्बन्धी प्रेरणाओं को क्षति पहुँचती है। किन्तु करारोपण के इन दोषों को दूर करने के लिए राजकीय व्यय का उपयोग एक क्षतिपूरक नीति के रूप में किया जा सकता है और आय, रोज़गार, बचत तथा विनियोग के स्तरों को स्थिर रखा जा सकता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि करारोपण का उद्देश्य, एक पूर्ण विकसित अर्थ-व्यवस्था में नई पूंजी को निर्मित करने की प्रगति को बढ़ाना नहीं होता वरन् उसको स्थायी रखने का होता है। यह भी ध्यान रहे कि क्योंकि सरकार अपने व्यय द्वारा पहले ही देश में, आर्थिक एवं सामाजिक पूंजी को इस सीमा तक निर्मित कर चुकी होती है कि बाद में केवल उसको अच्छी स्थिति में बनाए रखने का कार्य ही शेष रह जाता है। यदि सरकार को यह प्रतीत होता है कि पुरानी पूंजी में बहुत अधिक क्षति हुई है तो वह इस क्षति को राजकीय व्यय द्वारा भी पूरा कर सकती है। अतः स्पष्ट है कि पूर्ण विकसित देशों में अधिकतर सरकार का व्यवहार पूंजी-निर्माण की ओर तटस्थता का ही रहता है।

अर्द्ध-विकसित देशों में निर्धनता, अपव्ययी उपभोग, और विनियोगों के उचित अवसरों के अभाव के कारण पूंजी-निर्माण की गति में, विकसित देशों की तुलना में कम से कम १२% से १५% की वृद्धि करने की आवश्यकता होती है। इस ओर निजी प्रयत्न न तो अधिक सफल होते हैं और न सम्भव ही हैं। यह दायित्व केवल

सरकार का ही रह जाता है और सरकार को ये प्रयत्न उस समय तक जारी रखने होंगे जब तक कि बिना उसके विशेष प्रयत्नों के प्राप्त किये गये पूँजी-निर्माण के स्तर को स्थायी रखना सम्भव न हो सके।[11] इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए बचतों और विनियोगों को प्रोत्साहित करना होगा और इस दिशा में करारोपण एक महत्वपूर्ण यन्त्र सिद्ध हो सकता है।[12]

पूँजी-निर्माण का सबसे अधिक भार निर्धन व्यक्तियों पर पड़ेगा। एक तो पहले ही उनका जीवन-स्तर काफी निम्न है और अब इससे भी नीचे गिरना, उनके स्वयं बस की बात नहीं इसलिए सरकार को उपभोग को नियन्त्रित करना होगा और साधनों को पूँजीगत वस्तुओं के उत्पादन में लगाना होगा। इस उद्देश्य की पूर्ति केवल अप्रत्यक्ष करों द्वारा ही हो सकती है। इस विषय पर भी कुछ मतभेद मिलता है। कुछ के अनुसार उपभोग की वृद्धि के साथ-साथ पूँजी-निर्माण भी हो सकता है, और कुछ के अनुसार अल्पकाल में केवल पूँजीगत वस्तुओं के उत्पादन की ओर ध्यान दिया जाए और दीर्घ काल में उपभोग वस्तुओं के उत्पादन को बढ़ावा दिया जाए। किन्तु इस विषय पर एडलर का मत ठीक प्रतीत होता है। क्योंकि अर्द्ध-विकसित देशों में व्यक्तियों का उपभोग-स्तर वैसे ही बहुत नीचा होता है, तनिक सी अल्पकालीन कमी भी व्यक्तियों के लिए एक बहुत बड़ा त्याग होगा, जिसकी क्षतिपूर्ति भविष्य में अधिक ऊँचा उपभोग-स्तर प्राप्त होने की आशाओं द्वारा ही हो सकती है। इसीलिए उनका विचार है कि तत्कालीन स्तरों से नीचे उपभोग को न गिरने दिया जाय और आय में जो वृद्धि होती जाय, उसे बढ़ते हुए अनुपातों में पूँजी-निर्माण में लगाया जाय।[13]

करारोपण द्वारा धनी व्यक्तियों के अपव्ययी उपभोग को भी कम किया जा सकता है विशेषकर प्रत्यक्ष करों, जैसे आयकर, मृत्युकर, व्ययकर आदि द्वारा। ऐसे उपभोग को कम करने के दो लाभ होंगे। एक ओर तो उत्पादक साधन इन उद्योगों से निकलकर अधिक आवश्यक वस्तुओं के उत्पादन में लग सकेंगे और दूसरी ओर सरकार को प्राप्त होने वाली आय पूँजी-निर्माण में लगाई जा सकती है। सामाजिक एवं आर्थिक पूँजी जैसे, सड़कें, रेलें, तार एवं डाक, नदियों पर पुल इत्यादि के निर्माण पर कर राशि को व्यय किया जा सकता है। और सरकार स्वयं प्रत्यक्ष रूप से औद्योगिक उत्पादन में भाग ले सकती है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि सरकार अर्द्ध-विकसित देशों में, करारोपण को पूँजी-निर्माण हेतु एक शक्तिशाली यन्त्र के रूप में उपयोग में ला सकती है। किन्तु यहाँ यह बता देना उपयुक्त होगा कि इस नीति की कुछ सीमाएँ भी हैं। यह तो हम जानते ही हैं कि अर्द्ध-विकसित देशों में प्रति व्यक्ति आय निम्न होने के कारण व्यक्तियों की कर-भुगतान करने की क्षमता कम होती है। प्रत्यक्ष कर केवल बहुत

11. Van Philips : Public Finance in Less Developed Economies, p. 122.
12. *Ibid.*, p. 60; quoted from J. H. Adler : Fiscal Problems in Economic Development.
13. *Ibid.*

थोड़े से धनी व्यक्तियों की जेबों से ही धन निकाल सकेंगे और अप्रत्यक्ष कर भी अधिक नहीं लगाए जा सकते, क्योंकि अधिकांश व्यक्तियों का जीवन-स्तर वैसे ही नीचा होता है और कर लगने के बाद तो और भी नीचा हो जाएगा। इसके अतिरिक्त यदि प्रत्यक्ष करों की दरों को बहुत अधिक ऊँचा कर दिया जाएगा तो धनी व्यक्ति उसकी आलोचना करेंगे और जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, कुछ लोगों का यह भी कहना है कि ऊँची दरों से धनी व्यक्तियों के काम करने तथा बचत एवं विनियोग करने की शक्तियों पर बुरा प्रभाव पड़ेगा और देश में पूँजी-निर्माण की गति तीव्र होने के स्थान पर मन्द हो जाएगी। किन्तु जैसा कि वान फिलिप्स ने कहा है कि, "यदि उचित स्थान पर अतिरिक्त प्रत्यक्ष करारोपण किया जाये तो उससे विकास के प्रथम चरणों में निजी पूँजी-निर्माण को क्षति नहीं पहुँचेगी। और जो कुछ क्षति होगी भी उसकी पूर्ति अतिरिक्त कर-आय द्वारा राजकीय तथा निजी विनियोगों में वृद्धि होकर हो जाएगी।"[14]

अर्द्ध-विकसित देशों में करारोपण नीति की सफलता में बाधा इस कारण भी उत्पन्न होती है कि अर्थ-व्यवस्था का अधिकांश क्षेत्र अमौद्रिक होता है, अर्थात् उसमें मुद्रा का प्रयोग नहीं होता। ग्रामीण क्षेत्र में व्यक्तियों की आय का अनुमान लगाना सम्भव नहीं होता और उनकी बचतों को गतिशील बनाना भी कठिन होता है। इस क्षेत्र में बैंकिंग तथा वित्तीय संस्थाओं का भी अभाव रहता है।

कुछ भी हो अर्द्ध-विकसित देशों में हम करारोपण द्वारा धनी व्यक्तियों के अपव्ययी उपभोग को नियन्त्रित करके पूँजी-निर्माण के लिए आवश्यक कोष प्राप्त कर सकते हैं और विवेचनात्मक करारोपण द्वारा सभी वर्गों को बचत करने तथा विनियोग करने के लिए प्रोत्साहित कर सकते हैं। ऐसा ही सोवियत रूस में किया गया था। यद्यपि, जो नीति रूस ने अपनायी थी उसको प्रजातान्त्रिक अर्द्ध-विकसित देशों में लागू नहीं किया जा सकता, फिर भी, इस दिशा में प्रयत्न अवश्य ही किए जा सकते हैं।

---

14. *Ibid.* p. 117.

अध्याय ११

कर-भार एवं कर-विवर्तन

(INCIDENCE AND SHIFTING OF TAXES)

प्राक्कथन—

पिछले अध्यायों में हमने अनेकों वार 'कर-भार' शब्द का प्रयोग किया है। इस अध्याय में हम कर-भार सम्बन्धी समस्या का विस्तृत अध्ययन करेंगे। कर-भार की समस्या का अध्ययन व्यावहारिक दृष्टिकोण से नितान्त आवश्यक है, क्योंकि करारोपण की न्यायशीलता इसी पर निर्भर करती है कि कर-भार किस व्यक्ति को सहन करना पड़ता है ? कर का भार उसी व्यक्ति पर पड़ता है जिस पर कर लगाया गया है या वह व्यक्ति किन्हीं अन्य व्यक्तियों पर कर का भार डाल देता है ? कर-भार सभी व्यक्तियों पर समान है या असमान ? इन्हीं प्रश्नों से सम्बधित सैद्धान्तिक वाद-विवाद की विवेचना हम इस अध्याय में करने जा रहे हैं।

कर-भार की मुख्य समस्या यह मालूम करना है कि 'कर का भुगतान वास्तव में कौन कर रहा है ?' हम जानते हैं कि कर का भार सदैव ही उस व्यक्ति पर नहीं पड़ता, जिससे वह वसूल किया जाता है। अधिकतर वह अन्य व्यक्तियों को सहन करना पड़ता है। वित्त मंत्री के लिए यह जानना आवश्यक है कि कर का अन्तिम भार किस व्यक्ति को सहन करना पड़ रहा है। अतः केवल यह ही मालूम करना आवश्यक नहीं है कि कर का भार आरम्भ में किस पर पड़ रहा है, वरन् यह जानना भी आवश्यक है कि अन्त में कर का भार किस व्यक्ति पर पड़ता है। इसके अतिरिक्त इसका भी ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है कि कर का मौद्रिक भार (money burden) तथा अमौद्रिक भार (non-monetary burden) किस-किस पर पड़ रहा है। कर का प्रारम्भिक भार मालूम करना तो सम्भव है किन्तु कर का अन्तिम भार निश्चित करना अत्यन्त कठिन होता है। कर के भार से हमारा अभिप्राय प्रत्यक्ष मौद्रिक भार से है।

वहुधा कर-दवाव (Impact of tax), कर-भार (Incidence of Tax) और कर-विवर्तन (Shifting of Tax) में भेद किया जाता है।

जब किसी व्यक्ति पर कर लगाया जाए, और कर का भुगतान वह ही करे अर्थात् कर की राशि उसी व्यक्ति की आय में से सरकारी खजाने में जाये तो कर का दवाव उसी व्यक्ति पर पड़ता है। सरकारी रजिस्टरों में उसी का नाम कर-दाताओं की सूची में लिखा होता है। इसको एक उदाहरण द्वारा समझा जा सकता

है। भारत सरकार ने खण्डसारी शकर पर ५·६०% का उत्पादन कर लगाया है। यह कर उत्पादित शकर के वजन के अनुसार उत्पादकों से ही वसूल किया जाएगा इसलिए कर प्रभाव खण्डसारी उत्पादकों पर पड़ेगा। कर का भार उस व्यक्ति पर पड़ता है, जिसको अन्त में कर का मौद्रिक भार सहन करना पड़ता है। कर-भार मालूम करने के लिए हमको यह देखना होगा कि यदि कर न लगाया जाता तो कर के रूप में दी गई धनराशि किसकी जेब में रहती। हमारे उदाहरण में यदि खण्डसारी उत्पादक शकर के मूल्य बढ़ाकर उपभोक्ताओं से कर वसूल कर लेने में सफल हो जाते हैं तो कर का भार उत्पादकों पर न रहकर, उपभोक्ताओं पर रहेगा क्योंकि अन्त में कर का मौद्रिक भार उपभोक्ताओं को ही सहन करना पड़ता है। यदि उत्पादकों को अपने इस प्रयास में सफलता नहीं होती, अर्थात् यदि वे मूल्य बढ़ाने में सफल नहीं होते तो कर-भार उत्पादकों पर ही रहेगा। अतः कर-भार उसी व्यक्ति पर पड़ता है जो अन्त में उसका भुगतान करता है। कभी-कभी ऐसा भी हो सकता है कि उत्पादक मूल्य बढ़ाने में सफल तो हो जायें, परन्तु इतना नहीं कि जिस कर-राशि का उन्होंने भुगतान किया था वह पूरी हो जाए, तो कर का भार कुछ उत्पादकों पर पड़ेगा और कुछ उपभोक्ताओं पर। इस प्रकार यदि करदाता अपने कर-भार को किसी अन्य व्यक्ति पर डालने में सफल हो जाये तो इस विधि को कर-विवर्तन (Shifting of tax) कहते हैं। उपर्युक्त उदाहरण में खण्डसारी उत्पादक यदि उपभोक्ताओं से कर की राशि वसूल करने में सफल हो जाते हैं तो वह कर का भार उपभोक्ताओं पर डाल देते हैं।

यह ध्यान रहे कि कर-भार और कर के प्रभाव दोनों एक ही बात नहीं हैं। यद्यपि व्यवहार में यह सम्भव न हो कि इन दोनों में भेद किया जा सके, किन्तु सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से यह एक दूसरे से भिन्न हैं। जब करारोपण से करदाता अपने उपभोग या बचत या कार्य करने के लिए हतोत्साहित हो या वस्तुओं के मूल्य बढ़ जायें तो यह कर के प्रभाव कहलायेंगे। कर-भार के अध्ययन में इन बातों की ओर कोई ध्यान नहीं दिया जाता। कर-भार के अध्ययन का सम्बन्ध तो केवल इससे है कि कर की राशि का भुगतान वास्तव में कौन कर रहा है? यदि कर नहीं लगाया जाता तो वह राशि किस की जेब में रहती? कर का भार अन्त में उसी व्यक्ति पर पड़ता है जो उसे किसी अन्य व्यक्ति पर नहीं डाल सकता।

कर के प्रत्यक्ष द्राव्यिक या मौद्रिक भार के अतिरिक्त अन्य प्रभाव भी होते हैं जैसे अप्रत्यक्ष मौद्रिक भार, प्रत्यक्ष वास्तविक भार तथा परोक्ष वास्तविक भार। डाल्टन ने इनमें भेद किया है।[1] ये कर-भार के अध्ययन में सम्मिलित नहीं होते। ऊपर के उदाहरण में यदि खण्डसारी शकर के उत्पादक मूल्यों को कर की मात्रा के अनुसार बढ़ाने में सफल हो जाते हैं तो कर का प्रत्यक्ष भार शकर के उपभोक्ताओं पर पड़ता है, जिन्हें बढ़े हुए मूल्यों के रूप में धन की अधिक मात्रा देनी पड़ती है। इस स्थिति में कर-भार उप-भोक्ताओं पर पड़ता है, परन्तु यदि खण्डसारी शकर

1. *Cf. Public Finance*, 1932, pp. 51–52.

के उत्पादक आरम्भ में ही कुछ धन, कर के रूप में सरकार को देते हैं, जो कई वर्षों बाद, जब कि शकर का सारा स्टाक बिक जाता है, वसूल होता है, तो इस स्थिति में उन्हें पहले से ही दे दिये गये धन पर व्याज की हानि होती है। यह हानि कर का परोक्ष मौद्रिक भार है जो उत्पादकों को ही सहन करना पड़ता है। इसको हम कर-भार के अध्ययन के क्षेत्र में सम्मिलित नहीं करते। करारोपण से मूल्य बढ़ जाने के कारण निर्धनों को धनी व्यक्तियों की अपेक्षा अपनी आय का अधिक भाग खर्च करना पड़ता है और इस प्रकार उन पर कर का अत्यक्ष वास्तविक भार पड़ता है। यह भी कर-भार के अध्ययन के क्षेत्र में सम्मिलित नहीं होता। करारोपण के कारण मूल्य बढ़ जाने से या तो उपभोक्ता शकर का उपयोग कम कर देंगे और यदि ऐसा नहीं करते तो अन्य वस्तुओं का उपयोग उन्हें कम करना होगा। दोनों ही स्थितियों में उनकी कुल सन्तुष्टि कम होगी। यह कर का परोक्ष वास्तविक भार है और इसलिए कर-भार के अध्ययन के क्षेत्र से बाहर है। अतः कर-भार के अध्ययन में हम केवल प्रत्यक्ष मौद्रिक भार को ही सम्मिलित करते हैं।

वानमेरिंग के अनुसार कर-भार वह बिन्दु है जहाँ पर कि कर का अन्तिम भार पड़ता है। उनका विचार है कि किसी भी व्यक्ति या समूह पर कर के अन्तिम भार के जो भावी प्रभाव होते हैं, उनको कर-विवर्तन के सिद्धान्त का भाग नहीं माना जा सकता है।[2] मेरिंग के ये विचार सैलिगमैन तथा डाल्टन से मिलते-जुलते हैं। कैनन ने इस विचार की आलोचना करते हुए कर-भार और कर-प्रभावों में भेद किया है और उन्होंने कर-भार सम्बन्धी विचार को स्वीकार नहीं किया है।[3] डन्कन ब्लैक ने भी इसी प्रकार की आलोचना की है।[4]

श्रीमती उर्सला हिक्स ने उपरिक (Formal) कर-भार तथा प्रभावयुक्त (Effective) कर-भार के बीच भेद किया है। वह कहती है कि "हम अर्थशास्त्र में करदाताओं पर पड़ने वाले करो या करों के भार के दो विचारों से सम्बन्धित हैं। प्रथम, उस विधि की सांख्यिकीय गणना से, जिसके द्वारा किसी विशेष अवधि (प्रायः एक वर्ष) में किसी विशेष कर से आय प्राप्त की जाती है, अर्थात् वस्तु का बाजारू मूल्य, जिस पर कर निर्धारित किया जाता है, और उसकी उत्पादन लागत के बीच का अन्तर, नागरिकों के बीच विभाजित किया जाता है। या वैकल्पिक रूप से, व्यक्तियों की आयों का वह अनुपात, जो उन लोगों को आय प्रदान नहीं करता, जो उन्हें वस्तुएँ अथवा सेवाएँ प्रदान करता है, वरन् प्रशासक संस्थाओं (Governing bodies) को सामूहिक सन्तुष्टियों के अर्थ-प्रबन्ध के लिए दिया जाता है। इस गणना के परिणाम को उपरिक भार कह सकते हैं।"[5] संक्षेप में हम कह सकते हैं कि श्रीमती हिक्स के अनुसार कर का प्रत्यक्ष मौद्रिक भार ही कर का उपरिक भार है।

---

2. Otto Von Mering : "*The Shifting and Incidence of Taxation*", p. 3.

3. Memorandum, Relating chiefly to the Classification and Incidence of Imperial and local Taxation (Royal Commission on Taxation, 1899).

4. *Incidence of Income-Tax.*

5. *Public Finance*, p. 158.

परन्तु क्योंकि इस प्रकार के अध्ययन से करदाता पर, कर की दरों के परिवर्तनों से जो प्रतिक्रियायें तथा परिणाम उत्पन्न होते हैं, उनका कुछ भी ज्ञान प्राप्त नहीं होता, इसलिए प्रभाव-युक्त भार के अध्ययन की आवश्यकता होती है। श्रीमती हिक्स ने लिखा है कि "किसी कर के सम्पूर्ण आर्थिक परिणामों का पता लगाने के लिए, हमको दो चित्र बनाने और उनकी तुलना करनी होती है, एक वह आर्थिक स्थिति (उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं तथा आयों का वितरण और साधनों का बटवारा) जो कर विशेष के लागू होने से उत्पन्न होती है, और दूसरी वह आर्थिक स्थिति जो कर के अभाव में उत्पन्न होती है। इन दोनों चित्रों के अन्तर को कर का प्रभावयुक्त भार कहना सुविधाजनक है।"[6]

कर-भार के अध्ययन का महत्व—

आधुनिक युग में कर-भार का अध्ययन बहुत ही महत्वपूर्ण है। आजकल करारोपण का उद्देश्य केवल राजकीय कर्तव्यों की पूर्ति के लिए धन इकट्ठा करना ही नहीं है वरन् समाज में धन का वितरण समान करना तथा उत्पत्ति पर पड़ने वाले बुरे प्रभावों को रोकना भी है। विभिन्न व्यक्तियों पर कर-भार के न्यायपूर्ण वितरण पर ही करारोपण की न्यायशीलता निर्भर करती है। परन्तु यह पता लगाने के लिए कि कर का भार सभी वर्गों पर न्यायपूर्ण है या नहीं वित्त मन्त्री को यह पता लगाना होगा कि किन-किन वर्गों पर विभिन्न करों का मौद्रिक भार कितना पड़ रहा है, क्योंकि तभी यह निश्चित हो सकेगा कि कर-प्रणाली कर दान योग्यता के सिद्धान्त के अनुकूल है। वास्तव में कर-विवर्तन के कारण समस्या तनिक जटिल हो जाती है। सरकार का उद्देश्य किसी विशेष वर्ग पर कर-भार डालने का हो सकता है, परन्तु यदि इस कर का विवर्तन कर दिया जाता है, तो सरकार का उद्देश्य ही पराजित हो जायेगा। इसीलिए कर-भार और कर-विवर्तन के अध्ययन का महत्व है। ऐसे अध्ययन से हमें यह पता चल जाता है कि किस व्यक्ति पर किसी कर का कितना भार पड़ेगा और यह बात पता लग जाने के बाद कोई भी कर अनुचित रूप से नहीं लगाया जा सकेगा। प्रत्यक्ष करों का कर-भार तो आसानी से पता लग जाता है, परन्तु अप्रत्यक्ष करों का कर-भार पता लगाना इतना सरल नहीं होता, इसीलिए कर-भार का अध्ययन आवश्यक है। यदि यह अध्ययन नहीं किया जायेगा तो सम्भव है कि ऐसी वस्तुओं पर कर लग जाये, जिनका उपभोग निर्धन व्यक्ति अधिक करते हैं। यदि सरकार किसी विशेष वर्ग पर कर-भार डालना चाहती है तो उसे, इस अध्ययन से, उन विधियों का ज्ञान प्राप्त होगा, जिन को अपना कर वह अपने उद्देश्य की पूर्ति कर सके।

परन्तु कर-भार की समस्या का अध्ययन इतना सरल नहीं है जितना कि ऊपर से प्रतीत होता है। इस प्रकार के अध्ययन में अनेकों कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं। प्रथम मूल्यों के निरन्तर उतार-चढ़ाव के कारण सदैव ही कर-भार का

6. *Ibid*, p. 159.

वास्तविक ज्ञान प्राप्त करना सम्भव नहीं होता। करारोपण के अतिरिक्त मूल्य अन्य कारणों से भी बढ़ सकते हैं। अतः यह कैसे पता लगाया जाये कि मूल्य-वृद्धि किस कारण का परिणाम है। यदि मूल्य-वृद्धि अंशतः करारोपण का प्रभाव है और अंशतः कुछ अन्य कारणों का भी तो यह कैसे निश्चित किया जाये कि करारोपण के कारण मूल्यों में कितनी वृद्धि हुई है। दूसरे कर-भार और कर-प्रभावों के बीच भेद करना व्यवहार में कठिन होता है। तीसरे, कर-भार का अध्ययन एक तुलनात्मक अध्ययन है, अर्थात् कर-भार का सही अध्ययन उसी समय हो सकता है जबकि एक कर का भार अलग-अलग व्यक्ति के सम्बन्ध में अलग-अलग मालूम किया जाए और तब तुलनात्मक अध्ययन किया जाये और पता लगाया जाये कि किस पर कर का भार कम है और किस व्यक्ति पर अधिक, क्योंकि किसी एक वर्ग पर पड़ने वाले कर-भार का अध्ययन यह सिद्ध नहीं कर सकता कि एक व्यक्ति दूसरे की अपेक्षा अधिक कर-भार सहन कर रहा है। "जो व्यक्ति कर का भुगतान करते हैं, उनको कर के लगने से कम चोट पहुँचती है अपेक्षाकृत उन व्यक्तियों के जो कर का भुगतान नहीं करते। एक व्यक्ति जो पुल पर लगे हुए कर को बचाने के लिए रोज दो मील का चक्कर लगाकर जाता है, उसको इस कर के हटने से अधिक लाभ होगा अपेक्षाकृत उन व्यक्तियों के जो कर का भुगतान करते हैं।"[7] अतः कर-भार के अध्ययन से यह आवश्यक नहीं कि कर-भार का वितरण न्यायपूर्ण हो ही जाये, परन्तु फिर भी इसका अध्ययन अन्य प्रभावों का ज्ञान कराने में सहायक हो सकता है।"[8]

र-विवर्तन के सिद्धान्त

कर-विवर्तन उस क्रिया को कहते हैं जिसके द्वारा कर का भार अन्य ्तियों पर टाला जाता है। प्रायः सभी व्यक्तियों में कर भुगतान करने की इच्छा ीं होती। हर व्यक्ति यही चाहता है कि उस पर कर-भार न पड़े। इसलिए येक व्यक्ति का यही प्रयास रहता है कि वह कर को किसी दूसरे व्यक्ति पर ेल दे। कभी तो वह सफल हो जाता है और कभी वह असफल रहता है। वास्तव कुछ कर होते ही ऐसे हैं कि उनको अधिक बार एक से दूसरे व्यक्ति पर नहीं ल सकते, जैसे, यदि एक स्थानीय दूकानदार पर कोई कर लगाया गया है तो वह सको उपभोक्ताओं से वसूल कर लेगा, परन्तु उपभोक्ता उसे किसी दूसरे व्यक्ति र नहीं ढकेल सकते। इस प्रकार ऐसी स्थिति में कर-विवर्तन केवल दो ही विन्दुओं क सीमित रहा। इसके विपरीत यदि किसी श्रमिक पर कर लगाया जाता है तो ह अपने मिल-मालिक से ऊँची मजदूरी माँगेगा। यदि मिल मालिक मजदूर की जदूरी बढ़ा देता है तो वह अपनी वस्तुओं के मूल्य बढ़ा कर थोक व्यापारियों से सूल कर लेगा, थोक व्यापारी, फुटकर व्यापारियों से वसूल करेंगे, जो अन्त में

7. Cannan, quoted by Seligman, *Shifting and Incidence of Taxation*, 13.

8. Cf. Seligman, *Op. cit*, p. 14.

उपभोक्ताओं से वसूल करने का प्रयत्न करेंगे। इस उदाहरण में कर-विवर्तन अनेकों बिन्दुओं पर किया गया है। कर-भार के अध्ययन में प्रारम्भिक सीढ़ी कर-विवर्तन का ही अध्ययन है। इस अध्ययन में कई बातों का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है जैसे, कर-विवर्तन किस दशा में हो रहा है, उसका रूप क्या है और विवर्तन की माप किस प्रकार की जाये।

जहाँ तक कर-विवर्तन की दिशा का सम्बन्ध है, यह आगे भी हो सकता है और पीछे भी। जब कोई व्यापारी अपने ऊपर लगे हुए कर को उपभोक्ताओं पर डाल देता है तो इसे कर को आगे ढकेलना कहते हैं। यदि व्यापारी ऐसा नहीं कर पाता, कदाचित् उसे यह डर हो कि मूल्य बढ़ने पर वस्तु न बिके तब वह कर को पीछे ढकेलने की कोशिश करता है अर्थात् वह मिल मालिक से कर के अनुपात में कम मूल्य देकर वस्तुएँ खरीदना चाहेगा। इस प्रकार कर को आगे (उपभोक्ताओं पर ढकेला (Forward Shift) जा सकता है और पीछे ढकेला (Backward) Shift) जा सकता है। कभी-कभी यह भी सम्भव है कि कर-विवर्तन बिल्कुल भी न हो सके। यह अधिकतर उन वस्तुओं में होता है जिनकी माँग लोचदार होती है। करदाता कर का विवर्तन दो प्रकार से कर सकता है, या तो वस्तुओं के मूल्यों को कर के अनुपात में बढ़ा कर, या वस्तुओं के गुणों को कम करके। यही कर-विवर्तन के रूप हैं। कर-विवर्तन के माप से हमारा अभिप्राय यह है कि कर का कितना भार किस व्यक्ति पर पड़ रहा है, अर्थात् केवल उपभोक्ता पर या व्यापारी पर या दोनों पर।

कभी-कभी लोग कर-विवर्तन को कर-वंचन (Evasion) समझ बैठते हैं। कर से बचने में तो कर की चोरी होती है। सरकारी खजाने में जो कर-राशि पहुँचनी चाहिए थी वह व्यक्तियों की जेबों ही में रह जाती है। अर्थात् व्यक्ति उसकी चोरी कर लेते हैं। इस स्थिति में सरकार को हानि होती है। दूसरी ओर कर-विवर्तन में कर की चोरी नहीं होती अर्थात् कर की पूरी राशि सरकारी खजाने में पहुँचती है, परन्तु कर उस व्यक्ति की जेब से नहीं निकलता, जिसकी जेब में से सरकार निकलवाना चाहती है बल्कि यह अन्य व्यक्तियों से उसका भुगतान करवा लेता है। इस प्रकार कर-विवर्तन और कर से बचना एक-दूसरे से पूर्णतया भिन्न हैं।

कर-विवर्तन के सम्बन्ध में प्राचीन काल में दो सिद्धान्तों की रचना हुई थी। एक तो निर्बाधावादियों (Physiocrats)-का केन्द्रीकरण सिद्धान्त (Concentration Theory) और दूसरा फ्रांसीसी लेखकों का प्रसार का सिद्धान्त (Diffusion Theory)। हम इन सिद्धान्तों की क्रमानुसार विवेचना करेंगे।

केन्द्रीयकरण सिद्धान्त—यह सिद्धान्त निर्बाधावादियों द्वारा प्रस्तुत किया गया था। उनके अनुसार सभी कर अन्त में भूमि पर गिरते हैं इसलिए केवल भूमि पर ही एक कर लगाना चाहिए। अन्य किसी भी वस्तु पर जो कर लगाया जायेगा उसका विवर्तन होगा, फिर विवर्तन होगा और अन्त में वह भूमि पर ही आकर टिकेगा। अनावश्यक कर-विवर्तन असुविधाजनक होता है इसलिए केवल भूमि के मालिकों पर

ही कर लगाना चाहिए। वास्तव में इन लोगों का यह विश्वास था कि केवल कृषि ही एक उत्पादक व्यवसाय था। निर्माण उद्योगों को वे अनुत्पादक मानते थे, क्योंकि यह किसी नई वस्तु को उत्पन्न नहीं करते हैं, केवल पहले से ही स्थित वस्तुओं का रूप बदल देते हैं। केवल कृषि, खान उद्योग, मछली उद्योग, इत्यादि ही नई वस्तुओं को उत्पन्न करते हैं। इन्हीं में उत्पादन लागत की अपेक्षा कुछ आधिक्य (Surplus) उपज के रूप में प्राप्त होता है, इसलिए यह कर दे सकते हैं और इन पर कर लगाना चाहिए। यही कारण था कि वे केवल एक कर अर्थात् भूमि पर ही कर लगाने के पक्ष में थे। इसको वे *Impot unique* कहते थे।

प्रसार सिद्धान्त—इस सिद्धान्त के अनुसार कर-विवर्तन उस समय तक होता रहता है, जब तक कि वह सारे समाज पर न छा जाये, अर्थात् धीरे-धीरे कर का भार सारे समाज पर फैल जाता है और किसी एक या कुछ ही व्यक्तियों पर नहीं रहता। कदाचित् फ्रांसीसी अर्थशास्त्री कनार्ड (Canard) ने सर्वप्रथम इनकी विवेकशील विवेचना की थी। उसके अनुसार केवल भूमि ही से आधिक्य उत्पन्न नहीं होता, श्रम तथा व्यापारी भी यह आधिक्य उत्पन्न करते हैं। जब कभी कोई वस्तु बेची जाती है या खरीदी जाती है, कर का कुछ भार टाल दिया जाता है और जो एक वस्तु का क्रेता है वह दूसरी वस्तु का विक्रेता होता है। इसलिए कर सारे समाज पर फैलता है। सर हैमिल्टन ने ब्रिटिश संसद में कहा था कि, "प्रसार के आशावादी सिद्धांत से भी कदाचित् अधिक सच्चाई है, वह यह कि करों की प्रवृत्ति फैलने तथा समान होने की होती है और यदि वे निश्चितता तथा एकसारिता से लगाये जायें तो वह प्रसारित होकर प्रत्येक सम्पत्ति पर ही अपना भार डालेंगे।"[9] इसी प्रकार लार्ड मेंसफील्ड ने कहा था कि, "एक कर उस पत्थर के समान है जो झील में गिरते हुए एक गोला बनाता है जो दूसरे गोले को बनाता है और गति प्रदान करता है और इस प्रकार सम्पूर्ण परिधि (Circumference) में हलचल उत्पन्न हो जाती है।"[10] कनार्ड ने कर-प्रसार की तुलना कपिंग (Cupping) की चीर-फाड़ (Operation) से की है। उनके अनुसार "यदि मनुष्य के शरीर से किसी नस में से खून निकाल लिया जाये तो केवल उसी नस में ही खून की कमी नहीं होती बल्कि सारे शरीर में खून की कमी हो जाती है।" अर्थात्, यदि समाज के केवल एक व्यक्ति से कर लिया जाये तो कर-भार केवल उसी व्यक्ति पर ही नहीं पड़ेगा, बल्कि सारे समाज पर क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति समाज के शरीर का एक अंग है। अतः इन लेखकों के अनुसार किसी वस्तु पर या कितनी ही वस्तुओं पर कर लगाया जावे, उसका भार सारे ही समाज पर पड़ेगा और किसी भी प्रकार का भेदभाव नहीं रहेगा।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि दोनों ही सिद्धांतों में कुछ समानता है। दोनों सिद्धांत इस बात को स्वीकार करते हैं कि कर का भुगतान आधिक्य आय

9. Quoted by Mehta and Aggrawal, *Public Finance—Theory and Practice* p. 74.

10. Quoted by Saxena and Mathur, *Public Economics*, p. 72.

(Surplus income) में से किया जाता है। अन्तर केवल इतना है कि निर्बाधावादी लेखक केवल भूमि की उपज को ही आधिक्य आय मानते थे, परन्तु फ्रांसीसी लेखक यह मानते थे, कि प्रत्येक वस्तु से आधिक्य आय उत्पन्न होती है। इसीलिए निर्बाधावादी केवल भूमि पर ही अकेले कर के पक्षपाती थे और फ्रांसीसी लेखक न एक कर के विपक्ष में थे और न अनेक कर के विपक्ष में थे। वे तो प्रत्येक कर को ही अच्छा मानते थे। यदि हम भूमि शब्द का प्रयोग केवल धरातल और उससे सम्बंधित वस्तुओं के लिए ही करें, अर्थात् यदि हम भूमि का अभिप्राय उन्हीं वस्तुओं से लें जिनको पुराने लेखक समझते थे तब तो निर्बाधावादी लेखकों का विचार अति-सीमित था, परन्तु यदि हम भूमि का व्यापक अर्थ लें, अर्थात् सभी उत्पत्ति के साधनों में भूमि का तत्व विद्यमान है, तब कर-प्रसार सम्बन्धी विचार के लेखकों का यह विचार ग़लत हो जाता है कि केवल भूमि ही से आधिक्य (Surplus) उत्पन्न नहीं होता है, वरन् सभी साधनों में आधिक्य उत्पन्न करने की शक्ति होती है।

यदि दोनों सिद्धान्तों को व्यक्तिगत रूप में देखा जाये तो ज्ञात होगा कि निर्बाधावादियों का यह विचार ठीक नहीं था कि केवल कृषि ही एक उत्पादक व्यवसाय था। इस सिद्धांत में एक गुण यह अवश्य था कि कर का भुगतान आधिक्य (Surplus) आय में से ही किया जाता है। दूसरी ओर फ्रांसीसी लेखकों का यह विचार कि कर-भार अन्त में सभी व्यक्तियों पर एक समान हो जाता है और इसलिए न कोई कर उचित है न अनुचित, ठीक नहीं है, क्योंकि प्रत्येक कर के भार का विवर्तन नहीं हो सकता है। कर-विवर्तन के लिए कुछ विशेष परिस्थितियों की आवश्यकता होती है। इस सिद्धान्त में केवल एक गुण है, वह यह कि इसने यह स्पष्ट कर दिया है कि कर-भार का सही-सही पता लगाना सम्भव नहीं होता।

परम्परागत सिद्धान्त—परम्परावादी लेखकों ने कोई नई बात नहीं बताई है। इन्होंने पुराने दोनों सिद्धांतों का मिश्रण कर दिया है और कर-भार की विवेचना में विनिमय अर्थ और मूल्य का सहारा लिया है। आजकल के लेखक भी यही विश्वास करते हैं कि कर का भुगतान केवल आधिक्य (Surplus) में से ही किया जा सकता है। यदि किसी व्यक्ति को कोई आधिक्य प्राप्त होता है तो वह कर का भुगतान अवश्य करेगा और यदि कोई भी आधिक्य प्राप्त नहीं होता तो उसका विवर्तन उस समय तक बराबर होता रहेगा जब तक कि परिस्थितियाँ ही ऐसी उत्पन्न न हो जायें कि उसको आधिक्य प्राप्त होने लगे। यदि कर किसी वस्तु पर लगाया जाता है, और यदि क्रेता एवं विक्रेता को आधिक्य प्राप्त हो रहा है तो कर-भार दोनों व्यक्तियों को सहन करना होगा। जिस प्रकार श्रमिकों को मजदूरी दी जाती है और पूँजीपति को पूँजी का सूद दिया जाता है उसी प्रकार सरकार को कर दिये जाते हैं, इसीलिये कर भी उत्पादन लागत का एक अंग है। इस प्रकार वस्तु का मूल्य ऐसा हो कि कर का भुगतान भी उससे किया जा सके। यदि कर की पूर्ति वर्तमान मूल्यों में से ही हो जाती है तो इसका अभिप्राय यह है कि वर्तमान मूल्यों पर ही आधिक्य प्राप्त हो रहा है। यदि वर्तमान मूल्यों से कर का भुगतान नहीं हो पाता है तो मूल्य उस

समय तक बढ़ते जायेंगे तब तक कर का पूरा भुगतान न होने लगे। यदि मूल्य केवल थोड़े से ही बढ़ते हैं तो कर का कुछ भाग तो मूल्यों द्वारा क्रेता सहन करेंगे और शेष भाग विक्रेता सहन करेंगे। अतः कर-विवर्तन केवल उसी समय हो सकता है जब कि विनिमय कार्य किया जाये। करदाता कितना कर दूसरों पर ढकेल सकता है यह कई बातों पर निर्भर करता है, जैसे कर की प्रकृति, अर्थात् कर किसी वस्तु पर लगाया जा रहा है या आय पर, या सम्पत्ति पर या उत्पादन अथवा विक्रय पर। दूसरे वे परिस्थितियाँ जिनमें वस्तु का उत्पादन हो रहा है, अर्थात् वस्तु का उत्पादन पूर्ण प्रतियोगिता, या एकाधिकार या अपूर्ण प्रतियोगिता में हो रहा है और उत्पत्ति का कौन सा नियम लागू हो रहा है। अन्त में वस्तु की माँग कैसी है अर्थात् लोचदार है या बेलोच? कर का कितना भाग क्रेता को देना होगा और कितना विक्रेता को? यह इस बात पर निर्भर होगा कि इन दोनों के लिए माँग तथा पूर्ति की लोच कैसी है? यदि माँग की अपेक्षा पूर्ति बहुत लोचदार है तो स्पष्ट ही है कि विक्रेता कर का एक बड़ा भाग क्रेताओं के ऊपर ढकेल देंगे, परन्तु जहाँ स्थिति इसके बिल्कुल विपरीत है, विक्रेता कर का केवल एक छोटा सा भाग ही क्रेताओं पर ढकेल सकेंगे, अर्थात् कर का अधिक भार विक्रेताओं पर ही पड़ेगा।

अन्य परिस्थितियाँ—

कर-विवर्तन तथा कर-भार-सम्बन्धी समस्या पर कुछ अन्य बातों का भी प्रभाव पड़ता है जैसे, जिस क्षेत्र में कर लागू किया गया है उसका आकार तथा कर-आधार की प्रवृत्ति, विभिन्न प्रकार की दरें, कर का मौलिक दबाव तथा राजकीय नीति। यदि कर बहुत ऊँचा है तो उसके भार का विवर्तन होना कठिन हो जाता है। एक विशेष क्षेत्र में लगे हुए उत्पादन कर का भुगतान करने से लोग बच सकते हैं यदि वे उसी वस्तु को अन्य स्थानों से खरीदने का निश्चय कर लें। सम्पूर्ण देश पर लगे हुए कर के भार का विवर्तन आसानी से हो सकता है, अपेक्षाकृत स्थानीय करों के क्योंकि उनमें एकरूपता होती है और वे एक विस्तृत क्षेत्र में लागू किये जाते हैं। उन करों का भार जिनका आधार बहुत विस्तृत होता है, उन करों की अपेक्षा जो कुछ ही व्यक्तियों या कुछ वस्तुओं पर ही लागू किये जाते हैं को आसानी से टाला जा सकता है। प्रगतिशील करों का विवर्तन इतना सरल नहीं होता, यदि उनका भार भिन्न-भिन्न व्यक्तियों तथा संगठनों पर भिन्न-भिन्न प्रकार से पड़ रहा हो। वस्तुओं पर विशेष दरों से लगने वाले करों का भार निम्न गुण वाली तथा नीचे मूल्य वाली वस्तुओं पर अधिक पड़ता है और इसलिए कर-विवर्तन सरल नहीं होता। कर की दरें जितनी ऊँची तथा सरल होंगी उतना ही कर-विवर्तन कठिन होगा, क्योंकि हर व्यक्ति कर के भार से बचना चाहता है। कर-विवर्तन किस सीमा तक हो सकता है यह इस बात पर भी निर्भर करता है कि कर किस समूह पर लागू किया गया है। उदाहरणार्थ, उत्पादकों पर लगे हुए कर का विवर्तन सरलता से हो जाता है जबकि उपभोक्ताओं पर लगे हुए कर का विवर्तन नहीं हो सकता, क्योंकि वस्तुओं के क्रय

और विक्रय में उपभोक्ताओं के बाद और कोई ऐसा व्यक्ति नहीं होता जिस पर वे करों का विवर्तन कर सकें। कर-भार के विवर्तन की सीमा राजकीय नीति से भी निर्धारित होती है। कभी-कभी सरकार कर-भार के विवर्तन को वैधानिक तथा अनिवार्य घोषित कर देती है जैसे, भारत में बिक्री-कर अधिनियम में उपभोक्ताओं पर बिक्री-कर के भार के विवर्तन को स्वीकार किया गया है। सारांश में हम कह सकते हैं कि कर-भार तथा कर-विवर्तन कई बातों पर निर्भर होता है जिनमें माँग तथा पूर्ति की लोच प्रमुख है।

कर-भार वस्तुओं की माँग एवं पूर्ति की लोच पर निर्भर होता है

यदि अन्य बातें समान रहें तो वस्तुओं की माँग जितनी अधिक लोचदार होगी उतना ही अधिक कर-भार विक्रेताओं को सहन करना पड़ेगा। लोचदार माँग का अभिप्राय यह है कि मूल्य में तनिक सी वृद्धि से माँग बहुत कम और तनिक सी कमी से माँग बहुत अधिक हो जाती है। ऐसी परिस्थिति में कर लागू होने से मूल्य में वृद्धि होगी और माँग कम हो जायेगी और कर-भार विक्रेताओं पर पड़ेगा। जितनी माँग अधिक लोचदार होगी उतना ही अधिक कर-भार विक्रेताओं को सहन करना पड़ेगा और जितनी माँग कम लोचदार होगी उतना ही कम कर-भार विक्रेताओं को और अधिक भार क्रेताओं को सहन करना पड़ेगा। पूर्णतः लोचदार माँग की स्थिति में कर-भार पूर्णरूप से विक्रेताओं को और पूर्णतः बेलोच माँग की स्थिति में कर-भार पूर्णरूप से क्रेताओं को सहन करना पड़ेगा। निम्न चित्रों से यह भली भाँति विदित हो जाता है।

चित्र १—इस चित्र से स्पष्ट है कि करारोपण से मूल्य में कोई वृद्धि नहीं हुई है। म पूर्णतः लोचदार माँग की रेखा है। कर लागू होने से पहले मूल्य र व था और कर लागू होने के बाद भी मूल्य उतना ही रहा अर्थात् र' व'। वस्तु की बिक्री अ व से कम होकर अ व' रह गई। अतः स्पष्ट है कि कर का भार पूर्णरूप से विक्रेताओं को सहन करना पड़ता है।
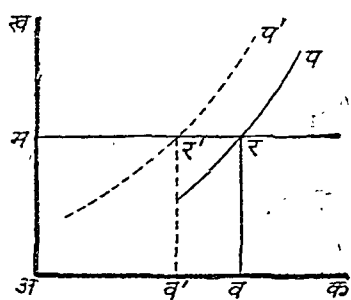
चित्र—१ पूर्णतः लोचदार माँग
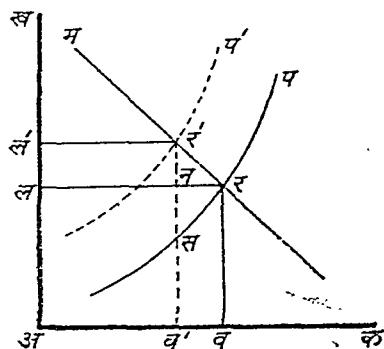
चित्र—२ लोचदार माँग

चित्र २—इस चित्र में करारोपण (र'स) के कारण मूल्य र व से बढ़ कर र' व' हो गया। माँग केवल लोचदार होने से वस्तु की बिक्री अ व से कम होकर अ व' अवश्य हुई किन्तु उतनी कमी नहीं हुई जितनी चित्र १ में हुई थी। अतः स्पष्ट है कि विक्रेता कर को पूर्णरूप से मूल्य में सम्मिलित नहीं करेगा। कर के भार का अधिक भार स्वयं सहन करेगा और बहुत कम भार क्रेताओं पर डालेगा। इस प्रकार र'न क्रेताओं को देना होगा और न स (जो र' न से अधिक है) विक्रेता सहन करेंगे।

चित्र ३—इस चित्र में करारोपण (र' स) के कारण मूल्य र व से बढ़ कर र' व' हो गया किन्तु माँग कम लोचदार होने से वस्तु की बिक्री अ व से कम होकर अव' अवश्य हुई किन्तु उतनी कम नहीं हुई जितनी चित्र १ और २ में हुई थी। माँग में कमी अधिक न होने के कारण विक्रेता कर के अधिक भाग को मूल्य में सम्मिलित करेंगे और इस प्रकार कर-भार के अधिकांश भाग को क्रेताओं पर डाल देंगे। इस प्रकार र' न क्रेताओं को देना होगा और न स (जो र' न से कम है) विक्रेताओं को देना होगा।
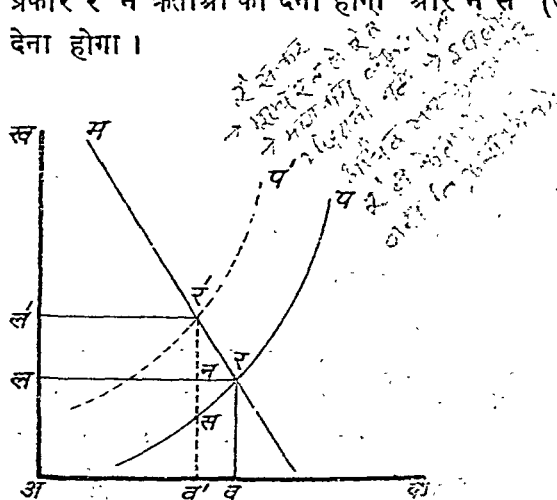
चित्र—३ कम लोचदार माँग
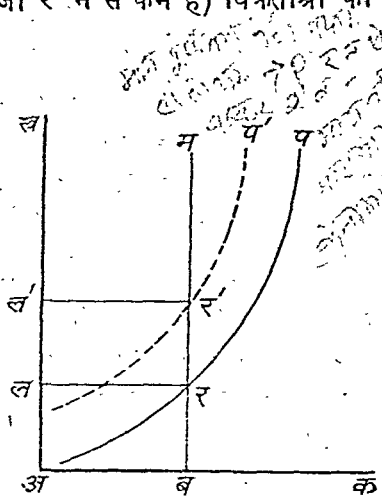
चित्र—४ पूर्णतः बेलोच माँग

चित्र ४—इस चित्र में **म पूर्णतः** बेलोच माँग की रेखा है। करारोपण (ल ल') के बाद मूल्य र व से बढ़ कर र' व हो गया जो ठीक कर की मात्रा है, किन्तु वस्तु की बिक्री अ व ही रही। अतः स्पष्ट है कि विक्रेता सारा कर-भार क्रेताओं पर डाल देते हैं और क्रेता उसको सहन करते हैं।

यह ध्यान रहे कि व्यावहारिक जीवन में चित्र १ तथा चित्र ४ में दर्शायी हुई स्थितियाँ नहीं मिलतीं और यह काल्पनिक है।

अभी तक हम मांग की लोच की दृष्टि से कर-भार का अध्ययन कर रहे थे, अब हम पूर्ति की लोच की दृष्टि से कर-भार की विवेचना करेंगे। पूर्ति लोचदार होने का अभिप्राय यह है कि कर लगाने से मांग में जो कमी होती है, उसके अनुसार पूर्ति को कम किया जा सकता है। इस स्थिति में विक्रेता कर का भार क्रेताओं पर

ढकेलते हैं (चित्र ५)। पूर्ति के निर्धारण पर समय की अवधि का भी प्रभाव पड़ता है। अल्पकाल में पूर्ति माँग के बराबर नहीं की जा सकती और मूल्य माँग से ही प्रभावित होता है। दीर्घकाल में पूर्ति को माँग के अनुसार बढ़ाया या घटाया जा सकता है इसलिए मूल्य को पूर्ति प्रभावित करती है। दूसरे शब्दों में, अल्पकाल में वस्तु की पूर्ति साधारणतया बेलोच होती है और दीर्घकाल में लोचदार होती है। अतः अल्पकाल में कर-भार विक्रेताओं पर अधिक पड़ता है (चित्र ६) और दीर्घकाल में क्रेताओं पर (चित्र ५)। अतः हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि कर-भार वस्तु की माँग तथा पूर्ति की सापेक्षिक लोचों पर निर्भर होता है। यदि दोनों की लोच समान है तो कर-भार दोनों पर समान पड़ेगा (चित्र ७)। यदि पूर्ति की लोच माँग की अपेक्षा अधिक है तो कर-भार क्रेताओं पर अधिक होगा (चित्र ५) और यदि माँग की लोच पूर्ति की अपेक्षा अधिक है तो कर-भार विक्रेताओं पर अधिक होगा (चित्र ६)। यह उत्पत्ति की दशाओं पर निर्भर करता है, जिनका अध्ययन हम अब करेंगे।

चित्र ५—इस चित्र में प रेखा पूर्णतः लोचदार पूर्ति की रेखा है जो कर लगने से पूर्व थी और प' कर लगने के बाद में पूर्ति की रेखा है। करारोपण (प प') के परिणामस्वरूप मूल्य र ब से बढ़कर र' ब' हो गया, जो कर की मात्रा के बराबर है। इस प्रकार सम्पूर्ण भार क्रेताओं को सहन करना पड़ता है।
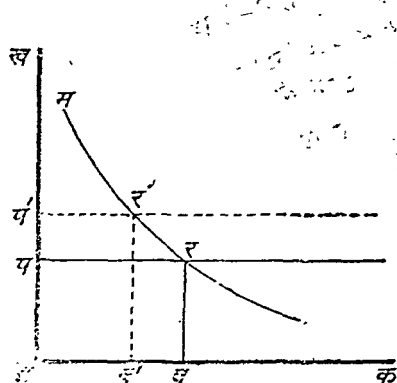
चित्र—५ पूर्णतः लोचदार पूर्ति
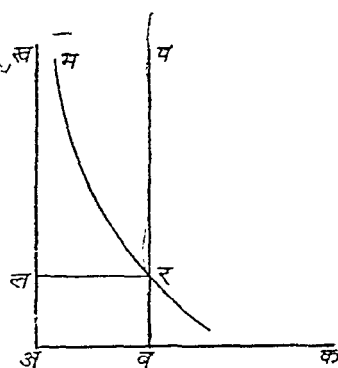
चित्र—६ पूर्णतः बेलोच पूर्ति

चित्र ६—इस चित्र में प बेलोच पूर्ति की रेखा है और अ ब वस्तुयें र ब मूल्य पर बिकती हैं। किन्तु कर लागू करने से न तो वस्तु की बिक्री ही कम हुई और न ही वस्तु का मूल्य बढ़ा। अतः स्पष्ट है कि सम्पूर्ण कर-भार विक्रेताओं को ही सहन करना पड़ता है।

चित्र ७—इस चित्र में म लोचदार माँग की रेखा है और प कर लगने से लोचदार पूर्ति की रेखा। इस प्रकार र ब मूल्य पर अ ब वस्तुओं की बिक्री होती है। वस्तु पर र' स कर लागू हो जाने से उत्पादन व्यय बढ़ जाता है और नयी पूर्ति

रेखा प' हो जाती है और र' व' नया मूल्य हो जाता है। किन्तु बिक्री अ व से कम होकर अ व' रह जाती है। कर लगने से मूल्य में कुल र' न की वृद्धि ही होती है जब कि कुल कर र' स है। इस प्रकार विक्रेताओं ने न स भाग स्वयं सहन किया और र' न को क्रेताओं पर विवर्तन कर दिया।
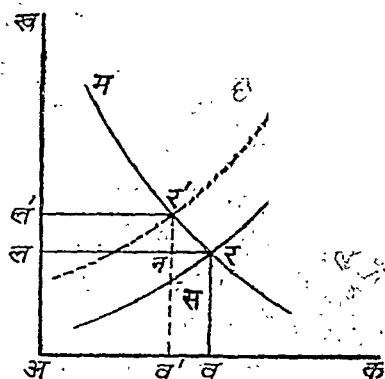
चित्र—७ माँग एवं पूर्ति की समान लोच

पूर्ण प्रतियोगिता की दशाओं में कर-भार—पूर्ण प्रतियोगिताओं की दशाओं में यह मान लिया जाता है कि विक्रेताओं और क्रेताओं में स्वतन्त्र प्रतियोगिता होती है और विक्रेताओं तथा क्रेताओं की संख्या इतनी अधिक होती है कि किसी भी एक व्यक्ति की अपनी क्रियाओं से मूल्य प्रभावित नहीं होता और हर व्यक्ति को बाजार में प्रचलित मूल्य पर ही कार्य करना होता है, अर्थात् क्रेताओं को प्रचलित मूल्य पर खरीदना पड़ता है और विक्रेताओं को प्रचलित मूल्य पर वेचना पड़ता है। किसी वस्तु-विशेष पर लगे हुए कर का विवर्तन, उत्पादक वस्तु के मूल्य को बढ़ाकर, कर सकते हैं। परन्तु मूल्य उसी समय बढ़ाया जा सकता है जबकि या तो वस्तु की पूर्ति कम की जा सके या माँग बढ़ाई जा सके। उत्पादक माँग को तो प्रभावित कर ही नहीं सकते, इसलिये केवल पूर्ति ही को कम करके उत्पादन कर-विवर्तन करने में सफल हो सकते हैं।

इस अध्याय के आरम्भ में हमने खण्डसारी शकर पर लगे हुए कर का उदाहरण लिया था, उसी को लेकर हम उपर्युक्त विचारों का विश्लेषण करेंगे। सरकार इस कर को उत्पादकों से वसूल करेगी। इस कर के लगने से शकर की उत्पादन लागत बढ़ेगी। परन्तु शकर के उत्पादकों की संख्या बहुत है और स्पष्ट ही है कि प्रत्येक उत्पादक की कार्य-कुशलता एक समान नहीं है। कुछ उत्पादक अधिक कुशल हैं और कुछ कम और कुछ तो ऐसे उत्पादक हैं कि उनकी उत्पादन लागत बहुत ही अधिक होने के कारण उनको कोई विशेष लाभ प्राप्त नहीं होता और बड़ी कठिनाई से ही वे उत्पादन कर रहे हैं। कर लगने से जो उनकी उत्पादन लागत में वृद्धि हुई है उसके कारण वह अपना उत्पादन बन्द कर देने के लिए बाध्य होंगे, क्योंकि वे प्रचलित मूल्य पर शकर नहीं वेच सकते। ऐसा करने में उन्हें लाभ के स्थान पर हानि होगी। अन्य उत्पादकों को भी अपना उत्पादन कम करना पड़ेगा। इस करारोपण का सामान्य प्रभाव यह होगा कि बाजार में शकर की पूर्ति कम हो जायेगी और मूल्यों में वृद्धि होने लगेगी (यदि यह मान लें कि उपभोक्ताओं के लिए खण्डसारी शकर की माँग की लोच कम है।) परिणामस्वरूप कर का अधिकांश भाग उपभोक्ताओं को देना पड़ेगा। जितनी अधिक पूर्ति लोचदार होगी उतना ही अधिक

कर, उपभोक्ताओं को देना पड़ेगा। पूर्ति की लोच भी कई बातों पर निर्भर होती है। जिन उद्योगों में स्थायी तथा अचल सम्पत्ति बहुत अधिक होती है उनकी वस्तुओं की पूर्ति की लोच कम होती है। इतनी अधिक पूंजी लगी होने के कारण उत्पादक वस्तु का उत्पादन कुछ हानि पर भी करना पसन्द करेंगे। ऐसी स्थिति में वे कर-विवर्तन नहीं कर पायेंगे। परन्तु दीर्घकाल में लगभग सभी वस्तुओं की पूर्ति लोचदार होती है, अर्थात् दीर्घ-काल में सब ही वस्तुओं की पूर्ति अवश्य ही घटाई-बढ़ाई जा सकती है। फलस्वरूप मूल्य बढ़ते हैं और कर-भार उपभोक्ताओं को सहन करना पड़ता है। अतः स्पष्ट है कि जितनी पूर्ति अधिक लोचदार होगी उतना ही कर-विवर्तन अधिक हो सकेगा।

कर-भार और स्थानापन्न वस्तुयें—कर-भार की समस्या के अध्ययन का एक पहलू यह जानना भी है कि जिन वस्तुओं की स्थानापन्न वस्तुयें होती हैं उनका कर-भार कौन सहन करता है? इसी का अध्ययन हम यहाँ करेंगे। यदि किसी वस्तु की स्थानापन्न वस्तुयें मौजूद हैं और यदि उस पर कर लगने से उसका मूल्य बढ़ जाता है तो उपभोक्ता तुरन्त ही ऐसी वस्तु का उपभोग आरम्भ कर देंगे जिस पर कोई कर नहीं है या जिसका मूल्य कम है। ऐसी स्थिति में कर-भार विक्रेताओं पर पड़ेगा। परन्तु यह सदैव ही नहीं होता। कभी-कभी ऐसी वस्तुओं का कर-भार उपभोक्ताओं को भी सहन करना पड़ता है। यह विशेषकर उन वस्तुओं के विषय में अधिक सत्य है जिनका उपभोग करने की आदत व्यक्तियों में पड़ी हुई है। उपभोक्ता कर-भार उस समय तक सहन करते रहेंगे जब तक वे स्थानापन्न वस्तुओं के उपयोग करने की आदत उत्पन्न नहीं कर लेते।

कर-भार और उत्पत्ति के नियम—किसी वस्तु की पूर्ति उन नियमों की कार्यशीलता के ऊपर निर्भर करती है, जिनके अधीन उनका उत्पादन हो रहा है। उत्पत्ति के तीन नियम होते हैं—क्रमागत-उत्पत्ति-ह्रास नियम, क्रमागत-उत्पत्ति-समानता नियम और क्रमागत-उत्पत्ति-वृद्धि नियम। प्रथम नियम के अधीन वस्तु की पूर्ति बढ़ाने के साथ-साथ उत्पादन व्यय बढ़ता जाता है, दूसरे नियम के अधीन वस्तु का उत्पादन-व्यय समान रहता है और यदि उत्पादन तीसरे नियम के अधीन होता है तो प्रति इकाई उत्पादन-व्यय कम होता जाता है। जब किसी ऐसी वस्तु पर कर लगाया जाता है, जिसका उत्पादन क्रमागत-उत्पत्ति-ह्रास नियम के अन्तर्गत हो रहा है तो कर लगाने के कारण, मूल्य में जो वृद्धि होती है वह कर-राशि के अनुपात में नहीं होती, बल्कि कम होती है। अतः कर का कुल भार क्रेताओं पर ही नहीं पड़ता। ऐसा इसलिए होता है कि वस्तु का मूल्य बढ़ने से माँग कम होने लगती है और उत्पादक को उत्पत्ति की मात्रा भी कम करनी पड़ती है, जिसके कारण प्रति इकाई उत्पादन व्यय, पहले की अपेक्षा कम होता जाता है। उत्पादन व्यय कम होने के कारण ही वस्तु का मूल्य कर की मात्रा के अनुपात में नहीं बढ़ता (चित्र १)। यदि कर लगी हुई वस्तु का उत्पादन क्रमागत-समानता नियम के अन्तर्गत हो रहा है तो कर का भार क्रेता को ही सहन करना होगा, क्योंकि मूल्य बढ़ने से माँग

कम होने पर उत्पादन व्यय में कोई परिवर्तन नहीं होता। उत्पादन व्यय पूर्ववत् ही रहता है। उत्पादक उत्पत्ति को कम करके, पूर्ति को मांग के बराबर करने का प्रयत्न करता है और इसलिए उपभोक्ताओं को ही अधिक भार सहन करने के लिए बाध्य कर देता है (चित्र ?) यदि कर उस वस्तु पर लगाया जा रहा है, जिसका उत्पादन क्रमागत-उत्पत्ति-वृद्धि नियम के अधीन हो रहा है तो वस्तु का मूल्य, कर की राशि से भी अधिक अनुपात में बढ़ जाता है और क्रेता पर कर-भार, कर की राशि से भी अधिक पड़ता है। कर लगाने से वस्तु के मूल्य में जो वृद्धि होगी वह वस्तु की मांग को कम कर देती है और उत्पादन भी कम होने लगता है। परिणामस्वरूप प्रति इकाई उत्पादन व्यय घटने के स्थान पर बढ़ना शुरू हो जाता है और मूल्य कर के अनुपात से अधिक बढ़ जाता है।

निम्न चित्रों से यह स्पष्ट हो जाता है :—

चित्र १—इस चित्र में प रेखा करारोपण से पहले की पूर्ति रेखा है और प' करारोपण के बाद की पूर्ति रेखा है। र' स प्रति इकाई कर की मात्रा है। करारोपण से पहले का मूल्य र व है और करारोपण के बाद का मूल्य र' व' है, जिसमें केवल र' न से ही वृद्धि हुई जो कर की मात्रा (र' स) से कम है। अतः स्पष्ट है कि कुल कर मात्रा (र' स) में से न स विक्रेता सहन करेंगे और केवल र' न हो क्रेताओं को सहन करना पड़ेगा।
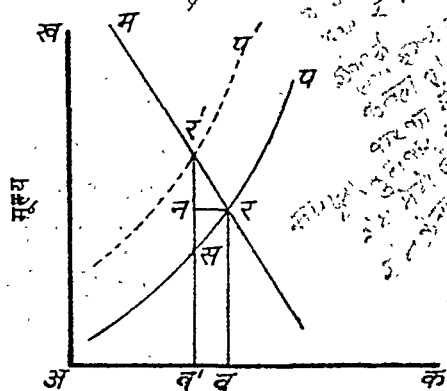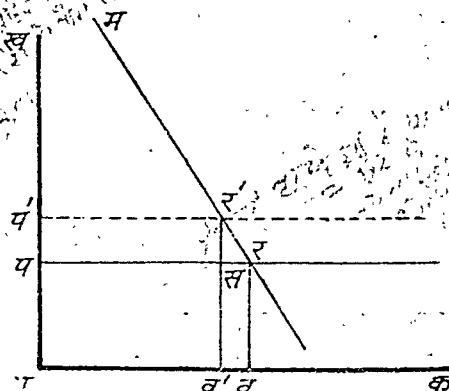
चित्र १—क्रमागत-उत्पत्ति-ह्रास नियम   चित्र २—क्रमागत-उत्पत्ति-समानता नियम

चित्र २—इस चित्र में प करारोपण से पहले की पूर्ति रेखा है और प' उसके बाद की पूर्ति रेखा है। र व करारोपण से पहले का और र' व' करारोपण के बाद का मूल्य है, जिसमें र' स के बराबर वृद्धि हुई और र' स ही कर की मात्रा है। अतः कर का पूरा भार क्रेताओं को ही सहन करना होगा।

चित्र ३—इस चित्र में प करारोपण से पहले की पूर्ति रेखा है और प' करारोपण के बाद की पूर्ति रेखा है। करारोपण से मूल्य र व से बढ़कर र' व'

है जिसमें र' स के बराबर वृद्धि हुई जबकि कर की राशि केवल र' न ही है। अतः
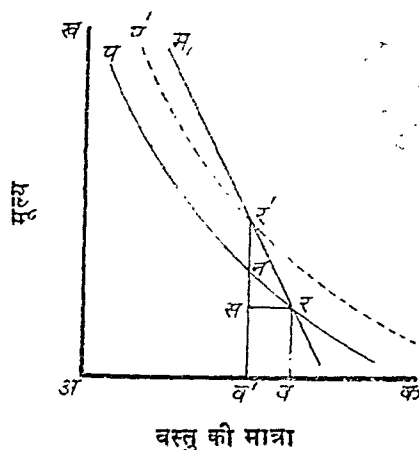
चित्र ३—क्रमागत-उत्पत्ति-वृद्धि नियम

स्पष्ट है कि क्रेताओं को कर की राशि से भी अधिक कर-भार सहन करना पड़ता है।

अतः पूर्ण प्रतियोगिता में कर-भार के सम्बन्ध में हम संक्षेप में इस प्रकार कह सकते हैं कि किसी वस्तु पर लगे हुए कर का प्रत्यक्ष मौद्रिक भार क्रेताओं और विक्रेताओं में उसी अनुपात में बँट जाता है, जो कर लगी हुई वस्तु की पूर्ति की लोच अथवा उसकी माँग की लोच द्वारा निश्चित होता है।[11]

एकाधिकारिक दशाओं में कर-भार—एकाधिकारी का केवल एक ही उद्देश्य होता है, वह यह कि अधिकतम लाभ प्राप्त करना। क्योंकि वह अकेला उत्पादक होता है, इसलिए वह उत्पत्ति और मूल्य में ऐसा संतुलन स्थापित करने में सफल हो जाता है कि उसका उद्देश्य पूरा हो जाये। यदि एकाधिकारी उत्पादक पर एक मुश्त कर लगा दिया जाता है, अर्थात् बिना किसी निश्चित आधार के एक निश्चित राशि निर्धारित कर दी जाती है तो इस कर का विवर्तन वह उपभोक्ताओं पर नहीं कर सकता है। होता यह है कि एकाधिकारी का सदैव यही प्रयास रहता है कि वह अपना लाभ अधिकतम करे और इसी उद्देश्य से यह अपनी वस्तु की उत्पत्ति या उसके मूल्य को नियन्त्रित करता है। यदि वह वास्तव में एकाधिकारी है, तो कदाचित् अपनी शक्ति का प्रयोग करके उसने कर लागू होने से पहले ही ऐसा मूल्य या उत्पादन निर्धारित किया होगा, जिससे वह अधिकतम लाभ प्राप्त कर सके। कर लागू होने के बाद, यदि वह अपने उत्पादन को कम करता है या मूल्य बढ़ाता है तो उस का कुल लाभ कम हो जायगा क्योंकि उसको कर की राशि अपने लाभ में से देनी पड़ेगी। इसके विपरीत, यदि वह कर लागू होने से अपनी पूर्वनिश्चित योजना में कोई परिवर्तन नहीं करता और उसी प्रकार उत्पादन करता रहता है जैसे पहले कर रहा

11. Dalton, *Op. cit.*, 1932, p. 56.

था और उसी मूल्य पर वस्तु को बेचता रहता है जिस पर उसने वस्तु को बेचने का निश्चय किया था, तो उसका भुगतान करने के बाद उसे अधिकतम लाभ प्राप्त होगा। इसी प्रकार यदि कर एक एकाधिकारी के कुल लाभों या कुल बिक्री के अनुसार लगाया जाये तो उसका भी विवर्तन नहीं हो सकता, क्योंकि कर राशि तो कुल लाभ प्राप्ति या कुल बिक्री हो जाने के पश्चात् निर्धारित होगी, इसीलिए वह उपभोक्ताओं पर कर-विवर्तन कर ही नहीं सकता। ऐसी अवस्था में भी उसके लिए यह ही अच्छा होगा कि वह कर का भार स्वयं सहन करे। यह निम्न चित्र से स्पष्ट हो जाता है।
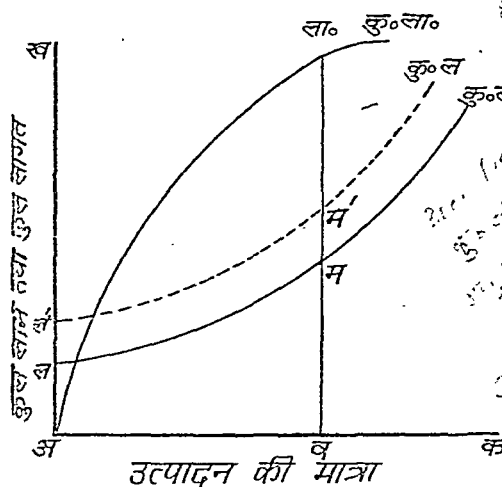
इस चित्र में अ ख रेखा पर कुल लाभ एवं कुल लागत दिखाई गई है। अ ल को स्थिर कुल लागत मान कर कु० ल वक्र बनाया गया है, जो कुल लागत को प्रदर्शित करता है। जब वस्तु की उत्पत्ति मात्रा अ व होती है तो अधिकतम लाभ ला० म है। जब एक मुश्त कर (ल ल') लगाया जाता है, तो यह सम्पूर्ण कर का भुगतान एकाधिकारी द्वारा ही किया जायेगा चाहे उत्पत्ति की मात्रा कुछ भी हो। ऐसी स्थिति में भी उत्तम उत्पत्ति की मात्रा अ व ही होगी क्योंकि ल ल' (कर की राशि) के भुगतान के बाद भी ला० म' लाभ की मात्रा अधिकतम ही होगी। इसका अभिप्राय यह हुआ कि मूल्य तथा उत्पत्ति की मात्रा में कोई भी परिवर्तन नहीं हुआ और कर का कुल मौद्रिक भार एकाधिकारी को कुल लाभ की मात्रा को कम करके स्वयं ही सहन करना पड़ेगा।

परन्तु व्यवहार में पूर्ण एकाधिकार की अवस्था नहीं मिलती और एकाधिकारी के लिए अपनी एकाधिकारी शक्ति का प्रयोग करना कठिन ही होता है अर्थात् वह साधारणतः क्रेताओं से एकाधिकारी मूल्य से नीचा मूल्य लेता है, और जब कर लागू होता है तो एकाधिकारी अपने ग्राहकों को एकाधिकारी मूल्य पर वस्तु बेचना आरम्भ कर देता है। परन्तु यह कर-विवर्तन नहीं है। यह तो उसे केवल एक अव-

सर प्राप्त हुआ है जबकि वह एकाधिकार मूल्य प्राप्त कर सके क्योंकि वह अब अपने ग्राहकों को यह समझा सकता है कि कर लगने के कारण मूल्य ऊँचे हो गये हैं। हाँ कर-विवर्तन उस अवस्था में अवश्य हो सकेगा जबकि एकाधिकारी पर उसकी उत्पत्ति के अनुपात में कर लगाया जाता है। उत्पत्ति बढ़ने के साथ-साथ कर बढ़ता जायेगा और उत्पत्ति कम होने के साथ-साथ कर की राशि भी कम होती जायेगी। अतः कर उत्पादन-व्यय का एक भाग बन जाता है। यह स्पष्ट ही है कि कर लगने से प्रति इकाई उत्पादन-व्यय बढ़ जायेगा। सीमान्त उत्पादन व्यय में वृद्धि होने से अब उसको पुरानी उत्पत्ति की मात्रा पर तथा पुराने मूल्य पर वस्तु को बेचने में अधिकतम एकाधिकार लाभ प्राप्त नहीं होगा बल्कि उसे अपनी उत्पत्ति कम करके ऊँचे मूल्य पर बेचने में ही अधिकतम एकाधिकारी लाभ प्राप्त होगा। एकाधिकारी को अधिकतम लाभ उसी समय प्राप्त होता है जबकि उसका सीमान्त उत्पादन व्यय, सीमान्त लाभ के बराबर होता है और अब जबकि सीमान्त उत्पादन व्यय में वृद्धि हो गई है, एकाधिकारी को अपना सीमान्त लाभ सीमान्त उत्पादन व्यय के बराबर करने के लिए मूल्य को बढ़ाना ही होगा। इस प्रकार एकाधिकारी कर का विवर्तन अपने ग्राहकों पर कर देता है। एकाधिकारी कितनी मात्रा में या किस अंश तक कर का विवर्तन कर सकेगा या अपने ग्राहकों से ले सकेगा, यह वस्तु की पूर्ति की लोच और माँग की लोच के अनुपात पर निर्भर करेगा।
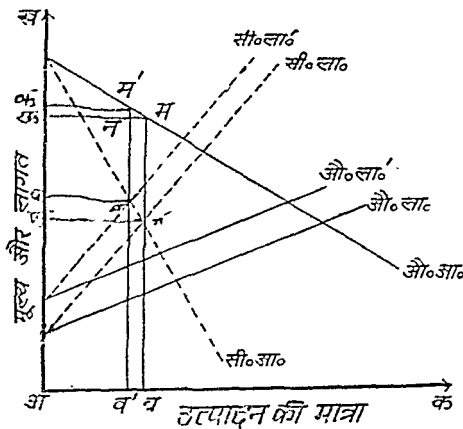
उपर्युक्त चित्र में कर लगने से पहले का मूल्य म व और उत्पादन अ व है और कर लगने के बाद म' व' मूल्य तथा अ व' वस्तु का उत्पादन है। म व' मूल्य सी० ल० और सी० आ० की समानता के आधार पर निर्धारित होता है। कर लगने से वस्तु की लागतों में वृद्धि होने के कारण औ० ला० और औ० ला' बढ़ी हुई लागतों की रेखायें हैं। और म' व' नया मूल्य है जो म व से ऊँचा है। किन्तु यह ध्यान रहे कि मूल्यों में कर की मात्रा के बराबर वृद्धि नहीं हुई है। कर लगने से एकाधिकारी

मूल्य में किस सीमा तक वृद्धि होगी, यह माँग की लोच पर निर्भर करेगा।

एकाधिकारिक प्रतियोगिता की दशाओं में कर-भार—एकाधिकारिक प्रतियोगिता की दशा में वस्तु का न तो केवल एक ही उत्पादक होता है और न पूर्ण प्रतियोगिता की भाँति बहुत से उत्पादक होते हैं, वरन् यहाँ पर वस्तु के केवल दो-चार उत्पादक होते हैं जो एक-दूसरे से प्रतियोगिता करते हैं। इनमें से प्रत्येक उत्पादक की उत्पत्ति की मात्रा और वस्तु की मूल्य-सम्बन्धी नीति शेष उत्पादकों की नीतियों से प्रभावित होती रहती है। अतः ऐसी दशाओं में वैसे तो कर-भार का विवर्तन साधारणतया वस्तु की माँग तथा पूर्ति की लोचों के अनुपात पर तो निर्भर करेगा ही, परन्तु इसके अतिरिक्त कुछ अन्य बातें भी अपना प्रभाव डालेंगी। हम एकाधिकारिक प्रतियोगिता की दशाओं में कर-भार की समस्या का अध्ययन अब करेंगे।

एकाधिकारिक प्रतियोगिता की दशाओं में यदि फर्मों पर एक मुश्त कर लगा दिया जाये तो जैसा एकाधिकार की दशाओं में हम देख चुके हैं, कि ऐसा कर लगाने से उत्पादकों के सीमान्त उत्पादन व्यय में कोई भी वृद्धि नहीं होगी और इसलिए न तो वे अपनी उत्पत्ति ही कम करेंगे और न मूल्य ही बढ़ायेंगे। यहाँ पर एक और बात का भी प्रभाव पड़ता है और वह है—फर्मों के पारस्परिक सम्बन्ध। फर्मों के पारस्परिक सम्बन्ध में से दो सम्भावनायें उत्पन्न हो सकती हैं; प्रथम, कुछ उत्पादक उत्पादन क्षेत्र से बाहर निकल जायें और दूसरे यह कि वे एक दूसरे प्रतियोगियों की नीतियों को ध्यान में रखकर, सभी मूल्य बढ़ादें और कर-विवर्तत कर दें, परन्तु ऐसा करने में वे कहाँ तक सफल हो सकेंगे, इस बात पर निर्भर करेगा कि वस्तु की माँग की लोच कैसी है। जहाँ तक पहली सम्भावना, अर्थात् कुछ उत्पादकों द्वारा उत्पादन छोड़े जाने का प्रश्न है, यदि ऐसा होता है तो जो फर्म बाहर चली जायेगी उसके ग्राहक अपनी वस्तुएँ किसी दूसरी फर्म से खरीदेंगे। परिणामस्वरूप कुछ फर्मों की वस्तुओं की माँग अन्य फर्मों की अपेक्षा अधिक हो जाएगी और वे अपनी वस्तुओं के मूल्य बढ़ा कर कुछ कर उपभोक्ताओं पर ढकेलने में सफल हो सकती हैं।

यदि कर की राशि वस्तु की उत्पादित मात्रा पर निर्भर करती है, तब वस्तु का उत्पादन-व्यय बढ़ जायेगा। परन्तु क्या प्रत्येक फर्म अपनी वस्तु के मूल्य को बढ़ा कर कर-विवर्तन करने में सफल हो सकती है? यह भी सदैव सम्भव नहीं होता। एक तो यह इस बात पर निर्भर करेगा कि कर लगी हुई वस्तु की माँग एवं पूर्ति की लोचों का सम्बन्ध कैसा है (हम पूर्ण प्रतियोगिता की दशा में इसका अध्ययन कर ही चुके हैं)। दूसरे वह विभिन्न फर्मों के आपसी सम्बन्ध पर भी निर्भर करेगा। एकाधिकारिक प्रतियोगिता में वस्तु के रूप और मूल्यों में भिन्नता मिलती है। भिन्न-भिन्न उत्पादक एक ही वस्तु को भिन्न-भिन्न व्यापारिक चिह्नों (trade marks) में बेचते हैं और यह भी हो सकता है कि वे अलग-अलग मूल्य पर भी बेचें। इस प्रकार अलग-अलग व्यापारिक चिह्न होने से विभिन्न फर्मों की

वस्तुओं में भेद उत्पन्न हो जाता है। कुछ व्यक्तियों की प्रकृति ऐसी होती है कि वे अधिक मूल्य वाली फर्म से कम मूल्य वाली फर्म की ओर जाते रहते हैं। ऐसे व्यक्तियों की संख्या में और भी अधिक वृद्धि हो जाएगी, यदि विभिन्न उत्पादक अपनी-अपनी वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि कर दें। परन्तु इसमें भी दो परिस्थितियाँ उत्पन्न हो सकती हैं—एक तो यह कि विभिन्न फर्में कर की राशि के अनुपात में मूल्य बढ़ायें। यदि ऐसा होता है तो स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं आयेगा, क्योंकि विभिन्न उत्पादकों के मूल्यों में उतना ही अन्तर रहेगा जितना मूल्य बढ़ने से पहले था। अतः जो ग्राहक जिस फर्म से वस्तु खरीदते थे वे उसी से खरीदते रहेंगे। हाँ यह अवश्य हो सकता है कि यदि स्थानापन्न वस्तुयें बाजार में उपलब्ध हैं तो सभी उत्पादकों की वस्तुओं की माँग कम हो जाएगी और यह देखने के लिए कि उनके ग्राहक टूट न जायें उत्पादकों को कर का भार स्वयं सहन करना होगा। दूसरी स्थिति यह उत्पन्न हो सकती है कि जिन उत्पादकों के मूल्य पहले कम थे, वे अधिक कर दें और अधिक मूल्य वाले उत्पादक इस भय से मूल्य न बढ़ायें कि मूल्य बहुत ऊँचे होने से कहीं ग्राहक और अधिक न टूट जायें। हो सकता है कि बाजार में उस वस्तु का मूल्य समान हो जाए। ऐसी परिस्थिति में जो ग्राहक केवल सस्ती ही वस्तु खरीदने में विश्वास करते हैं और वस्तु के गुणों की ओर ध्यान नहीं देते, वे यदि कोई सस्ती स्थानापन्न वस्तु बाजार में मिल रही है, या वे उपभोग को यदि स्थगित कर सकते हैं, तो वस्तु को खरीदना बन्द कर देंगे, परन्तु जो व्यक्ति मूल्यों की ओर अधिक ध्यान नहीं देते वे वस्तुओं को अपनी-अपनी फर्म से खरीदते रहेंगे। ऐसी स्थिति में उत्पादक अपना कर-भार केवल उन्हीं ग्राहकों पर टालने में सफल हो जायेंगे, जो मूल्यों से प्रभावित नहीं होते और इस प्रकार ग्राहकों की संख्या में कमी हो जाने के कारण उत्पादकों को कुछ कर का भार अवश्य ही सहन करना पड़ेगा। दूसरी ओर अधिक मूल्य वाले उत्पादक जिन्होंने अपनी वस्तु का मूल्य बिल्कुल नहीं बढ़ाया है, उनको कर का पूरा भार सहन करना होगा। तीसरे, कुछ उत्पादक उत्पादन क्षेत्र से बाहर जा सकते हैं अर्थात् अपनी वस्तु का उत्पादन ही बन्द कर दें। इस स्थिति का अध्ययन हम अभी ऊपर कर आये हैं।

यदि कर वस्तु की बिक्री के अनुपात में लगाया जाता है, तब कर-विवर्तन वस्तु की माँग की लोच पर निर्भर करेगा। बेलोच माँग वाली वस्तुओं के मूल्य तो बढ़ जायेंगे, परन्तु लोचदार माँग वाली वस्तुओं के मूल्य बढ़ाकर विवर्तन नहीं किया जा सकेगा।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि कर-विवर्तन, पूर्ण प्रतियोगिता और पूर्ण एकाधिकार की दशाओं की भाँति एकाधिकारिक प्रतियोगिता में भी वस्तु की माँग और पूर्ति की लोचों के आपसी अनुपात पर ही निर्भर करता है। परन्तु यहाँ पर यह इतना निश्चित नहीं होता जितना अन्य दो दशाओं में होता है, क्योंकि इस अवस्था में प्रतियोगी उत्पादकों की उत्पादन तथा मूल्य-सम्बन्धी नीतियाँ भी एक-दूसरे को प्रभावित करती रहती हैं।

हम पहले कह चुके हैं कि कर-विवर्तन या तो आगे की ओर किया जा सकता है या पीछे की ओर। उपर्युक्त परिस्थितियों में हमने देखा कि कर-विवर्तन केवल आगे की ओर ही किया गया है। उदाहरणार्थ यदि फर्नीचर बनाने वालों की वस्तुओं पर कोई कर लगता है तो ये लोग यदि इस कर को उपभोक्ताओं से वसूल कर सकते हैं तो यह कर का विवर्तन आगे की ओर होगा और यदि ये लोग लकड़ी के उत्पादकों को मजबूर कर देते हैं कि वह अपनी लकड़ी कम मूल्य पर बेचें तो यह कर-विवर्तन पीछे की ओर होगा। इस प्रकार यदि प्राप्त किये गये मूल्य को बढ़ा कर लिया जाय तो कर विवर्तन आगे की ओर होगा और यदि भुगतान किये जाने वाले मूल्यों को कम करके लिया जाये तो कर-विवर्तन पीछे की ओर होगा। दूसरे शब्दों में यूँ भी कह सकते हैं कि यदि कर उत्पादकों से उपभोक्ताओं की ओर ढकेला जा रहा है तो कर-विवर्तन आगे की ओर हो रहा है। और यदि कर उपभोक्ताओं से उत्पादकों की ओर ढकेला जा रहा है तो कर-विवर्तन पीछे की ओर हो रहा है।

आगे की ओर होने वाला कर-विवर्तन, बेची जाने वाली वस्तु की माँग एवं पूर्ति की लोचों पर निर्भर करता है। उसी प्रकार पीछे की ओर होने वाला कर-विवर्तन खरीदी जाने वाली कच्ची सामग्री या प्रारम्भिक सेवा की माँग एवं पूर्ति की लोचों पर निर्भर करता है। यदि कच्ची सामग्री की पूर्ति की लोच, माँग की अपेक्षा कम है तब उत्पादक वर्ग कर-विवर्तन पीछे की ओर कर सकेगा, अर्थात् उत्पादक खरीदी हुई वस्तु के मूल्य कम दे सकेंगे। दूसरी ओर यदि कच्ची सामग्री की पूर्ति लोचदार है, अर्थात् यदि फर्नीचर वाली लकड़ी बेचने वाले लकड़ी को किसी और कार्य के लिए उपयोग में ला सकें तो फर्नीचर बनाने वाले लकड़ी के मूल्य कम करवाने में सफल न हो सकेंगे अर्थात् कर-विवर्तन पीछे की ओर नहीं हो सकेगा।

कर-विवर्तन आर्थिक स्थिति पर भी निर्भर करता है। यदि समृद्धि काल है तो कर-विवर्तन सरलतापूर्वक आगे की ओर किया जा सकेगा और यदि मंदी काल है तो कर-विवर्तन या तो पीछे की ओर होगा या उत्पादन कर-भार स्वयं सहन करेंगे।

अभी तक हम कुछ सामान्य परिस्थितियों में कर-विवर्तन की समस्या का अध्ययन कर रहे थे अब हम कुछ विशेष करों में कर-विवर्तन की समस्याओं का अध्ययन करेंगे।

भूमि पर लगाये गए कर का भार—भूमि पर कर, यदि आर्थिक लगान के आधार पर लगाया गया है, तो उसका भार जमींदारों पर पड़ता है, क्योंकि आर्थिक लगान भूमि की उपज के मूल्य में से उत्पादन व्यय निकाल कर बचता है। इस उत्पादन व्यय में केवल सामान्य लाभ (Normal profits) ही होता है। किसान कर-भार सहन करने को तैयार न होगा, क्योंकि उसे कोई भी आधिक्य (Surplus) प्राप्त नहीं होता। यदि जमींदार, काश्तकार से पूरा लगान न ले रहा हो तब यह उसे कर के अनुपात में बढ़ाकर कर का भार काश्तकार पर डाल सकता है। यदि भूमि पर कर किसी एक विशेष फसल के अनुसार, जैसे कपास, गन्ना आदि पर

लगाया जाये तो कर-भार उस विशेष फसल के उपभोक्ताओं पर डाला जा सकता है, क्योंकि यदि उपभोक्ता कर-भार सहन करने को तैयार नहीं होंगे तब उस फसल के स्थान पर उत्पादक दूसरी फसल करने लगेंगे, परन्तु यह भी कई बातों पर निर्भर करेगा। यदि कपास की माँग बेलोच है तो कर-विवर्तन सरलता से हो जायेगा और यदि पूर्ति बेलोच है तब कर-विवर्तन नहीं हो सकेगा। यदि यह मान लिया जाय कि उत्पादक कर-विवर्तन में सफल न होकर उस फसल को न करने का निश्चय करते हैं तो वे कौनसी फसल करेंगे या दूसरी फसल करेंगे भी या नहीं, इस बात पर निर्भर करेगा कि उस भूमि में दूसरी फसल की कितनी मात्रा प्राप्त होगी तथा दूसरी फसल का मूल्य क्या है। यदि दूसरी फसल की कम मात्रा प्राप्त होती है तो किसान को हानि होगी और अप्रत्यक्ष रूप से पहली फसल पर लगाये गये कर का भार उन्हीं को सहन करना पड़ेगा। यदि दूसरी फसल का मूल्य अधिक है तब उस फसल को करने वाले उत्पादकों की संख्या बढ़ने तथा उसकी पूर्ति बढ़ने से उसका मूल्य नीचा आ जायेगा और इस स्थिति में भी काश्तकारों को पहली फसल के अपेक्षा हानि होगी और इस प्रकार वह यही पसन्द करेंगे कि वह पहली ही फसल करते रहें और कर का भार स्वयं सहन करें। परन्तु क्योंकि काश्तकारों को कोई आधिक्य प्राप्त नहीं होता, इसलिए वह कर-भार सहन न करके खेती करना बन्द कर देंगे और इसलिए अन्त में जमींदारों को ही कर-भार सहन करना होगा। यदि कर भूमि की उपज की मात्रा के अनुपात में लगाया जाता है तो उसका विवर्तन वस्तु की माँग तथा पूर्ति की लोचों के अनुपात पर निर्भर रहेगा। यदि माँग बेलोच है तो कर-भार उपभोक्ता सहन कर लेंगे और यदि माँग लोचदार है तो उपभोक्ता उस वस्तु का उपभोग कम कर देंगे। काश्तकार, माँग कम होने से उस भूमि पर खेती करना बन्द कर देंगे और इसलिए जमींदार उस कर का भार लगान में वृद्धि न करके स्वयं सहन करेंगे परन्तु व्यवहार में ये सब बातें एक कल्पनामात्र हैं।

आयात तथा निर्यात करों का भार—आयात तथा निर्यात करों का भार इस बात पर निर्भर करेगा कि व्यापार की जाने वाली वस्तुओं की माँग की लोच कैसी है अर्थात् आयातकर्ता देश को निर्यातकर्ता देश की वस्तु की माँग कैसी है। यह तो हम जानते ही हैं कि जब दो देशों में व्यापार होता है तो दोनों देश एक दूसरे की वस्तुयें मँगाते हैं। इसलिए हमें दोनों देशों को एक दूसरे की वस्तुओं की माँग की लोचों का तुलनात्मक अध्ययन करना होगा। यदि भारत और पाकिस्तान में व्यापार हो रहा है, और भारत को पाकिस्तान की कपास की माँग बेलोच है, परन्तु पाकिस्तान के लिए भारतीय कपड़े की माँग लोचदार है तो इस प्रकार के करों का भार अधिकतर भारत के लोगों को सहन करना होगा। स्पष्ट है कि भारत को पाकिस्तान से कपास मँगाना ही होगा चाहे पाकिस्तान कितना ही निर्यात-कर क्यों न लगादे; दूसरी ओर भारत कपड़े पर आयात कर लगा नहीं सकता इसलिए भारत के लोगों को आयात करों से प्राप्त होने वाला लाभ प्राप्त नहीं होगा। यद्यपि कुछ लोग इस बात पर जोर देते हैं कि इन करों का भार

सदैव ही उस देश पर पड़ता है जो उसे लगाता है और उस भार को विदेशी लोगों पर नहीं ढकेला जा सकता, किन्तु यह मत सही नहीं है। यदि कोई देश संसार में उत्पन्न होने वाली किसी एक वस्तु का अधिकांश भाग उत्पन्न करता है या किसी के उत्पादन में उसे एकाधिकार प्राप्त है तो यह देश उस वस्तु पर लगाये गये निर्यात कर के भार को विदेशी लोगों पर ढकेलने में सफल होगा तथा विदेशी जो वस्तु इस वस्तु के बदले में निर्यात करेंगे उसका आयात कर भी विदेशी ही सहन करेंगे; यदि विदेशी भी किसी वस्तु का अधिकांश भाग उत्पन्न नहीं कर रहे हैं तो वे देश जो अधिकतर पक्के माल का निर्यात करते हैं तथा कच्चे माल का आयात करते हैं और आयात तथा निर्यात कर लगाते हैं तो इनका कर-भार भी इन्हीं देशों पर पड़ेगा अर्थात् कर का भार एक दूसरे पर नहीं पड़ेगा। यदि किसी वस्तु का अन्तर्राष्ट्रीय बाजार है और उस वस्तु की पूर्ति किसी एक देश के लिए लोचदार होती है तो ऐसी वस्तु पर लगाये गये आयात तथा निर्यात कर का भार उसी देश के लोगों पर होगा।

आय कर का भार—आय कर के भार के सम्बन्ध में मुख्यतया दो विचारधारायें मिलती हैं। एक विचारधारा के अनुसार व्यापारी अपनी वस्तु का मूल्य निश्चित करते समय आय कर को ध्यान में रखता है, और मूल्य इस प्रकार निश्चित करता है कि उपभोक्ताओं पर कर-भार डाला जा सके। दूसरी विचारधारा पहली के बिलकुल विपरीत है। इसके अनुसार आय कर के भार का विवर्तन हो ही नहीं सकता। पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में दीर्घकाल में कर-विवर्तन नहीं हो सकता क्योंकि मूल्य की प्रवृत्ति सीमान्त उत्पादन व्यय के बराबर होने की होती है, और सीमान्त उत्पादक को कोई लाभ प्राप्त नहीं होता, इसलिए मूल्य में आय कर सम्मिलित नहीं होता। यदि कोई उत्पादक ऐसा करता भी है तो उसके देशीय तथा विदेशी प्रतियोगी, जो आय कर नहीं दे रहे हैं, उसे ऐसा नहीं करने देंगे, क्योंकि वे वस्तुओं को सस्ती बेचेंगे। प्रतियोगिता के भय के कारण व्यापारी कर को वस्तु के मूल्य में नहीं मिलाते और स्वयं ही सहन करते हैं। एकाधिकार में भी ऐसा ही होता है। एकाधिकारी पहले ही इस प्रकार का मूल्य निश्चित करता है जिससे उसका लाभ अधिकतम हो। यदि वह मूल्य बढ़ायेगा तो वस्तुओं की कम मात्रा बिकने से उसको लाभ कम प्राप्त होगा और इसलिये वह कर-भार स्वयं ही सहन करेगा।

सम्पत्ति कर का भार—सम्पत्ति दो प्रकार की होती है—एक तो वह जो प्रत्यक्ष उपभोग के कामों में आती है और दूसरी वह जो उत्पादन के काम में आती है। उपभोग में आने वाली सम्पत्ति जैसे रहने का मकान, जेवरात इत्यादि पर जब कर लगाया जाता है तब उसका विवर्तन आगे की ओर नहीं हो सकता क्योंकि उसका विनिमय नहीं हो सकता है और इसलिये मूल्य बढ़ाया नहीं जा सकता। इसलिये कर भार या तो सम्पत्ति के उपभोक्ता को सहन करना पड़ता है या उसका विवर्तन पीछे की ओर होता है। वास्तव में कर लगने से सम्पत्ति से प्राप्त होने वाली शुद्ध आय घट जाती है जिसके कारण उसका मूल्य भी कम होता जाता है। इसलिये

सम्पत्ति को खरीदते समय ही कर का विवर्तन सम्पत्ति के विक्रेता पर किया जा सकता है अर्थात् उस सम्पत्ति का कम मूल्य देकर भविष्य में दिये जाने वाले कर की क्षति पूर्ति पहले ही कर ली जाती है। संक्षेप में कर-विवर्तन पीछे की ओर किया जाता है। इसको कर का पूँजीकरण (Tax Capitalisation) भी कहते हैं। पूँजीकरण वार्षिक आय के पूँजीगत मूल्य की गणना है।[12] वार्षिक आय को प्रतिशत दर से भाग देकर इसे मालूम किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, १०% की दर पर ८० रुपये वाली वार्षिक आय का पूँजीगत मूल्य $\frac{८० \times १००}{५}$ = १६०० रुपये होगा अर्थात् १६०० रुपये की पूँजी १०% वार्षिक दर से ८० रुपये की वार्षिक आय प्रदान करेगी। अब हम यह देखेंगे कि कर पूँजीकरण किस प्रकार होता है। मान लीजिये एक मकान है जिसका मूल्य २००० रुपये है, जिसका वार्षिक किराया १०० रुपये है। इस मकान पर २० रुपये साल का कर लगा हुआ है। इस तरह मकान की शुद्ध आय कुल ८० रुपये हुई। यदि कोई व्यक्ति २००० रुपये लगाकर १०० रुपये की वार्षिक आय प्राप्त करना चाहता है तो वह इस मकान को २००० रुपये में नहीं खरीदेगा, क्योंकि इससे तो उसे केवल ८० रुपये, अर्थात् २० रुपये कम प्राप्त होते हैं और वह किसी अन्य व्यवसाय में अपनी पूँजी लगाने का निश्चय करेगा या कम मूल्य पर मकान खरीदेगा। परन्तु वह कितना मूल्य देगा ? स्वाभाविक ही है कि वह उतना मूल्य देगा कि २० रुपये का वार्षिक कर देने के बाद उसे १०% प्राप्त होता रहे। यह उसी समय संभव होगा जब वह उस मकान का मूल्य केवल १६०० रुपये दे। यदि वह इस प्रयत्न में सफल हो जाता है तो वह सारा कर-भार मकान के विक्रेता पर डाल देता है। उसके लिए सम्पत्ति सदैव के लिये भार-मुक्त हो जाती है।[13]

यह ध्यान रहे कि कर का पूँजीकरण इतना सरल नहीं होता जितना समझा जाता है। इसके लिए निम्न बातों की विशेष आवश्यकता होती है। इन बातों की अनुपस्थिति में कर का पूँजीकरण नहीं हो सकता। प्रथम, वस्तु टिकाऊ होनी चाहिये तथा उसकी पूर्ति सरलता से न बढ़ाई जा सके और न घटाई जा सके जैसे भूमि। यदि ऐसा नहीं होगा तो कर-भार उपभोक्ताओं पर पड़ेगा। दूसरे, कर का पूँजीकरण केवल उसी समय हो सकता है, जब कर दीर्घ काल के लिए लगाया जाये। यदि कर केवल अस्थायी रूप से थोड़े से समय के लिये लगाया गया है तो सम्पत्ति का मालिक उसको नहीं बेचेगा और वह इसी इन्तजार में रहेगा कि कर हटे और वह सम्पत्ति को बेचे क्योंकि यदि वह सम्पत्ति को कर की उपस्थिति में बेचेगा, तो उसको सम्पत्ति का कम मूल्य प्राप्त होगा। इसलिये वह सम्पत्ति का पूरा मूल्य प्राप्त करने के लिये उसको उसी समय बेचेगा जबकि कर हटा दिया जायेगा। अतः कर का पूँजीकरण केवल तभी होगा जब कर दीर्घकाल के लिये लगाया गया है। तीसरे

12. "The discounting of excess taxes in advance by purchasers is known as tax-capitalisation." Buehler, *op. cit.*, p. 360.

13. Philips, E. Taylor, *The Economics of Public Finance*, p. 276.

कर का पूँजीकरण उसी समय होगा जब केवल किसी एक ही वस्तु पर लगाया गया है। यदि कर सभी वस्तुओं पर लगा हुआ है तब पूँजी का विनियोग करने वालों को सब स्थानों पर समान लाभ प्राप्त होगा। यदि कर केवल एक ही वस्तु पर लगा है तो उस वस्तु से अपेक्षाकृत कम लाभ प्राप्त होगा इसलिये इस वस्तु के स्वामी को पूँजीकरण करना होगा अर्थात् उसको कर के अनुपात में उस वस्तु का मूल्य घटाना होगा। यदि वह ऐसा नहीं करेगा तो उस वस्तु को कोई नहीं खरीदेगा और सभी व्यक्ति अन्य वस्तुओं में अपनी पूँजी का विनियोग करेंगे। चौथे, उन्हीं वस्तुओं पर लगे हुए कर का पूँजीकरण हो सकता है जो बाजार में बेची और खरीदी जा सकें और अन्त में जिस वस्तु पर कर लगाया जाता है उसका स्वामित्व शीघ्र बदलते रहना चाहिये, बेचने और खरीदने में वस्तु का मूल्य कम होता रहे। इसी कारण सेलिगमैन ने भूमि कर के पूँजीकरण का पक्ष लिया।[14] परन्तु प्रश्न यह है कि पूँजीकृत कर का भार किस पर पड़ता है, क्रेता पर या विक्रेता पर ? साधारणतया यह विश्वास किया जाता है कि पूँजीकृत कर का भार विक्रेताओं पर पड़ता है क्योंकि उसको मूल्य कम करना पड़ता है, परन्तु दूसरी ओर डाल्टन का विचार है कि इस कर का भार क्रेता पर होगा क्योंकि उसे कर हटने के बाद लाभ होगा।

जिस सम्पत्ति का उपयोग उत्पादन कार्यों के लिये होता है उस पर लगे हुए कर के भार की प्रकृति ठीक उसी प्रकार होगी जैसे किसी व्यापार पर लगे हुए एक मुश्त कर-भार की होती है। यह भी उत्पादन-व्यय का एक स्थायी अंग बन जाता है। परन्तु ऐसे कर से वस्तु का सीमांत उत्पादन-व्यय बढ़ता नहीं है। मूल्य उस समय तक नहीं बढ़ सकता जब तक कि माँग न बढ़े या पूर्ति कम न हो। सम्पत्ति कर से यह दोनों ही बातें नहीं हो पातीं। मूल्य में भी वृद्धि नहीं होती और इसलिये कर का विवर्तन भी नहीं हो सकता है। बात यह है कि उत्पादकों को उत्पत्ति कम करने में तभी लाभ होता है, जबकि उत्पत्ति बढ़ाने से प्रति इकाई उत्पादन-व्यय बढ़ने लगता है। सम्पत्ति-कर से उत्पादन-व्यय में वृद्धि नहीं होती, इसीलिए पूर्ति कम करने में सम्पत्ति के मालिकों को कोई लाभ नहीं होता। सम्पत्ति की माँग बढ़ाना सम्पत्ति के मालिकों के वस की बात नहीं है। इसी कारण सम्पत्ति-कर का विवर्तन नहीं हो पाता। हाँ, यह अवश्य हो सकता है कि दीर्घकाल में सम्पत्ति के मालिक, जब कर का भार अधिक हो जाये तो, उत्पादन बन्द कर दें जिससे पूर्ति कम हो जायेगी और मूल्य बढ़ने से कर का विवर्तन हो जायेगा। इस प्रकार सम्पत्ति-करों का भार आगे की ओर ढकेलना इतना सरल नहीं है, यद्यपि इनका पूँजीकरण अवश्य ही किया जा सकता है।

व्यावसायिक लाभों पर कर—व्यावसायिक लाभ-करों का विवर्तन-सम्बन्धी विषय अत्यन्त ही विवादग्रस्त है। पहले समय में यह विश्वास किया जाता था कि ऐसे करों का विवर्तन नहीं किया जा सकता, किन्तु आधुनिक समय में अधिकतया यही विश्वास किया जाता है कि ऐसे करों का विवर्तन सम्भव है। साधारणतया

14. Cf. *The Shifting and Incidence of Taxation*, pp. 219-225.

व्यावसायिक लाभ-कर तीन प्रकार के होते हैं। साझेदारी तथा कम्पनियों के मालिकों की आय पर कर, सम्मिलित पूंजी वाली कम्पनियों की आय पर कर और अत्यधिक लाभों पर कर। हम इन करों की विवर्तन-सम्बन्धी समस्याओं का अध्ययन निम्न में करेंगे :—

सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से यह कहा जा सकता है कि व्यावसायिक करों का विवर्तन नहीं किया जा सकता। अत्यधिक लाभ करों को ही लीजिए। ये कर शुद्ध लाभों पर लगाये जाते हैं अर्थात् श्रम, पूंजी-व्यवस्था आदि सम्बन्धी व्यय को निकालने के बाद जो कुछ लाभ प्राप्त होते हैं, उन पर ये कर लगाये जाते हैं। ऐसे करों से न तो निजी विनियोग और न ही उनके उत्साह पर बुरा प्रभाव पड़ेगा। इसके अतिरिक्त ऐसे करों में विभिन्न व्यवसायों में भेद भी नहीं किया जाता और जो व्यावसायिक इकाइयाँ सामान्य लाभ ही प्राप्त कर रही हैं उनको कर-मुक्त रखा जाता है। ऐसे करों का मूल्य-स्तर पर भी कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा, इसलिए उनका विवर्तन नहीं किया जा सकता। किन्तु व्यवहार में यह देखा गया है कि युद्ध तथा संकट के काल में जबकि वस्तुओं की माँग बहुत अधिक होती है और मूल्यों की प्रवृत्ति ऊँचे चढ़ने की होती है तथा विशेषकर जबकि वस्तुओं की खपत राजकीय संगठनों में अधिक होती है तो इन करों का विवर्तन बड़ी ही सुगमता से उपभोक्ताओं पर कर दिया जाता है।

अत्यधिक लाभ-करों के अतिरिक्त सम्मिलित पूंजी कम्पनियों की आय पर भी कर लगाये जाते हैं। व्यवहार में ये कर उन सभी प्रकार की कम्पनियों से वसूल किये जाते हैं जो अपने हिस्सेदारों की ओर से आय प्राप्त करती हैं। क्योंकि हिस्सेदारों द्वारा लगाई गई पूंजी का व्याज व्यावसायिक लागतों का एक आवश्यक अंग होता है इसलिए कम्पनियों पर लगे हुए कर का भार लागत के एक महत्वपूर्ण भाग पर पड़ता है। इसीलिए कुछ अर्थशास्त्रियों का विचार है कि कम्पनियों की आय पर लगे हुए कर निजी विनियोगों को हतोत्साहित करते हैं और देश की व्यावसायिक प्रगति पर बुरा प्रभाव डालते हैं। उनका विचार है कि ऐसे करों का विवर्तन दीर्घकाल में ही सम्भव होता है। अधिकतर व्यवसायियों का यह विचार है कि कम्पनी आय कर व्यावसायिक लागतों का एक भाग होते हैं जो मूल्यों में जुड़ जाते हैं और इस प्रकार वे मूल्यों को प्रभावित कर सकते हैं। और अपने कर का विवर्तन उपभोक्ताओं पर कर सकते हैं। किन्तु यह ध्यान रहे कि व्यवहार में ऐसा नहीं होता क्योंकि एकाधिकारिक परिस्थितियों में छोटे-छोटे व्यवसायी मूल्यों से प्रभावित होते हैं न कि मूल्यों को प्रभावित करते हैं। इनके अतिरिक्त व्यवसाय कर प्राप्त होने वाली आय पर लगते हैं। कुछ लोगों के अनुसार व्यवसाय करों का विवर्तन केवल अंशतः ही किया जा सकता है और इन करों का भार व्यवसायी वर्ग को भी सहन करना पड़ता है। अतः स्पष्ट है कि कम्पनी-आय-कर के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के विचार देखने को मिलते हैं। विचारों की इस गड़बड़ी के कई कारण हो सकते हैं। सर्वप्रथम, बाजार की परिस्थितियाँ इतनी

जटिल होती हैं और बाजार को प्रभावित करने वाले तत्त्व इतने अधिक हैं कि यह पता लगाना कि कर का विवर्तन किस अंश तक हो रहा है, हो भी रहा है या नहीं, अत्यन्त ही कठिन है। दूसरे, हर उद्योग या फर्म की विभिन्न माँग सारिणियाँ होती हैं। जब तक कि वस्तु की माँग लोच रहित नहीं है और जब तक उत्पादक वस्तु के मूल्य को नियन्त्रित नहीं कर सकता, तब तक आय कर का विवर्तन भी नहीं हो सकता। अतः हम कह सकते हैं कि जब तक वस्तु की पूर्ति पर एकाधिकार जैसा नियन्त्रण नहीं है और जब तक उत्पादक में मूल्यों को प्रभावित करने की शक्ति नहीं है, तब तक, माँग की चाहे जो भी स्थिति हो, कर का विवर्तन अल्पकाल में होना बहुत ही कठिन है। कम्पनी-आय-कर का विवर्तन उस समय अधिक सरल होगा जबकि वस्तु-विशेष की माँग में और समाज की कुल माँग में वृद्धि होने से मूल्यों में ऊपर चढ़ने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। तीसरे, कम्पनी-आय-करों का विवर्तन वस्तुओं की पूर्ति और इस प्रकार वस्तुओं और सेवाओं के मूल्यों पर भी निर्भर होगा। जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, अल्पकाल में विवर्तन उस समय तक नहीं होगा जब तक कि वस्तु की पूर्ति पर उत्पादक का पूरा नियन्त्रण न हो और दीर्घकाल में भी उसी समय सम्भव हो सकेगा जब कि व्यक्ति अपनी उत्पत्ति की मात्रा को कम कर दे और उत्पत्ति के साधनों को निकाल कर किसी अन्य उद्योग में लगा दे। एकाधिकारी के लिए कर का विवर्तन करना अधिक सरल होता है किन्तु उसी समय तक, जब तक कि उसको अधिकतम लाभ प्राप्त नहीं होता। एकाधिकारिक प्रतियोगिता की दशा में उत्पादक कर के विवर्तन में अंशतः ही सफल हो सकते हैं। पूर्ण प्रतियोगिता की अवस्था में लाभ-करों का विवर्तन उसी समय सम्भव होगा जबकि सम्पूर्ण उद्योग की वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि की जाए।

बिक्री-कर तथा उत्पादन-करों का कर-भार—ऐसे करों को वस्तु-करारोपण के अन्तर्गत सम्मिलित किया जाता है। बिक्री कर वस्तुओं के विनिमय पर लगते हैं और उत्पादन-कर वस्तुओं के उत्पादन पर। सभी प्रकार के वस्तु-करों का भार उपभोक्ताओं पर पड़ता है। ऐसे कर सभी व्यक्तियों पर भार डालते हैं। वैधानिक दृष्टि से ऐसे करों का विवर्तन उचित है और इसलिए यह स्पष्ट है कि ऐसे करों का विवर्तन होता है। ऐसे करों का भार अन्त में उपभोक्ताओं पर पड़ता है हालांकि कभी-कभी उत्पादक वर्ग इनका विवर्तन पीछे की ओर भी कर सकता है अर्थात् जब उत्पादक यह देख लेता है कि उपभोक्ता कर के भार को सहन करने के लिए तैयार नहीं हैं और वे उसका विरोध कर रहे हैं तो वे मजदूरों को नीची मजदूरी लेने के लिए विवश करके या कच्ची सामग्री के उत्पादकों को कम मूल्य लेने के लिए विवश करके कर का विवर्तन कर देते हैं। यदि यह भी सम्भव नहीं होता तो अन्तिम उपाय यह होता है कि सीमान्त उत्पादक के बाजार में से निकल जाने के बाद वस्तुओं की पूर्ति कम हो जाती है और फिर वस्तुओं के मूल्य बढ़ जाते हैं। इसका यह अभिप्राय नहीं कि उत्पादक सदैव ही कर-विवर्तन करने में सफल हो जाते हैं। कभी-कभी उत्पादक कर का कुल भार या उसका एक भाग स्वयं सहन करने को विवश हो

जाते हैं। यद्यपि यह सच है कि बिक्री तथा उत्पादन करों का क्षेत्र विस्तृत होने के कारण उनके करों का विवर्तन तनिक सरल होता है, किन्तु ये वस्तु की माँग तथा पूर्ति की लोच द्वारा निश्चित होगा कि कर का विवर्तन हो सकता है या कि नहीं। यदि वस्तु की माँग वेलोच और पूर्ति लोचदार है तो कर का सम्पूर्ण भार उपभोक्ताओं को ही सहन करना होगा और यदि ऐसा नहीं है तो कर के भार का विवर्तन नहीं हो सकेगा।

बिक्री-कर दो प्रकार के होते हैं; सामान्य तथा विशेष। सामान्य बिक्री-कर सभी प्रकार की वस्तुओं पर समान रूप से लगाए जाते हैं और विशेष बिक्री-कर कुछ विशेष वस्तुओं पर ही लगते हैं। सामान्य बिक्री-करों के भार को उपभोक्ताओं पर पूर्ण रूप से डाल दिया जाता है जिसको बिक्री-कर अविनियम भी स्वीकार करते हैं। इसलिए सामान्य बिक्री-करों के भार का विवर्तन सरल होता है। किन्तु भारत में जहाँ बिक्री-कर राज्यों द्वारा लगाए जाते हैं, उनका भार अधिकतर उत्पादकों को ही सहन करना होता है, क्योंकि वे जानते हैं कि उपभोक्ता उन वस्तुओं को ऐसे पड़ौसी राज्यों से मँगा सकते हैं जिनमें उन वस्तुओं पर बिक्री-कर लगा हुआ नहीं है। इसीलिए तो भारत सरकार ने अन्तर्राज्य बिक्री-कर लागू किया है। जहाँ तक विशेष बिक्री-करों का सम्बन्ध है, उनके भार का विवर्तन इतना सरल नहीं होता। ऐसे करों का सम्पूर्ण भार उत्पादकों को ही सहन करना होगा, यदि अन्य स्थानापन्न वस्तुएँ कर रहित हों और यदि कर लगी हुई वस्तुओं की माँग लोचदार हो। किन्तु, यदि विशेष बिक्री-कर ऐसी वस्तुओं पर लगाया गया है जिनकी स्थानापन्न वस्तुएँ नहीं हैं और जिनकी माँग वेलोच है तो कर के भार का विवर्तन पूर्ण रूप से उपभोक्ताओं पर किया जा सकता है।

सीमा-शुल्क का कर-भार—सीमा-शुल्क दो प्रकार के होते हैं। आयात कर और निर्यात कर। ऐसे करों का अन्तिम भार उपभोक्ताओं को ही सहन करना पड़ता है। किन्तु, यदि आयातित वस्तुओं की अन्य प्रतिद्वन्द्वी वस्तुएँ उपलब्ध हैं तो आयातकर्त्ता कर का सम्पूर्ण भार उपभोक्ताओं पर टाल सकेगा, वरना नहीं। कुछ विशेष परिस्थितियों में आयात करों का भार स्वयं विदेशियों को ही सहन करना पड़ता है। यदि आयात की जाने वाली वस्तुओं की माँग लोचदार है और यदि आयातकर्त्ता देश वस्तु का मुख्य क्रेता है तो ऐसी स्थिति में विदेशी उत्पादक आयात कर के भार का कुछ अंश स्वयं ही सहन करेंगे क्योंकि वे जानते हैं कि यदि उन्होंने ऐसा नहीं किया तो आयातकर्त्ता देश उनकी वस्तुओं को नहीं मंगायेगा जिससे उनके उद्योग को हानि पहुँचेगी। किन्तु यह ध्यान रहे कि ऐसा असाधारण परिस्थितियों में ही सम्भव होता है। सामान्यतया हम यही कह सकते हैं कि आयात तथा निर्यात करों का भार उपभोक्ताओं को ही सहन करना पड़ता है।

कर-भार-सम्बन्धी आधुनिक विचार—पिछले पृष्ठों में हमने कर-भार तथा कर-विवर्तन सम्बन्धी विचारों का विश्लेषण परम्परागत सिद्धान्तों के आधार पर किया है। आधुनिक लेखकों ने इनका अध्ययन बिल्कुल ही भिन्न ढंग से किया है।

परम्परावादी लेखकों के अनुसार कर-भार का अभिप्राय प्रत्यक्ष मौद्रिक भार से होता है। किन्तु आधुनिक लेखकों का कहना है कि प्रत्यक्ष मौद्रिक भार या अप्रत्यक्ष कर-भार के बीच भेद स्थापित करने वाली बात पूर्णतया मनमानी है। उनके अनुसार करों के प्रभावों का अध्ययन करने के लिए उन सभी तथ्यों की जानकारी आवश्यक है जो उनको प्रभावित करते हैं।[15] परम्परागत सिद्धान्त का एक दोष यह भी है कि इसमें उन परिवर्तनों की ओर कोई भी ध्यान नहीं दिया गया है जो कर लगने से व्यक्तियों की वास्तविक आय में होते हैं। इस प्रकार कर के प्रभावों का अध्ययन उसी समय उपयुक्त होगा जबकि हम यह जानकारी प्राप्त करें कि कर का प्रभाव मजदूरियों, वेतनों, लाभों, ब्याजों आदि पर व्यय होता है। इसके अतिरिक्त, हमको इस बात का ज्ञान भी प्राप्त करना चाहिए कि कर लगने से उपभोक्ता द्वारा खरीदी गई वस्तुओं तथा सेवाओं के मूल्यों में क्या परिवर्तन हुए हैं अर्थात् यह जानना आवश्यक है कि व्यक्तियों की वास्तविक आय में क्या परिवर्तन हुए हैं, ये परिवर्तन प्रत्यक्ष रूप से हुए हैं या अप्रत्यक्ष रूप से और ये परिवर्तन व्यक्तियों की आय-पक्ष में हुए हैं या व्यय-पक्ष में। परम्परागत सिद्धान्त में, तीसरा दोष यह है कि यह इस धारणा पर आधारित है कि प्रत्येक कर का एक अन्तिम भार होता है। किन्तु ऐसा भी हो सकता है कि करों के लगने या हटने से साधनों का कोई हस्तान्तरण न हुआ हो अर्थात् जब तक कि साधनों का हस्तान्तरण निजी उपयोग से राजकीय उपयोग के लिए न हो, हम यह नहीं कह सकते कि कर का कुछ भार भी होता है। इस विचार का अन्तिम दोष यह है कि इसमें यह स्वीकार किया गया है कि कर लगने से किसी न किसी व्यक्ति को हानि अवश्य होती है। किन्तु यह आवश्यक नहीं कि वितरणात्मक परिवर्तनों से हानि या लाभ हो ही और यदि होते भी हैं तो दोनों ही पक्षों का अध्ययन होना चाहिए, क्योंकि करारोपण से यदि किसी को हानि होती है तो राजकीय व्यय से किसी को लाभ भी होता है।[16]

उपर्युक्त दोषों के कारण ही आधुनिक लेखकों ने कर के भार-सम्बन्धी विचार को काफी विस्तार दिया है। आधुनिक विचारों का प्रादुर्भाव स्वीडन के अर्थशास्त्रियों, विशेषकर विकसैल (Wicksell) से हुआ है। पिछले वर्षों में श्रीमती हिक्स, मस्ग्रेव तथा अन्य लेखकों ने नवीन विचारों को और भी आगे बढ़ाया है। इन लेखकों के अनुसार भार (Incidence) का अभिप्राय आय के वितरण में होने वाले उन परिवर्तनों से है जो करारोपण तथा राजकीय व्यय-सम्बन्धी परिवर्तनों के कारण उत्पन्न होते हैं। बजट में आय तथा व्यय पक्षों के कारण मुख्य रूप से तीन प्रकार के प्रभाव उत्पन्न होते हैं :—(अ) साधनों के निजी उपयोग से राजकीय उपयोगों के लिए स्थानान्तरण सम्बन्धी परिवर्तन, (ब) उत्पादन-सम्बन्धी परिवर्तन, और (स) व्यक्तियों के बीच आय के वितरण-सम्बन्धी परिवर्तन। अन्तिम प्रकार के परिवर्तनों के अध्ययन को ही इन लेखकों ने कर-भार के अध्ययन से सम्बद्ध किया है। इस प्रकार आधुनिक

15. R. A. Musgrave, *The Theory of Public Finance*, p. 220.
16. *Ibid.*, p. 230.

विचार परम्परागत विचार की अपेक्षा अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है क्योंकि इसमें राजकीय आय तथा व्यय, दोनों ही पक्षों को सम्मिलित किया गया है। हम इसका विश्लेषण तनिक विस्तार से निम्न में करेंगे।

सबसे पहले हम उन स्थितियों का अध्ययन करेंगे जिनमें यह मान लेते हैं कि बजट में कर-नीति में परिवर्तन कर दिए जाते हैं किन्तु राजकीय व्यय-नीति में कोई परिवर्तन नहीं होता। कर-नीति-सम्बन्धी परिवर्तनों द्वारा वितरण में जो परिवर्तन होते हैं उनको विशेष कर-भार (Specific tax incidence) कहा गया है। उदाहरणार्थ, यदि पूर्ण रोजगार की स्थिति में आय-कर की दरों को कम कर दिया जाय तो उसका परिणाम यह होगा कि व्यक्तियों के पास वस्तुओं तथा सेवाओं पर खर्च करने के लिए अधिक आय रह जाएगी, जिनके मूल्य बढ़ने लगेंगे और खरीदारी के पहले जैसे स्तर को बनाये रखने के लिये समाज को अधिक खर्च करना पड़ेगा अर्थात् मुद्रा-स्फीति की स्थिति उत्पन्न हो जाएगी। इसी प्रकार यदि आय-कर की दरों को बढ़ा दिया जाए तो मुद्रा-संकुचन हो जाएगा। मुद्रा-स्फीति और मुद्रा-संकुचन दोनों ही आय के वितरण को प्रभावित करेंगे। इस प्रकार कर-नीति-सम्बन्धी परिवर्तनों के दो प्रकार के भार होते हैं। प्रथम, किसी विशेष कर के परिवर्तनों के कारण उत्पन्न होने वाला भार और द्वितीय, कर के प्रभाव में उत्पन्न होने वाली मुद्रा-स्फीति तथा मुद्रा-संकुचन के प्रभाव। विशेष कर-भार का अध्ययन कुछ कठिन होता है क्योंकि दोनों प्रकार के भार इस प्रकार एक दूसरे पर अपना प्रभाव डालते हैं कि परिस्थिति अत्यन्त जटिल हो जाती है। जब एक कर के स्थान पर दूसरा कर लगाया जाता है, केवल इस उद्देश्य से कि सरकार को प्राप्त होने वाली आय में कोई परिवर्तन न हो, तो आय के वितरण में जो परिवर्तन होंगे उन्हें विभेदात्मक कर-भार (Differential tax incidence) कहते हैं। एक कर के स्थान पर दूसरे कर के लगाने से, जब सरकार की मौद्रिक आय पूर्ववत् रहती है, सरकार के व्यय में भी कोई परिवर्तन नहीं होगा और वस्तुओं तथा सेवाओं की मांग भी यथास्थिर रहेगी। किन्तु, विभिन्न प्रकार के कर निजी-माँग को भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रभावित करेंगे और इस प्रकार मूल्य-स्तर भी प्रभावित होगा। इसका अभिप्राय यह है कि वास्तविक व्यय की स्थिति को बनाए रखने के लिए व्यक्तियों को अपने वास्तविक व्यय में आवश्यक परिवर्तन करने होंगे। इसलिए यह धारणा कि करों में परिवर्तन होने के साथ-साथ सरकार की मौद्रिक आय समान रहती है उचित नहीं है और विभेदात्मक कर-भार का सही ज्ञान प्राप्त नहीं हो पाता। विभेदात्मक कर-भार के उचित अध्ययन के लिए यह आवश्यक है कि हम दोनों प्रकार के करों के वितरणात्मक परिणामों की जानकारी प्राप्त करें। इसका अभिप्राय यह होगा कि हमको दोनों प्रकार के करों के समय बाजार के मूल्यों को ध्यान में रखकर उनसे प्राप्त होने वाली मौद्रिक आय का अध्ययन करना होगा। अतः स्पष्ट है कि यह अध्ययन विशेष कर-भार के अध्ययन की अपेक्षा अधिक उपयुक्त रहेगा, क्योंकि इसमें मुद्रा-स्फीति तथा मुद्रा-संकुचन के प्रभावों के अध्ययन की कोई आवश्यकता नहीं है।

अभी तक हम ने बजट-सम्बन्धी नीतियों के परिवर्तनों से उत्पन्न होने वाले वितरणात्मक परिवर्तनों की समस्या का विश्लेषण यह मान कर किया कि राजकीय व्यय यथास्थिर रहने की स्थिति में कर-नीति-सम्बन्धी परिवर्तनों से अर्थ-व्यवस्था में होने वाले परिवर्तनों का अध्ययन किस प्रकार किया जाए। अब हम यह मानकर आगे बढ़ते हैं कि सरकार की कर-नीति में कोई परिवर्तन न हो तो राजकीय-व्यय-सम्बन्धी परिवर्तनों द्वारा आय के वितरण में उत्पन्न होने वाले परिवर्तनों का अध्ययन किस प्रकार किया जाए। राजकीय व्यय के इन प्रभावों को राजकीय व्यय-सम्बन्धी भार (expenditure incidence) कह सकते हैं। यह भी दो प्रकार के हो सकते हैं। प्रथम, विशेष राजकीय व्यय-सम्बन्धी भार और द्वितीय, विभेदात्मक राजकीय व्यय-सम्बन्धी भार। राजकीय व्यय के द्वारा व्यक्तियों की आय में जो परिवर्तन होते हैं उनको विशेष राजकीय व्यय-भार कहते हैं। राजकीय व्यय में वृद्धि होने से व्यक्तियों की आय में भी वृद्धि होगी और परिणामतया वस्तुओं और सेवाओं के मूल्यों में भी वृद्धि हो सकती है। इसके विपरीत राजकीय व्यय में कमी होने की स्थिति में वस्तुओं एवं सेवाओं के मूल्यों में भी कमी हो सकती है। इस प्रकार समस्या का अध्ययन इस तरह से करने पर दो प्रकार के परिवर्तनों का अध्ययन करना होगा अर्थात् एक तो उन परिवर्तनों का जो राजकीय व्यय के कारण उत्पन्न होते हैं और दूसरे उन परिवर्तनों का जो मुद्रा-स्फीति या मुद्रा संकुचन का परिणाम होते हैं। अतः स्पष्ट है कि यह अध्ययन समस्या को सुलझाने के बजाय और जटिल बना देगा और इसमें भी वही दोष हैं जो विशेष कर-भार-सम्बन्धी विचार में थे। इसलिए मुद्रा-स्फीति तथा मुद्रा-संकुचन के प्रभावों के अध्ययन की जटिलता से बचने के लिए यह आवश्यक है कि हम राजकीय व्यय के परिवर्तनों का अध्ययन समुचित बजट-नीति के सन्दर्भ में करें अर्थात् हमें यह देखना होगा कि जब एक दिशा में राजकीय व्यय में वृद्धि होती है तो दूसरी दिशा में कमी भी होनी चाहिए ताकि बजट नीति के प्रभाव संतुलित रहें। ऐसे राजकीय व्यय के वितरणात्मक प्रभावों को विभेदात्मक राजकीय व्यय-भार कहा जाता है। मस्ग्रेव के अनुसार राजकीय व्यय-सम्बन्धी भार का अध्ययन इतना उपयोगी नहीं जितना कि विभेदात्मक कर-भार का अध्ययन होता है, क्योंकि कर-नीति के परिवर्तन अधिक उत्सुकता उत्पन्न करने वाले होते हैं और राजकीय सेवाओं से जो लाभ प्राप्त होते हैं उनका वितरणात्मक महत्त्व अवश्य होता है किन्तु यह लाभ 'भार' (incidence) का एक अंश नहीं कहे जा सकते।[17]

अन्त में हम कर-नीति तथा राजकीय व्यय-नीति दोनों ही के परिवर्तनों से उत्पन्न होने वाले वितरणात्मक परिवर्तनों की चर्चा कर सकते हैं। ऐसे परिवर्तनों को संतुलित बजट-भार कह सकते हैं। हम जानते हैं कि राजकीय व्यय में तनिक परिवर्तन होने से साधनों का स्थानान्तरण हो जाता है और इसके साथ-साथ यदि कर-नीति में परिवर्तन कर दिए जायें तो उससे सरकार को आवश्यक कोष भी प्राप्त

17. *Ibid*, p. 214.

हो सकते हैं। इस प्रकार का अध्ययन ही सबसे उपयुक्त प्रतीत होता है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि आधुनिक लेखक परम्परावादी लेखकों की भाँति केवल कर-भार के अध्ययन से ही सन्तुष्ट नहीं है, वह सरकार की बजट-नीति के दोनों पक्षों अर्थात् आय तथा व्यय के प्रभावों का अध्ययन करना उपयुक्त समझता है और व्यावहारिक दृष्टिकोण से यह अध्ययन आवश्यक भी प्रतीत होता है, क्योंकि सही स्थिति का ज्ञान ऐसे ही अध्ययन से प्राप्त हो सकता है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि प्रत्येक कर का भार अलग-अलग विधियों से तथा भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न रीति से ढकेला जाता है। कर-भार की समस्या का अध्ययन, यद्यपि बहुत ही महत्वपूर्ण है, परन्तु व्यवहार में कदाचित इसकी ओर कम ध्यान दिया जाता है क्योंकि व्यवहार में वित्त मन्त्री केवल सामाजिक उद्देश्यों से ही करारोपण नीति को निर्मित नहीं करता वरन् राजनैतिक और आर्थिक परिस्थितियों का भी उसे ध्यान करना होता है। अतः इस प्रकार के अध्ययन का केवल सैद्धान्तिक महत्व ही है।

अध्याय १२

कर-दान क्षमता

(TAXABLE CAPACITY)

प्राक्कथन—

करारोपण राज्य की आय का एक मुख्य स्रोत है। राज्य के व्ययों में वृद्धि होने के साथ-साथ करारोपण का क्षेत्र भी विस्तृत होता चला गया है। लगभग एक शताब्दी में राज्य का दृष्टिकोण ही बदल गया है। आज राज्य केवल सुरक्षा-सम्बन्धी कार्य ही नहीं करता वरन् आजकल राज्य का मुख्य उद्देश्य एक कल्याणकारी समाज स्थापित करना है, नागरिक के कल्याण की प्रत्येक बात की ओर ध्यान देना है और आज राज्य नागरिक के जीवन के प्रत्येक पहलू से सम्बन्धित है। यदि राज्य को हम अपना सहयोग दान नहीं देंगे, तो वह हमारे कल्याण के लिये इतने सारे कार्य किस प्रकार पूरा करेगा। कर न देने का तो यही परिणाम होगा कि या तो कुछ लोगों के लिए मुफ्त शिक्षा या चिकित्सा की व्यवस्था नहीं होगी या कुछ को वृद्धावस्था पैन्शन नहीं प्राप्त होगी। यदि सभी नागरिक ऐसा करते रहें तो कदाचित एक दिन ऐसा आयेगा जबकि धन की असमानतायें मुँह फाड़ कर निर्धनों को निगल जायेंगी। इसके अतिरिक्त कर देकर हम राज्य पर कोई एहसान नहीं करते। जो कुछ हम राज्य को देते हैं वह वास्तव में हम स्वयं को दे रहे हैं, क्योंकि राज्य सभी नागरिकों का एक सामूहिक रूप ही तो है और इसी तरह करारोपण सामूहिक बचतें प्राप्त करने का एक साधन है। राज्य उसी को सेवाओं, बढ़ी हुई रोज़गारी, बढ़ी हुई आय, निःशुल्क शिक्षा एवं चिकित्सा आदि के रूप में हमको वापिस कर देता है। इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि करारोपण आवश्यक है और हर व्यक्ति को कर देना चाहिए। परन्तु प्रश्न यह है कि करारोपण की कोई सीमा भी है या नहीं? किस व्यक्ति को कितना कर देना चाहिए? निर्धन व्यक्ति कर कैसे दें? यह सब बातें केवल करारोपण के न्याय-सम्बन्धी सिद्धान्त से सम्बन्धित हैं। करारोपण न्यायपूर्ण होना चाहिए और इसलिये करारोपण व्यक्तियों की कर-दान क्षमता के आधार पर होना चाहिए। हम पिछले अध्यायों में इसका विस्तार में अध्ययन कर चुके हैं। यदि व्यक्तिगत दृष्टिकोण से परे हट कर हम देश की ओर ध्यान दें तो प्रश्न यह उठता है कि किसी देश में कर किस सीमा तक लगाया जाये? क्या प्रत्येक देश की कर-दान क्षमता असीमित होती है? क्या किसी देश में किसी भी मात्रा में करारोपण किया जा सकता है? इन प्रश्नों का अध्ययन करना इसलिए आवश्यक है कि अत्यधिक

करारोपण व्यक्तियों की कार्य-क्षमता को कम कर देता है, उनकी आय को घटा देता है और अन्त में सरकार की आय भी कम हो जाती है। वास्तव में अत्यधिक करारोपण केवल निर्धनता पर ही कर होता है और निर्धनता में वृद्धि करता है। कर-दान क्षमता की सीमा से अधिक करारोपण करना देश के लिए हानिकारक होता है। सबसे पहले इस प्रश्न का उत्तर प्राप्त करना आवश्यक है कि कर-दान क्षमता कहते किसे हैं ?

कर-दान क्षमता को दो अर्थों में प्रयोग किया जा सकता है।[1] प्रथम निर्पेक्ष कर-दान क्षमता (absolute taxable capacity) और दूसरी सापेक्ष कर-दान क्षमता। पहले अर्थ में कर-दान क्षमता शब्द का प्रयोग करके भुगतान के परिणामों को दृष्टि में रखकर किया जाता है और दूसरे में दो देशों की सापेक्षिक कर-दान क्षमता की बात की जाती है, परन्तु इससे कर-दान क्षमता शब्द का अर्थ स्पष्ट नहीं होता। जब हम कर-दान क्षमता के परिणामों की बात करते हैं तो यह कहते हैं कि जब कर भुगतान करने से देश में दुःखद परिणाम आरम्भ हो जाते हैं तब कर-दान क्षमता की सीमा का उल्लंघन आरम्भ हो जाता है। परन्तु प्रश्न यह है कि हम किन दुःखद परिणामों को इस गणना में सम्मिलित करेंगे ? वास्तव में कर भुगतान करने का विचारमात्र ही कड़ुवा होता है। इसके अतिरिक्त क्या यह सच नहीं है कि करारोपण से आरम्भ में व्यक्ति की आय कम होती है, चाहे बाद में राजकीय व्यय से उसकी क्षतिपूर्ति हो जाती हो। इस प्रकार दुःखमय परिणाम और दुःखरहित परिणाम के विचार बड़े ही अस्पष्ट हैं और अव्यावहारिक हैं। व्यावहारिक दृष्टिकोण से हमको एक नई परिभाषा की आवश्यकता होती है, परन्तु कठिनाई तो यह है कि इस शब्द की सही और नपे-तुले शब्दों में परिभाषा करना सम्भव ही नहीं। कर-दान क्षमता का बुरा परिणाम यह ही हो सकता है कि देश के आर्थिक कल्याण में कमी हो जाये। परन्तु केवल करारोपण की ओर ही ध्यान देना बिना राजकीय व्यय के परिणामों की ओर ध्यान दिये, अनुचित होगा, क्योंकि करारोपण का आकार राजकीय व्यय के आकार द्वारा निर्धारित होता है। इसके अतिरिक्त यह भी सोचना है कि करारोपण की कौन सी विधि कम हानिकारक होगी क्योंकि एक विधि के दूसरी की अपेक्षा अधिक बुरे परिणाम हो सकते हैं। इसका अध्ययन हम पिछले अध्यायों में कर ही चुके हैं, परन्तु इस प्रकार के परिणाम नकारात्मक (negative) होते हैं। यह सम्भव है कि किसी विशेष समय पर किसी राष्ट्र को कर-दान क्षमता का प्रतिनिधित्व करने के लिए एक निश्चित धन-राशि या राष्ट्र की आय के सही अनुपात को निर्धारित किया जा सके।[2] इस बात को ध्यान में रखकर अब हम कर-दान क्षमता पर व्यक्त किये गए विभिन्न विचारों का अध्ययन कर सकते हैं। शिराज, जिन्होंने इन दोनों प्रकार की कर-दान क्षमताओं का वर्णन किया है, निर्पेक्ष कर-दान क्षमता के विचार को भी महत्त्व देते हैं। वे कहते हैं कि "जब किसी

1. Cf. Dalton, *Public Finance*, 1932 note to Chapter XII, p. 161.
2. *Ibid.*, p. 163.

देश के आर्थिक ढांचे का निरीक्षण इस बात को जानने के लिए किया जाए कि वह कर के भार के रूप में कितना बोझा सहन कर सकता है, तो ऐसी स्थिति में निर्पेक्ष कर-दान क्षमता नापने का प्रयत्न किया जाता है।"[3] अतः निर्पेक्ष कर-दान क्षमता कर लेने की अन्तिम सीमा होती है। कुछ व्यक्तियों ने सर्वोत्तम कर-दान क्षमता के शब्दों का प्रयोग किया है। सर्वोत्तम कर-दान क्षमता वह अधिकतम राशि है जो समाज के अधिकतम आर्थिक कल्याण के लिए उत्पन्न की जा सकती है। निर्पेक्ष तथा सर्वोत्तम कर-दान क्षमताओं में भी अन्तर है। निर्पेक्ष कर-दान क्षमता अतिरिक्त उत्पादन (additional production) से उत्पन्न होती है। अतिरिक्त उत्पादन का केवल वही भाग कर-दान क्षमता को निर्धारित करते समय सम्मिलित करना चाहिए, जो मशीनों की घिसावट एवं टूट-फूट के व्यय को निकालने के बाद शेष रहता है। अर्थात् मशीनें इत्यादि पहले की ही अवस्था में रहते हुए जितनी अतिरिक्त आय प्राप्त होती है वह ही कर-दान क्षमता को निर्धारित करेगी। इसका अभिप्राय यह हुआ कि हम एक निश्चल अथवा अपरिवर्तित (static) प्रणाली की बात कर रहे हैं। हम जानते हैं कि परिस्थितियाँ कभी भी स्थायी नहीं रहतीं, इसलिए एक परिवर्तनशील (Dynamic) प्रणाली की बात करना अधिक व्यावहारिक होगा। ऐसे समाज में लोग सदा ही उन्नति की ओर अग्रसर होने का प्रयत्न करते हैं। जीवनस्तर उच्च करने का प्रयत्न करते हैं, बढ़ती हुई जनसंख्या के लिए भी प्रबन्ध करते हैं, इत्यादि। इन सब बातों के लिए, इस प्रकार यह आवश्यक है कि इस आधिक्य का कुछ भाग व्यक्तियों के पास ही छोड़ दिया जाये और इसके बाद जो कुछ भी बचे वही सर्वोत्तम कर-दान क्षमता कहलायेगी।

निर्पेक्ष कर-दान क्षमता का माप—शिराज, निर्पेक्ष कर-दान क्षमता के माप के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुए कहते हैं कि कुल राष्ट्रीय लाभांश में से मशीनों की टूट-फूट, घिसावट आदि की व्यवस्था करने के पश्चात् जो शुद्ध आय शेष रह जाये, उसी पर कर-दान क्षमता निर्भर होगी। शिराज के अनुसार "हम वर्ष-विशेष में उत्पन्न की गई तमाम वस्तुओं और सेवाओं के बाजार मूल्य का योग कर लेते हैं, उसमें से देश की वस्तुओं (कच्ची सामग्री तथा पूंजीगत वस्तुओं) के उस भाग को घटा देते हैं, जिसका व्यय कुल उत्पादन में हो चुका है जो शेष रहता है वही उस वर्ष की राष्ट्रीय आय है।"[4] परन्तु यह ध्यान रहे कि शिराज द्वारा बताई गई विधि के अनुसार राष्ट्रीय आय का अनुमान बहुत कुछ गलत और बढ़ा-चढ़ा होगा, क्योंकि उन्होंने इस उत्पत्ति के उस भाग की ओर कोई ध्यान नहीं दिया जो उत्पादक अपने उपभोग के लिए रख लेते है या वस्तुओं को बेचने से पहले ही जिसका उपभोग कर लेते हैं। इसलिए कुल राष्ट्रीय आय में से इस भाग को भी घटाना चाहिए। शिराज ने यह भी ध्यान में नहीं रक्खा कि जिस वर्ष में नये विनियोग होंगे उस वर्ष में कुल आय में कमी हो जाएगी। इसलिए कुल आय में से इन

3. *The Science of Public Finance*, p. 227.
4. *Op. Cit.*, p. 238.

विनियोगों के मूल्य के योग को भी कम करना चाहिये। इसी प्रकार विदेशों से जो ऋण प्राप्त किए गए हैं उनके सूद तथा मूलधन का जो भुगतान किया जाता है उसको भी शुद्ध राष्ट्रीय लाभांश निकालते समय कम करना होगा और जो कुछ विदेशों से प्राप्त होता है उसे कुल आय में जोड़ना होगा। अतः शुद्ध राष्ट्रीय आय मालूम करके कर-दान योग्यता को ज्ञात किया जा सकता है। अधिक विकसित देशों में राष्ट्रीय लाभांश मालूम करने के लिए अधिकतर दो विधियाँ अपनाई हैं। प्रथम आय योगकरण विधि (Aggregating of Income Method) और दूसरी उत्पत्ति गणना विधि (Census of Production Method)।

विभिन्न परिभाषाएँ—वास्तव में क्षमता जैसी मनोवैज्ञानिक बातों का कोई निर्पेक्ष माप नहीं होता। इनका तो केवल सापेक्षिक अध्ययन ही किया जा सकता है। यही कारण है कि अधिकतर लेखकों को कर-दान क्षमता की परिभाषा करने में कठिनाई हुई है। वैसे तो अनेक परिभाषाएँ दी गई हैं परन्तु इनमें से अधिकांश अस्पष्ट हैं। हम कुछ महत्वपूर्ण परिभाषाओं का अध्ययन यहाँ पर करेंगे :—

सर जोसिया स्टाम्प (Sir Josiah Stampe) के अनुसार "कर-दान क्षमता वह अधिकतम धनराशि है जो एक देश के नागरिक, राजकीय पदाधिकारियों के व्यय की ओर अपने अंशदान के रूप में, बिना आनन्दरहित तथा पददलित जीवन बिताये और आर्थिक संगठन में बिना बहुत अधिक उथल-पुथल किए," दे सकते हैं। इसी प्रकार ड्रमन्ड फ्रेजर का कथन है कि "जब कर-दाताओं को कर का भुगतान करने के लिए बैंकों से उधार लेना पड़े तो कर-दान क्षमता की सीमा आ जाती है।"[5] प्रो० फिनले शिराज़ के शब्दों में "कर-दान क्षमता न्यूनतम उपभोग के ऊपर उत्पादन का वह कुल आधिक्य है जो उतने ही उत्पादन को प्राप्त करने के लिए चाहिये, यदि जीवन-स्तर पूर्ववत् रहे।"[6] प्रो० शिराज ने कर-दान क्षमता को "निचोड़ की सीमा" भी कहा है।

वास्तव में ये परिभाषायें बहुत ही अस्पष्ट और संदिग्ध हैं। स्टाम्प का यह कहना कि व्यक्ति आनन्दरहित एवं पददलित हुए बिना ही कर का भुगतान कर सकें, स्पष्ट नहीं है, क्योंकि कोई भी ऐसा माप नहीं है और न कोई कसौटी ही ऐसी है जिसके आधार पर यह पता लगाया जा सके। आनन्द और पददलितता मानसिक परिस्थितियाँ हैं, जिनका कोई निश्चित माप नहीं। यह ही नहीं, यह सापेक्षिक भी है और इसलिए यह पता लगाना कि किस व्यक्ति की कौन सी सीमा है जहाँ वह आनन्दरहित तथा पददलित नहीं होगा, असम्भव है। इस प्रकार यह केवल सैद्धान्तिक दृष्टि से तथा दूर से ही उचित लगती है क्योंकि इस आधार पर कर-दान क्षमता का माप ही नहीं किया जा सकता। फ्रेजर का विचार तो और अस्पष्ट है। कदाचित् उनका यह विचार था कि व्यक्ति बैंक से केवल उसी समय उधार लेता है या बैंक उसे केवल उसी समय ऋण देता है जबकि उसकी

5. Quoted by Dalton, *Op. cit.*, p, 165.
6. *Wealth and Taxable Capacity*, p. 134.

कर-दान क्षमता समाप्त हो जाती है। क्योंकि यदि ऐसा नहीं था तो फ्रेजर ने इतनी निश्चिन्तता से बैंक से उधार लेने को ही कर-दान क्षमता की अन्तिम सीमा क्यों माना है ? हम सभी जानते हैं कि आजकल जब कि पग-पग पर व्यापारियों को बैंकों की आवश्यकता होती है, जब व्यक्ति उनसे धन उधार लेते हैं, तब फ्रेजर के अनुसार कर-दान क्षमता की माप करना असम्भव ही नहीं वरन् हास्यप्रद-सी भी दीखती है। इसके अतिरिक्त क्या यह सम्भव नहीं कि व्यक्ति कर भुगतान करने के लिए केवल बैंकों से ही ऋण प्राप्त करें और अन्य व्यक्तियों से न लें; यही कठिनाइयाँ शिराज की परिभाषा में भी मिलती हैं अर्थात् न्यूनतम उपभोग को किस प्रकार परिभाषित किया जाए ? निर्पेक्ष कर-दान क्षमता को परिभाषित करते हुए शिराज एक स्थान पर कहते हैं कि "यह कर लेने की वह सीमा है और करारोपण की उस अधिकतम मात्रा को सूचित करती है जो समाज के अधिकतम कल्याण के दृष्टिकोण से उत्पन्न तथा व्यय की जा सकती है।" इस परिभाषा की अस्पष्टता के सम्बन्ध में अधिक कहना उचित न होगा क्योंकि समाज का अधिकतम कल्याण करारोपण की कितनी मात्रा के आय तथा व्यय पर निर्भर होगा, इसको निश्चित करने की विधि का शिराज ने कहीं भी वर्णन नहीं किया है। डा० डाल्टन ने ऐलिगर के विचारों का भी विश्लेषण किया है। ऐलिगर का जो वाक्य उन्होंने दोहराया है वह इस प्रकार है कि कर-दान क्षमता की सीमा उस समय आ जाती है, "जब कर-दाताओं की जेब से इतना निकाल लिया जाये कि उनका उत्पादन करने का उत्साह कम हो जाय और जब क्षय की पूर्ति करने तथा बढ़ती हुई जनसंख्या में नये श्रमिकों को काम पर लगाने के लिए आवश्यक पूँजी उपलब्ध करने के लिए अपर्याप्त धन बचे।"

परन्तु इन सभी परिभाषाओं में एक सबसे बड़ी कमी यह है कि राजकीय व्यय की ओर कोई भी ध्यान नहीं दिया गया है। कर-दान क्षमता पर सम्पूर्ण वाद-विवाद निरर्थक होगा यदि हम राजकीय व्यय के महत्त्व को भुला दें, क्योंकि राजकीय व्यय से मनुष्यों की कर-दान क्षमता बढ़ती है और इस प्रकार करारोपण—राजकीय व्यय—कर-दान क्षमता—अधिक कर—अधिक राजकीय व्यय और फिर अधिक कर-दान क्षमता—क्रम यों ही चलता रहता है। डा० भार्गव ने इसी बात पर आधारित करके अपने विचार प्रकट किये हैं। उनके अनुसार "करारोपण की सीमा और राजकीय व्यय की भी, राजस्व के सिद्धान्त से व्यक्त होती है और राजस्व का आदर्श कहा जा सकता है।"[8] डा० भार्गव के कहने का अभिप्राय यह है कि करारोपण का सीमान्त त्याग, राजकीय व्यय की सीमान्त उपयोगिता के बराबर होना चाहिए। कदाचित् उनके कहने का आशय यह होगा (यद्यपि उन्होंने इसे स्पष्ट नहीं किया है) कि जिस बिन्दु पर राजकीय व्यय की सीमान्त उपयोगिता करारोपण के सीमान्त त्याग के बराबर हो, वही कर-दान क्षमता की सीमा होगी। अर्थात् जब करारोपण का

7. *Ibid*, p. 164.
8. R. N. Bhargava : *The Theory and Working of Union Finance in India.*

त्याग व्यय से प्राप्त उपयोगिता से अधिक है, तब कर-दान क्षमता की ऊपरी सीमा का उल्लंघन हो रहा है या कर-दान क्षमता समाप्त हो गई है और यदि व्यय की उपयोगिता करारोपण के त्याग की अपेक्षा अधिक है तो कर-दान क्षमता की ऊपरी सीमा अभी प्राप्त नहीं हुई है। जब ये दोनों साम्य की स्थिति में हों तब राष्ट्र की कर-दान क्षमता की ऊपरी सीमा पहुँच जाती है। यद्यपि यह विचार बड़ा ही विवेकशील दीखता है, किन्तु डा० भार्गव ने यह नहीं बताया कि कर-दान क्षमता का माप कैसे किया जावे ? उनके वर्णन से भी कुछ स्पष्ट नहीं होता, क्योंकि त्याग और उपयोगिता दोनों ही मानसिक परिस्थितियाँ हैं, जिनको मापा नहीं जा सकता। अतः उनका विचार भी कर-दान क्षमता को मापने में सहायता नहीं करता।

कौलिन क्लार्क (Collin Clark) ने इंगलैंड के सम्बन्ध में बताया था कि, "करारोपण की सुरक्षित ऊपरी सीमा राष्ट्रीय उत्पादन का 25% भाग है।" हो सकता है कि यह इंगलैंड के लिए उचित हो, परन्तु यह कैसे कहा जा सकता है कि यह सीमा प्रत्येक देश के लिए ठीक है। प्रत्येक देश की आर्थिक, राजनैतिक तथा सामाजिक परिस्थितियाँ पूर्णतया भिन्न होती हैं। जो सीमा एक देश के लिए अधिकतम हो सकती है वह दूसरे देश के लिए न्यूनतम भी हो सकती है, और तीसरे देश के लिए ऊपरी सीमा से भी ऊँची हो सकती है। इसके अतिरिक्त इंगलैंड के लिए भी यह क्या निश्चय है कि यह सीमा प्रत्येक समय के लिए ही सुरक्षित सीमा रहे। वास्तव में कर-दान शक्ति देश की आर्थिक परिस्थितियों पर अधिक निर्भर करती है। और आर्थिक दशा किसी देश की सदैव ही समान नहीं रहती। इसलिए यह कैसे कहा जा सकता है कि राष्ट्रीय उत्पादन का 25% भाग इंगलैंड के लिए, सभी समयों के लिए सुरक्षित ऊपरी सीमा होगी।

इन सब विचारों का अध्ययन करने के पश्चात् हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि किसी देश की कर-दान क्षमता मापने का विचार ही एक कल्पना है। हमने ऊपर जितने भी विचारों का विश्लेषण किया है वे सभी एक-दूसरे से भिन्न हैं। वे अस्पष्ट और संदिग्ध हैं। डाल्टन ने ठीक ही कहा है कि यदि हम राजस्व-सम्बन्धी विचार में स्पष्टता लाना चाहते हैं तो हमें कर-दान क्षमता के प्रश्न पर विचार नहीं करना चाहिए। डाल्टन निर्पेक्ष कर-दान क्षमता को तो एक कोरा भ्रम और धोका मानते हैं। प्रो० एडारकर ने भी डाल्टन जैसे विचार प्रकट किए हैं। उनका कथन है कि अधिकांश अर्थशास्त्री कर-दान क्षमता का स्पष्ट अर्थ बताने में असमर्थ रहे हैं। कर-दान क्षमता वाक्य का दुरुपयोग किया गया है। यह वाक्य ही गलत है। डाल्टन कहते हैं कि "मेरा साधारण निष्कर्ष यह है कि सापेक्षिक कर-दान क्षमता एक सच बात है, जो उचित रूप से दूसरे शब्दों में व्यक्त की जा सकती है, परन्तु निर्पेक्ष कर-दान क्षमता एक कल्पना है जिससे भयानक भूल होने की सम्भावना है।"[9]

कर-दान क्षमता किन बातों पर निर्भर करती है—कर-दान क्षमता अनेक बातों पर निर्भर करती है।

9. Dalton, *op. cit.*, pp 168—169

(१) **कर-प्रणाली का रूप एवं प्रकृति**—किसी देश की कर-दान क्षमता काफी अंश तक इस बात पर निर्भर करती है कि उस देश में कर-प्रणाली का रूप क्या है ? भिन्न-भिन्न प्रकार की कर-प्रणालियों में व्यक्तियों की कर-दान क्षमता भी भिन्न-भिन्न होती है। वास्तव में प्रणाली का रूप समुचित होना चाहिए। उसमें बीच-बीच में खाली स्थान न हों अर्थात् करों का मिश्रण इस प्रकार किया जाये कि प्रत्येक व्यक्ति पर किसी न किसी रूप में कर लग जाये। यदि किसी कर में व्यक्तियों के बच जाने की सम्भावना है तो दूसरा कर इस प्रकार लगाया जाये कि बचे व्यक्ति भी उसमें आ जायें। इससे कर की चोरी बची रहेगी और सरकार को पर्याप्त आय भी प्राप्त होती रहेगी। साथ ही कर-भार का वितरण भी न्यायपूर्ण होगा। आय कर सम्पत्ति या वस्तु-करों की अपेक्षा बहुत ही उत्पादक होता है और राष्ट्रीय संकट काल में उससे आय भी खूब बढ़ाई जा सकती है। परन्तु इससे यह आशय नहीं कि देश में केवल एक ही कर—आय-कर—लगाया जाये। एक या थोड़े से करों पर निर्भर करना ठीक नहीं होता। कम कर हों या अधिक आवश्यकता इस बात की है कि इन करों का मिश्रण एवं व्यवस्था इस प्रकार हो कि सरकार को हानि भी न हो और व्यक्तियों में कर-भार का वितरण भी न्यायपूर्ण हो जाये। नागरिकों को कर का भुगतान करना कष्टदायी न हो अर्थात् उनको कर के भुगतान करने में असुविधाएँ न हों। अतः हम कह सकते हैं कि एक देश जिसमें कर-प्रणाली का रूप अधिक समुचित है, उस देश की कर-दान क्षमता अधिक होगी अपेक्षाकृत उस देश के जहाँ कर-प्रणाली समुचित नहीं है। जितना कर का भार एकसार होगा या अधिक से अधिक व्यक्तियों पर प्रसारित होगा उतनी ही देर में कर-दान क्षमता अपनी अन्तिम सीमा तक पहुँचेगी।

(२) **राजकीय व्यय का आकार एवं उद्देश्य**—कर-दान क्षमता पर राजकीय व्यय का भी प्रभाव पड़ता है। राजकीय व्यय द्वारा, करारोपण के दोषों को दूर किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त करारोपण द्वारा जो धन व्यक्तियों की जेबों से निकाला जाता है वह नष्ट नहीं हो जाता है या उसे कुएं में नहीं डाल दिया जाता वरन् वह व्यक्तियों को ही लौटा दिया जाता है और उस पर फिर कर लगाया जाता है। यह धन राजकीय व्यय द्वारा लौटाया जाता है। जितना अधिक भाग करारोपण की आय का उत्पादक कार्यों में लगाया जायेगा अर्थात् ऐसी योजनाओं में लगाया जायेगा जिनसे व्यक्तियों की उत्पादन शक्ति में वृद्धि होती है, उतनी ही उस देश की कर-दान क्षमता अधिक होगी। इसी प्रकार यदि कोई देश विदेशी ऋणों का व्याज चुकाने में बहुत अधिक व्यय करता है, व्यक्तियों की कर-दान क्षमता कम हो सकती है। अतः जिस देश में जितनी अधिक मात्रा में राजकीय व्यय उत्पादन कार्यों पर लगाया जाएगा उतनी ही उस देश की कर-दान क्षमता भी अधिक होगी। राजकीय व्यय के आकार से अधिक महत्व राजकीय व्यय के उद्देश्य का होता है। जब व्यय का उद्देश्य जनता का कल्याण होता है अथवा कष्टों का निवारण करना होता है, जैसे अकाल-पीड़ितों की सहायता करना, निःशुल्क शिक्षा एवं चिकित्सा

प्रदान करना तब व्यक्तियों की कर-दान क्षमता में ही केवल वृद्धि नहीं होती वरन् व्यक्तियों में कर देने की इच्छा भी उत्पन्न हो जाती है और कर की चोरी भी रुक जाती है। परन्तु यदि व्यय अधिकारियों के वेतन में वृद्धि करने, विदेशियों को सहायता देने, सैनिकों पर खर्च करने के लिए किया जाता है तो एक तो जनता के कर देने की इच्छा कम होती जायेगी और दूसरे भविष्य में कर-दान क्षमता भी कम हो जायेगी। अतः राजकीय व्यय का उद्देश्य उसके आकार से कहीं अधिक महत्व-पूर्ण है।

(३) **करदाताओं की मनोवृत्ति**—कर-दान क्षमता करदाताओं की मनोवृत्ति पर भी निर्भर होती है। व्यक्ति कितना कर दे सकते हैं, इस बात पर निर्भर करता है कि सरकार के प्रति जनता की श्रद्धा कितनी है। अर्थात् जनता सरकार की नीतियों का समर्थन करती है या विरोध। यदि वह सरकार की नीतियों का समर्थन करती है तो सरकारी व्यय के लिए अपना अंशदान स्वेच्छा से देने को तैयार होगी और यदि वह सरकारी नीतियों का विरोध करती है तो सरकार की नीतियाँ केवल असफल ही नहीं होंगी और व्यय बेकार ही नहीं हो जावेगा वरन् भविष्य में कर-दान क्षमता में भी कमी होगी। विदेशी सरकार होने से जनता की उसके प्रति इतनी श्रद्धा नहीं होती जितनी अपनी राष्ट्रीय सरकार के प्रति होती है। भारत से अच्छा उदाहरण संसार में और कहीं नहीं मिल सकता। अतः विदेशी राज्य में व्यक्तियों की कर-दान क्षमता अपेक्षाकृत उन देशों के जहाँ स्वराज्य होता है, कम होती है। संकटकाल में जैसे लड़ाई, प्लेग, अकाल इत्यादि से व्यक्ति अधिक कर देने के लिए तत्पर रहते हैं। इसी प्रकार मंदी काल की अपेक्षा समृद्धिकाल में व्यक्तियों की कर-दान क्षमता अधिक होती है और फिर उनको कर का भुगतान करने में संकोच भी नहीं होता, क्योंकि व्यापार में मुनाफे भी बढ़ते रहते हैं और व्यक्तियों को रोजगार भी प्राप्त होते रहते हैं। सच तो यह है कि मन्दी काल में वातावरण निराशाजनक होता है और समृद्धि काल में आशाजनक, इसीलिए व्यक्तियों की मनोवृत्ति में भी परिवर्तन होते रहते हैं।

(४) **देश की जनसंख्या और राष्ट्रीय आय का अनुपात**—कुछ लेखकों का विचार है कि जनसंख्या जितनी अधिक होगी उतनी ही उस देश की कर-दान क्षमता अधिक होगी।[10] परन्तु यह विचार भ्रमात्मक है। केवल जनसंख्या के ही अधिक होने से कर-दान क्षमता अधिक नहीं होती। जनसंख्या के बढ़ने के साथ-साथ राष्ट्रीय आय में भी वृद्धि होनी चाहिये। सच तो यह है कि जनसंख्या की अपेक्षा राष्ट्रीय आय जितनी अधिक तीव्रता से बढ़ेगी उतनी ही कर-दान क्षमता अधिक होती जावेगी। इसके विपरीत यदि किसी देश की जनसंख्या राष्ट्रीय आय की अपेक्षा अधिक तेजी से बढ़ रही है तो कर-दान क्षमता कम होती जाती है। राष्ट्रीय आय स्थिर रहने की स्थिति में जनसंख्या की वृद्धि होने से कर-दान क्षमता कम होती जाती है। यह ध्यान रहे कि जनसंख्या देश की श्रमशक्ति होती है जो देश के साधनों के अधिकतम

10. Tandon and others, *Public Economics* (Hindi), p. 74.

उपयोग में सहायता करती है जिससे कि राष्ट्रीय आय में वृद्धि होती है। परन्तु यदि जनसंख्या के बढ़ने के साथ-साथ देश में साधन पर्याप्त मात्रा में न हों तो, न तो राष्ट्रीय आय में वृद्धि होगी और न कर-दान क्षमता ही अधिक होगी, अपेक्षाकृत उस देश के जहाँ प्राकृतिक साधन पर्याप्त मात्रा में हैं। अतः किसी देश की कर-दान क्षमता जनसंख्या और राष्ट्रीय आय के अनुपात पर निर्भर करती है। जब जनसंख्या राष्ट्रीय आय से अधिक है, तो कर-दान क्षमता कम होगी, जब जनसंख्या राष्ट्रीय आय से कम है तो कर-दान क्षमता अधिक होगी और जब दोनों साम्य की स्थिति में होंगे तो कर-दान क्षमता निचोड़ की सीमा पर होगी या अपनी ऊपरी सीमा पर होगी। परन्तु इन अनुपातों का भी केवल सापेक्षिक महत्व है।

(५) **देश में धन का वितरण**—देश की कर-दान क्षमता इस बात पर भी निर्भर करती है कि उस देश में धन का वितरण कैसा है। फिनले शिराज़ तथा अन्य लेखकों के अनुसार देश में जितना असमान वितरण होगा उतनी ही कर-दान क्षमता अधिक होगी और जितना धन का वितरण समान होगा उतनी ही कर-दान क्षमता कम होगी। दूसरे शब्दों में इन लेखकों के विचार को यों कह सकते हैं कि यदि देश में धन केवल थोड़े से ही व्यक्तियों के हाथों में केन्द्रित है तो सरकार अधिक धन एकत्रित कर सकेगी, क्योंकि एक तो कर वसूल करने में व्यय कम होगा दूसरे खूब धनी व्यक्ति कर का भुगतान सरलता से कर देंगे, अतः कर-दान क्षमता अधिक होगी। इसके विपरीत यदि धन का वितरण समान है अर्थात् सभी व्यक्तियों के पास धन की मात्रा समान है तो छोटी-छोटी आय वाले व्यक्तियों से कर वसूल करने का व्यय भी अधिक होगा और कर के आधार के सम्बन्ध में अधिक व्यक्तियों को सन्तुष्ट करना सरल नहीं होता और इसलिए विरोध होने की भी सम्भावना अधिक रहती है। परन्तु यह विचार तथ्यहीन है। धन के समान वितरण से यह ही अर्थ क्यों लिया जाए कि देश में सभी व्यक्तियों की आय छोटी होगी। समान वितरण की स्थिति में आय बड़ी-बड़ी भी हो सकती है अर्थात् सभी व्यक्तियों को आय बड़ी मात्रा में प्राप्त हो रही हो। इसके अतिरिक्त धन के समान वितरण का तर्कपूर्ण अर्थ यही है कि देश में आय प्राप्त करने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को समान अवसर प्राप्त हों तथा उन्नति करने के लिए समान सुविधाएँ उपलब्ध हों। यदि सभी व्यक्तियों को राज्य की ओर से शिक्षा, चिकित्सा, रोटी, कपड़े, मकान तथा कार्य करने के लिए समान सुविधाएँ प्राप्त हो रही हैं तो सभी व्यक्ति सन्तुष्ट रहेंगे और अपनी इच्छा से कर का भुगतान करने के लिए तैयार होंगे। ऐसी व्यवस्था में कोई पूंजी तथा सम्पत्ति एकत्रित नहीं करेगा क्योंकि सभी का भविष्य सुरक्षित रहता है। राज्य की अध्यक्षता में सभी समान होते हैं। ऐसी व्यवस्था को चलाने के लिए सरकार जो कुछ भी व्यय करेगी उसको पूरा करने के लिए प्रत्येक नागरिक अपना अंशदान देने को तैयार रहेगा। सरकार को कर वसूल करने के लिए अधिक कर्मचारी नहीं रखने पड़ेंगे और कर की चोरी भी नहीं होगी। ऐसी परिस्थितियों में देश की कर-दान क्षमता उन देशों की अपेक्षा जहाँ ऐसी व्यवस्था नहीं होगी,

अधिक होगी। वास्तव में नागरिक जितने अधिक राज्य से सन्तुष्ट होंगे उतना ही कर देने को अधिक तैयार रहेंगे। यह समझ में नहीं आया कि ये लेखक इस निष्कर्ष पर किस प्रकार पहुँचे कि धन के असमान वितरण में कर-दान क्षमता अधिक होगी। यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि धन के असमान वितरण में केवल कुछ ही व्यक्ति समृद्धिशाली होंगे, अधिकांश व्यक्ति निर्धन होंगे या बेकार होंगे। सरकार को उन मुट्ठी भर धनी व्यक्तियों से इतनी राशि भी प्राप्त नहीं होगी जितनी उसको निर्धन व्यक्तियों को सामाजिक सेवाएँ प्रदान करने में व्यय करनी पड़ेगी। देश के आर्थिक विकास की बात तो बिल्कुल अलग रही। क्या ऐसी स्थिति में हम कह सकते हैं कि देश की करदान क्षमता अधिक होगी? सच तो यह है कि राष्ट्रीय आय का ऊँचा स्तर और समान वितरण दोनों पर ही कर-दान क्षमता निर्भर करती है। ऊँची राष्ट्रीय आय, परन्तु असमान वितरण से कर-दान क्षमता कम होगी अपेक्षाकृत ऊँची राष्ट्रीय आय और समान वितरण के। दूसरी ओर नीची राष्ट्रीय आय और असमान वितरण में कर-दान क्षमता अधिक होगी अपेक्षाकृत नीची आय और समान वितरण के। असमान वितरण में बहुत ऊँची दर पर कर लगाने पर उतनी आय प्राप्त नहीं होगी जितनी समान वितरण में नीची कर की दर से प्राप्त होगी।

उपर्युक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि कर-दान क्षमता किसी एक कारण पर निर्भर नहीं होती। ऊपर के सभी या अधिकांश कारणों को किसी देश की कर-दान क्षमता का ज्ञान प्राप्त करते समय ध्यान में रखना होगा। कर-दान क्षमता का ज्ञान अकेले करारोपण के अध्ययन से या अकेले राजकीय व्यय के अध्ययन से प्राप्त नहीं हो सकता। यह भी ध्यान रहे कि, जैसा डाल्टन ने कहा है, कि केवल सापेक्षिक कर-दान क्षमता ही का विचार व्यावहारिक है, निर्पेक्ष कर-दान क्षमता तो केवल कल्पना मात्र है। डाल्टन ने इस प्रश्न के उत्तर में कि कर-दान क्षमता कैसे मापी जाये? केवल कैनन के शब्दों—कोई कैसे, नहीं (No how) का समर्थन किया है।[11] अर्थात् कैनन की भांति डाल्टन भी इस बात से सहमत हैं कि कर-दान क्षमता को निश्चित रूप से मापा ही नहीं जा सकता इसलिए 'कैसे' का प्रश्न ही नहीं उठता और न कोई उत्तर ही दिया जा सकता है। इसीलिए तो डाल्टन ने निर्पेक्ष करदान क्षमता के विचार का विरोध किया है क्योंकि उसमें माप करने की आवश्यकता होती है। सापेक्षिक करदान क्षमता को हम विभिन्न देशों की कर-दान योग्यता की तुलना करके मालूम करते हैं।

भारत में कर-दान क्षमता—भारत की कर-दान क्षमता के सम्बन्ध में बहुधा यह कहा गया है कि वर्तमान कर-भार असहनीय है, क्योंकि भारत एक निर्धन देश है, और भारत की कर-दान क्षमता अपनी सीमा तक पहुँच गई है। वास्तव में यह विचार भ्रमात्मक है। यदि सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से, धन के वितरण को ध्यान में रखकर, हम भारत की कर-दान क्षमता की बात करें, तो यही कहना होगा कि अभी

11. *Op. cit.*, p. 164.

कर-दान क्षमता अपनी अन्तिम सीमा तक नहीं पहुँची है, क्योंकि भारत में धन का वितरण वहुत अधिक असमान है। भारत में स्वदेशी सरकार है, इसलिए लोगों को कर देने में भी कोई आपत्ति नहीं है और आजकल सरकार सामाजिक कल्याण-सम्वन्धी कार्यों पर भी खूब व्यय कर रही है। इसके अतिरिक्त भारत में मुद्रा-स्फीति का भी काल चल रहा है और व्यक्तियों को खूब लाभ प्राप्त हो रहे हैं। इसलिये भारत की कर-दान क्षमता की अन्तिम सीमा अभी नहीं पहुँची है—इसी विचार से भारत में राज्य एवं केन्द्रीय सरकारें नित नये कर लगाती जा रही हैं। पुराने करों की न्यूनतम कर रहित सीमा को कम करती जा रही हैं और दरों को वढ़ाती जा रही हैं। पिछले कुछ ही वर्षों में राज्य सरकारों ने बिक्री-कर के क्षेत्र को वहुत अधिक विस्तृत कर दिया है। यहाँ तक कि अनाज, मिट्टी का तेल आदि आवश्यक वस्तुओं पर भी कर लगाना आरम्भ हो गया है। केन्द्रीय सरकार ने पिछले वर्षों में चार नये कर लगाने आरम्भ कर दिये हैं। वास्तव में जैसे-जैसे विकास-सम्वन्धी व्यय में वृद्धि हो रही है कर का भार भी वढ़ता जा रहा है। दूसरी लड़ाई से अब तक के काल में भारत की सरकारों को आय में पाँच गुनी से भी अधिक वृद्धि हो गई है। भारत सरकार की जो आय सन् १९३८-३९ में ८४·४७ करोड़ रुपये थी वह सन् १९६०-६१ में १०७९ करोड़ रुपयों से अधिक थी, अर्थात् १३ गुनी वृद्धि हो गई है। सन् १९६१-६२ में करों से कुल ७६८ करोड़ रुपये प्राप्त हुए थे। इसी प्रकार भारत में राज्यों की कुल आय सन् १९३८-३९ में ४०५ करोड़ रुपयों से अधिक थी जिसमें करों से प्राप्त आय २८१ करोड़ रुपए थी और सन् १९६१-६२ में १०२१ करोड़ रुपयों की कुल आय में करों से प्राप्त आय की कुल राशि ६११·५६ करोड़ रुपये थी। इस प्रकार देश में करारोपण में वृद्धि राष्ट्रीय आय की तुलना में वहुत अधिक हो गई है और व्यक्तियों पर कर-भार वढ़ता जा रहा है। करारोपण की नई नीतियों का समर्थन करते हुए श्री देशमुख, भूतपूर्व वित्तमंत्री ने एक वार संसद में कहा था कि भारत में करारोपण का कुल राष्ट्रीय-आय में प्रतिशत केवल ७ था जब फिलिपीन्स में ९·५, व्राजील में १४·४, क्यूवा में १५·३, मिश्र में १६ और लंका में २१·५ था। उनके कहने का अभिप्राय यह था कि भारत में करारोपण का स्तर वहुत नीचा था और अभी अधिक करारोपण की वहुत गुन्जाइश थी। परन्तु उन्होंने इस ओर ध्यान नहीं दिया कि भारत में जनसंख्या कितनी तीव्र गति से वढ़ रही है और मूल्य कितने अधिक वढ़ते जा रहे हैं, जवकि राष्ट्रीय-आय में वृद्धि वहुत ही कम हो रही है। भारत में जीवन-स्तर गिरता चला जा रहा है, इसीलिये भारतवासी नये करों का स्वागत नहीं करते। इसके अतिरिक्त भारत एक कृषि-प्रधान देश है जिसकी राष्ट्रीय आय प्रतिवर्ष फसलें ठीक होने पर वढ़ सकती हैं और फसलें खराव होने से घट सकती हैं। इसीलिये किसी एक वर्ष की राष्ट्रीय आय के अनुमान के आधार पर हम सभी समयों के लिए निश्चित परिणाम नहीं निकाल सकते।

कभी-कभी लोग यह सिद्ध करने के लिए कि भारत में कर-दान क्षमता अभी

अपनी अन्तिम सीमा पर नहीं पहुँची है, कौलिन क्लार्क के विचारों को दोहराते हैं, अर्थात् राष्ट्रीय आय का २५%भाग कर-दान क्षमता की अंतिम सीमा है। परन्तु हम पहले ही कह चुके हैं कि यह अनुमान सदैव के लिए सही नहीं बताया जा सकता। क्लार्क ने यह विचार इंगलैण्ड के सम्बन्ध में दिये थे। इंगलैण्ड के लिए भी यह सीमा सभी समयों के लिए निश्चित नहीं की जा सकती। प्राकृतिक संकटों के काल में यह सीमा बहुत ऊँची और आर्थिक समृद्धिकाल में यह सीमा बहुत नीची हो सकती है। यह भी ध्यान रहे कि, यह सीमा इंगलैंड जैसे विकसित देशों के लिए क्लार्क ने नियत की थी न कि भारत जैसे पिछड़े देशों के लिए। भारत में प्रति व्यक्ति आय बहुत कम है और इस आय का अधिकांश भाग उपभोग पर व्यय हो जाता है। इसी कारण पूँजी का निर्माण और विनियोगों की दर भी इतनी कम है। केवल कुछ मुट्ठी भर व्यक्ति ही कुछ बचा पाते हैं और उन्हीं में प्रत्यक्ष करों के भुगतान की योग्यता है। इसलिए भारत में पहले से प्रत्यक्ष कर लागू करने की आवश्यकता थी। परन्तु विदेशी सरकार ने इस ओर ध्यान ही नहीं दिया और उसने उल्टा अप्रत्यक्ष करों को अधिकाधिक लागू किया, जिसका परिणाम यह हुआ कि पूँजी का निर्माण बहुत कम हुआ और व्यक्तियों की कर-दान योग्यता गिरती ही गई। केवल स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद ही राष्ट्रीय सरकार ने प्रत्यक्ष करों की संख्या में वृद्धि की है और केलडोर के प्रस्तावों से उपहार-कर, धन-कर, व्यय-कर जैसे प्रत्यक्ष करों को लागू किया है। वास्तव में यह कहना अनुचित नहीं होगा कि भारत की कर-दान क्षमता केवल अपनी अन्तिम सीमा पर पहुँच ही नहीं गई है, वरन् उसका उल्लंघन भी कर चुकी है।

हमारे देश में केवल निर्पेक्ष कर-दान क्षमता का ही अनुमान लगाने की ओर प्रयत्न किये गये हैं। भारतीय कर जाँच आयोग, जो डा० जॉन मथाई की अध्यक्षता में नियुक्त किया गया था, उसका भी उद्देश्य देश की कर-प्रणाली तथा लोगों की निर्पेक्ष कर-दान क्षमता की जाँच करना ही था। हम ऊपर उन कारणों की विवेचना कर चुके हैं जिन पर कर-दान क्षमता निर्भर करती है। उन्हीं कारणों की विवेचना अब हम भारतीय परिस्थितियों को लेकर करेंगे।

(१) प्रथम, किसी देश की कर-दान क्षमता देश की धन-राशि अथवा राष्ट्रीय आय तथा राष्ट्रीय आय को उत्पन्न करने वाले साधनों पर निर्भर करती है। इसमें किसी को भी आपत्ति नहीं होगी कि भारत में कुल धन की राशि बहुत कम है। बचतों और पूँजी निर्माण की गति बहुत धीमी है। प्रति व्यक्ति आय बहुत कम है। हमने ऊपर राष्ट्रीय आय की गणना के लिए दो विधियों का वर्णन किया है। भारत में क्योंकि आंकड़ों की बहुत कमी है, इसलिये किसी भी विधि को राष्ट्रीय आय का पता लगाने के लिए उपयोग नहीं किया जा सकता है। सन् १९४८-४९ में भारत सरकार ने राष्ट्रीय आय की गणना करने के लिए 'राष्ट्रीय आय जाँच समिति' नियुक्त की थी। इस समिति ने विश्वनीय अनुमानों को प्राप्त करने तथा पूरे आर्थिक क्षेत्र का अध्ययन करने के लिए दोनों ही रीतियों का उपयोग किया था। समिति ने यह आरम्भ में ही स्पष्ट कर दिया है और लिखा है कि, "भारतीय आय

का अनुमान लगाने के लिए, निश्चय ही, सभी रीतियों पर सूचनाओं की प्राप्ति के लिए निर्भर करना पड़ा है। इस कारण न तो तालिका प्रणाली (Inventory method) या बनाई हुई वस्तुओं के मूल्य की रीति का ही उपयोग सम्भव हो सका है और न 'आय रीति' (Income method) का ही उपयोग अर्थ-व्यवस्था के सम्पूर्ण क्षेत्र की जाँच करने में किया जा सका है।[12] समिति ने देश की कुल कार्यशील शक्ति का अनुमान लगाया है और यह भी मालूम किया है कि इस शक्ति का वितरण विभिन्न व्यवसायों में किस प्रकार किया गया है। यह वर्गीकरण देश में स्थापित उद्योगों के आधार पर किया गया है। उद्योगों में कृषि उद्योगों को भी सम्मिलित किया है। समिति ने अनुमानित युक्तियों तथा मान्यताओं का बहुत प्रयोग किया है। जिन क्षेत्रों में यह प्रणाली काम नहीं कर सकी है वहाँ 'आय प्रणाली' का प्रयोग किया है। प्रत्येक वर्ग के सदस्यों की संख्या 'व्यावसायिक वर्गीकरण' के अनुसार इस प्रकार एकत्रित सूचनाओं के आधार पर मालूम की गई है और तब उनकी कुल आय का अनुमान लगाया गया है। इस योग में, विदेशों से प्राप्त आय को जोड़कर राष्ट्रीय आय को निकाला गया है। समिति ने सन् १६४८–४६ में प्रत्येक व्यक्ति पर शुद्ध उत्पत्ति (Net output) की गणना को निम्न तालिका द्वारा प्रदर्शित किया है।[13] :—

मदें	शुद्ध उत्पत्ति (अरब रुपयों में)	व्यस्त व्यक्तियों की संख्या (लाखों में)	प्रति व्यस्त व्यक्ति शुद्ध उत्पत्ति (हजार रुपयों में)
१. कृषि	४०५	६०५	०·५
२. खानें तथा फैक्ट्रियां	६·४	३८	१·७
३. छोटे उपक्रम	८·६	१४६	०·६
४. खाने, निर्माण उद्योगों तथा हस्त उद्योगों का योग	१५·०	१८७	०·८
५. रेलें तथा सम्वाद वाहन	३·२	१२	१·६
६. बैंकिंग बीमा तथा अन्य वाणिज्य और यातायात	१४·७	६५	१·५
७. वाणिज्य यातायात यथा सम्वाद वाहन का योग	१७·०	१०७	१·६
८. व्यवसाय तथा उदार कलायें	३·२	५०	०·६

12. *Report*, p. 61.
13. *Ibid.*, p. 31.

९. सरकारी नौकरियाँ	४·६	३६	१·३
१०. घरेलू सेवायें	१·५	४२	०·४
११. मकान सम्पत्ति	४५	—	—
१२. अन्य सेवाओं का योग	१३·८	१२८	१·१
१३. शुद्ध गृह उत्पत्ति	८७·३	१३२७	०·६६

ये आँकड़े देने के बाद समिति ने यह स्पष्ट कर दिया है कि इन आँकड़ों के आधार पर, लम्बे-चौड़े निर्णय लेना ठीक नहीं होगा, क्योंकि न तो वे प्रत्येक व्यवसाय में प्रति व्यक्ति उत्पादकता को ही ठीक-ठीक व्यक्त करते हैं और न ही प्रति व्यस्त व्यक्ति औसत आय को। समिति का अनुमान है कि सन् १९४८ की जनसंख्या के आधार पर प्रति व्यक्ति आय २५५ रुपये है।

सन् १९४८–४९ में जो जनसंख्या ३५ करोड़ से कुछ अधिक थी वह सन् १९६१–६२ में ४४ करोड़ के लगभग हो गई थी। इसी काल में राष्ट्रीय आय ८६५० करोड़ रुपयों से बढ़कर १२०८० करोड़ रुपये हो गई थी। अतः प्रति व्यक्ति आय २६७.९ रुपयों से ३२० रुपये हो गई। परन्तु क्या मौद्रिक आय के साथ-साथ वास्तविक आय में भी वृद्धि हुई है? यदि प्रचलित मूल्यों के आधार पर अनुमान लगाया जाये तो राष्ट्रीय आय ८६५० से बढ़कर ११,४१० करोड़ रुपये हो गई है और यदि सन् १९४८–४९ के मूल्यों के आधार पर राष्ट्रीय आय की गणना की जाये तो ८६५० करोड़ से बढ़कर ११०१० करोड़ रुपये हो गई है। सन् १९५९–६० में कुल आय १२८०० करोड़ रुपये थी। वास्तविक आय का ज्ञान प्राप्त करने के लिए हमको मूल्यों और मौद्रिक आय की प्रवृत्ति की ओर ध्यान देना होगा। चालू मूल्यों के आधार पर प्रति व्यक्ति आय सन् १९५३–५४ में २८१ रुपये होकर सन् १९५४–५५ में २५४ रुपये रह गई और १९५५–५६ में फिर २६१ रुपये और सन् १९५६–५७ में ३९४ और १९५९–६० में ३१८ रुपये हो गई। इस प्रकार इन आँकड़ों से सिद्ध होता है कि मूल्यों के बढ़ने से सामान्य रूप में आय का स्तर गिरता ही रहा है और इसलिए यह स्पष्ट है कि लोगों की वास्तविक आय में वृद्धि नहीं हुई है। अतः बढ़ती हुई जनसंख्या, ऊपर चढ़ता हुआ मूल्य-स्तर और स्थिर रहने वाला आय-स्तर इस बात को स्पष्ट करता है कि व्यक्तियों की कर-दान क्षमता अपनी ऊपरी सीमा का उल्लंघन कर चुकी है।

(२) कर-दान क्षमता को प्रभावित करने वाला दूसरा महत्वपूर्ण कारण देश की जनसंख्या होती है। देश का धन समान रहने की स्थिति में जनसंख्या बढ़ने से व्यक्तियों की कर-दान क्षमता कम होगी। कर-दान क्षमता केवल जनसंख्या के आकार पर ही निर्भर नहीं करती वरन् जनसंख्या की प्रवृत्ति पर भी निर्भर करती है। यदि जनसंख्या में बच्चों, बुड्ढों तथा स्त्रियों की संख्या अधिक है तो लोगों की कर-दान शक्ति कम हो जायेगी, क्योंकि यह लोग एक तो कुछ कमाते ही नहीं और अगर

कमाते भी हैं तो अपने भरण-पोषण के व्यय से बहुत कम । बहुत से परिवार ऐसे हैं जहाँ कमाने वाला तो केवल एक है परन्तु खाने वाले एक दर्जन हैं । परिणामस्वरूप उनकी कर-दान क्षमता कम होती है । भारत में संयुक्त परिवार प्रणाली के कारण कर-दान क्षमता बहुत कम है ।

(३) व्यक्तियों में जागृति और राष्ट्रीयता की भावना भी उनकी कर-दान क्षमता को प्रभावित करती है । जितनी अधिक राष्ट्रीयता की भावना होगी, देश-प्रेम होगा, उतना ही व्यक्ति स्वदेशी सरकार को सहयोग देंगे । हमारा देश स्वतन्त्र होते हुए भी व्यक्तियों में राष्ट्रीयता की भावना इतनी कम है और नागरिकता की इतनी कमी है कि वह अपने देश के लिए त्याग नहीं करना चाहते और साथ ही कर की चोरी करते हैं । अतः उनकी कर-दान क्षमता कम हो जाती है ।

(४) हमारे देश में कर-प्रणाली भी समुचित नहीं है । केलडौर ने अपने प्रस्ताव इसी के लिए प्रस्तुत किये थे । परन्तु सरकार ने अभी तक उन प्रस्तावों को पूर्णरूप से कार्यारोपित नहीं किया है और कर-प्रणाली में जो कमी पहले थी, वह अब भी विद्यमान है । अब भी देश में प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष करों में संतुलन नहीं हो पाया है । परिणामस्वरूप कर-प्रणाली न्यायसंगत नहीं है । हमारे देश में अधिकतर प्रतिगामी कर हैं, जिनसे आय भी उतनी प्राप्त नहीं होती, उल्टा कर-भार अधिक पड़ता है । इसका भी हमारे देश की कर-दान क्षमता पर बुरा प्रभाव पड़ता है ।

(५) हम पहले ही कह चुके हैं कि कर-दान क्षमता को केवल करारोपण के दृष्टिकोण से ही नहीं देखना चाहिए, वरन् राजकीय व्यय को भी दृष्टि में रखना चाहिए । यदि व्यक्तियों को उपयोगी सेवाओं के रूप में कुछ भी प्राप्त नहीं होता तो एक हल्का कर भी बोझ मालूम होगा । इसके विपरीत यदि सरकार सामाजिक सेवाओं तथा सामाजिक कल्याण की सुविधाएँ प्रदान करती है तो लोग भारी कर का बोझ वहन करने को तैयार रहते हैं । ऐसी स्थिति से केवल यही स्पष्ट होता है कि व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की संतुष्टि सामूहिक रूप से करना चाहते हैं, इसी कारण तो वे ऊँचा कर भी सहन करने को तैयार हैं । यदि राज्य निःशुल्क शिक्षा तथा औषधिक सहायता प्रदान करता है, मृतक व्यक्तियों के निर्भरकर्ताओं के भरण-पोषण का भार अपने ऊपर लेता है, प्रत्येक युवक के लिए नौकरी का प्रबन्ध करता है, तो वह नागरिकों की आय का अधिकांश भाग भी यदि कर के रूप में ले ले तो कोई भी चिन्ता नहीं करेगा । अन्य विकसित देशों में राज्य निर्धनों को सहायता प्रदान करता है, बीमारी तथा बेकारी बीमा की सुविधाएँ प्रदान करता है; वृद्धावस्था पैन्शनों की व्यवस्था करता है, उदार शिक्षा एवं चिकित्सा-सम्बन्धी सुविधाएँ प्रदान करता है । इसी कारण वहाँ कर-भार भी अधिक है, परन्तु व्यक्तियों को भार मालूम नहीं होता । भारत में सरकार की अधिकांश आय सैनिकों, नागरिक प्रशासन, ऋण-सम्बन्धी सेवाएँ आदि ग़ैर विकास-सम्बन्धी कार्यों पर व्यय होती है । सामाजिक सेवाओं के लिए बहुत कम आय शेष रहती है, इसी कारण तनिक भार भी बहुत अधिक मालूम पड़ता है । पिछले दस वर्षों से स्थिति काफी सुधर रही है । हमारा

व्यय सामाजिक सेवाओं पर बढ़ता जा रहा है और विकास-सम्बन्धी कार्यक्रमों पर भी सरकार का व्यय बहुत हो रहा है। परन्तु स्थिति पूर्णरूप से सन्तोषजनक नहीं है। अब भी गैर-विकास कार्यों पर व्यय बहुत अधिक है। देश के आकार एवं जनसंख्या को देख कर सामाजिक सुरक्षा-सम्बन्धी सेवायें बहुत कम हैं, मूल्य-स्तर ऊँचा है और जीवन-स्तर बहुत नीचा है। जनसंख्या बढ़ती जा रही है और राष्ट्रीय आय में इतनी वृद्धि नहीं हो रही है। इन सब कारणों से यही सिद्ध होता है कि भारत की कर-दान क्षमता की सीमा का उल्लंघन हो चुका है।

कर जाँच आयोग और कर-दान क्षमता—कर जाँच आयोग ने करारोपण-सम्बन्धी जो सुझाव दिए हैं, यदि इनको कार्यारोपित कर दिया जाये तो भारत में सरकारों की आय में एकदम १०० से १५० करोड़ रुपयों की वृद्धि हो जाएगी और दीर्घ काल में तो और भी अधिक वृद्धि होगी। इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि विकास कार्यक्रम को पूरा करने के लिए अधिक धन की आवश्यकता है। परन्तु यह भी एक निश्चित सीमा अर्थात् कर-दान क्षमता से अधिक नहीं बढ़ाया जा सकता और यदि ऐसा किया जाता है तो व्यक्तियों को बहुत कष्ट होंगे। आयोग की रिपोर्ट से विदित होता है कि वह भी इससे सहमत है। परन्तु न जाने उनके मस्तिष्क में कौन-सी लहर उठी कि बाद में उन्होंने अपने प्रारम्भिक मत की अवहेलना करते हुए लिखा कि (अ) राष्ट्रीय आय में करारोपण की आय का जो अनुपात है वह पाश्चात्य देशों में जिनमें कुछ दक्षिण-पूर्वी एशिया के देश भी सम्मिलित हैं, भारत की अपेक्षा बहुत ऊँचा है; और (ब) गत वर्षों में भारत की कर-दान क्षमता में बहुत वृद्धि हो गई है, क्योंकि सामाजिक तथा विकास-सम्बन्धी सेवाओं की ओर राजकीय व्यय बढ़ता जा रहा है।

भारत में जो स्थिति है, उसकी तुलना विदेशों से करना बिल्कुल बेकार होगा। उन देशों की कर-दान शक्ति बहुत ऊँची है। कर-दान क्षमता सोचने या कल्पना करने की बात नहीं है। यह इतनी मनोवैज्ञानिक दशा नहीं है जितनी भौतिक शक्ति है। हमारे देश में उपयोगी सेवाओं पर व्यय तो बढ़ गया है परन्तु धन का वितरण दोषपूर्ण होने के कारण इससे व्यक्तियों की कर-दान क्षमता में कोई वृद्धि नहीं हुई है। व्यक्तियों की मनोवैज्ञानिक दशा पर परिस्थितियों का प्रभाव पड़ता है। जब तक वास्तविक परिस्थितियाँ नहीं सुधरतीं तब तक मनोवृत्ति भी व्यक्तियों की नहीं सुधरेगी। जहाँ तक भौतिक परिस्थितियों का सम्बन्ध है भारत में इनमें कोई भी सुधार नहीं हुआ है और इसीलिए व्यक्तियों की कर-दान क्षमता में कोई वृद्धि नहीं हुई है। पाश्चात्य देशों में व्यक्तियों की वास्तविक आय, प्रति व्यक्ति औसत आय से कहीं अधिक होती है। इसीलिए उनकी कर-दान क्षमता अधिक है। भारत में अधिकांश व्यक्तियों की वास्तविक आय प्रति व्यक्ति औसत आय से बहुत कम है। बहुत से व्यक्ति बेकार हैं। इसीलिए हमारी कर-दान क्षमता बहुत कम है और उस समय तक नए करों के लिए कोई गुन्जाइश नहीं है जब तक कि देश में बेकारी दूर न हो, प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि न हो और वास्तविक आय प्रति व्यक्ति औसत आय से अधिक न हो।

भाग–४

संघीय वित्त-व्यवस्था

अध्याय १३

संघीय वित्त-व्यवस्था के सिद्धान्त

(PRINCIPLES OF FEDERAL FINANCE)

प्राक्कथन—

राज्य व्यक्तियों के सामूहिक जीवन का प्रतिनिधि है और मनुष्यों के सुसंगठित जीवन का प्रतीक है। जब मनुष्य ने झगड़े और लड़ाइयाँ, गुटबन्दी और असभ्यता का अन्त करके एक संगठित एवं व्यवस्थित जीवन व्यतीत करना आरम्भ कर दिया तो उन्होंने व्यवस्था एवं प्रबन्ध करने का कार्य सरकार को सौंप दिया। एक ही राज्य के नागरिक प्रजातन्त्रीय शासन-व्यवस्था में केवल एक सरकार द्वारा ही काम चला सकते हैं या अनेक स्तरों पर सरकार बना सकते हैं। जब एक देश में केवल एक ही सरकार होती है तो उसे एकक शासन (Unitary Government) कहते हैं। जब एक से अधिक सरकारें—व्यवहार में अधिकतर तीन—होती हैं तब उसे संघीय शासन (Federal Government) कहते हैं। भारत में अन्य देशों की भाँति संघीय शासन है।

एकक शासन-प्रणाली का यह अभिप्राय नहीं कि किसी एक स्थान पर बैठकर कोई शासक कुछ अफसरों के द्वारा शासन-प्रबन्ध करता रहता है। हाँ, यह सम्भव है कि राज्य को कुछ क्षेत्रों में विभाजित कर दिया जाये और हर क्षेत्र को एक शासक के अधीन छोड़ दिया जाए, जो सम्पूर्ण देश के शासक के अधीन रहे और उसकी इच्छानुसार उसके द्वारा बनाई गई नीतियों का पालन करे। अकबर ने अपने राज्य को कई प्रान्तों में बाँट दिया था और प्रान्तीय शासक पूर्णरूप से बादशाह के अधीन थे। इसके विपरीत, संघीय शासन में राज्य को जितने भागों में विभाजित किया जाता है, उन सभी को कुछ विषयों के अतिरिक्त अन्य मामलों में निर्णय लेने में पूर्ण स्वतन्त्रता होती है। जैसे भारत में रक्षा, डाक व तार, मुद्रा व

टकसाल के लिए राज्य पूर्ण रूप से केन्द्र के अधीन है। अन्य क्षेत्रों में राज्य पूर्ण रूप से स्वतन्त्र होते हैं। वे अपनी इच्छानुसार आय प्राप्त करते हैं और अपनी इच्छानुसार व्यय करते हैं। सन् १९३७ से पहले हमारे देश में प्रान्तों को कर लगाने का अधिकार नहीं था। वे बड़े-बड़े अधिकारी भी नियुक्त नहीं कर सकते थे और न वे किसी बड़ी योजना को अपने हाथ में ले सकते थे। संक्षेप में, प्रान्त केन्द्र के अधीन थे।

संघीय शासन-प्रणाली में अधिकतर तीन प्रकार की सरकारें होती हैं जो एक दूसरे के समानान्तर होती हैं। केन्द्रीय सरकार, जिसे संघ सरकार भी कहते हैं, के अधिकार प्रान्तीय सरकारों, जिन्हें राज्य सरकारें कहते हैं, से किसी प्रकार भी उच्च नहीं होते। राज्यों की अपनी भौगोलिक सीमायें होती हैं और वह पूर्ण रूप से स्वतन्त्र होते हैं। यदि देखा जाये तो विभिन्न सरकारों के अधिकारों एवं कर्तव्यों में टक्कर होने की सम्भावना रहती है। इसीलिए संविधान में इन सब सरकारों के अधिकारों और कर्तव्यों को स्पष्ट रूप से परिभाषित कर दिया जाता है, और सरकार इन अधिकारों और कर्तव्यों की पूर्ति करने के लिए अपने-अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र होती है[1]। वैसे तो एकक शासन-प्रणाली तथा संघीय शासन-प्रणाली, दोनों ही में राजस्व के सिद्धान्त लगभग समान होते हैं। परन्तु संघीय शासन-प्रबन्ध में कुछ ऐसी विशेषताएँ होती हैं जो एकक शासन-प्रणाली में नहीं होतीं। इसलिए विभिन्न क्रियाओं को संघीय, राज्य और स्थानीय सरकारों में विभाजित कर दिया जाता है। संघ सरकार को वे विषय सौंपे जाते हैं जो अन्तर्राष्ट्रीय होते हैं और जो सामान्य रूप से सभी राज्यों अर्थात् सम्पूर्ण देश से सम्बन्धित होते हैं। जिन्हें अगर किसी एक राज्य को सौंप दिया जाये तो यह सम्भावना हो सकती है कि अन्य राज्यों का हित अग्रसर न हो। देश की आन्तरिक शान्ति को बनाये रखने तथा सामाजिक जीवन को उन्नत करने के काम राज्यों को सौंप दिये जाते हैं। इनके अतिरिक्त जो विषय शेष रहते हैं उनमें से कुछ को संघ सरकार अपने हाथ में ले लेती है और कुछ राज्यों को दे देती है। इस विभाजन का आधारभूत सिद्धान्त यही है कि कुछ कार्य तो ऐसे हैं जिन्हें संघ की इकाइयाँ सामूहिक रूप से मिलकर अधिक कुशलता से कर सकती हैं, और कुछ ऐसे होते हैं जिन्हें प्रत्येक इकाई स्वतन्त्र रूप से अच्छी तरह कर सकती है। संघीय तथा एकक शासन-प्रणाली में कार्यों के विभाजन में केवल इतना ही अन्तर है कि जबकि संघीय प्रणाली में इकाइयों को स्वतन्त्रता होती है एकक प्रणाली में इकाइयाँ स्थायी रूप से स्वतन्त्र नहीं होतीं। केन्द्रीय सरकार जब भी चाहे इकाइयों से स्वतन्त्रता छीन सकती है। इस भेद के अतिरिक्त शेष सब बातें समान होती हैं। कुछ लोगों का विश्वास है कि जो सफलता सामूहिक प्रयत्नों से प्राप्त होती है वह स्वतन्त्र रूप से कार्य करने में नहीं होती और क्योंकि संघ सभी राज्यों की इच्छाओं का प्रतिनिधित्व करता है इसीलिए सभी कार्य संघ सरकार के द्वारा ही होने चाहियें। परन्तु कार्यों का विभाजन केवल इसी उद्देश्य से नहीं किया जा सकता

1. Baljit Singh : *op. cit.*, p. 71.

कुछ बातें और भी हैं जिन्हें ध्यान में रक्खा जाता है।

इस प्रकार के सामूहिक प्रयत्नों में यह आवश्यक है कि प्रत्येक राज्य संघ सरकार के अधीन रहे तभी एक संघ सभी कार्यों को सफलतापूर्वक सम्पन्न कर सकता है। परन्तु हर कोई स्वतन्त्र रहना चाहता है, इसीलिए प्रत्येक कार्य संघ सरकार सफलतापूर्वक नहीं कर सकती, क्योंकि सामूहिक प्रयत्नों से जो भी लाभ प्राप्त होगा वह राज्यों की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता समाप्त होने की क्षति से समाप्त हो जायेगा। यही कारण है कि सरकार के सारे कार्य संघ सरकार को नहीं सौंपे जाते। राज्यों को यह स्वतन्त्रता देश के संविधान द्वारा प्रदान की जाती है और स्थायी होती है। देश के शासन-प्रबन्ध में इसी स्वतन्त्रता के कारण कुशलता आती है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि संघ सरकार तथा राज्य सरकारों में कार्यों का विभाजन करते समय दो बातों में से किसी एक को आधार बनाना ही होगा। अर्थात्, या तो यह आधार मानना होगा कि सामूहिक प्रयत्न सदैव ही व्यक्तिगत प्रयत्नों की अपेक्षा अधिक अच्छे होते हैं या इस सिद्धान्त को स्वीकार करना होगा कि पराधीनता से स्वाधीनता सदैव ही अच्छी होती है। यदि हम दूसरे सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं तो यह निश्चित करना होगा कि कौन से कार्य ऐसे हैं जिनके लिए सामूहिक सहयोग या प्रयत्न आवश्यक हैं या जो सामूहिक प्रयत्नों द्वारा सबसे अधिक कुशलता से सम्पन्न किये जा सकते हैं। संघ सरकार एक प्रकार का बड़े पैमाने का संगठन है। संघ सरकार के स्रोत बहुत अधिक होते हैं। वह बहुत बड़ी-बड़ी योजनाओं को अपने हाथ में ले सकती है। बड़े पैमाने की उत्पत्ति के लाभ प्राप्त हो सकते हैं, और व्यक्तिगत साधनों का अधिकतम उपभोग हो सकता है। केवल उत्पत्ति में ही नहीं वरन् नियोजन तथा अन्य क्षेत्रों में भी यह प्रणाली उपयोगी सिद्ध होती है। संघ सरकार के नेतृत्व तथा निर्देशन में, विभिन्न राज्यों द्वारा निर्मित योजनाओं में समन्वय स्थापित हो सकता है, यदि संघ सरकार उनको समन्वित (co-ordinate) न करे तो वे सारी योजनायें देश के समुचित विकास में सहायक सिद्ध नहीं होंगी। इसी प्रकार देश की सुरक्षा में भी राज्यों का सहयोग आवश्यक होता है। अतः कुछ कार्य ऐसे होते हैं, जिनको राज्य स्वतन्त्र रूप से सम्पन्न नहीं कर सकते क्योंकि या तो उनका कोई एक सामान्य उद्देश्य नहीं होता या उनके व्यक्तिगत हित एक दूसरे से टकराते हैं या वित्तीय साधनों की कमी होती है। इसीलिए ऐसे कार्य संघ सरकार द्वारा किये जाते हैं।

कुछ लोगों का कहना है कि संघ सरकार तथा राज्यों में कार्यों का विभाजन इस कारण भी होता है कि सरकारी कार्य दो प्रकार के होते हैं—प्रथम वे कार्य जिनका महत्व सम्पूर्ण देश के लिए होता है और दूसरे वे कार्य जिनका केवल स्थानीय महत्त्व ही होता है। पहली प्रकार के कार्य संघ सरकार द्वारा किये जाने चाहिएँ और दूसरी प्रकार के कार्य स्थानीय एवं राज्य सरकारों को करने चाहिए। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि जिन कार्यों का क्षेत्र अधिक विस्तृत है अर्थात् जिनसे अधिक व्यक्तियों को लाभ होता है, उन कार्यों को केन्द्रीय सरकार को करना

चाहिए और जिन का क्षेत्र अपेक्षाकृत संकीर्ण है उनको प्रान्तीय सरकारें करें।[2]

वित्तीय स्रोतों का विभाजन—सरकारों को जो कार्य सौंपे जाते हैं उनको पूरा करने के लिए उन्हें साधनों की आवश्यकता होती है। ये साधन कई प्रकार से एकत्रित किये जा सकते हैं। एक विधि तो यह हो सकती है कि संघ सरकार सब धन को एकत्रित करे और राज्यों को उसका एक भाग दे दे। दूसरी विधि यह हो सकती है कि राज्य सरकारें सारे वित्तीय साधन जुटायें और प्राप्त आय का एक भाग संघ सरकार को दे दें, ताकि वह अपने कार्यों को सम्पन्न कर सके। अन्तिम विधि यह हो सकती है कि अपने क्षेत्रों में दोनों सरकारें कर इत्यादि द्वारा आय प्राप्त करें और अपने कार्यक्रमों को पूरा करें। अन्तिम विधि में या तो यह हो सकता है कि दोनों सरकारें सभी प्रकार के कर इत्यादि लगायें और आय प्राप्त करें या यह हो सकता है कि वित्तीय स्रोतों को दोनों सरकारों के बीच बाँट दिया जाये और जो सरकार एक प्रकार का कर लगाये वह दूसरी सरकार न लगाये। अतः आय के स्रोत दोनों सरकारों के पूर्णतया अलग-अलग हों, और कुछ कर ऐसे निश्चित कर दिये जायें जिनको दोनों सरकारें लगायें। जब दोनों सरकारों को कर लगाने का अधिकार हो तो वह या तो अपने-अपने क्षेत्र में प्राप्त आय को अपने लिये रक्खें और अपने उपयोग में लायें या दोनों अपनी-अपनी आय को एक स्थान पर इकट्ठा कर लें और फिर अपनी आवश्यकताओं के अनुसार उसे बाँट लें या अपनी-अपनी आय अपने पास रखकर कोई एक सरकार अपनी आय में से दूसरी सरकार को उसकी आवश्यकतानुसार दे दे। सरकारी वित्त-व्यवस्था में एक रूपता लाने के लिये बहुधा यह प्रस्ताव दिया गया है कि आदर्श-व्यवस्था वही होगी जिसमें सब सरकारें अपने क्षेत्रों में उन करों को लगायें तथा सेवाओं को प्रदान करें जिनके लिए उनमें कुशलता है और इस प्रकार एकत्रित आय को अपनी-अपनी आवश्यकताओं के अनुसार बाँट लें परन्तु इस प्रकार की व्यवस्था में अनेकों कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं, जैसे यह कैसे निर्धारित किया जाये कि कोई सरकार किन-किन करों को लगाने या सेवायें प्रदान करने में कुशल है? कुशलता का माप किस आधार पर किया जाये? राज्यों की कौनसी आवश्यकतायें उचित हैं, और कौनसी अनुचित? आय के वितरण का क्या आधार हो? इत्यादि। यह भी सम्भव है कि जिस आधार पर हम यह निर्णय करें कि एक राज्य विशेष एक कर विशेष लागू करने में कुशल है अथवा अकुशल, उससे वह राज्य सहमत न हो या उस कर को लगाने के लिए तैयार न हो। कर एकत्रित करने की कुशलता इस बात पर निर्भर करती है कि उस कर से प्राप्त आय का उपयोग कौन करेगा? यदि प्राप्त आय को वही सरकार उपयोग में लायेगी जिसने उसको लागू कर रक्खा है तो वह बड़ी कुशलता से कार्य करेगी और यदि कोई दूसरी सरकार उस आय का उपयोग करती है तो कर लगाने वाली सरकार हतोत्साहित हो जायेगी और उसकी कुशलता भी कम हो जायेगी। इसीलिए प्रायः जो सरकार कर लगाती है वही उसकी आय को अपने उपयोग में लाती है। यह

2. M. M. Khan, *Federal Finance*, p. 29.

भी हो सकता है कि जब संघ तथा राज्य सरकारों में आय के स्रोतों का विभाजन किया जाय तब उनकी आय आवश्यकताओं के अनुकूल न हो और फिर कुछ स्रोतों को दोनों सरकारों के बीच टुकड़े करके बाँटना पड़े। ऐसी स्थिति में एक सरकार को दूसरी सरकार पर अपनी आय के थोड़े से भाग के लिए निर्भर करना पड़ता है।

संघीय वित्त-व्यवस्था के सिद्धान्त—उपर्युक्त विवरण के पश्चात् हम संक्षेप में कह सकते हैं कि संघीय वित्त की मुख्य रूप से दो समस्यायें होती हैं। प्रथम, विभिन्न सरकारों में आय के स्रोतों का विभाजन किस प्रकार हो? और क्योंकि यह सम्भव नहीं है कि प्रत्येक सरकार की आय उसकी आवश्यकताओं के अनुकूल हो इसीलिये दूसरी समस्या इस बात की है कि प्रत्येक सरकार की आय और आवश्यकताओं में संतुलन किस प्रकार किया जाय? इन दोनों समस्याओं का अध्ययन करने से पहले यह आवश्यक प्रतीत होता है कि हम संघीय वित्त व्यवस्था के सिद्धान्तों को बता दें वैसे तो हम इनका वर्णन कहीं-कहीं पर पहले कर ही आये हैं। ये सिद्धान्त निम्न प्रकार हैं :—

(१) **एकरूपता (Uniformity)**—संघीय वित्त-व्यवस्था का पहला सिद्धान्त यह है कि संघ की प्रत्येक इकाई, संघ सरकार को, किसी सामान्य महत्त्व वाले भार को सहन करने में समानता के आधार पर अपना-अपना अंशदान दे। अर्थात् संघ सरकार द्वारा लगाये गये करों का भुगतान करने के लिये किसी एक राज्य के व्यक्तियों को दूसरे राज्य के व्यक्तियों अपेक्षा कोई विशेष रियायतें या कटौतियाँ न की जायें। सभी नागरिकों के साथ समान व्यवहार किया जाये। परन्तु व्यवहार में इस प्रकार की समानता स्थापित करना सम्भव नहीं होता क्योंकि संघ की प्रत्येक इकाई के पास समान साधन नहीं होते और न ही उनका व्यय समान होता है। अपने ही देश में देखिए कि यदि आसाम से यह आशा की जाय कि वह उतना ही अंशदान दे जितना कि बम्बई राज्य देता है तो यह अन्यायपूर्ण होगा, क्योंकि एक तो आसाम में बम्बई जैसे साधन नहीं हैं और दूसरे आसाम को बम्बई की अपेक्षा अपना विकास करने में अधिक धन का व्यय करना होता है। अतः राजकोषीय-नीति (Fiscal Policy) में समानता स्थापित करना असम्भव ही होता है।

(२) **स्वतन्त्रता (Independence)**—संघीय वित्त-व्यवस्था का दूसरा सिद्धान्त यह है कि संघ में सम्मिलित होने वाली प्रत्येक इकाई आर्थिक क्षेत्र में स्वतन्त्र हो।[3] दूसरे शब्दों में प्रत्येक राज्य के पास अपने कामों को पूरा करने के लिए अपने-अपने साधन हों। वह अपनी इच्छानुसार कर लगा सके व ऋण उगा सके और आय को खर्च करने के लिए पूर्णरूप से स्वतन्त्र हो। संघ की एक इकाई अपनी आय के लिए किसी दूसरी इकाई पर निर्भर न हो। परन्तु व्यवहार में सम्पूर्ण स्वतन्त्रता सम्भव नहीं होती। यह तो सच है कि एक इकाई किसी दूसरी इकाई पर निर्भर नहीं होती, परन्तु प्रत्येक इकाई को संघ सरकार पर निर्भर रहना होता है। इसके दो

3. See : B. P. Adarkar, *The Principles and Problems of Federal Finance.* p. 219.

कारण हैं—एक तो यह कि अधिकतर संघ सरकार अपने लिए आय के अधिक स्रोत रख लेती है, साथ ही ये स्रोत लोचपूर्ण होते हैं, दूसरे कुछ स्रोत ऐसे होते हैं जिनको टुकड़ों में बाँटा नहीं जा सकता, इसलिए संघ सरकार उनको अपने पास ही रखती है और उनकी आय में से एक निश्चित प्रतिशत राज्यों को दे देती है। इसके अतिरिक्त राज्यों को संघ से कुछ आर्थिक सहायता भी प्राप्त होती रहती है। एक प्रकार से राज्यों को इस सहायता के लिए भी संघ सरकार का मुँह ताकना पड़ता है।

(३) **पर्याप्तता (Adequacy)**—संघीय वित्त-व्यवस्था का तीसरा सिद्धान्त यह है कि प्रत्येक सरकार को आय के जो भी स्रोत दिये जायें वह उनके कार्यों के पूरा होने के लिए पर्याप्त हों। साधनों की पर्याप्तता से केवल यही अभिप्राय नहीं है कि सरकारों की केवल वर्तमान आवश्यकताओं की ही पूर्ति हो सके वरन् इसका अभिप्राय यह भी है कि भविष्य में उत्पन्न होने वाली आवश्यकताओं की भी पूर्ति की जा सके। दूसरे शब्दों में, आय के साधन लोचपूर्ण होने चाहियें, अर्थात् भविष्य में आवश्यकताओं की वृद्धि के साथ-साथ उन साधनों से प्राप्त आय भी बढ़ाई जा सके। बहुधा ऐसा होता है कि राज्यों को ऐसे मद दे दिये जाते हैं, जिन पर भविष्य में खर्चा तो बढ़ता जाता है परन्तु उनके साधनों से उसी अनुपात में आय नहीं बढ़ती। भारत में बिल्कुल यही स्थिति है। दूसरी ओर केन्द्रीय सरकार के पास ऐसी मदें हैं जिन पर सामान्य परिस्थितियों में तो व्यय, समान रहता है, परन्तु संकटकाल में व्यय में वृद्धि होने के साथ-साथ आय को आवश्यकतानुसार बढ़ाया जा सकता है। ऐसी स्थिति में राज्यों को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करना कठिन हो जाता है। इसी कारण विभिन्न सरकारों में आय के स्रोतों का विभाजन इस प्रकार किया जाये कि (अ) विभिन्न सरकारों को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए आय के ऐसे साधन दिए जायें कि साधारण परिस्थितियों में पर्याप्त आय प्राप्त होने के बाद भविष्य के लिए कुछ बचा कर रखा जा सके। (ब) वित्तीय ढांचा ऐसा हो कि आवश्यकता के समय साधनों में पुनर्वितरण या उलटफेर की जा सके।

(४) **प्रशासन की कुशलता (Administrative Efficiency)**—संघीय वित्त व्यवस्था का अन्तिम सिद्धान्त यह है कि वित्तीय प्रशासन में कुशलता बनी रहे और कर-दाताओं का हित सुरक्षित रहे। कर इस प्रकार लगाये जायें कि उद्योग तथा व्यापार पर उसका बुरा प्रभाव न पड़े बल्कि वे उन्हें प्रोत्साहित करें। करों की व्यवस्था ऐसे की जाये कि कर-वंचन कम से कम हो, अर्थात् सरकारी खजाने में बिना व्यक्तियों पर कर-भार बढ़े अधिक धन एकत्रित हो और संघ की सभी इकाइयों पर करों का भार एकसा पड़े। ऐसा न होने पर कुछ राज्यों की औद्योगिक उन्नति अधिक हो जायेगी और कुछ पिछड़ी हुई अवस्था में ही रह जायेंगे। इसके अतिरिक्त यह भी आवश्यक है कि जो राज्य जिस कर को लगाये और वसूल करे वही उसकी आय का उपयोग करे। ऐसा न होने पर एक तो कर का प्रबन्ध करने में कुशलता नहीं आयेगी और दूसरे केवल खर्च करने वाले राज्य, दूसरे राज्यों द्वारा कमाई हुई

आय को, बड़ी लापरवाही से खर्च करेंगे।

वित्तीय साधनों में फेर-बदल (Re-allocation of Financial Resources)—प्रत्येक देश में साधनों को इसी प्रकार विभाजित करने की चेष्टा की जाती है परन्तु यह विभाजन एक टेढ़ी खीर है, और इसमें सदैव ही कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं। प्रथम, साधनों के बीच ऐसी कोई विभाजन रेखा खींचना कठिन है, जिससे यह कहा जा सके कि ये साधन संघ सरकार के लिए ठीक रहेंगे और ये राज्य सरकार के लिए। दूसरे, राज्य तथा संघ सरकार के बीच सम्पूर्ण विभाजन, अर्थात् ऐसा विभाजन कि प्रत्येक सरकार को बिल्कुल अलग-अलग आय के स्रोत मिल जायें, सम्भव नहीं है। विभिन्न सरकारों को आय के जो भी साधन मिलें वे या तो उनकी आवश्यकताओं के अनुकूल हो सकते हैं या उससे कम या अधिक। कुछ साधन तथा कार्य ऐसे होते हैं जिन्हें पूर्ण रूप से या तो राज्यों के क्षेत्र के लिए सौंपा जा सकता है या संघ सरकार के लिए, और कुछ ऐसे होते हैं जिनमें दोनों सरकारों को ही काम करने का अधिकार है। संघ शासन-प्रबन्ध में ऐसे कार्यों को समवर्ती (concurrent) कार्य कहते हैं, कार्यों की भाँति स्रोत भी समवर्ती होते हैं। समवर्ती क्षेत्रों में मतभेद प्रायः उत्पन्न होते ही रहते हैं; जिन्हें संविधान द्वारा तय किया जाता है। किसी देश में ऐसा भी होता है कि संघ सरकार को यह अधिकार दे दिया जाता है कि वह कर का रूप, कर की विधि एवं व्यवस्था के लिए सामान्य शर्तें निर्धारित कर दे और राज्य उन शर्तों के अनुसार काम करें, अतः संघ सरकार ढांचा तैयार करती है और राज्य सरकारें उसी के अन्तर्गत नियम बनाती हैं तथा कर निर्धारित करती हैं।

वैसे तो साधारणतया, प्रत्येक सरकार को अपने-अपने क्षेत्र में कर लगाने, कर की दर निर्धारित करने तथा वसूल करने की पूर्ण स्वतन्त्रता होती है, परन्तु जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं कि प्रायः सरकारों की आवश्यकताओं और उनकी आय में संतुलन नहीं होता। इस सन्तुलन को स्थापित करने के लिए वित्तीय साधनों में विभिन्न प्रकार की फेर-बदल करनी होती है। अब हम उन विधियों का वर्णन करेंगे जिनका उपयोग साधनों की उलट-फेर करके सन्तुलन स्थापित करने में किया जाता है।

(१) **कर आय का वितरण**—जब एक सरकार (प्रायः यह संघ सरकार ही होती है) कर लगाती है और उसकी आय को अन्य सरकारों में विभाजित किया जाता है तो ऐसी व्यवस्था को समर्पण (assignment) की विधि कहते हैं। इस विधि को अपनाने से पहले यह निश्चित करना होता है कि आय का वितरण किस ढंग पर किया जाये? सिद्धान्त तो अनेक हैं और हर एक सिद्धान्त को व्यवहार में अपनाया गया है। प्रो० बी० पी० अडारकर ने इन विधियों की बड़े ही सुन्दर एवं रोचक ढंग से विवेचना की है। कर की आय का वितरण कई ढंगों से किया जा सकता है: (१) एक सरकार के लिए एक निश्चित धन राशि नियत करदी जाये और शेष को अन्य सरकारों में बांट दिया जाये; (२) कुल आय को एक निश्चित अनुपात में विभिन्न सरकारों में बाँट दिया जाये; (३) एक सरकार को एक

निश्चित धन राशि देकर शेष आय को अन्य सरकारों में एक निश्चित अनुपात में बाँट दिया जाये। आय का वितरण या तो जनसंख्या या क्षेत्र या दोनों के आधार पर किया जा सकता है, या उनकी अन्य स्रोतों से प्राप्त आय के अनुपात में किया जा सकता है।

प्राय: व्यवहार में समर्पण की विधि अधिक सफल नहीं हुई है। इसके कई कारण होते हैं। जब तक उस सरकार को, जो कर इकट्ठा करती है, प्राप्त हुई आय को स्वयं उपयोग में लाने की पूर्ण स्वतन्त्रता नहीं होती उस समय तक वह कर इकट्ठा करने में रुचि से काम नहीं लेती और जब उसका हिस्सा निश्चित कर दिया जाता है तब तो वह और भी लापरवाह हो जाती है। यदि यह वितरण विभिन्न सरकारों को अन्य स्रोतों से प्राप्त आय के अनुपात में किया जाता है तो और भी कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं अर्थात् कम आय वाली सरकार को कम और अधिक आय वाली सरकार को अधिक हिस्सा मिलेगा, जिसके दुष्परिणामों को भली-भाँति सोचा जा सकता है। इसके विपरीत यदि कम आय वाली सरकार को अधिक और अधिक आय वाली को कम हिस्सा दिया जाता है तो अन्य प्रकार की कठिनाइयाँ उत्पन्न होंगी। अधिक आय वाली सरकारें विरोध करेंगी और कहेंगी कि उनका अंशदान अधिक होते हुए भी उनको कम दिया जाता है, जैसे भारत में बम्बई और मद्रास को सदैव ही आय कर के वितरण पर आपत्ति रही है, और यह भी हो सकता है कि वह कर को इकट्ठा करने में पहली जैसी रुचि लेना बन्द कर दे। इसके अतिरिक्त यह भी हो सकता है कि कर आय का अधिक भाग प्राप्त करने के लिये वह अन्य स्रोतों से प्राप्त आय को लापरवाही से इकट्ठा करें और आय को कम करने का प्रयत्न करें, जिससे सम्पूर्ण देश का ही अहित होगा। किसी-किसी देश में कर आय को विभिन्न सरकारों के व्यय तथा आवश्यकताओं या विभिन्न सरकार द्वारा इकट्ठी की गई कर राशि के अनुपात में भी बाँटा जाता है। चाहे कोई भी विधि क्यों न अपनाई जाये सभी में कुछ न कुछ कठिनाइयाँ अवश्य ही दृष्टिगोचर होती हैं। इसलिये विभिन्न सरकारों को नैराश्य (frustration) से बचने के लिये यह नितान्त आवश्यक है कि कोई स्थायी आधार या सिद्धान्त निश्चित कर दिया जाये, क्योंकि मनमाने ढंग से विभिन्न सरकारों का हिस्सा नियत करना न्यायसंगत नहीं है। साथ ही यह भी आवश्यक है कि परिस्थितियों के परिवर्तन के साथ-साथ विभिन्न सरकारों के हिस्सों में भी परिवतन होते रहें। भारत में वित्तीय व्यवस्था में इस ओर विशेष ध्यान दिया गया है। हर पाँच वर्ष बाद वित्त आयोग की नियुक्ति की जाती है, जो परिस्थितियों का अध्ययन करके, यदि आवश्यकता होती है तो कुछ परिवर्तन कर सकता है।

(२) अतिरिक्त कर (Supplementary Taxes)—इन कठिनाइयों को दूर करने के लिए, एक और विधि अपनाई जाती है, वह यह कि जबकि एक सरकार (प्राय: संघ सरकार) को एक कर विशेष लगाने का अधिकार होता है, अन्य सरकारें उस कर के ऊपर अतिरिक्त कर लगा सकती हैं। केन्द्रीय सरकार किसी कर

विशेष को लागू करे और राज्य सरकारें उस पर अतिरिक्त कर लगाकर आय प्राप्त करें या विभिन्न राज्य सरकारें कोई कर लगायें तो उस पर संघ सरकार अतिरिक्त कर लगा कर आय प्राप्त कर ले। दूसरी विधि अधिक रुचिकर नहीं होती, क्योंकि राज्य सरकारों द्वारा लगाये गये करों की दर प्रायः असमान होती हैं। उन पर यदि संघ सरकार अतिरिक्त कर लगाये तो एकरूपता नहीं आयेगी। पहली विधि अधिक सरल है। संघ सरकार द्वारा लगाये गये करों पर विभिन्न राज्य सरकारें जिस दर से चाहें अतिरिक्त कर लगा सकती हैं, परन्तु यह दर साधारणतया निश्चित कर दी जाती है। कर केवल एक ही सरकार द्वारा एकत्रित किया जाता है और अतिरिक्त-कर की आय को विभिन्न राज्य सरकारों को दे दिया जाता है। यह अवश्य है, कि इस विधि में विभिन्न सरकारें अधिक स्वतन्त्र होती हैं। परन्तु इसमें कई प्रकार की शंकायें रहती हैं, जैसे दो बार कर लगने से व्यक्तियों पर कर का भार बहुत अधिक हो जायेगा, कर की दर बहुत ऊँची होने से उत्पत्ति एवं बचतें हतोत्साहित होंगी, कर की आय कम होने लगेगी और अन्त में संघ तथा राज्य सरकारों में मतभेद भी उत्पन्न हो सकते हैं। हर एक, कर का उपयोग अपने-अपने लाभ के लिए कर सकती है।

(३) **संघीय आर्थिक सहायता**—विभिन्न राज्यों में वित्तीय सन्तुलन स्थापित करने की तीसरी विधि यह हो सकती है कि संघ सरकार राज्य सरकारों को आर्थिक सहायता प्रदान करे। यह सहायतायें या तो शर्त सहित होती हैं या शर्तहीन, और अधिकतर एक निश्चित विधान के अनुसार नियत की जाती हैं। ये सहायतायें या तो स्थायी होती हैं या अस्थायी या परिवर्तनीय होती हैं। इन सहायताओं का मुख्य उद्देश्य विभिन्न राज्यों को उनकी आवश्यकताओं के अनुसार आय के स्रोत प्रदान करना होता है। इनका उद्देश्य विभिन्न राज्यों की वित्तीय स्थिति में एकरूपता भी लाना होता है। संघ सरकार पिछड़े हुए क्षेत्रों को अधिक सहायता दे सकती है और उन्नत क्षेत्रों को कम सहायता दे सकती है। कभी-कभी संघ सरकार किसी विशेष योजना को कार्यान्वित करने के लिए भी राज्यों को अनुदानों (Grants-in-aid) के रूप में आर्थिक सहायता दे सकती है। इसमें संघ सरकार स्वयं व्यय की देखभाल रखती है। व्यवहार में इन अनुदानों को अधिक सफलता प्राप्त हुई है। यह सम्भव है कि पहले प्रकार की आर्थिक सहायताएँ, जिनको खर्च करने के लिए राज्य पूर्णतया स्वतन्त्र होते हैं, अपव्ययिता के साथ खर्च की जा सकती हैं, परन्तु दूसरे प्रकार की सहायता का दुरुपयोग नहीं किया जा सकता, क्योंकि उन पर संघ सरकार नियन्त्रण रखती है। इनमें यह भी नहीं होता कि किसी राज्य को अधिक आर्थिक सहायता मिल जाये और किसी को कम। पहले प्रकार की आर्थिक सहायताओं में मुख्यतया दो प्रकार की मौलिक कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं, प्रथम, प्रत्येक राज्य का भाग किस प्रकार निर्धारित किया जाये? केवल भाग निर्धारित करना ही कठिन नहीं होता वरन् हर राज्य को सन्तुष्ट करना भी सरल नहीं होता। दूसरी कठिनाई यह होती है कि इससे प्रत्येक राज्य अपने खर्चे के सम्बन्ध में लापरवाह हो जाता

है। वह अपव्ययी हो जाता है और आय प्राप्त करने में उदासीनता से काम करने लगता है। पहली कठिनाई कोई कम नहीं है। राज्यों को कुल राशि कितनी दी जाये तथा किस अनुपात में दी जाये? किसको कितनी आवश्यकता है? यह निश्चित करना भी सरल नहीं होता। इसके अतिरिक्त यह भी आवश्यक है कि जिन राज्यों को अधिक धन की आवश्यकता है, वह सहायता प्राप्त करते ही अपनी आय के साधनों को बढ़ाने के लिए उदासीन न हो जायें। इसके अतिरिक्त, प्रत्येक राज्य का हिस्सा निर्धारित करते समय दो बातों की ओर ध्यान देना आवश्यक है—प्रथम, राज्य-विशेष की आय और दूसरे जनसंख्या। यद्यपि इसके कई आधार हो सकते हैं, जैसे, प्राकृतिक साधनों का वितरण, क्षेत्र की आर्थिक उन्नति की दशा, जनसंख्या का भौगोलिक घनत्व, प्रति व्यक्ति आय, उनकी आवश्यकताएँ इत्यादि। किन्तु व्यवहार में अधिकतर प्रथम दो रीतियाँ ही अपनाई गई हैं। राज्य-विशेष के आकार एवं जनसंख्या से उसकी आवश्यकताओं का कुछ अनुमान लग सकता है और आय से यह पता लग सकता है कि राज्य की कितनी आवश्यकताएँ पूरी हो रही हैं और कितनी पूरी नहीं हो रही हैं। राज्य के आकार एवं जनसंख्या के साथ-साथ राज्य की भौगोलिक तथा वनस्पति सम्बन्धी परिस्थितियों की ओर भी ध्यान देना चाहिए। आर्थिक सहायता की राशि इस बात पर भी निर्भर करेगी कि राज्य की औद्योगिक उन्नति की क्या स्थिति है? राज्य कृषि-प्रधान है या औद्योगिक उन्नति के लिए अधिक गुन्जाइश है। इन सब कठिनाइयों को दूर करना सरल नहीं है। जहाँ तक दूसरी प्रकार की सहायताओं का सम्बन्ध है, इनमें सबसे बड़ा दोष यह है कि राज्य को संघ सरकार के आधीन रहना पड़ता है। वे न तो व्यय की मदों को ही और न व्यय करने की रीति को ही चुन सकती हैं। परन्तु ये सब आरोप केवल वाद-विवाद की दृष्टि से ही उपयुक्त हैं। व्यवहार में संघ सरकार इतनी सतर्कता से काम नहीं लेती और न राज्य सरकारों द्वारा अनुदानों को व्यय करने के ढंग पर ही कड़ी निगाह रक्खी जाती है।

यह ध्यान रहे कि इन अनुदानों और आर्थिक सहायताओं की राशि को मनमाने ढंग से निश्चित नहीं करना चाहिए। इनमें प्रत्येक वर्ष परिवर्तन भी नहीं होने चाहियें, अन्यथा राज्यों में आपस में बड़ा द्वेष उत्पन्न होगा और बहुत अनिश्चितता भी रहेगी। राज्य असन्तुष्ट भी रहेंगे। भारत में यह सहायतायें वित्त आयोग की सिफारिशों के अनुसार दी जाती हैं, जिसकी नियुक्ति हर पाँच वर्षों के बाद होती है।

(४) **राज्यों का संघ सरकार के लिए अंशदान**—जिस प्रकार संघ सरकार राज्यों को आर्थिक सहायता प्रदान करती है उसी प्रकार राज्य भी अपना-अपना अंशदान संघ सरकार के व्यय में देते हैं। यहाँ पर भी लगभग उसी प्रकार की कठिनाइयाँ अनुभव होती हैं, अर्थात् किस राज्य को कितना अंशदान देना चाहिए? परन्तु सबसे बड़ा दोष इस प्रणाली में यह है कि संघ सरकार को राज्यों पर निर्भर रहना पड़ता है। संघ सरकार को बहुत ही महत्वपूर्ण कार्य करने होते हैं। यदि वह

अपनी आय के लिए राज्यों पर निर्भर रहेगी तो बहुत अंश तक उसकी कुशलता कम हो जायेगी। इसके अतिरिक्त राज्यों के पास अपने लिए ही आय के स्रोत कम होते हैं, यदि उनको भी अंश दान देने पड़ें तो राज्यों की स्थिति और भी खराब हो जायेगी। यह प्रथा सर्वप्रथम अमेरिका में चलाई गई थी। भारत में भी यह सन् १९१९ में चालू हुई थी परन्तु थोड़े वर्ष बाद ही इसे समाप्त कर दिया गया।

अतः उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि संघीय शासन-प्रणाली में वित्त-व्यवस्था का कार्य बड़ा ही कठिन कार्य है। आय के साधनों का विभाजन करना तथा संघ और राज्यों में आर्थिक संतुलन स्थापित करना पग-पग पर नई कठिनाइयाँ उत्पन्न करता है। ये कठिनाइयाँ बहुत सीमा तक समाप्त हो जायें यदि संघ सरकार और राज्य सरकारें, एक दूसरे के सहयोग से कार्य करती रहें।

—:o:—

अध्याय १४

भारत में संघीय वित्त-व्यवस्था का उद्गम

(EVOLUTION OF THE FEDERAL FINANCIAL SYSTEM IN INDIA)

प्राक्कथन—

भारत में संघीय वित्त-व्यवस्था के इतिहास को हम सन् १७६५ से आरम्भ करते हैं, जिस वर्ष ईस्ट इण्डिया कम्पनी को बंगाल की दीवानी मिली थी। उस समय मालगुज़ारी ही राज की आय का सबसे अधिक महत्वपूर्ण स्रोत था। जमींदार किसानों से मालगुज़ारी वसूल करते थे और सरकारी खज़ानों में जमा कर देते थे, जिस कार्य के लिए उन्हें मालगुज़ारी का एक निश्चित प्रतिशत दे दिया जाता था। परन्तु मालगुज़ारी जमा करने में एक तो कठिनाई बहुत होती थी, दूसरे इसकी आय भी निश्चित न थी। अतः इन कठिनाइयों को दूर करने के लिए लार्ड कॉर्नवालिस ने सन् १७९३ में बंगाल तथा बिहार के कुछ भागों में स्थायी बन्दोबस्त लागू किया जो आज तक चला आ रहा है। जमींदार प्राप्त की हुई मालगुज़ारी में से $\frac{१}{११}$ भाग अपने पास रखते थे और शेष $\frac{१०}{११}$ एक निश्चित तिथि तक सरकारी खज़ाने में जमा कर देते थे। मालगुज़ारी के अतिरिक्त ईस्ट इण्डिया कम्पनी, नमक कर, सीमा कर (customs) तथा वस्तुओं के आन्तरिक हस्तान्तरण पर कर लगा कर अपनी आय प्राप्त करती थी। परन्तु इन स्रोतों में से मालगुज़ारी ही कम्पनी की आय का सबसे बड़ा स्रोत था। उस समय कम्पनी की आय उसके व्यय की अपेक्षा बहुत कम थी और इसलिये उसको निरन्तर ब्रिटिश संसद से ऋण प्राप्त करने पड़ते थे। कम्पनी का व्यय अधिक होने के कई कारण थे। एक तो कम्पनी उस समय बहुत-सी लड़ाइयाँ लड़ रही थी और दूसरे कम्पनी के कर्मचारियों में धन एकत्रित करने की लिप्सा बहुत अधिक थी। जिसका परिणाम यह हुआ कि ब्रिटिश संसद ने यह समझना आरम्भ कर दिया कि कम्पनी का प्रबन्ध एवं शासन बहुत ढीला है और अपव्ययी है इसलिए उन्होंने कम्पनी पर धीरे-धीरे अपना नियन्त्रण बढ़ाना आरम्भ कर दिया। इसी उद्देश्य से सन् १८३३ में ब्रिटिश सरकार ने चार्टर अधिनियम (Charter Act) बनाया जो भारत के वित्तीय इतिहास में एक महत्वपूर्ण घटना थी और जिसने न केवल सरकार के चरित्र को ही बदल दिया

वल्कि सरकारी अर्थ-प्रबन्ध को एकांगी बनाने की चेष्टा की। इस अधिनियम के अनुसार बंगाल के गवर्नर को भारत का गवर्नर-जनरल बना दिया गया और उसको यह अधिकार दे दिया गया कि वह सम्पूर्ण भारत के लिए कानून बनाए तथा उसमें संशोधन कर सके। इस अधिनियम से पहले मद्रास और बम्बई के गवर्नर वित्तीय मामलों में पूर्णतया स्वतन्त्र थे परन्तु सन् १८३३ के बाद अब यह भारतीय गवर्नर जनरल के आधीन थे। इस अधिनियम से पहले ये लोग अपने-अपने क्षेत्रों में स्वयं कर लगाते थे और लोगों के लिए शान्ति और न्याय की व्यवस्था करते थे। परन्तु इस अधिनियम के बाद सारी आय भारत सरकार के नाम में जमा की जाती थी और उसी के नाम में खर्च की जाती थी। इसके अतिरिक्त मद्रास और बम्बई प्रान्तों ने जो ऋण सन् १८३३ से पहले ले रखे थे वे अब भारत सरकार के ऋण थे। इस प्रकार सन् १८३३ के अधिनियम से इतना अधिक केन्द्रीयकरण हो गया था कि "किसी प्रान्त को कानून बनाने का पृथक् अधिकार न था, न ही अलग वित्तीय साधन थे, या राजकीय सेवाओं के लिए व्यक्तियों को नौकरी देने का अधिकार ही था, और इस अन्तिम प्रबन्ध के आधीन भारत की सरकार से जो छोटी-छोटी बातों के लिए पूछना पड़ता था उससे भारत सरकार को प्रान्तीय शासन-प्रबन्ध की प्रत्येक बात में हस्तक्षेप करने का अधिकार प्राप्त हो गया था।"[1] इसमें कोई संदेह नहीं कि शासन-प्रबन्ध की कुशलता और मितव्ययिता की दृष्टि से तो अधिनियम बहुत ही अच्छा था परन्तु इसके कई दोष भी थे। जैसे—

(अ) प्रान्तीय शासन-प्रबन्ध में भारत की सरकार के निरन्तर हस्तक्षेप से प्रान्तीय शासक निरुत्साहित रहते थे, क्योंकि उनको किसी क्षेत्र में भी निर्णय लेने की स्वतन्त्रता न थी। छोटी से छोटी बात के लिये भी उनको भारत सरकार से आज्ञा प्राप्त करनी होती थी।[2]

(आ) दूसरे, प्रान्तों का शासन-प्रबन्ध पहले से अधिक अपव्ययी हो गया था, क्योंकि अब प्रान्तों को केवल बजट बनाकर भारत सरकार को भेज देना होता था। उनको अपनी आय के स्रोतों को ढूंढने की अब कोई आवश्यकता न थी। स्पष्ट ही है कि भारत सरकार किसी प्रकार भी स्थानीय परिस्थितियों का ज्ञान नहीं कर पाती थी और इस बात का पता लगाने में भी असमर्थ रहती थी कि प्रान्तों ने बजट में जो मांगें रक्खी हैं, वे उचित भी थीं या नहीं। सच तो यह है कि इस अधिनियम से अधिनियम बनाने का दायित्व तो भारतीय सरकार पर था और उसके अनुसार प्रबन्ध करने की जिम्मेदारी प्रान्तीय सरकार की थी। यह स्पष्ट ही है कि ऐसे विभाजन से देश की वित्तीय व्यवस्था पर कितना बुरा प्रभाव पड़ रहा होगा।

(ब) जैसे कि हम पहले कह चुके हैं उस समय मालगुजारी से सरकार को सबसे अधिक आय प्राप्त होती थी परन्तु यह कर बहुत ही प्रतिगामी (Regressive)

---

1. Report of *The Royal Commission on Decentralisation in British India*, p. 24.

2. Sir John and Richard Strachey, *The Finance and Public Works in India*, p. 139.

था और ग़रीबों पर इसका इतना भार था कि इसका भुगतान करने के बाद उनके पास कुछ भी नहीं बच पाता था। जिसका परिणाम यह हुआ कि भारतीय कृषि की स्थिति दिन-प्रतिदिन खराब होती गई और जिसका प्रभाव भारत सरकार की आय पर भी इतना अधिक पड़ा कि लगभग २५ वर्षों में भारत सरकार को १७ बार घाटे के बजट बनाने पड़े। इसी प्रकार नमक कर भी प्रतिगामी था। वस्तुओं के आन्तरिक स्थानान्तरण पर जो कर लगा था उससे देश की औद्योगिक उन्नति को नुकसान पहुँच रहा था और सीमा कर से भी देश के उद्योगों को कोई लाभ प्राप्त नहीं हो पा रहा था।

(ई) इस पद्धति से प्रान्तों में ईर्ष्या और आपसी प्रतिद्वन्द्विता भी बढ़ रही थी क्योंकि सबसे अधिक लाभ उन्हीं प्रान्तों को प्राप्त हो रहे थे जो खूब विरोध करते थे और घाटे के बजट बनाते थे। उन प्रान्तों की ओर कोई भी ध्यान नहीं दिया जा रहा था जो शान्तिमय थे और ईमानदारी से अपनी माँगों को प्रस्तुत करते थे। इसीलिए प्रान्तों में आपसी भेदभाव बढ़ रहा था।

संघीय वित्त का विकेन्द्रीयकरण—

पहला प्रयास (सन् १८६०–१८७७)—एक तो भारत सरकार का वित्त सन् १८३३ के अधिनियम के बाद वैसे ही बहुत कम हो गया था, दूसरे सन् १८५७ की क्रांति ने दशा को और भी अधिक बिगाड़ दिया था। इस क्रांति के पश्चात् तो भारत सरकार के खर्चों में बहुत वृद्धि हो गई थी। सन् १८५८ में भारत के राजनैतिक शासन-प्रबन्ध में एक बहुत बड़ा परिवर्तन हुआ। इसी वर्ष ईस्ट इण्डिया कम्पनी का जीवन समाप्त हुआ और भारत का शासन ब्रिटिश सरकार के हाथों में चला गया। कुछ लोगों ने इस अवसर का पूर्ण लाभ उठाते हुए फिर से पुरानी पद्धति को स्थापित करने की चेष्टा की। उन्होंने नई पद्धति के विरुद्ध प्रभावशाली शब्दों में आलोचना की और इस बात पर जोर दिया कि भारतीय वित्त-व्यवस्था में स्थानीय सरकारों को भी साझेदार बना लिया जावे ताकि उनका पूर्ण सहयोग प्राप्त हो सके। उनका विचार था कि वित्तीय मामलों में विकेन्द्रीयकरण ही उचित नीति रहेगी क्योंकि कठिनाई के समय में प्रान्त, भारत सरकार के लिए आय के नये-नये स्रोत खोजने का प्रयत्न करेंगे। इसके अतिरिक्त प्रान्त अपने खर्चों को बड़ी सतर्कता से करेंगे और केन्द्रीय सरकार को पूरा सहयोग देंगे। उनके विचार में संघीय वित्त-व्यवस्था (Federal System of Finances) न्यायपूर्ण भी थी, क्योंकि इसके अन्तर्गत प्रान्तों को समान व्यवहार प्राप्त हो सकेगा। ये दलीलें मुख्य रूप से सर हैनरी मेन, सर विलियम्स मैंसफील्ड, जो कौंसिल के सदस्य थे और तत्कालीन वित्त मंत्री विलसन द्वारा प्रस्तुत की गई थीं। विलसन का विचार था कि जेल, चिकित्सा, शिक्षा तथा सड़कों आदि की व्यवस्था एवं प्रबन्ध प्रान्तों को सौंप देना चाहिए और इनका खर्चा पूरा करने के लिए कानून और न्याय से प्राप्त सारी आय मालगुजारी का $\frac{3}{16}$ भाग तथा प्रान्तों द्वारा एकत्रित किये गये लाइसेन्स कर का

$\frac{1}{4}$ भाग प्रान्तों को दे देना चाहिए।

परन्तु भारतीय सरकार के समर्थकों ने इस विचार का विरोध इस कारण किया कि वह व्यवस्था असुविधाजनक और अव्यावहारिक थी। उनका विचार था कि केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों के बीच आय के स्रोतों और व्यय की मदों का बटवारा कोई सरल बात नहीं है। साथ ही साथ मद्रास और बम्बई के गवर्नरों ने भी विकेन्द्रीयकरण का विरोध किया। उपर्युक्त दलीलों के अतिरिक्त इन लोगों का यह भी कहना था कि विकेन्द्रीयकरण के अन्तर्गत केन्द्रीय शासन को आर्थिक मामलों में प्रान्तों पर निर्भर रहना पड़ेगा और यदि देश को विद्रोहियों से बचाना है तो केवल वर्तमान प्रणाली ही सफल हो सकती है। इन सब बातों का परिणाम यह हुआ कि वित्तीय शासन-प्रबन्ध का विकेन्द्रीयकरण न हो सका। इसी बीच तत्कालीन वित्त मंत्री श्री विलसन ने वित्तीय शासन-प्रबन्ध को सुधारने के लिए बहुत से प्रयत्न किये परन्तु वह और उनके साथी अपने प्रयत्नों में सफल न हो सके।

मेयो योजना (सन् १८७१—१८७७)—भारत सरकार को कुछ समय बाद यह मानना ही पड़ा कि देश के उचित वित्तीय शासन-प्रबन्ध के लिए विकेन्द्रीयकरण करना ही होगा ; क्योंकि एक तो प्रान्त अपना पूरा सहयोग नहीं दे रहे थे और दूसरे विकास योजनाओं के लिए उनकी वित्तीय माँगें बढ़ती जा रही थीं। इसीलिए लार्ड मेयो (Lord Mayo) जो भारत के वायसराय थे, उन्होंने विकेन्द्रीयकरण की योजना को स्वीकार कर लिया। उनका प्रस्ताव था कि स्थानीय परिस्थितियों की जानकारी के अभाव में जिन मामलों का प्रबन्ध केन्द्रीय सरकार के लिए कठिन था उनका प्रबन्ध प्रान्तों को ही दे देना चाहिए और इन सेवाओं को पूरा करने में जो व्यय हो वह उन्हीं सेवाओं से प्राप्त आय में से पूरा किया जाय। यदि यह आय काफी नहीं है तो केन्द्रीय सरकार प्रान्तों को वार्षिक आर्थिक सहायता दे। इसके अनुसार प्रान्तों को जेल, पुलिस, शिक्षा, चिकित्सा, रजिस्ट्रेशन, छपाई, सड़कें और नागरिकों से सम्बन्धित इमारतों (Civil Buildings) की व्यवस्था सौंप दी गई। केन्द्रीय सरकार इन सेवाओं के लिए ४,६८,८७,११० रुपयों की वार्षिक सहायता देगी। यह राशि प्रान्तों में उनकी राशि के अनुसार बाँट दी जायेगी। इन सेवाओं को सम्पन्न करने के लिए यदि और अधिक वित्त की आवश्यकता हो तो उसका प्रबन्ध प्रान्तीय सरकारों को स्वयं ही करना होगा।

इस योजना का सबसे पहला लाभ यह हुआ कि भारत सरकार को १० लाख पौण्ड की बचत हुई। प्रान्तों को इससे यह लाभ हुआ कि इनमें आपसी मतभेद समाप्त हो गया और उनको इस बात का सन्तोष भी हुआ कि वे केन्द्रीय सरकार से कुछ मामलों में स्वतन्त्र थे। साथ ही साथ वित्त का मितव्ययी उपयोग भी हुआ, क्योंकि अब प्रान्तों ने अपने खर्चों को देखभाल कर करना आरम्भ कर दिया था। परन्तु यह योजना दोषरहित न थी। अब प्रान्तों में इस बात पर असंतुष्टि थी कि आर्थिक सहायता बाँटने का आधार उचित न था। यह कुछ सीमा

तक सही भी था क्योंकि किसी प्रांत की कितनी आवश्यकता थी यह निश्चय करना असम्भव ही था। और फिर यह सम्भावना भी तो थी कि प्रान्त अपनी आवश्यकताओं को बढ़ा-चढ़ा कर दिखा सकते थे। इस योजना का एक दोष यह भी था कि साल के अन्त में प्रान्तों के पास जो कुछ धन बचता था वह उनको भारत सरकार को लौटा देना होता था जिसका सबसे बुरा प्रभाव यह था कि एक तो प्रान्त किसी न किसी प्रकार उलटा-सीधा खर्च करने का प्रयत्न करते थे और इस प्रकार मितव्ययिता की अपेक्षा अपव्ययिता पहले से भी अधिक हो गई थी।

दूसरा प्रयास (सन् १८७७ से १८८२)—यद्यपि मेयो योजना से केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों के आपसी सम्बन्ध पहले की अपेक्षा अच्छे हो गये थे फिर भी प्रान्तीय सरकारों की यह व्यवस्था संतोषजनक न थी। इसका मुख्य कारण यह था कि इस योजना के अधीन प्रान्तों को प्राप्त होने वाली आर्थिक सहायता की राशि तो निश्चित थी परन्तु उनका ख़र्चा दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा था। योजना की इस कमी का उस समय के वित्त मन्त्री सर जॉन स्ट्रेचे (Sir John Strachey) को भी ज्ञान था। इसलिए उन्होंने प्रान्तों की आय बढ़ाने के लिए एक योजना रक्खी, परन्तु सरकार ने उसको स्वीकार नहीं किया। तत्पश्चात् सन् १८७७ में जब लार्ड लिटन भारतवर्ष के वायसराय हुए, उन्होंने स्ट्रेचे की सहायता से विकेन्द्रीयकरण की ओर एक नया प्रयास किया। इस योजना के अनुसार उत्पादन कर, स्टाम्प, कानून और न्याय, सामान्य प्रबन्ध इत्यादि विषयों को प्रान्तों को सौंप दिया और कुछ मदों की आय को भी प्रान्तों को दे दिया। परन्तु इन मदों के मिलने पर भी प्रान्तों का व्यय पूरा नहीं हो सकता था, इसलिए सरकार ने प्रान्तों को ग्रांट देना भी जारी रक्खा। अब प्रान्तीय सरकारों की आय के तीन स्रोत थे :—

१. सन् १८७१ में प्रान्तों को हस्तान्तरित किये गए मदों की आय।

२. नई योजनाओं के अधीन प्रान्तों को हस्तान्तरित किए गए नए स्रोतों की आमदनी। और

३. केन्द्रीय सरकार से प्राप्त सहायता।

परन्तु सन् १८७० में ही एक प्रस्ताव के अनुसार प्रान्तीय सरकारों पर कुछ प्रतिबन्ध लगा दिये गए थे जो निम्नांकित हैं :—

१. प्रान्तीय सरकारें न तो कोई नया कर लगा सकती थीं और न पुराने करों में कोई परिवर्तन ही कर सकती थीं।

२. वे कोई भी नई योजना उस समय तक नहीं बना सकती थीं जब तक कि उनके पास योजना को पूरा करने के लिए पर्याप्त धन न हो।

३. वे २५०) रुपयों से अधिक मासिक वेतन पाने वाले कर्मचारियों को नौकरी से नहीं हटा सकती थीं और न उस नौकरी को ही समाप्त कर सकती थीं।

४. राजकीय हिसाब-किताब (Public Accounts) के रूप में वे कोई भं परिवर्तन नहीं कर सकती थीं।

५. उनको सरकारी खजाने में एक न्यूनतम धनराशि रखनी पड़ती थी।

६. वे अपने खाते में जमा धन से अधिक राशि खजाने से नहीं निका सकती थीं। लार्ड लिटन की योजना से यद्यपि भारत सरकार को बहुत लाभ हुअ परन्तु प्रान्तीय सरकारों को अब भी अपने खर्चों के अनुसार आय प्राप्त नहीं ह पा रही थी।

तीसरा प्रयास (१८८२ से १९१९)—भारत सरकार को इस बात क पूर्ण आभास हो गया था कि लिटन योजना से भारत की वित्तीय व्यवस्था कं कठिनाइयाँ दूर होना असम्भव था। इसलिए लार्ड रिपन (Lord Ripon) के आं ही सन् १८८२ में एक नई योजना तैयार की गई। इस योजना की मुख्य विशेषता निम्न प्रकार थीं :—

१. यह योजना सारे ही प्रान्तों के लिए एक ही तिथि और एक ही काल लिए लागू की गई।

२. आरम्भ में यह केवल ५ साल के लिए ही थी परन्तु प्रत्येक पांच वर्ष बाद इनमें आवश्यक परिवर्तन किये जा सकते थे।

३. इस योजना के अनुसार आय की मदें तीन भागों में विभाजित करदी गईं :—

(अ) **पूर्ण रूप से केन्द्रीय**—इसमें सीमा कर, अफीम की आय, डाकखाने की आय, रेलों की आय, उपहार, तार की आय, सैनिक सार्वजनिक कार्य (Military Public Works) विनिमय से लाभ आदि सम्मिलित थे।

(ब) **पूर्ण रूप से प्रान्तीय**—इसमें प्रान्तीय कर, कानून और न्याय, शिक्षा, पुलिस, प्रान्तीय, रेलें, स्टेशनरी और छपाई, प्रान्तीय प्रतिभूतियों पर व्याज आदि सम्मिलित थे। इनके अतिरिक्त कुछ विशेष प्रान्तों को आय के कुछ अन्य स्रोत और भी सौंप दिये थे जैसे वर्मा को मछलियों की आय, अवध को तराई, भाभर तथा दूदी सम्पत्ति की आय, बम्बई को आवागमन सेवा से प्राप्त आय इत्यादि।

(स) **प्रान्तीय तथा केन्द्रीय**—इनमें मालगुज़ारी, वन, उत्पादन कर, स्टाम्प रजिस्ट्रेशन आदि सम्मिलित थे।

४. उपर्युक्त वर्गों में सम्मिलित की गई मदों को प्रत्येक प्रान्त के लिए समान रक्खा गया। पहले इस प्रकार की समानता न थी।

५. इस योजना में केन्द्रीय सरकार द्वारा प्रान्तों को मिलने वाली वार्षिक ग्रांट भी बंद कर दी गई और यह निश्चित कर दिया गया कि यदि आवश्यकता हो तो प्रांत मालगुज़ारी में से कुछ भाग अपने लिए ले सकते थे।

योजना के अनुसार अब हर पाँचवे वर्ष नए प्रसंविदे (contracts) होने की प्रथा चालू हो गई थी। यह प्रसंविदे सन् १८८६-८७, १८९१-९२, १८९६-९७, १९०४-५ में बदले गये। इनसे प्रान्तीय शासन विशेष रूप से असंतुष्ट

था, क्योंकि इनके कारण उनकी आर्थिक नीतियों के संचालन में बड़ी अड़चनें उत्पन्न हो रही थीं। इसका कारण यह था कि केन्द्रीय सरकार प्रान्तों की सारी बचत ले लेती थी। इसके अतिरिक्त आय का बटवारा केवल केन्द्र और प्रान्तों के बीच ही असमान न था वल्कि प्रान्तों में आपस में भी असमान था। इसलिए प्रान्तों में भी आपस में बड़ी ईर्ष्या रहती थी। इन प्रसंविदों से प्रान्तीय शासन में एक बड़ा दोष यह उत्पन्न हो गया था कि प्रान्तीय शासन बड़ा अपव्ययी हो गया था। इसके दो कारण थे। पहला कारण यह था कि हर पाँच वर्ष के बाद प्रान्तों को जो बचत होती थी वह केन्द्रीय सरकार के काम में आती थी और प्रान्त उसका पूरा उपयोग नहीं कर पाते थे, इसलिए वे इस बचत को केन्द्र के पास जाने से रोकने के लिए उल्टा-सीधा खर्च करते थे। दूसरे प्रत्येक ५ वर्ष के बाद जब प्रसंविदा बदला जाता था, तब पहले पाँच वर्षों में किए गए खर्चों को ध्यान में रखकर ही दूसरे पाँच वर्षों के लिए उनको बचत का भाग दिया जाता था। जिसका परिणाम यह था कि जो प्रान्त अधिक खर्च करता था उसको बचत का अधिक भाग मिलता था और जो कम खर्च करता था उसको कम भाग मिलता था। इन दोषों के होते हुए भी यह मानना पड़ेगा कि प्रान्तों की निजी स्वतन्त्रता पहले से अधिक हो गई थी और वे अपने शासन-प्रबन्ध में पहले से अधिक दिलचस्पी लेने लगे थे।

सन् १९०४ के बाद इन प्रसंविदों को आभास-स्थायी (Quasi-permanent) बना दिया गया। अब इनमें केवल उसी समय परिवर्तन हो सकते थे जब उनकी आवश्यकता हो। यह भी निश्चित कर दिया गया कि भविष्य में केन्द्र और प्रान्तों में बंटने वाली आय का लगभग आधा भाग उन प्रान्तों को उन्नत करने के लिए दिया जाएगा जो अविकसित और पिछड़े हुए थे। सन् १९०५ तक प्रान्तों को भारत की कुल आय का लगभग $\frac{1}{7}$ भाग प्राप्त होता था। इसके अतिरिक्त उन्हें आय की कुछ ऐसी मदें भी मिली हुई थीं जो लोचपूर्ण थीं परन्तु फिर भी प्रान्त संतुष्ट नहीं थे, उनकी असंतुष्टि के कई कारण थे। भारत सरकार उनके बजटों को केवल उसी समय मंजूर करती थी जब कि वह अपनी इच्छानुसार उनमें परिवर्तन कर लेती थी। प्रान्तों को यह भी अधिकार नहीं था कि वे २५ हजार रुपयों से अधिक की एक वर्ष में कोई भी स्थायी स्थापना करलें। प्रान्तीय सरकार बिना भारतीय सरकार की आज्ञा के नए कर नहीं लगा सकती थी। वह सार्वजनिक कार्यों (Public Works) में १० लाख रुपयों से अधिक नहीं खर्च कर सकती थी और यदि वह ऋण द्वारा कोई ऐसा कार्य करना चाहती थी तो उसको भारत सरकार की अनुमति प्राप्त करनी होती थी।

विकेन्द्रीयकरण कमीशन (Decentralisation Commission)—सन् १९०९ में केन्द्र और प्रान्तों के वित्तीय सम्बन्धों की पूरी जानकारी प्राप्त करने के लिए विकेन्द्रीयकरण कमीशन नियुक्त किया गया। इस कमीशन का प्रस्ताव था कि प्रान्तों को निश्चित ग्रांट न दी जाए। इस प्रस्ताव को स्वीकार करते हुए भारत सरकार ने सन् १९१२ में प्रान्तीय प्रसंविदों को स्थायी रूप दे दिया। आय के

साधनों को पहले के समान तीन भागों में ही विभाजित किया गया परन्तु कुछ परिवर्तन कर दिये गये थे। यह प्रबन्ध १९१९ तक रहा।

चौथा प्रयास (सन् १९१९–१९३५)—प्रथम महायुद्ध के बाद ब्रिटिश सम्राट ने यह घोषणा की कि उनकी इच्छा थी कि भारत में स्वशासित-संस्थाओं की उन्नति हो तथा भारतवासी प्रशासन की हर शाखा में अधिक से अधिक भाग लें जिससे उनको राज की जिम्मेदारियों का ज्ञान हो। इस उद्देश्य से उस समय के भारत-मन्त्री मौन्टेग्यू तथा भारत के वाइसराय चैम्सफोर्ड ने भारत का भ्रमण किया और अपनी एक रिपोर्ट दी, जिसमें उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि प्रान्तों को शासन-प्रबन्ध में अधिक भाग और आर्थिक क्षेत्र में अधिक स्वतन्त्रता देनी होगी ताकि वे उचित रूप से अपने दायित्वों को पूरा कर सकें। उनका विचार था कि इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए यह आवश्यक होगा कि केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों की आय के मद एक दूसरे से पूर्णतया अलग कर दिये जायें। इस लिए उनका प्रस्ताव था कि पहले केन्द्रीय सरकार की आवश्यकताओं के लिए व्यय निश्चित होना चाहिए और इस व्यय की पूर्ति के लिए केन्द्रीय सरकार को पर्याप्त साधन मिल जाने चाहियें। बचे हुए साधनों को प्रान्तों को सौंप देना चाहिए और साथ ही साथ प्रान्तीय सेवाओं का दायित्व भी उन्हीं पर रहना चाहिए। विभाजित मदों में से कुछ तो पूर्णतया केन्द्रीय सरकार को दे दिये जायें और कुछ पूर्णतया प्रान्तीय सरकारों को मिल जायें। इस प्रकार आय के केवल दो ही वर्ग होंगे। एक केन्द्रीय और दूसरा प्रान्तीय। केन्द्रीय सरकार की आय के मदों में, सीमा कर, आय-कर, नमक, अफीम, रेलें, डाक और तार आदि थे। प्रान्तीय सरकारों की आय के मदों में मालगुजारी, स्टाम्प, रजिस्ट्री, आबकारी कर, जंगल इत्यादि थे। इस प्रकार इन सुधारों के बाद भारत में जो वित्तीय प्रणाली स्थापित हुई वह न तो एकक (Unitary) और न संघीय (Federal) ही थी बल्कि इन दोनों के बीच की थी। जहाँ तक आय की मदों के बँटवारे का सम्बन्ध था, वह पूर्णतया संघीय थी, क्योंकि इसमें केन्द्र और प्रान्तों की आय के मद एक दूसरे से पृथक् थे। यह ध्यान रहे कि अब भी प्रान्त, हिसाब बनाने तथा जांच कराने और ऋण प्राप्त करने आदि के सम्बन्ध में भारत सरकार पर ही निर्भर थे। इन सुधारों के परिणामवश यह आशा थी कि भारत सरकार को १३·६३ करोड़ रुपयों का घाटा होगा। रिपोर्ट में इस घाटे को पूरा करने के लिए यह सुझाव दिया गया था कि प्रान्त अपनी सामान्य बचत (Normal Surplus) के अनुसार भारत सरकार को अंश दान दें। इस व्यवस्था के अनुसार मद्रास और संयुक्त प्रान्त को क्रमशः ४·२८ करोड़ तथा ३·७४ करोड़ रुपया देना पड़ा था और बंगाल और बम्बई को क्रमशः ६९ लाख और ३८ लाख रुपये देने पड़े थे।

मेस्टन एवार्ड (Meston Award)—उपर्युक्त योजना की बहुत आलोचना हुई विशेष रूप से कृषिक प्रान्तों जैसे यू० पी० और मद्रास ने तो इसका बहुत ही कड़े शब्दों में विरोध किया क्योंकि इनका अंशदान शेष प्रान्तों के कुल अंशदान से भी अधिक था। अतः संसद को वित्तीय सम्बन्ध समिति नियुक्त करनी पड़ी जिसका

मुख्य कार्य प्रान्तीय अंशदानों को निर्धारित करना था और वम्बई प्रान्त द्वारा आय-कर में सबसे अधिक भाग मांगे जाने के सम्बन्ध में सलाह देना था। इस समिति के अध्यक्ष लार्ड मेस्टन (Lord Meston) थे। मेस्टन रिपोर्ट मार्च सन् १९२० में प्रस्तुत की गई। इस समिति ने साधारणतः मान्टेग्यू-चेम्सफोर्ड की सिफारिशों का ही समर्थन किया। यद्यपि इसने आय-कर से प्राप्त आय के विभाजन का विरोध किया परन्तु साथ ही साथ यह भी बताया कि प्रान्तीय सरकारों को स्थायी रूप से बहुत दिनों तक प्रत्यक्ष करारोपण से वंचित नहीं रखा जा सकता। अतः इसका सुझाव था कि सामान्य टिकट कर (Stamp Duty) को प्रान्तीय सरकारों की आय का एक स्रोत बना देना चाहिये। मेस्टन समिति ने यह स्वीकार किया कि प्रान्तों के अंशदानों के सम्बन्ध में न्याय नहीं हुआ है। समिति की उपर्युक्त सिफारिशों के अनुसार यह अनुमान था कि सन् १९२१-२२ के केन्द्रीय बजट में लगभग ९·८३ करोड़ रुपयों का घाटा रहेगा जिसकी पूर्ति प्रान्तीय अंशदानों द्वारा ही की जायेगी। इसलिए समिति ने भविष्य के अंशदानों के लिए एक आदर्श आधार तलाश किया अर्थात् यह निश्चित किया कि प्रान्तों के अंशदानों की राशि उनके व्यय करने की शक्ति पर निर्भर होगी। प्रान्तों के व्यय करने की शक्ति को निर्धारित करते समय दो बातों को ध्यान में रखना होगा। एक तो यह कि प्रान्तों के पास काम चलाने के लिए एक न्यायोचित कोषों का आधिक्य रहे और दूसरा यह कि प्रान्तों के अंशदानों की राशि इतनी अधिक न हो कि उन्हें नये कर लगाने के लिए विवश होना पड़े। इस प्रकार बिहार और उड़ीसा को बिल्कुल मुक्त कर दिया गया था। आसाम और बर्मा के अंशदानों की राशि बहुत थोड़ी थी और सबसे अधिक अंशदान क्रमानुसार मद्रास, यू० पी० पंजाब, बंगाल और बम्बई के थे। यह अंशदान प्रारम्भिक वर्ष अर्थात् सन् १९२१-२२ के लिए थे जिनमें कि बाद में संशोधन किया जायेगा ताकि वे एक प्रमापीकृत अनुपातों के अनुकूल हो जायें। इस प्रकार प्रारम्भिक वर्ष सन् १९२१--२२ में प्रान्तीय अंशदानों की स्थिति निम्न प्रकार थी[3] :—

प्रान्त	बढ़ी हुई व्यय शक्ति (लाख रुपयों में)	अंशदान (लाख रुपयों में)	बची हुई व्यय शक्ति (लाख रुपयों में)
मद्रास	५७६	३४८	२२८
बम्बई	९३	५६	३७
बंगाल	१०४	६३	४१
संयुक्त प्रान्त	३९७	२४०	१५७
पंजाब	२८९	१७५	११४
बर्मा	२४६	६४	१८२
बिहार और उड़ीसा	५१	कुछ नहीं	५१
मध्य प्रदेश	५२	२२	३०
आसाम	४२	१५	२७
कुल योग	१.८५०	९८३	८६७

3. Dr. P. J. Thomas, *Federal Finance in India*, p. 326.

सन् १९२२-२३ के बाद इन अंशदानों में जो भी परिवर्तन होंगे उनका निर्धारण गवर्नर जनरल द्वारा होगा और निम्न प्रस्तावित अनुपातों से निर्णय के अनुसार परिवर्तन कर दिये जायेंगे :—

प्रान्त	भार का अनुपात	प्रान्त	भार का अनुपात
मद्रास	१७/९० वां	बर्मा	६३/९० वां
बम्बई	१३/९० वां	मध्य-प्रदेश तथा बरार	५/९० वां
बंगाल	१९/९० वां	आसाम	२३/९० वां
संयुक्त प्रान्त	१८/९० वां	बिहार	कुछ नहीं
पंजाब	९/९० वां	उड़ीसा	कुछ नहीं

इन प्रामाणिक अंशदानों को निर्धारित करने के लिए समिति ने प्रान्तों की कर-दान योग्यता के बारे में पूरी जानकारी प्राप्त की जिसके लिए इन्होंने प्रान्तों की कृषिक सम्पत्ति, उसकी सामान्य आर्थिक स्थिति और उनमें अकालों की स्थिति का ज्ञान प्राप्त किया। समिति ने कर-दान योग्यताओं के बारे में पूछ-ताछ केवल इसी दृष्टिकोण से नहीं की थी कि कर-दान योग्यता उस समय क्या थी और भविष्य में क्या हो जाने की आशा थी बल्कि इस दृष्टिकोण से कि प्रत्येक प्रान्त में खनिज पदार्थों और जंगलों इत्यादि को दृष्टि में रखते हुए कितनी औद्योगिक और कृषि विकास एवं विस्तार की गुंजाइश थी। यह भी निश्चय किया गया कि जब केन्द्रीय सरकार की आर्थिक स्थिति सुधर जाएगी तो यह अंशदान समाप्त कर दिये जायेंगे।

मेस्टन समिति के सुझावों का भी बड़ा विरोध हुआ, विशेषकर मद्रास, बम्बई और बंगाल आदि प्रान्तों की ओर से। बम्बई प्रान्त का मुख्य अवरोध यह था कि उसके द्वारा केन्द्रीय खजानों में जो अप्रत्यक्ष ढंग से आय प्राप्त होती है उसकी ओर कोई भी ध्यान नहीं दिया गया है। उन्होंने यह भी बताया कि यद्यपि बम्बई पर उच्च कोटि के औद्योगिक प्रान्तों के सारे ही दायित्व थे फिर भी उसे छोटे किसानों पर कर लगाकर प्राप्त आय के द्वारा ही अपनी वित्तीय आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए छोड़ दिया गया था। इसलिए उसने आय कर की आय में से एक बड़े भाग की माँग की। बंगाल ने भी इसी प्रकार की माँग रखी और साथ ही साथ यह भी बताया कि स्थायी बन्दोबस्त के कारण मालगुजारी में वृद्धि न होने के कारण उनकी वित्तीय स्थिति बहुत खराब थी। उसका यह भी कहना था कि जूट जो कि उसकी मुख्य वस्तु थी उस पर भी केन्द्रीय निर्यात कर लगा हुआ था। अतः बंगाल का यह कहना था कि वहाँ से प्राप्त आय-कर राशि को उसे ही दे दिया जाय और इसके अतिरिक्त उसको जूट निर्यात-कर का भी कुछ भाग मिलना चाहिए।

मेस्टन समिति के इन सुझावों को संसद ने स्वीकार करके सन् १९१९ के अधिनियम में सम्मिलित कर लिया और इनको सुधारे हुए नियमों (Devolution

Rules) का नाम दिया गया। इन नियमों के अनुसार निम्न बातें निश्चित हुईं :—

(अ) मेस्टन सिफारिशों के अनुसार केन्द्र और प्रान्तों में आय के स्रोतों का बंटवारा।

(ब) मेस्टन सिफारिशों के अनुसार केन्द्र को प्रान्तों से प्राप्त होने वाले अंशदानों की राशि।

(स) आवश्यकता के समय में प्रान्तीय सरकारों को अधिक अंशदान देने पड़ेंगे।

(द) कुछ शर्तों में आय-कर की आय का एक भाग प्रान्तों को दिया जायेगा।

(ह) गवर्नर जनरल कुछ सीमा तक प्रान्तीय वित्त पर नियन्त्रण रखेगा।

मेस्टन एवार्ड पर एक दृष्टि—यद्यपि मेस्टन सुझाव बहुत ही महत्वपूर्ण थे परन्तु इनमें बहुत से दोष थे ;—

१. प्रान्तों को आय के जो स्रोत दिये गए थे वे पूर्णतया बेलोच थे। दूसरी ओर उनको जिन मदों पर खर्च करना था उनका आकार दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा था। इसके अतिरिक्त प्रान्तों को आयकर का जो भाग मिलना निश्चित हुआ था उनमें अनेकों प्रकार की शर्तें थीं।

२. इन सिफरिशों के परिणामस्वरूप विभिन्न वर्गों पर पड़ने वाले कर भारों में भी असमानता थी। उदाहरणार्थ सार्वजनिक निर्माण कार्यों तथा शिक्षा आदि की प्रगति के लिए बंगाल मुकदमेबाजी से प्राप्त आय पर निर्भर था। बिहार और उड़ीसा शराब की आय पर निर्भर थे और बम्बई प्रान्त अत्यधिक ऋणग्रस्त कृषकों से प्राप्त की गई आय पर निर्भर था।[4]

३. प्रत्येक मद से प्राप्त आय भी एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त में भिन्न थी फलस्वरूप विभिन्न प्रान्तों में भी असमानता थी।

सन् १९२९ में व्यापारिक मन्दी आरम्भ हुई जिसके कारण प्रन्तीय तथा केन्द्रीय सरकारों को बहुत सी कठिनाइयाँ आरम्भ हुईं। कृषि वस्तुओं का मूल्य गिरने के कारण व्यापार तथा उद्योगों की स्थिति बिगड़ती जा रही थी। परिणामस्वरूप रेलों की आय और आय-कर की आय में भी बहुत कमी हो गयी थी। साधारण जनता की क्रयशक्ति बेकारी बढ़ने के कारण कम हो गई थी। इसके साथ-साथ गांधी जी के असहयोग आन्दोलन के कारण विदेशी व्यापार में बहुत कमी हो गई थी और सीमा कर की आय भी बहुत घट गई थी। इन सब कारणों से प्रान्तीय तथा केन्द्रीय सरकारें घाटे के बजट बना रही थीं। प्रान्तों की हालत तो केन्द्र की अपेक्षा और भी अधिक खराब थी। उनकी आय स्टाम्प, रजिस्ट्री, उत्पादन कर तथा मद्य से बहुत कम हो गई थी। फिर उनको मालगुजारी में भी छूट करनी पड़ी थी। उधर प्रकृति के प्रकोप भी जोरों पर थे। भूचाल तथा बाढ़ के कारण प्रान्तीय सरकारों को बहुत सा धन पीड़ितों पर व्यय करना पड़ा था। इस प्रकार प्रान्तों का व्यय तो बढ़ता जा रहा था। और आय गिरती जा रही थी। उन्होंने मितव्ययिता का

4. Dr. B. R. Misra : *Indian Federal Finance*, p. 85.

लगभग प्रत्येक साधन अपनाया और कुछ सीमा तक उन्होंने स्थिति को सुधार भी लिया था।

पाँचवाँ प्रयास (सन् १९२९-१९५०) इसी बीच भारतीय संविधान में और अधिक परिवर्तन करने के लिए अनेकों वित्तीय खोजें हुई, जैसे सन् १९३० में सर वाल्टर लेटन (Sir Walter Layton) द्वारा खोज की गई, सन् १९३१ में पील कमेटी (Peel Committee) ने, और सन् १९३२ में परसी कमेटी (Percy Committee) ने अपनी-अपनी खोजें कीं। सन् १९३३ में ब्रिटिश सरकार ने एक योजना प्रस्तुत की और उसके अन्तर्गत कुछ नये प्रस्ताव रखे। इन प्रस्तावों पर सोच-विचार करने के लिए अप्रैल सन् १९३३ में संसद के दोनों परिषदों (Houses) की एक संयुक्त कमेटी नियुक्त की गई थी। इस कमेटी ने अपनी रिपोर्ट २२ नवम्बर सन् १९३४ को प्रस्तुत की और ब्रिटिश सरकार के प्रारम्भिक प्रस्तावों को काफी बदल दिया था। संयुक्त कमेटी के प्रस्तावों को सन् १९३५ के अधिनियम में सम्मिलित कर दिया गया।

सन् १९३५ के अधिनियम के अनुसार प्रान्तों को पूर्ण स्वतन्त्रता दे दी गई। केन्द्रीय तथा प्रान्तों के आय के स्रोतों को पूर्णतया अलग कर दिया गया। इनको अलग करने का आधार वही रहा जो सन् १९१९ के अधिनियम में था। केन्द्रीय सरकार के स्रोत निम्न प्रकार थे :—

(१) आयात और निर्यात कर (२) औषधियों तथा अन्त नशीली वस्तुओं को छोड़कर भारत में उत्पन्न की जाने वाली वस्तुओं पर उत्पादन कर (३) कारपोरेशन कर (४) नमक कर (५) कृषि को छोड़ कर अन्य आय पर कर (६) कृषि भूमि को छोड़कर अन्य सम्पत्ति पर कर (७) कृषि भूमि के अतिरिक्त उत्तराधिकार कर (८) तमाम व्यावसायिक आदान-प्रदानों पर स्टाम्प कर (९) वायु तथा रेल मार्गों द्वारा भेजी जाने वाली वस्तुओं तथा यात्रियों पर सीमा कर (१०) मुद्रा, सिक्के बनाने पर प्राप्त होने वाली आय (११) डाक, तार इत्यादि से आय (१२) रेलों से आय (१३) पानी के जहाज़ों की आय (१४) हवाई जहाज़ों से आय (१५) अफीम (१६) तम्बाकू कर आदि।

प्रान्तीय सरकारों के आय के स्रोत निम्न प्रकार थे :—

(१) शान्ति और न्याय (२) पुलिस (३) प्रान्तों का राजकीय ऋण (४) प्रान्तीय पेंशनें (५) चिकित्सा (६) शिक्षा (७) सड़क पुल अथवा छोटी-छोटी रेलें (८) सिंचाई (९) कृषि तथा उसकी शिक्षा और अनुसंधान (१०) बाँध (११) खानें तथा तेल के क्षेत्र (१२) प्रान्तीय व्यापार (१३) उद्योगों की उन्नति (१४) नशीली वस्तुयें (१५) जुआ (१६) मालगुजारी (१७) कृषि आय-कर (१८) कृषि भूमि का उत्तराधिकारी कर (१९) विक्रय तथा विज्ञापन कर (२०) मनोरंजन कर (२१) प्रान्तीय स्टाम्प कर आदि।

संगामी (Concurrent)—संगामी स्रोत निम्न प्रकार थे :—

(१) कृषि-भूमि को छोड़ कर अन्य सम्पत्ति पर उत्तराधिकारी कर (२) चैक बिल आदि पर कर (३) मुसाफिरों तथा वस्तुओं पर सीमा कर (४) किरायों तथा महसूल पर लगाये हुए कर—ये कर संघ द्वारा लगाये तथा एकत्रित किये जायेंगे परन्तु इनका कुछ भाग प्रान्तों को भी मिलेगा। इनके अतिरिक्त आय-कर (कृषि आय-कर को छोड़कर) केन्द्रीय सरकार को उत्पत्ति कर और जूट निर्यात कर से प्राप्त होने वाली आय का भी विभाजन केन्द्र तथा प्रान्तों में होगा। केन्द्रीय सरकार को यह अधिकार था कि यदि उसकी आर्थिक स्थिति अच्छी न हो तो वह प्रान्तों को कोई भी हिस्सा न दे।

सन् १६३५ के अधिनियम के अनुसार केन्द्र तथा प्रान्तों को राजकीय ऋण प्राप्त करने का पहले से भी अधिक अधिकार मिल गया था। प्रान्तीय सरकारों को विदेशी ऋण प्राप्त करने के लिए केन्द्रीय सरकार से आज्ञा लेनी होगी। अब भारत-मन्त्री भारत के आर्थिक मामलों में हस्तक्षेप न कर सकेगा।

ओटो नीमियर रिपोर्ट (Otto Niemeyer Report)—सन् १६३५ के अधिनियम के अन्तर्गत यह आवश्यक था कि सरकार एक विशेषज्ञ समिति नियुक्त करे जो आय-कर, जूट निर्यात कर तथा उत्पादन कर का केन्द्र तथा प्रान्तों में बँटवारे की विधि के सम्बन्ध में अपनी राय देगी। अतः भारत-मन्त्री ने सर ओटो नीमियर को इस कार्य के लिए नियुक्त किया। अपनी रिपोर्ट में नीमियर ने दो बातों पर विशेष ध्यान दिया। प्रथम, भारत सरकार की आर्थिक स्थिति और साख को कोई हानि न पहुँचे, और दूसरे, प्रान्तों को ऐसी आर्थिक सहायता दी जाए जिससे कि वे स्वशासन की स्थापना के समय वित्तीय क्षेत्र में स्वावलम्बी रहें। नीमियर का विश्वास था कि भविष्य में न तो भारत सरकार की आय में वृद्धि होने की आशा थी और न उसके व्यय में ही कमी होने की गुन्जाइश थी इसलिए यह सम्भव नहीं था कि केन्द्रीय सरकार प्रान्तीय सरकार को कोई बड़ी आर्थिक सहायता दे सके। इसके अतिरिक्त कुछ प्रान्तों को तो आर्थिक सहायता की आवश्यकता भी न थी। केवल कुछ नये बने हुए प्रान्तों और कुछ पुराने निर्धन प्रान्तों को ही केन्द्रीय सहायता की आवश्यकता थी। इस प्रकार इन्होंने दो प्रकार की सहायता देने की सिफारिश की। पहले प्रकार की सहायता को 'प्रारम्भिक सहायता' कहा, जो मद्रास, बम्बई और पंजाब को छोड़ कर अन्य सभी प्रान्तों को प्रदान की गई। यह सहायता मद्रास और बम्बई को भी प्राप्त हुई। मद्रास को कुछ सहायता इसलिये दी गई क्योंकि उसमें से उड़िया भाषा बोलने वाला भाग अलग कर दिया गया था। और बम्बई को यह सहायता इसलिये प्राप्त हुई, क्योंकि उसमें से सिंध अलग कर दिया गया था। विभिन्न प्रान्तों को प्राप्त होने वाली प्रारम्भिक सहायता निम्न प्रकार थी :—

(लाख रुपयों में)

प्रान्त	प्रारम्भिक सहायता की राशि	प्रान्त	प्रारम्भिक सहायता की राशि
बंगाल	७५	बम्बई	२०
बिहार	२५	मद्रास	२०
मध्य प्रान्त	१५	उड़ीसा	५०
आसाम	४५	सिन्ध	१०५
उत्तरी-पश्चिमी सीमाप्रांत	११०	संयुक्त प्रान्त	२५ (५ वर्षों तक)

उपर्युक्त प्रान्तों को यह सहायता प्रति वर्ष दी जाने की सिफारिश की गई थी। इसके अतिरिक्त उड़ीसा को १९ लाख और सिन्ध को ५ लाख रुपयों की अनावर्ती सहायता (non-recurring Grant) भी दी गई थी।

प्रान्तों को सहायता देने के लिए रिपोर्ट में तीन ढंग बताए गए थे जो निम्नांकित हैं :—

१. प्रान्तों द्वारा केन्द्र से लिए गये ऋण को समाप्त करके—रिपोर्ट में सुझाव दिया गया था कि आसाम, बंगाल, बिहार, उड़ीसा तथा उत्तरी-पश्चिमी सीमा प्रान्त का अप्रैल सन् १९३६ के पहले का सब ऋण समाप्त कर दिया जाय। मध्य प्रान्त का सन् १९३६ के पहले का तथा सन् १९२१ के पहले का २ करोड़ रुपयों का ऋण समाप्त कर दिया जावे। इन ऋणों को समाप्त करने पर प्रान्तों को निम्नलिखित वार्षिक बचत होगी :—

(लाख रुपयों में)

प्रान्त	वार्षिक बचत	प्रान्त	वार्षिक बचत	प्रान्त	वार्षिक बचत
बंगाल	३३	आसाम	१५	उड़ीसा	९·५
बिहार	२२.००२	उत्तरी-पश्चिमी सीमाप्रान्त	१२	मध्य प्रान्त	१·५

२. जूट निर्यात कर का भाग—जूट का उत्पादन करने वाले प्रान्तों को पहले ही से जूट निर्यात कर का ५० प्रतिशत भाग मिल रहा था। नीमियर का सुझाव था कि उनको ६२½ प्रतिशत भाग दिया जाए। उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया था कि यह सहायता इसलिए नहीं दी जा रही है कि इस पर प्रान्तों का कोई विशेष प्राकृतिक अधिकार था बल्कि इसलिए दी जा रही है कि उनको सहायता की आवश्यकता थी।

३. आर्थिक सहायता—ओटो नीमियर का सुझाव था कि उपर्युक्त दोनों सहायता के अतिरिक्त प्रान्तों को कुछ वार्षिक सहायता भी दी जाए। अतः संयुक्त

प्रान्त को ५ वर्षों तक २५ लाख, आसाम को ३० लाख, उड़ीसा को ४० लाख, उत्तरी-पश्चिमी सीमा प्रान्त को १०० लाख, और सिन्ध को १०५ लाख रुपये (१० वर्षों के लिए) देने का सुझाव दिया गया।

अन्तिम सहायता—ओटो नीमियर की सबसे महत्त्वपूर्ण सिफारिश आय-कर के वितरण के सम्बन्ध में थी। इस सिफारिश के अनुसार प्रान्तों को आय-कर का ५० प्रतिशत भाग मिलना था। यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि आय-कर में कॉरपोरेशन कर सम्मिलित न था। यह सिफारिश करते समय उन्होंने केन्द्र को प्रान्तों की आय-कर की आय का कुछ अथवा आंशिक भाग ५ वर्षों तक उस स्थिति में अपने पास रखने का अधिकार दिया जब तक केन्द्र का आय-कर का भाग तथा रेलों का भाग मिलाकर १३ करोड़ रुपया न हो जाए। इन ५ वर्षों के बाद अगले ५ वर्षों में केन्द्र प्रान्तों को अपने पास जमा किया हुआ आय-कर का भाग धीरे-धीरे लौटायेगा। इस प्रकार स्पष्ट ही है कि प्रान्तों को स्व-शासन के ११वें वर्ष में अपनी आय-कर का पूरा भाग मिल सकेगा।

आय-कर के विभाजन के सम्बन्ध में उन्होंने इस बात को ध्यान में रखा कि प्रान्त-विशेष से कितना आय-कर इकट्ठा किया जाता है तथा उसकी जनसंख्या कितनी है। इन बातों को ध्यान में रखकर उन्होंने हर प्रान्त को निम्नलिखित ढंग से आय-कर बाँटने की सिफारिश की :—

प्रान्त	प्रतिशत	प्रान्त	प्रतिशत	प्रान्त	प्रतिशत
मद्रास	१५	संयुक्त प्रांत	१५	उत्तरी पश्चिमी सीमा प्रान्त	१
बम्बई	२०	बिहार	१०	उड़ीसा	२
बंगाल	२०	मध्य प्रान्त	५	सिन्ध	२
पंजाब	८	आसाम	२		

ओटो नीमियर रिपोर्ट पर एक दृष्टि—ओटो नीमियर की रिपोर्ट से कोई भी प्रान्त खुश नहीं था। लगभग सभी प्रान्तों ने अपनी-अपनी शिकायत भारत-मन्त्री के पास भेजी। बम्बई प्रान्त का दावा था कि अकेले बम्बई प्रान्त से ही आय-कर का लगभग २५ प्रतिशत भाग जमा होता है, इसलिए उसको उसी अनुपात में आय-कर का भाग भी मिलना चाहिये। उसका यह भी कहना था कि जिस प्रकार बंगाल को जूट निर्यात कर में से आर्थिक सहायता दी जा रही है उसी प्रकार उसको कपास कर में से भी सहायता दी जाए। मद्रास प्रान्त भी चुप नहीं रहा। उसका कहना था कि आय-कर का विभाजन जनसंख्या के आधार पर होना चाहिए और इस प्रकार उसको आय-कर का २४ प्रतिशत भाग दिया जाये। बिहार ने भी मद्रास का समर्थन किया। यह आय-कर का अधिक भाग इसलिए चाहता था, क्योंकि वह सब से अधिक निर्धन था। संयुक्त प्रान्त का भी कहना था कि जब बम्बई और बंगाल को आय-कर का एक बड़ा भाग दिया जाता है तो उसको भी एक बड़ा भाग मिलना चाहिए। इस प्रकार लगभग प्रत्येक प्रान्त ने किसी न किसी आधार पर आय-कर का अधिक भाग

प्राप्त करने का प्रयास किया।

इसमें कोई संदेह नहीं कि प्रान्तों को राष्ट्रीय विकास-सम्बन्धी मदों को सौंप देने के कारण अधिक आर्थिक सहायता की आवश्यकता थी, इसीलिये उनकी माँग न्यायोचित ही थी। इसके अतिरिक्त यह शर्त, कि जब तक केन्द्र के पास आयकर और रेलों का लाभ मिलाकर १३ करोड़ रुपया न हो जाए, प्रान्तों को आयकर का भाग नहीं मिलेगा, भी अनुचित थी। यह भी सही है कि ओटो नीमियर ने आय-कर का कम भाग प्रान्तों को बाँटने की सलाह देकर, प्रान्तों के साथ घोर अन्याय किया था। परन्तु इन सब बातों के साथ-साथ यह भी कहा जा सकता है कि केन्द्रीय सरकार का व्यय लगभग स्थायी रहने पर भी उसको धन की बहुत आवश्यकता थी, क्योंकि उसको समस्त देश की रक्षा करनी थी, विदेशों में अपनी साख बढ़ानी थी और देश में शान्ति स्थापित करनी थी तथा अन्य महत्त्वपूर्ण कार्य करने थे।

आर्थिक सहायता के कारण प्रान्तों का आपसी मतभेद बहुत बढ़ गया था। यदि निष्पक्ष होकर देखा जाय तो यह सहायता प्रान्तों को आवश्यकतानुसार दी गई थी। जो प्रान्त धनी और मितव्ययी थे उनको कम सहायता दी गई और जो फिजूल-खर्च थे उनको अधिक सहायता प्राप्त हुई। यह सहायता प्रान्तों को केवल कुछ ही वर्षों तक देने के लिए सुझाव दिया गया था परन्तु ओटो नीमियर ने यह निश्चित नहीं किया था कि यदि इस अवधि में प्रान्तों की स्थायी रूप से उन्नति न हो पाई तब प्रान्तों को अपनी आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए कौन सा उपाय करना चाहिए। इसके अतिरिक्त पहले १० वर्षों में तो आय-कर का कोई भाग मिलने की आशा थी ही नहीं, और उसके बाद जो कुछ आशा थी भी, वह केवल अधिविधि (Academic) ही थी। इस बीच में तो प्रान्त अपनी आर्थिक स्थिति को परिस्थितियों के अनुकूल कर ही लेंगे।

परन्तु इन सब आलोचनाओं के बाद भी यह मानना पड़ेगा कि ओटो-नीमियर का कार्य सरल न था। वह सब प्रान्तों को संतुष्ट नहीं कर सकते थे। जहाँ तक आर्थिक सहायता का सम्बन्ध है वह भी निष्पक्ष होकर ही निश्चित की गई थी और यह भी ध्यान रहे कि स्व-शासन आरम्भ होने के पहले वर्ष में ही केन्द्र की स्थिति इतनी सुधर गई थी कि प्रान्तों को आय-कर का भाग मिलने लगा था। यह इस प्रकार था:—बम्बई २५ लाख रु०, मद्रास १८·७५, बंगाल २५, संयुक्त प्रान्त १८·७५, पंजाब १०, बिहार १२·५०, मध्य प्रान्त ६·२५, सिन्ध २·५०, आसाम २·५०, उड़ीसा २·५० और उत्तरी-पश्चिमी सीमा प्रान्त १·२५ लाख रु०। इस प्रकार कुल १२५ लाख रुपयों की राशि विभिन्न प्रान्तों में विभाजित की गई थी।

द्वितीय महायुद्ध—द्वितीय महायुद्ध के आरम्भ होते ही देश के साधनों को युद्ध-कार्यों की ओर संचालित किया गया। युद्ध संचालन के लिए सरकार को बहुत बड़ी मात्रा में वित्त की आवश्यकता अनुभव हुई। सन् १९३९ में आय-कर से प्राप्त आय में भी वृद्धि हुई। सरकार ने युद्ध-सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए एक संशोधन किया जिसके अनुसार सरकार आय-कर का प्रान्तों को मिलने वाले भाग में

से ४½ करोड़ रुपया अपने पास रख सकती थी। सरकार ने आय-कर, कारपोरेशन कर और सीमा कर की दर में वृद्धि करने के साथ-साथ कुछ नये करों को भी लगाया, रेल के किरायों में भी वृद्धि की, और तार-डाक इत्यादि की सेवाओं के मूल्य में भी सामान्य वृद्धि की। सरकार ने ऋण प्राप्त किये और अधिक पत्र मुद्रा छापी। जिसके कारण अनेकों प्रकार की आर्थिक और सामाजिक कठिनाइयाँ उत्पन्न हुईं।

—: ० :—

अध्याय १५

भारत में संघीय वित्त-व्यवस्था (क्रमशः)
(स्वतन्त्रता और उसके पश्चात्)
FEDERAL FINANCIAL SYSTEM IN INDIA (CONTD.)
(Independence and After)

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत का संविधान बनाने के लिए संविधानसभा (Constituent Assembly) डा० अम्बेदकर की अध्यक्षता में नियुक्ति की गई और भारत का गणतन्त्र संविधान सन् १९५० से आरम्भ हुआ। इसी बीच देश के विभाजन के फलस्वरूप सिन्ध और उत्तरी-पश्चिमी सीमा प्रान्त पाकिस्तान को चले गये और बंगाल तथा पंजाब का भी विभाजन हो गया। अत: इस बात की आवश्यकता अनुभव हुई कि प्रान्तों में आय-कर के भाग को बाँटने के लिए एक नई योजना तैयार की जाए। १७ मार्च सन् १९४८ को एक नई योजना घोषित की गई जिसके अनुसार निम्नांकित परिवर्तन किए गये :—

१. भविष्य में प्रान्तों को आय-कर में से प्राप्त होने वाले भाग का प्रतिशत इस प्रकार होगा:— बम्बई २१, पश्चिमी बंगाल १२, पूर्वी पंजाब ५, मद्रास १८, बिहार १३, संयुक्त प्रान्त १९, मध्य प्रदेश तथा बरार ६, आसाम और उड़ीसा ३।

२. ओटो नीमियर योजना के अनुसार जूट उगाने वाले प्रान्तों को जूट निर्यात कर का जो ६२$\frac{1}{2}$% भाग मिल रहा था उसको घटा कर २०% कर दिया गया।

३. केवल आसाम और उड़ीसा को ही आर्थिक सहायता देने का निश्चय किया गया जो निम्न प्रकार थी :—

वर्ष	आसाम	उड़ीसा
१९४७-४८	१८·७५ लाख रुपये	२५ लाख रुपये
१९४८-४९	३० लाख रुपये	४० लाख रुपये

४. यह भी निश्चित किया गया कि आय-कर की कुल आय का १% चीफ कमिश्नर के प्रान्तों को दिया जायेगा।

आय-कर को जनसंख्या के आधार पर विभाजित किया था। इस योजना

से भी कोई प्रान्त प्रसन्न न था और पहले ही की भाँति उनमें आपसी ईर्ष्या बनी रही।

सरकार समिति (Sarkar Committee)—मार्च सन् १९४८ की योजना केवल दो वर्षों के लिए ही थी इसलिए प्रान्तीय आय-कर के भाग को किस प्रकार विभाजित किया जाय, यह निश्चित करने के लिए भारत सरकार ने श्री एन० आर० सरकार की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की। इस समिति के प्रस्ताव प्रान्तों के हित में थे परन्तु सरकार ने इनको स्वीकार नहीं किया। तत्पश्चात् सरकार ने श्री देशमुख को नियुक्त किया। इनके सुझाव केवल १९५०–५१ और १९५१–५२ के ही लिए थे और सरकार ने इनको स्वीकार कर लिया था।

देशमुख एवार्ड (Deshmukh Award)—यह एवार्ड निम्न प्रकार था :—

आयकर का विभाजन—देशमुख ने इस सम्बन्ध में अपना कोई नया सिद्धान्त प्रस्तुत नहीं किया था। क्योंकि उन्हें ज्ञात ही था कि नये संविधान के अनुसार सन् १९५२ में वित्त आयोग (Finance Commission) नियुक्त ही होगा जो समस्या का विस्तृत अध्ययन करेगा, इसलिए उन्होंने ओटो नीमियर एवार्ड में उतने ही संशोधन किये जो देश के विभाजन हो जाने के कारण आवश्यक थे। उनके अनुसार आय-कर का विभाजन निम्न प्रकार किया जाना था :—

बम्बई २१%, उत्तर प्रदेश १८%, मद्रास १७½%, पश्चिमी बंगाल १३½% बिहार १२½%, मध्य प्रदेश ६%, पूर्वी पंजाब ५½%, आसाम और उड़ीसा ३%।

जूट निर्यात कर—नये संविधान के अनुसार जूट निर्यात कर पूर्ण रूप से केन्द्र के हिस्सों में था। केन्द्रीय सरकार, यदि चाहे तो, जूट उगाने वाले प्रान्तों को आर्थिक सहायता दे सकती थी। देशमुख ने इस आर्थिक सहायता की राशि को निम्न रूप दिया :—

पश्चिमी बंगाल १०५ लाख रुपये, आसाम ४० लाख रुपये, बिहार ३५ लाख रुपये और उड़ीसा ५ लाख रुपये।

देशमुख एवार्ड पर एक दृष्टि—इस एवार्ड का भी प्रान्तों ने कोई स्वागत किया। बम्बई, बिहार, बंगाल, मद्रास आदि प्रान्तों ने इसकी आलोचना की, क्योंकि उनको तो यह आशा थी कि इस नये एवार्ड से पुराने एवार्ड की कमियों को दूर किया जायेगा। परन्तु जैसा कि हम कह ही चुके हैं देशमुख का काम किसी नए सिद्धान्त की रचना करना नहीं था बल्कि विभाजन से उत्पन्न होने वाली गड़बड़ी के कारण बचे हुए अतिरिक्त कोष का उचित वितरण करना था। इसके अतिरिक्त इन सुझावों को स्थायी रूप देने का तो इरादा था ही नहीं, इसलिए देशमुख एवार्ड को दोषपूर्ण ठहराना अनुचित होगा।

देशी रियासतों का एकीकरण—ब्रिटिश साम्राज्य काल में भारत में ६०० देशी रियासतें थीं, जिन पर सरकार का कोई भी वित्तीय नियन्त्रण नहीं था। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद इनके वित्तीय एकीकरण की आवश्यकता अनुभव हुई। यह उसी समय सम्भव

था जबकि उनका राजनैतिक एकीकरण हो जाता और उनमें गणतन्त्र स्थापित हो जाता। १९४८ में श्री कृष्णामाचारी की अध्यक्षता में नियुक्त वित्तीय जांच समिति ने केन्द्र तथा रियासतों के बीच वित्तीय सम्बन्ध स्थापित करने के लिए तीन सिद्धान्त प्रस्तुत किए थे—(१) केन्द्र का इन रियासतों में केवल उन्हीं विषयों पर नियन्त्रण होना चाहिए जिन पर प्रान्तों में हो। (२) केन्द्र तथा रियासतें विभिन्न आर्थिक तथा वित्तीय मामलों में एक दूसरे को वही सहयोग देंगे जो केन्द्र तथा प्रान्तों में है और (३) केन्द्रीय सरकार अपने प्रशासनिक यंत्र का उपयोग इन रियासतों में प्रान्तों की भाँति ही करेगी। इस प्रकार समिति ने रियासतों को प्रान्तीय स्तर पर लाने का सुझाव दिया था, जिसका समावेश गणतन्त्रीय संविधान में कर दिया गया।

इस प्रकार के परिवर्तनों से बहुत से राज्यों में वित्तीय गड़बड़ी उत्पन्न हुई और धीरे-धीरे स्थिति सन्तुलित होती गई। इस प्रकार देशी रियासतों के एकीकरण से अनेकों लाभ देश को प्राप्त हुए। प्रथम सम्पूर्ण देश के लिए एक सी ही वित्तीय प्रणाली की स्थापना हो सकी। दूसरे, संघ सरकार सम्पूर्ण देश पर एक सी ही कुशलता से नियन्त्रण रख सकेगी। तीसरे, देशी रियासतों को भी संघ सरकार के व्यय से उतने ही लाभ प्राप्त हो सकेंगे जितने कि प्रान्तों को होंगे।

भारत के गणतन्त्रीय विधान के अन्तर्गत राज्य और संघ सरकार के पारस्परिक वित्तीय सम्बन्ध :—

२६ जनवरी सन् १९५० को नया संविधान लागू किया गया जिसके अनुसार भारत राज्यों का एक संघ था, भारत में तीन प्रकार के राज्य थे—अ, ब और स। 'अ' राज्य वे थे जो संविधान में लागू होने से पहले प्रान्त कहलाते थे। 'ब' प्रकार के राज्य वे थे जो पहले रियासतें कहलाती थीं और 'स' प्रकार के राज्यों में वे क्षेत्र थे जो पहले चीफ कमिश्नर के आधीन थे। इसमें अन्य क्षेत्र भी सम्मिलित थे। नए संविधान में प्रान्तों और संघ सरकार के बीच जो कार्यों का विभाजन किया गया था वह ठीक उसी प्रकार था जैसा कि सन् १९३५ के ऐक्ट में था।

आय-स्रोतों का वितरण—नए संविधान की प्रमुख विशेषता यह है कि आय के स्रोतों का वितरण बड़े ही स्पष्ट ढंग से किया गया है और आय के स्रोतों को दो भागों में विभाजित किया गया है—संघ सम्बन्धी और राज्य सम्बन्धी। इसकी दूसरी विशेषता यह है कि कुछ कर संघ सरकार द्वारा लगाए जायेंगे और वसूल किए जायेंगे, परन्तु उनकी आय राज्यों को प्राप्त होगी। हमारे संविधान की तीसरी विशेषता यह है कि कुछ कर संघ सरकार द्वारा लगाए जायेंगे और वसूल भी किए जायेंगे, परन्तु उनकी आय राज्यों और संघ दोनों ही में बाँटी जायेगी। आय के स्रोतों का बंटवारा निम्न प्रकार से किया गया है :—

(अ) संघ सरकार की आय के स्रोत—रेलें, डाक व तार, टेलीफून, बेतार का तार (Wireless), प्रसारण (Broadcasting) तथा अन्य प्रकार के संवाद वाहन, सीमा कर, कारपोरेशन कर इत्यादि, संघ सरकार की आय के मुख्य स्रोत हैं।

(ब) **राज्यों की आय के स्रोत**—मालगुजारी, कृषि आयकर, नशीली वस्तुओं पर उत्पादन कर, विक्रय कर, मनोरंजन कर इत्यादि राज्यों की आय के मुख्य स्रोत हैं।

(स) वे कर जो संघ द्वारा लगाए जायेंगे और जमा किए जायेंगे, परन्तु उनकी आय का बंटवारा राज्य और संघ दोनों में ही होगा—इसके अन्तर्गत कृषि आय के अतिरिक्त अन्य आय पर कर और केन्द्रीय उत्पादन कर।

(द) वे कर जो संघ द्वारा लगाए जायेंगे और एकत्रित होंगे परन्तु उनकी सारी आय राज्यों को ही प्राप्त होगी—इनके अन्तर्गत मृत्यु कर, कृषि सम्पत्ति के अतिरिक्त अन्य सम्पत्ति कर, रेल, समुद्र, तथा वायु-मार्गों से जाने वाली वस्तुओं तथा यात्रियों पर कर।

(य) वे कर जो संघ द्वारा लगाए जायेंगे परन्तु जिन्हें राज्य वसूल करेंगे और जिनकी आय राज्यों को प्राप्त होगी—इनके अन्तर्गत स्टाम्प कर और दवाइयों तथा शृंगार करने की सामग्री पर लगाए हुए कर सम्मिलित हैं।

यह निश्चय किया गया है कि संघ सरकार तथा राज्य सरकारों की आय अलग-अलग संचित कोषों में जमा की जायेगी। संघ सरकार की सारी आय को 'भारत के संचित कोष' (Consolidated Fund of India) में और राज्यों की सारी आय को 'राज्य के संचित कोष' (Consolidated Fund of the State) में जमा किया जायेगा।

सन् १९५० के संविधान में संघ तथा राज्यों में वित्तीय संतुलन स्थापित करने के लिए तीन तत्वों का उल्लेख किया गया है : प्रथम, गैर-कृषि आय-कर और संघ उत्पादन करों को बाँट कर। दूसरे, संघ द्वारा राज्यों को आर्थिक सहायता देकर—यह आर्थिक सहायता भारत के संचित कोष में से उन राज्यों को दी जायेगी जिनको कि उसकी आवश्यकता है। भिन्न-भिन्न राज्यों के लिए भिन्न-भिन्न राशि निश्चित की जा सकती है। राज्यों को यह सहायता उन योजनाओं को पूरा करने के लिए भी दी जा सकती है जिनका उद्देश्य अनुसूचित जातियों (Scheduled Tribes) के कल्याण की वृद्धि करना है। संविधान में जूट उगाने वाले राज्यों को जूट निर्यात कर में से कोई भी हिस्सा देने की व्यवस्था नहीं की गई है। परन्तु यह स्पष्ट कर दिया गया है कि इसके बदले में उनको आर्थिक सहायता प्रदान की जा सकती है। भारतीय संविधान में अन्तिम व्यवस्था यह की गई है कि संघ सरकार राज्यों की सूची में निश्चित किए गये करों पर अधिभार (Surcharge) लगा सकती है। इन अधिभारों से जो आय प्राप्त होगी वह पूर्णतया केन्द्रीय सरकार को होगी।

संविधान में दो वर्ष के भीतर ही एक वित्तीय आयोग नियुक्त करने का निश्चय किया गया था। इसके पश्चात् यह आयोग हर पाँचवें वर्ष या यदि राष्ट्रपति चाहे तो पहले भी नियुक्त किया जा सकता है। यह आयोग इन बातों पर अपना मत प्रगट करेगा—(अ) संघ और राज्यों में आय-कर के बंटवारे की विधि (ब) भारत

के संचित कोष में से राज्यों को आर्थिक सहायता देने के सिद्धान्त (स) भारत सरकार तथा 'ब' श्रेणी के राज्यों में हुए समझौते को वैसा ही बनाये रखा जाये या उसमें कोई परिवर्तन किया जाए।

प्रथम वित्त आयोग (First Finance Commission)

नये संविधान के अनुसार सन् १९५२ में श्री के० सी० नियोगी की अध्यक्षता में स्वतन्त्र भारत के प्रथम वित्त आयोग की नियुक्ति हुई। हम ऊपर वित्त आयोग की नियुक्ति के उद्देश्यों की गणना कर ही चुके हैं। यहाँ पर हम आयोग के सुझावों की ओर ही ध्यान देंगे। आयोग ने जाँच-पड़ताल के बाद यह निष्कर्ष प्राप्त किया था कि राज्यों को बहुत आय की आवश्यकता है और यह अति आवश्यक है कि उनकी आय में वृद्धि हो। आयोग ने इस बात पर भी ध्यान दिया कि केन्द्र किस सीमा तक राज्यों को अपनी आय में से सहायता दे सकता है। आयोग ने मुख्य रूप से तीन बातों को ध्यान में रखा था। प्रथम, केन्द्र के क्षेत्र में से आय के जो अतिरिक्त स्रोत राज्यों को दिए जायेंगे वह ऐसे होने चाहियें जिनके अलग होने से केन्द्र की वित्तीय स्थिति बिगड़ने न पाये, क्योंकि उस पर देश की सुरक्षा और अर्थ-व्यवस्था के स्थायित्व जैसी महत्वपूर्ण बातों की जिम्मेदारी है। आयोग ने दूसरी बात जो ध्यान में रखी वह यह थी कि आर्थिक सहायता के वितरण-सम्बन्धी सिद्धान्तों को 'अ' और 'ब' श्रेणी के राज्यों में समान रूप से लागू किया जाए। अन्तिम महत्वपूर्ण बात यह थी कि वितरण की ऐसी योजना तैयार की जाए, जिससे राज्यों में असमानताएँ न्यूनतम रहें।

वित्त आयोग की सिफारिशें—वित्त आयोग की मुख्य सिफारिशें निम्न प्रकार थीं :—

१. **आयकर की आय का वितरण**—अभी तक प्रान्तों को आय-कर का ५०% भाग ही प्राप्त होता था, परन्तु कमीशन का सुझाव था कि अब प्रान्तों को आय-कर की आय का ५५% भाग दिया जाना चाहिए, क्योंकि एक तो उनकी आवश्यकताओं में काफी वृद्धि हो गई थी और दूसरे, 'ब' श्रेणी के राज्य भी अब हिस्सा बँटाने वाले हो गए थे। आयोग ने उन सभी दलीलों का अध्ययन किया जो राज्यों ने पिछले वर्षों में आय-कर की आय में से एक बड़ा भाग प्राप्त करने के लिए दी थीं, उसके अनुसार आय-कर का वितरण निम्न बातों पर आधारित होना चाहिए :—

(अ) जनसंख्या द्वारा प्रस्तुत की गई आवश्यकतायें।

(ब) प्रत्येक राज्य से एकत्रित की गई आय-कर की राशि।

आयोग का प्रस्ताव था कि आय-कर की आय का जो भाग राज्यों में बाँटना था उसका ८०% भाग जनसंख्या के आधार पर बाँटा जाय और २०% भाग एकत्रित किए गए आय-कर की राशि के अनुपात में बाँटा जाय। आयोग के अनुसार विभिन्न राज्यों में आय-कर का बँटवारा निम्न प्रकार होना चाहिए :—

राज्य	राज्यों को आय-कर में से प्राप्त होने वाला प्रतिशत	राज्य	राज्यों को आय-कर में से प्राप्त होने वाला प्रतिशत
वम्बई	१७·५०	राजस्थान	३·५०
उत्तर-प्रदेश	१५·७५	पंजाव	३·२५
मद्रास	१५·२५	ट्रावनकोर-कोचीन	२·५२
पश्चिमी वंगाल	११·२५	आसाम	२·२५
विहार	९·७५	मैसूर	२·२५
मध्य-प्रदेश	५·२५	मध्य भारत	१·७५
हैदरावाद	४·५०	सौराष्ट्र	·००
उड़ीसा	३·५०	पटियाला तथा पूर्वी पंजाव रियासती यूनियन	०·७५

२. **संघीय उत्पादन करों का वितरण**—यद्यपि आयोग को संघ उत्पादन करों के वितरण के लिए अपने प्रस्ताव नहीं देने थे। परन्तु उसने राज्यों को आर्थिक सहायता प्रदान करने के लिए जो योजना प्रस्तुत की थी उसमें उसने उत्पादन करों के वितरण के लिए भी अपने प्रस्ताव दिये। आयोग ने तीन उत्पादन करों—तम्बाकू, दियासलाई, और वनस्पति—को राज्यों में बाँटने के लिए उपयुक्त समझा, क्योंकि यह वस्तुएँ सामान्य उपयोग की हैं और इनसे आय भी बहुत प्राप्त होती है। आयोग की सिफारिश थी कि इन उत्पादन करों की शुद्ध प्राप्तियों (Net Proceeds) का ४० प्रतिशत भाग राज्यों में जनसंख्या के अनुपात में बाँटा जाय। आयोग का यह भी प्रस्ताव था कि विभिन्न राज्यों में इन वस्तुओं के उपभोग-सम्बन्धी आँकड़े जमा किए जायें ताकि दूसरा वित्त आयोग उपभोग के आधार पर उत्पादन करों का वितरण कर सके। आयोग के अनुसार उत्पादन करों का भाग इस प्रकार होना चाहिए :—

राज्य	राज्यों को प्राप्त होने वाले उत्पादन करों के भागों का प्रतिशत	राज्य	राज्यों को प्राप्त होने वाले उत्पादन करों के भागों का प्रतिशत
उत्तर-प्रदेश	१८·२३	उड़ीसा	४·२२
मद्रास	१६·४४	पंजाव	३·६६
विहार	११·६०	ट्रावनकोर-कोचीन	२·६८
वम्बई	१०·३७	मैसूर	२·६२
पश्चिमी वंगाल	७·१६	आसाम	२·६१
मध्य-प्रदेश	६·१३	मध्य भारत	२·२९
हैदरावाद	५·२९	सौराष्ट्र	१·१९
राजस्थान	४·४१	पटियाला तथा पूर्वी पंजाव रियासती यूनियन	१·००

जूट निर्यात कर के स्थान पर आर्थिक सहायता (Grants-in-aid in lieu of Jute export duty)—सन् १९५० के संविधान में जूट उगाने वाले राज्यों को जूट निर्यात करके वितरण के सम्बन्ध में कोई भी व्यवस्था नहीं की गई है। परन्तु इसके स्थान पर आर्थिक सहायता देने का प्रबन्ध किया गया है। आयोग ने निम्न चार प्रान्तों को वार्षिक आर्थिक सहायता देने की सिफारिश इस प्रकार की है :—

पश्चिमी बंगाल	१५० लाख रुपये	बिहार	७५ लाख रुपये
उड़ीसा	१५ लाख रुपये	आसाम	७५ लाख रुपये

राज्यों को आर्थिक सहायता (Grants-in-aid)—आयोग ने केन्द्र द्वारा राज्यों को आर्थिक सहायता दिये जाने के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण सुझाव दिये हैं। इसने आर्थिक सहायता देने के विभिन्न कारणों का विश्लेषण किया और उन सिद्धान्तों की विवेचना की है जिनके आधार पर ऐसी सहायता दी जाए। आयोग के अनुसार शर्त-सहित और शर्त-रहित दोनों ही प्रकार की आर्थिक सहायता दी जा सकती हैं। शर्त-सहित सहायता का मुख्य उद्देश्य राज्य सरकारों की आय में वृद्धि करना होना चाहिये और राज्यों को पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए कि वे इस सहायता को जिस प्रकार चाहें उपयोग में लायें। शर्त सहित सहायता केवल विशेष प्रकार की सेवाओं के विस्तार को प्रोत्साहन देने के लिए ही दी जाए।

विभिन्न राज्यों को आर्थिक सहायता किस सीमा तक दी जाए, आयोग ने इसके लिए कुछ आधार बताये हैं। इनमें से मुख्य आधार निम्न प्रकार हैं :—

(अ) राज्य किस सीमा तक अपनी सहायता स्वयं करने का प्रयत्न करते हैं। यह बड़ा ही उपयुक्त आधार है, क्योंकि यदि राज्य सरकारों को यह विश्वास दिला दिया जाएगा कि केन्द्र उनके बजट के घाटों को पूरा करने के लिए प्रत्येक वर्ष इसी प्रकार की सहायता देता रहेगा तो यह निश्चित ही है कि राज्य सरकारों की फिजूल-खर्ची तथा अपव्ययिता बढ़ जाएगी।

(ब) प्रारम्भिक सामाजिक सेवाओं के स्तरों को समान करने के लिए आयोग ने कुछ सामाजिक सेवाओं के विस्तार के लिए और सभी राज्यों में समान स्तर प्राप्त करने के लिए विशेष आर्थिक सहायता देने का सुझाव दिया है। इस प्रकार की सामाजिक सेवाओं में प्रारम्भिक शिक्षा का एक उपयुक्त उदाहरण है।

(स) सम्पूर्ण देश से सम्बन्धित विशेष जिम्मेदारियाँ हैं। ऐसी समस्याएं, यद्यपि पूरे देश से ही सम्बन्धित क्यों न हों, कुछ विशेष राज्यों के अपने क्षेत्रों में ही उत्पन्न हो सकती हैं—उदाहरणार्थ देश के विभाजन से उत्पन्न होने वाली समस्याएं ऐसी विशेष समस्याओं के लिए विशेष आर्थिक सहायता प्रदान की जाय।

(द) प्रारम्भिक महत्व की उपयोगी सेवाओं की व्यवस्था के लिए भी कम उन्नत राज्यों को राष्ट्रीय हित में आर्थिक सहायता दी जा सकती है।

आयोग का यह भी सुझाव था कि एक ऐसी संस्था स्थापित की जाय जो राज्यों की अर्थ-व्यवस्था का निरन्तर अध्ययन करे ताकि यदि भविष्य में वित्त

आयोग नियुक्त किये जायें तो उन्हें अपनी जाँच के आरम्भ में ही आवश्यक आंकड़े प्राप्त हो जायें।

वित्त आयोग की रिपोर्ट पर एक दृष्टि—वित्त आयोग की सभी सिफारिशें भारत सरकार ने स्वीकार कर ली थीं। यह भी स्वाभाविक है कि वित्त आयोग द्वारा प्रस्तुत की गई आय के वितरण की योजना से सभी राज्य संतुष्ट नहीं हो सकते थे। फिर भी अधिकतर राज्यों ने अपनी सन्तुष्टि प्रकट की और सामान्य रूप से आयोग की सिफारिशों का हार्दिक स्वागत हुआ। आयोग का मुख्य उद्देश्य राज्यों की आय के स्रोतों में वृद्धि करना था जो कि उसने बड़े ही सुन्दर ढंग से किया। जिन उत्पादन करों की आय को बाँटने के लिए आयोग ने चुना था वे भी अनुचित न थे। जनसंख्या के आधार पर आयकर का बँटवारा भी सरल और उपयुक्त था। आयोग की सिफारिशों में सबसे उत्तम बात यह थी कि उसने राज्यों और केन्द्र दोनों ही की स्थिति को ध्यान में रखकर अपने सुझाव दिये थे। परन्तु न्याय की दृष्टि से इतना कहना ही पड़ेगा कि आयोग ने राज्यों को प्राप्त होने वाली वित्तीय सहायता में जो वृद्धि की थी उसका बुरा प्रभाव यह भी हो सकता है कि राज्य अपने आय के साधनों को बढ़ाने के लिए स्वयं कोई प्रयत्न करने के लिए उदासीन हो जायें और अपने खर्चों को कम करने का प्रयत्न ही नहीं करें। वास्तव में बहुत से राज्य केन्द्रीय सहायता पर ही निर्भर करते चले आये हैं और उन्होंने अपने स्रोतों को बढ़ाने का कोई प्रयत्न ही नहीं किया। कभी-कभी अधिक उदारता भी स्थिति को बिगाड़ देती है। इसलिये ऐसा हो सकता है कि राज्यों के लिए भी यह उदारता हानिकारक सिद्ध हो। फिर भी यह सम्भावना तो हर एक योजना में ही रहेगी, जब तक कि केन्द्रीय सरकार को राज्य सरकारों की नीतियों में बलपूर्वक हस्तक्षेप करने का अधिकार न हो।

दूसरा वित्त आयोग (Second Finance Commission)

मई सन् १९५६ में श्री के० सन्थानम की अध्यक्षता में दूसरा वित्त आयोग नियुक्त किया गया। इस आयोग का कार्यक्षेत्र पहले आयोग की अपेक्षा अधिक विस्तृत था। इसको संघ और राज्य सरकारों के बीच वितरण होने वाले करों के बँटवारे में हर राज्य को मिलने वाला भाग, और केन्द्र से राज्यों को प्राप्त होने वाली आर्थिक सहायता को निर्धारित करने वाले सिद्धान्तों के सम्बन्ध में अपने सुझाव देने के अतिरिक्त निम्न बातों पर भी अपने सुझाव देने थे :—

१. आसाम, बिहार, उड़ीसा और पश्चिमी बंगाल को जूट निर्यात कर के भाग के बदले में आर्थिक सहायता की राशि।

२. राज्यों को दूसरी पंचवर्षीय योजना सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आर्थिक सहायता।

३. गैर कृषि सम्पत्ति पर लगे हुये मृत्यु कर से प्राप्त शुद्ध प्राप्तियों (Net Proceeds) को राज्यों में बाँटने के लिए सिद्धान्तों की रचना।

४. भारत सरकार द्वारा राज्यों को सन् १९४७ और सन् १९५६ के बीच के ऋणों की सूद की दरों और भुगतान शर्तों में संशोधन (यदि आवश्यकता हो तो)।

५. राज्य सरकारों द्वारा बिक्री कर हटाये जाने पर भारत सरकार ने कपड़े, चीनी और तम्बाकू पर जो अतिरिक्त उत्पादन कर लागू किया था, उसकी आय के बँटवारे के लिए उचित सिद्धान्त का निर्माण करना।

६. रेल किरायों पर लगे हुए कर की वास्तविक आय के बँटवारे के लिए सिद्धान्त बनाना।

आयोग ने अपनी अन्तिम रिपोर्ट सितम्बर सन् १९५७ में प्रस्तुत की थी। आयोग ने मुख्य रूप से इस बात की ओर ध्यान दिया कि राज्यों के पास आय के इतने साधन हो जायें कि वे अपने सामान्य खर्चों को पूरा कर लें और अपनी दूसरी पंचवर्षीय योजना-सम्बन्धी आवश्यकताओं की भी पूर्ति कर सकें। आयोग ने राज्यों की आधारभूत आवश्यकताओं और विकास-सम्बन्धी आवश्यकताओं को साथ-साथ ध्यान में रख कर अपने सुझाव दिये थे, क्योंकि उसका विचार था कि पंचवर्षीय योजना के, संघ और राज्यों से बजटों का एक मुख्य अंग बन जाने के कारण राज्यों की आधारभूत आवश्यकताओं की ओर अलग ध्यान नहीं दिया जा सकता। आयोग के मुख्य सुझाव निम्न प्रकार थे :—

(१) **आयकर का वितरण**—आयोग का सुझाव था कि आयकर की आय में से ६०% भाग राज्यों में बांटा जाय। यह ध्यान रहे, कि प्रथम वित्त आयोग के अनुसार यह प्रतिशत ५५ था। दूसरे आयोग ने ५% की वृद्धि केवल इसीलिए की थी कि राज्य सन्तुष्ट हो जायें। आयकर के वितरण के सम्बन्ध में वित्त आयोग ने जनसंख्या को ही मुख्य आधार माना। पश्चिमी बंगाल और बम्बई का जो यह प्रस्ताव था कि आयकर का वितरण प्रत्येक राज्य से एकत्रित की गई राशि के अनुपात में होना चाहिए, इस सुझाव पर वित्त आयोग ने अपने विचार प्रकट करते हुए कहा कि देश का आर्थिक एकीकरण हो जाने के कारण अब अन्तर-क्षेत्रीय व्यापार पर कोई भी प्रतिबन्ध नहीं थे, इसलिये व्यापारिक आयों पर लगे हुए कर से जो आय प्राप्त होती है वह सारे ही देश से प्राप्त होने वाली आय समझी जानी चाहिए चाहे वह किसी भी राज्य से एकत्रित क्यों न की गई हो। इसके अतिरिक्त बिक्री कर, मोटर गाड़ियों पर लगे हुए कर, मनोरंजन कर, बिजलीकर इत्यादि की आय ने अब औद्योगिक दृष्टिकोण से उन्नत राज्यों की वित्तीय स्थिति को पहले की अपेक्षा अधिक बलपूर्वक बना दिया है। इसलिए अब राज्यों से एकत्रित की गई राशि के आधार पर आयकर के वितरण का प्रश्न ही नहीं उठता। फिर भी इस विचार से कि तार एकदम न टूट जाये आयोग ने यह सुझाव दिया कि, राज्यों को आयकर का १०% भाग तो एकत्रित की गई धनराशि के आधार पर बाँटा जाय और ९०% भाग

जनसंख्या के आधार पर बाँटा जाय। राज्यों को आयकर का हिस्सा निम्न प्रकार दिया जाये[1] :—

राज्य	प्रतिशत	राज्य	प्रतिशत
आन्ध्र प्रदेश	८·१२	मैसूर	५·१४
आसाम	२·४४	उड़ीसा	३·७३
विहार	६·६४	पंजाब	४·२४
बम्बई	१५·६७	राजस्थान	४·०६
केरल	३·६४	उत्तर-प्रदेश	१६·३६
मध्य प्रदेश	६·७२	पश्चिमी बंगाल	१०·०८
मद्रास	८·४०	जम्मू तथा कश्मीर	१·१३

(२) **संघीय उत्पादन करों का वितरण**—आयोग का यह विचार था कि भविष्य में आय-कर की आय में कोई विशेष वृद्धि होने की आशा नहीं थी। इसलिए राज्यों को संघ उत्पादन करों में से अधिक भाग मिलना चाहिए। गत वर्षों में उत्पादन करों के क्षेत्र और उनकी आय में बहुत अधिक वृद्धि हुई है। उत्पादन करों की आय पिछले ५ वर्षों की तुलना में ३ गुनी अधिक हो गई है। सन् १९५२–५३ में जो आय ८३·०३ करोड़ रुपए थी वह सन् १९५७–५८ में २५९·५७ करोड़ रुपए हो गई।

आयोग के अनुसार सभी उत्पादन करों की आय का वितरण करना तो अभी सम्भव न था, परन्तु इनकी मात्रा में पहले की अपेक्षा वृद्धि अवश्य होनी चाहिए। इसलिये उसने सुझाव दिया कि दियासलाई, तम्बाकू और वनस्पति के उत्पादन करों के अतिरिक्त चीनी, चाय, कहवा, कागज़ और वनस्पति कम आवश्यक तेलों (Vegetable non-essential Oils) के उत्पादन करों की आय का भाग भी राज्यों को दिया जाए। आयोग के अनुसार यह भाग २५% होना चाहिए। यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि प्रथम वित्त आयोग ने यह भाग ४०% निर्धारित किया था परन्तु १५% की जो कमी हुई है उसको उत्पादन करों की संख्या में वृद्धि करके पूरा कर दिया गया है। उत्पादन करों के वितरण के लिए प्रथम वित्त आयोग ने जनसंख्या को आधार मानते हुए यह प्रस्ताव दिया था कि भविष्य में जनसंख्या के स्थान पर उपभोग को आधार बनाना अधिक उपयुक्त रहेगा। दूसरे वित्त आयोग का यह विचार था कि उपभोग-सम्बन्धी सही आँकड़े मिलना एक तो कठिन है, दूसरे जनसंख्या ही अधिक उपयुक्त आधार है, क्योंकि उपभोग के आधार पर वितरण करने में नागरीकृत राज्यों (Urbanised States) को अधिक लाभ प्राप्त होंगे। अतः आयोग के अनुसार उत्पादन करों का बँटवारा राज्यों में निम्न प्रकार किया जाये[2] :—

1. Report, 1957, p. 41.
2. *Ibid.*, p. 44.

राज्य	प्रतिशत	राज्य	प्रतिशत
आन्ध्र प्रदेश	६·३८	मैसूर	६·५२
आसाम	३·४६	उड़ीसा	४·४६
बिहार	१०·५७	पंजाब	४·५६
बम्बई	१२·१७	राजस्थान	४·७१
केरल	३·८४	उत्तर-प्रदेश	१५·६४
मध्य-प्रदेश	७·४६	पश्चिमी बंगाल	७·५६
मद्रास	७·५६	जम्मू तथा काश्मीर	१·७५

(३) **जूट निर्यात कर के बदले में आर्थिक सहायता**—भारत के संविधान के अनुसार जूट उगाने वाले प्रान्तों को जूट निर्यात कर का जो भाग सन् १६३५ से प्राप्त हो रहा था वह बन्द कर दिया गया और उसके स्थान पर राज्यों की आय में होने वाली कमी को पूरा करने के लिए सन् १६६० तक आर्थिक सहायता देने की व्यवस्था की गई है। आयोग के अनुसार आर्थिक सहायता की राशि प्रत्येक राज्य के लिए निम्न प्रकार थी :—

आसाम	७५	लाख रुपए	उड़ीसा	१५	लाख रुपए
बिहार	७२·३१	,, ,,	पश्चिमी बंगाल	१५२·६६	,, ,,

(४) **राज्यों को आर्थिक सहायता**—राज्यों की विकास-सम्बन्धी आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर आयोग ने यह सिफारिश की कि राज्यों को पहले की अपेक्षा अधिक आर्थिक सहायता प्रदान की जाय। साथ ही साथ उसने यह भी स्पष्ट कर दिया कि यह राशि केवल दूसरी पंचवर्षीय योजना के कारण बढ़ाई गई थी और इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि ये राज्यों की स्थायी आवश्यकताएँ थीं। प्रत्येक राज्य की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर आयोग ने निम्न आर्थिक सहायताओं की सिफारिश की :—

राज्य	१६५७–५८	१६५८–५६	१६५६–६०	१६६०–६१	१६६१–६२	योग
आंध्र प्रदेश	४·००	४·००	४·००	४·००	४·००	२०·००
आसाम	३·७५	३·७५	३·७५	४·५०	४·५०	२०·२५
बिहार	३·५०	३·५०	३.५०	४·२५	४·२५	१६·००
केरल	१·७५	१·७५	१·७५	१·७५	१·७५	८·७५
मध्य प्रदेश	३·००	३·००	३·००	३·००	३·००	१५·००
मैसूर	६·००	६·००	६·००	६·००	६·००	३०·००
उड़ीसा	३·२५	३·२५	३.२५	३·५०	३·५०	१६·७५
पंजाब	२·२५	२·२५	२·२५	२·२५	२·२५	११·२५

राजस्थान	२·५०	२·५०	२·५०	२·५०	२·५०	१२·५०
पश्चिमी-वंगाल	३·२५	३·२५	३·२५	४·७५	४·७५	१६·२५
जम्मू तथा काश्मीर	३·००	३·००	३·००	३·००	३·००	१५·००
कुल योग	३६·२५	३६·२५	३६·२५	३६·५०	३६·५०	१८७·७५

वम्बई, मद्रास और उत्तर-प्रदेश को आयोग ने आर्थिक सहायता देने की सिफारिश नहीं की थी। क्योंकि उसका विचार था कि इन राज्यों के पास अपने खर्चों को पूरा करने के लिए काफी आय थी। आसाम, विहार, उड़ीसा और पश्चिमी वंगाल को प्राप्त होने वाली आर्थिक सहायता में तीन वर्षों वाद वृद्धि होनी थी, क्योंकि सन् १६५६–६० के वाद उनको जूट निर्यात कर का भाग मिलना वन्द हो जाएगा। पंजाव और आसाम, क्योंकि देश की सीमाओं पर स्थित थे और पश्चिमी वंगाल में पूर्वी पाकिस्तान से शरणार्थियों का प्रवाह रहता है और जम्मू और काश्मीर—इन सभी राज्यों की विशेष आवश्यकताओं को ध्यान में रखा गया है। आयोग ने यह निश्चय किया था कि राज्यों को यह आर्थिक सहायता किसी शर्त के आधार पर न दी जाय अर्थात् शर्त-रहित हो।

(५) मृत्यु-कर का वँटवारा—मृत्यु-कर संघ सरकार द्वारा लगाया और एकत्रित किया जाता है परन्तु इसकी आय राज्यों को वाँट दी जाती है और इसका वितरण उसी अनुपात में होता है जिसमें कि आय-कर वाँटा जाता है। आयोग का विचार था कि क्योंकि यह कर सम्पत्ति पर लगा है, इसलिए इसके वितरण का उपयुक्त आधार सम्पत्ति की स्थिति (Location) होना चाहिए। परन्तु यह सिद्धान्त चल सम्पति के सम्बन्ध में लागू नहीं किया जा सकता। आयोग का सुझाव था कि मृत्यु-कर की आय का एक प्रतिशत संघ क्षेत्रों (Union Territories) को मिलना चाहिए, जिसको संघ सरकार अपने पास रखे। मृत्यु-कर का वँटवारा स्थिति के आधार पर किया गया है अर्थात् हर राज्य में अचल सम्पत्ति के मूल्य के अनुपात में और चल सम्पति से प्राप्त कर की राशि का वँटवारा जनसंख्या के आधार पर किया जाए। प्रत्येक राज्य का प्रतिशत भाग निम्न प्रकार होगा :—

राज्य	प्रतिशत	राज्य	प्रतिशत
आन्ध्र प्रदेश	८·७६	मैसूर	५·४३
आसाम	२·५३	उड़ीसा	४·१०
विहार	१०·८६	पंजाब	४·५२
वम्वई	१३·५२	राजस्थान	४·४७
केरल	३·७६	उत्तर प्रदेश	१७·३१
मध्य-प्रदेश	७·३०	पश्चिमी वंगाल	७·३७
मद्रास	८·४०	जम्मू तथा काश्मीर	१·२४

(६) केन्द्रीय सरकार द्वारा राज्यों को दिए हुए ऋण—जब से भारत स्वतन्त्र हुआ है तब से केन्द्र द्वारा राज्यों को दिए गए ऋणों की मात्रा में अत्यधिक वृद्धि हो गई है और ऋण की राशि दिन-प्रतिदिन बढ़ती ही जा रही है। इसका अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि १५ अगस्त सन् १९४७ को इन ऋणों की कुल राशि ४३·९७ करोड़ रुपए थी जो ३१ मार्च सन् १९५१ के अन्त में बढ़कर १९५·४१ करोड़ रुपये हो गई और मार्च सन् १९५६ में ९०० करोड़ रुपये हो गई। यह ऋण विभिन्न अवधियों के लिए थे जो १ वर्ष से ४० वर्षों के बीच में थी। इन पर सूद की दर भी १ से ५ प्रतिशत तक थी और कुछ ऋण तो सूद रहित भी थे। इन में से अधिकांश ऋण नियोजन कार्य के लिए दिए गए थे। इन ऋणों की बढ़ती हुई मात्रा तथा राशि, सूद की दरों और अवधियों की भिन्नताओं से राज्यों और केन्द्र के वित्तीय सम्बन्धों के समन्वय में बहुत सी जटिलताएँ उत्पन्न हो गई थीं। अतः आयोग का विचार था कि यदि इन सब ऋणों को एक साथ मिला दिया जाय और सूद की दरों और भुगतान की शर्तों का उचित नियन्त्रण हो जाये तो अनेकों कठिनाइयों से छुट्टी मिल जाएगी। १५ अगस्त १९४७ और ३१ मार्च सन् १९५६ के बीच में केन्द्र ने जो ऋण राज्यों को दिए थे उनके सम्बन्ध में आयोग ने निम्न सुझाव दिए थे :—

(अ) राज्यों को ऋण शरणार्थियों को देने के लिए दिए गए थे, उनमें से राज्य केवल उन्हीं ऋणों को लौटायेंगे और उतना ही सूद देंगे जो कि उन्हें शरणार्थियों से वापिस मिलेंगे अर्थात् शरणार्थियों ने जिन ऋणों का भुगतान नहीं किया है राज्यों को उन ऋणों का भुगतान केन्द्रीय सरकार को नहीं करना होगा। यह सुझाव १ अप्रैल सन् १९५७ से लागू होगा।

(ब) जो सूद रहित ऋण राज्यों को शिक्षालयों की इमारतें बनवाने, करघा उद्योग तथा कुटीर उद्योगों इत्यादि के लिए दिए गए थे उनकी सूद की दर या भुगतान की शर्तों में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होना चाहिए।

(स) शेष ऋणों को दो भागों में विभाजित कर दिया था—(१) ऐसे ऋण जो १ अप्रैल सन् १९७७ को या उसके बाद भुगतान किए जाने योग्य हो जायेंगे, अर्थात् दीर्घकालीन ऋण। (२) वे ऋण जो ३१ मार्च सन् १९७७ को या उससे पहले भुगतान करने योग्य होंगे अर्थात् मध्य-कालीन ऋण। आयोग का सुझाव था कि सब दीर्घ-कालीन ऋण जिनकी सूद की दर ३% या अधिक है एक अकेले ऋण में परिवर्तित हो जाने चाहियें, जिन पर सूद की दर ३% ही रहेगी और जिसका भुगतान ३१ मार्च सन् १९८७ को हो जाना चाहिए। जिन दीर्घ-कालीन ऋणों की सूद की दर ३% थी उनको भी मिलाकर एक ऋण कर दिया जाए और सूद की दर २½% कर दी जाए, और उनका भुगतान भी ३१ मार्च सन् १९८७ को हो जाना चाहिए। इसी प्रकार सारे मध्यकालीन ऋणों को, जिनकी सूद की दर ३% या ३% से अधिक है, तीन प्रतिशत की सूद की दर वाले केवल एक ही ऋण में मिला दिया जावे, जिसका भुगतान ३१ मार्च सन् १९७२ को होना चाहिए और

३ प्रतिशत से कम सूद का दर वाले सारे ऋण मिलाकर केवल एक ही २½ प्रतिशत की सूद के ऋण में मिला दिए जायें जिनका भुगतान भी ३१ मार्च सन् १९७२ को हो जाना चाहिए। आयोग ने यह भी सिफारिश की कि भावी ऋणों के लिए भी यही योजना अपनाई जाय। आयोग का सुझाव था कि राज्यों को नियमित रूप से ऋण नहीं दिए जायें और उनको आवश्यकता के समय कुछ धन वैसे ही सहायता के रूप में दे दिया जाये। प्रत्येक वर्ष के अन्त में इन सब धन राशियों को मिलाकर २ ऋणों में बाँट दिया जाय—दीर्घ-कालीन व मध्यकालीन, और उन पर वही सूद की दर ली जाय जो ऊपर बताई जा चुकी है।

(७) **अतिरिक्त उत्पादन-कर का बँटवारा**—केन्द्रीय सरकार ने राज्य सरकारों के परामर्श से यह निश्चय किया था कि यदि राज्य सरकारें बिक्री-कर हटा दें तो केन्द्रीय सरकार मिल के बने हुए कपड़ों; चीनी और तम्बाकू पर अतिरिक्त उत्पादन कर लगा देगी और उनसे प्राप्त वास्तविक आय को राज्यों में बाँट देगी। वित्तीय आयोग को इन अतिरिक्त उत्पादन करों के वितरण के लिए अपने सुझाव देने थे। आयोग ने इस सम्बन्ध में दो प्रकार के सुझाव दिए हैं, अर्थात् तीनों वस्तुओं की आय को अलग-अलग बाँटने के सम्बन्ध में और एक साथ बाँटने के सम्बन्ध में। जम्मू और काश्मीर राज्य में इन वस्तुओं पर कोई बिक्री-कर लागू नहीं किया गया था फिर भी यहाँ की जनता को अतिरिक्त उत्पादन कर का भार सहन करना पड़ेगा। इसलिए आयोग का सुझाव था कि इन राज्यों को भी इसमें से भाग मिलना चाहिए और उसका भाग १$\frac{1}{8}$% निश्चित किया। इसके अतिरिक्त संघ क्षेत्रों (Union Territories) को प्राप्त होने वाला भाग संघ सरकार अपने पास रखेगी। आयोग ने पहले तो प्रत्येक राज्य को बिक्री-कर से प्राप्त होने वाली आय को मालूम किया और उसके बाद प्रत्येक राज्य का भाग निश्चित किया।

विभिन्न राज्यों को इन वस्तुओं पर बिक्री-कर से प्राप्त होने वाली वर्तमान आय निम्न प्रकार थी :—

(लाख रुपयों में)

राज्य	मिल का बना हुआ कपड़ा	चीनी	तम्बाकू	योग
आंध्र प्रदेश	१२०	४०	७५	२३५
आसाम	४०	१५	३०	८५
बिहार	८०	३०	२०	१३०
बम्बई	६००	२४५	११५	९६०
केरल	३८	२०	३७	९५
मध्य प्रदेश	८३	४०	३२	१५५
मद्रास	१६८	६०	५७	२८५

राज्य	मिल का बना हुआ कपड़ा	चीनी	तम्बाकू	योग
मैसूर	४८	२५	२७	१००
उड़ीसा	५०	२०	१५	८५
पंजाब	९५	५०	३०	१७५
राजस्थान	५०	२५	१५	९०
उत्तर-प्रदेश	४००	११२	६३	५७५
पश्चिमी बंगाल	२०४	३५	४०	२८०
योग	१९७६	७१८	५५६	३२५०

यदि कुछ शेष बचे तो उसका बँटवारा निम्न प्रतिशतों के अनुसार किया जाय :—

(प्रतिशत)

राज्य	सारी वस्तुओं को एक साथ मिलाकर	हर एक वस्तु का अलग-अलग लेकर		
		मिल का बना हुआ कपड़ा	चीनी	तम्बाकू
आंध्र प्रदेश	७.८१	७.३८	६.६५	१०.४७
आसाम	२.७३	२.७२	२.५५	२.९८
बिहार	१०.०४	११.१९	८.२०	८.९०
बम्बई	१७.५२	१६.४६	२०.१७	१७.४१
केरल	३.१५	३.१०	३.०३	३.४३
मध्य-प्रदेश	७.१६	६.९७	७.६७	७.१०
मद्रास	७.७४	७.२६	७.४३	९.५३
मैसूर	५.१३	४.९८	५.१३	५.५८
उड़ीसा	३.२०	३.३२	२.८७	३.२१
पंजाब	५.७१	५.५६	७.२१	४.३६
राजस्थान	४.३२	४.३६	४.८१	३.५९
उत्तर-प्रदेश	१७.१८	१८.१९	१५.६३	१६.१३
पश्चिमी बंगाल	८.३१	८.५१	८.६५	७.३१

(८) रेल किरायों पर लगे हुए कर का वितरण—रेल यात्रियों के किरायों पर सन् १९५७ में कर लगाया गया। यह कर संघ सरकार द्वारा लगाया गया है और वही उसे एकत्रित करती है परन्तु इसकी सम्पूर्ण आय राज्यों में विभाजित कर दी जाती है। आयोग का विचार था कि इस कर की आय का बँटवारा प्रत्येक राज्य में स्थित रेलों पर व्यक्तियों द्वारा की गई वास्तविक यात्रा के आधार पर होना चाहिये। इसकी उत्तम विधि यह होगी कि प्रत्येक राज्य में रेल मार्गों की लम्बाई के अनुसार प्रत्येक टिकट से प्राप्त किए गए कर को बाँट दिया जाय। परन्तु क्योंकि यह व्याव-

हारिक नहीं था इसलिए आयोग ने एक दूसरी विधि निर्मित की। छोटी और बड़ी लाइनों को अलग-अलग लेकर प्रत्येक राज्य में स्थित रेल-मार्गों की लम्बाई के अनुसार प्रत्येक क्षेत्रीय रेल (Zonal Railway) की आय को भी बाँट दिया जाय तो प्रत्येक व्यक्ति द्वारा की गई यात्रा से प्राप्त आय को मालूम किया जा सकता है और कर की आय को भी, इस प्रकार, प्रत्येक राज्य की मालूम की गई कुल आय के अनुपात में बाँटा जा सकता है। आयोग ने पिछले ३ वर्षों की आय को मालूम करके, ऊपर बताए हुए आधार पर प्रत्येक राज्य का भाग निश्चित किया। इन भागों को निश्चित करने से पहले कुल आय का $\frac{1}{4}$% संघ क्षेत्रों के लिए निकाल लिया गया था। राज्यों को इस कर से प्राप्त होने वाले भाग का प्रतिशत निम्न प्रकार है :—

राज्य	प्रतिशत	राज्य	प्रतिशत
आन्ध्र	८·८६	मैसूर	४·४५
आसाम	२·७१	उड़ीसा	१·७८
विहार	९·३९	पंजाब	८·११
बम्बई	१६·२८	राजस्थान	६·७७
केरल	१·८१	उत्तर-प्रदेश	१८·७६
मध्य प्रदेश	८·३१	पश्चिमी बंगाल	६·३१
मद्रास	६·४६		

क्योंकि राज्यों की वित्त-व्यवस्था में अकाल, बाढ़ आदि जैसी प्राकृतिक आपत्तियां बहुत सी गड़बड़ी उत्पन्न कर देती हैं, इसलिए आयोग का विचार था कि राज्यों को इन आपत्तियों से बचने के लिए नियमित रूप से कुछ कोष अलग रखने चाहियें। आयोग ने इस प्रथा का भी विरोध किया कि विकास-योजना के अतिरिक्त अन्य कार्यक्रमों को पूरा करने के लिए जितने धन की आवश्यकता हो उस धन में यदि राज्य भी हिस्सा बटावें तो केन्द्रीय सरकार सहायता देगी। क्योंकि राज्यों में इतनी सामर्थ्य नहीं थी कि वह योजना से बाहर के कार्यक्रमों को पूरा कर सके, इसलिए यदि वे ऐसा करेंगी तो उनको घाटा अवश्य होगा। आयोग का यह भी सुझाव था कि विभिन्न राज्यों में हिसाब-किताब रखने की विधि भी समान ही होनी चाहिए। आयोग को समय-समय पर उचित और पर्याप्त आंकड़े न मिलने से बड़ी कठिनाइयां अनुभव हुईं। इसलिए उसने सभी सम्बन्धित संस्थाओं से यह सिफारिश की कि पर्याप्त आंकड़ों को जमा करने की तरफ वे अधिक ध्यान दें और वित्त मंत्रालय को यह सुझाया कि वह आंकड़े एकत्रित करने तथा अन्य अनुसंधान कार्यों के लिए उचित व्यवस्था करे क्योंकि भावी वित्त आयोगों को इन आंकड़ों की बहुत आवश्यकता होगी। आयोग के सुझावों के अनुसार एक वर्ष में लगभग १४० करोड़

रुपयों का बँटवारा राज्यों में किया जाएगा जबकि पहले वित्त आयोग के अनुसार यह राशि केवल ९३ करोड़ रुपये थी। निम्न तालिका में उन राशियों को दिखाया गया है जिनको प्राप्त करने की आशा प्रत्येक राज्य कर सकता है। इस तालिका में करों का भाग केवल अनुमानित है और इसमें समय-समय पर परिवर्तन हो सकते हैं। (करोड़ रुपयों में)

राज्य	करों के भाग	आर्थिक सहायता	जूट निर्यात करों के बदले में आर्थिक सहायता	योग
आंध्र प्रदेश	८.५०	४.००	—	१२.५०
आसाम	२.७५	४.०५	०.४५	७.२५
बिहार	१०.००	३.८०	०.४३	१४.२३
बम्बई	१४ ७५	—	—	१४.७५
केरल	३.७५	१.७५	—	५.५०
मध्य-प्रदेश	७.००	३.००	—	१०.००
मद्रास	८.२५	—	—	८.२५
मैसूर	५.५०	६.००	—	११.५०
उड़ीसा	४.००	३.६५	०.०९	७.४४
पंजाब	४.२५	२.२५	—	६.५०
राजस्थान	४.२५	२.५०	—	६.७५
उत्तर-प्रदेश	१६.२५	—	—	१६.२५
पश्चिमी बंगाल	९.५०	३.८५	०.९१	१४.२६
जम्मू और काश्मीर	१.२५	३.००	—	४.२५
योग	१००.००	३७.५५	१.८८	१३९.४३

इसके अतिरिक्त राज्यों को अतिरिक्त उत्पादन करों और रेल किरायों पर लगे हुए कर की आय में से लगभग १५ करोड़ रुपया प्रतिवर्ष और प्राप्त होगा।

दूसरे वित्त आयोग की रिपोर्ट पर एक दृष्टि—दूसरे वित आयोग की सभी सिफारिशें सरकार ने स्वीकार कर लीं। केवल उस सिफारिश को ही अस्वीकार किया है जो कि केन्द्र से राज्यों को दिए गए ऋणों के भुगतान के सम्बन्ध में थी। आयोग ने राज्यों की आवश्यकताओं पर बड़ी उदारता से विचार किया है। यद्यपि बम्बई और पश्चिमी बंगाल अब भी संतुष्ट नहीं हैं फिर भी अन्य राज्यों ने इसका हार्दिक स्वागत किया। इसके अतिरिक्त आयोग ने आर्थिक सहायताओं-सम्बन्धी शर्तों को अधिक उदार बनाकर केन्द्र और राज्यों के बीच में निरन्तर उत्पन्न होने वाले मनमुटाव को कम कर दिया। आयोग ने जनसंख्या को कर वितरण का आधार मान कर समस्या को बहुत ही सरल बना दिया है। बम्बई और पश्चिमी बंगाल ने आयोग के सुझावों की निंदा की है और उन्होंने अपनी पुरानी दलीलों को ही दुहराया है। परन्तु यहाँ पर इतना कह देना ही उचित होगा कि कोई भी योजना सभी

व्यक्तियों को संतुष्ट नहीं कर सकती और कोई न कोई व्यक्ति ऐसा अवश्य होगा जिसको उसके विरुद्ध आपत्ति होगी।

कुछ लोगों का कहना था कि आयोग ने राज्यों के पास जो केन्द्रीय ऋण थे उनका एकीकरण करके ठीक नहीं किया। ऋणों की सूद की दर, अवधि, भुगतान की शर्तें आदि सभी भिन्न-भिन्न होती हैं और हर ऋण एक निश्चित उद्देश्य से लिया जाता है। आलोचकों के अनुसार यह विभिन्नतायें राजकीय ऋण-नीति की मुख्य विशेषता है और स्वाभाविक गुण है। बहुत अधिक सरलता भी लाभप्रद नहीं होती। इसके अतिरिक्त पुराने समझौतों पर वायदों को इतनी सरलता से नहीं बदलना चाहिए। इन आलोचनाओं के विरुद्ध और वित्त आयोग के पक्ष में केवल इतना ही कहना उचित होगा कि ऋणों के भुगतान के सम्बन्ध में वित्त आयोग ने जो भी सुझाव दिये हैं वह राज्यों और केन्द्र की स्थिति को ध्यान में रखकर दिये हैं, जिनसे दोनों पक्षों में से किसी को हानि नहीं होगी।

यह ध्यान रहे कि वित्त आयोग ने बड़ी ही असाधारण परिस्थितियों में अपने काम को पूरा किया है। देश में नियोजन कार्य के आरम्भ हो जाने से राज्यों को जो कुछ भी सहायता दी जाती है उसमें अन्तिम निर्णय नियोजन आयोग (Planning Commission) का होता है और यह आवश्यक नहीं है कि वित्त आयोग ने जो सिफारिशें की हैं वे पूरी की पूरी नियोजन आयोग द्वारा स्वीकार कर ली जायें और उनमें कोई संशोधन न हो। इसके अतिरिक्त केवल इस कटु सत्य से (नियोजन आयोग के हस्तक्षेप की बात) क्या वित्त आयोग को अपने काम करने में अड़चनें उत्पन्न न हुई होंगी या वित्त आयोग बेखटके काम कर सका होगा? स्पष्ट है कि इन प्रश्नों का उत्तर 'नहीं' में होगा। इसके अतिरिक्त एक कठिनाई यह भी थी कि राज्यों को संघ सरकार से जो सहायता प्राप्त होती है उसके एक छोटे से ही भाग के वितरण के सम्बन्ध में ही वित्त आयोग की सिफारिशें माँगी गई थीं। अतः यह केवल एक प्रकार का दिखावा है और देश को वित्त आयोग की सहायता का पूरा लाभ नहीं मिल पाता। स्वयं वित्त आयोग ने इन कठिनाइयों को अपनी रिपोर्ट में व्यक्त किया है और अपना मत प्रकट करते हुए कहा है कि जब तक वित्त आयोग और नियोजन आयोग को एक ही क्षेत्र में काम करना है तब तक सफलता प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि दोनों के कार्यों में उचित समन्वय स्थापित हो।

तीसरा वित्त आयोग (Third Finance Commission)

२ दिसम्बर, सन् १९६० को तीसरा वित्त आयोग श्री ए० के० चादा की अध्यक्षता में नियुक्त किया गया, जिसने अपनी रिपोर्ट राष्ट्रपति को १४ दिसम्बर १९६१ को प्रस्तुत की थी। इस आयोग को संघ तथा राज्यों के बीच वितरित किये जाने वाले करों की आय का वितरण और संघ से राज्यों को प्राप्त होने वाली आर्थिक सहायता को निर्धारित करने वाले सिद्धान्तों को निर्धारित करने के अतिरिक्त निम्न विषयों पर अपने सुझाव देने थे।

(१) संविधान की धारा २७५ के अधीन उन राज्यों को आर्थिक सहायता

(Grants-in-aid) प्रदान करना, जो अपनी तीसरी पंचवर्षीय योजना को कार्यान्वित करने के लिए सहायता चाहते हैं और इसका भी मूल्यांकन करना कि इन राज्यों ने अपने निजी साधनों से आय प्राप्त करने के क्या प्रयत्न किये हैं।

(२) संविधान की धारा २६९ के अधीन कृषि भूमि के अतिरिक्त अन्य प्रकार की सम्पत्ति पर एक वित्तीय वर्ष में जायदाद कर से प्राप्त होने वाली आय के राज्यों के बीच वितरण को निर्धारित करने वाले सिद्धान्तों में यदि कोई परिवर्तन करना हो तो सुझाव देना।

(३) संविधान की धारा २६९ के अधीन रेल किरायों पर करों से प्राप्त आय के राज्यों के बीच वितरण से सम्बन्धित सिद्धान्तों में कोई परिवर्तन करना हो तो सुझाव देना।

(४) संघ उत्पादन करों की आय तथा सूती वस्त्र, रेयन, नकली रेशमी वस्त्र, ऊनी वस्त्र, चीनी, तम्बाकू तथा उससे निर्मित वस्तुओं (जिन पर पहले राज्य विक्री-कर लगाते थे) पर अतिरिक्त उत्पादन कर से एक वित्तीय वर्ष में प्राप्य होने वाली आय को राज्यों में वितरित करने के सिद्धान्तों पर विचार करना तथा यदि आवश्यकता हो तो, उनमें परिवर्तन करने के सुझाव देना।

आयोग के सुझाव—आयोग के मुख्य सुझाव निम्न प्रकार हैं :—

(१) जायदाद-कर (Estate Duty)—अप्रैल १, १९६२ से चार वर्षों के काल के लिए—

(i) प्रत्येक वित्तीय वर्ष में प्राप्त आय का १% संघ द्वारा शासित राज्यों (Union territories) के लिए; (ii) शेष को अचल सम्पत्ति तथा अन्य प्रकार की सम्पत्ति के बीच उनके कुल मूल्यों के अनुपात में वितरित किया जाय; (iii) अचल सम्पत्ति को इस प्रकार जो धनराशि नियत हो उसे विभिन्न राज्यों के बीच प्रत्येक राज्य में स्थित अचल सम्पति के कुल मूल्य के अनुपात में बांटा जाय; और (iv) अचल सम्पत्ति के अतिरिक्त अन्य सम्पत्ति के लिए जो राशि नियत हो उसे निम्न तालिका के अनुसार विभिन्न राज्यों में बाँटा जाय।

राज्य	जायदाद कर %	राज्य	जायदाद कर %
आंध्र प्रदेश	८·३४	महाराष्ट्र	९·१६
आसाम	२·७५	मैसूर	५·४६
बिहार	१०·७८	उड़ीसा	४·०८
जम्मू तथा काश्मीर	०·८३	पंजाब	४·७१
गुजरात	४·७८	राजस्थान	४·६७
केरल	३·९२	उत्तर-प्रदेश	१७·१०
मध्य-प्रदेश	७·५१	प० बंगाल	८·११
मद्रास	७·८०		

(२) **रेल किरायों पर कर**—अप्रैल १, १९६१ से पाँच वर्षों के काल (१९६१–६६) के लिए प्रत्येक वर्ष १२·५ करोड़ रुपये राज्यों में निम्न तालिका के अनुसार बाँटे जाएँ :—

(करोड़ रुपयों में)

राज्य	कर की राशि	राज्य	कर की राशि	राज्य	कर की राशि
आन्ध्र प्रदेश	१·११	केरल	०·२३	उड़ीसा	०·२२
असम	०·३४	मध्य प्रदेश	१·०४	पंजाब	१·०१
बिहार	१·१७	मद्रास	०·८१	राजस्थान	० ८५
गुजरात	०·६८	महाराष्ट्र	१·३५	उत्तर-प्रदेश	२·३४
जम्मू तथा काश्मीर	—	मैसूर	०·५६	प० बंगाल	०·७९

(३) **आय-कर**—अप्रैल १, १९६२ से चार वर्षों के काल के लिए कृषि आय को छोड़कर अन्य आयों पर कर से प्राप्त होने वाली आय में से ६६⅔% भाग राज्यों को बाँटा जाय और २½% संघ द्वारा शासित राज्यों को बांटा जाय। राज्यों को निम्न प्रकार वितरित किया जाय :—

राज्य	प्रतिशत	राज्य	प्रतिशत	राज्य	प्रतिशत
आंध्र प्रदेश	७·७१	केरल	३·५५	उड़ीसा	३·४४
असम	२·४४	मध्य-प्रदेश	६·४१	पंजाब	४ ४९
बिहार	९·३३	मद्रास	८·१३	राजस्थान	३·९७
गुजरात	४·७८	महाराष्ट्र	१३·४१	उत्तर-प्रदेश	१४·४२
जम्मू तथा काश्मीर	०·७०	मैसूर	५·१३	पं० बंगाल	१२·०९

(४) **संघीय उत्पादन कर**—अप्रैल १, १९६२ से चार वर्षों तक के लिए ३५ अनुसूचित वस्तुओं पर लागू शुद्ध संघ उत्पादन करों की आय का २०% भारत के संचित कोष में से राज्यों को निम्न प्रकार बांटा जाय :—

राज्य	प्रतिशत	राज्य	प्रतिशत	राज्य	प्रतिशत
आंध्र प्रदेश	८·२३	केरल	५·४६	उड़ीसा	७० ७
असम	४·७३	मध्य-प्रदेश	८·४६	पंजाब	६·७१
बिहार	११·५६	मद्रास	६·०८	राजस्थान	५·९३
गुजरात	६·४५	महाराष्ट्र	५·७३	उत्तर-प्रदेश	१०·६८
जम्मू तथा कश्मीर	२.०२	मैसूर	४·८२	प० बंगाल	५·०७

(५) **अतिरिक्त उत्पादन कर**—बिक्री कर के स्थान पर जिन वस्तुओं पर उत्पादन कर लागू करने से जो आय प्राप्त होती है उसमें से १% संघ द्वारा शासित राज्यों के लिए १½% जम्मू तथा काश्मीर राज्य को देनेके बाद शेप को (१) राज्यों

को इन ६ वस्तुओं पर १९५६–५७ में बिक्री कर से प्राप्त आय के बराबर दिया जाय, और (२) शेष को निम्न % के अनुसार दिया जाय :—

(लाख रु० में)

राज्य	१९५६-५७ में बिक्री कर से राज्यों की आय	शेष का %	राज्य	१९५६-५७ में बिक्री कर से राज्यों की आय	शेष का %
आन्ध्र प्रदेश	२३५·२४	७·७५	केरल	९५·०८	४·२५
असम	८५·०८	२·५०	मध्य-प्रदेश	१५५·१७	७·००
बिहार	१३०·१६	१०·००	मद्रास	२८५·३४	९·००
गुजरात	३२३·४५	५·४०	महाराष्ट्र	६३७·७७	१०·६०
जम्मू तथा काश्मीर	—	—	मैसूर	१००·१०	५·२५
उड़ीसा	८५·१०	४·५०	उत्तर-प्रदेश	५७५·८१	१५·५०
पंजाब	१७५·१९	५·२५	पं० बंगाल	२८०·४१	९·००
राजस्थान	९०·१०	४·००			

(६) आर्थिक सहायता—विभिन्न राज्यों को अप्रेल १, १९६२ के चार वर्षों के लिए भारत के संचित कोष में से (१) राज्यों की आय के हिसाब में और (२) संवाद वाहन के साधनों को सुधारने के लिये अतिरिक्त धनराशि, जैसी निम्न तालिका में दिखाई गई है दी जाय :—

(लाख रुपये में)

राज्य	आय के लिए	संवाद वाहन के साधनों के लिए अतिरिक्त	राज्य	आय के लिए	संवाद वाहन के लिए
आंध्र प्रदेश	१२००	५०	महाराष्ट्र	—	—
असम	९००	७५	मैसूर	७७५	५०
बिहार	८००	७५	उड़ीसा	१६००	१७५
गुजरात	९५०	१००	पंजाब	२७५	—
जम्मू तथा काश्मीर	३२५	५०	राजस्थान	८७५	७५
केरल	८५०	७५	उत्तर-प्रदेश	२००	—
मध्य-प्रदेश	६२५	१७५	प० बंगाल	८५०	—
मद्रास	८००	—			

दूसरे वित्त आयोग ने अपनी रिपोर्ट में इस बात की ओर संकेत किया था कि क्योंकि नियोजन आयोग तथा वित्त आयोग के कार्यक्षेत्र एक दूसरे से टकराते हैं, इसलिए यह आवश्यक है कि कोई ऐसी रीति अपनाई जाए जिससे दोनों आयोगों के कार्यों में प्रभाव-युक्त समन्वय स्थापित हो सके। तीसरे आयोग को तो यह भी

शिकायत थी कि नियोजन कार्य की महत्ता के कारण नियोजन आयोग को ही महत्व प्रदान किया गया है और वित्त आयोग तथा उसके कार्यों की महत्ता को पूर्णतया नहीं समझा जा सका है। आगे चलकर आयोग ने यह भी कहा है कि अभी तक वित्त आयोगों का कार्य यहीं तक सीमित रहा है कि वे राज्यों के आय तथा व्यय-सम्बन्धी पूर्वानुमानों का सिंहावलोकन करें और योजनाओं-सम्बन्धी सरकारी आय तत्व को उसी रूप में स्वीकार कर लें जैसा कि नियोजन आयोग ने प्रस्तावित किया हो। आयोग के अनुसार यह स्थिति पूर्णतया असंगत एवं नियम-विरुद्ध है। इस को दूर करने के लिए आयोग ने यह सुझाव दिया है कि निम्न में से किसी एक को अपनाया जावे :—(१) वित्त आयोग के कार्य-क्षेत्र को इतना विस्तृत कर दिया जाए कि उसके अन्तर्गत राज्यों को दी जाने वाली कुल वित्तीय सहायता सम्मिलित हो जावे, और करों के हिस्सों तथा आर्थिक सहायता राज्यों को हस्तान्तरित कर दी जाए ताकि वे अपने बजटों को सन्तुलित बना सकें और योजना के उद्देश्यों को पूरा कर सकें।

(२) उचित समय पर नियोजन आयोग को ही वित्त आयोग में परिणत कर दिया जाये :—आयोग का सुझाव था कि राज्यों के कर-सम्बन्धी सम्भाव्य साधनों को आंकने के लिए, कर-सम्बन्धी ढाँचे की जाँच-पड़ताल करने के लिए तथा राज्य सूची के विभिन्न करों की दरों के विषय में सुझाव देने के लिए एक ऐसे स्वतन्त्र आयोग को नियुक्त किया जाए जो इन बातों की विस्तृत जांच करे तथा राज्यों के साधनों तथा नियोजन-सम्बन्धी आवश्यकताओं के बीच निरन्तर बढ़ते हुए अन्तर को ध्यान में रखकर इस बात पर विचार करे कि राज्यों तथा संघ के वित्तीय सम्बन्धों में किस प्रकार की हेर-फेर की जाये अथवा नहीं, जिससे दोनों की शक्ति बढ़ सके। आयोग ने इस ओर भी संकेत किया कि राज्यों द्वारा, जनता तथा संघ सरकार से लिए गए ऋणों से सम्बन्धी देयता उनकी चालू आय के बड़े भाग को खा जाती है। इसके अतिरिक्त रिपोर्ट में राज्यों की केन्द्रीय सहायता पर निरन्तर बढ़ती हुई निर्भरता, प्रशासन-सम्बन्धी मितव्ययता तथा कुशलता की आवश्यकता और विभिन्न क्षेत्रों के बीच आर्थिक समन्वय के महत्व की भी चर्चा की गई है।

भारत सरकार द्वारा की गई कार्यवाही—

भारत सरकार ने आयोग की, केवल एक को छोड़कर, सभी सिफारिशों को स्वीकार कर लिया। आयोग का वह सुझाव कि राज्यों को योजनाओं के लिए जो आर्थिक सहायता दी जाती है, उसके एक भाग को, वैधानिक सहायक अनुदान घोषित कर दिया जाए। किन्तु भारत सरकार ने नियोजन आयोग से परामर्श करके इस को अस्वीकार कर दिया। सरकार का मत था कि राज्यों को इस व्यवस्था से कोई लाभ नहीं होगा कि योजना-सम्बन्धी आवश्यकताओं के लिए जो सरकारी अनुदान उन्हें दिए जाते हैं उसके दो आधार कर दिए जावें, अर्थात् इन अनुदानों को अंशतः वित्त आयोग के सुझावों के आधार पर वैधानिक घोषित कर दिया जाए और अंशतः नियोजन आयोग द्वारा किए जाने वाले वार्षिक सिंहावलोकनों के आधार पर

दिया जाए। सरकार ने इस सम्बन्ध में यह भी स्पष्ट कर दिया कि जो सहायता राज्यों को दी जाती है, उसका निर्धारण बड़े सोच-समझकर तथा सम्पूर्ण आर्थिक वित्तीय स्थिति को ध्यान में रखकर किया जाता है। ये केवल इसीलिए नहीं किया जाता कि राज्यों तथा सघ सरकारों की वित्तीय स्थिति का ज्ञान प्राप्त हो जावे, वरन् इसलिए भी कि प्रत्येक राज्य की सम्पूर्ण वितीय स्थिति आय तथा पूंजीगत दोनों ही खातों का एक समुचित ज्ञान प्राप्त हो सके। भारत सरकार के अनुसार ऐसे वार्षिक पुनर्निरीक्षणों तथा सिंहावलोकनों द्वारा योजनाओं की वार्षिक गति का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है और स्थिति में सुधार करने हेतु प्रयत्न किए जा सकते हैं और साधनों, लक्ष्य तथा विभिन्न योजनाओं के बीच समन्वय स्थापित किया जा सकता है। इन उद्देश्यों की पूर्ति केन्द्रीय सहायता के लोचपूर्ण रहने की स्थिति में अधिक अच्छी प्रकार हो सकती है अपेक्षाकृत उसके, जबकि यह नियमबद्ध हो जाए। यह ध्यान रहे कि सरकार को केवल आर्थिक अनुदानों के एक भाग को वैधानिक घोषित करने के विषय में ही आपत्ति थी, वरन् उसने यह स्पष्ट कर दिया कि इस सिफारिश की अस्वीकृत से राज्यों की दी जाने वाली सहायता की कुल राशि पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा।

निम्न तालिका से सरकार द्वारा स्वीकृत आयोग की सिफारिशों का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

	आय-कर का हिस्सा	संघ उत्पादन करों का हिस्सा	सहायक अनुदान	संचार साधनों की उन्नति के लिए विशिष्ट उद्देश्य अनुदान	जायदाद कर का हिस्सा	रेल भाड़ों पर कर के बदले में अनुदान	अतिरिक्त उ. कर	
							निश्चित रूप से दी जाने वाली राशि	शेष का वितरण
राज्य	६६$\frac{२}{३}$%	२०%	लाख रु० में	लाख रु० में	९९%	लाख रु० में	लाख रु० में	९७·५ प्रतिशत
आन्ध्र	७.७१	८·२३	९००	५०	८ ३४	१११	२३५·३४	७·७५
असम	२·४४	४ ७३	५२५	७५	२·७५	३४	८५·०८	२·५०
उत्तर-प्रदेश	१४·४२	१०·६८	—	—	१७·१०	२३४	५७५ ८१	१५·५०
उड़ीसा	३ ४४	७·०७	११५०	१७५	४·०८	२२	८५·१०	४ ५०
केरल	३·५५	५·४६	५५०	७५	३·९२	२३	९५·०८	४·२५
गुजरात	४·७८	६·४५	४२५	१००	४·७८	६८	३२३·४४	५·४०
जम्मू व कश्मीर	०·७०	२·०२	१५०	५०	०·८३	—	—	*
पंजाब	४·४९	६·७१	—	—	४·७१	१०१	१७५·१९	५·२५
पश्चिमी बंगाल	१२·०९	५·०७	—	—	८ ११	७९	२८०·४१	९·००
बिहार	९·३३	११·५६	—	७५	१०·७८	११७	१३०·१६	१०·००
मध्य प्रदेश	६·४१	८·४६	१२५	१७५	७·५१	१०४	१५५·१७	७·००
मद्रास	३·१३	६·०८	३००	—	७·८०	८१	२८५·३४	९·००
महाराष्ट्र	१३·४१	५·७३	—	—	९·१६	१३५	६३७·७७	१०·६०
मैसूर	५·१३	५ ८२	६२५	५०	५·४६	५६	१००·१०	५·२५
राजस्थान	३·९७	५·९३	४५०	७५	४ ६७	८५	९०·१०	४·००
योग			५२००	९००		१२५०	३२५४·००	

*जम्मू व कश्मीर की शुद्ध प्राप्तियों का १$\frac{१}{२}$% प्राप्त होगा।

तीसरे वित्त आयोग की रिपोर्ट पर एक दृष्टि—दूसरे वित्त आयोग की रिपोर्ट के प्रकाशन के बाद तीसरी पंचवर्षीय योजना के प्रभाव में संघ सरकार के कर ढांचे में कुछ महत्त्वपूर्ण परिवर्तन होने के कारण, तथा राज्यों की बढ़ती हुई जिम्मेदारियों के कारण यह आवश्यक हो गया था कि संघ तथा राज्यों के वित्तीय सम्बन्धों का तृतीय योजना के संदर्भ में सिंहावलोकन किया जाए। तीसरे आयोग ने इसी बात को अधिक महत्व प्रदान किया और अत्यन्त महत्वपूर्ण सुझाव प्रस्तुत किए। वास्तव में रिपोर्ट में संघ तथा राज्य सरकारों के पारस्परिक सम्बन्धों की कुछ ऐसी समस्याओं पर भी प्रकाश डाला है, जिनको इससे पहले, अधिक महत्व प्रदान नहीं किया गया था। अतः आयोग ने जो भी सुझाव दिए हैं, वे वास्तविकता के अनुकूल हैं। आय कर में से राज्यों को प्राप्त होने वाले प्रतिशत को ६० से ६६$\frac{2}{3}$ करने का मुख्य कारण यही था। अब कम्पनी आय-कर को, आय-कर में से निकाल कर कारपोरेशन कर में मिला देने से आय कर से प्राप्त होने वाली आय में कमी हो गई थी। यदि आयोग यह नहीं करता तो राज्यों को बहुत हानि होती। इसी प्रकार प्रथम आयोग के इस सूत्र को कि राज्यों में आय-कर का ८०% भाग जनसंख्या तथा तथा २०% संग्रह के स्रोत के आधार पर बाँटा जाए, तीसरे आयोग ने पुनः लागू करके राज्यों पर बड़ा उपकार किया। इससे उन राज्यों में जिनका अधिक औद्योगीकरण हो चुका है, आवश्यकतानुसार लाभ पहुँचेगा। जिन उत्पादन करों की आय को राज्यों में भी बाँटा जाता था, उनकी संख्या को ८ से बढ़ाकर आयोग ने एक न्यायपूर्ण पग लिया था। यद्यपि उत्पादन करों में से राज्यों को प्राप्त होने वाले प्रतिशत को घटा कर २५ से २० कर दिया था, किन्तु इस से राज्यों को प्राप्त होने वाली राशि में कमी नहीं होगी।

वित्त आयोग की कुछ सिफारिशों ने काफी वाद-विवाद उत्पन्न किया है और कुछ राज्य उनसे सन्तुष्ट भी नहीं हैं। इनमें से सहायक अनुदानों तथा यातायात के साधनों की उन्नति के लिए विशेष अनुदानों से सम्बन्धित सिफारिशें उल्लेखनीय हैं। यह स्पष्ट नहीं है कि आयोग ने किस आधार पर बिहार तथा उत्तर-प्रदेश को, जो अपेक्षाकृत अधिक धनी तथा औद्योगिक नहीं है, सहायक अनुदान न देने का सुझाव दिया है। इसी प्रकार आयोग ने इस बात के लिए भी प्रभावपूर्ण दलीलें नहीं दीं कि राज्यों की योजनाओं के ७५% राजस्व भाग की पूर्ति के लिए संघ सरकार के अनुदान क्यों दिए जायें। आयोग के एक सदस्य श्री जी० आर० कामथ ने भी इस पर अपनी असहमति प्रकट की थी और उन्होंने वार्षिक सिंहावलोकनों सम्बन्धी वर्तमान पद्धति की ही सराहना की थी, और यह सत्य भी है, जैसा हम ऊपर बता चुके हैं। श्री कामथ ने आयोग के इस सुझाव के विरुद्ध भी आपत्ति प्रगट की थी कि राज्यों को यातायात के साधनों की उन्नति के लिए विशेष अनुदान दिए जायें, किन्तु उनका यह विरोध निराधार है, और आयोग की यह सिफारिश राज्यों के लिए अत्यन्त ही उपयोगी सिद्ध होगी। आयोग का यह सुझाव, कि राज्यों के कर ढाँचों तथा कर साधनों के पुनरावलोकनार्थ एक स्वतन्त्र आयोग नियुक्त किया जाए, भी

अत्यन्त महत्वपूर्ण है और सरकार को इस ओर गम्भीर प्रयत्न करने चाहिएँ। आयोग द्वारा निर्धारित प्रतिशतों पर बिहार, पंजाब तथा महाराष्ट्र राज्यों ने अपना रोष प्रगट किया था किन्तु यह केवल इसी आयोग की सिफारिशों के साथ कोई खास बात नहीं है, पिछले दो आयोग भी प्रत्येक राज्य को सन्तुष्ट करने में असमर्थ रहे हैं।

चौथा वित्त आयोग—
(Fourth Finance Commission)

चौथा वित्त आयोग ५ मई सन् १९६४ को नियुक्त किया गया था, जिसके अध्यक्ष, मद्रास हाईकोर्ट के भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश श्री पी. वी. राजमन्नार थे। श्री मोहनलाल गौतम, श्री डी. जी. कार्वे, श्री भवतोष दत्ता तथा श्री पी. सी. मैथ्यु, उसके सदस्य थे। इस आयोग को निम्न बातों पर अपने सुझाव देने थे :—

(१) आय तथा केन्द्रीय उत्पादन करों की आय का संघ तथा राज्य सरकारों के बीच बटवारे और विभिन्न राज्यों के हिस्सों का निर्धारण।

(२) राज्यों को प्राप्त होने वाली आर्थिक सहायता को निर्धारित करने वाले सिद्धान्तों का निर्माण।

(३) निम्न बातों को ध्यान में रख कर उन राज्यों की सूची तैयार करना जिन्हें आर्थिक सहायता के रूप में सहायता की आवश्यकता है और उनको दी जाने वाली धनराशियों की ओर संकेत करना :—

(क) सन् १९६५-६६ के कर-स्तरों के आधार पर उन राज्यों के सन् १९७०-७१ तक के पाँच वर्षों के वित्तीय साधन।

(ख) तीसरी योजना काल में पूरे किये गये कार्यक्रमों के स्थायित्व-सम्बन्धी व्यय के लिये राज्यों की आवश्यकताएँ।

(ग) ऋण-सम्बन्धी सेवाओं को पूरा करने के लिये अन्य खर्चे।

(घ) जायदाद (कृषि-भूमि के अतिरिक्त) कर की आय के आधिक्य (जो उस सीमा के ऊपर हो जिसे वित्त आयोग नियत करे) में से एक कोष की स्थापना जिसका उपयोग राज्य सरकारें केन्द्रीय सरकार को ऋणों का भुगतान करने के लिये करें।

(ङ) राज्यों के प्रशासनिक व्यय में यदि मितव्ययिता की कोई गुन्जाइश हो तो उस ओर संकेत करना।

(४) कृषि भूमि के अतिरिक्त अन्य प्रकार की जायदाद पर कर से प्राप्त होने वाली आय के राज्यों के बीच वितरण को निर्धारित करने वाले सिद्धान्तों में यदि कोई परिवर्तन करना हो तो उसके लिये सुझाव देना।

(५) रेल किरायों पर करों से प्राप्त आय के राज्यों के बीच वितरण-सम्बन्धी सिद्धान्तों में कोई परिवर्तन करना हो तो उसके लिये सुझाव देना।

(६) सूती कपड़ा रेयन, नकली रेशम का कपड़ा, ऊनी कपड़ा, चीनी, तम्बाकू तथा उससे निर्मित वस्तुओं (जिन पर पहले राज्य सरकार बिक्री कर लगाते थे)

पर अतिरिक्त उत्पादन कर से एक वित्तीय वर्ष में प्राप्त होने वाली आय को राज्यों में वितरित करने के सिद्धान्तों पर विचार करना, तथा यदि आवश्यकता हो तो, उनमें परिवर्तन करने के सुझाव देना बशर्ते की प्रत्येक राज्य को प्राप्त होने वाले हिस्से की धनराशि उससे कम न हो जो सन् १९५६-५७ में बिक्री-कर से उस राज्य को प्राप्त होती थी।

(७) उन वस्तुओं के उत्पादन, उपभोग तथा निर्यात (जिन पर लगने वाले उत्पादन करों की आय का बटवारा राज्यों में किया जाता है) पर राज्य के बिक्री करों तथा संघ सरकार के उत्पादन-करों के सामूहिक कर-भार के प्रभावों का अध्ययन करना और यदि किसी भी वर्ष में किसी भी राज्य को अपने बिक्री-करों से, आयोग द्वारा निश्चित की गई सीमा से अधिक आय प्राप्त हो तो क्या संघ उत्पादन-करों में से प्राप्त होने वाले हिस्से में संशोधन किया जाये अथवा नहीं।

आयोग ने अपनी रिपोर्ट अगस्त सन् १९६५ में प्रस्तुत की थी। आयोग ने स्पष्ट कर दिया है कि यद्यपि संविधान में योजना तथा गैर योजना व्यय के बीच भेद नहीं किया गया है और आयोग के लिये यह गैर संवैधानिक नहीं होगा कि वह राज्यों के आय-सम्बन्धी व्यय तथा पूंजीगत व्यय की जांच-पड़ताल करें, किन्तु क्योंकि नियोजित आर्थिक विकास-सम्बन्धी प्रश्नों पर सलाह देने के लिये योजना आयोग नियुक्त किया गया है, इसलिये उपयुक्त यही रहेगा कि वह अपने कार्य को केवल गैर योजना व्यय तथा सन् १९६५-६६ के कर-स्तरों के आधार पर अगले पांच वर्षों की आय के अध्ययन तक ही सीमित रक्खे।

आयोग के मुख्य सुझाव निम्न प्रकार हैं :—

(१) जायदाद कर (Estate Duty)—आयोग के अनुसार पिछले आयोगों द्वारा दिये गये वितरण-सम्बन्धी सिद्धान्तों का ही पालन किया जाये। इसका सुझाव था कि संघ प्रदेशों का हिस्सा, शुद्ध आय के १% से बढ़ा कर २% कर दिया जाये। जहाँ तक एक कोष की स्थापना का प्रश्न था, आयोग के अनुसार क्योंकि जायदाद-कर की शुद्ध आय में से केवल ७ करोड़ रुपये ही राज्य में बांटे जाने थे इसलिए ऐसे कोष की स्थापना से कोई भी व्यावहारिक लाभ नहीं होगा। सन् १९६१ की जनगणना के आधार पर आयोग ने विभिन्न राज्यों के हिस्से निम्न प्रकार निश्चित किये हैं :—

राज्य	प्रतिशत	राज्य	प्रतिशत
आंध्र प्रदेश	८·३४	महाराष्ट्र	९·१६
असम	२·७५	मैसूर	५·४६
बिहार	१०·७६	नागा लैण्ड	०·०९
गुजरात	४·७८	उड़ीसा	४·०७
जम्मू तथा कश्मीर	०·८३	पंजाब	४·७०
केरल	३·९२	राजस्थान	४·६७
मध्य प्रदेश	७·५०	उत्तर प्रदेश	१७·८
मद्रास	७·८०	पं० बंगाल	८·०९

(२) **रेल किरायों पर कर**—आयोग ने तीसरे वित्त आयोग द्वारा निर्मित सिद्धान्तों का समर्थन किया किन्तु सन् १९६४ तक के आँकड़ों को एकत्रित किया और उपयोग किया। आयोग ने विशेष सहायता की धनराशि के स्थान पर प्रतिशतों का उपयोग किया। ये प्रतिशत निम्न प्रकार हैं :—

राज्य	प्रतिशत	राज्य	प्रतिशत
आंध्र प्रदेश	९·०५	महाराष्ट्र	८·९८
असम	२·७९	मैसूर	३·९८
बिहार	९·९९	नागा लैण्ड	०·०१
गुजरात	७·११	उड़ीसा	२·१२
जम्मू तथा कश्मीर	——	पंजाब	७·४३
केरल	१·८५	राजस्थान	६·४०
मध्य प्रदेश	९·८५	उत्तर प्रदेश	१८·२३
मद्रास	५·८१	प० बंगाल	६·४०

आयोग ने इस विषय पर राज्यों द्वारा व्यक्त किये गये विचारों का भी उल्लेख किया है। इनके अनुसार सहायता के स्तर में रेल-यात्रियों से प्राप्त आय की वृद्धि के अनुपात में वृद्धि होनी चाहिए।

(३) **आय-कर**—आयोग तीसरे वित्त आयोग के इस विचार से सहमत था कि विभाजित होने वाले कर के सम्बन्ध सभी भाग लेने वाली सरकारों विशेषकर उसको जो कर को लागू करने तथा वसूल करने की ज़िम्मेदार है, कर प्राप्तियों में महत्त्वपूर्ण रुचि लेनी चाहिए। राज्यों की इस दलील को भी ध्यान में रक्खा कि कम्पनियों द्वारा दिये जाने वाले आय-कर के पुनर्वर्गीकरण से उत्पन्न होने वाली हानि को कुछ न कुछ अंश तक पूर्ति अवश्य ही की जाये। वर्तमान प्राप्तियों तथा भावी उन्नति के अनुमान पर, आयोग का विचार था कि आय-कर में से राज्यों को प्राप्त होने वाले हिस्से की वृद्धि न्यायपूर्ण होगी। इसीलिए उसका सुझाव था कि संघ प्रदेशों के हिस्से (२·५% को निकाल कर विभाजित होने वाली राशि को ७५% को राज्यों में विभाजित करना चाहिए जहां तक राज्यों के हिस्सों के निर्धारण-सम्बन्धी सिद्धान्त का प्रश्न था आयोग के अनुसार यह उचित था कि प्रत्येक वित्त आयोग की नियुक्ति के साथ-साथ इस प्रश्न को उठाया जाये। इसीलिये उसने पहले तथा तीसरे वित्त आयोगों द्वारा निर्धारित सिद्धान्त अर्थात् ८०% जनसंख्या के आधार पर और २०% प्राप्तियों के आधार पर, को ही स्वीकार किया है। सन् १९६१ की जन गणना तथा १९६३-६४ तक के तीन वर्षों तक की प्राप्तियों के औसत के आधार पर राज्यों के हिस्से निम्न प्रकार निर्धारित किये हैं :—

राज्य	प्रतिशत	राज्य	प्रतिशत
आंध्र प्रदेश	७·३७	महाराष्ट्र	१४·२८
असम	२·४४	मैसूर	५·१४
बिहार	९·०४	नागालैण्ड	०·०७
गुजरात	५·२९	उड़ीसा	३·४०
जम्मू तथा कश्मीर	०·७३	पंजाब	४·३६
केरल	३·५९	राजस्थान	३·९७
मध्य प्रदेश	६·४७	उत्तर प्रदेश	१४·६०
मद्रास	८·३४	प० बंगाल	१०·९१

(४) **संघीय उत्पादन-कर**—तीसरे आयोग ने केवल उन्हीं वस्तुओं को सम्मिलित किया था जिनकी आय सन् १९६०-६१ में ५० लाख रुपये से अधिक थी। किन्तु चौथे आयोग का विचार था कि इसके अन्तर्गत उन सभी वस्तुओं को शामिल करना चाहिए जिन पर संघीय उत्पादन कर लगाया जा रहा है और जिन पर अगले ५ वर्षों में उत्पादनकर लगाने का विचार हो। ऐसा करना कई कारणों से आवश्यक प्रतीत होता है जैसे राज्यों में इन करों के लागू करने तथा वसूल करने की ओर अधिक रुचि उत्पन्न करने तथा संघ सरकार की उत्पादन-कर नीति और राज्य सरकारों की बिक्री-कर नीति के बीच समन्वय स्थापित करने के लिए; जितनी अधिक वस्तुएं इसके अन्तर्गत सम्मिलित की जायेंगी उतना ही साधनों का प्रवाह राज्यों को सामान्य होगा क्योंकि कुछ मदों से प्राप्त होने वाली आय की कमी दूसरी मदों से प्राप्त होने वाली आय की वृद्धि से पूरी हो जायेगी; राज्यों की आवश्यकताएं बढ़ती जा रही हैं और इसीलिए एक लोचदार साधन प्राप्त हो जाने से उनकी स्थिति और भी सुदृढ़ बन जायेगी; और एक ऐसी अर्थ-व्यवस्था में जहाँ उद्योगों का विस्तार हो रहा हो और उत्पादन के नये-नये क्षेत्र बढ़ाये जा रहे हों, वहाँ पर यह आवश्यक है कि उत्पादन-करों के विभाजन-सम्बन्धी सिद्धान्त के अन्तर्गत नई-नई वस्तुओं को शामिल किया जाये। आयोग ने कुछ प्रकार के उत्पादन करों को इसके अन्तर्गत शामिल नहीं किया है जैसे विशेष कानूनों के आधीन लगाये गये उत्पादन-कर, बिक्री-करों के स्थान पर लागू किये गये अतिरिक्त उत्पादनकर, सन् १९६३ में राष्ट्रीय संकट के समय लागू किये गये उत्पादन-कर, और सन् १९६१ में कुछ नियमनार्थ लागू किये गये। आयोग ने विभाजित होने वाले उत्पादन-करों की शुद्ध प्राप्तियों के २०% भाग को राज्यों में विभाजित करने का सुझाव दिया है (जैसा कि तीसरे वित्त आयोग ने निश्चित किया था), किन्तु सभी वस्तुओं पर उत्पादन-करों की प्राप्तियों के सम्मिलित हो जाने के कारण कुल बटने वाली राशि में वृद्धि हो जाएगी।

जहाँ तक उन सिद्धान्तों का सम्बन्ध है जिनके आधार पर विभिन्न राज्यों में उत्पादन-करों की प्राप्तियों का वितरण किया जाये, आयोग का विचार था कि जन-

संख्या तो एक महत्त्वपूर्ण आधार है ही किन्तु प्रत्येक राज्य के आर्थिक और सामाजिक पिछड़ेपन की ओर भी ध्यान देना चाहिये। आयोग ने राज्यों की वित्तीय कमजोरियों (जो आय घाटों द्वारा मापी जाती है) की ओर कोई ध्यान नहीं दिया जैसा कि तीसरे आयोग ने किया था क्योंकि इसका विचार था कि ऐसे घाटों को विशेष सहायता द्वारा पूरा किया जाए।

आयोग ने जनसंख्या को ८० प्रतिशत और आर्थिक पिछड़ेपन को २० प्रतिशत का भाग नियुक्त करने के पश्चात् निम्न प्रतिशत निर्धारित किये हैं :—

राज्य	प्रतिशत	राज्य	प्रतिशत
आन्ध्र प्रदेश	७·७७	महाराष्ट्र	८·२३
असम	३ ३२	मैसूर	५·४१
बिहार	१०·०३	नागालैण्ड	२·२१
गुजरात	४·८०	उड़ीसा	४·८२
जम्मू तथा कश्मीर	२·२६	पंजाब	४·८६
केरल	४·१६	राजस्थान	५·०६
मध्य प्रदेश	७·४०	उत्तर प्रदेश	१४·६८
मद्रास	७·१८	पश्चिमी बंगाल	७·५१

५. अतिरिक्त उत्पादन-कर—

आयोग ने शुद्ध प्राप्तियों में संघ क्षेत्रों का एक प्रतिशत और जम्मू तथा काश्मीर का एक प्रतिशत भाग निश्चित किया था जैसा कि तीसरे आयोग का सुझाव था। इसने तीसरे आयोग द्वारा प्रस्तावित विभिन्न राज्यों को विश्वास दिलाई गई राशियों को भी स्वीकार किया। शेष राशि के वितरण के सम्बन्ध में इसका सुझाव था कि इसका वितरण प्रत्येक राज्य में वसूल की गई बिक्री कर की आय तथा सभी राज्यों में एकत्रित की गई बिक्री कर की कुल आय, (१९६१-६२ तथा १९६३-६४ के वर्षों में) के अनुपात के आधार पर होना चाहिये। संघ क्षेत्रों, जम्मू तथा काश्मीर और नागालैंड के हिस्सों को निकालकर आयोग ने विभिन्न राज्यों के प्रतिशत निम्न प्रकार निश्चित किये हैं :—

राज्य	प्रतिशत	राज्य	प्रतिशत
आन्ध्र प्रदेश	७·४२	महाराष्ट्र	१६·८७
असम	१·९८	मैसूर	५·२१
बिहार	६·१७	उड़ीसा	२·५८
गुजरात	७·४३	पंजाब	५·०१
केरल	५·६५	राजस्थान	३·१७
मध्य प्रदेश	४·६२	उत्तर प्रदेश	७·८३
मद्रास	११·१३	प० बंगाल	११·९३

संघ उत्पादन-करों तथा बिक्री-कर का संमचय—

आयोग को निम्न बातों पर अपने सुझाव देने थे :—

अ—वस्तुओं के उत्पादन, उपभोग तथा निर्यात और राज्यों में विभाजित होने वाले करों पर बिक्री-करों और संघ उत्पादन-करों के मिलवां कर भार के प्रभाव, और (ब) संघ उत्पादन करों में से राज्यों को प्राप्त होने वाले हिस्सों में कुछ फेर-बदल का सुझाव देना यदि बिक्री करों की दरें निश्चित की गई सीमाओं से अधिक हों। किन्तु पर्याप्त सूचना तथा आँकड़ों के अभाव में आयोग इन बातों के सम्बन्ध में अपने सुझाव नहीं दे पाया।

अनुदान (Grants-in-aid)

आयोग उन सिद्धान्तों से सहमत था जो पिछले आयोगों ने संघ सरकार द्वारा राज्य सरकारों को दिये जाने वाले अनुदानों के विषय पर बनाये थे किन्तु यह योजना-सम्बन्धी अनुदानों तथा विशेष उद्देशीय अनुदानों को सम्मिलित करने के पक्ष में नहीं था। इसीलिये आयोग ने राज्यों के योजना-सम्बन्धी व्यय के सम्बन्ध में कोई सुझाव नहीं दिया है। उसने विशेष उद्देश्य वाले अनुदानों पर भी कोई सुझाव नहीं दिया है क्योंकि उसका विचार था कि यह पता लगाना बहुत कठिन था कि उनका उपयोग हुआ है या नहीं। किन्तु उसने राज्यों के भावी व्यय के अन्तर्गत उनकी कुछ विशेष आवश्यकताओं को सम्मिलित किया है।

राज्यों को मिलने वाले अनुदानों की राशि का अनुमान लगाते समय आयोग को कुछ विशेष बातों को ध्यान में रखना था, जैसे, ऋण-सम्बन्धी सेवाओं पर व्यय, जायदाद-कर की प्राप्तियों में से एक कोष की स्थापना और प्रशासनिक व्यय में, कार्यकुशलता की क्षति के बिना, कहाँ तक कमी की जा सकती है!

पिछले वर्षों में आय तथा व्यय की प्रगति को ध्यान में रख कर आयोग ने प्रत्येक राज्य के भावी आय तथा गैर योजना आय सम्बन्धी व्यय की समीक्षा की है। कुछ राज्यों ने अपने भावी व्यय में पुलिस-सम्बन्धी व्यय, स्थानीय संस्थाओं के लिये अनुदानों और राज्यकर्मचारियों के वेतन तथा भत्तों सम्बन्धी आँकड़ों को भी सम्मि-लित किया था किन्तु इनके सम्बन्ध में न तो कोई पक्की नीति थी और न ही पर्याप्त आँकड़े थे। इसलिये आयोग ने केवल उन्हीं व्ययों को सम्मिलित किया जिनके सम्बन्ध में सरकारी आदेश जारी किये गये थे या जिन पर दृढ़ निर्णय लिये जा चुके थे। जो विषय विचाराधीन थे, उनके विषय में आयोग का सुझाव था कि यदि राष्ट्रपति के अन्तिम आदेश से पहले इन पर निर्णय ले लिया जाये तो, राज्यों को दिये जाने वाले अनुदानों की राशि निर्धारित करते समय उनको भी सम्मिलित कर लिया जाये। तीन राज्यों के सम्बन्ध में आयोग ने उन मदों को भी सम्मिलित नहीं किया, जिन पर पक्के निर्णय लिये जा चुके थे और सरकार ने आदेश भी जारी कर दिये थे, कदाचित् इसलिए कि या तो उनकी समीक्षा करने के लिये उसके पास

समय नहीं था या प्रस्तावों से सम्बन्वित आवश्यक सूचना तथा आँकड़े प्रस्तुत नहीं किये गये थे, किन्तु उसका सुझाव था कि राष्ट्रपति के आदेश में इनको भी सम्मिलित कर लिया जाये। आयोग के अनुसार अगले पाँच वर्षों में (१९६६-१९७१) राज्यों की ग़ैर-योजना सम्वन्वी आय में निम्न घाटों के उत्पन्न होने का अनुमान था :—

(करोड़ रु० में)

राज्य	ग़ैर-योजना सम्वन्धी आय में घाटा	राज्य	ग़ैर-योजना सम्वन्धी आय में घाटा
आन्ध्र प्रदेश	२०२·७३	महाराष्ट्र	४४·७२
असम	१४४·९६	मैसूर	२०२ ५२
विहार	१०८·२१	नागालैंड	५८·४६
गुजरात	११३·५५	उड़ीसा	२३१·८५
जम्मू तथा कश्मीर	६६·१०	पंजाव	७५·०३
केरल	१८८·६१	राजस्थान	१३०·४१
मध्य प्रदेश	१६२ ० ३	उत्तरप्रदेश	३०६·७५
मद्रास	२०७·३२	प० वंगाल	१८३·४४
		योग	२४२६·६९

आयोग का अनुमान था कि निम्न ६ राज्यों को केन्द्रीय करों में से इतनी राशि प्राप्त हो जायेगी कि उनके पास अगले पाँच वर्षों में निम्न आधिक्य रहेगा और इसलिये इन राज्यों को कोई भी अनुदान न देने का सुझाव उसने दिया है :—

राज्य	आधिक्य (करोड़ रु०)	राज्य	आधिक्य (करोड़ रु०)
विहार	८९·२५	पंजाव	२९·८३
गुजरात	८·००	उत्तर प्रदेश	१७·०२
महाराष्ट्र	२१५·६६	प० वंगाल	१३·९७
		योग	३७३ ७३

आयोग ने अनुमान लगाया था कि केन्द्रीय करों का हिस्सा प्राप्त हो जाने के वाद भी वाकी के राज्यों की आय में घाटा रहेगा, इसलिये उसका सुझाव था कि इन राज्यों को वार्षिक अनुदान निम्न प्रकार दिये जाएँ :—

राज्य	वार्षिक अनुदान (करोड़ रु० में)	राज्य	वार्षिक अनुदान (करोड़ रु० में)
आन्ध्र प्रदेश	७·२२	मद्रास	६·८४
असम	१६·५२	मैसूर	१८·२४
जम्मू तथा कश्मीर	६·५७	नागालैण्ड	७·०७
केरल	२०·८२	उड़ीसा	२९·१८
मध्य प्रदेश	२·७०	राजस्थान	६·७३
		वार्षिक योग	१२१·८९

उधार (Borrowing) :—

यह पता लगाने के लिये कि राज्यों को कितनी सहायता की जरूरत है, आयोग को यह भी मालूम करना था कि ऋण-सम्बन्धी सेवाओं पर राज्यों का कितना व्यय होने की सम्भावना थी। आयोग का विचार था कि राज्यों को सूद तथा मूलधन के भुगतान करने के लिए अपने आय-सम्बन्धी बजट में व्यवस्था करनी चाहिये। आयोग के अनुसार, राज्यों की ऋणग्रस्तता, तथा उनके वर्तमान ऋणों के औचित्य, सूद के भुगतान, मूलधन के भुगतान और लेखा-जोखा सम्बन्धी विधियों इत्यादि बातों का अध्ययन करने के लिए एक ऐसी संस्था स्थापित की जाये, जो उसके लिये योग्य हो। क्योंकि अधिकतर ऋण भारत सरकार से लिये गये हैं, और जिन उद्देश्यों के लिए ऋण लिये गये हैं, उनमें से अधिकांश का निर्धारण, भारत सरकार तथा नियोजन आयोग के परामर्श से हुआ है, और क्योंकि भारत सरकार स्वयं नये ऋण प्राप्त करने के लिये प्रोत्साहित करती है, इसलिये, यह बहुत जरूरी है कि अन्तर-सरकारीय ऋणों का सर्वेक्षण किया जाय। ऐसा करना, भारत सरकार तथा राज्यों, दोनों के ही हित में होगा।

आयोग ने यह महसूस किया कि भूतकाल में भारत सरकार और राज्य सरकारों और विभिन्न राज्य सरकारों में आपस में, समान हित वाली वित्तीय बातों पर बहुत कम सम्पर्क रहा है। इसलिये भविष्य में यह सम्पर्क अधिक हो और सामान्य हित वाले प्रश्नों पर नियमित रूप से बातचीत हो। राष्ट्रीय विकास परिषद् की तथा जोनल सभाओं के विचाराधीन जो प्रश्न होते हैं, उनकी संख्या इतनी अधिक होती है कि वे विशेष वित्तीय समस्याओं का विस्तार में अध्ययन नहीं कर पाती हैं। संविधान के अनुसार ऐसा कोई भी प्रस्ताव जो किसी भी राज्य के वर्तमान या भावी हित को किसी भी प्रकार से प्रभावित करता है, संसद के सामने केवल उसी समय रखा जा सकता है, जबकि राष्ट्रपति की सिफारिश हो। इस बात का समाधान उसी समय अच्छी तरह हो सकता है, जबकि केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों के प्रतिनिधि आपस में नियमित रूप से मिलते रहें और समान हित वाली बातों पर परामर्श करते रहें।

पिछले तीनों आयोगों ने इस बात की ओर ध्यान दिलाया था कि राज्यों की आवश्यकताओं का सही पता लगाने के लिए यह बहुत आवश्यक है कि विश्वास करने योग्य आँकड़े जमा किये जायें। यद्यपि इस काम के लिए वित्त-मन्त्रालय में एक "सैल" तो स्थापित कर दिया गया है, किन्तु जो स्टाफ रखा गया है वह पर्याप्त नहीं है और आँकड़े भी कम ही एकत्रित किये गये हैं। इसलिये उनका सुझाव था कि इस "सैल" का संगठन फिर से किया जाये और उसको शक्तिशाली बनाया जाये।

सरकार द्वारा की गई कार्यवाही—भारत सरकार ने कुछ संशोधनों के साथ आयोग की सिफारिशों को स्वीकार कर लिया है। आन्ध्र प्रदेश, मैसूर तथा उत्तर प्रदेश

सरकारों द्वारा सरकारी कर्मचारियों, स्थानीय सरकारों के कर्मचारियों तथा शिक्षकों के वेतन और महंगाई भत्ते में वृद्धि की जाने के कारण जो उनके व्यय में वृद्धि होनी थी, उसे आयोग ने आय सम्बन्धी व्यय में सम्मिलित नहीं किया था, क्योंकि उसे उचित आँकड़े नहीं दिये गये थे, किन्तु उसने यह सिफारिश की थी कि अनुदान की राशि निर्धारित करते समय, इनको भी ध्यान में रखा जाये। भारत सरकार के अनुरोध पर आयोग के एक सदस्य प्रो० डी० जी० कार्वे ने इन राज्य सरकारों की अतिरिक्त ज़िम्मेदारियों का पता लगाया, जिसके आधार पर राज्य सरकारों को अतिरिक्त अनुदान दिये गये हैं। आयोग ने अपने आय-सम्बन्धी व्यय के अनुमानों में, असम के पहाड़ी ज़िलों की विशेष आवश्यकताओं, मध्य प्रदेश में पुलिस संगठन को सुधारने तथा शक्तिशाली बनाने के लिये और मैसूर में पंचायतों को सहायता देने के लिये कोई व्यवस्था नहीं की थी क्योंकि इस सम्बन्ध में राज्य सरकारों ने आदेश जारी

स्वीकृत की गयी सिफारिशों का विवरण

राज्य	आय कर में हिस्सा (%)	संघ उत्पादन करों में हिस्सा (%)	अनुदान (लाख रु० में)	जायदाद कर में हिस्सा (%*)	रेल किरायों पर कर के बदले में सहायता (%)	अतिरिक्त उत्पादन करों में हिस्सा	
						निश्चित आय (लाख रु० में)	शेष राशि का वितरण %)
राज्यों का हिस्सा	७५	२०		९८	—	—	९७·४५
आन्ध्र प्रदेश	७·३७	७·७७	१३,५१	८·३४	९·०५	२३५·२४	७·४२
असम	२·४४	३·३२	१६,५२	२·७५	२·७९	८५·०८	१·९८
बिहार	९·०४	१०·०३	—	१०·७६	९·९९	१३०·१६	६·१७
गुजरात	५·२९	४·८०	—	४·७८	७·११	३२३·४५	७·४३
जम्मू तथा कश्मीर	०·७३	२·२६	६,५७	०·८३	—	—	**
केरल	३·५९	४·१६	२०,८२	३·९२	१·८५	९५·०८	५·६५
मध्य प्रदेश	६·४७	७·४०	२,७०	७·५०	९·८५	१५५·१७	४·६२
मद्रास	८ ३४	७·१८	६,८४	७·८०	५·८१	२८५·३४	११·१३
महाराष्ट्र	१४·२८	८·२३	—	९·१६	८·९८	६३७·७७	१९·८७
मैसूर	५·१४	५·४१	२०,८२	५·४६	३·९८	१००·१०	५·२१
नागालैण्ड	०·०७	२·२१	७,०७	०·०९	०·०१	—	**
उड़ीसा	३·४०	४·८२	२९१८	४·०७	२·१२	८५·१०	५·५८
पंजाब	४·३६	४·८६	—	४·७०	७·४३	१७५·१९	५.०१
राजस्थान	३·९७	५·०६	६७३	४·६७	६·४०	९०·१०	३·१७
उत्तर प्रदेश	१४·६०	१४·९८	९८५	१७·०८	१८·२३	५७५·८१	७·८३
पं० बंगाल	१०·९१	७·५१	—	८·०९	६·४०	२८०·४१	११·९३
योग	१००	१००	१,४०,९१	१००	१००	३२,५४·००	१००

* केवल गतिशील पूँजी से सम्बन्धित कर ही।

** जम्मू तथा कश्मीर और नागालैण्ड को कोई भी मुआवज़ा नहीं मिलेगा। केवल, शुद्ध प्राप्तियों का क्रमशः १½ और ०·०५% ही उनको दिया जायगा।

नहीं किये थे किन्तु उसकी यह सिफारिश की थी कि अनुदानों की राशि निर्धारित करते समय इनको ध्यान में रखा जाये यदि ये प्रस्ताव राष्ट्रपति के आदेश जारी करने से पहले कार्यारोपित कर दिये जायें। भारत सरकार ने यही तय किया कि योजना के लिये राज्यों के साधनों तथा उनकी आवश्यकताओं का अनुमान लगाते समय इन को सम्मिलित किया जाये। आयोग ने जो सामान्य बातें अपनी रिपोर्ट में कहीं हैं उन पर बाद में कार्यवाही की जायेगी। इसीलिये सरकार ने उन्हीं बातों पर कार्यवाही की जो बहुत जरूरी थीं। सरकार ने जिन सिफारिशों को स्वीकार कर लिया है उनका संक्षिप्त विवरण उपरोक्त तालिका में दिया गया है।

रिपोर्ट पर एक दृष्टि—पिछले आयोगों की तरह चौथे आयोग ने भी केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों के वितीय सम्बन्धों के क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। सामाजिक तथा विकासात्मक सेवाओं पर बढ़ते हुए खर्चों तथा पिछली योजनाओं में पूरे किये गये कार्यक्रमों-सम्बन्धी व्यय की वृद्धि को ध्यान में रख कर, राज्यों को केन्द्रीय करों में से अधिक भाग तथा अनुदानों की अधिक राशि दिलवा कर एक न्याय का पथ दिलवाया है। रेल किरायों पर कर को हटाने की सिफारिश कर के आयोग ने यह स्वीकार कर लिया है कि ऐसे कर से राज्यों की आय का एक बढ़ता हुआ स्रोत उनसे छिन जाता है। आयोग ने इस बात पर बल देकर उचित ही किया है कि हर आयोग की नियुक्ति के साथ-साथ वितरण-सम्बन्धी सिद्धान्त नहीं बदलने चाहिए। उत्पादन-करों के वितरण के सम्बन्ध में जो आधार उसने अपनाया है वह भी उचित है। इसी-लिये तो उसने राज्यों को दिये जाने वाले अनुदानों की राशियों में वृद्धि की है। उसने ठीक ही कहा है कि यदि किसी राज्य को आय के बड़े घाटों को पूरा करने के लिये सहायता की आवश्यकता है तो उसको विशेष सहायता दी जाये। अपनी तथा नियोजन आयोग की स्थिति को सही तौर पर समझकर चौथे आयोग ने यह उचित ही किया है कि राज्य सरकारों के योजना सम्बन्धी व्यय को ध्यान में नहीं रखा है। आयोग का यह सुझाव महत्त्वपूर्ण है कि पारस्परिकहित-सम्बन्धी प्रश्नों को सुलझाने के लिये यह बहुत आवश्यक है कि राज्य तथा केन्द्रीय सरकारों के प्रतिनिधि आपस में मिलते रहें और बातचीत करते रहें।

निष्कर्ष—

पिछले पृष्ठों में हमने चारों वित्त-आयोगों द्वारा दी गई उन सिफारिशों का विवरण दिया जो कि उन्होंने इस सम्बन्ध में दी हैं कि राज्यों को केन्द्रीय सरकार किस प्रकार सहायता प्रदान करे। यद्यपि इन आयोगों ने राज्यों को अधिकाधिक मात्रा में सहायता प्रदान करने के सम्बन्ध में सराहनीय कार्य किया है किन्तु इससे कुछ ऐसी कठिनाइयों पर रोशनी पड़ी है जिनका समाधान होना नितान्त आवश्यक होता है। सबसे पहली कठिनाई तो यह है कि विभिन्न राज्यों में केन्द्रीय करों में से मिलने वाले हिस्से का निर्धारण किस आधार पर किया जाये। एक ओर तो प्रत्येक राज्य अपनी-अपनी बीन बजाता है और दूसरी ओर हर वित्त-आयोग ने अपना एक अलग

दृष्टिकोण अपनाया है जिसका परिणाम यह हुआ है कि कोई भी राज्य संतुष्ट नहीं हुआ है। किन्तु यहाँ पर यह कहना अनुचित न होगा कि वितरण के किसी एक निश्चित आधार की आशा करना बेकार है क्योंकि प्रत्येक राज्य की आर्थिक तथा औद्योगिक परिस्थितियाँ प्रत्येक पंचवर्षीय योजना की पूर्ति के बाद बदल जाती हैं और इसलिये यह आवश्यक है कि प्रत्येक राज्य के संदर्भ में वितरण के आधार में भी परिवर्तन हो जाये। इसके अतिरिक्त एक निश्चित आधार बना लेने में सब से बड़ी कठिनाई यह भी होगी कि जो राज्य आज पिछड़े हुए हैं, और जिनको आज अधिक सहायता दी जा रही है, यदि पंचवर्षीय योजनाओं की प्रगति के साथ-साथ वे चाहे जितनी उन्नति कर लें फिर भी (यदि उस निश्चित आधार की कसौटी से पिछड़े हुए ही नजर आएँ) उनको इतनी ही सहायता मिलती रहेगी, चाहे उनको उसकी आवश्यकता ही न हो। इसलिये यह कठिनाई ऐसी है जिसका कोई आसान हल दिखाई नहीं देता।

एक दूसरी कठिनाई वित्त-आयोग तथा नियोजन आयोग के कार्य-क्षेत्रों के सम्बन्ध में दिखाई देती है जो एक दूसरे से टकराते हैं। इस विषय पर दूसरे आयोग का विचार था कि दोनों संस्थाओं में उचित समचय किया जाये। तीसरे वित्त-आयोग ने दो सुझाव रक्खे थे। पहला यह था कि वित्त आयोग के कार्यक्षेत्र को बढ़ा कर इतना विस्तृत कर दिया जाये कि उसके अन्तर्गत योजना-सम्बन्धी व्यय, ऋण, अनुदान इत्यादि राज्यों को मिलने वाली सभी प्रकार की केन्द्रीय सहायता सम्मिलित कर ली जाये। दूसरा सुझाव यह था कि नियोजन आयोग को ही उपयुक्त समय पर वित्त आयोग में बदल दिया जाये। तीसरा वित्त आयोग पहले प्रस्ताव के पक्ष में था किन्तु इसके स्वीकार करने में सब से बड़ी कठिनाई यह होगी कि केन्द्रीय सरकार को राज्यों के योजना-सम्बन्धी व्यय के बारे में पहले से ही वायदा करना होगा जबकि योजनाएँ मुख्य रूप से बदलती हुई परिस्थितियों को ध्यान में रखकर बनाई जाती हैं। नियोजन आयोग को वित्त आयोग में बदल देने से राज्यों की आवश्यकताओं का वैधानिक समाधान नहीं हो पाथा। चौथे आयोग के अध्यक्ष डा० राजमन्नार का विचार था कि दोनों आयोगों के कार्य-क्षेत्रों को स्पष्ट कर दिया जाये और नियोजन आयोग को एक वैधानिक संस्था का रूप दिया जाये ताकि वह सरकार से बिल्कुल स्वतन्त्र हो। किन्तु वर्तमान परिस्थितियों में ऐसा होना सम्भव नहीं दीखता इसलिये इस समस्या का भी कोई सरल हल नहीं दीखता।

तीसरी कठिनाई उस दिशा में उत्पन्न होती है कि वित्त आयोग को केवल राज्यों के बजटों में सामान्य घाटों को पूरा करने के लिये सुझाव देने चाहिये या पंचवर्षीय योजनाओं के कार्यक्रमों को पूरा करने के लिये भी जो वित्त की आवश्यकता होती है उसके लिये भी सुझाव देने चाहिये। तीसरे वित्त आयोग का सुझाव था कि राज्यों की योजनाओं के ७५% आय-सम्बन्वी श्रोतों को विकेन्द्रीयकरण की योजना के अन्तर्गत सम्मिलित करना चाहिये किन्तु भारत सरकार ने इस सिफारिश को नहीं माना था। चौथे आयोग ने राज्यों के नए योजना सम्बन्धी व्यय को सम्मिलित

नहीं किया क्योंकि उसका विचार था कि योजना-सम्बन्धी व्यय का विशेष महत्त्व है और यह केवल नियोजन आयोग का ही कार्य-क्षेत्र है।

अन्तिम कठिनाई इस सम्बन्ध में यह है कि राज्य अधिकाधिक केन्द्रीय सरकार पर निर्भर होते जा रहे हैं। जिसका परिणाम यह है कि उन्होंने अपने साधनों को बढ़ाने का कोई भी प्रयत्न नहीं किया और अपनी हर आवश्यकता की पूर्ति के लिये केन्द्रीय सरकार का ही मुंह ताकते हैं। चौथे आयोग के एक सदस्य प्रो० दत्ता का विचार था कि जो कर केन्द्रीय सरकार द्वारा लगाये जा रहे हैं उनका पूरा उपयोग नहीं किया जा सका है इसलिये यह आवश्यक है कि केन्द्रीय सरकार द्वारा लागू किये जाने वाले करों में से अधिकांश की प्राप्तियों को राज्यों में बाँटा जाये। डा० राजमन्नार का सुझाव था कि विभाजित होने वाले करों में से विभिन्न राज्यों को प्राप्त होने वाले हिस्सों को निर्धारित करके संविधान में ही निश्चित राशियों का उल्लेख कर दिया जाये। ऐसा हो जाने से वित्त आयोगों को केवल अनुदानों के सम्बन्ध में ही अपने सुझाव देने होंगे। यह सच है कि पिछले १५ वर्षों में आर्थिक नियोजन के कारण देश में जो प्रगति हुई है उसको दृष्टि में रखकर केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों के पारस्परिक वित्तीय सम्बन्धों की विस्तृत जाँच होनी चाहिये और क्योंकि संविधान में भी कुछ संशोधन करने पड़ें इसलिये यह आवश्यक है कि यह कार्य एक विशेष आयोग को सौंपा जाये। भारत सरकार को चाहिये कि इस दिशा में शीघ्र ही फैसला करे और ठोस कदम उठाये।

भाग ५

भारतीय कर-प्रणाली और उसके मुख्य अंग

अध्याय १६

भारतीय कर-प्रणाली

(THE INDIAN TAX SYSTEM)

पिछले अध्याय में हमने भारत में संघीय वित्त-व्यवस्था के इतिहास पर एक दृष्टिपात की थी। अब हम भारतीय कर-प्रणाली की मुख्य विशेषताओं और मुख्य-मुख्य करों का अध्ययन करेंगे। इससे पूर्व कि हम भारत में केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों के मुख्य-मुख्य करों की व्याख्या करें, हम भारतीय कर-प्रणाली के दोषों तथा कर-प्रणाली को सुधारने के लिए समय-समय पर दिये गये प्रस्तावों की विवेचना करेंगे। इस अध्याय की यही विषय-सामग्री है।

भारतीय कर-प्रणाली की विशेषतायें तथा दोष—भारत एक अर्ध-विकसित देश है। हमने अपना विकास कार्यक्रम आरम्भ कर दिया है और आज सोलह वर्ष हो चुके हैं। पहली योजना में तो आय के साधनों की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया जा सका था। इसके कई कारण हो सकते हैं। प्रथम, पहली योजना में व्यय-राशि बहुत बड़ी निश्चित नहीं की गई थी, इसीलिए कोई चिन्ता नहीं थी। स्वतन्त्रता के तुरन्त बाद ही, साम्यवादी तथा पूँजीवादी, दोनों ही क्षेत्र भारत को संतुलित केन्द्र बनाना चाहते थे। स्वयं भारत की भी अपनी नीति ऐसी ही है। एशिया का नेता होने के नाते भारत दोनों ही क्षेत्रों का मित्र बनकर रहना चाहता है। अतः हर देश उसको नियोजन-कार्य में अपना सहयोग देना चाहता था और इसीलिए उसे आशा से भी अधिक विदेशी सहायता प्राप्त हुई। दूसरे, भारत के स्वयं अपने साधन भी बहुत थे। उसके पौंड पावने एकत्रित थे ही, इसलिए विदेशी मुद्रा की उसे कोई चिन्ता नहीं थी। युद्धकाल में प्राप्त किये हुए लाभ व्यक्तियों के पास एकत्रित थे और कृषि तथा औद्योगिक क्षेत्रों में मूल्य-वृद्धि के कारण लाभ का अंश निरन्तर बढ़ता ही जा रहा था। इसलिये सरकार को देश के भीतर से ही करों, अल्प-बचतों तथा ऋणों

द्वारा काफी धन प्राप्त होने की आशा थी। हुआ भी यही, सरकार को ऋणों तथा अन्य स्रोतों से आशा से भी अधिक धन प्राप्त हुआ। तीसरे, अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में विश्व बैंक तथा मुद्रा कोष की स्थापना और उनकी सदस्यता प्राप्त कर लेने के बाद भारत को यह आशा हो ही गई थी कि विश्व बैंक से देश के आंतरिक विकास के लिए और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से व्यापार संतुलन की असमताएँ दूर करने में सहायता प्राप्त हो ही जायेगी। अन्तिम एवं सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि भारत को उस समय तक आर्थिक नियोजन की आर्थिक कठिनाइयों का स्पष्ट ज्ञान भी नहीं था। नियोजन आयोग ने अधिकतर सैद्धान्तिक बातों के आधार पर और विभिन्न धारणाओं पर ही अपना कार्यक्रम आधारित किया था। उस समय हर दिशा में स्फूर्ति तथा आशावादी दृष्टिकोण था और व्यक्ति नियोजन को फूलों की शैया समझे हुए थे, उन्हें गुलाब के काँटों का ज्ञान नहीं था। यही कारण है कि दूसरी योजना में सरकार ने काफी सावधानी बरती, फिर भी योजना अत्यन्त आशावादी थी। दूसरी योजना को सफल बनाने के लिए सरकार को आवश्यक मात्रा में धन प्राप्त नहीं हो पाया। कदाचित् पहली योजना की सफलताओं से फूलकर ही नियोजन आयोग ने इतना आशावादी दृष्टिकोण अपनाया था। हमें आन्तरिक ऋण, अल्प बचतों और करारोपण से आशातीत आय प्राप्त नहीं हो पाई। विदेशी सहायता में पहले ही कमी हो गई थी। इसीलिए केवल करारोपण को ही अपनाया गया। तीसरी योजना दूसरी की अपेक्षा अधिक विशाल है और चौथी योजना तो तीसरी की ढाई गुनी बड़ी है। इसकी पूर्ति के लिए भी अधिकतर करारोपण पर ही निर्भर करना पड़ेगा। किन्तु करारोपण में वृद्धि करने के लिए कर-प्रणाली में उचित संशोधन करने होंगे और आर्थिक विकास के लक्ष्यों के अनुकूल कर-प्रणाली को बनाना होगा। हमारी वर्तमान कर-प्रणाली का जो ढांचा है उससे विकास कार्यों की पूर्ति के लिए आवश्यक धन प्राप्त होने की आशा करना निरर्थक होगा।

भारतीय कर-नीति का ऐतिहासिक सिंहावलोकन—

अंग्रेजी शासन काल में हमारी कर-नीति केवल एक मुट्ठी भर लोगों को प्रभावित करने तक ही सीमित थी। उसका प्रमुख उद्देश्य प्रशासन-सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु आवश्यक वित्त प्राप्त करना था। सार्वजनिक कल्याण, सामाजिक न्याय तथा देश का आर्थिक विकास जैसी महत्त्वपूर्ण बातों का उसमें कोई स्थान नहीं था। अप्रत्यक्ष करों की उसमें प्रमुखता थी। दूसरे विश्व-युद्ध में राष्ट्रीय आय में तीव्र वृद्धि होने के कारण राजकीय आय में भी वृद्धि हुई जो मुख्य रूप से करों में वृद्धि करने का परिणाम थी किन्तु कर-सम्बन्धी ढाँचा अव्यवस्थित ही रहा और कर-प्रणाली के सुधार के लिए कोई भी प्रयत्न नहीं किया गया। देश के स्वाधीन होने के पश्चात् ही यह अनुभव किया गया कि कर-सम्बन्धी ढांचे में आवश्यक परिवर्तन किए जाएँ ताकि देश के आर्थिक विकास में सहायता मिल सके।

भारत में संघ तथा राज्य सरकारों की आय में निरन्तर वृद्धि होती रही है। कर जांच आयोग के अनुमान के अनुसार संघ सरकार की आय में सन् १९३८-३९ की अपेक्षा सन् १९५३–५४ तक लगभग साढ़े चार गुनी वृद्धि हो गई थी। भारत सरकार की आय राजस्व खाते में प्रथम योजना में ४०५·८६ करोड़ रु० से बढ़कर दूसरी योजना में ८२५·१५ करोड़ रुपये हो गई थी। इसी काल में पूँजीगत खाते में भारत सरकार की आय १०४·४५ करोड़ रु० से बढ़कर ९९०·४२ करोड़ रु० हो गई। राज्य सरकारों की आय भी प्रथम योजना के प्रथम वर्ष में ४०५·४० करोड़ रु० से बढ़कर दूसरी योजना के अन्तिम वर्ष में ६४४·६० करोड़ रु० हो गई थी। यह वृद्धि मुख्यतया दो कारणों से हुई थी; एक तो व्यक्तियों की मौद्रिक आय में वृद्धि होने के कारण और दूसरे कुछ नये कर लागू होने और कुछ पुराने करों में वृद्धि होने के कारण। इस प्रकार सरकार की आय में जो वृद्धि हुई उसका मुख्य कारण मुद्रा-स्फीति थी। उस वृद्धि में प्रो० केल्डोर के सुझावों ने भी अपना योगदान दिया था। राज्य सरकारों की आय में जो वृद्धि हुई उसका मुख्य कारण बिक्री-कर है। किन्तु इतनी वृद्धि होने के पश्चात् भी भारत में सरकारों की आय अब भी देश की विकास-सम्बन्धी आवश्यकताओं के लिए पर्याप्त नहीं है। इसके अतिरिक्त सबसे आश्चर्यजनक बात तो यह है कि संघ सरकार की जो आय है राष्ट्रीय आय में उसका अनुपात सन् १९४८ से लेकर सन् १९५८ तक लगभग यथावत् ही रहा है। हां, राष्ट्रीय आय में राज्य सरकारों की आय का अनुपात अवश्य ही १·५ प्रतिशत से बढ़कर ४·३ प्रतिशत हो गया। संघ तथा राज्य सरकारों को मिलाकर सन् १९४८–४९ में राष्ट्रीय आय का ५·७ प्रतिशत, सन् १९५०–५१ में ६·५ प्रतिशत, सन् १९५६–५७ में ७·६ प्रतिशत तथा सन् १९५८–५९ में ८·६ प्रतिशत करों से प्राप्त होता था।

युद्धोत्तर काल में सन् १९४६–५१ के ५ वर्षों के लिए सरकार ने आर्थिक विकास-सम्बन्धी एक योजना बनाई जिसमें यह अनुमान लगाया गया कि विकास-कार्यों के लिए संघ सरकार को ५०० करोड़ रु० तथा राज्य सरकारों को १९२·९४ करोड़ रु० प्राप्त हो सकेंगे। ऐसा अनुमान था कि यदि सरकार युद्ध-स्तर पर ही, शान्ति काल में भी आय प्राप्त करने का प्रयत्न जारी रखे तो कोई कारण नहीं कि आवश्यक धनराशि प्राप्त न हो सके, किन्तु हुआ कुछ और ही। इन पाँच वर्षों में संघ सरकार ५०० करोड़ रु० के स्थान पर केवल १३२·९२ करोड़ रु० की आय ही प्राप्त कर सकी। इसका मुख्य कारण यह था कि सरकार अपनी कर-नीति को आर्थिक विकास के अनुकूल नहीं बना सकी। जहाँ तक राज्य सरकारों का सम्बन्ध है, उनको भी आशातीत सफलता प्राप्त न हो सकी। किन्तु वे संघ सरकार की अपेक्षा अधिक सफल रहीं और उन्होंने लगभग ९४ करोड़ रु० उपर्युक्त पांच वर्षों में, विकास-कार्यों हेतु प्राप्त किए। यह तो सच है कि राज्य सरकारों को संघ सरकार की अपेक्षा अधिक सफलता प्राप्त हुई किन्तु यह कहना ही पड़ता है कि इस काल में उनकी कर-नीति दोष रहित न थी। यदि वे अपनी कर-नीति को नियोजित तथा सुव्यवस्थित बनाने में सफल हो जाते तो आज उनको संघीय अनुदानों पर निर्भर नहीं होना पड़ता और

उससे संघ सरकार की वित्तीय स्थिति भी ठीक रहती। सच तो यह है कि सरकारों को जनता से आवश्यक सहयोग प्राप्त नहीं हुआ और जनता सदैव ही करों का विरोध करती रही। जनता के विरोध का मुख्य कारण यह था कि वह हमेशा यह समझती रही कि इन करों के द्वारा देश में विदेशी सत्ता की जड़ें और भी दृढ़ होंगी। इसके अतिरिक्त सरकार की व्यय नीति भी दोष-पूर्ण थी, क्योंकि न तो वह सार्वजनिक कल्याण पर आधारित थी और न ही देश के हित में थी।

आर्थिक नियोजन-सम्बन्धी कार्यक्रम के आरम्भ होने के साथ ही संघ तथा राज्य सरकारों ने अपनी कर-नीति में आवश्यक परिवर्तन करने आरम्भ कर दिए और उसे अधिक प्रगतिशील तथा विकासोन्मुख बनाने की चेष्टा की। कर-प्रणाली को अधिक विस्तृत बनाया गया और प्रत्यक्ष करो की मात्रा में वृद्धि की गई। सरकार द्वारा नियुक्त कर-जाँच आयोग ने जो सिफारिशें कीं उनको लागू करने में कर-नीति का मुख्य उद्देश्य आर्थिक नियोजन के लिए आवश्यक वित्त प्राप्त करना, बचत तथा विनियोगों को प्रोत्साहित करके पूँजी निर्माण को बढ़ाना और वर्ग-भेद को मिटाना है। नियोजन-आयोग ने भी यह स्वीकार किया था कि भारतीय कर-नीति के यही उद्देश्य होने चाहिएँ। उसने यह स्पष्ट रूप से बता दिया था कि विकास-कार्यों की सफलता के लिए, यदि हमें अधिक साधन जुटाने हैं तो धनी वर्गों से कर लेने के लिए एक ऐसी कर-नीति निर्मित करनी पड़ेगी जिससे उनके कार्य करने और बचत करने की प्रेरणाओं पर बुरा प्रभाव न पड़े। तृतीय योजना काल के लिए भी नियोजन आयोग ने अपनी नीति घोषित करते हुए कहा कि देश के तीव्र विकास हेतु आवश्यक साधन जुटाने के साथ-साथ, कर-प्रणाली को देश में समाज की आर्थिक विषमताओं को दूर करने हेतु सफल होना चाहिए। निजी क्षेत्र में यह अधिकाधिक अनुभव किया जा रहा है कि बचतों को प्रोत्साहन देने के लिए करों में कुछ छूटें दी जाएँ। ये छूटें महत्त्वपूर्ण तो हैं किन्तु इनका एकमात्र उद्देश्य विकास-कार्यों को प्रोत्साहित करना ही होना चाहिए।[1] अतः भारत में कर-नीति के निम्न उद्देश्य होने चाहिए। १. सरकारी आय में पर्याप्त वृद्धि करना। २. उत्पादन तथा बचतों को प्रोत्साहित करना: ३. उपभोग को नियन्त्रित करना ताकि देश में मुद्रा-स्फीति की प्रवृत्तियों को नियन्त्रित किया जा सके और विनियोगों के लिए कुछ साधन प्राप्त हो सकें। ४. कर-आय में, राष्ट्रीय आय की वृद्धि के साथ-साथ, वृद्धि हो और आर्थिक नियोजन के उद्देश्यों की पूर्ति हो सके।

यहाँ पर यह बता देना अनुचित न होगा कि यद्यपि पिछले वर्षों में भारत सरकार ने अपनी कर-नीति को इन्हीं उद्देश्यों के अनुकूल बनाने की चेष्टा की है और कर भी रही है किन्तु कुछ ऐसी व्यावहारिक कठिनाइयां हैं जिनके कारण उसे आवश्यक सफलता नहीं मिल पा रही है। सबसे बड़ी कठिनाई तो यह है कि हमारे देश में प्रति व्यक्ति आय बहुत कम है जिसका अधिकांश भाग उपभोग में चला जाता है और

1. Draft Outline of the Third Plan, p. 14

लोग बचत नहीं कर पाते। परिणामतया जब सरकार व्यक्तियों को करारोपण द्वारा अनिवार्य बचत करने के लिए वाध्य करती है तो वे इसका विरोध करते हैं। इसके अतिरिक्त, अशिक्षित होने के कारण व्यक्तियों में इतना ज्ञान नहीं है कि वे पूंजी निर्माण में बचतों के महत्व को समझ सकें। इसी कारण उनमें बचत करने के लिए रुचि भी उत्पन्न नहीं हो सकी है। तीसरे, हमारा देश जनतन्त्रवादी गणतन्त्र है। यहां पर किसी भी योजना को व्यक्तियों पर उनकी इच्छा के विरुद्ध थोपा नहीं जा सकता। यद्यपि पिछले वर्षों में दृष्टिकोण में काफी परिवर्तन हुआ है फिर भी लोगों में अभी तक देश के विकास के लिए त्याग करने की भावना उत्पन्न नहीं हुई है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि देश की ७०% जनसंख्या अमौद्रिक क्षेत्रों में रहती है और उसका मुख्य व्यवसाय कृषि है। वहाँ पर बैंकों तथा अन्य वित्तीय संस्थाओं के अभाव में बचतों को प्रोत्साहन नहीं मिल पाता। अन्त में, कर-वञ्चन भारतीय कर-नीति की सफलता में सबसे अधिक वाधा उत्पन्न करता है। प्रो० केल्डोर ने अनुमान लगाया था, कि करारोपित आय का लगभग २०० से ३०० प्रतिशत तक कर का वञ्चन होता है। प्रो० केल्डोर ने भारतीय कर-प्रणाली के सुधार हेतु जो सुझाव दिए थे, जिनका वर्णन हम आगे करेंगे, उनको यदि सरकार पूर्णरूप से कार्यान्वित कर देती तो बहुत सीमा तक कर-वञ्चन को रोका जा सकता था। किन्तु उनके अभाव में इसका विष सम्पूर्ण कर-प्रणाली में व्याप्त है। हम आशा कर सकते हैं कि चतुर्थ योजना-काल में सरकार अपनी कर-नीति में आवश्यक हेर-फेर करने का प्रयत्न करेगी ताकि देश में आर्थिक विकास की गति तीव्र हो सके, मूल्यों को स्थिर रखा जा सके और धन के वितरण की असमानताएँ दूर हो सकें।

उपर्युक्त विवरण के संदर्भ में अब हम भारतीय कर-प्रणाली के दोषों का उल्लेख कर सकते हैं :—(१) भारतीय कर-प्रणाली बहुत ही छितरी-वितरी है, अर्थात् इसका विकास वैज्ञानिक दृष्टिकोण से नहीं हो पाया है। भारत की जैसी स्थिति है, उसमें कर-प्रणाली को आय प्रदान करने वाली भी होना चाहिये और सामाजिक असमानताओं को दूर करने वाली भी होनी चाहिए। किन्तु हमारी कर-प्रणाली में यह दोनों गुण ही अनुपस्थित हैं। वर्तमान प्रणाली का जन्म एवं विस्तार केवल समय-समय पर उत्पन्न होने वाली आर्थिक कठिनाइयों को दूर करने के उद्देश्य से किया जाता रहा है, विशेष रूप से बजट को संतुलित करने से उद्देश्य से। विभिन्न करों के भार एवं उत्पादन और उपभोग पर पड़ने वाले प्रभावों की ओर कोई भी ध्यान नहीं दिया गया है। यही कारण है कि विभिन्न करों में न तो समन्वय ही है और ने वे एक दूसरे के सहायक ही हैं। वास्तव में हमारी कर-प्रणाली का अभ्युदय तथा विस्तार प्राचीन विचारधारा के अनुसार हुआ है। अब हमारा मुख्य कार्य यह है कि इसको नवीन विचारधारा के अनुकूल बनाया जाए।

(२) हमारी कर-प्रणाली की दूसरी विशेषता यह है कि इससे प्राप्त होने वाली आय देश की वर्तमान आवश्यकताओं को देखते हुए बहुत कम है और विकास

के लक्ष्यों के लिए अपर्याप्त है। साथ ही वर्तमान कर बेलोच भी हैं। यही कारण है कि गत वर्षों में जब हमारा व्यय शिक्षा, स्वास्थ्य, सार्वजनिक निर्माण कार्य आदि सामाजिक सेवाओं तथा विकास-कार्यों पर बढ़ता रहा है सरकार अपनी आय में पर्याप्त वृद्धि करने में असमर्थ रही है।

(३) भारतीय कर-प्रणाली का तीसरा दोष यह है, कि यहाँ पर करारोपण से प्राप्त कुल आय में प्रत्यक्ष करों का भाग अधिक नहीं है अर्थात् अप्रत्यक्ष करों से अधिकांश आय प्राप्त होती है। विकसित देशों में स्थिति बिल्कुल इसके विपरीत है। सन् १९३८–३९ में केन्द्रीय सरकार तथा 'अ' राज्यों की आय में प्रत्यक्ष करों से केवल १२% प्राप्त होता था, सन् १९४४–४५ में यह प्रतिशत ४५ हो गया और सन् १९५३–५४ में केन्द्रीय सरकार, राज्य सरकारों और स्थानीय सरकारों की करारोपण से प्राप्त कुल आय में यह प्रतिशत केवल २४ था। इसके विपरीत इंगलैंड में यह प्रतिशत ५५ था, कनाडा में ६१ से अधिक, न्यूजीलैण्ड में ६५, जापान में ७०, संयुक्त राज्य अमेरिका में ८८, लंका में ४०, पाकिस्तान में २४ और अर्ध-विकसित देशों में २० से भी कम था।[2]

(४) हमारी कर-प्रणाली का चरित्र प्रतिगामी है। इसमें न्यायशीलता का पूर्ण अभाव है। इसका भार निर्धन और निम्न आय वाले लोगों पर अधिक होता है। यदि हम व्यक्तिगत करों को लें तो ज्ञात होगा कि आय-कर, सम्पत्ति कर, व्यय कर, उपहार कर, मृत्यु कर और पूँजी कर को छोड़कर शेष जितने भी कर हैं, वे सभी प्रतिगामी हैं। प्रो० के० टी० शाह के शब्दों में, "धनी वर्गों पर अपेक्षाकृत बहुत कम कर-भार है, यद्यपि उनकी कर-भार सहन करने की शक्ति बहुत अधिक है, जबकि निर्धन व्यक्तियों को कर-भार में शेर का भाग सहन करना पड़ता है, यद्यपि उनकी भार सहन करने की शक्ति भेड़ के बच्चे से भी कम है।"

(५) नियोजन आयोग के अनुसार हमारी कर-प्रणाली का एक दोष यह भी है कि यह केवल बहुत थोड़े से व्यक्तियों को ही प्रभावित करती है, अर्थात् जनसंख्या की दृष्टि से बहुत थोड़े से ही व्यक्तियों को कर का भुगतान करना पड़ता है। उदाहरणार्थ, प्रत्यक्ष कर देश की कार्यशील शक्ति (Working force) के केवल ½% को ही छूते हैं।

(६) कुछ लोगों के अनुसार भारत में करों द्वारा प्राप्त आय कुल राष्ट्रीय आय का केवल १० प्रतिशत है जबकि इंगलैंड में ३५, आस्ट्रेलिया में २२, संयुक्त राज्य अमेरिका तथा जापान में २३, कनाडा में १९, लंका में २०, मिस्र में १६, क्यूबा में १५·५, चिली में १४·४ तथा ब्राजील में १४·४ प्रतिशत है। अतः इससे स्पष्ट है कि यहाँ पर जितने कर लगने चाहियें उतने नहीं लगे हुए हैं और कर बढ़ाने की अभी बहुत गुँजायश है।

(७) आधुनिक लेखकों के अनुसार कर-प्रणाली के अध्ययन के साथ-साथ राजकीय व्यय का भी अध्ययन करना आवश्यक होता है। बात यह है कि कर-प्रणाली

2. *Taxation Enquiry Commission Report*, p. 12.

के दोष राजकीय व्यय द्वारा दूर किये जा सकते हैं। यदि हम इस दृष्टिकोण से भारतीय कर-प्रणाली की ओर दृष्टि डालते हैं तो हमें और भी असंतोष होता है। व्यय के क्षेत्र में अधिकांश आय नागरिक प्रसाशन और सुरक्षा पर ख़र्च की जाती है। केन्द्रीय सरकार के व्यय में ये दो मदें कुल आय का लगभग ५०% भाग खत्म कर देती हैं और राज्य सरकारों के व्यय में लगभग ३०%। दूसरी ओर राष्ट्रीय निर्माण सेवाओं पर बहुत कम खर्च किया जाता है। इस प्रकार राजकीय व्यय से भी हमारी कर-प्रणाली के दोषों से उत्पन्न होने वाली क्षति की पूर्ति नहीं होती।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि हमारी कर-प्रणाली करारोपण के आधुनिक सिद्धान्तों के अनुकूल नहीं है। हमारी कर-प्रणाली में प्रगतिशीलता का अंश अधिक न होकर प्रतिगामिता का अंश अधिक है। प्रगतिशीलता का अंश बढ़ाने के लिए सबसे पहला उपाय यह किया जाये कि कुल करारोपण में प्रत्यक्ष करों के अनुपात को बढ़ाया जाये। यह संतोषप्रद है कि पिछले वर्षों में प्रत्यक्ष करारोपण में बहुत वृद्धि हो गई है, जैसे उपहार कर, सम्पत्ति कर, व्यय कर, पूंजी लाभ कर आदि लागू कर दिये गये हैं। इनके अतिरिक्त आय-कर के क्षेत्र में न्यूनतम कररहित सीमा को कम करके अधिक व्यक्तियों को सम्मिलित कर लिया गया है तथा कर की दरों को भी बढ़ा दिया गया है। आय-कर में अब अधिक वृद्धि होने की गुंजायश नहीं है। वैसे भी वर्तमान दरें अमेरिका और कनाडा से तो ऊँची हैं और इंगलैंड से भी कुछ अधिक नीची नहीं हैं। इस समय कर की चोरी की भी बहुत बड़ी समस्या है, किन्तु यदि प्रो० केल्डोर के प्रस्तावों को पूर्ण रूप से कार्यारोपित कर दिया जाता तो कर-चोरी की समस्या समाप्त हो जाती और हमारी कर-प्रणाली भी समुचित तथा समचित हो जाती। अब भी समय है सरकार को इस ओर पूरा ध्यान देना चाहिए। कृषि आय-कर की दरों में भी प्रगतिशीलता लाई जा सकती है। पिछले वर्षों में जो नये वस्तु कर लागू किये गये हैं, उनसे हमारी कर-प्रणाली की प्रतिगामिता और भी अधिक हो गई है। वास्तव में जीवन की आवश्यक वस्तुओं पर जैसे, वनस्पति घी, तेल, चीनी, अनाज आदि वस्तुओं पर बिक्री कर लगाने से निर्धन व्यक्तियों पर ही कर-भार और अधिक हो गया है। ठीक यही स्थिति व्यापारिक सेवाओं की मूल्य-वृद्धि के कारण उत्पन्न हुई है। पिछले वर्षों में रेलों के किरायों में, पोस्टकार्ड तथा डाक-तार इत्यादि के मूल्य बहुत बढ़ गये हैं। सरकार को कर-प्रणाली में प्रगतिशीलता का अंश लाने के लिए और करारोपण को धन का वितरण समान करने का एक अस्त्र बनाने के लिए विलासिता की वस्तुओं पर अधिकाधिक मात्रा में कर लगाने चाहियें। इस उद्देश्य से उत्पादन कर तथा बिक्री करों में उचित परिवर्तन करने अति आवश्यक हैं।

भारतीय कर-प्रणाली का सुधार—स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् राष्ट्रीय सरकार ने यह अनुभव किया कि कर-प्रणाली में सुधारों की बहुत अधिक आवश्यकता थी। उनका विश्वास था कि कर-प्रणाली के ढाँचे को जब तक पूर्णतया बदल नहीं दिया जायेगा उस समय तक यह विकास सम्बन्धी आर्थिक नियोजन के योग्य नहीं

वन पायेगी। इसीलिये अप्रैल सन् १९५२ में डा० जान मथाई की अध्यक्षता में कर जाँच आयोग नियुक्त किया गया।

कर जाँच आयोग की सिफारिशें—कर जाँच आयोग निम्न समस्याओं का निरीक्षण करने के लिए नियुक्त किया गया था :—

(अ) भारत में कर-प्रणाली का भार। (ब) देश के विकास कार्यक्रमों के लिए आवश्यक वित्त जुटाने तथा आय एवं धन की असमानताओं को कम करने के उद्देश्य से कर-प्रणाली का औचित्य। (स) पूँजी निर्माण तथा उत्पादक उपक्रम पर आय-कर के प्रभाव ; और (द) मुद्रा-संकुचन तथा मुद्रा-स्फीति को रोकने में करारोपण का उपयोग। आयोग की रिपोर्ट फरवरी, सन् १९५५ में प्रकाशित हुई थी जो तीन पुस्तकों में विभाजित की गई थी—प्रथम पुस्तक में भारतीय कर-प्रणाली के सम्वन्ध में सामान्य सिफारिशें थीं, दूसरी पुस्तक मे केन्द्रीय करारोपण और तीसरी पुस्तक में राज्यों तथा स्थानीय संस्थाओं की सरकारों के करों से सम्बन्धित सिफारिशें थीं।

आयोग का विचार था कि यद्यपि युद्ध के पहले ही से सरकार की आय में वृद्धि होनी आरम्भ हो गई थी, किन्तु यह वृद्धि केवल मुद्रा-स्फीति के कारण थी। यद्यपि करारोपण से प्राप्त कुल आय राष्ट्रीय आय की ७% ही चली आ रही है, किन्तु यदि लड़ाई से पहले के वर्षों में कर आय और राष्ट्रीय आय सम्वन्धी आँकड़ों को प्राप्त करके अध्ययन किया जाय तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि पहले की अपेक्षा इस अनुपात में वहुत कमी हो गई है। किन्तु कठिनाई यह है कि विश्वसनीय आंकड़े उपलव्ध नहीं हैं। इसलिये इस निष्कर्ष की पुष्टि करना कठिन है। यद्यपि आयोग ने राष्ट्रीय आय में करारोपण के अनुपात के सम्वन्ध में यह नहीं वताया कि यह कितना होना चाहिए, किन्तु आयोग ने उन देशों के उदाहरण अवश्य दिये हैं, जहाँ पर यह अनुपात वहुत ऊँचा है और ऐसा प्रतीत होता है कि आयोग को इनमें कोई आपत्ति नहीं होगी यदि यह अनुपात ९½% से १०½% हो जाय। यद्यपि भारत की कुल कर-आय में प्रत्यक्ष करों का प्रतिशत सन् १९३८–३९ में १२ से १९४४–४५ में ४५ हो गया था, किन्तु सन् १९५३–५४ में फिर घट कर २४ रह गया। उस वर्ष वस्तु करों तथा ऐसे करों से, जिनका भार मुख्यतया घरेलू उपभोग पर पड़ता है, प्राप्त आय कुल कर-आय में लगभग ४५% थी। राज्य सरकारों द्वारा विक्री कर लागू होने तथा केन्द्रीय उत्पादन करों में वृद्धि होने से भारतीय कर ढांचे में अप्रत्यक्ष करों का प्रमुख स्थान हो गया है।

भूतकाल में भारतीय कर-प्रणाली का एक वहुत गम्भीर दोष यह था कि राज्यों की आय अपर्याप्त और वेलोच थी। किन्तु जव से राज्य सरकारों को केन्द्रीय आय में से एक बड़ा भाग प्राप्त होने लगा है और केन्द्र से काफी अनुदान प्राप्त होने लगे हैं, केन्द्रीय सरकार की आय में उनकी दिलचस्पी वढ़ती जा रही है। इसलिये अव राजकीय वित्त के समुचित अध्ययन की आवश्यकता वहुत वढ़ गई है। यह ध्यान रहे कि इन परिवर्तनों के कारण राज्यों की आय पहले की अपेक्षा अधिक

लोचपूर्ण और पर्याप्त हो गई है। किन्तु यह बात स्थानीय सरकारों के विषय में सच नहीं है। स्थानीय वित्त की प्रमुख विशेषता यह है कि उनकी प्रगति बहुत धीमी हो रही है और जबकि नगरपालिकाओं तथा नगर कार्पोरेशनों की आय के मुख्य स्रोत, सम्पत्ति कर, सीमा कर और चुंगी कर हैं, ज़िला बोर्डों की आय का मुख्य स्रोत भूमि उपकर (cess) है। इसी कारण स्थानीय संस्थाओं की आय अपर्याप्त और बेलोच है।

आर्थिक नियोजन के कारण अब भारत के राजकीय व्यय में उत्पादक व्यय का भाग अनुत्पादक व्यय की अपेक्षा अधिक हो गया है। सन् १९३८–३९ से सन् १९५३–५४ तक आयोग ने बताया कि केन्द्रीय व्यय में सुरक्षा व्यय ५४% से ४८% रह गया था और नागरिक प्रशासन-सम्बन्धी व्यय १३% से ९% रह गया था। आज भी यही स्थिति है कि राजकीय व्यय में गैर-विकास-सम्बन्धी कार्यों पर व्यय का प्रमुख हाथ है और यदि हम केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों के कुल व्यय को देखें तो आय-सम्बन्धी व्यय (Expenditure Revenue) में प्रति रुपया गैर-विकास कार्यों पर व्यय लगभग ९$\frac{1}{2}$ आने, सामाजिक सेवाओं पर ३ आने २ पाई और आर्थिक विकास पर ३ आने ४ पाई है। किन्तु यदि हम पूँजीगत व्यय की ओर ध्यान दें तो स्थिति सन्तोषजनक है। राजकीय व्यय का राष्ट्रीय आय में अनुपात इतना कम है कि उससे यह आशा करना कि आय की समानतायें तुरन्त ही कम हो जायेंगी, बेकार होगी। भारत में सभी सरकारों का व्यय सन् १९५३–५४ में कुल ११७० करोड़ रुपया था जो कुल राष्ट्रीय आय का ११% था और इसमें सामाजिक कल्याण पर किये जाने वाले व्यय का महत्व तो बहुत ही कम था।

कर-भार के सम्बन्ध में आयोग का विचार था कि यह नहीं कहा जा सकता कि दूसरे महायुद्ध के आरम्भ से अब तक आय का कोई विशेष स्थानान्तरण शहरों से गाँवों को या गाँवों से शहरों को हुआ है। हाँ, इतना अवश्य है कि अपने-अपने क्षेत्रों में एक वर्ग से दूसरे वर्ग को यह स्थानान्तरण अवश्य हुआ है। इसके अतिरिक्त आयोग का यह भी विचार था कि (अ) यद्यपि शहरी क्षेत्रों में ग्रामीण क्षेत्रों की अपेक्षा लगभग सभी प्रकार की आयों पर कर-भार अधिक है, किन्तु मध्यम तथा निम्न वर्ग की आयों पर कर-भार में इतना अधिक अन्तर नहीं है। (ब) शहरों में गाँवों की अपेक्षा अप्रत्यक्ष कर कुछ अधिक प्रगतिशील है। (स) गाँवों में शहरों की अपेक्षा, ऊँची आयों पर कर लगाने की अभी काफी गुंजायश है। (ग) मालगुजारी का भार अब कोई विशेष नहीं है। (य) ग्रामीण क्षेत्र में एक बहुत बड़ा भाग ऐसा है जहाँ मुद्रा का प्रयोग होता है, जो करारोपण की सीमाओं का द्योतक है और इस बात का सूचक है कि इस क्षेत्र में करारोपण में वृद्धि करने का अभी काफी क्षेत्र बाकी है।

भावी करारोपण नीति के सम्बन्ध में आयोग ने अपने विचार प्रकट करते हुए बताया कि कर-प्रणाली का उपयोग धन और आय की असमानताओं को दूर

करने के लिए किया जाये। इसके लिए उन्होंने प्रत्यक्ष करों को अधिक प्रगतिशील बनाने और कर लागू करने में अधिक कठोरता लाने की सिफारिश की है। उनका सुझाव है कि सम्पूर्ण कर-प्रणाली को ही अधिक गहरा तथा विस्तृत बनाने की आवश्यकता है और इस उद्देश्य से उन्होंने विकासयुक्त वस्तुओं की एक बहुत बड़ी संख्या पर और अर्ध-विकास युक्त वस्तुओं पर अतिरिक्त कर लगाने का प्रस्ताव दिया है और करारोपण के आधार को और अधिक बड़ा बनाने के लिए सामान्य उपभोग की वस्तुओं पर नीची दरों पर कर लागू करने का सुझाव दिया है। आयोग का विचार था कि विकास कार्यों के लिए आवश्यक धन प्राप्त करने के उद्देश्य से सभी प्रकार की आय वाले व्यक्तियों के उपभोग को कम करना आवश्यक है। किन्तु यह कमी ऊँची आय वाले वर्ग के उपभोग में अधिक हो और निम्न आय वाले वर्गों में कम।

आयोग ने अपने निष्कर्ष निकालते हुए बताया कि (अ) उपभोग की वर्तमान असमानताओं से श्रमिकों पर बहुत अनैतिक प्रभाव उत्पन्न होता है और अतिरिक्त करारोपण से ऊँची आय वाले व्यक्तियों पर विनियोग निरोधक प्रभाव नहीं पड़ेगा। इसलिये आयोग का विचार था कि व्यक्तिगत आयों की एक अधिकतम सीमा निश्चित कर दी जाये, जो करों को भुगतान करने के बाद वर्तमान प्रति परिवार आय की ३० गुनी से अधिक न हो। किन्तु इसको कार्यान्वित करने में धैर्य से काम लेना होगा। अतिरिक्त आय इन स्रोतों से प्राप्त की जा सकती है :—(१) आय-कर में वृद्धि करके तथा कार्पोरेशन-कर में कुछ थोड़ी सी कमी करके और बचतों तथा विनियोगों को प्रोत्साहित करने के लिए कुछ अतिरिक्त रियायतें करके; (२) उत्पादन करों में वृद्धि करके; (३) गैर-कर आय में, एक उचित मूल्य निर्धारण नीति द्वारा, वृद्धि करके; (४) मालगुजारी पर एक मामूली सा उपकर लगाकर; (५) कृषि आय-कर की दरों तथा क्षेत्र में वृद्धि करके; (६) सम्पत्ति करारोपण के उपयोग को अधिक विस्तृत करके; (७) स्थानीय संस्थाओं द्वारा सम्पत्ति के हस्तान्तरण पर कर लगाकर; और (८) बिक्री कर की दरों तथा क्षेत्र में वृद्धि करके।

आय-कर के क्षेत्र में आयोग का विचार था कि आय-कर और अति-कर दोनों ही के नीचे खण्डों में करदाताओं की संख्या बहुत अधिक थी इसलिये कर-भार में अधिक समानता उत्पन्न करने के लिए खण्डों की संख्या और बढ़ा देनी चाहिये और खण्डों की दरों तथा राशियों में उचित संशोधन करने चाहियें। आयोग का प्रस्ताव था कि न्यूनतम कर रहित सीमा को ३ हजार रुपयों पर निश्चित करने के अतिरिक्त निम्न आयों वाले वर्गों पर प्रत्यक्ष करारोपण के भार में वृद्धि करने का प्रयास नहीं करना चाहिये। इसके अतिरिक्त आयोग ने आय-कर की दरों के सम्बन्ध में और भी बहुत से सुझाव दिये थे। जिनका वर्णन हम विस्तार में बाद में चलकर एक अलग अध्याय में करेंगे। आयोग ने कर-वंचन की महत्त्वपूर्ण समस्या पर भी अपने विचार प्रगट किये थे और उसके प्रस्ताव थे कि : (१) जनता को यह

समझाया जाये कि कर-वंचन से ईमानदार करदाता पर पड़ने वाले कर-भार मे वृद्धि हो जाती है। इसलिये उनको कर-वंचन नहीं करनी चाहिये; (२) विशेष क्षेत्र (Special Circle) सम्बन्धी प्रणाली में इस प्रकार विस्तार किया जाये कि आय-कर सम्बन्धी कठिन मुकदमों, जिनको आय-कर कमिश्नरों को तै करना है, वे चुने हुए अफसरों द्वारा तै किये जायें; (३) आय-कर अफसरों को यह शक्ति होनी चाहिये कि वे कमिश्नरों से आज्ञा प्राप्त करके करदाताओं के व्यापार सम्बन्धी स्थानों में घुसकर हिसाबों की जांच-पड़ताल कर सकें; जुर्माने की अधिकतम सीमा वंचन की गई राशि की तिगुनी होनी चाहिए; (५) करदाताओं के लिए यह अनिवार्य कर दिया जाये कि वे तीन वर्षों बाद अपने आदेयों तथा दायित्वों का एक ब्यौरा आय कर विभाग को भेजते रहें; (६) कर-वंचन सम्बन्धी मामलों को तै करने के लिए आय-कर जांच आयोग नियुक्त कर दिया जाये, जिसको कुछ विशेष शक्तियाँ दे दी जायें।

इसी प्रकार आयोग ने केन्द्रीय कर-प्रणाली में कई प्रकार से उत्पादन करों मे वृद्धि करने की सिफारिशें की थीं तथा आयात करों में कमी करने के सुझाव दिये थे।[3]

राज्यीय करारोपण के क्षेत्र में आयोग ने बिक्री-कर का विस्तृत अध्ययन किया था और अपनी सिफारिशें दी थीं। आयोग ने मोटर गाड़ियों तथा मोटर, स्प्रिट सम्बन्धी करारोपण तथा स्टाम्प कर, मालगुजारी, कृषि आय-कर, मनोरंजन कर तथा उपकर पर भी अपने विचार प्रगट किये थे।[4] इसके अतिरिक्त स्थानीय करारोपण तथा वित्त की समस्याओं का अध्ययन करने के पश्चात्, आयोग ने अपने सुझाव स्थानीय सरकारों की आय के स्रोतों में वृद्धि करने के सम्बन्ध में भी दिये हैं।[5]

आलोचना—आयोग ने आय को बढ़ाने के सम्बन्ध में अपने जो सुझाव दिये थे, उन पर देश के आर्थिक विकास से उत्पन्न होने वाली विभिन्न आवश्यकताओं का बहुत प्रभाव पड़ा था। भारत एक पिछड़ा हुआ देश है और विनियोग में तथा पूँजी निर्माण में वृद्धि करने के लिए बजट के स्रोतों से अधिक आय प्राप्त करना नितान्त आवश्यक है। इसी उद्देश्य से आयोग ने अपने सुझाव दिये थे। इसमें कोई सन्देह भी नहीं कि जैसा अनुमान था यदि आयोग की सारी सिफारिशों को कार्यारोपित कर दिया जाता तो तुरन्त ही भारत में केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों की आय में १०० से १५० करोड़ रुपयों तक की वृद्धि हो जाती; और दीर्घकाल में यह वृद्धि और भी अधिक हो जाने की आशा थी। देश के आर्थिक साधनों का विकास करने के महत्त्व का कोई भी विरोध नहीं कर सकता। किन्तु भारत जैसे पिछड़े हुए देश में करारोपण द्वारा विकास कार्यों के लिए आवश्यक धन प्राप्त करना सामाजिक और आर्थिक दृष्टिकोणों से अन्यायपूर्ण समझा जाता है। करारोपण की एक सीमा होती है, अर्थात् व्यक्तियों की करदान क्षमता, किन्तु करदान क्षमता की सही परिभाषा देते

3. See Chapter on *Central Finances.*
4. See Chapter on *State Finances.*
5. See Chapter on *Local Finance.*

हुए और यह स्वीकार करते हुए भी कि करदान क्षमता वह सीमा है, "जिसके बाद करारोपण में वृद्धि करने से उत्पादक प्रयत्न और क्षमता दोनों ही गिरने लगते हैं।" उन्होंने भारतवासियों की करदान क्षमता की ओर कोई भी ध्यान नहीं दिया है, जो आयोग की सिफारिशों का सबसे बड़ा दोष है।[6] इसके अतिरिक्त आयोग का यह विचार कि उपभोग में कमी होने से जो बचतें होंगी उनमें से विनियोगों में वृद्धि होगी, भ्रमपूर्ण था। वास्तव में यह पुराने लेखकों के विचारों से तो उपयुक्त था किन्तु कीन्स आदि नये विचारकों ने अब सिद्ध कर दिया है कि बिना उपभोग बढ़े विनियोगों में वृद्धि हो ही नहीं सकती। इस दिशा में भी आयोग ने बहुत बड़ी त्रुटि की थी। कुछ लोग यह पूछ सकते हैं कि फिर आर्थिक विकास के लिये सरकार को आवश्यक पूँजी कहाँ से प्राप्त होगी? कीन्स ने यह सिद्ध कर दिया है कि सस्ती मुद्रा नीति स्वयं अपने लिये आवश्यक बचतें प्राप्त कर लेती है। (कीन्स का गुणक सिद्धान्त)।[7] इसके अतिरिक्त आयोग ने एक और बड़ी हास्यप्रद बात कही है। उन्होंने यह नहीं सोचा कि विनियोगों से जो वस्तुओं का उत्पादन बढ़ेगा, यदि उपभोग कम कर दिया गया, तो उसकी खपत कैसे होगी? यद्यपि आयोग ने चेतावनी दी है कि व्यक्तियों की उत्पादन शक्ति तथा काम करके की इच्छा में किसी प्रकार भी कमी न आने पाये, किन्तु उन्होंने अपने ही करारोपण-सम्बन्धी प्रस्तावों से अपने ही विचारों को काट दिया है। उनका यह सुझाव कि मालिक अपने नौकर को जो लाभ पहुँचाये, उसको भी आय-कर क्षेत्र में सम्मिलित कर देना चाहिए, और अनिवार्य बचत योजना में अति कर लागू करना इत्यादि लोगों में काम करने की जिज्ञासा एवं दिलचस्पी को समाप्त नहीं करेगा तो क्या उसको बढ़ायेगा?

इस प्रकार स्पष्ट है कि आयोग ने अपनी सिफारिशों द्वारा एक रूढ़िवादी तथा प्रतिगामी करारोपण प्रणाली पुनः स्थापित करने की चेष्टा की है। आयोग ने जो विकास कटौती (Development Rebate) और 'कर छुट्टी' (tax holiday) की सिफारिशें दी हैं उनसे निजी उपक्रम को बहुत प्रोत्साहन मिलेगा। इसी प्रकार आय-कर में थोड़ी सी रियायतें देने से भी निजी उपक्रम प्रोत्साहित होगा। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि विकास काल में होने वाले हीनार्थ प्रबन्धन के आकार के सम्बन्ध में आयोग के विचार बहुत अनिश्चित एवं अस्पष्ट थे। ऐसा होना सम्भव है क्योंकि आयोग दूसरी योजना की प्रकृति एवं आकार से पूर्णतया अनभिज्ञ था। आयोग का यह कथन कि अल्पकाल में थोड़ा सा हीनार्थ प्रबन्धन का पक्ष लिया जा सकता है, दूसरी योजना में जो नीति निर्मित की गई है, उसके पूर्णतया विरुद्ध है, क्योंकि दूसरी योजना में तो हीनार्थ प्रबन्धन को एक महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया था। फिर भी आयोग की सिफारिशें विकास-सम्बन्धी वित्त-व्यवस्था के लिए बहुमूल्य रत्न हैं। "आयोग के प्रस्ताव समानता दृष्टिकोण (equality approach), प्रोत्साहन दृष्टिकोण (incentive approach) और विकास दृष्टिकोण (development

6. See Chapter on '*Taxable Capacity*'.
7. See Chapter on '*Fiscal Policy and Full Employment*'.

approach) पर आधारित हैं, जो उचित दिशा में हैं यद्यपि इनसे उत्पन्न होने वाली नीति में आवश्यकतानुसार समय पर परिवर्तन किये जा सकते हैं।"[8] यदि इन सिफारिशों को थोड़े संशोधनों के साथ कार्यान्वित किया जाये तो हमारी विकास सम्बन्धी वित्तीय कठिनाइयाँ बहुत कुछ दूर हो जायेंगी।

प्रो० केल्डोर के कर सुधार सम्बन्धी प्रस्ताव—जनवरी सन् १९५६ में भारत के वित्त मंत्रालय ने कैम्ब्रिज यूनीवर्सिटी के प्रो० निकोलस केल्डोर को भारतीय-कर प्रणाली में दूसरी पंचवर्षीय योजना की वित्तीय आवश्यकताओं के अनुसार आवश्यक सुधार-सम्बन्धी प्रस्ताव देने के लिए निमन्त्रित किया था। कर जाँच आयोग ने विकास सम्बन्धी नियोजन की सामान्य आवश्यकताओं को दृष्टि में रखकर अपने प्रस्ताव दिये थे, किन्तु क्योंकि दूसरी योजना विशालकाय थी और उसके लिये एक बहुत बड़ी मात्रा में पूँजी चाहिए थी इसलिए यह आवश्यक था कि करारोपण-सम्बन्धी नये स्रोत खोजे जायें और पुराने स्रोतों में इस प्रकार सुधार किये जायें कि दूसरी योजना की आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके। केल्डोर ने करारोपण के हर क्षेत्र में अपने प्रस्ताव नहीं दिये हैं, केवल प्रत्यक्ष करारोपण पर ही अपनी दृष्टि केन्द्रित की थी और अनेकों आवश्यक परिवर्तनों की सिफारिशें की थीं। केल्डोर रिपोर्ट के अनुसार, "भारत में प्रत्यक्ष करारोपण की वर्तमान प्रणाली अकुशल और अन्यायपूर्ण, दोनों ही हैं। यह अन्यायपूर्ण इसलिए है कि करारोपण आय का आधार, जैसा वैधानिक दृष्टि से परिभाषित किया जाता है, करदान क्षमता के एक माप के रूप में दोषपूर्ण और पक्षपाती है और करदाताओं के कुछ विशेष वर्गों द्वारा उसमें अपने हित के लिए फेर-बदल हो सकती है। क्योंकि करदाताओं द्वारा दी गई सूचना बहुत सीमित होती है, इसलिए यह अकुशल है, और सम्पत्ति-सम्बन्धी सौदों तथा आय के सम्बन्ध में एक विस्तृत सूचना प्रणाली के अभाव के कारण, या तो छुपाकर या लाभों और सम्पत्ति आय को कम बताकर एक बड़ी मात्रा में कर का वंचन होना अपेक्षाकृत सरल हो जाता है।" इस निष्कर्ष के आधार पर और हमारी कर-प्रणाली के दोष को दूर करने के लिए, कल्डोर के निम्न सुझाव थे :—

(१) केल्डोर का मुख्य उद्देश्य भारत में प्रत्यक्ष करारोपण के आधार को चौड़ा करना था, जिसकी पूर्ति के लिए उसने सम्पत्ति पर एक वार्षिक कर, पूँजी लाभ कर, सामान्य उपहार कर और एक व्यक्तिगत व्यय कर (जो अंशतः उस क्षति की पूर्ति करेगा जो आय कर पर लगा हुआ अति कर हटा देने के कारण होगी) लागू करने के प्रस्ताव दिये थे। पांच करों—आय-कर और ऊपर बताये गये चार करों का निर्धारण, एक विस्तृत हिसाब-किताब लेखे के आधार पर एक साथ किया जाना चाहिए, किन्तु आय-कर की अधिकतम दर ४५% से अधिक नहीं होनी चाहिए।

(२) केल्डोर ने व्यक्तिगत आय पर करारोपण के क्षेत्र में काफी विस्तृत सुधार करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने व्यक्तिगत व्यय पर प्रगतिशील कर लागू

8. A. Ghosh, *Indian Economy, Its Nature and Problems*, p. 333.

करने का प्रस्ताव दिया है। यह कर २५% से आरम्भ होकर धीरे-धीरे ३००% तक बढ़ता जायेगा। इसके अतिरिक्त पूंजी लाभों को उन्होंने करारोपित आय में सम्मिलित कर लिया है। शुद्ध सम्पत्ति या धन पर एक वार्षिक कर, जिसकी दर $\frac{1}{3}$% से $1\frac{1}{2}$% तक होगी और उपहारों तथा उत्तराधिकार पर कर लगाने के प्रस्ताव दिये हैं। साथ-साथ उन्होंने आय-कर की अधिकतम दरों को केवल ७ आने प्रति रुपया पर निर्धारित करने की सिफारिश की है ताकि उपर्युक्त करों से होने वाली क्षति दूर हो जाये। व्यापार करारोपण के क्षेत्र में भी उन्होंने काफी परिवर्तनों के लिए सुझाव दिये हैं। उनका प्रस्ताव था कि कम्पनियों के वितरित एवं अवितरित, सभी प्रकार के लाभों पर, बिना लौटाये जाने वाले, ७ आने प्रति रुपया की समान दर से कर लागू होने चाहियें और व्यापार पर लगे हुए अन्य प्रत्यक्ष करों को हटा दिया जाये। यदि यह सुझाव कार्यारोपित कर दिए गये तो सन् १६५४–५५ के आधार पर कर आय में ६० से १०० करोड़ रुपये तक वार्षिक वृद्धि हो जायेगी।

(३) अति प्रतिगामी आय-कर से काम करने, बचत तथा विनियोग करने की इच्छा एवं शक्ति पर जो बुरा प्रभाव पड़ेगा उसको व्यक्तिगत व्यय कर और धन पर वार्षिक कर दूर करेंगे। इस प्रकार व्यय तथा धन कर केवल अधिक आय प्रदान करने में ही सफल नहीं होंगे, वरन् अति प्रतिगामी आय-कर से बचतों, विनियोगों तथा काम करने की इच्छा एवं शक्ति को हतोत्साहित करने वाले प्रभावों को भी दूर करेंगे।

(४) कर की चोरी को रोकने के लिए प्रो० केल्डोर का प्रस्ताव है कि ५०,००० रुपयों से अधिक व्यापारिक आयों की और १ लाख रुपयों से अधिक की व्यक्तिगत आयों की अनिवार्य जांच-पड़ताल होनी चाहिए। इस प्रकार कर-वंचन को रोकने से दूसरी योजना के लिए अधिक धन प्राप्त हो सकेगा।

प्रो० केल्डोर के कर सुधार सम्बन्धी प्रस्तावों का सावधानी से अध्ययन करने से यह ज्ञात हो जाता है कि उनका उद्देश्य एक ऐसी कर-प्रणाली का निर्माण करना था जिससे बचतों को प्रोत्साहन मिले और साथ ही कर-सम्बन्धी असमानताओं को बढ़ावा न मिले तथा उन व्यक्तियों पर कर का भार अधिक पड़े जो बड़ी-बड़ी सम्पत्तियों के मालिक हैं। किन्तु यह ध्यान रहे कि $1\frac{1}{2}$% की दर से वार्षिक धन कर, ८०% की अधिकतम दर का उपहार कर तथा मृत्यु कर सब मिलकर सम्पत्ति वाले व्यक्तियों की गर्दन ही तोड़ देंगे और उनको विनियोग करने की इच्छा को पूर्णतया नष्ट कर देंगे। यह भी क्या ठीक है कि आय-कर की अधिकतम दरों को ७ आने प्रति रुपया पर गिराने से उस क्षति की पूर्ति हो जायेगी। किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि हमारी कर-प्रणाली में पूंजी लाभ कर और उपहार कर के लिए कोई स्थान नहीं था। एक बढ़ती हुई अर्थ-व्यवस्था में दिन-प्रतिदिन पूंजीगत वस्तुओं की मात्रा में वृद्धि होगी, इसलिए पूंजी लाभ कर के अभाव में हमारा प्रत्यक्ष करारोपण का ढाँचा पूर्ण रूप से प्रतिगामी हो जाता। भारत में मुद्रा-स्फीतिक प्रवृत्तियों के कारण अधिकतर पूंजीपति पूंजीगत वस्तुओं में ही विनियोग करेंगे और उनका अय-

विक्रय करके लाभ कमायेंगे। यदि इन लाभों को कर द्वारा उनकी जेबों से निकाल नहीं लिया जायेगा तो उनके पास अतिरिक्त क्रय-शक्ति रहने से मुद्रा-स्फीति को और भी प्रोत्साहन मिलेगा। इसके अतिरिक्त आय की असमानताएँ भी और अधिक हो जायेंगी। इस प्रकार पूँजी लाभ कर से हमको वास्तविक लाभ होने की आशा है, विशेष कर वर्तमान मुद्रा-स्फीतिक परिस्थितियों में तो यह अत्यन्त लाभप्रद सिद्ध होगा। इसी प्रकार मृत्यु कर से सम्बन्धित कर-वंचन को रोकने के लिए उपहार कर भी नितान्त आवश्यक है। जहाँ तक व्यापारिक करारोपण का सम्बन्ध है, केल्डोर के प्रस्तावों को कार्यारोपित करने से निजी विनियोगों को प्रोत्साहन नहीं मिलेगा, इसके साथ-साथ कुछ कर-सम्बन्धी कटौतियाँ भी करनी होंगी, कर छूटें तथा कर-सम्बन्धी छुट्टियाँ भी देनी होंगी, कुछ घिसाई सम्बन्धी छूटें देनी होंगी तथा इसी प्रकार के अन्य उपाय करने आवश्यक होंगे।

प्रत्यक्ष कर-प्रबन्ध जांच कमेटी के सुझाव (Recommendations of the Direct Tax Administration Enquiry Committee)—

प्रत्यक्ष करों में प्रत्येक वर्ष कर-वंचन से जो हानि राजकीय कोष को होती है, उसका मुख्य कारण कर-प्रबन्ध की अकुशलता है। प्रत्यक्ष कर-प्रबन्ध को कुशल बनाने की आवश्यकता को अनुभव करके सरकार ने जून १९५८ में श्री महावीर त्यागी की अध्यक्षता में प्रत्यक्ष कर-प्रबन्ध जाँच कमेटी नियुक्त की। इसने अपनी रिपोर्ट ३० नवम्बर १९५९ को प्रस्तुत की, जिसको वित्त मंत्री ने ९ सितम्बर १९६० को सरकार की स्वीकृति तथा प्रतिक्रियाओं सहित लोकसभा के समक्ष रखा। कमेटी ने कुल ३६७ सुझाव दिये थे, जिनमें से सरकार ने केवल ३०८ को विचार करने योग्य समझा, और इनको भी काट-छाँटकर २८९ कर दिया। सरकार ने अभी २०५ सुझावों पर ही निर्णय लिया है और शेष को अभी छोड़ दिया गया है। कमेटी के सुझाव इस प्रकार हैं :—

(१) व्यवसाय व पेशों से आय प्राप्त करने वालों को अपने लेखा-वर्ष (accounting year) समाप्त होने के अगले चार महीनों या ३० जून—इसमें जो भी बाद में आये—को अपनी आय का ब्यौरा अधिकारियों के पास भेज देना चाहिये। अन्य करदाताओं के लिए यह तिथि ३० जून होनी चाहिये। यदि किसी व्यवसायी करदाता का लेखा वर्ष ३१ दिसम्बर के बाद समाप्त होता हो, तो कर-अधिकारी ब्यौरा प्रस्तुत करने की तिथि को अगले ६ महीनों तक बढ़ा सकता है। अन्य करदाताओं के लिए यह तिथि केवल आय-कर कमिश्नर ही करदाता से जमानत ले लेने के बाद ही बढ़ा सकता है। बढ़ी हुई तिथि के काल में करदाताओं से ६% की दर से व्याज लिया जाय। यदि कोई करदाता समय पर ब्यौरा प्रस्तुत न करे तो उसे कड़ा दण्ड दिया जाए।

सरकार ने इस सुझाव को स्वीकार कर लिया है, किन्तु यह संशोधन कर

दिया कि अनुग्रह दिनों (days of grace) की समाप्ति के बाद ही व्याज लगाया जाय।

(२) सामान्य सार्वजनिक नोटिस के स्थान पर केवल कर-वसूली (assessment) वर्ष में एक विज्ञापन प्रकाशित किया जाय, जिसमें कर भुगतान करने की अन्तिम तिथि का उल्लेख हो। सरकार ने इसे पूर्णतः स्वीकार कर लिया है।

(३) सुविधा के लिए आय-कर विभाग पुराने करदाताओं को अपनी आय का व्यौरा भेजने के लिए निर्धारित फार्म डाक से केवल सर्टीफिकेट ऑफ पोस्टिंग में भेजे। इस सुझाव को भी स्वीकार कर लिया गया।

(४) विभिन्न करदाताओं के मामलों की जाँच-पड़ताल पर जो समय या श्रम खर्च हो वह वर्ग-विशेष से प्राप्त कर आय के अनुपात में हो। बहुधा छोटे-छोटे मामलों पर बहुत अधिक श्रम तथा समय नष्ट किया जाता है। अतः ऐसे मामलों में आय व्यौरे को सामान्य पड़ताल करके ही स्वीकार कर लेना चाहिये और करदाताओं की व्यक्तिगत हाज़िरी पर ज़ोर न दिया जाय। ऐसे मामलों की जांच प्रति चौथे वर्ष करली जाया करे। कमेटी के विचार में इस व्यवहार से करदाताओं तथा कर-विभाग में सद्भावना उत्पन्न होगी। सरकार ने सिद्धान्ततः इस सुझाव को स्वीकार कर लिया है, किन्तु वास्तविक विधि अभी निश्चित नहीं की गई है।

(५) बड़ी आय वाले करदाताओं की जाँच-पड़ताल अलग से की जाए और उनका फैसला अनुभवी अफसरों द्वारा किया जाए। इस सुझाव को भी पूर्णतः स्वीकार कर लिया गया है।

(६) विशेष जांच-पड़तालें केवल उसी समय की जायें, जब ऐसा न करने से सरकार को हानि होने की संभावना हो। यह सुझाव भी स्वीकार कर लिया गया है।

(७) कर राशि निर्धारित करने से पहले कर-अफसर को करदाता की आय, सम्पत्ति आदि का हिसाब लगा लेना चाहिये और यदि उसमें कुछ घटा-बढ़ी करने की आवश्यकता हो तो करदाता से बातचीत करके तुरन्त कर दी जाय और निर्णय ले लिया जाय। यदि कोई विशेष घटा-बढ़ी की बात हो तो करदाता को १४ दिन के अन्दर लिखित मत प्रकट करने का अधिकार दिया जाय। सिद्धान्त में इसे भी स्वीकार कर लिया गया है।

(८) कमेटी ने विकास कटौती (Development Rebate) की इस शर्त के स्थान पर, कि सम्पत्ति सरकार के अतिरिक्त किसी अन्य व्यक्ति को १० वर्षों तक हस्तान्तरित न की जाय, अब आठ वर्ष कर दिये और यह भी सुझाव दिया कि यदि सम्पत्ति सरकारी कम्पनियों, निगमों को हस्तान्तरित की जाय तो उसे क़ानूनी माना जाय। सरकार ने इसे स्वीकार करते हुए कहा है कि ऐसा करने में सावधानी बर्ती जाय।

(९) यदि किसी साझेदारी फर्म को विकास कटौती का लाभ दिया गया हो, और वह विकास कटौती की अवधि में ही सम्मिलित पूँजी कम्पनी में परिणत

हो जाय और उसमें भी पिछले साझेदारों की पूँजी रहे तो विकास कटौती की राशि जब्त करने के स्थान पर कम्पनी को हस्तान्तरित कर दी जाय, जो उस राशि को उसी प्रकार सुरक्षित रखे, जिस प्रकार साझेदारी फर्म में रखी जाती है। सरकार ने इस सुझाव को भी स्वीकार कर लिया है।

(१०) यदि कर अधिकारी डूबते ऋणों (bad debts) की वास्तविकता से संतुष्ट हो तो उस राशि का लाभ करदाता को पिछले चार वर्षों तक की अवधि में किसी भी वर्ष अवश्य दिया जाय। सरकार ने इसे भी पूर्णतः स्वीकार कर लिया है।

(११) यदि कोई साझेदारी फर्म एक बार पंजीकृत हो जाय तो उसे प्रत्येक वर्ष अपने पंजीकरण को नया कराना आवश्यक नहीं होना चाहिये। हाँ, उसको अपने आय के व्यौरे के साथ यह घोषणा-पत्र लगाना आवश्यक होगा कि फर्म के वैधानिक संगठन में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। सरकार ने इस सुझाव को भी स्वीकार कर लिया है।

(१२) यदि साझेदारी फर्म द्वारा रजिस्ट्रेशन के लिए लाये गये सम्मेलन-पत्र (deed) में कोई त्रुटि हो, तो कर-अधिकारी को साझेदारों का ध्यान उसकी ओर आकर्षित कराना चाहिये और एक माह के अन्दर उसे सुधारने का अवसर देना चाहिये। इसको भी स्वीकार कर लिया गया।

(१३) कमेटी इसके पक्ष में नहीं थी कि अ-निवासी (non-residents) करदाताओं के सम्बन्ध में इंगलैंड के आय-कर क़ानून के प्राविधान (provisions) भारतीय क़ानून में सम्मिलित किये जायें। उसका सुझाव था कि व्यापारिक संगठन और अ-निवासियों की कर-दान योग्यता के बारे में केन्द्रीय बोर्ड ऑफ रेवेन्यू जो भी हिदायतें जारी करे उन्हें देश के भीतर तथा बाहर पूर्णरूप से विज्ञापित किया जाय। इस सुझाव को भी सरकार ने स्वीकार कर लिया है।

(१४) जायदाद कर के विषय में कमेटी का सुझाव था कि जायदाद के व्यौरे की प्रस्तुति-तिथि के अगले चार वर्षों में मामले का निपटारा अवश्य हो जाना चाहिये। सरकार ने इसको स्वीकार करते हुए सुझाव दिया कि व्यौरा प्रस्तुत न होने की स्थिति में मामलों का निपटारा ४ वर्षों की अपेक्षा ५ वर्षों में अवश्य हो जाना चाहिये।

(१५) यदि कोई करदाता मृत व्यक्ति की देनदारी का कोई भुगतान करता है और यदि विभाग को इसका विश्वास हो जाय तो ऐसी राशि को सम्पत्ति में से कम कर दिया जाय। यह सुझाव भी स्वीकार कर लिया गया।

(१६) कमेटी का सुझाव था कि अपील ट्रिबुनल को समाप्त न किया जाय; क्योंकि यह आय-कर के प्रबन्ध के लिए आवश्यक है। सरकार ने इसे भी स्वीकार कर लिया है।

(१७) आय-कर सम्बन्धी करदाताओं को सहायक कमिश्नर के आदेशों के विरुद्ध अपील करने का अधिकार दिया जाय और आवश्यकतानुसार अपील कमिश्नरों

की संख्या बढ़ाई जाय। सरकार ने इस सुझाव को भी मान लिया है।

(१८) आय-कर की भाँति, धन-कर तथा व्यय-कर कानूनों में भी संशोधन करके अस्थायी कर निर्धारण की व्यवस्था की जाय ताकि करदाता ब्यौरा प्रस्तुत करते समय अनुमानित कर-राशि जमा कर सकें। यह सुझाव भी स्वीकार कर लिया गया है।

(१९) यदि करदाता नियत अवधि में कर-राशि जमा न कर पाये तो उससे ६% की दर से सूद लिया जाय। सरकार ने इसे स्वीकार करते हुए सूद की दर ४% रखने का निर्णय किया है।

(२०) जब कभी कमिश्नर को विश्वास हो जाय कि करदाता सरकार को धोखा देने के लिए सम्पत्ति का हस्तान्तरण कर रहा है तो वह आय-कर अधिकारी से तुरन्त ही उसकी कुल आय पर कर निर्धारित करा सकता है। यह सुझाव भी स्वीकार कर लिया गया है।

(२१) कमेटी का सुझाव था कि यदि कर-विभाग, वापिसी (refund) आवेदन की विधि से अगले ६ महीनों में या अपील के फैसले के अगले १ महीने में न करे तो उस पर ६% का व्याज दिया जाय। सरकार ने स्वीकार करते हुए यह संशोधन किये हैं कि अपील के फैसले के बाद वापिसी की तिथि को भी ६ महीने रखा है और सूद की दर को ४% रखा है।

(२२) वापिसी के आवेदन-पत्रों पर अधिक ध्यान दिया जाय और शीघ्र विचार किया जाय। सरकार ने इसे स्वीकार करते हुए आदेश जारी कर दिये हैं।

(२३) कम्पनियों से कर वसूली का संकेत करते हुए, कमेटी ने सुझाव दिया कि हिस्सेदारों की सुविधा के लिए उन्हें छूट प्रमाण-पत्र (exemption certificates) शीघ्र ही दिये जायें। वापिसी के आदेशों का चलन ट्रेजरी चैकों की भाँति वर्तमान १ महीने के स्थान पर तीन महीनों तक होना चाहिये। सरकार ने इन सुझावों को भी स्वीकार कर लिया।

(२४) वाह्य सर्वेक्षण कार्य (external survey work) को अधिक महत्व दिया जाय और सर्वेक्षण केन्द्र स्थापित किये जायें। सरकार ने इसे भी स्वीकार कर लिया है।

(२५) कर-वंचन को रोकने के लिए विभिन्न आय-विभागों में सूचनाओं के आदान-प्रदान द्वारा, पारस्परिक सहयोग स्थापित हो। सरकार ने इस सुझाव को सिद्धान्ततः स्वीकार कर लिया है।

(२६) करदाताओं के विरुद्ध गवाही देने वाले व्यक्तियों को प्रत्येक क़ानूनी कार्यवाही से बचाया जाय। यह सुझाव भी स्वीकार कर लिया गया है।

(२७) दण्डों की वर्तमान व्यवस्था के स्थान पर ऐसे दण्ड निर्धारित किये जायें जो विभिन्न दोषों के अनुकूल हों, अर्थात् जैसा दोष हो वैसा ही दण्ड। अपराध में चोरी किये गये कर की १५०% राशि अधिक से अधिक दण्ड हो। सरकार ने इस सुझाव को इस संशोधन के साथ स्वीकार किया है कि प्रत्येक दण्ड

के लिये कम से कम और अधिक से अधिक दण्ड निर्धारित किये जायें।

(२८) अर्थ-दण्ड लगाने से पहिले निरीक्षण करने वाले सहायक कमिश्नर की स्वीकृति केवल गम्भीर अपराधों में या भारी कर दण्ड राशि के सम्बन्ध में ही ली जाय और उसमें भी करदाता को अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत करने का पूरा अवसर दिया जाय। अर्थ-दण्ड का निर्णय कर-निर्धारण की तिथि से अगले एक वर्ष के अन्दर हो ही जाना चाहिये। सरकार ने इसे निम्न संशोधनों के साथ स्वीकार किया—

(क) जहाँ अर्थ-दण्ड की न्यूनतम राशि १००० रु० से अधिक हो, सहायक कमिश्नर को न केवल करदाता का दृष्टिकोण जानने का अधिकार हो वरन् अर्थ-दण्ड के निर्धारण का भी अधिकार हो। (ख) अर्थ-दण्ड का निर्धारण कर-निर्धारण की तिथि से अगले २ वर्षों में हो जाया करेगा।

(२९) जिन तथ्यों के आधार पर करदाता को अर्थ-दण्ड देना पड़े उन्हीं के आधार पर उस पर मुकदमा भी चलाया जा सकता है। सरकार ने इसे स्वीकार कर लिया है।

(३०) कर की चोरी करना, या उसमें सहयोग देना या छिपाना एक दण्ड-नीय अपराध होना चाहिये। सरकार ने इसे सिद्धान्ततः स्वीकार कर लिया है।

(३१) धर्मार्थ ट्रस्टों की आय-सम्बन्धी कर के विषय में कमेटी ने निम्न सुझाव दिये थे :—

(अ) यदि कोई ट्रस्ट व्यवसाय करता हो जो ट्रस्ट के मूल उद्देश्य से मेल न खाता हो, तो आय-कर से उसे छूट न दी जाय।

(ब) यदि ट्रस्ट की आय करदाता या उसके सम्बन्धियों पर धर्मार्थ के कार्यों को विसरा कर खर्च होती है तो उसे छूट नहीं दी जाय।

(स) यदि ट्रस्ट की आय के २५% से अधिक धर्मार्थ कार्यों के लिए उठा रखी जाय तो २५% के आधिक्य पर कर लिया जाय।

(३२) वर्तमान आय-कर में यह संशोधन किया जाय कि यदि कोई व्यक्ति अपने मकान को पत्नी या नाबालिग बच्चे के नाम बिना प्रतिफल के करदे और स्वय उनके साथ रहता रहे तो उसे कर-विमुक्त न किया जाय। यदि कोई करदाता अपने व्यवसाय से सम्बन्ध तोड़ दे, या सेवा से हटा दिया जाय या मर जाय तो भी उसकी प्राप्त आय पर कर लागू किया जाय। इन दोनों को सरकार ने स्वीकार कर लिया।

(३३) सरकार ने यह भी स्वीकार कर लिया है कि उन कम्पनियों में जहाँ जनता का विशेष हित हो तो पिछले वर्षों की हानि को अगले वर्ष के लाभ में केवल उसी समय लगाया जाय जबकि लाभ के वर्षों में भी वही सदस्य हों जो हानि के वर्षों में थे।

(३४) कर की चोरी से सम्बंधित अर्थ-दण्ड की राशि यदि ५००० रु० से अधिक हो तो ऐसे व्यक्तियों के नाम, पता आदि गजट तथा समाचार पत्रों में प्रकाशित किया जाय, और साझेदारी फर्म के साझेदारों के नाम प्रकाशित किये जायें, किन्तु

यदि सेन्ट्रल बोर्ड ऑफ रेवेन्यू जिन नामों को न चाहे तो प्रकाशित न करे परन्तु उन्हें अपनी वार्षिक रिपोर्ट में अवश्य दे। सरकार ने इसे स्वीकार करके कार्यान्वित भी कर दिया है। कर की चोरी से सम्बन्धित निम्न सिद्धान्तों को भी सरकार ने स्वीकार कर लिया है :—

(१) प्रेस, रेडियो तथा सिनेमाओं से कर वसूली के महत्व तथा उद्देश्य को प्रसारित किया जाय।

(२) करदाताओं को विश्वास दिला दिया जाय कि उनसे वसूली की गई कर-राशि सदुपयोग में ही व्यय होगी।

(३) जिन व्यक्तियों पर कर की चोरी का मुकदमा चल रहा हो या जिन्हें दण्ड दिया गया है उन्हें कोई भी सहानुभूति नहीं दी जायेगी और वे किसी सरकारी कमेटी के सदस्य नहीं बन सकेंगे।

(४) कर की चोरी करने वालों को कड़ी सजा दी जाय और उनका नाम विभाग की काली पुस्तक में लिख दिया जाय।

(५) कर की चोरी पकड़ने में अन्य संस्थाओं, व्यापारिक संगठनों, डाक्टरों तथा नेताओं आदि की सहायता भी ली जाय।

(३५) कर-विभाग के पुनर्संगठन के सम्बन्ध में सरकार ने निम्न सुझाव मान लिये हैं :—

(i) कर विभाग की एक वार्षिक रिपोर्ट भारतीय संसद को प्रस्तुत की जाय। (ii) आय-कर अधिकारी (वर्ग—२) बने रहें। (iii) आय-कर निरीक्षकों की संख्या में २५० से वृद्धि की जाय, (iv) आय-कर अधिकारी (वर्ग—२) की प्रत्यक्ष नियुक्ति न की जाय। (v) गुमनाम पत्रों को अनावश्यक महत्व न दिया जाय। (vi) कर-दफ्तरों में असुविधाओं की शिकायतों पर पर्याप्त ध्यान दिया जाय और करदाताओं को टेलीफोन, पार्किंग, शौच आदि की सुविधायें दी जायें। (vii) करदाताओं को प्रत्येक प्रकार की जानकारी के लिए एक पूछताछ विभाग प्रत्येक कर-दफ्तर में स्थापित किया जाय। सरकार ने इसे स्वीकार करते हुए कहा है कि प्रत्येक कमिश्नर के अधीन एक जन-सम्पर्क अधिकरण हो जो करदाताओं और विभाग के बीच सम्पर्क स्थापित करे। (viii) आय तथा नागरिक व्यय मन्त्री की अध्यक्षता में केन्द्र पर और कमिश्नरों की अध्यक्षता में प्रदेशों में एक सलाहकार कमेटी हो, जिसमें विभिन्न मतधारी सदस्य हों और जो विभाग तथा करदाताओं के बीच सहयोग स्थापित करें। सरकार ने इस सुझाव को स्वीकार करते हुए केन्द्रीय स्तर पर एक कमेटी नियुक्त कर दी है।

(३६) यदि कोई कर-विशेषज्ञ कर की चोरी में दंडित कर दिया जाय या मुवक्किल को कर की चोरी करने की सलाह दे तो उसे विशेषज्ञ के अधिकार से वंचित कर दिया जाय। सरकार ने इसे इस संशोधन के साथ स्वीकार किया कि विशेषज्ञ को कमिश्नर द्वारा निर्धारित अवधि के लिए वंचित किया जाय।

(३७) सरकार ने इसे भी मान लिया कि संगठित विभागीय विज्ञापन की ओर विशेष ध्यान दिया जाये और करदाताओं को विभिन्न फार्म मुफ्त दिये जायें।

अध्याय १७

भारत में संघ सरकार की आय के स्रोत–आय-कर

(SOURCES OF REVENUE OF THE UNION GOVERNMENT IN INDIA—INCOME TAX)

भारत में संघ सरकार की आय की मुख्य प्रवृत्तियाँ—राजकीय व्यय की भांति राजकीय आय भी किसी देश की आर्थिक अवस्था तथा सरकार की आर्थिक नीति के उद्देश्यों पर निर्भर करती है। एक पिछड़े हुए देश में अपेक्षाकृत विकसित देशों के, राजकीय आय का आकार वहुत ही कम होता है। युद्धकाल में राजकीय आय के आकार को बहुत विस्तृत करना पड़ता है। राजकीय आय पर सबसे अधिक राजकीय नीति तथा उसके उद्देश्यों का प्रभाव पड़ता है। भारत में भी राजकीय आय पर इन सभी बातों का प्रभाव पड़ा है। भारत एक पिछड़ा हुआ देश है। कृषि यहाँ का मुख्य व्यवसाय है। बहुत थोड़ी सी जनता उद्योगों से सम्बन्धित है और इसमें से भी अधिकांश छोटे पैमाने के उद्योगों में व्यस्त है। यहाँ की बैंकिंग प्रणाली पिछड़ी हुई अवस्था में है और मुद्रा बाजार अभी तक पूर्ण विकसित नहीं है। व्यक्तियों की आय तथा जीवन-स्तर न्यून हैं। बेरोजगारी अपनी चरम सीमा पर है। भारत के स्वतन्त्र होने से पहले सरकार निर्बाधावादी नीति की पक्षपाती थी, इसलिए वह जनता के कल्याण के लिए कोई कार्य करना पसन्द नहीं करती थी और आय भी इसी दृष्टि से एकत्रित की जाती थी। करारोपण का रूप तथा ढाँचा भी इसी उद्देश्य से निर्मित किया गया था। आर्थिक समानता स्थापित करना सरकार की करारोपण नीति का उद्देश्य नहीं था। देश में राष्ट्रीय सरकार की स्थापना होते ही सरकार की आर्थिक नीति के उद्देश्य पूर्णतया वदल गये और अब राज्य का मुख्य उद्देश्य एक कल्याणकारी समाज स्थापित करना हो गया। स्वतन्त्रता से पहले हमारी आर्थिक नाति की मुख्य विशेषताएँ इस प्रकार थीं—वजटों को संतुलित करना, सामाजिक सेवाओं तथा विकास-कार्यो पर सीमित व्यय और आवश्यक सेवाओं के लिए आवश्यक धन प्राप्त करना, तथा धन की असमानताओं को दूर करने की ओर कोई ध्यान न देना। आय-सम्बन्धी मुख्य प्रवृत्तियां दूसरी लड़ाई तक निम्न प्रकार थीं[1]—निम्न तालिका में आय की केवल

1. M. H. Copal : *Indian Public Finances,* in Commerce Annual Number, 1950.

मुख्य-मुख्य मदों को ही लिया गया है।

	१९००–०१	१९१३–१४	१९२०–२१	१९२९–३०	१९३९–४०
प्रत्यक्ष कर					
आय-कर	१·६	२·८	२०·७	१६·०	१९·३
भूमि-कर	२२·०	२६·३	२३·९	२९·२	२६·६
अप्रत्यक्ष कर					
सीमा कर	४·७	१०·८	३१·४	५०·३	४८·४
उत्पादन कर	५·६	१२·७	१९·२	१८·२	१८·३
बिक्री कर	—	—	—	—	०·६
नमक कर	८·४	४·७	५·८	६·५	१०·८
गैर-कर सम्बन्धी आय					
स्टाम्प	—	७·७	१०·२	१४·१	९·९
जंगल	०·८	१·६	१·८	७·३	४·०
रेलें	०·६	७·२	५·६	६·१	३४·०
डाक एवं तार	०·३	—	०·२	०·१	१·६
सिंचाई	२·७	५·०	५·७	९·९	९·४
अफीम	५·४	०·९	२·३	२·६	०·४

राजकीय व्यय की भाँति, जैसा कि उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है, राजकीय आय भी बहुत कम थी। आय-कर से प्राप्त आय अपेक्षाकृत कम थी। इसके अतिरिक्त आय-कर प्रगतिशील भी नहीं था। भूमिकर बेलोच तथा प्रतिगामी था। करारोपण के क्षेत्र में आय की दृष्टि से उत्पादन तथा सीमाकर सबसे अधिक महत्वपूर्ण थे। किन्तु समय-समय पर परिस्थितियों के प्रभाव में राजकीय आय के आकार व स्रोतों में भी परिवर्तन होते ही रहे। दूसरे महायुद्ध काल में राजकीय व्यय प्रतिवर्ष बढ़ता ही गया और इसीलिए राजकीय आय में वृद्धि होना स्वाभाविक ही था। जहाँ तक करारोपण से प्राप्त होने वाली आय का सम्बन्ध था आय-कर को अधिक प्रधानता दी गई। आय-कर अति कर तथा कारपोरेशन-कर की दरों को बढ़ा दिया गया। अधिक लाभकर लागू कर दिया गया और सीमा करों तथा उत्पादन करों में वृद्धि कर दी गई। परिणामस्वरूप आय-करों तथा उत्पादन-करों से होने वाली आय बढ़ती गई। विदेशी व्यापार के कम हो जाने से सीमा-करों का महत्व कुछ कम हो गया। यद्यपि करारोपण से प्राप्त होने वाली आय में काफी वृद्धि हो गई थी किन्तु यह बढ़ते हुए व्यय के अनुपात में बहुत कम थी और युद्ध-सम्बन्धी वित्तीय व्यवस्था में करारोपण से प्राप्त आय का महत्व बहुत ही कम था। कृषि आय-कर तथा मृत्यु-कर के लागू होने के लिए कर-प्रणाली में अभी काफी क्षेत्र था। युद्ध-काल में जो विभिन्न करारोपण-सम्बन्धी उपाय किए गए उनसे भारतीय कर-प्रणाली पहले की अपेक्षा अधिक प्रगतिशील हो गई। गैर-कर सम्बन्धी आय के स्रोतों में

रेलों का भाग सराहनीय था। इसके अतिरिक्त युद्ध-काल की प्रमुख विशेषता हीनार्थ प्रबन्धन थी, और युद्ध के छः वर्षों में नोटों की मात्रा में ६६४·५१ करोड़ रुपयों की वृद्धि हो गई थी। इसका परिणाम भीषण मुद्रा-स्फीति थी।

युद्ध समाप्त होने से पहले सरकार को अपना दृष्टिकोण बदलना पड़ा। सरकार ने निर्बाधावादी नीति को त्याग कर अब व्यक्तियों के आर्थिक जीवन में हस्तक्षेप करना आरम्भ कर दिया। देश में अर्थ-व्यवस्था के नियोजित विकास तथा पुनर्निर्माण के हेतु योजनाएँ बनाई गईं। देश में राष्ट्रीय सरकार के स्थापित होते ही राजकीय व्यय तथा आय का वास्तविक रूप ही बदल गया। नये संविधान में आर्थिक नीति के लक्षणों को पूर्णतया स्पष्ट कर दिया गया। आर्थिक नियोजन की ओर एक सुदृढ़ पग उठाने के लिए, सरकार ने एक नियोजन आयोग नियुक्त किया और देश में कल्याणकारी राज्य स्थापित करने का निश्चय किया और औद्योगिक क्षेत्र में अधिकाधिक भाग लेना आरम्भ किया। युद्धोत्तर काल में केन्द्रीय सरकार की आय का अनुमान निम्न तालिका से लगाया जा सकता है[2]:—

मदें	१९३८–३९		१९४४–४५		१९५३–५४		१९५८–५९	
	करोड़ रु० में	प्रतिशत	करोड़ रु० में	प्रतिशत	करोड़ रु० में	प्रतिशत	करोड़ रु० में	प्रतिशत
आय-सम्बन्धी कर								
आय-कर (शुद्ध)	१३·७४	१६·६	८०·५२	२४·१	६५·५५	१६·४	८६·७०	१३·५
कार्पोरेशन कर	२·०४	२·५	८४·२२	२५·२	४१·५४	१०·४	५६·००	८·८
व्यय कर	...	...	...	...	...	...	१·००	०·२
वस्तुओं तथा सेवाओं पर कर								
सीमा कर (शुद्ध)	४०·५१	४८·९	३९·७७	११·९	१५८·७१	३९·२	१३६·००	२१·३
उत्पादन कर (शुद्ध)	८·६६	१०·५	३८·१४	११·४	७९·४३	१९·८	२२८·१६	३५·७
रेल किरायों पर कर	—	—	—	—	—	—	११·००	१७·४
नमक कर	८·१२	९९·२	९·२९	२·८	—	—	—	—
विविध	—	—	—	—	०·२४	०·०६	६·८३	१·१
सम्पत्ति तथा पूँजीगत कर								
मृत्यु कर (शुद्ध)	—	—	—	—	—	—	०·१२	०·०२
धन कर	—	—	—	—	—	—	१०·००	१·६
उपहार कर	—	—	—	—	—	—	१·२०	०·१
स्टाम्प तथा रजिस्ट्रेशन	—	—	—	—	१·५०	०·४	३·४५	०·५
मालगुजारी	—	—	—	—	०·७६	०·२	०·५७	०·१
कुल कर आय	—	—	—	—	१३७·७३	८६·९	५३०·१४	८२·८
प्रबन्ध सम्बन्धी आय	—	—	—	—	१२·०९	३·२	४८ ५१	७·६

2. Based on the *Reports of the Reserve Bank of India on Currency and Finance.*

मदें	१९३८–३९		१९४४–४५		१९५३–५४		१९५८–५९	
	करोड़ रु० में	प्रति-शत	करोड़ रु० में	प्रति-शत	करोड़ रु० में	प्रति-शत	करोड़ रु० में	प्रति-शत
राजकीय सेवाओं से प्राप्त आय								
रेलें	१·३७	१·७	२३·००	९·६	६·९५	१७४	६·४०	१०·०
डाक एवं तार	०·१९	० २	१०·२५	१	२·४०	०·६	५·३८	०·८
मुद्रा एवं टकसाल	०·७८	—	—	—	१३·१४	३·३	२५·६३	४·०
विविध	—	—	—	—	०·८६	—	०·५१	०·१
आय के अन्य साधन	—	—	—	—	१२·८०	३·२	२३·९८	३·७
कुल आय	८०·००	१००	८२·९०	१००	३९४·२५	१००	६३९·५३	१००

इस तालिका से स्पष्ट है कि पिछले बीस वर्षों में केन्द्रीय सरकार की आय में अत्यधिक वृद्धि हुई है। सन् १९३८–३९ में ८० करोड़ रुपयों से बढ़कर कुल आय १९५८–५९ में ६३९·५३ करोड़ रुपए हो गई। यह वृद्धि कुछ तो मूल्यों के बढ़ने से उत्पन्न होने वाले लाभों के कारण और कुछ सरकार की आवश्यकताओं के कारण हुई थी। किन्तु इस वृद्धि का मुख्य कारण देश में विकास योजनाओं का आरम्भ होना था। आज भी सरकार की अपनी आय का अधिकांश भाग करारोपण से ही प्राप्त होता है। पिछले वर्षों में व्यक्तिगत करों के सापेक्षिक महत्व में कुछ फेर-बदल अवश्य हो गई है। जब कि आय-कर से प्राप्त आय का कुल कर-आय में जो प्रतिशत सन् १९३८–३९ में १९·१ था, सन् १९५८–५९ में २१ के लगभग हो गया। यद्यपि युद्ध के पहले तथा बाद के वर्षों में सीमा-कर से प्राप्त होने वाली आय तो लगभग समान ही है, किन्तु कुल कर-आय में अब इनका स्थान उत्पादन-करों ने ग्रहण कर लिया है। उत्पादन-करों की आय कुल आय में प्रतिशत सन् १९३८–३९ में १९·८ से बढ़कर १९५८–५९ में ३५·७ हो गया। सन् १९५६ से अर्थात् दूसरी पंचवर्षीय योजना के आरम्भ होते ही भारतीय कर-प्रणाली में कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। आरम्भ के तीन वर्षों में प्रत्यक्ष करों की संख्या एवं आय में वृद्धि करने के सचेत प्रयत्न किए गए हैं। सन् १९५६ में पूँजी लाभ-कर, सन् १९५७ में धन-कर तथा व्यय-कर और सन् १९५८ में उपहार-कर लागू किए गए। इन करों को लागू करने के तीन मुख्य उद्देश्य थे, प्रथम, दूसरी योजना के लिए अधिक आय प्राप्त करना। दूसरे, कर ढाँचे को अधिक प्रगतिशील करना और तीसरे, कर की चोरी को नियंत्रित करना। पिछले वर्षों में उत्पादन करों में भी बहुत वृद्धि हुई है तथा अनेकों नई वस्तुओं पर उत्पादन-कर लागू कर दिये गए हैं, परिणामस्वरूप अब केन्द्रीय सरकार को सबसे अधिक आय अकेले उत्पादन-करों से ही प्राप्त होती है। इनमें वृद्धि करने के मुख्य कारण—उपभोग को कम करना, मध्यस्थों के लाभों को कम करना तथा सरकार की बढ़ती हुई आवश्यकताओं के लिए पर्याप्त धन प्राप्त करना इत्यादि हैं। तीसरी योजना के आरम्भ होते ही, निर्यातों को

प्रोत्साहित करने, आयातों को हतोत्साहित करने, बचतों तथा विनियोगों को बढ़ाने और उपभोग को कम करने के लिए अप्रत्यक्ष करों में वृद्धि करने की ओर उपाय किये गये।

यदि हम संघ सरकार की कुल कर-आय पर दृष्टिपात करें तो ज्ञात होगा कि अप्रत्यक्ष करों का भाग कुल-कर आय में अधिक है। उदाहरणार्थ सन् १९५०–५१ में कुल कर आय में प्रत्यक्ष करों से प्राप्त होने वाली आय का प्रतिशत ३६·२ था; सन् १९५६–५७ में ३०, सन् १९६३–६४ में ३१ और सन् १९६५–६६ में ३३·६ हो जाने का अनुमान था। अत: स्पष्ट है कि नियोजित्त कार्यक्रम की प्रगति के साथ-साथ सरकार को अधिकाधिक अप्रत्यक्ष करारोपण पर निर्भर होना पड़ा है और यह स्वाभाविक भी है क्योंकि भारत एक अर्ध-विकसित देश है। निर्धन वर्गों को भी विकास-कार्यों में अपना योगदान देने के लिए तथा त्याग करने के लिए यही एक मार्ग है।

अगले पृष्ठ पर दी गई तालिका से स्पष्ट हो जाता है कि संघ सरकार की आय के कर-सम्बन्धी स्रोतों में आय-कर, कार्पोरेशन-कर, सीमा-कर तथा उत्पादन-कर प्रमुख हैं। पिछले वर्षों में आय-कर की प्राप्तियों में वृद्धि हुई है मुख्यतया इसलिये कि एक तो इसकी दरों में वृद्धि की गई है और आय-कर पर अधिभार भी लागू किया गया है। किन्तु राज्यों का भाग निकलने के बाद संघ सरकार के पास बहुत थोड़ी सी धनराशि ही शेष रह जाती है। कार्पोरेशन कर में भी वृद्धि हुई है। इसके मुख्य कारण यह हैं कि एक तो कम्पनी आय-कर को इसी में सम्मिलित कर लिया गया है; दूसरे कम्पनियों की आय में वृद्धि हुई है और तीसरे कर की दरों में पिछले दो वर्षों में काफी वृद्धि की गई है। अन्य प्रत्यक्ष करों, जैसे जायदाद कर, उपहार कर व धन कर से कोई विशेष आय प्राप्त नहीं हो रही है। हां, यदि प्रो० केल्डोर द्वारा दिये गये सुझावों के अनुसार इनमें फेर बदल कर दी जाय तो शायद ये कर संघ सरकार की आय के महत्वपूर्ण स्रोत बन सकते हैं।

अप्रत्यक्ष करों में उत्पादन-कर का प्रथम और सीमा-कर का द्वितीय स्थान है। सन् १९५५–५६ तक सीमा-कर का ही प्रथम स्थान था किन्तु आयातों को नियन्त्रित करने की नीति के फलस्वरूप उत्पादन कर से प्राप्त होने वाली आय में तभी से तीव्र वृद्धि हुई है। सन् १९५०–५१ में उत्पादन-करों से कुल ६७·५४ करोड़ रु० प्राप्त होते थे, किन्तु सन् १९६४–६५ में कुल ७२८·७४ करोड़ रु० की आय प्राप्त हुई थी और १९६५–६६ में ७६७·१६ करोड़ रुपये प्राप्त होने का अनुमान था।

यह ध्यान रहे कि संघ सरकार के आय-सम्बन्धी जो तथ्य पिछले पृष्ठों में हमने दिये हैं तथा जिन प्रवृत्तियों का उल्लेख हमने किया है, उनका घनिष्ठ सम्बन्ध हमारी पंचवर्षीय योजनाओं के कार्यारोपण से है।

निम्न तालिका से विभिन्न करों की सापेक्षिक स्थिति भली प्रकार स्पष्ट हो जाती है:—

भारत सरकार की कर-आय की रूपरेखा

(करोड़ रुपयों में)

	१९५०-५१	१९५६-५७	१९६१-६२	१९६३-६४	१९६५-६६ (बजट)
१. आय तथा व्यय कर	१२५·७०	१४४·१७	२२८·८४	३९०·८९	५४४·२२
कार्पोरेशन कर के अतिरिक्त आय-कर	१३२·७३	१५१·७४	१६५·३९	२३५·००	२९४·२२
राज्यों का भाग	४७·५२	५८·७५	९३·८५	११९·२९	१२२·९२
(i) शुद्ध प्राप्तियाँ	८५·२१	९२·९९	७१·५४	११५ ७१	१७१·०७
(ii) कार्पोरेशन कर	४०·४९	५१·१८	१५६·४६	२७५·००	३७१·६०
(iii) व्यय कर	—	—	०·८४	०·१८	१·५५
२. सम्पत्ति तथा पूँजी कर	३३·८	२·४१	१४·२१	१६·७६	२१·९८
जायदाद कर	—	२·११	४·२१	४·३५	७·४०
राज्यों का भाग	—	२·४१	३·८८	४·२२	७·१७
(i) शुद्ध प्राप्तियाँ	—	(–)०·३०	०·३३	०·१३	०·२३
(ii) धन कर	—	—	८·२६	१०·००	१३·५०
(iii) उपहार कर	—	—	१·०१	१·१०	३·०१
(iv) अन्य	३·८१	२·७१	४·६१	५·५३	५·१५
३. वस्तुओं पर कर	२२७·४९	३४७·१८	६३२·३२	९०२ ४१	१११६·५६
(i) सीमा कर	१५७·१५	१७३·२३	२१२·२५	३२०·००	४१९·५०
(ii) उत्पादन कर	६८·५४	१९०·४३	४८९·३१	७०३·४७	८१४·१७
(अ) अतिरिक्त उत्पादन कर की राशि	(—)	(—)	(३८·९६)	(४५·५५)	(४७·०१)
(ब) निकालो राज्यों का	—	१८·२२	८०·६५	१३५·९९	१३५·८१
भाग शुद्ध प्राप्तियाँ	६७·५४	१७२·२१	४०८·६६	५६७·४८	६७८ ५४
(iii) अन्य	२ ८०	१·७४	११·४१	१४·९३	१८ ७२
कुल कर आय (१+२+३)	३५७·००	४९३·७६	८७५·३७	१११०·०६	१६८२·७६

हम अब केन्द्रीय सरकार की आय के मुख्य-मुख्य स्रोतों का वर्णन करेंगे :—

आय-कर
(Income-Tax)

प्राक्कथन—

आय-कर के अन्तर्गत व्यक्तियों तथा कम्पनियों की शुद्ध आय (Net Income) पर लगने वाला कर सम्मिलित किया जाता है। परन्तु प्रश्न यह है कि शुद्ध आय किसे कहते हैं ? करारोपण के उद्देश्य से शुद्ध आय की एक सही परिभाषा देना उतना सरल नहीं है, जितना ऊपर से देखने पर प्रतीत होता है। शुद्ध आय का माप भी व्यावहारिक कठिनाइयाँ उपस्थित करता है। सच तो यह है कि शुद्ध आय पर कर लगाने की बात केवल एक सैद्धान्तिक सत्य ही है। अर्थशास्त्र में 'आय' शब्द का अभिप्राय उन संतुष्टियों के 'प्रवाह' (flow of satisfactions) से है जो श्रम अथवा पूँजी से उत्पन्न होता है। वास्तव में व्यक्तिगत हित या कल्याण के दृष्टिकोण से आय का यह सबसे सही अर्थ है। परन्तु करारोपण के उद्देश्य से हम 'आय' शब्द का उपयोग इस अर्थ में नहीं कर सकने। इस अर्थ को मानने में कई कठिनाइयाँ हैं, जैसे पहली कठिनाई तो यह है कि संतुष्टियों का मौद्रिक माप किस प्रकार किया जाये, जो करारोपण के लिए अत्यन्त आवश्यक है। यदि हम संतुष्टियों को मुद्रा में नापने का प्रयत्न करते हैं तो एक कठिनाई यह है कि वास्तविक आय (real income) और मौद्रिक आय (money income) में सही-सही भेद नहीं किया जा सकेगा। क्योंकि, यदि वास्तविक आय संतुष्टियों का प्रवाह है, तो मौद्रिक आय इन संतुष्टियों को प्रदान करने वाली वस्तुओं एवं सेवाओं का बाजार मूल्य है। परन्तु इस बात का क्या विश्वास है कि प्रत्येक व्यक्ति को मुद्रा की समान मात्रा खर्च करने से समान संतुष्टि प्राप्त होगी ? इसलिये समान आय वाले व्यक्तियों से एक ही राशि कर के रूप में लेने से हम यह निश्चय नहीं कर सकते कि इनमें से हर व्यक्ति ने संतुष्टि की समान मात्रा का त्याग किया है। यदि संतुष्टियों का कोई वस्तुगत या भौतिक (Objective) माप होता, तो करारोपण का उससे अधिक उचित आधार मिलना सम्भव नहीं था। परन्तु ऐसे माप के अभाव में, हमको उसके निकटतम आधार को अर्थात् मौद्रिक आय को ही आय, करारोपण का आधार मानना पड़ता है, यह जानते हुए भी कि यह एक उचित आधार नहीं है।

यदि हम शुद्ध आय को वास्तविक आय के अर्थ में लेते हैं तो दूसरी कठिनाई यह है कि करारोपण के लिए इसका माप किस स्थिति (Stage) पर किया जाय ? इसको हम उस समय तो नाप नहीं सकते, जबकि यह प्राप्त होती है, क्योंकि उस समय तो संतुष्टि का अनुमान ही नहीं लग सकता। संतुष्टि तो उपभोग करने के पश्चात् होती है। परन्तु उपभोग कर लेने के बाद फिर व्यक्ति के पास क्या रहेगा जिससे वह कर का भुगतान कर सके। यदि हम मौद्रिक आय को आधार मानते हैं तो प्रश्न यह है, कि क्या हम उसका माप उस समय करें जबकि उसका

उपयोग, उपभोग-कार्यों के लिए किया जाता है ? कुछ लेखकों का मत है कि यदि हमें वास्तविक आय को करारोपण का आधार बनाने में वास्तविक कठिनाइयाँ हैं तो हम मौद्रिक आय का माप कम से कम ऐसे बिन्दु पर करें जो वास्तविक आय-प्राप्ति के निकटतम हो। अतः हमारी वास्तविक आय का अनुमान उसी समय लग सकता है, जब हम उन वस्तुओं और सेवाओं का मौद्रिक मूल्य मालूम कर लें, जिनसे वास्तविक आय प्राप्त होती है। यदि हम थोड़ा सा ध्यान दें तो ज्ञात होगा कि किसी भी व्यक्ति को अपनी संतुष्टि केवल वर्तमान उपभोग से ही प्राप्त नहीं होती, वरन् भविष्य के उपभोग के लिए बचत करके, एवं दूसरे व्यक्तियों को मौद्रिक आय का कुछ भाग देकर भी संतुष्टि प्राप्त होती है। अतः मौद्रिक आय का सर्वोत्तम माप उसी समय होगा, जबकि व्यक्ति उसे प्राप्त करता है—जिसके पश्चात् वह उसको उपभोग तथा बचतों में बांटने का निश्चय करता है। कुछ व्यक्तियों का विचार है कि बचतें आय नहीं होती। यह हमारी वास्तविक आय की परिभाषा पर निर्भर करता है कि आय में बचतें आती हैं या नहीं। यदि हम वास्तविक आय को केवल उपभोग से प्राप्त आनन्द के रूप में स्वीकार करते हैं तब तो बचतें, आय नहीं हैं, परन्तु यदि हम इसका अर्थ मौद्रिक आय से प्राप्त सारी ही संतुष्टियों से लगाते हैं तब बचतें आय के अन्तर्गत ही आयेंगी। कीन्स ने भी बचतों को भविष्य में आय के उपभोग करने का अधिकार बताया है। अतः आय की यह विस्तृत परिभाषा अवश्य है, परन्तु यह ही प्रत्येक व्यक्ति की कर-दान योग्यता का उचित माप है। यह ध्यान रहे कि यह तो व्यक्ति की कुल आय (Gross Income) है। शुद्ध आय प्राप्त करने के लिए इसमें से कुछ राशि निकालनी पड़ेगी, अर्थात् इस आय को प्राप्त करने में पूँजीगत वस्तुओं का जो ह्रास हुआ है वह भी काटना चाहिए, जो कुछ शेष रहे वह शुद्ध आय होगी। उस पर कर निर्धारित करना चाहिए। कुल राष्ट्रीय आय (Gross National Income) में से शुद्ध राष्ट्रीय आय (Net National Income) या राष्ट्रीय लाभांश (National Dividend) मालूम करने के लिए हमको कई प्रकार की कटौतियाँ करनी पड़ती हैं—जैसे, करों का भुगतान, पूंजी—ह्रास पूर्ति की राशि तथा विदेशियों को उनकी पूँजी का उपयोग करने का शुद्ध भुगतान।[3] जिस विधि से देश की शुद्ध राष्ट्रीय आय का अनुमान हम लगाते हैं उसी प्रकार हमें व्यक्तियों की शुद्ध आय का पता लगाना चाहिये। यदि हम ऐसा नहीं करेंगे तो व्यक्ति की उत्पादन करने की पूँजीगत वस्तु अर्थात् कार्यक्षमता का ह्रास होता रहेगा। इस दृष्टि से बचतें पूंजी हैं और राष्ट्रीय आय का भाग नहीं हैं। करारोपण के उद्देश्य से हम हिक्स (Hicks, J. R.) की परिभाषा को ही उचित मान सकते हैं। "एक व्यक्ति की आय वह है जिसका वह एक सप्ताह में उपभोग कर सकता है और तब भी सप्ताह के अन्त में वह उतना ही समृद्धिशाली रहने की आशा कर सकता है जितना वह आरम्भ में था।"[4]

3. Philipe, E. Taylor : *The Economics of Public Finance*, p. 85.
4. *Value and Capital*, p. 176.

किन्तु शुद्ध आय की गणना इतनी सरल नहीं है। साधारणतया कुल आय में से व्यवसाय-सम्बन्धी खर्चों को निकाल देना चाहिए किन्तु कुछ खर्चे ऐसे होते हैं जो व्यावसायिक तथा उपभोग व्ययों की मध्यरेखा पर होते हैं, जैसे व्यापारी का मोटर-सम्बन्धी व्यय, या शिक्षा एवं प्रशिक्षण-सम्बन्धी व्यय या पति-पत्नी दोनों ही के नौकर होने की स्थिति में बच्चों की देख-भाल आदि पर किया गया व्यय आदि। इसके अतिरिक्त एक व्यक्ति-विशेष द्वारा किये गये व्यावसायिक व्ययों का पता लगाना तो सरल हो सकता है किन्तु किसी व्यापारी के व्यापारिक व्ययों की गणना कठिन होती है। एक तो व्यापारी लोग बहुधा कर की चोरी करने के लिए अपने व्यापार-सम्बन्धी खर्चों, आदि को बढ़ा-चढ़ा कर बताते हैं और दूसरे व्यवसाय-सम्बन्धी व्ययों की गणना भी वास्तव में कठिन है क्योंकि मशीनों की घिसावट की लागतों का पता लगाना कठिन है। दूसरे समय-काल की समस्या है अर्थात् कर लागू करने के लिए कितने काल की आय-कर के लिए लेनी चाहिए। साधारणतया आय के कुल प्रवाह को कई भागों में बाँटकर प्रायः एक वर्ष के काल में, आय का अनुमान लगाया जाता है। वेतन-भोगी व्यक्तियों की आय के लिए तो ठीक है, किन्तु फर्म या व्यापारियों के लाभों तथा आय का अनुमान लगाना कठिनाइयों से परिपूर्ण है क्योंकि उत्पादन करों की क्रिया निरन्तर चलती रहने वाली है। एक वर्ष में खरीदी गई कच्ची सामग्री का उपयोग दूसरे वर्ष में, तथा एक वर्ष में किया गया उत्पादन दूसरे वर्ष में बिकता है। इसी प्रकार की अन्य बातों के कारण व्यवसायियों की आप की गणना में अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं।

अधिकांश देशों में, आय-कर अधिनियमों में आय को 'धन के प्रवाह' के रूप में स्वीकार किया गया है। अर्थात् आय के अन्तर्गत, वे सभी वस्तुएँ तथा मुद्रा जो करदाता को एक काल विशेष में प्राप्त होती हैं, सम्मिलित की जाती हैं। इसका अभिप्राय यह हुआ कि कर केवल उस धन पर ही लगेगा जो व्यक्तियों को किसी भी प्रकार की विनिमय क्रिया द्वारा प्राप्त होता है। अर्थात् वह सब धन जो विनिमय क्रियाओं द्वारा प्राप्त नहीं होता, वरन् वैसे ही मनुष्य को प्राप्त होता है, आय-कर के क्षेत्र में नहीं आयेगा। इसके अतिरिक्त आय के अन्तर्गत केवल उन्हीं राशियों को लिया जायेगा जो वास्तविकता में प्राप्त हो गई हैं—उधार खाने की राशियाँ इसमें सम्मिलित नहीं की जायेंगी।

न्याय की दृष्टि से सभी प्रकार की आयों पर समान दर से कर लगना चाहिये, किन्तु सच तो यह है कि कुछ विशेष परिस्थितियों में भेद-भाव पूर्ण व्यवहार भी आवश्यक हो जाता है। जैसे ऐसी आय को, जो बार-बार उत्पन्न नहीं होती, या तो कर-मुक्त रखना चाहिए या बहुत नीची दर से कर लगाना चाहिए। किन्तु पूर्णतया कर विमुक्त रखना तो न्यायसंगत नहीं होगा। हाँ यह आवश्यक है कि ऐसी आयों पर प्रगतिशील दरों से कर लागू न करके, केवल औसत दर से ही कर लगाना उचित होगा। इसी प्रकार पूँजी लाभ के साथ भी विशेष व्यवहार होना चाहिये। उपहार तथा उत्तराधिकार में प्राप्त होने वाला धन भी आय है किन्तु क्योंकि ऐसी

आय अस्थायी होती है, इसलिये उसके साथ भी विशेष व्यवहार किया जाये। इसी प्रकार उपार्जित तथा अनुपार्जित आय के बीच भेद-भाव किया जाता है। अन्त में कुछ आय ऐसी होती हैं जिन्हें आय भी कह सकते हैं और पूंजी भी, जैसे, बीमा राशि, पैंशन इत्यादि। इनमें व्यक्ति द्वारा लगाई गई पूँजी भी सम्मिलित है, इस लिये आय-कर के लिए इन राशियों के केवल उसी भाग को लेना चाहिये, जो आय हो।

किसी व्यक्ति की आय पर कर निर्धारित करते समय यह भी आवश्यक है कि केवल व्यक्ति की आय की राशि को ही ध्यान में न रखकर यह भी देखना चाहिए कि उस आय का उपयोग करने वाले व्यक्तियों की संख्या कितनी है। अन्य बातें समान रहने पर एक अकेले व्यक्ति की, एक परिवार वाले व्यक्ति की अपेक्षा अधिक कर-दान योग्यता होगी।

व्यक्ति को आय एक दम ही प्राप्त नहीं होती। उसको थोड़ी-थोड़ी करके एक निश्चित अवधि में आय प्राप्त होती है। आय-प्राप्ति की अवधि तथा राशि लगभग निश्चित ही होती है (अधिकतर वेतनभोगी व्यक्तियों को), परन्तु कभी-कभी उसमें परिवर्तन भी होते रहते हैं (व्यापारियों के लिए)। अतः यह आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति की एक निश्चित अवधि के अन्दर की आय पर ही कर लगाया जाये। यह काल अधिकतर एक वर्ष होता है। संयुक्त राज्य अमेरिका में कोई भी बारह महीनों की आय का ब्यौरा दिया जा सकता है। यह आवश्यक नहीं है कि कैलेण्डर (Calendar) का ही एक वर्ष हो।

आय-कर साधारणतया प्राप्त की हुई नकद आय पर लगाया जाता है और भविष्य में जितनी आय के प्राप्त होने की आशा हो, उस पर नहीं लगाया जाता। वास्तव में आय वही है जो प्राप्त हो गई हो। वेतनभोगी व्यक्तियों के लिए तो यह बात सच है, परन्तु व्यापारियों के लिए यह ठीक नहीं है, क्योंकि प्रारम्भ में तो अपनी ख्याति स्थापित करने के लिए बहुत खर्च करना पड़ता है, इसलिए कुछ भी लाभ नहीं होता। जब उन्हें कुछ वर्षों के बाद बहुत लाभ होता है तो उन्हें एकदम कर चुकाना होता है, जबकि उन्हें यह आय कई वर्षों के परिश्रम के बाद प्राप्त हुई है। इस तरह उनको कर अधिक देना पड़ता है। यदि पिछले सब वर्षों का औसत निकाल कर कर लगाया जाता तो उनको बहुत कम कर देना होता। परन्तु आय-कर अधिनियम कहीं पर भी कर-दान योग्यता की इन भिन्नताओं की ओर ध्यान नहीं देते।

भविष्य में जिस आय के प्राप्त होने की आशा है, यदि कर उस आय के अनुसार लगाया जाय तो भी ठीक नहीं होगा। एक तो यह निश्चित रूप से कहा ही नहीं जा सकता कि भविष्य में कितनी आय प्राप्त होगी। दूसरे, यह कि प्रारम्भिक वर्षों में करदाता को कर भुगतान करना इतना सुविधाजनक नहीं होता, क्योंकि आय प्राप्त होने से पहले ही उसको कर का भुगतान करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त आय में परिवर्तन भी होते रहते हैं। एक वकील की जो आय एक महीने में होगी,

यह आवश्यक नहीं कि उतनी ही आय दूसरे महीने में भी प्राप्त हो। इन सब कठिनाइयों को कम करने के लिए प्राप्त आय को या तो पीछे के वर्षों में बाँटा (Carry back) या आगे के वर्षों को ले जाया जा सकता है (Carry over)। पहली विधि के अनुसार आय को पिछले वर्षों (जितने वर्षों तक उस आय को प्राप्त करने के लिए निरन्तर प्रयत्न किये गए हैं) में ऐसे बाँट दिया जाये, जैसे कि वह बराबर-बराबर किश्तों में पिछले वर्षों में प्राप्त होती रही है, तत्पश्चात् उस पर कर निर्धारित किया जाए। दूसरी विधि में एक वर्ष की हानि को दूसरे वर्ष के लाभ में से काट कर तब कर लगाया जाए। इसमें तो कोई संदेह नहीं कि किसी एक वर्ष की हानि सदैव अगले वर्ष की आय में से ही पूरी की जाती है। यदि हानि नहीं भी होती है तो भी प्रवृत्ति यही होती है कि अधिक आय वाले वर्ष की आय को बाद के कम आय वाले वर्षों में उपयोग किया जाता है। अतः दोनों ही स्थिति में कर-निर्धारण के लिए एक वर्ष की अवधि न्यायसंगत नहीं है। आय कर की न्यायशीलता के लिए यह आवश्यक है कि कर निर्धारित करते समय कई वर्षों की हानि और लाभों का उचित ज्ञान प्राप्त कर लिया जाए।

आय-कर को न्यायसंगत बनाने के लिए, अधिकांश देशों में, शुद्ध आय का अनुमान लगाते समय कुल आय में कुछ रियायतें तथा कटौतियाँ कर दी जाती हैं। यह छूटें तथा कटौतियाँ या तो कर-दान योग्यता के विचार से या प्रशासन की सुविधा की दृष्टि से की जाती हैं। प्रत्येक देश में ही न्यूनतम कर-रहित सीमा निश्चित की जाती है—केवल प्रशासन की सुविधा के लिए, क्योंकि छोटी-छोटी आयों पर कर वसूल करने में कठिनाई भी बहुत होती है और उनका पता लगाना भी इतना सरल नहीं होता। इसी प्रकार कर-दान योग्यता को उचित आधार बनाने के लिए, कभी व्यक्तिगत कठिनाइयों की ओर भी ध्यान दिया जाता है, और कुल आय में से उचित कटौतियाँ कर दी जाती हैं, जैसे, व्यक्ति-विशेष के बच्चों या निर्भरकर्ताओं की संख्या, शिक्षा एवं चिकित्सा-व्यय आदि। इन सब कटौतियों के बाद ही शुद्ध आय मालूम की जाती है और उस पर कर लगाया जाता है।

आय-कर के भार के सम्बन्ध में साधारणतया यही विश्वास किया जाता है कि यह किसी दूसरे व्यक्ति पर नहीं डाला जा सकता और उसी व्यक्ति को कर-भार सहन करना पड़ता है जिसकी आय पर कर लगाया गया है। हम पहले भी कह चुके हैं कि कर-भार उसी समय दूसरे व्यक्ति पर डाला जा सकता है जब करदाता की व्यापार-सम्बन्धी लागतों में वृद्धि हो सकती है। परन्तु आय-कर तो शुद्ध आय पर लगाया जाता है। व्यापारी अपनी वस्तुओं का मूल्य, कर का भुगतान करने की पूर्व आशा में बढ़ा भी नहीं सकता, क्योंकि मूल्य तो माँग और पूर्ति की शक्तियों द्वारा निर्धारित होता है। यदि कोई व्यापारी अपनी वस्तुओं को ऊँचे मूल्य पर बेचता है तो वह ऐसा उसी समय कर सकता है जबकि बाजारों में मूल्यों की सामान्य प्रवृत्ति बढ़ने की हो—चाहे आय-कर लगा हो या नहीं। यदि वह मूल्य बढ़ाने की स्थिति में है तो अवश्य ही मूल्य बढ़ायेगा। अतः आय-कर का भार करदाता के

अतिरिक्त किसी दूसरे व्यक्ति पर नहीं पड़ता क्योंकि आयकर वस्तुओं की उत्पादन लागतों को प्रभावित नहीं करता।

आय-कर, कर-दान योग्यता के भी अनुकूल बनाया जा सकता है। इस कर की दरों को प्रगतिशील करके, कुल आय में से कटौती करके या कुछ छूट देकर, अति-कर (Super Tax) लगाकर इत्यादि उपायों द्वारा।

हम ऊपर कह चुके हैं कि एक निश्चित सीमा से नीचे की आयों को कर-मुक्त कर दिया जाता है, जिससे कम आय वाले व्यक्तियों पर कर का भार कम पड़े। इसी प्रकार कर को कर-दान योग्यता सिद्धान्त के अनुकूल बनाने के लिए, दरों को प्रगतिशील बनाया जाता है। ऊँची आयों पर ऊँची दरों से लिया जाता है और नीची आयों पर नीची दरों से कर लगाया जाता है और बहुत नीची आयों को कर से मुक्त कर दिया जाता है। कर की दरों में प्रगतिशीलता लाने के लिए भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न रीतियाँ अपनाई गई हैं। अधिकतर देशों में खण्ड-प्रणाली (Slab System) प्रचलित है। आय-कर पर अति-कर (Super Tax) लगाकर भी ऊँची आय वालों पर कर का भार अधिक डाला जाता है। अति-कर, एक निश्चित स्तर से ऊपर वाली आयों पर साधारण आय-कर के अतिरिक्त लगाया जाता है। अति-कर भी प्रगतिशील होता जाता है। जब आय बहुत अधिक होती जाती है और लाभ की दरें बहुत ऊँची होती जाती हैं, तब सरकार अधिक लाभकर (Excess Profits Tax) भी लगा देती है। यह कर अत्यधिक ऊँची आयों पर लगाया जाता है। यह कर अधिकतर युद्धकाल में अत्यधिक लाभों पर लगता है, क्योंकि युद्धकाल में व्यापारियों को ऊँचे मूल्यों से अतिरिक्त लाभ बहुत ऊँची दरों से प्राप्त होते हैं। आय-कर को छूट देकर तथा कटौतियाँ आदि करके भी न्यायसंगत बनाया जाता है। जैसे बिना कमाई हुई आयों (Unearned Incomes) पर ऊँची दर से कर लगाना और कमाई हुई आयों पर नीची दर से कर लेना। श्रम द्वारा प्राप्त आय और सम्पत्ति द्वारा प्राप्त आय में कई कारणों से भेद किया जाता है। ऐसा करने के कई कारण हैं :—प्रथम, उपार्जित आय में व्यक्ति को अपने अवकाश तथा आराम को त्यागना पड़ता है जबकि अनुपार्जित आय के लिये व्यक्ति को अपने आराम का त्याग नहीं करना पड़ता। विनियोगों से प्राप्त आय का व्यक्ति की हैसियत से कोई सम्बन्ध नहीं होता जबकि काम करने के बाद प्राप्त हुई आय व्यक्ति के कार्य योग्य या जीवित रहने की स्थिति में ही प्राप्त होती है। श्रम एवं प्रयत्नों से जो आय प्राप्त होती है, वह उसी समय तक मिलती है जब तक व्यक्ति कार्य करने योग्य रहता है अर्थात् बीमारी, चोट, बेकारी आदि की अवस्था में उसे कोई आय नहीं प्राप्त होती जबकि सम्पत्ति द्वारा प्राप्त आय नियमित रूप से प्राप्त होती रहती है। माता-पिता की मृत्यु के बाद श्रमिक के बच्चे भूखे भी मर सकते हैं, परन्तु सम्पत्ति वालों के बच्चों को सम्पत्ति से आय सदा ही प्राप्त होती रहती है। श्रमिक को भविष्य के लिए अधिक बचाना पड़ता है, जबकि सम्पत्ति वालों को भविष्य की कुछ भी चिन्ता नहीं होती। प्रो० केल्डोर तथा प्रो० प्रेस्ट इस प्रकार के भेद करने के पक्ष में नहीं हैं।

प्रो० केल्डोर का विचार है कि धन-कर लागू करने से इस भेद-भाव का कोई स्थान नहीं रह जाता। वार्षिक धन-कर एक ओर व्यक्ति की आय प्राप्त करने की क्षमता को कम कर देगा और दूसरी ओर आय प्रदान करने वाले आदेयों (assets) के मूल्य को कम करेगा। प्रो० प्रेस्ट ने 'धन कर' के स्थान पर 'शुद्ध सम्पत्ति कर' (Net Worth Tax) शब्दों का प्रयोग किया है।[5] उनके अनुसार ऐसा कर पूँजी तथा उससे प्राप्त होने वाली आय दोनों को ही, प्रभावित करेगा। इसके अतिरिक्त ऐसा कर जोखिम पूर्ण तथा गैर-जोखिम पूर्ण विनियोगों तथा तरल एवं गैर-तरल आदेयों के बीच भी भेद-भाव करेगा। आय-कर निर्धारित करते समय करदाता की व्यक्तिगत परिस्थितियों का भी ख्याल रक्खा जाता है जैसे व्यक्तियों की, करारोपण के लिए शुद्ध आय का अनुमान लगाते समय बच्चों की संख्या के अनुसार कुल आय में से कटौती कर दी जाती है। संयुक्त राज्य अमेरिका में तो चिकित्सा सम्बन्धी व्यय भी काट दिये जाते हैं।

आय-कर का प्रशासन भी सरलतम रक्खा जाता है। आय-कर तथा अन्य प्रत्यक्ष करों के प्रशासन को सरल बनाना तथा कुशल बनाना इसलिये आवश्यक हो जाता है कि कर परिवर्जन (avoidance) तथा कर-वंचन (evasion) सम्भव न हो। आय कर मुख्यतया व्यक्ति की 'ईमानदारी' पर लगाया जाता है और यह आशा की जाती है कि प्रत्येक व्यक्ति ईमानदारी से अपनी सम्पूर्ण आय का ब्यौरा कर अधिकारियों को देकर कर राशि का भुगतान कर देगा। किन्तु व्यवहार में यह देखा गया है कि अधिकांश व्यक्ति अपनी आय को छुपाकर कर का वंचन करते हैं, जिसका परिणाम यह होता है कि कर को चाहे जितना भी सरकार ने न्यायसंगत बनाया हो, व्यवहार में वह न्यायसंगत नहीं रहता। वेतन तथा मजदूरी प्राप्त करने वाले व्यक्ति तो कर का वंचन नहीं कर पाते चूँकि उनकी आय पर कर स्रोत पर ही काट लिया जाता है। किन्तु कर-वंचन की सबसे अधिक समस्या उन व्यक्तियों के सम्बन्ध में है जिनकी आय को निश्चित रूप से नहीं आँका जा सकता, जैसे किसान, व्यापारी, व्यवसायी आदि। ये लोग विभिन्न रीतियों से कर का वंचन करते हैं—जैसे, प्राप्तियों को कम बताकर, कुल आय को अनुचित कटौतियाँ करके कम दिखाना, व्यक्तिगत खर्चों को व्यावसायिक खर्चों में सम्मिलित करके आय को कम बताना इत्यादि। सबसे अधिक कर-वंचन छोटे-छोटे व्यापारियों, किसानों में प्रचलित है। कर-वंचन की समस्या लगभग प्रत्येक देश में ही पाई जाती है। एक अनुमान के अनुसार संयुक्त राज्य अमेरिका में दूसरे विश्वयुद्ध के तुरन्त बाद के काल में वेतन-सम्बन्धी आय-कर ब्यौरों में ५%, गैर-कृषि उपक्रमों की आय-सम्बन्धी ब्यौरों में १३%, लाभांश सम्बन्धी ब्यौरों में २४%, किरायों के ब्यौरों में ५५%, सूद सम्बन्धी आय-ब्यौरों में ६३% और कृषि-आय सम्बन्धी ब्यौरों में ६४% आय कम दिखाई गई थी।[6] इसीलिये पिछले वर्षों में कर प्रशासन को और भी अधिक कड़ा बनाने का प्रयत्न किया गया है

5. A. R. Prest, *Op. cit.*, p. 281.
6. John Due : Government Finance, p. 199.

और आय-कर अधिनियम को अधिक सख्ती तथा सतर्कता से लागू करने की चेष्टा की गई है। फिर भी कर-वंचन समाप्त नहीं हुआ और उस समय तक समाप्त हो भी न सकेगा जब तक व्यक्तियों का नैतिक स्तर ऊँचा न होगा। सम्भव है कि संयुक्त राज्य अमेरिका, कनाडा तथा इंगलैंड में कर-वंचन इतना अधिक न हो जिससे कर की मौलिक न्यायशीलता नष्ट हो जाये।[7] किन्तु अर्ध-विकसित देशों के लिए यह एक गम्भीर समस्या है। किन्तु इसके मुख्य कारण आयकर विभाग की अकुशलता तथा भ्रष्टाचार है। यद्यपि पिछले कुछ वर्षों में नियोजन के लिए अधिक धन की आवश्यकता होने के कारण, आय-कर विभाग कुछ सजग अवश्य हुआ है किन्तु अभी इस समस्या से मुक्ति पाने में काफी समय लगेगा। व्यवहार में दो रीतियाँ अपनाई गई हैं—पहली विधि में, आय-कर आय के स्रोत (source) पर ही एकत्रित कर लिया जाता है और दूसरी विधि में करदाता स्वयं अपनी आय का ब्यौरा प्रत्येक वर्ष आय-कर विभाग को भेजता है। पहली विधि के अन्तर्गत सेवायोजक (Employers) अपने सेवकों को, वेतन में से कर की राशि की कटौती करके भुगतान करते हैं और सम्मिलित पूंजी कम्पनियाँ लाभ बाँटते समय प्रत्येक हिस्सेदार के लाभ में से कर की सारी राशि काट लेती हैं। दूसरी विधि में करदाता को स्वयं अपनी आय का हिसाब भेजना पड़ता है। कुछ देशों में यह दोनों विधियाँ साथ-साथ चलती हैं जैसे, भारत में। इन दोनों विधियों के अपने-अपने लाभ और दोष हैं—पहली विधि में कर की चोरी नहीं हो सकती, कर का प्रशासन अधिक सुगम होता है, हिसाबों की जाँच में समय नष्ट नहीं करना पड़ता और करदाता के लिए यह विधि अधिक सुविधाजनक होती है। परन्तु इस विधि में कुछ कठिनाइयाँ भी हैं, जैसे दुकानदारों, डाक्टरों, वकीलों आदि की आय स्रोत पर ही एकत्रित नहीं की जा सकती क्योंकि इनकी आय का कोई एक स्रोत नहीं होता, दूसरे इन लोगों को छोटी-छोटी मात्रा में भिन्न-भिन्न समय पर आय प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त आय के स्रोत पर एकत्रित करने में कर को प्रगतिशील नहीं बनाया जा सकता, क्योंकि इनकी कुल आय का अनुमान कभी भी नहीं लग पाता है। दूसरी विधि में एक तो यह लाभ होता है कि सभी प्रकार की आयों पर कर लगाना सम्भव हो जाता है, दूसरे इसमें कर को प्रगतिशील बनाया जा सकता है। इसमें सबसे बड़ी बुराई यह है कि कर की चोरी नहीं रोकी जा सकती। करदाता अपनी आय का गलत ब्यौरा बनाकर आय-कर विभाग को भेज सकता है और कर भुगतान करने से बच सकता है। इसीलिये व्यवहार में इन दोनों विधियों का मिश्रण पाया जाता है।

कर-वंचन के अतिरिक्त प्रत्यक्ष करों की दूसरी समस्या कर-परिवर्जन (avoidance) की है। यद्यपि इस समस्या का प्रादुर्भाव भी व्यक्तियों की अनैतिकता के कारण होता है, किन्तु सच तो यह है कि आय-कर अधिनियम में इतनी दरारें होती हैं और इतने दोष होते हैं कि व्यक्ति कर का परिवर्जन करने के लिए लालायित हो उठते हैं। इस प्रकार कर का परिवर्जन मुख्यतया कर अधिनियम की अपूर्णता के कारण उत्पन्न

7. *Ibid.*, p. 201.

होता है। प्रो० केल्डोर का विचार है कि पिछले १५—२० वर्षों में कर की सीमान्त दरों को कर-परिवर्जन की विस्तृत दरों को बनाये रखकर ऊँचा करने के लिए जो प्रयत्न किये गये हैं, उनका चरित्र अत्यन्त ही घातक है।[8] इनमें से कुछ दोष इस प्रकार हैं :— प्रथम, आय की स्पष्ट तथा व्यापक परिभाषा किसी भी अधिनियम में नहीं दी गई है। जिसका परिणाम यह होता है कि पूँजी लाभ-कर आय-कर अधिनियम की सीमा से बाहर ही रहता है। दूसरे, कुल आय में से जो खर्चों की कटौतियाँ की जाती हैं उनकी परिभाषा अति-व्यापक है, जिसका परिणाम यह होता है कि करदाता प्रत्येक प्रकार के खर्चों को सम्मिलित कर लेता है। तीसरे, व्यक्ति या कुटुम्ब की आय अथवा सम्पत्ति का कर के लिए वास्तविक योग, अधिनियम की दोषपूर्ण व्यवस्था के कारण संभव नहीं होता। चौथे, व्यक्ति अपनी सम्पत्ति को कुटुम्ब के विभिन्न सदस्यों में विभाजित करके, कर की प्रगतिशीलता से बचने का प्रयत्न करते हैं। पांचवें, सरकार सरकारी बांड और उन से प्राप्त होने वाली आय को कर-मुक्त घोषित करके, कर-परिवर्जन की सम्भावनायें और भी उत्पन्न कर देती है। छठे, धार्मिक ट्रस्टों की आय या तो पूर्णतया करमुक्त होती है या उस पर बहुत हल्का कर लगाया जाता है, जिसका परिणाम यह होता है कि धनी व्यक्ति कर भुगतान से बचने के लिए अपनी सम्पत्ति को ट्रस्ट में परिणत कर सकता है। अन्त में, कर अधिकारी आय तथा सम्पत्ति से सम्बन्धित पूरी सूचना प्राप्त करने में सफल भी नहीं हो पाते, क्योंकि एक तो कोई स्वयंचालित ऐसी व्यवस्था नहीं है जिसमें सम्पत्ति-सम्बन्धी सौदों की सूचना उन्हें स्वयं ही मिल जाये, दूसरे, करदाताओं से व्यापक ब्यौरा भी प्राप्त नहीं कर पाते, और तीसरे, आय तथा सम्पत्ति के छुपाने की जो सुविधायें अधिनियमों द्वारा प्रदान की गई हैं, उनके कारण भी अधिकारियों को आय तथा सम्पत्ति की सही तथा सम्पूर्ण सूचना नहीं प्राप्त हो पाती।

कर-परिवर्जन, चाहे किसी भी कारण सम्भव हो, किन्तु यह सारी स्थिति नैतिक एवं बौद्धिक पतन से परिपूर्ण है और ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे धोखा देने वाली एक ऐसी बड़ी योजना चालू है जिससे बड़े-बड़े अति-करों (Super Taxes) को मानो इन वायदों के बदले लागू किया गया हो कि उनको व्यावहारिक रूप नहीं दिया जायेगा।[9] कर-वंचन तथा कर-परिवर्जन को रोकने के लिए प्रो० केल्डोर ने आय कर के साथ-साथ सम्पत्ति कर लागू करने का सुझाव दिया है। उनका विश्वास है कि यदि दोनों कर एक ही अधिकारी द्वारा लगाये जायेंगे तो कर-प्रशासन की कुशलता बढ़ जायेगी।[10]

हम आय-कर के उत्पादन, वितरण, उपभोग और रोज़गार पर पड़ने वाले प्रभावों का अध्ययन कर ही चुके हैं।[11] अतः यहाँ पर उनको दोहराना बेकार ही है।

8. Indian Tax Reform, p. 11
9. Ibid.
10. Ibid., p. 21.
11. See Chapter 10 of this book.

अब हम आय-कर के लाभ तथा दोषों का वर्णन करके आय-कर सम्बन्धी सैद्धान्तिक विवेचना को समाप्त करेंगे। आयकर के लाभ निम्न प्रकार हैं :—

प्रथम, अन्य करों की अपेक्षा यह कर योग्यता-सिद्धान्त के अधिक अनुकूल है। दूसरे, इसके भार को किसी दूसरे व्यक्ति पर टाला नहीं जा सकता, इसीलिये यह पता लगाना अधिक सरल है कि कर का भार किस व्यक्ति या वर्ग पर पड़ रहा है। साथ ही सरकार निश्चित होकर उसी व्यक्ति या वर्ग पर कर का भार डाल सकती है जिस पर वह चाहती है। तीसरे, यह कर धन की असमानताओं को कम करने का एक शक्तिशाली अस्त्र है। चौथे, यह कर आर्थिक स्थिरता को बनाये रखने में भी सहायता करता है। पांचवें, यह कर लोचपूर्ण भी है। छठे, यह उत्पादक भी है। संकट के समय में सरकार दर को थोड़ा सा बढ़ाकर अधिक आय प्राप्त कर सकती है।

आयकर के मुख्य दोष निम्न प्रकार हैं :—

इस कर का मुख्य दोष यह है कि यह बचतों और विनियोगों को हतोत्साहित करता है और पूंजी के संचय में बाधक होता है। इसका देश के आर्थिक विकास पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। दूसरे, बहुत बार इस कर की भी चोरी हो जाती है। परन्तु यह दोष तो सभी प्रत्यक्ष करों में होता है। यदि यह देखा जाय तो यह कर का दोष नहीं है वरन् व्यक्तियों की बेईमानी का परिणाम है। बेईमानी को तो किसी प्रकार भी नहीं रोका जा सकता। इन्हीं दोषों के कारण गत वर्षों में प्रो० केल्डोर ने व्यय-कर (Expenditure Tax) लगाने पर जोर दिया है। हम इस अध्याय के प्रारम्भिक पृष्ठों में यह कह चुके हैं कि वास्तव में आय-कर को न्यायशील बनाने के लिए आय से प्राप्त सन्तुष्टियों के अनुसार कर निर्धारित होना चाहिये। परन्तु इस प्रकार के आधार में जो कठिनाइयाँ होती हैं उनका भी वर्णन हम कर चुके हैं। इसी कारण हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि व्यक्ति की मौद्रिक आय पर ही कर लगाना चाहिये; क्योंकि सन्तुष्टि तथा वास्तविक आय को उचित रूप से मापा नहीं जा सकता।

कारपोरेशन कर—व्यापारियों, कम्पनियों तथा निगमों की आय पर जो कर लगाया जाता है उसे कारपोरेशन कर कहते हैं। यह कर उस कर से बिल्कुल भिन्न होता है जो कि कम्पनी के हिस्सेदार अपनी आयों पर देते हैं। कारपोरेशन कर भी बिल्कुल व्यक्तिगत आय-कर के समान ही है और इसके सिद्धान्त इत्यादि आय-कर जैसे ही हैं। कभी-कभी इस विषय पर बड़ा वाद-विवाद होता है कि कम्पनियों की आय पर दो बार कर लगता है। एक तो कम्पनी की आय पर दूसरे हिस्सेदारों द्वारा प्राप्त आय पर। बहुत से लोगों का विचार है कि व्यापारिक कम्पनी हिस्सेदारों की ही संस्था होती है जो हिस्सेदारों की ओर से व्यापार करती है और जो कुछ आय प्राप्त करती है वह हिस्सेदारों की ही होती है। अतः इस मत के अनुसार हिस्सेदारों को दो बार कर का भुगतान करना पड़ता है जो अन्यायपूर्ण है। इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि इन दोनों करों में से केवल एक ही कर लिया जाय, या तो कारपोरेशन कर या आय-कर परन्तु यह तर्क आधारहीन है। व्यापारिक

कम्पनी हिस्सेदारों की ओर से अवश्य काम करती है परन्तु उसका अपना अस्तित्व होता है। इसलिये कारपोरेशन कर कम्पनी की आय पर लगता है और आय-कर हिस्सेदारों की आय पर लगाया जाता है। न्यायालयों ने भी यह स्वीकार किया है कि कारपोरेशन कर से हिस्सेदारों पर दुबारा कर नहीं लगता।

भारत में आय-कर—

भारतीय संविधान के अनुसार संघ सरकार द्वारा निम्न कर लगाये जा सकते हैं :—

ग़ैर-कृषि आय पर कर, सीमा-शुल्क, वस्तुओं पर उत्पादन कर, कारपोरेशन कर, पूँजी कर, कृषि भूमि के अतिरिक्त अन्य सम्पत्तियों पर जायदाद कर, रेल के किरायों तथा भाड़ों पर, स्टाम्प कर, समाचार पत्रों की बिक्री इत्यादि पर कर इत्यादि। परन्तु इन करों की आय का एक बहुत थोड़ा भाग ही संघ सरकार को प्राप्त हो सकेगा अर्थात् केवल आय-कर दवाइयों तथा शृंगार-सम्बन्धी वस्तुओं के अतिरिक्त वस्तुओं पर लगे हुए उत्पादन कर की आय का एक ही भाग प्राप्त हो सकेगा। शेष करों की आय राज्य सरकारों को प्राप्त होगी।

भारत में आय-कर का इतिहास—भारत में सबसे पहले सन् १८६० में आय-कर लागू किया गया था। सन् १८५७ की अशान्ति में भारत सरकार को धन की बहुत ही आवश्यकता थी, इसलिए सरकार ने इस कर का आश्रय लिया। प्रारम्भिक वर्षों में यह केन्द्रीय सरकार की आय का स्रोत था, परन्तु बाद में इसकी आय केन्द्र और राज्यों के बीच विभाजित होने लगी। सन् १९१९ के विधान-सम्बन्धी सुधारों के अधीन यह केन्द्रीय सरकार की ही आय का स्रोत बना रहा परन्तु यह निश्चित हुआ कि इसका एक भाग राज्य सरकारों को भी दिया जाए। इसी प्रकार सन् १९३५ के अधिनियम के अधीन भी आय-कर की आय का कुछ भाग राज्य सरकारों को प्राप्त होता रहा। यह केवल ओटो नीमियर की सिफारिशों का ही परिणाम था कि आय-कर का राज्यों को मिलने वाला प्रतिशत पहली बार निश्चित रूप से निर्धारित किया गया। ओटो नीमियर के सुझावों के अनुसार आय-कर की आय का ५० प्रतिशत भाग राज्यों में बाँटा जाने लगा। सन् १९५२ के वित्त-आयोग ने इस प्रतिशत को बढ़ाकर ५५ कर दिया, दूसरे वित्त-आयोग ने ६० कर दिया और तीसरे वित्त आयोग ने इस प्रतिशत को बढ़ाकर ६६$\frac{2}{3}$ कर दिया।

सन् १८६० में २०० से ५०० रुपये माहवार तक की आय पर २% की दर से और ५०० रुपये से ऊपर की सब आयों पर ४% की दर से कर लगाया गया था। ५ वर्ष के पश्चात् इसको समाप्त कर दिया गया। परन्तु १८६९ में फिर लागू किया गया। इसी प्रकार उलट-फेर होते-होते सन् १८८६ में इसको स्थायी रूप प्रदान किया गया। यह जान कर आश्चर्य होगा कि सन् १८६० से सन् १८८६ तक लगभग २६ वर्षों के अन्दर २३ कानून बनाये गए थे।

सन् १९२१ में आय-कर नियम की जांच करने के लिए अखिल भारतीय

आय-कर समिति के सामने नियम को रखा गया। समिति के सुझावों के अनुसार सन् १९२२ में वर्तमान आय-कर बनाया गया और १९३९ में इसमें बहुत महत्वपूर्ण परिवर्तन किये गये। इस अधिनियम के अनुसार भारत के निवासियों की विदेशों से प्राप्त आय पर भी कर लगना आरम्भ हो गया। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसी परिस्थितियों का वर्णन भी किया गया था जिनके अनुसार कर के दृष्टिकोण से करदाताओं को तीन वर्गों में विभाजित कर दिया गया था अर्थात् भारत के निवासी, ग़ैर-निवासी और वे व्यक्ति जो निवासी तो हैं परन्तु साधारणतया निवासी नहीं हैं। अन्तिम वर्ग पर पहले वर्ग की अपेक्षा कर का भार अधिक रखा गया। इस नियम में पहली बार व्यापारिक कम्पनियों की ६ साल तक की हानि को अगले वर्षों तक ले जाने की आज्ञा प्रदान की गई। "स्टेप प्रणाली" के स्थान पर "स्लैब प्रणाली" स्थापित की गई। इसके अतिरिक्त और भी बहुत से परिवर्तन किये गये थे। परन्तु इस नियम में बराबर संशोधन होते ही रहे। दूसरे महायुद्ध छिड़ने के कारण आय-कर के समुचित ढांचे में और परिवर्तन किये गये। अर्थात् आय-कर तथा अति-कर पर अतिरिक्त कर (surcharge) लगाये गये। कर-रहित सीमायें नीची कर दी गईं। कारपोरेशन करों की दरों को बढ़ा दिया गया और अत्यधिक लाभ-कर भी लगा दिये गये। साथ ही अनिवार्य बचत-योजना भी चालू कर दी गई। कर की दरें बहुत अधिक प्रगतिशील कर दी गई थीं। आय-कर की दरों की प्रगतिशीलता का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि आय-कर से जो आय सन् १९३९ में १५.२४ करोड़ रुपए थी वह सन् १९४६ में १९.१२ करोड़ रुपए हो गई थी। इसी अवधि में कारपोरेशन कर की आय २.०४ करोड़ रुपयों से बढ़कर ७.४० करोड़ रुपए हो गयी थी। यह ध्यान रहे कि यह वृद्धि केवल कर की ऊँची दरों के कारण ही नहीं थी बल्कि युद्धकाल में आयों में वृद्धि भी बहुत हुई थी। युद्ध के बाद आय-कर की दरों को कम कर दिया गया और विभिन्न प्रकार की रियायतें भी दे दी गईं। अत्यधिक लाभ-करों को समाप्त कर दिया गया और कर-रहित सीमाओं को ऊंचा कर दिया गया। सन् १९४७ में एक नया कर अर्थात् पूंजी लाभ-कर लगाया गया था परन्तु यह सन् १९४९ में समाप्त कर दिया गया।

सन् १९६६-६७ के बजट में व्यक्तियों के लिए छूट की न्यूनतम सीमा ३०००) से बढ़ाकर ३५००), अविवाहित व्यक्तियों के लिए २०००) से बढ़ाकर २५००) और एक से अधिक आश्रित बच्चे वाले विवाहित व्यक्तियों के लिए ४३००) से बढ़ाकर ४८००) कर दी गई है। इसके साथ-साथ सभी अ-निगमी (Non-corporate) करदाताओं द्वारा कमायी और बगैर कमायी हुई आमदनियों के सम्बन्ध में दी जाने वाली, आयकर और अधिभार (सरचार्ज) की रक़म पर १० प्रतिशत की समान दर से विशेष अधिभार लगाया गया . एक से अधिक बच्चे वाले विवाहित व्यक्ति को

जो कर की राशि (अधिभार सहित) देनी होगी वह निम्न प्रकार होगी :—

कुल आय (Total Income)	वार्षिक जमा (Annuity Deposit)	कर राशि	
		पूर्णतया उपार्जित आय	पूर्णतया अनुपार्जित आय
४५००	—	—	—
५०००	—	११	११
६०००	—	१२१	१,२१
७४००	—	२७५	२,७५
१०,०००	—	५६१	५,६१
१२,५००	—	६७४	६,७४
१५,०००	—	१३८६	१,३८६
१८,०००	६००	१८४८	१,६४०
२०,०००	१०००	२२६६	२,४४२
२४,०००	१८००	३२१२	३,५७७
२५,०००	१८८०	३५१६	३,६४२
३६,०००	२७००	८१५१	६,५०४
४०,०००	३०००	१०,१८६	११,६४६
४८,०००	४८००	१३,५६६	१६,०३८
६०,०००	६०००	१६,६७६	२३,८२६
७०,०००	७०००	२५,६१६	३१,२५१
७२,०००	८०००	२६,५७६	३२,०७६
१००,०००	१२,५००	४३,०४६	५२,६६७
२००,०००	२५,०००	१,०८,२६२	१,३०,८७०

(७) सन् १९६४ तक आय-कर के अतिरिक्त जो अति-कर लगाया जाता था उस पर भी विभिन्न प्रकार के अधिभार लगाये जाते थे, किन्तु सन् १९६४–६५ में केवल एक ही अधिभार कर दिया गया है जिसकी राशि भी केवल संघ सरकार को प्राप्त होगी। इसकी दरें उसी समान हैं जैसे आय-कर के अधिभार की हैं।

ऐन्युटी जमा योजना (Annuity Deposit Scheme) :—सन् १९६४–६५ में सरकार ने, अनिवार्य बचत योजना को समाप्त करके, ऐन्युटी बचत योजना चालू की; इसके अनुसार करदाताओं को १५,००० रु० से २०,००० रु० तक की आय पर ५%, २०,००० रुपये से ४०,००० रुपये तक की आय पर ७·५%, ४०,००० रुपये से ७०,००० रुपये तक की आय पर १०% और ७०,००० रुपये से ऊपर की आय पर १२·५% सरकार के पास जमा कराना होगा। कलाकार वर्ग, यदि चाहे तो इन दरों से ५% अधिक जमा करा सकता है। इस प्रकार जमा की गई राशि पर सरकार सूद देगी ौर मूलधन तथा सूद की कुल राशि को १० समान वार्षिक किश्तों में करदाताओं ो लौटा दिया जायेगा। इस योजना के अन्तर्गत जमा की गई राशि आय-कर

मुक्त होगी किन्तु योजना के अन्त में जब उसका भुगतान करदाताओं को किया जायेगा, तो उस राशि पर कर लगेगा।

ऐन्युटी जमा की छूट की सीमा को, सन् १९६६–६७ के बजट में, १५,००० रुपये से बढ़ाकर २५,००० रुपये कर दिया गया है। यह भी व्यवस्था की गई है कि यदि १५,००० रु० से २५,००० रु० तक की आमदनी वाले लोग भी रुपया जमा कराना चाहें तो करा सकते हैं और उन्हें जमा की गई रक़मों पर कर की छूट मिलेगी। ७० साल की उम्र पर पहुँचने वाले व्यक्तियों को ऐन्युटी जमा योजना से निकलने की छूट भी दी गई है।

इस वर्ष विदेशियों के लिए कुछ विशेष रियायतें की गई हैं। विदेशी तक़नीकी व्यक्तियों की भाँति इस वर्ष विदेशी शिक्षकों को भी यह छूट दे दी गई है कि उनकी आय पर ३ वर्षों तक कोई कर नहीं लगेगा। इसके अतिरिक्त जो विदेशी अपने बच्चों को भारत के बाहर शिक्षा दे रहे हैं तो उनको २,००० रु० प्रति बच्चा या कुल आय का २५%, जो भी कम हो, तक आय-कर की कुल राशि में से कटौती दी जायेगी।

इस वर्ष कर की प्रशासन-व्यवस्था में भी कुछ परिवर्तन किये गये। प्रत्येक व्यक्ति को आय-सम्बन्धी ब्यौरे पर यह घोषित करना होगा कि वह बिल्कुल सही है। आय का ब्यौरा जमा करने के एक माह के अन्तर्गत ही कर की राशि को जमा कर देना होगा अन्यथा दण्ड देना होगा।

पंजीकृत्त कम्पनियों पर आय-कर :—पंजीकृत कम्पनियों की आय के प्रथम २५,००० रु० कर रहित होते हैं। इस के ऊपर, चार या कम साझेदारों वाली कम्पनियों, की आय पर ५% से १०%, और ५ या अधिक साझेदारों वाली कम्पनियों की आय पर ७% से १२% की दर से कर लगेगा। इसके अतिरिक्त व्यावसायिक आय पर आय-कर का २० प्रतिशत और ग़ैर-व्यावसायिक आय पर आय-कर का १० प्रतिशत अधिभार भी लगाया जाता है जिसकी सम्पूर्ण राशि संघ सरकार को ही प्राप्त होती है।

भारतीय आय-कर की मुख्य विशेषतायें (कर जांच आयोग के सुझाव) :—सन् १९५५ में कर-जाँच आयोग ने भारत में आय-कर की दरों की तुलना अन्य देशों से करते हुए बताया कि भारत में प्रारम्भिक दरें अन्य देशों की तुलना में नीची थीं और प्रगतिशीलता का अंश बहुत ऊँचा था। उदाहरण के लिए १०,०००), १५,०००) और २५,०००) रुपयों तक के खण्डों पर कर की दर बहुत से देशों की तुलना में बहुत कम थी परन्तु २५,०००) के बाद एकदम बढ़नी आरम्भ हुई और ४०,०००) रुपयों पर बहुत ऊँची हो गई और यहां तक कि ७०,०००) रुपयों तक कर की दर इतनी ऊँची हो गई कि यू० के० के पश्चात् भारत का ही स्थान था। कर जाँच आयोग का यह सुझाव था कि आय-कर ढांचे को अधिक न्यायसंगत करने के लिए आय को अधिक खण्डों में विभाजित किया जाये, क्योंकि प्रारम्भिक खण्डों में करदाताओं की संख्या सबसे

अधिक थी। इस सुझाव को मानते हुए सन् १९५७ तक आय को ८ खण्डों में विभाजित कर दिया गया। आयोग ने अपनी खोज करने के बाद यह भी पता लगाया कि भारत में व्यक्ति उस समय तक आय-कर के क्षेत्र में नहीं आता जब तक कि उसकी आय, राष्ट्रीय प्रति व्यक्ति आय-स्तर (National Per Capita Income Level) से लगभग १५ गुनी नहीं हो जाती और इस स्तर से ५०० गुनी अधिक आय पर कर की दर सबसे ऊँची हो जाती है जबकि दूसरे देशों में यह गुणक (Multiples) बहुत नीचे हैं। इसके अतिरिक्त भारत में केवल १$\frac{1}{2}$ प्रतिशत व्यक्ति ही आय-कर का भुगतान करते हैं। इन कारणों से आयोग ने आय-कर को, उपस्थित असमानताओं (जो कि आय-कर का भुगतान करने वाले व्यक्तियों तथा उन व्यक्तियों में जिन पर आय-कर नहीं लगता, उपस्थित हैं) को दूर करने का एक शक्तिशाली अस्त्र बताया है। आयोग ने इस बात पर भी जोर दिया कि प्रारम्भिक खण्डों पर कर की दर न बढ़ा कर *न्यूनतम कर-रहित सीमा को नीचा कर दिया जाय।* आयोग की इस सिफारिश को स्वीकार करके सरकार ने सन् १९५७ में कर-रहित सीमा को कम करके ३,००० रुपयों पर निश्चित कर दिया था। यह ध्यान रहे कि कर-रहित सीमा को कम करने से प्रारम्भिक खण्डों के अन्तर्गत आने वाले करदाताओं को बहुत अधिक मात्रा में कर-भार सहन करना पड़ रहा है। साथ ही कर-रहित सीमा को नीचा करके छोटी-छोटी आय वाले व्यक्तियों से कर इकट्ठा करने का खर्चा भी बढ़ जाएगा। अतः इस उपाय से कोई भी लाभ नहीं होगा। इसलिए यह आवश्यक है कि प्रारम्भिक स्तर पर आय को और अधिक खण्डों में विभाजित कर दिया जाये। आयोग ने यह भी बताया कि क्योंकि ऊँचे खण्डों में ८५ प्रतिशत की दर से अधिक कर लगाने का विचार उचित नहीं है, इसलिए मध्यम खण्डों या बीच के खण्डों की आय पर कर की दरों को बढ़ाया जा सकता है। आयोग की इस सम्बन्ध में अन्तिम सिफारिश यह थी कि आय-कर की दरों को बढ़ाने के अतिरिक्त २५,००० रुपयों से अधिक की आयों के लिए एक विशेष कर एवं अनिवार्य बचत योजना (Surcharge-cum-Compulsory Deposit Scheme) चालू की जाये। इस योजना की पहली विशेषता तो यह होगी कि २५,००० रुपयों से अधिक आयों पर प्रगतिशील दर से विशेष कर लागू किया जायेगा। परन्तु करदाता को यह अधिकार होगा कि वह सरकार से एक दीर्घकालीन ऋण बहुत नीची सूद की दरों पर प्राप्त कर सके और उसका विनियोग सरकार द्वारा स्वीकृत उपयोगों में कर सके। इस योजना की दूसरी विशेषता यह होगी कि २५,००० रुपयों से अधिक आय प्राप्त करने वाले व्यक्तियों से प्रगतिशील दरों पर अनिवार्य रूप से जमा प्राप्त की जाये, जिसका भुगतान २० वर्षों के बाद बांड के रूप में किया जाए और यह बांड अगले २५ वर्षों के बाद भुनाये जा सकें। इस योजना से आयोग का यह उद्देश्य था कि धनी व्यक्तियों की खर्च करने की शक्ति कम हो जाए, जिससे वर्तमान बढ़ते हुए मूल्य कम होने लगें और आय की असमानताएँ भी कम हो जायें।

हम पहले कह चुके हैं कि आय-कर के भार को समान बनाने के लिए विभिन्न

प्रकार की कटौतियाँ तथा रियायतें दी जाती हैं। भारत में भी शुद्ध आय की गणना करते समय इस प्रकार की कटौतियाँ की जाती हैं। सबसे पहले सन् १६४५ में बिना कमाई हुई आय और कमाई हुई आय के बीच भेद किया गया था। कर जांच आयोग की (सन् १६५५) यह राय थी कि क्योंकि आय बढ़ने के साथ-साथ आयों के बीच में इस प्रकार का भेद करना कठिन हो जाता है और इसका महत्व भी नहीं रहता, इसलिए एक निश्चित सीमा जैसे २४,००० रुपए से कम की आय पर एक कमाई हुई आय का भत्ता (Earned Income Allowance) दे दिया जाए। इन सिफारिशों के बाद सन् १६५५ में ४५,००० रुपयों से नीचे की आय पर यह भत्ता दिया गया था। परन्तु कमाई हुई तथा बिना कमाई हुई आय के बीच का भेद फिर आरम्भ कर दिया गया। आयोग की यह भी सिफारिश थी कि विदेशों की भाँति भारत में भी नियमित रूप से कुटुम्ब भत्तों (Family Allowances) की व्यवस्था ३ वर्षों के अन्दर होनी चाहिए। उसका प्रस्ताव था कि इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए विवाहित व्यक्तियों के लिए कर-रहित सीमा २,००० रुपए और अविवाहित व्यक्तियों के लिए १,००० रुपए कर दी जाए। सन् १६५५ में इन सिफारिशों को व्यावहारिक रूप प्रदान कर दिया था परन्तु सन् १६५७ में विवाहित व्यक्तियों के लिए कर-रहित सीमा को पुनः बढ़ाकर ३,००० रुपए कर दिया गया। साथ ही दो बच्चों तक ३०० रुपए प्रति बच्चे की दर से बच्चों का भत्ता (Children Allowance) भी दिया जाने लगा।

इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि आय-कर का बचतों और पूंजी निर्माण पर बुरा प्रभाव पड़ता है। इसलिए आय-कर के बुरे प्रभावों को कम करने के लिए अन्य प्रकार की कटौतियाँ भी की जाती हैं जैसे प्राविधान कोष और बीमा सम्बन्धी राशियां (Provident Fund and Insurance Premium) इत्यादि। भारत में कुछ ऐसी व्यवस्था है कि जो भुगतान प्राविधान कोष में किये जाते हैं या बीमा सम्बन्धी किश्तों में किये जाते हैं (यदि यह कुल आय का $\frac{1}{5}$ या ८,००० रुपयों, इन दोनों में से जो भी कम हों, तक हैं) उन पर व्यक्ति को रिबेट दे दिया जाता है। इसी प्रकार की अन्य कटौतियाँ सन् १६४६ के आयकर अधिनियम में भी प्रस्तुत की गई थीं। मशीनों, इमारतों आदि की घिसावट आदि की कटौतियाँ भी फर्मों तथा कम्पनियों की शुद्ध आय की गणना करते समय कुल आय में से कर दी जाती हैं। इसी प्रकार की कुछ विशेष कटौतियों की सन् १६४६ से १६५१ तक के काल में आज्ञा दी गई थी। कर जांच आयोग ने उत्पादन तथा पूंजी निर्माण को प्रोत्साहित करने के लिए एक सामान्य योजना प्रस्तुत की थी। इस योजना के अनुसार उपक्रमों को ३ भागों में रक्खा गया था। प्रथम भाग में सभी उद्योगों में काम करने वाली कम्पनियों को सम्मिलित किया गया था। दूसरे वर्ग में कुछ चुने हुए उद्योगों को सम्मिलित किया गया था। यह उद्योग या तो राष्ट्रीय विकास की दृष्टि से महत्वपूर्ण होने चाहिये या ऐसे उद्योग हों जिनका विकास स्वयं अपने प्रयत्नों से न हो सके। यह उद्योग उत्पादकों की वस्तुओं वा पूंजीगत वस्तुओं से सम्बन्धित होने

चाहियें और इनका चुनाव आय-कर विभाग द्वारा न हो कर किसी अन्य संस्था द्वारा हो। तीसरे वर्ग में केवल वही थोड़े से उद्योग लिए जायें जिनका चुनाव सरकार समय-समय पर राष्ट्रीय महत्व की दृष्टि से करती रहे। कमीशन की सिफारिश थी कि पहले वर्ग के उद्योगों को जो अभी तक लाभ दिया जा रहा है वही भविष्य में भी दिया जाए, अर्थात् बिना बांटे हुए लाभों पर १ आना प्रति रुपये की दर से कटौती, दूसरे वर्ग के उद्योगों को एक विकास कटौती (Development Rebate) की सुविधा प्रदान की जाए। इस वर्ग की सभी कम्पनियों को यह सुविधा स्थायी पूंजी की वस्तुयें खरीदने के लिए दी जानी चाहिये और तीसरे वर्ग में चुने हुए उद्योगों में स्थापित होने वाली नई कम्पनियों से उत्पादन आरम्भ होने वाले वर्ष से ६ वर्षों तक कोई भी कर नहीं लिया जाए। इसके बाद ५ वर्षों तक साधारणतया घिसावट या दुगने तक की कटौती की सुविधा दी जाए। इन रियायतों के प्रभावों का हर ५ वर्षों के बाद अध्ययन किया जाए और जो भी स्थिति हो उसे भारतीय संसद के सामने रक्खा जाए। इन सब सुझावों से उद्योगों को मशीनें आदि खरीदने के लिए मशीनों की कुल लागतों का २५% तक का एक विकास कटौती का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया गया।

कर जाँच आयोग ने आय-कर विभाग की प्रशासन-सम्बन्धी कुशलता को बढ़ाने के लिए भी अपने सुझाव दिये थे। कमीशन का सुझाव था कि आय-कर विभाग के अफसरों को जनता के साथ अच्छा व्यवहार करना चाहिए और कर भुगतान की राशि निर्धारित करने में तथा प्राप्त किए हुए धन को लौटाने में अनावश्यक देरी नहीं करनी चाहिए, इत्यादि-इत्यादि। उसका प्रस्ताव था कि इस कार्य के लिए विशेष अफसर नियुक्त किए जायें।

पिछले कुछ वर्षों में आय-कर से प्राप्त आय की राशि इस प्रकार है :—

(करोड़ रुपयों में)

वर्ष	आय	वर्ष	आय
१९५०-५१	१३२·७३	१९६४-६५	२६८·००
१९५६-५७	१५१·७५	१९६५-६६	२६०·००
१९६१-६२	१६५·३९	१९६६-६७ अनुमानित	२७०·००

आय-कर का वंचन व्यक्ति के लिए कोई अनोखी बात नहीं है। यह तो प्रायः सभी देशों में प्रचलित है। कर जांच आयोग के अनुसार यह लगभग ३० और ४० करोड़ रुपये का होता होगा। परन्तु प्रो० केल्डोर का अनुमान था कि भारत में २०० से ३०० करोड़ रुपये के बीच में आय-कर की चोरी की जाती है। कुछ भी हो इतना अवश्य है कि आय-कर की चोरी की जाती है और इस चोरी को रोकना आवश्यक है, क्योंकि इससे केवल सरकारी आय ही कम नहीं होती बल्कि ईमानदार करदाताओं पर कर का भार भी अधिक हो जाता है। कर जाँच आयोग ने इसको

रोकने के लिए बहुत सी रीतियाँ बताई हैं जिनमें से एक यह भी है कि एक आय-कर पूछ-ताछ आयोग जैसी स्थायी संस्था स्थापित की जाय जिसका अध्यक्ष हाईकोर्ट के जज से नीची हैसियत का व्यक्ति न हो। इसने यह भी सुझाव दिया कि आय-कर निरीक्षकों को अधिक शक्ति प्रदान की जाये ताकि वे व्यापारियों के दफ्तरों पर छापा मार सकें और उचित आय-कर सम्बन्धी कागजों को बरामद कर सकें।

प्रो० केल्डोर का सुझाव था कि ऊँची आय वाले वर्गों के करदाताओं को, एक व्यापक ब्यौरा जिस में उनकी आय, व्यय, पूँजीगत सौदे, और शुद्ध धन का वृत्तान्त हो, देना चाहिये। यद्यपि इन सब सुझावों से लाभ होने की आशा है ही, किन्तु यह ध्यान रहे कि भारत में जब तक छोटे-छोटे व्यापारी, उद्योगपति, दूकानदार, इत्यादि जिनकी संख्या बहुत अधिक है और जो अपने व्यवसाय-सम्बन्धी आय-व्यय का कोई हिसाब नहीं रखते, आय-कर के क्षेत्र में नहीं लाये जाते, तब तक भारत में आय-कर-वंचन का अन्त नहीं होगा। इसके अतिरिक्त कर का बहुत अधिक वंचन इस कारण भी होता है कि कृषि आय को आय-कर के क्षेत्र में सम्मिलित नहीं किया गया है। जब करदाता अपनी आय को कृषि आय और सामान्य आय में विभाजित करता है तो गड़बड़ी होने की बहुत अधिक संभावना रहती है। कुछ राज्यों में कृषि आय कर लागू है और कुछ में नहीं। परिणामतया व्यक्तियों को अपनी आय कम करके बताने के लिए बड़ी सुविधा प्राप्त हो जाती है। बात यह है कि जिन राज्यों में कृषि आय-कर लागू किया गया है उसकी दर संघीय आय-कर की अपेक्षा नीची रक्खी गई है और करदाता अपनी आय के अधिकांश भाग को कृषि आय घोषित करके कर का वंचन कर लेते हैं। इसीलिये यह आवश्यक है कि जो कृषि आय-कर आजकल राज्यों द्वारा लगाया जा रहा है वह संघ सरकार द्वारा लागू किया जाए ताकि देश में आय की समुचित व्यवस्था स्थापित की जा सके और कर-वंचन को रोका जा सके।

कर-वंचन को रोकने के लिये यह भी आवश्यक है कि कर आय का कुशल एवं मितव्ययी उपयोग हो ताकि करदाताओं पर उसका अच्छा प्रभाव पड़े और उनमें भी ईमानदारी का संचार किया जा सके। सरकार को चाहिए कि वह शिक्षा आदि द्वारा कर-वंचन के बुरे परिणामों की ओर जनता का ध्यान आकर्षित करे। यह भी आवश्यक है कि आय-कर विभाग के कर्मचारी करदाताओं का सही प्रकार निर्देशन करें ताकि करदाता भी आय का सही ब्योरा देने के लिए प्रेरित हो सकें।

आय-कर विभाग ने पहले ही ऐसे कर्मचारी नियुक्त कर रक्खे हैं जो नये-नये करदाताओं का पता लगाते हैं और पुराने करदाताओं के विषय में सूचना एकत्रित करते हैं। यह आवश्यक है कि इस व्यवस्था को और भी अधिक मजबूत किया जाये। साथ ही यह भी आवश्यक है कि आय-कर विभाग को करदाताओं के विषय में अन्य कर विभागों जैसे बिक्री-कर, सीमा शुल्क इत्यादि से आवश्यक सूचनाएँ प्राप्त होती रहें ताकि वह अपने करदाताओं की आय की सही-सही जाँच कर सकें। कर-वंचन की सीमा को रोकने के लिए यह भी आवश्यक है कि कम्पनी करारोपण के

ढांचे को अधिक सीधा-सादा वनाया जाए। कम्पनी आय पर विभिन्न प्रकार के करों को लागू करने से कम्पनी करारोपण का ढांचा अत्यन्त जटिल हो गया है। जिसका परिणाम यह है कि करदाता अपने लाभों को विनियोगों में लाने के लिए हतोत्साहित हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त व्यवस्था में अकुशलता भी उत्पन्न हो जाती है।

कार्पोरेशन-कर—कार्पोरेशन-कर के अन्तर्गत हम उन करों को सम्मिलित करते हैं जो कम्पनियों पर लगाये जाते हैं। पिछले वर्षों में कार्पोरेशन-करों में काफ़ी महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। सन् १९५९-६० तक कम्पनियों पर जो अतिकर (सुपर-टैक्स) लगाया जाता था उसे कार्पोरेशन-कर कहते थे। सन् १९६०-६१ में आय-कर को भी इसके अन्तर्गत शामिल कर लिया। सन् १९६५ से कम्पनियों पर लगने वाले आय-कर तथा अतिकर को मिला दिया गया। हमारे देश में कार्पोरेशन करारोपण (१९६६-६७) की मुख्य विशेषताएँ निम्न प्रकार हैं।

देशी कम्पनियों पर, उनके द्वारा जारी किये गये बोनस शेयरों की रकम के आधार पर १२·५ प्रतिशत की दर से लगने वाले कर को सन् १९६६-६७ से समाप्त कर दिया गया। सन् १९६५-६६ के अन्त तक, कम्पनियों पर ७·५ प्रतिशत की दर से जो लाभांश-कर लगाया जाता था वह आम तौर पर पिछले वर्ष बाटें गये या घोषित किये गए लाभांश की पूरी रक़म पर लगाया जाता था। किन्तु सन् १९६६-६७ के बजट में जो व्यवस्था की गई उसके अनुसार यह कर सामान्य पूँजी पर घोषित किये गये या बाटें गए लाभांश के केवल उस भाग पर लगाया जाता है जो कुल सामान्य पूँजी के १० प्रतिशत से अधिक हो। कम्पनी अधिकर अधिनियम सन् १९६४ में दी गई अधिकर की ४० प्रतिशत की दर को कम कर के ३५ प्रतिशत कर दिया गया। कम्पनियों पर लगने वाले बुनियादी कार्पोरेशन-कर की प्रभावी दरों को अब पहले से और अधिक कर दिया गया जैसे जीवन बीमा सम्बन्धी कारोबार से होने वाले लाभ पर लगने वाले कर की दर को ४७·५ प्रतिशत से बढ़ा कर ५२·५ प्रतिशत कर दिया गया है। जिन देशी कम्पनियों में जनता के काफी शेयर हैं और जिनकी कुल आमदनी २५ हजार रुपये से अधिक नहीं है, उन पर कर की दर ४२·५ प्रतिशत से बढ़ाकर ४५ प्रतिशत और जिनकी आमदनी २५ हजार से अधिक है उन पर कर की दर ५० प्रतिशत से बढ़ाकर ५५ प्रतिशत हो गई है। अधि-नियन्त्रित कम्पनियों के लिये मौजूदा सामान्य दर को ६० से बढ़ाकर ६५ प्रतिशत और औद्योगिक कम्पनियों को पहले १० लाख रुपये की आमदनी पर लगने वाले कर की रियायती दर को ५० से बढ़ाकर ५५ प्रतिशत कर दिया गया है। विदेशी कम्पनियों के सम्बन्ध में रायल्टी और फीस पर लगने वाले कर की प्रभावी दर वही रही अर्थात् ५० प्रतिशत लेकिन दूसरी आमदनियों पर कर की दर ६५ से बढ़ाकर ७० प्रतिशत कर दी गयी।

देश के विकास के लिये ऐसे उद्योगों को जिन्हें विदेशी टैकनोलॉजीकल ज्ञान तथा सेवाओं की आवश्यकता है, उन को कुछ विशेष सुविधाएं दी गई हैं। भारतीय कम्पनियों द्वारा प्राप्त किये गए टैकनोलॉजीकल ज्ञान या सेवाओं के बदले दिये गये शेयरों

पर, किसी विदेशी कम्पनी से प्राप्त लाभांश पर केवल २५ प्रतिशत की रियायती दर से कर लगाया जाता है। यह दर भारतीय कम्पनियों को किसी विदेशी कम्पनी से प्राप्त रायल्टी, कमीशन, शुल्कों आदि के सम्बन्ध में भी लागू होगी।

हमारे देश में प्राथमिकता प्राप्त उद्योगों को दो सूचियों में बाँटा गया है। एक वह सूची जिसमें उद्योगों को ३५ प्रतिशत की विकास छूट प्राप्त करने का अधिकार होता है, दूसरी वह जिसके अनुसार बुनियादी कार्पोरेशन-करों के सम्बन्ध में रियायत मिलती हैं। पहली सूची में चाय, अखबारी कागज और छपाई की मशीनों के तीन उद्योगों को और शामिल कर लिया गया है। यह सूची-कर की दर में रियायत देने के लिये भी लागू होगी। सन् १६६६-६७ के बजट में रियायत के रूप में कुछ परिवर्तन किये गये हैं। पहले कम्पनियों को प्राथमिकता-प्राप्त उद्योगों से होने वाली आमदनी के सम्बन्ध में आय-कर तथा अधिकर में विशेष छूट दी जाती थी किन्तु अब संबद्ध कम्पनियों की कुल कर योग्य आमदनी का हिसाब लगाते समय प्राथमिकता प्राप्त उद्योगों से हुए लाभ में सीधे ८ प्रतिशत की छूट दे दी जाती है। जहाजरानी उद्योग के लिये पहले वास्तविक विकास छूट का ७५ प्रतिशत भाग रिज़र्वस् में डाला जाना जरूरी था। किन्तु अब इस भाग को घटाकर ५० प्रतिशत कर दिया गया है ताकि नई पूँजी लगाई जाने के लिये प्रोत्साहन मिल सके। चाय उद्योग को प्रोत्साहन देने के लिये कुछ विशेष उपाय किये गये हैं। नये पौधे लगाने के लिये विकास छूट की मौजूदा दर को, जो पौधे लगाने की वास्तविक लागत का ४० प्रतिशत था, बढ़ा कर ५० प्रतिशत कर दिया गया है और फिर से पौधे लगाने के सम्बन्ध में २० प्रतिशत से बढ़ा कर ३० प्रतिशत कर दिया गया है। यह छूट दो बार दी जायेगी : पहले उस वर्ष के बाद के वर्ष के लिये, जब पौधे लगाने या उन्हें दुबारा लगाने के लिये जमीन तैयार की गई हो, उस वर्ष तक किये गये खर्च के आधार पर दी जायेगी बाकी चौथे वर्ष के लिये। इसी प्रकार इमारतों, फरनीचर, औजारों तथा मशीनों को दिये जा सकने वाले डेप्रीसिएशन की दर सूची को भी सरल बनाने के लिये उपाय किये गये हैं। छोटे वित्तीय निगमों के लिये, जिनकी चुकता पूँजी ३ करोड़ रुपये से अधिक नहीं है, कटौती की दर को कुल पूँजी के १० प्रतिशत से बढ़ाकर २५ प्रतिशत कर दिया गया है। अधि-नियंत्रित कम्पनियों के सम्बन्ध में यह निश्चय लिया गया है कि जिनके ४० प्रतिशत शेयर सरकार, पब्लिक कार्पोरेशनों और जनता के पास हैं उनको पूर्ण नियंत्रित समझा जायेगा। दूसरे वे कम्पनियाँ जो मुख्यतया जहाज बनाने के काम में लगी हुई हैं, इस बात के लिये मजबूर नहीं की जाएगी कि वे सांविधिक प्रतिशत तक अपने लाभ का वितरण करें। अन्त में अधि-नियंत्रित कम्पनियों द्वारा किये गये कुछ किस्म के खर्चे, जो अब तक शामिल नहीं होते थे अब आमदनी का हिसाब लगाते समय शामिल किये जाएँगे।

कारपोरेशन-कर से सन् १६५७–५८ में ५६·१३ करोड़ रुपये प्राप्त हुए थे, सन् १६५८–५६ में ५६ करोड़, सन् १६६०–६१ में १११·०५ करोड़ रुपये, १६६१–६२ में १६० करोड़, १६६३–६४ में २७५·०० करोड़, और १६६४–६५ में ३४२·००,

१९६५–६६ में ३३०·०० करोड़ और १९६६–६७ में ३६७·०७ करोड़ रुपया प्राप्त होने की आशा है।

प्रो० केल्डोर ने भारतीय कर-प्रणाली पर अपने सुधार-सम्बन्धी विचार प्रकट करते हुए यह प्रस्ताव दिया था कि भारत में आय-कर और अति-कर के स्थान पर केवल आय-कर ही लागू किया जाये जो व्यक्तियों और साझेदारों इत्यादि के लिए २५,००० रुपयों की वार्षिक आय तक प्रगतिशील हो और उसके ऊपर की सभी आयों पर कर ७ आने प्रति रुपये की दर से समान हो। इस प्रकार कर की सबसे ऊँची दर ४५% होगी। प्रो० केल्डोर का प्रस्ताव था कि कम्पनियों पर वर्तमान आय-कर और कारपोरेशनकर के स्थान पर केवल एक ही कर उनकी कुल आय पर लगाया जाये जिसकी दर प्रत्येक आय के लिए ७ आने प्रति रुपया हो। प्रो० केल्डोर का यह प्रस्ताव उनके द्वारा प्रस्तुत की गई करारोपण की समुचित योजना का एक ही मुख्य अंग था। परन्तु जबकि सरकार ने उनके द्वारा प्रस्तावित सभी नये करों को लागू कर दिया है, आय-कर की दरों को अभी तक कम नहीं किया है। इसका मुख्य कारण यह है कि आय-कर की दरों को कम करने से जो आय की हानि होगी वह नये करों द्वारा पूरी नहीं हो सकेगी। इसके अतिरिक्त प्रो० केल्डोर की समुचित योजना के अनुसार सारे करों (पूंजी-लाभ कर, वार्षिक धन कर, व्यय कर और उपहार कर) से सम्बन्धित हिसाब-किताब एक साथ ही देना पड़ेगा। परन्तु क्योंकि यह सब होना इतनी जल्दी सम्भव नहीं था इसलिए प्रो० केल्डोर द्वारा प्रस्तुत आय-कर सम्बन्धी सुझावों की ओर अभी तक कोई भी ध्यान नहीं दिया गया।

अध्याय १८

संघ सरकार की आय के स्रोत (क्रमशः)

सम्पत्ति करारोपण—(मृत्यु-कर)

SOURCES OF REVENUE OF THE UNION GOVERNMENT (CONTD.)

Property Taxation—(Death-Duties)

प्राक्कथन—

आजकल पूंजीगत वस्तुओं पर कर लगाने की प्रथा सामान्य रूप से संसार के प्रत्येक देश में ही प्रचलित है। आर्थिक शब्दों में पूंजी धन के उस भाग को कहते हैं जो अधिक धन की उत्पत्ति करता है अर्थात् मशीनें इत्यादि। परन्तु करारोपण की दृष्टि से पूंजी शब्द का अर्थ काफी विस्तृत है और इसके अन्तर्गत सभी प्रकार की वस्तुओं के बिना बिके कोषों (Stock) को सम्मिलित किया जाता है। इसके अन्तर्गत अचल सम्पत्ति जैसे भूमि तथा इमारतें और चल-सम्पत्ति जैसे फरनीचर, जेवर आदि प्रतिभूतियाँ (Securities) और मुद्रा सम्मिलित होती हैं।

प्राचीन समय से ही यह एक विवादग्रस्त विषय चला आ रहा है कि पूंजी पर कर लगाया जाय या नहीं। प्राचीन लेखकों का कुछ ऐसा विचार था कि पूंजी की अपेक्षा आय पर कर लगाना अधिक लाभप्रद होगा, क्योंकि पूंजी कर एक तो उपस्थित पूंजी की मात्रा को कम कर देता है और दूसरे, भविष्य में पूंजी के विकास में बाधा उत्पन्न करता है। परन्तु कुछ लेखकों का विचार है कि पूंजी कर हानिकारक नहीं होता है क्योंकि यह अन्य करों की भांति समाज की चालू सम्पत्ति में से ही दिया जाता है।[1] परन्तु क्योंकि चालू उत्पत्ति का कुछ भाग बचतों में चला जाता है और कुछ भाग उपभोग में आता है, इसलिए प्रश्न यह है कि पूंजी कर का भुगतान कुल उत्पत्ति के बचतों वाले भाग में से होगा या उस भाग में से जिसका उपयोग उपभोग कार्यों से होता है। यह कई बातों पर निर्भर करेगा, जैसे कर की प्रकृति अर्थात् कर बार-बार उत्पन्न होने वाला है या केवल एक बार ही उत्पन्न होने वाला है, करदाता की मनोवृत्ति इत्यादि। यदि कर का भुगतान केवल एक बार ही करना है तो वह बचतों में से किया जा सकता है और यदि कर का भुगतान बार-बार होना है तो भविष्य में करदाता की आय सम्बन्धी मांग पर निर्भर करेगा। यदि आय-सम्बन्धी

1. Pigou : *Economics of Welfare*, p. 20.

माँग लोचपूर्ण है तो बचतों में से भुगतान किया जाएगा अन्यथा उपभोग को कम कर के कर का भुगतान किया जाएगा। प्राचीन लेखकों का यह विचार कि सम्पत्ति कर उत्पादन को कम करेगा उचित नहीं है, क्योंकि उत्पादन विनियोगों द्वारा प्रोत्साहित होता है और सम्पत्ति कर केवल बचतों को ही निरुत्साहित करता है। इसलिए उत्पादन पर कोई विशेष बुरा प्रभाव नहीं पड़ेगा।

व्यक्तियों की कर-दान योग्यता को आंकने के लिए भी सम्पत्ति केवल आय को छोड़कर अन्य वस्तुओं की अपेक्षा अधिक अच्छा आधार है, क्योंकि सम्पत्ति से कर-दाताओं की तुलनात्मक आर्थिक शक्ति का अनुमान भली-भांति लगाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त सम्पत्ति कर द्वारा समाज में धन के वितरण को अधिक समान किया जा सकता है। अधिकतर देशों में जो सम्पत्ति कर लगाए गए हैं उनमें मुख्य मृत्यु-कर, पूंजीगत वस्तुओं पर कर, धन पर कर और उपहार कर हैं। हम इनमें से प्रत्येक का वर्णन निम्न पृष्ठों में करेंगे :—

मृत्यु-कर

मृत्यु-कर वह कर है जो मृत्यु के पश्चात् व्यक्ति द्वारा छोड़ी हुई सम्पत्ति के हस्तान्तरण पर लगाया जाता है। अतः यह कर मृतक व्यक्तियों के उत्तराधिकारियों से प्राप्त किया जाता है। इस कर के साधारणतया दो रूप होते हैं। प्रथम, जायदाद कर (Estate duty) और दूसरा उत्तराधिकार कर। जायदाद कर मृतक व्यक्ति द्वारा छोड़ी गई कुल सम्पत्ति चल हो या अचल के उत्तराधिकारियों में बांटे जाने से पहले ही वसूल कर लिया जाता है। इसमें इस बात को कोई महत्त्व नहीं दिया जाता कि मृतक व्यक्ति की सम्पत्ति किसको प्राप्त हो रही है, इस व्यक्ति का मृतक व्यक्ति से क्या सम्बन्ध है, इत्यादि। दूसरी ओर उत्तराधिकार कर में मृतक व्यक्ति की सम्पत्ति का बँटवारा हो जाने के बाद सम्पत्ति प्राप्त करने वाले उत्तराधिकारियों पर अलग-अलग कर लगाया जाता है। अतः इसमें केवल यही नहीं देखा जाता कि किसी विशेष उत्तराधिकारी को कितनी सम्पत्ति मिली है, वरन् यह भी देखा जाता है कि सम्पत्ति प्राप्त करने वाले व्यक्ति का मृतक व्यक्ति से कैसा सम्बन्ध है—निकट का या दूर का; उत्तराधिकारी की अपनी निजी सम्पत्ति तथा प्राप्त की हुई सम्पत्ति का सामूहिक मूल्य क्या है, इत्यादि। व्यवहार में उत्तराधिकारी का सम्बन्ध मृतक व्यक्ति से जितना दूर का होता है उतनी ही कर की दर अधिक होती है और जितना निकट का होता है उतनी ही कम होती है। प्रबन्ध के दृष्टिकोण से मृत्यु-कर का पहला रूप दूसरे की अपेक्षा अधिक सरल तथा मितव्ययी होता है। साथ ही साथ उत्पादक भी अधिक होता है। कारण यह है कि उत्तराधिकार कर में सम्पत्ति के हिस्सों का मूल्य निर्धारित करने तथा उत्तराधिकारियों के सम्बन्ध में पूछताछ करने में अधिक व्यय होता है और कर की दरें निश्चित करने में भी अधिक मनमाने ढंग से काम लिया जाता है। साथ ही साथ उत्तराधिकार कर में कर-दान योग्यता को अधिक महत्व दिया जाता है जिसका सही रूप से पता लगाना मामूली

काम नहीं है। परन्तु न्यायपूर्णता की दृष्टि से यह जायदाद कर की अपेक्षा अधिक अच्छा है क्योंकि इसका भार अलग-अलग व्यक्ति पर उनकी कर-दान योग्यता के अनुसार पड़ता है।

आजकल मृत्यु-कर संसार के लगभग सभी प्रगतिशील देशों में लगा हुआ है। इसका इतिहास काफी पुराना है। कुछ अर्थशास्त्रियों का विचार है कि यह कर मिस्र में ईसा से ७ शताब्दी पहले भी उपस्थित था परन्तु निश्चित रूप से इसकी उपस्थिति रोम के राजा ऑगस्टस के काल में हमारे सामने आती है। ऑगस्टस ने यह कर सैनिकों को अधिक सहायता तथा वेतन देने के लिए उत्तराधिकार में प्राप्त सम्पत्ति तथा उपहार पर ५% की दर से लगाया था। धीरे-धीरे यह कर सम्पूर्ण देश में फैल गया और इसकी दर उत्तराधिकारियों को प्राप्त होने वाली सम्पत्ति के हिस्से तथा मृतक व्यक्ति से सम्बन्ध की निकटता पर निर्भर करती थी। मध्यकालीन युग में उत्तराधिकार कर तो साधारण सी बात हो गई थी और इसके बाद लगभग सभी यूरोप के देशों में अब [मृत्यु-कर लागू कर दिया गया है। आजकल ब्रिटेन ही एक ऐसा राज्य है जिसको मृत्यु-कर से सबसे अधिक आय प्राप्त होती है। आरम्भ में यह कर केवल व्यक्तिगत पूँजी पर ही लगाया गया था, परन्तु सन् १८५३ से यह सभी प्रकार की सम्पत्ति पर लगाया जाने लगा। ब्रिटेन में जायदाद कर तथा उत्तराधिकार कर दोनों एक साथ लगाये जाते हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका में इसका आरम्भ सन् १९१६ में हुआ।

मृत्यु-कर के विभिन्न सिद्धान्त—मृत्यु-कर सबसे प्राचीन करों में से एक है। विभिन्न आधारों पर इसको न्यायसंगत सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है और समय-समय पर करारोपण से सर्व स्वीकृत सिद्धान्तों के अनुकूल बताने की चेष्टा विभिन्न लेखकों ने की है। इसका संक्षिप्त वर्णन हम निम्न पृष्ठों में करेंगे :—

(१) **लाभ-सिद्धान्त**—लाभ-सिद्धान्त के अनुसार मृत्यु-कर सरकार की उस सेवा का भुगतान है जिसके द्वारा वह विभिन्न वारिसों को इस बात का आश्वासन देता है कि मृतक व्यक्ति की जायदाद का बँटवारा उसकी इच्छानुसार होगा और जब मृतक व्यक्ति कोई वसीयतनामा नहीं लिख पाता है तब सरकार जायदाद के बँटवारे को समाज की इच्छानुसार करने की व्यवस्था करती है। लाभ-सिद्धान्त केवल यह बताने में सहायक सिद्ध होता है कि मृत्यु-कर केवल वसीयतनामे को प्रमाणित करने का शुल्क (Probate Fee) मात्र है। इसके अतिरिक्त यह सिद्धान्त कुछ और सिद्ध नहीं करता। आधुनिक समय में जबकि मृत्यु-कर वसीयतनामे को प्रमाणित करने के शुल्क को एकत्रित करने के अतिरिक्त भी लगाया जाता है और अपनी दरों में प्रगतिशील भी होता है तब लाभ-सिद्धान्त मृत्यु-कर के लिए एक उचित सैद्धांतिक आधार प्रस्तुत करने में असमर्थ रहता है।[2]

(२) **राज्य की साझेदारी**—कुछ लेखकों का विचार है कि क्योंकि सरकार निष्क्रिय रूप से सभी प्रकार की विनिमय शक्ति (Value) को उत्पन्न करने में भाग

2. Philipe, E. Taylor : *The Economics of Public Finance*, p. 495.

लेती है इसलिए उसको अधिकार है कि वह सभी जायदादों के वितरण में से हिस्सा प्राप्त करे।[3] अतः मृत्यु-कर न्यायसंगत है। परन्तु इस सिद्धान्त के आधार पर आधुनिक मृत्यु करारोपण को उचित सिद्ध करना ठीक न होगा। प्रथम, जिस प्रकार यह सिद्धान्त मृत्यु-कर के सम्बन्ध में लागू किया जाता है उसी प्रकार यह आय-कर के सम्बन्ध में लागू किया जा सकता है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि जब किसी देश में आय-कर लागू कर दिया गया है, तो उसके साथ-साथ मृत्यु-कर नहीं लगाया जा सकता। परन्तु व्यवहार में ऐसा नहीं होता। यदि ऐसा किया जाये तो आधुनिक सरकारों को पर्याप्त आय भी प्राप्त नहीं होगी। इस सिद्धान्त को स्वीकार करने में एक कठिनाई यह भी है कि छोटी-बड़ी सभी जायदादों के हस्तान्तरण पर कर लागू किया जाये। क्योंकि सरकार सभी प्रकार की जायदादों की उत्पत्ति में सहायता करती है। इस प्रकार यह समझ में नहीं आता कि यह सिद्धान्त, मृत्यु-कर की प्रगतिशीलता और छोटी जायदादों के कर-मुक्त रहने के तथ्यों का स्पष्टीकरण किस प्रकार करता है। साथ ही यह इसको भी स्पष्ट करने में असमर्थ रहता है कि जब सरकार व्यापारिक लाभों में से हिस्सा बँटाती है तो व्यापारिक हानियों में हिस्सेदार क्यों नहीं होती।[4]

(३) **पिछला कर-सिद्धान्त**—इस सिद्धान्त के प्रतिपादकों का विश्वास है कि मृत्यु-कर एक ऐसा अस्त्र है जिसके द्वारा उन करों को एकत्रित कर लिया जाता है जिनका भुगतान मृतक व्यक्ति ने अपने जीवन काल में नहीं किया था।[5] इस सिद्धान्त को स्वीकार करने में पहली कठिनाई तो यह है कि यह कैसे निश्चित किया जाये कि उपस्थित जायदाद का कितना भाग पिछले करों के भुगतान न करने के कारण जमा हुआ है। इसके अतिरिक्त यदि मृत्यु-कर केवल चोरी किये गये करों को एकत्रित करने का एक साधन मात्र है, तो फिर यह सम्पूर्ण जायदाद और सभी प्रकार की सम्पत्तियों पर क्यों लगाया जाता है? यह केवल उसी सम्पत्ति पर क्यों नहीं लगाया जाता जो करों की चोरी के कारण उत्पन्न हुई है। यह सोचना भी मूर्खता है कि इतनी बड़ी सम्पत्ति करों की चोरी करके जमा की जा सकती है और यह भी अनुमान इसलिए उचित नहीं है कि सम्पत्ति का होना इस बात का प्रमाण है कि भूतकाल में करों की चोरी की गई थी।[6]

(४) **कर-दान योग्यता सिद्धान्त**—बहुधा मृत्यु-कर का समर्थन इस आधार पर किया गया है कि यह कर व्यक्तियों की कर-दान योग्यता सिद्धान्त के अनुकूल है। यह सिद्धान्त इस बात की ओर ध्यान दिलाता है कि व्यक्तियों में अन्य करों के भुगतान करने की योग्यता में सम्पत्ति के हस्तान्तरण से जो अतिरिक्त कर-दान योग्यता उत्पन्न होती है उस योग्यता पर मृत्यु-कर लगाया जाता है। दूसरे, किसी व्यक्ति के

---

3. Seligman : *Essays in Taxation*, 1913, p. 129.
4. Philipe, E. Taylor : *Op. cit.*, p. 496,
5. Seligman : *Op. cit.*, p. 135.
6. Philipe, F. Taylor : *Op. cit.*, p. 497.

अधिकार में सम्पत्ति होने की बात स्वयं यह सिद्ध करती है कि उसकी आर्थिक शक्ति उन व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक है जिनके पास कोई भी सम्पत्ति नहीं है। इसलिए उनकी कर देने की योग्यता अधिक है। तीसरे, मृत्यु कर ऐसे समय पर एकत्रित किया जाता है जब कि व्यक्ति को सम्पत्ति प्राप्त होती है और ऐसे व्यक्ति में उस समय कर का भुगतान करने की सामर्थ्य होती है। अन्त में मृत्यु-कर, विशेष रूप से उत्तराधिकारी करों को, प्रगतिशील बनाया जा सकता है और कर-भार का उचित वितरण किया जा सकता है।

योग्यता सिद्धान्त के अनुसार मृत्यु-करों की दरों को दो दिशाओं में प्रगतिशील बनाया जा सकता है। प्रथम, जायदाद के आकार के विस्तार के अनुसार और दूसरे, मृतक व्यक्ति और वारिसों के आपसी सम्बन्ध की दूरी के अनुसार। जायदाद के आकार के अनुसार दरों को प्रगतिशील निम्न प्रकार से बनाया जा सकता है :—

(१) प्रथम, मृतक व्यक्ति द्वारा छोड़ी हुई सम्पत्ति के मूल्य के अनुसार; अर्थात् ऊँचे मूल्य वाली सम्पत्तियों पर ऊँची दर और कम मूल्य वाली सम्पत्तियों पर नीची दर और एक निश्चित सीमा से नीची सम्पत्ति को कर-मुक्त करके। इस प्रकार की प्रगतिशीलता जायदाद कर (Estate Duty) में स्थापित की जाती है। परन्तु एक ही सम्पत्ति के विभिन्न वारिसों में कर की दर को प्रगतिशील नहीं बनाया जा सकता। क्योंकि सम्पूर्ण सम्पत्ति का मूल्य एक साथ ही आँका जाता है और कर की राशि का बँटवारा विभिन्न वारिसों में प्राप्त की हुई सम्पत्ति के अनुपात में कर दिया जाता है। इस प्रकार जायदाद-कर अनुपातिक होता है।

(२) दूसरे, कर की दरों को वारिस विशेष द्वारा प्राप्त की गई सम्पत्ति के अनुसार प्रगतिशील बनाया जा सकता है। जिन वारिसों को बड़ी सम्पत्ति प्राप्त हो उन पर छोटी सम्पत्ति प्राप्त करने वालों की अपेक्षा ऊँची दर पर कर लगाया जाये। उत्तराधिकार कर की दर में इसी प्रकार प्रगतिशीलता लाई जाती है। इस प्रकार के कर की प्रगतिशीलता अधिक न्याय-संगत है, क्योंकि यह पूर्ण रूप से कर-दान योग्यता के अनुकूल होती है। परन्तु जायदाद कर की अपेक्षा इस कर का प्रबन्ध करना सरल नहीं होता। कभी-कभी उत्तराधिकार कर को अधिक न्याय-संगत बनाने के लिए उस सम्पत्ति को भी सम्मिलित कर लिया जाता है जो किसी व्यक्ति के पास उत्तराधिकार में प्राप्त हुई सम्पत्ति के पहले से उपस्थित थी। अतः किसी धनी व्यक्ति को उत्तराधिकार में प्राप्त होने वाली छोटी सी सम्पत्ति पर ऊँची दर से कर लगाया जा सकता है और कर को अधिक प्रगतिशील बनाया जा सकता है।

मृतक व्यक्ति और उत्तराधिकारी के आपसी सम्बन्धों की निकटता या दूरी के अनुसार भी मृत्यु-कर की दरों को प्रगतिशील बनाया जा सकता है। विभिन्न देशों में उत्तराधिकारियों को तीन वर्गों में विभाजित किया गया है। प्रथम वर्ग में प्रत्यक्ष उत्तराधिकारियों जैसे, पति अथवा पत्नी, बच्चे, माता, पिता, दादा अथवा दादी और पोता अथवा पोती। दूसरे वर्ग में अप्रत्यक्ष (Collateral) उत्तराधिकारी सम्मिलित किये जाते हैं जैसे भाई, बहन, सम्बन्धित भाई, बहन, चाचा, चाची, मामा, मामी

इत्यादि। और तीसरे वर्ग में वे सभी व्यक्ति सम्मिलित किये जाते हैं जिनका मृतक व्यक्ति से कोई खून का सम्बन्ध नहीं होता। प्रथम वर्ग के व्यक्तियों के सम्बन्ध में कर-रहित सीमा ऊँची रहती है और कर की दर अपेक्षाकृत नीची होती है। दूसरे वर्ग के व्यक्तियों के लिए कर-रहित सीमा नीची होती है और ऊँची प्रगतिशील दरें होती हैं और तीसरे वर्ग के व्यक्तियों के लिए कर-रहित सीमायें न्यूनतम होती हैं और कर की दरें उच्चतम प्रगतिशील होती हैं।

अन्त में मृत्यु-कर को इस आधार पर भी प्रगतिशील बनाया जा सकता है कि एक ही सम्पत्ति कितने उत्तराधिकारियों के हाथों में से निकल चुकी है। यदि कोई सम्पत्ति १० पुश्तों से उत्तराधिकारियों को प्राप्त होती चली आ रही है तो पुश्तों की संख्या बढ़ने के साथ-साथ मृत्यु-कर की दर भी प्रगतिशील होती जायेगी।

(५) धन का पुनर्वितरण—मृत्यु-कर मृत्यु के कारण होने वाले सम्पत्ति हस्तान्तरण के समय लगाये जाते हैं। स्वयं सम्पत्ति ही कर का आधार होती है। और कर की दर प्रायः सम्पत्ति से प्राप्त होने वाली आय से अधिक होती है, इस लिए स्पष्ट ही है कि मृत्यु-कर का उद्देश्य धन पर कर लगाना है। गत वर्षों में निजी सम्पत्ति के विरुद्ध काफी आलोचनाएँ हुई हैं। सबसे महत्वपूर्ण आलोचना यह है कि निजी सम्पत्ति के अधिकार से धन और आय का वितरण बहुत असमान हो गया है, जिसके कारण सामाजिक कल्याण दिन-प्रतिदिन कम होता जा रहा है। इसके अतिरिक्त अधिकतर सम्पत्ति उन व्यक्तियों द्वारा एकत्रित की गई है जिनको अधिक आय प्राप्त होती है परन्तु जिनकी उपभोग करने की प्रवृत्ति कम होती है। इसलिए लगभग सभी व्यक्ति इस बात से सहमत हैं कि निजी सम्पत्ति प्रणाली को नियंत्रित करके दूर किया जाए। परम्परागत विचारधारा के अनुसार सरकार को धन का वितरण इसलिए भी समान करना चाहिये क्योंकि समाज के अधिकांश व्यक्ति पूर्ण रूप से निजी सम्पत्ति द्वारा ठुकरा दिये जाते हैं और उनका आर्थिक कल्याण नहीं हो पाता। इन व्यक्तियों के आर्थिक कल्याण में वृद्धि करने के लिए एक न्यूनतम मजदूरी निश्चित की जाय, काम के घन्टे कम कर दिये जायें, सामाजिक सुरक्षा की व्यवस्था की जाय, आदि प्रस्ताव दिये गये हैं। पिछले वर्षों में आर्थिक आधारों पर भी आय की असमानताओं की आलोचना की गई है। नई विचारधारा के अनुसार व्यापार चक्रों की उत्पत्ति, उपभोग का नीचा स्तर और नीची राष्ट्रीय आय तथा बेरोजगारी, सभी बातें निजी सम्पत्ति के कारण उत्पन्न हुई हैं। निर्धनता केवल सामाजिक दृष्टिकोण से ही बुरी नहीं है वरन् आर्थिक दृष्टि से भी दोषपूर्ण है, क्योंकि नीचे जीवन-स्तर द्वारा यह आर्थिक प्रगति में बाधक होती है। इस प्रकार आर्थिक प्रगति के लिए विनियोग और आय का स्तर ऊँचा होना चाहिए। यह उसी समय सम्भव हो सकता है जब कि उपभोग का स्तर ऊँचा हो। यह एक नग्न सत्य है कि जब उपभोग का स्तर बढ़ना बन्द हो जाता है तो बड़ी आय प्राप्त करने वाले व्यक्तियों की बचतें संचित कोषों (Hoards) में चली जाती हैं और

आर्थिक प्रगति स्थिर हो जाती है।

उत्तराधिकारी प्रथा उन बहुत से कारणों में से एक कारण है जो धन की असमानताओं को जन्म देते हैं और धन की असमानताओं से आय की असमानतायें उत्पन्न होती हैं। उत्तराधिकारी प्रथा की बुराइयों को दूर करने की इच्छा से प्रेरित होकर ही जायदादों और सम्पत्तियों पर प्रगतिशील करारोपण की ओर ध्यान दिया गया है। इसका यह अभिप्राय नहीं कि केवल मृत्यु-करों से ही उत्तराधिकारी प्रथा का अन्त हो जाएगा। हाँ, इतना अवश्य है कि आय की असमानताएं कुछ सीमा तक अवश्य ही कम हो जायेंगी। धन के पुर्नवितरण के उद्देश्य और कर-दान योग्यता के अनुसार करारोपण के उद्देश्य, जिन दोनों पर मृत्यु-कर आधारित है, एक दूसरे से किसी प्रकार भी टकराते नहीं हैं। साधारणतया उत्तराधिकार में जितना अधिक प्राप्त होता है उतनी ही व्यक्ति की कर-दान योग्यता बढ़ती है और सामान्य रूप से उत्तराधिकारी सम्पत्तियों पर प्रगतिशील दरों से कर लगाना कर-दान योग्यता सिद्धान्त के भी अनुकूल है और साथ ही धन के असमान वितरण की बुराइयों को भी दूर करता है।

(६) **मृत्यु-कर और बचतें**—बहुत बार यह कहा गया है कि मृत्यु-कर देश में बचतों को निरुत्साहित करते हैं। परिणामस्वरूप देश में पूंजी का एकत्रीकरण कम होता जाता है। देश की बचतों पर मृत्यु-कर द्वारा पड़ने वाले प्रभावों का दो दिशाओं में अध्ययन किया जा सकता है; एक तो मृत्यु-कर के प्रभाव देश में उपस्थित पूंजी के स्टाकों पर और दूसरे मृत्यु-कर के प्रभाव पूंजी के विकास एवं एकत्रीकरण पर।[7]

कुछ लोगों का विचार है कि मृत्यु-करों से देश की किसी समय विशेष पर उपस्थित पूंजी का ह्रास होता है। बहुत से व्यक्तियों को कर का भुगतान करने के लिए अपनी सम्पत्ति बेचनी पड़ती है। थोड़ा सा ध्यान देने पर यह जाना जा सकता है कि यह तर्क कितना खोखला है। अपनी दलील देते समय आलोचक यह भूल जाते हैं कि जबकि व्यक्तिगत अधिकार में सम्पत्ति की मात्रा कम हो जाती है उस समय देश की कुल पूंजी में कोई भी कमी नहीं आती है। जब कोई व्यक्ति अपनी सम्पत्ति किसी दूसरे को बेचता है तो यह अवश्य है कि उसके अधिकार से सम्पत्ति निकल गई, परन्तु वह पूंजी देश में ही रही। केवल स्वामित्व के अधिकार के हस्तान्तरण से ही पूंजी नष्ट नहीं हो जाती। इसलिए यह कहना कि मृत्यु-कर देश की पूंजी में कमी करते हैं, अनुचित है। मृत्यु-करों से देश की पूंजी तो पहले ही जैसी रहती है परन्तु व्यक्तिगत अधिकारों में पूंजी की मात्रा अवश्य कम हो जाती है और यही तो मृत्यु-कर का उद्देश्य भी है। वास्तव में इस विचार से ऐसा प्रतीत होता है कि इन लोगों ने धन और धन के स्वामित्व को एक ही समझ लिया है[8] और यही इनकी त्रुटि है।

7. philipe, E. Taylor : *Op. cit.*, p. 501
8. *Ibid.*, p. 503.

मृत्यु-कर की इस आधार पर भी आलोचना की गई है कि इससे भविष्य में पूँजी का एकत्रीकरण निरुत्साहित होता है। इन लोगों के अनुसार जो धन राशि कर के भुगतान में दी जाती है यदि मृत्यु-कर न लगे तो वही बचाई जाती और पूँजी का एकत्रीकरण होता। यह विचार भी पूर्णतया सत्य नहीं है। क्योंकि इसका क्या प्रमाण है कि जो धन राशि कर के रूप में दी जाती वह कर न लगने पर बच ही जाती। वास्तव में इस धन राशि का कुछ भाग तो उपभोग में खर्च हो जाता और कुछ बचाया जाता। इसके अतिरिक्त करों से प्राप्त आय को सरकार निरर्थक कार्यों पर व्यय नहीं करती। आजकल सरकार का अधिकांश व्यय पूँजीगत योजनाओं पर होता है और परिणामस्वरूप जो धन व्यक्तियों से इकट्ठा किया गया है उसको केवल देश में पूँजी की मात्रा बढ़ाने के ही काम में लाया जाता है। इस प्रकार मृत्यु-कर से देश में पूँजी की मात्रा किसी प्रकार भी कम नहीं होती। मृत्यु-कर व्यक्तियों की बचाने की इच्छा पर मनोवैज्ञानिक परिवर्तनों द्वारा भी प्रभाव डाल सकता है। यह भी सर्वथा सत्य नहीं होता। किसी व्यक्ति-विशेष के बचाने की इच्छा पर किस सीमा तक बुरा प्रभाव उत्पन्न होगा इस बात पर निर्भर करता है कि भावी आय के लिए उसकी माँग की लोच कैसी है। यदि किसी व्यक्ति की माँग की लोच भावी आय के लिए कम है तो उसकी बचत करने की इच्छा गिरने के स्थान पर बढ़ जाएगी अर्थात् यदि व्यक्ति की यह इच्छा है कि वह अपनी मृत्यु के बाद एक निश्चित आय देने वाली एक निश्चित आकार की सम्पत्ति छोड़े तब वह मृत्यु-कर लगने के बाद अपनी इच्छा की पूर्ति के लिए पहले से अधिक बचायेगा। इसके अतिरिक्त कुछ व्यक्तियों की आदत ही बचाने की होती है और जो मृत्यु-कर की तनिक भी चिन्ता नहीं करते। इस प्रकार मृत्यु-कर बचतों को बहुत अधिक निरुत्साहित नहीं करता परन्तु उन व्यक्तियों की बचत करने की इच्छा अवश्य ही कम हो जाती है जिनकी भावी आय की माँग की लोच ऊँची होती है। परन्तु इन व्यक्तियों की बचत करने की इच्छा पर बुरा प्रभाव न पड़ने देने के लिए प्रो० रिगनानो ने अपनी योजना प्रस्तुत की है जिसका वर्णन निम्नांकित है :—

रिगनानो योजना[9] (Rignano's Plan)

रिगनानो एक इटेलियन अर्थशास्त्री था जिसने मृत्यु-करों का दो दृष्टिकोणों से अध्ययन किया था। प्रथम, बचत करने की इच्छा पर पड़ने वाले बुरे प्रभाव और दूसरे, धन के वितरण पर पड़ने वाले प्रभाव के दृष्टिकोणों से। रिगनानो ने मृत्यु-करों के लिए एक ऐसी योजना प्रस्तुत की है जिसके द्वारा तीन पीढ़ियों के अन्दर ही सम्पत्ति पूर्णतया सरकार के अधिकार में आ जाती है। उनका मत है कि सम्पत्ति के हर अगले हस्तान्तरण के साथ-साथ मृत्यु-कर की दर भी बढ़ती जानी चाहिए। इस योजना के अनुसार यदि 'अ' ने अपनी सम्पत्ति स्वयं अपनी मेहनत से बचाई है तो उसकी मृत्यु के पश्चात् 'ब' को, जो 'अ' का उत्तराधिकारी है, 'अ'

9. Cf. Rignano : *The Social Significance of Death Duties.*

की सम्पत्ति का केवल दो-तिहाई मिलना चाहिए और शेष एक-तिहाई सरकार को ले लेना चाहिए। 'ब' इस सम्पत्ति को अपने प्रयत्नों से बढ़ा सकता है परन्तु 'ब' की मृत्यु पर 'स' को उत्तराधिकार में जो 'ब' की सम्पत्ति प्राप्त होती है उसमें से 'अ' की सम्पत्ति (जो 'ब' को प्राप्त हुई थी) दो तिहाई सरकार को ले लेनी चाहिये और जो सम्पत्ति 'ब' ने स्वयं अपने प्रयत्नों से उत्पन्न की थी उसका केवल एक तिहाई भाग सरकार को लेना चाहिए। इसी प्रकार 'स' की मृत्यु के पश्चात् 'अ' वाली शेष सारी सम्पत्ति सरकार को ले लेनी चाहिये, 'ब' वाली सम्पत्ति का दो तिहाई भाग और यदि 'स' ने स्वयं कोई सम्पत्ति उत्पन्न की है तो उसका एक तिहाई भाग सरकार को ले लेना चाहिये। इस प्रकार तीन पीढ़ियों बाद एक व्यक्ति की उत्पन्न की हुई सम्पत्ति सरकार के हाथ में पहुँच जाएगी।

रिगनानो योजना पर एक आलोचनात्मक दृष्टि—रिगनानो योजना के पक्ष और विपक्ष में बहुत कुछ कहा जा सकता है। पहले हम योजना के औचित्य पर ध्यान देंगे तत्पश्चात् योजना की बुराइयों की विवेचना करेंगे :—

रिगनानो योजना में सबसे पहली अच्छी बात यह है कि इससे सम्पत्ति को उत्पन्न करने और एकत्रित करने की इच्छा पर बुरा प्रभाव नहीं पड़ता, क्योंकि स्वयं उत्पन्न की हुई सम्पत्ति का केवल एक तिहाई भाग ही सरकार को मृत्यु-कर के रूप में प्राप्त होता है। परन्तु जो सम्पत्ति पुरानी है और एक उत्तराधिकारी से दूसरे को और दूसरे से तीसरे को मिलती जाती है उसमें से सरकार दो-तिहाई भाग लेती है। साधारणतया मनुष्य की यह मनोवृत्ति भी होती है कि वह दूसरे से प्राप्त की हुई वस्तु को अधिक महत्व नहीं देता इसलिये उसको उत्तराधिकार में प्राप्त की हुई सम्पत्ति का अधिक भाग मृत्यु-कर के रूप में देने में कोई भी आपत्ति न होगी। इस प्रकार पूँजी का एकत्रीकरण निरुत्साहित नहीं होगा। दूसरे, योजना एक मनोवैज्ञानिक तथ्य पर आधारित है। मनुष्य प्रकृति से ही दूर के सम्बन्धियों से उत्तराधिकार में प्राप्त होने वाली सम्पत्तियों के लिए चिन्ता नहीं करता और उसके बारे में सोचता तक नहीं है। इस कारण यदि निकट सम्बन्धियों को उत्तराधिकार में प्राप्त सम्पत्ति पर कम मृत्यु-कर लगाया जाय और दूर के सम्बन्धियों की चाहे पूरी ही सम्पत्ति ले ली जाय तो इसका सम्पत्ति उत्पन्न करने वाले की इच्छा तथा शक्ति पर कोई भी बुरा प्रभाव नहीं पड़ेगा। तीसरे, सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से रिगनानो ने अपनी योजना में यह भी स्वीकार किया है कि सम्पत्ति पर सरकार का अधिकार है और एक निश्चित अवधि के बाद सारी सम्पत्ति सरकार के ही पास जानी चाहिए। इस प्रकार रिगनानो निजी सम्पत्ति की प्रथा को क्रान्तिकारी ढंग से समाप्त नहीं करना चाहता बल्कि वह उसका अन्त धीरे-धीरे करना चाहता है। अन्त में रिगनानो ने स्वयं अपनी योजना के बारे में बताते हुए कहा है कि उसकी योजना में सम्पत्ति उत्पन्न करने तथा एकत्रित करने को प्रोत्साहन देने की ओर काफी ध्यान दिया गया है। क्योंकि पहले उत्तराधिकारी की उत्तराधिकार में प्राप्त हुई सम्पत्ति का अधिक भाग नहीं लिया जाता इसलिए हर व्यक्ति इस बात की चेष्टा करेगा कि वह सम्पत्ति

को इतना एकत्रित कर ले कि उसके उत्तराधिकारी का जीवन-स्तर ठीक रहे औ उसको मृत्यु-कर से कोई हानि न हो।

रिगनानो योजना के मुख्य दोष निम्न प्रकार बताये गये हैं :—

प्रथम, कुछ व्यक्तियों का विश्वास है कि रिगनानो योजना अव्यावहारिक है। एक तो सम्पत्ति का मूल्य पता लगाना ही सरल नहीं है और दूसरे इसके प्रशासन में अनेकों प्रकार की कठिनाइयाँ उत्पन्न होंगी। यहां यह बता देना अनुचित न होगा कि इंगलैंड की आय समिति के विचार में यह योजना अव्यावहारिक नहीं है। दूसरे, कुछ लोगों ने यह भी बताया है कि यदि कोई व्यक्ति यह जानता है कि उसके मरने के बाद उसकी सारी सम्पत्ति सरकार के पास चली जाएगी तो वह एक तो सम्पत्ति बचाने का प्रयत्न ही नहीं करेगा और दूसरे जो कुछ सम्पत्ति उसने बचा भी ली है तो उसको अपने जीवन काल में ही समाप्त करने का प्रयत्न करेगा। अतः योजना का उद्देश्य ही पराजित हो जाएगा। इस कमी को दूर करने की दृष्टि से डाल्टन ने रिगनानो योजना को संशोधित करने के लिए अपना एक सुझाव दिया है। उनके अनुसार जब कोई सम्पत्ति किसी ऐसे व्यक्ति को उत्तराधिकार में प्राप्त हुई है जिसका कोई उत्तराधिकारी नहीं है तो सरकार को चाहिए कि वह उस व्यक्ति की सारी सम्पत्ति उसके जीवन काल में ही ले ले और उसके बदले में उसके लिए वार्षिक वृत्ति (Annuity) निश्चित कर दे। तीसरे, कुछ व्यक्ति इस योजना का बहिष्कार नैतिकता के आधार पर भी करते हैं। उनका कहना है कि कोई भी मनुष्य अपनी सम्पत्ति इसलिए एकत्रित नहीं करता है कि मृत्यु के पश्चात् उसके उत्तराधिकारियों को उसकी मेहनत से लाभ उठाने का अवसर भी प्राप्त न हो। हर व्यक्ति यही प्रयत्न करता है कि उसके द्वारा बचाई हुई सम्पत्ति की सहायता से उसकी मृत्यु के बाद उसके उत्तराधिकारी अच्छा जीवन व्यतीत कर सकें। यदि सरकार मृत्यु-कर के रूप में उस सम्पत्ति को हड़प कर लेती है तो मृतक व्यक्ति तथा उसके उत्तराधिकारियों के प्रति घोर अन्याय होगा। वास्तव में यह आलोचना रिगनानो योजना के विरुद्ध ही नहीं है बल्कि मृत्यु-करों के विरुद्ध है।

आश्चर्य की बात है कि अभी तक किसी भी देश में रिगनानो योजना को व्यावहारिक रूप प्रदान नहीं किया गया है।

इस प्रकार, जहाँ तक उत्तराधिकारियों की मनोवृत्ति का सम्बन्ध है मृत्यु-कर उनके काम करने और बचत करने की इच्छा को बढ़ाते ही हैं। क्योंकि एक तो यह जानते हैं कि उत्तराधिकार में प्राप्त होने वाली सारी सम्पत्ति उन्हें नहीं मिलेगी, क्योंकि कुछ सम्पत्ति कर के रूप में सरकार को दे दी जायेगी, इसलिए उन्हें अधिक काम करने और बचत करने के लिए प्रेरणा मिलती है। मृत्यु-कर के अभाव में उनको सारी सम्पत्ति प्राप्त होने का विश्वास होने के कारण वह काम करने और बचाने की चेष्टा नहीं करेंगे। इस प्रकार सामान्य रूप से हम कह सकते हैं कि मृत्यु-करों का व्यक्तियों की बचत करने पर बुरा प्रभाव नहीं पड़ता। सच तो यह है कि आय-कर की अपेक्षा मृत्यु-कर, करारोपण का एक अच्छा रूप है।

मृत्यु-कर का भार—कर-भार के सम्बन्ध में वैसे तो बहुत से सिद्धान्त हैं, परन्तु मृत्यु-कर के सम्बन्ध में अधिक स्वीकृत सिद्धान्त यह है कि, मृत्यु-कर का भार उत्तराधिकारियों पर पड़ना चाहिए। इस सिद्धान्त के अनुसार क्योंकि कर सम्पत्ति उत्पन्न करने वाले की मृत्यु के बाद लगाया जाता है और इकट्ठा किया जाता है और मृतक व्यक्ति कर-भार को सहन नहीं कर सकता, और क्योंकि उत्तराधिकारी से आगे कर-भार को डालने की कोई विधि नहीं है, इसलिए कर का सारा भार उत्तराधिकारी को ही सहन करना पड़ता है। मृतक व्यक्ति की इच्छानुसार कुल सम्पत्ति कर का भुगतान करने के बाद उत्तराधिकारियों में बाँटने के लिए उपलब्ध हो जाती है। यदि इस सम्पत्ति पर कोई भी कर नहीं लिया जाता तो प्रत्येक उत्तराधिकारी के हिस्से में वृद्धि हो जाती। इसलिये यह तो स्पष्ट ही है कि उत्तराधिकारी कर का भुगतान अपने-अपने हिस्सों में से करते हैं।

इस सिद्धान्त को स्वीकार करने में कोई भी कठिनाई न होती यदि यह मान सकते कि सम्पत्ति उत्पन्न करने वाले एक तो मृत्यु-कर की ओर कोई ध्यान ही नहीं देते और दूसरे अपने जीवनकाल में सम्पत्ति बनाने के लिए जो कुछ भी बचा पाते हैं, निरन्तर बचाते रहते हैं। व्यवहार में अनेकों उदाहरण ऐसे मिलते हैं जिनसे यह सिद्ध हो जाता है कि सम्पत्ति एकत्रित करने पर मृत्यु-कर का कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता। समाज में कुछ व्यक्ति तो ऐसे होते हैं जो मृत्यु-कर के बारे में पूर्णतया अनजान होते हैं और जिनका एक निश्चित आकार की सम्पत्ति जमा करने का उद्देश्य होता है और वह इस उद्देश्य की पूर्ति करने के लिए निरन्तर-प्रयत्न करते रहते हैं। कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जो अपने निर्भरकर्त्ताओं की ओर अपने कर्तव्यों के सम्बन्ध में निरन्तर सोचते रहते हैं और उनके लिए अधिक सम्पत्ति बनाने का प्रयत्न करते हैं। ऐसे व्यक्ति अपनी इच्छाओं का दमन करते हैं और वास्तव में जितना वह बचा सकते हैं बचाते हैं और मृत्यु-कर के भार से सम्पत्ति का आकार कम नहीं हो पाता। ऐसी स्थितियों में कर का केवल एक ही प्रभाव होता है वह भी यह कि कर का भुगतान उत्तराधिकारियों के हिस्से में से होता है।

बहुत से उदाहरणों में यह भी देखने में आया है कि सम्पत्ति एकत्रित करने का कार्यक्रम मृत्यु-कर की पूर्व आशा (Anticipation) पर निर्भर करता है। यदि सम्पत्ति उत्पन्न करने का उद्देश्य यह है कि उत्तराधिकारियों को कर भुगतान करने के बाद एक निश्चित आकार की सम्पत्ति प्राप्त हो तब यह सोचना उचित ही होगा कि मृतक व्यक्ति ने अपने जीवनकाल में उस स्थिति की अपेक्षा अधिक बचाया है जबकि मृत्यु-कर नहीं था। मृतक व्यक्ति ने अपने उत्तराधिकारी के लिए केवल सम्पत्ति ही एकत्रित नहीं की बल्कि कर भुगतान करने की भी व्यवस्था की। अतः कर-भार मृतक व्यक्ति पर ही रहा। इसलिये यह कहना पूर्णतया सत्य नहीं है कि कर-भार मृतक व्यक्ति पर नहीं पड़ता। इस प्रकार सरलता से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि मृत्यु-कर का भार मृतक व्यक्ति और उत्तराधिकारी दोनों पर ही पड़ता है। परन्तु मृत्यु-कर का भार निश्चित करना कोई सरल बात नहीं है और

वास्तव में भार किस व्यक्ति पर पड़ा है। पूछ-ताछ करके यह निश्चित करना भी सम्भव नहीं है।[10] संक्षेप में मृत्यु-कर के भार के सम्बन्ध में हम कह सकते हैं कि मृत्यु-कर का भार सम्पत्ति एकत्रित करने वाले व्यक्ति या उसके उत्तराधिकारी, या दोनों पर ही पड़ता है। यदि कर भुगतान की पूर्व आशा से सम्पत्ति एकत्रित करने की गति पहले से अधिक तीव्र हो जाती है तब मृत्यु-कर का भार सम्पत्ति बचाने वाले पर पड़ता है। यदि सम्पत्ति उतनी ही है जितनी कि मृत्यु-कर की अनुपस्थिति में होती तब मृत्यु-कर का भार उत्तराधिकारियों पर पड़ता। जब सम्पत्ति बचाने वाले को मृत्यु-कर की पूर्व आशा तो हो जाती है परन्तु वह उसका उचित प्रबन्ध नहीं कर पाता है तो मृत्यु-कर का भार दोनों अर्थात् सम्पत्ति बचाने वाले और उत्तराधिकारी, को ही सहन करना पड़ता है। अतः मृत्यु-कर के भार को सहन करने की बात पूर्णतया सम्पत्ति बचाने वाले की इच्छा पर निर्भर करती है।

मृत्यु-कर के पक्ष और विपक्ष में—एक संक्षिप्त अध्ययन—उपर्युक्त विवरण के पश्चात् हम इस स्थिति में हैं कि मृत्यु-कर के पक्ष एवं विपक्ष में कुछ कह सकें। मृत्यु-कर के पक्ष में निम्न तर्क दिये जाते हैं :—१. मृत्यु-कर का भार किसी दूसरे व्यक्ति पर नहीं टाला जा सकता और इस प्रकार उन्हीं व्यक्तियों पर पड़ता है जिन पर भार डालने का उद्देश्य होता है अर्थात् उन व्यक्तियों पर जिनके पास बड़ी सम्पत्ति होती है। वास्तव में यह सही भी है क्योंकि चाहे कर-भार उत्तराधिकारी पर पड़े या सम्पत्ति एकत्रित करने वाले पर पड़े, दोनों ही, धनवान व्यक्ति होते हैं। इस प्रकार यह कर न्यायपूर्ण है। २. दूसरे, मृत्यु-करों द्वारा धन के वितरण की असमानतायें सरलता से कम की जा सकती है। इसके विषय में हम ऊपर काफी कह चुके हैं। ३. तीसरे, मृत्यु-कर एक उत्पादक कर हैं। ४. मृत्यु-कर कर-दान योग्यता सिद्धान्त के अनुकूल है। ये उन व्यक्तियों पर लगाये जाते हैं और ऐसे समय पर एकत्रित किये जाते हैं जबकि उनमें कर-दान योग्यता होती है।

मृत्यु-कर के विपक्ष में निम्न तर्क दिये जाते हैं :—

१. यह कर देश में पूँजी के संचय को हतोत्साहित करते हैं। परिणामतः देश की उत्पादन शक्ति कम होती जाती है और आर्थिक विकास तथा आर्थिक सम्पन्नता की गति शिथिल हो जाती है। परन्तु यह आलोचना पूर्णतया उचित नहीं है। इसका निरीक्षण हम ऊपर विस्तार में ही कर आए हैं।

२. कुछ लोगों का यह भी विरोध है कि यदि उत्पादन कार्य केवल एक ही व्यक्ति द्वारा सम्पन्न किया जा रहा है तो उसे मृत्यु-कर का भुगतान करने के लिए अपनी सम्पत्ति को आंशिक या पूर्ण रूप से बेचना होगा। इस प्रकार देश में केवल सम्पत्ति की मात्रा ही कम न होगी बल्कि उत्पत्ति की मात्रा भी कम हो जायगी। इस सम्बन्ध में हम ऊपर देख चुके हैं कि सम्पत्ति को बेचने से व्यक्तिगत सम्पत्ति अवश्य ही कम हो जाती है, राष्ट्रीय सम्पत्ति कम नहीं होती है।

३. यह भी कहा जाता है कि मृत्यु-कर होशियार, मेहनती, मितव्ययी तथा

---

10. Philip, E. Taylor : *Op cit.*, p. 506.

बुद्धिमान व्यक्तियों के लिये एक दण्ड है। इस सम्बन्ध में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि सम्पत्ति का एकत्रीकरण केवल बुद्धिमानी एवं मितव्ययिता के कारण ही उत्पन्न नहीं होता। उसकी उत्पत्ति में सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक एवं वैधानिक परिस्थितियाँ भी सहायक होती हैं। इसलिए मृत्यु-कर को बुरा बताना उचित न होगा।

४. यह भी कहा जाता है कि मृत्यु-कर का भार सबसे अधिक विधवाओं, बच्चों तथा निर्भरकर्ताओं पर पड़ता है। परन्तु यह भी पूर्णतया ठीक नहीं है। क्योंकि मृत्यु-कर की दर मृतक व्यक्ति और उत्तराधिकारी के सम्बन्ध की निकटता या दूरी के अनुसार निर्धारित की जाती है।

५. मृत्यु-कर के विपक्ष में एडम स्मिथ ने यह तर्क दिया है जिस कुटुम्ब में थोड़े-थोड़े समय के बाद मृत्यु के कारण सम्पत्ति का हस्तान्तरण होता रहता है उस कुटुम्ब पर मृत्यु-कर का भार एक ऐसे कुटुम्ब की अपेक्षा अधिक पड़ता है जिस में मृत्यु देर में होती है। अतः मृत्यु-कर न्यायसंगत नहीं है। इस तर्क का अनुकरण फिनले शिराज़ ने भी किया है। यह ध्यान रहे कि आधुनिक समय में मृत्यु-कर सम्बन्धी ढाँचे में इसके विरुद्ध उचित प्रबन्ध कर दिया जाता है।

६. मृत्यु-कर में इस बात की ओर भी कोई ध्यान नहीं दिया जाता कि सम्पत्ति किस प्रकार प्राप्त की गई है, अर्थात् सम्पत्ति को प्राप्त करने में व्यक्ति को अधिक कठिनाई अनुभव करनी पड़ी है या सम्पत्ति आसानी से ही खरीद ली गई है। इस तर्क में वैज्ञानिकता का अभाव है। सम्पत्ति खरीदने में यह निश्चित करना कि खरीदने वाले व्यक्ति ने आसानी से सम्पत्ति खरीदी है या कठिनाई से, असम्भव है, क्योंकि यह मानसिक दशाएँ हैं जिनको माप सकना सम्भव नहीं होता।

७. मृत्यु-कर लगाने के लिए सम्पत्ति का मूल्य उस समय आँका जाता है जब कि व्यक्ति की मृत्यु होती है, जो उचित नहीं है। हो सकता है कि उस समय सम्पत्ति के मूल्य ऊँचे हों और उत्तराधिकारी को कर की अधिक राशि का भुगतान करना पड़े। स्थिति इसके विपरीत भी हो सकती है और सरकार को हानि हो सकती है। यह तर्क इस आधार पर दिया गया है कि सम्पत्ति के मूल्यों में साधारणतया उतार-चढ़ाव होते ही रहते हैं और मृत्यु के समय सम्पत्ति के मूल्य आँकने में सरकार को भी हानि हो सकती है और करदाता को भी। इस तर्क को प्रस्तुत करने वाले व्यक्तियों ने यह नहीं बताया कि सम्पत्ति के मूल्य किस समय स्थायी हो सकते हैं ताकि उसी समय सम्पत्ति का मूल्य आँका जाये। दूसरे, उनको कर की राशि की ओर ध्यान नहीं देना चाहिये बल्कि मुद्रा इकाई के वास्तविक मूल्य की ओर ध्यान देना चाहिये यदि देश में मूल्य स्तर ऊँचा है तो कर की राशि अधिक होते हुए भी सरकार के खजाने में कम धनराशि एकत्रित होगी और यदि सामान्य मूल्य स्तर ऊँचा है तब कर की राशि कम होते हुए भी सरकारी खजाने में वस्तुओं के रूप में अधिक धनराशि एकत्रित होगी। इसलिए इन लोगों की मृत्यु-कर के विरुद्ध यह आपत्ति बिलकुल निराधार है।

८. अन्त में कुछ लोगों ने यह भी बताया है कि मृत्यु-कर की चोरी बहुत

होती है। सबसे अधिक चोरी उपहार तथा दान के रूप में होती है। परन्तु यह सोच लेना कि सभी प्रकार के उपहार कर को चुराने की दृष्टि से दिये जाते हैं उचित न होगा। क्योंकि जो उपहार व्यक्ति अपने जीवनकाल में ही देता है उसमें चोरी का अंश बिल्कुल भी नहीं होता। परन्तु जो उपहार मृत्यु के समय दिये जाते हैं या मृत्यु की पूर्व आशा में दिये जाते हैं इसमें कुछ सीमा तक चोरी का अंश छुपा हुआ हो सकता है। परन्तु इस प्रकार की कर की चोरी को रोकना सरल नहीं है और फिर चोरी और बेईमानी तो व्यक्ति के अपने चरित्र के ऊपर निर्भर करती है, किसी क़ानून द्वारा इसको नहीं रोका जा सकता। हाँ, इतना अवश्य है कि व्यक्ति के जीवन-काल में जो उपहार दिए जाते हैं उनके लिए एक समय की अवधि निश्चित की जा सकती है जिसके अन्दर दिए जाने वाले उपहारों पर कर लगाया जा सकता है। इसी लिए बहुत से देशों में आजकल उपहार कर लागू कर दिया है।

भारत में जायदाद कर (Estate Duty in India)—

भारत के संविधान के अनुसार कृषि भूमि के अतिरिक्त अन्य सभी प्रकार की सम्पत्तियों पर जायदाद-कर लागू किया जा सकता है। भारत में जायदाद-कर सन् १९५३ के पहले लागू नहीं था। वैसे तो हमारे देश में पहले से कुछ ऐसे कर चले आ रहे थे जिनकी प्रकृति मृत्यु करों जैसी थी जैसे उत्तराधिकारी प्रमाण-पत्र कर, तथा उत्तराधिकारी प्रमाण-पत्र शुल्क (Probate Duties And Fees on Succession Certificates) परन्तु यह न्यायशील नहीं थे, क्योंकि यह सभी उत्तराधिकारियों पर नहीं लगाये जा सकते थे और दूसरे, यह केवल एक प्रकार की फीस थी, कर नहीं थे। सन् १९२४ में भारतीय कर जांच समिति ने सर्वप्रथम मृत्यु-कर लगाने की सिफारिश की थी। सन् १९४४ में भारत सरकार के वित्त मन्त्री ने यह घोषणा की थी कि सरकार का इरादा मृत्यु-कर लागू करने का था और सन् १९४६ में एक बिल पेश भी किया गया परन्तु यह पास न हो सका। इसके बाद सन् १९४७-४८ में श्री लियाकत अली खाँ ने अपने बजट भाषण में इस कर की ओर संकेत किया था परन्तु कर के विषय में विस्तृत अध्ययन करने का काम एक समिति को सौंप दिया गया। इस समिति ने अपनी रिपोर्ट सन् १९४९ में प्रस्तुत की, परन्तु कुछ कारणों से उस समय उस रिपोर्ट पर विचार नहीं किया जा सका। सन् १९५२ में श्री देशमुख ने एक नया बिल लोकसभा में प्रस्तुत किया जो आवश्यक संशोधनों के बाद सितम्बर सन् १९५३ में पास हुआ।

यद्यपि भारत में मृत्यु-कर की आवश्यकता बहुत लम्बे काल से अनुभव हो रही थी, परन्तु कुछ कठिनाइयों के कारण यह लागू नहीं किया जा सका। प्रथम, भारत में हिन्दू-मुसलमान आदि सभी जातियों की उत्तराधिकारी प्रणालियाँ भिन्न-भिन्न थीं। इसके अतिरिक्त भारत एक निर्धन देश होने के कारण यह भी विचार किया जाता था कि मृत्यु-करों से उचित आय प्राप्त न हो सकेगी। परन्तु धीरे-धीरे यह सब विचार समाप्त होते गए और अन्त में भारत में भी जायदाद-कर लागू हो ही गया।

भारतीय जायदादकर अधिनियम (Indian Estate Duty Act, 1953)–इस अधिनियम की विशेषतायें निम्न प्रकार हैं :—

१. जायदादकर मृतक व्यक्ति द्वारा छोड़ी हुई कुल सम्पत्ति के मूल्य पर लगाया जायेगा। यह कर जम्मू और काश्मीर राज्य को छोड़कर समस्त भारत में लगेगा।

२. यह कर सम्पत्ति की वास्तविक कीमत पर लगाया जायेगा और मृतक व्यक्ति के ऋणों तथा दाह-संस्कार संबंधी खर्चों को सम्पत्ति के मूल्य में से निकाल दिया जायेगा। सम्पत्ति का मूल्य बाज़ार भाव पर ही निर्धारित किया जायेगा।

३. यह कर उन सभी व्यक्तियों द्वारा छोड़ी गई सम्पत्ति पर लगाया जाएगा जो १५ अक्तूबर सन् १९५३ के बाद मरेंगे। यह कर केवल व्यक्ति द्वारा छोड़ी गई सम्पत्ति पर लगाया जाता है और कम्पनी, फर्म तथा निगम द्वारा छोड़ी हुई सम्पत्ति पर नहीं लगाया जाता। सम्मिलित परिवार के किसी सदस्य की मृत्यु पर केवल मृतक व्यक्ति के हिस्से की सम्पत्ति पर कर लागू किया जाएगा। अधिनियम में उत्तराधिकारियों की संख्या पर कोई ध्यान नहीं दिया गया है और मृत्यु-कर सम्पूर्ण सम्पत्ति पर लगाया जाता है। इसी कारण यह जायदादकर है उत्तराधिकारी कर नहीं है।

४. मृतक व्यक्ति के सभी उत्तराधिकारी कर चुकाने के उत्तरदायी होते हैं।

५. भारत में जायदाद कर एक प्रगतिशील कर है। न्यूनतम कर रहित सीमा सम्मिलित परिवार सम्पत्ति के लिए ५०,००० रुपया है और अन्य सम्पत्तियों के लिए १,००,००० रुपया निश्चित की गई है। कर की दरों का विवरण निम्न प्रकार है :—

सम्पत्ति वर्ग	कर की दरें	
	सम्मिलित परिवार सम्पत्ति	अन्य सम्पत्ति
१. प्रथम ५०,००० रु०	शून्य	शून्य
२. अगले ५०,००० रु०	५ प्रतिशत	शून्य
३. ,, ५०,००० रु०	७½ ,,	७½ प्रतिशत
४. ,, ५०,००० रु०	१० ,,	१० ,,
५. ,, १ लाख रु०	१२½ ,,	१२½ ,,
६. ,, २ लाख रु०	१५ ,,	१५ ,,
७. ,, ५ लाख रु०	२० ,,	२० ,,
८. ,, १० लाख रु०	२५ ,,	२५ ,,
९. ,, १० लाख रु०	३० ,,	३० ,,
१०. ,, २० लाख रु०	३५ ,,	३५ ,,
११. ,, शेष पर	४० ,,	४० ,,

६. अधिनियम में सम्पत्ति-सम्बन्धी मुख्य बातें निम्न प्रकार हैं :—

(१) सम्पत्ति शब्द में चल या अचल पूंजी सम्मिलित है। (२) इस सम्पत्ति या उसके किसी हिस्से की बिक्री से प्राप्त राशि (३) यह राशि या उसमें से पहले ही विनियोग की गई राशि (४) किसी भी प्रकार से एक सम्पत्ति से बदली गई दूसरी सम्पत्ति (५) किसी व्यक्ति का ऋण या उसकी मर्जी से उसके द्वारा ओटा हुआ ऋण (६) कोई और ऐसा अधिकार जिसका मूल्य द्रव्य में आँका जा सके।

अधिनियम में कुछ ऐसी सम्पत्तियों की भी गणना की गई है जो वास्तव में मृत्यु के पश्चात् हस्तान्तरित नहीं होती किन्तु उनको ऐसा समझकर ही उनके लिए व्यवस्था कर दी गई है। यह निम्न प्रकार है :—

(१) वह संपत्ति जिसे मृतक व्यक्ति वैधानिक रूप से बेच सकता था। (२) वह संपत्ति जिसमें मृतक का हिस्सा हो और जो उसकी मृत्यु पर समाप्त हो जाता हो। (३) वह संपत्ति जो किसी अन्य व्यक्ति को मृतक की मृत्यु के बाद दान में प्राप्त हो। (४) मृतक की मृत्यु के ६ महीने पहले से दो साल तक की अवधि में जो संपत्ति उपहार स्वरूप दी गई है उस पर कर लगेगा। विवाह के लिए ५,००० रुपयों तक कोई कर नहीं लगेगा। (५) वह संपत्ति जिसको मृतक ने अपनी कुल संपत्ति का बंटवारा करने के बाद, इसको जीवन काल के लिए अपने वास्ते रख लिया हो। (६) बीमा पालिसी। (७) मृतक की मृत्यु के समय तक जमा वार्षिक वृत्ति। (८) ऐसी कम्पनी की लेनदारी जिसका प्रबन्ध ५ से अधिक व्यक्तियों के हाथ में न हो और जिसमें मृतक व्यक्ति की संपत्ति लगी हो और जहाँ से मृतक को मृत्यु से पहले के तीन वर्षों में लाभ प्राप्त हुआ हो या लाभ प्राप्त करने का अधिकार उसके पास रहा हो।

कर-रहित सम्पत्ति (Tax-exempted Commodities)—निम्न प्रकार की संपत्तियों को कर के क्षेत्र में सम्मिलित नहीं किया गया है।

(१) वे सभी अचल संपत्तियाँ जो भारत के बाहर स्थित हैं तथा वे चल संपत्तियाँ जो विदेशों में लगी हैं, यदि मृतक मृत्यु के समय भारत में नहीं था।

(२) ऐसी पुस्तकें जिन्हें मृतक ने बेचने के लिए एकत्रित नहीं किया था।

(३) वह संपत्ति जिस पर मृतक का अधिकार केवल ट्रस्टी के रूप में था।

(४) घरेलू सामान केवल २,५०० रुपयों तक के मूल्य के।

(५) पहनने के कपड़े, परन्तु गहने और बहुमूल्य पत्थर यदि इन कपड़ों में लगे हुए हैं तो वे कर रहित नहीं हैं।

(६) चित्र तथा अन्य प्रकार के व्यक्तिगत संचय जो केवल शौक के उद्देश्य से किये गये हों बिक्री के लिए नहीं।

(७) २०,००० से अधिक आबादी वाले स्थानों पर एक लाख रुपयों के मूल्य तक का मकान जिसमें मृत व्यक्ति स्वयं रहता था।

(८) २,५०० रु० के मूल्य के ऐसे उपकरण तथा औजार जो कि मृतक की जीविकोपार्जन के लिए आवश्यक थे।

अधिनियम में कुछ ऐसी संपत्तियों की गणना की गई है जो कर रहित तो हैं परन्तु जिनको संपत्ति का कुल मूल्य मालूम करते समय सम्मिलित कर लिया जाता है और फिर कर की दर निश्चित कर ली जाती है।

(१) उन राज्यों में स्थित कृषि भूमि जिन्होंने संघ सरकार को कृषि भूमि पर जायदाद कर लगाने का अधिकार नहीं दिया है।

(२) मृत्यु के ६ महीने पहले तक २५,००० रुपए के मूल्य के उपहार जो किसी सार्वजनिक कार्य के लिए दिए गये हों।

(३) बीमा पालिसियों द्वारा प्राप्त हुआ रुपया केवल ५,००० रुपये तक।

सम्पत्तियों के मूल्य में से कुछ कटौतियाँ (Deductions)—मृत्यु-कर के लिए संपत्ति का वास्तविक मूल्य आँकते समय कई प्रकार के ऋणों एवं खर्चों की राशियों को छोड़ दिया जाता है, जैसे—

(१) अन्तिम संस्कार का खर्च, १००० रुपए तक, (२) वास्तविक ऋण जिसका भुगतान करना है, (३) पति की संपत्ति में पत्नी का भाग, (४) विदेशों में स्थित संपत्ति के प्रबन्ध या आय की वसूली में होने वाला खर्च, जो संपत्ति के मूल्य के ५ प्रतिशत से अधिक नहीं होना चाहिए।

कभी-कभी ऐसा होता है कि किसी कुटुम्ब में निरन्तर कई मृत्यु हो जाने के कारण संपत्ति कुछ ही समय में बहुत से व्यक्तियों के हाथों में से गुजरती है। यदि हर बार मृत्यु कर दिया जाये तो संपत्ति बहुत थोड़े ही समय में सरकार के हाथ में चली जायेगी और यह अन्यायपूर्ण भी होगा। इस कारण अधिनियम में इसके लिए भी व्यवस्था कर दी गई है। यदि दूसरी मृत्यु, पहली मृत्यु के एक वर्ष के अन्दर ही हो जाती है तो मृत्यु कर ५०% रह जायेगा। यदि दो वर्षों के अन्दर होती है तो ४०%, अगर तीन वर्षों के अन्दर होती है तो ३०%, यदि चार वर्षों के अन्दर होती है तो २०% और यदि ५ वर्षों के अन्दर होती है तो १०% की कमी हो जायेगी। यदि पहली मृत्यु के तीन महीने के अन्दर ही दूसरी मृत्यु हो जाती है तो कोई भी मृत्यु कर नहीं लिया जायेगा।

जायदादकर का प्रशासन (Administration)—जायदादकर का प्रशासन केन्द्रीय आय बोर्ड (Central Board of Revenue) को सौंप दिया गया है जिसके अधीन नियंत्रक (Controllers), सहायक उप-नियंत्रक (Dy. Controllers) और सहायक नियंत्रक (Assistant Controllers) नियुक्त कर दिये गए हैं। आय-कर विभाग के अफसरों को ही नियन्त्रक नियुक्त कर दिया गया है। नियन्त्रक संपत्ति का मूल्य निश्चित करता है और संपत्ति का उतना ही मूल्य निश्चित किया जाता है जितना कि मूल्य बाजार में बेचने से प्राप्त हो सकता हो। मूल्य आंकते समय सभी प्रकार की सावधानियाँ बरती जाती हैं। यदि नियन्त्रक आवश्यक समझे तो संपत्ति का मूल्य आँकने के लिए मूल्य आँकने वालों को नियुक्त कर सकता है। मूल्य आँकने वाले ऐसे व्यक्ति होंगे जिनका इस विभाग से कोई सम्बन्ध नहीं होगा। करदाता को अधिकार है कि वह नियन्त्रक द्वारा लगाए गए कर के विरुद्ध अपील कर सके।

यदि संपत्ति के मूल्यांकन के संबंध में कोई मतभेद है तो उसके निपटारे के लिए आय बोर्ड उस झगड़े को दो मूल्य आँकने वालों को फैसले के लिए सौंप सकता है जिनमें से एक तो बोर्ड द्वारा और दूसरा करदाता द्वारा नियुक्त किया जायेगा। यदि इन दोनों मूल्य आँकने वालों में कोई मदभेद है तो झगड़े को तीसरे मूल्य आँकने वाले के सुपुर्द किया जायेगा, परन्तु हर दशा में मूल्य आँकने वालों (valuers) का ही फैसला अन्तिम रहेगा। यदि कानून के विषय में कोई मतभेत है तो उसकी अपील हाईकोर्ट या सुप्रीम कोर्ट में की जा सकती है।

जायदाद-कर का भुगतान करने से बचने के लिए कई प्रकार के प्रयत्न किये जा सकते हैं जैसे-मृत्यु से पहले उपहार के रूप में संपत्ति को देना आदि। भारतीय अधिनियम में कर की इस प्रकार चोरी के विरुद्ध भी व्यवस्था की गई है। उदाहरणार्थ यदि कोई उपहार मृत्यु की पूर्व आशा से ही दिया गया है तो उस पर कर लगाया जायेगा। इसी प्रकार मृत्यु से दो वर्षों के अन्दर यदि कोई संपत्ति उपहार के रूप में दी गई है तो भी उस पर कर लागू किया जायेगा। यदि मृत्यु के छः महीने के अन्दर कोई संपत्ति दान के रूप में दी गई है तो उस पर भी कर लिया जायेगा। करारोपण जाँच समिति की यह सिफारिश थी कि जीवन-काल में दिये गये उपहार, जो मृत्यु के पहले ५ वर्ष के अन्दर दिये गये हैं, उनको भी कर क्षेत्र में सम्मिलित कर लेना चाहिए।

भारतीय अधिनियम में सन् १९५८ में किये गये संशोधन (Amendments of 1958)—अधिनियम में सन् १९५८ में कुछ महत्त्वपूर्ण संशोधन किये गये थे जिनका मुख्य उद्देश्य कुछ तो कर की चोरी को रोकना था और कुछ कर से प्राप्त आय को बढ़ाना था। यह संशोधन निम्न प्रकार हैं :—

१. न्यूनतम कर रहित सीमा सभी के लिए ५०,००० रुपये कर दी गई।

२. कर की दरों में निम्न प्रकार परिवर्तन किये गये हैं—५०,००० रुपयों से १ लाख रुपयों तक की संपत्ति पर कर की दर ५ प्रतिशत से घटा कर ४ प्रतिशत कर दी गई, १,००,००० रुपये से १,५०,००० रुपयों तक की संपत्ति पर ७½ प्रतिशत के स्थान पर ६ प्रतिशत कर दी गई। २,००,००० से ३,००,००० रुपयों तक संपत्ति पर १२½ प्रतिशत से घटाकर १२ प्रतिशत कर दी गई।

३. पहले मृत्यु कर का भुगतान ८ वार्षिक या १६ छमाही किस्तों में किया जा सकता था परन्तु अब ४ वार्षिक या ८ छमाही किस्तों में ही किया जा सकेगा।

४. विवाह-संबंधी उपहारों के मूल्य की सीमा ५,००० रुपयों से बढ़ाकर १०,००० रुपये कर दी गई है।

५. अपील करने की विधि में भी परिवर्तन कर दिये गये हैं और सब आय-कर धन या संपत्ति कर, और व्ययकर तथा मृत्युकर इन सभी की अपील करने की विधि एक जैसी हो गई है। पहली अपील सहायक कमिश्नर (Appellate-Assistant Commissioner), अपील सुनने वाली अदालत (Appellate Tribu-

nal) में दूसरी अपील, हाई कोर्ट में तीसरी अपील और सुप्रीम कोर्ट में चौथी अपील की जायेगी।

६. जायदाद-कर उन सम्पत्तियों पर नहीं लगाया जायेगा जिन पर उपहार-कर लागू कर दिया गया है।

सन् १९६४ का संशोधन :—सन् १९६४–६५ के बजट में जायदाद कर की दरों में बहुत परिवर्तन किये गये। सन् १९६३–६४ में कर की दर ५० हजार रु० पर ४% से ५० लाख रु० पर ४०% थी किन्तु अब ५० हजार रुपयों के मूल्य की सम्पत्ति पर ४% से लेकर २० लाख रुपये के मूल्य की सम्पत्ति पर ८५% कर लगाया गया है। कर की वर्तमान दरें इस प्रकार हैं :—

सम्पत्ति वर्ग	कर की दरें
१. सम्पत्ति के ५० प्रथम हजार रु० के मूल्य पर	कुछ नहीं
२. ,, ,, अगले ५० हजार ,, ,,	४%
३. ,, ,, ,, १ लाख ,, ,,	८%
४. ,, ,, ,, ३ लाख ,, ,,	१५%
५. ,, ,, ,, ५ लाख ,, ,,	२५%
६. ,, ,, ,, ५ लाख ,, ,,	४०%
७. ,, ,, ,, ५ लाख ,, ,,	५०%
८. ,, ,, ,, शेष मूल्य पर ,, ,,	८५%

सन् १९६६ का संशोधन—सन् १९६६–६७ के बजट में मृत्यु-कर के कुछ मध्यवर्ती खण्डों की दरों में वृद्धि की गई है, जैसा कि १ लाख रुपये से २ लाख रुपये तक, ८ प्रतिशत से बढ़ाकर १० प्रतिशत, ३½ लाख रुपये से ५ लाख रुपये तक, १५% से बढ़ाकर २५% और ५ लाख रुपये से १० लाख रुपये तक, २५% से बढ़ा कर ३०% वृद्धि की गई है।

भारतीय जायदाद-कर का भार—भारत में मृत्यु-कर अभी अपनी शिशु अवस्था में ही है, इसलिए इसके भार का पता लगाना कठिन है। व्यक्तिगत करों (Personal Taxes) का भार साधारणतया कर की दर, न्यूनतम कर-रहित सीमा, कर सम्बन्धी अधिनियम में प्रदान की गई छूटें तथा अन्य प्रकार की रियायतों आदि पर निर्भर करता है। यही मृत्यु-कर के विषयों में भी सच है। जिस कर की दर बहुत प्रगतिशील होगी, कर-रहित सीमा बहुत नीची होगी तथा कर से बहुत कम छूटें होंगी, तो स्पष्ट ही है कि ऐसे कर का भार बहुत अधिक होगा। भारत में छूट की सीमा बहुत काफी ऊँची रखी गई हैं, जब कि ब्रिटेन में २७,००० रुपये, आस्ट्रेलिया में ३०,००० रुपये, लंका में २०,००० रुपये है। भारत एक निर्धन और खेतीहर देश है इसलिए यह देखते हुए कर-रहित सीमा काफी ऊँची है। जहाँ तक कर की दर का सम्बन्ध है भारत में कर के ८ खण्ड (Slabs) हैं और प्रगतिशील दर पर

०% है बढ़कर ८५% तक कर लगता है जबकि इंगलैंड में कर की दर १% से ८०% हैं, अमेरिका में ३% से ७७% तक है। छूट और रियायतों के सम्बन्ध में भारत में निरन्तर मृत्यु होने की अवस्था में काफी उदारता दिखलाई गई है।

जायदाद-कर की आलोचना—भारत में जायदाद-कर की, कई कारणों से, आलोचना की गई है। प्रथम, यह कहा गया है कि भारतीय अधिनियम पूर्णतया उसी नमूने पर बनाया गया है जैसा कि ब्रिटेन में है। ब्रिटेन जैसी मृत्यु-कर प्रणाली भारतवर्ष के लिए कभी भी उचित नहीं हो सकती। क्योंकि भारत की परिस्थितियाँ ब्रिटेन की परिस्थितियों से पूर्णतया भिन्न हैं। परन्तु इस प्रकार की आलोचना न्यायानुकूल नहीं है। किसी भी नये कार्य को आरम्भ करने से पहले हमको उन देशों के अनुभवों से अवश्य ही लाभ उठाना होगा जहाँ पर वह कार्य पहले से ही किया जा रहा है और कभी-कभी तो दूसरे देशों की व्यवस्था के नमूने पर ही नये कार्य के संचालन की व्यवस्था अपने देश में भी स्थापित करनी पड़ती है। इसलिए यदि मृत्यु-कर के सम्बन्ध में हमने ब्रिटेन जैसी व्यवस्था अपनाई है तो हमने कोई त्रुटि नहीं की है। हमें इस बात की भी तो स्वतन्त्रता है कि जैसे-जैसे अनुभव होते जायें हम मृत्यु-कर प्रणाली में परिवर्तन कर लें। इसलिए इस बात पर विरोध करना उचित प्रतीत नहीं होता। दूसरे, मृत्यु-कर के सम्बन्ध में एक बड़ी कठिनाई यह भी है कि हमारे देश में भिन्न-भिन्न उत्तराधिकारी प्रणालियाँ प्रचलित होने से कर का भार समान रूप से विभिन्न जातियों पर नहीं पड़ता। यह आलोचना कुछ सीमा तक सही भी है। वास्तव में हिन्दू संयुक्त परिवार के सम्बन्ध में तो यह कठिनाई मुख्य रूप से अनुभव होती है। परन्तु अधिनियम में इस कठिनाई को दूर करने की व्यवस्था की गई है। एक तो उत्तराधिकार-कर के स्थान पर जायदाद-कर लागू किया गया है और मृतक व्यक्ति द्वारा छोड़ी गई पूरी सम्पत्ति पर ही कर लिया जाता है। इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि यह उतना न्यायशील नहीं है जितना कि उत्तराधिकार-कर होता है। परन्तु फिर भी कुछ समानता अवश्य प्राप्त हो जाती है। तीसरे, भारतवर्ष में औद्योगिक संगठन अधिकतर एकाकी उत्पादन प्रणाली के रूप में किया जाता है। यहाँ पर सम्मिलित पूँजी कम्पनियाँ बहुत कम स्थापित हुई हैं अतः अन्य उन्नत देशों की अपेक्षा यहाँ पर मृत्यु-कर बचतों और कार्य करने की शक्ति को अधिक हतोत्साहित करेगा। सम्मिलित पूँजी कम्पनी में यह सुविधा रहती है कि किसी भी अंशधारी (Shareholder) की मृत्यु के बाद मृत्यु-कर का भुगतान कम्पनी के हिस्सों को बेचकर प्राप्त किया जा सकता है। परन्तु एकाकी उत्पादन प्रणाली या साझेदारी में मृत्यु-कर का भुगतान करने के लिए व्यक्ति की सम्पत्ति को बेचना पड़ता है। अतः जबकि सम्मिलित पूँजी कम्पनी का जीवन स्थायी बना रहता है साझेदारी या एकाकी उत्पादन व्यवस्था का शीघ्र ही अन्त हो जाता है, जिससे उत्तराधिकारियों को भी हानि होती है और देश में व्यापार तथा उद्योगों को बहुत धक्का पहुँचता है। चौथे, जब कि अधिनियम में जीवन बीमा से प्राप्त धन पर कर नहीं लिया जाता, फिर भी कर की दर को निश्चित करते समय उस राशि को भी सम्मिलित कर

लिया जाता है। यह बिल्कुल भी न्यायपूर्ण नहीं है। एक तो परोक्ष रूप से बीमा की राशि पर कुछ न कुछ कर तो इस प्रकार लग ही जाता है दूसरे जीवन बीमा से प्राप्त राशि को पूरी छूट न देकर जीवन बीमा के महत्व को ही समाप्त कर दिया गया है। यद्यपि दाह संस्कार के खर्चों को भी कर के क्षेत्र से बाहर रखा गया है परन्तु एक बड़ी कमी अधिनियम में यह है कि बच्चों की शिक्षा आदि के व्यय पर किसी प्रकार की भी छूट नहीं दी गई है। अन्त में अधिनियम की इस बात पर भी आलोचना की गई है कि कर-रहित सीमा बहुत ही नीची है जिससे मध्यम-वर्ग के व्यक्तियों को बहुत अधिक कर का भार सहन करना पड़ता है, परन्तु दूसरी ओर कुछ ऐसे भी व्यक्ति हैं जिनके अनुसार कर रहित सीमा बहुत ऊँची है। इन विरोधात्मक विचारों को यूं ही छोड़कर हम कह सकते हैं कि समय की प्रगति के साथ जैसे-जैसे अनुभव बढ़ते जायेंगे वैसे ही मृत्यु-कर प्रणाली में उचित संशोधन होते जायेंगे। वास्तव में मृत्यु-कर को लगे हुए अभी इतना थोड़ा समय हुआ है कि उसके बारे में किसी भी प्रकार की आलोचना करना ठीक नहीं होगा।

इस प्रकार भारत में मृत्यु-कर के लागू होने से एक ऐसी आवश्यकता की पूर्ति हुई जो एक बहुत लम्बे समय से अनुभव हो रही थी। भारत में धन की असमानतायें बहुत अधिक होती जा रही थीं और इसलिए यह आवश्यक था कि इन असमानताओं को कम करने के लिए मृत्यु-कर लगाया जाए। साथ ही मृत्यु-कर, आय-कर की अपेक्षा बचतों को भी कम हतोत्साहित करता है। इसके अतिरिक्त मृत्यु-कर से राज्यों को अपनी विकास योजनाओं को पूरा करने के लिए अतिरिक्त आय भी मिल जाती है। अतः भारत में मृत्यु-कर परिस्थितियों को देखते हुए ठीक समय पर ही लागू किया गया है।

कुछ चुने हुए वर्षों में इस कर से प्राप्त आय का व्यौरा इस प्रकार है :—

१९५४–५५—०·८१ करोड़ रुपये	१९६१–६२—४·०० करोड़ रुपये
१९५५–५६—१·८१ ,, ,,	१९६३–६४—४·६७ ,, ,,
१९५९–६०—२·८५ ,, ,,	१९६४–६५—७·०० ,, ,,
१९६०–६१—३·०९ ,, ,,	१९६६–६७—७·४० ,, ,, (बजट)

अध्याय १६

संघ सरकार की आय के स्रोत (क्रमशः)

सम्पत्ति-करारोपण : उपहार-कर, धन-कर और पूँजी लाभ-कर

SOURCES OF REVENUE OF THE UNION GOVERNMENT (CONTD.)

(Property Taxation—Gifts-Tax, Wealth Tax and Capital Gains Tax)

पिछले अध्याय में हमने सम्पत्ति-करों के वंश का एक अत्यधिक महत्त्वपूर्ण कर—मृत्यु-कर—का अध्ययन किया था। इस अध्याय में हम सम्पत्ति-कर के तीन और रूपों का अध्ययन करेंगे। ये उपहार कर, धन कर, और विशेष पूँजी कर हैं। इनकी विवेचना हम इसी क्रम से करेंगे।

उपहार-कर (*Gifts Tax*)—उपहार-कर उस सम्पत्ति पर लगाया जाता है जिसको व्यक्ति अपने जीवनकाल में उपहार के रूप में दूसरे व्यक्तियों को देता है। हमने मृत्यु-कर का अध्ययन करते समय मृत्यु-कर सम्बन्धी इस कठिनाई की ओर संकेत किया था कि मृत्यु-कर की चोरी सम्पत्ति को उपहारों के रूप में देकर की जा सकती है। वास्तव में मृत्यु-कर की चोरी को बचाने के लिए ही उपहार-कर लगाया जाता है। अतः उपहार-कर इस दृष्टि से मृत्यु-कर का पूरक है। इस प्रकार यदि मृत्यु-कर आवश्यक है तो उपहार-कर भी उतना ही आवश्यक हो जाता है। भारत में उपहार-कर सर्वप्रथम १९५८ में लागू किया गया था और इसलिये यह अभी एक नया कर ही है। यद्यपि कर जाँच समिति ने उपहार-कर लागू करने के प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया था परन्तु अंग्रेजी अर्थशास्त्री प्रो० केल्डोर (Kaldor) ने बड़े ही प्रभावशाली शब्दों में इसको लागू करने का सुझाव दिया था और भारत में यह कर उन्हीं के सुझावों का परिणाम है। उस समय कर जांच समिति का यह मत था कि पहले मृत्यु-कर के कार्य-संचालन से उचित मात्रा में अनुभव प्राप्त किए जायें तत्पश्चात् उपहार-कर लगाया जाये। अनुभवों के अभाव में उपहार-कर का सफल होना असम्भव सा ही प्रतीत होता था। समिति के अनुसार उपहार-कर के लिए यह भी आवश्यक था कि मृत्यु-कर की दरें बहुत अधिक प्रगति-

शील हों और क्योंकि उस समय मृत्यु-कर की दरें बहुत नीची थीं इसलिए समिति ने उपहार-कर सम्बन्धी प्रस्ताव को स्वीकार कर दिया था।[1]

भारत सरकार ने प्रो० केल्डोर को भारतीय कर-प्रणाली में आवश्यक सुधार करने के लिए निमंत्रित किया था। प्रो० केल्डोर ने अपने प्रस्तावों में एक यह भी प्रस्ताव रखा कि भारत में उपहार-कर लगाया जाए। उनका प्रस्ताव था कि १० हजार रुपयों से अधिक मूल्य के उपहार पाने वालों पर यह कर लगाया जाए और धीरे-धीरे मृत्यु-कर के स्थान पर सारे देश में उपहार-कर सामान्य रूप से लागू किया जाए, क्योंकि मृत्यु-कर का विचार बहुत ही पुराना है। इसके अतिरिक्त उनके अनुसार जीवन-काल में दिए गए उपहारों और उत्तराधिकार में प्राप्त सम्पत्ति में कोई भी अन्तर नहीं है, इसलिए प्रगतिशील उपहार कर ही काफी होगा।[2]

प्रो० केल्डोर के प्रस्ताव के अनुसार सन् १९५८ में उपहार-कर लागू कर दिया गया। वास्तव में प्रत्यक्ष करारोपण में जो महत्वपूर्ण कड़ी गायब थी वह उपहार-कर के लगने से प्राप्त हो गई। साथ ही मृत्यु-कर की चोरी भी अधिक कठिन हो जाएगी और कर-भार का वितरण भी अधिक समान हो सकेगा। यह कर प्रत्येक प्रकार के उपहारों पर लागू किया जायगा और उपहार देने वाले व्यक्ति से कर वसूल किया जाएगा। यह कर उन सभी उपहारों पर लगाया जाएगा जो कि पिछले वर्ष में दिए गये थे। परन्तु कर की दर निर्धारित करने के लिए पिछले पाँच वर्षों के उपहारों को जोड़ कर जो दर उस राशि के लिए लागू की जाएगी वही उस वर्ष की दर भी होगी जिसका भुगतान होना है।

सन् १९६३–६४ तक उपहार-कर की दरें बिल्कुल मृत्यु-कर जैसी ही थीं। केवल इतना अन्तर था कि जब कि प्रथम खण्ड पर मृत्यु-कर प्राप्त किया नहीं जाता था, उपहार-कर लिया जाता था। यह दरें निम्न प्रकार थीं :—

पिछले वर्ष में दिए गए उपहारों का कुल मूल्य		उपहार-कर की दर
पहले	५०,००० रुपयों पर	४ प्रतिशत
अगले	५०,००० "	६ "
"	५०,००० "	८ "
"	५०,००० "	१० "
"	१,००,००० "	१२ "
"	२,००,००० "	१५ "
"	५,००,००० "	२० "
"	१०,००,००० "	२५ "
"	१०,००,००० "	३० "
"	२०,००,००० "	३५ "
५० लाख रुपयों से अधिक राशि पर		४० "

1. Report, p. 245.
2. Report on Iudian Tax Reform, p. 12

सन् १९६४ के संशोधन—सन् १९६४–६५ के वजट में जायदाद-कर की दरों में, परिवर्तनों के साथ-साथ उपहार-कर की दरों में भी परिवर्तन किये गये। कर रहित सीमा को १०,००० रु० से कम करके ५,००० रु० कर दिया गया। कर की दरों में भी तीव्र वृद्धि की गई। पहले अधिकतम दर, ५० लाख रु० पर ४० प्रतिशत थी, किन्तु अब केवल ३,४५०,००० रु० पर ५० प्रतिशत है। इसके अतिरिक्त कर की दर एवं राशि निर्धारित करने के लिए पिछले ५ वर्षों में दिये गये उपहारों की भी गणना की जायगी। वर्तमान दरें इस प्रकार हैं :—

उपहारों का मूल्य	कर की दर
१. पहले ५ हजार रु० पर	४ प्रतिशत
२. अगले १५ हजार रु० पर	८ "
३. " २५ " "	१५ "
४. " १ लाख "	२५ "
५. " २ लाख "	४० "
६. शेष पर	५० "

कर से छूट—किसी भी वर्ष में ५ हजार रु० के मूल्यों के उपहारों पर कोई कर नहीं लगेगा और इससे ऊपर की जितनी भी राशि होगी उस पर उपर्युक्त दरों से कर की राशि निर्धारित की जायेगी। केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों, स्थानीय पदाधिकारी और धर्मार्थ संस्थाओं (Charitable Institutions) को दिए गए उपहार; किसी आश्रित स्त्री की शादी के अवसर पर १०,००० रुपयों तक के मूल्य के उपहार; अपनी धर्मपत्नी को ५० हजार रुपयों तक के उपहार; निर्भरकर्त्ताओं को; बीमा पालिसियों के उपहार (१०,००० रुपये प्रति निर्भरकर्त्ता के हिसाब से); विदेशों में स्थित अचल सम्पत्ति के उपहार; विदेशियों द्वारा ऐसी चल सम्पत्ति के उपहार जो विदेशों में स्थित हैं; वसीयतनामों द्वारा दिए गए उपहार; सरकारी कम्पनियों द्वारा दिए गए उपहार; सरकारी निगमों द्वारा दिए गए उपहार; जनता द्वारा प्रवन्धित ऐसी कम्पनियों के उपहार जिनका नियंत्रण ६ से कम व्यक्ति नहीं करते हैं तथा दान-सम्बन्धी संस्थाओं द्वारा दिये गये उपहारों पर कोई भी कर नहीं लिया जायेगा। यदि कोई व्यक्ति कर लागू होने वाले उपहार को देने के १५ दिन के अन्दर ही अन्दर स्वेच्छा से कर की राशि का पूर्णतः या अंशतः भुगतान कर देता है तो उसको कर की राशि में कुछ छूट प्रदान कर दी जायेगी। यदि एक पति कोई उपहार अपनी पत्नी को देता है और पत्नी उस उपहार को किसी दूसरे व्यक्ति को दे देती है तो ऐसा माना जायेगा कि वह उपहार पति द्वारा ही दिया गया है और उस पर कर ले लिया जायेगा। इसी प्रकार यदि कोई सम्पत्ति बाजार में प्रचलित मूल्य से कम पर बेची गई है तो उसके वास्तविक मूल्य की राशि और प्राप्त की गई राशि में जो अन्तर होगा उस राशि पर सरकार उपहार-कर ले लेगी। उपर्युक्त दोनों उपाय इसलिए किए गए हैं कि जिससे कर की चोरी न होने पाए।

सन् १९६६ के संशोधन :—

उपहार-कर की दरों को जायदाद-कर की दरों के स्तर पर लाने के लिए १९६६-६७ के बजट में विभिन्न खण्डों पर लागू होने वाली दरों में काफी कमी कर दी गई। छूट की सीमा ५,००० रु० से बढ़ा कर १०,००० रु० कर दी गई है। १०,०० रु० से २५,००० रु० तक के खण्ड की दर ८% से घटा कर ५% और १५ लाख रु० तक के विभिन्न खण्डों की दरों में भी कमी की गई है। १५ लाख रु० से ऊपर के खण्ड की दर वर्तमान दर के समान ही रखी गई है।

कर का प्रबन्ध आय-कर विभाग द्वारा किया जायेगा और सभी बातों में यह आय-कर के समान होगा। कर की राशि निश्चित करते समय सम्पत्ति का मूल्य बाजार में प्रचलित मूल्य के हिसाब से लगाया जायेगा। इस कर से सन् १९५८–५९ में ९८ लाख रुपये, सन् १९५९–६० में ८० लाख रुपये; सन् १९६०–६१ में ८८ लाख रुपये; १९६१–६२ में १·०१ करोड़ रुपये और १९६३–६४ में १·१० करोड़ रुपये प्राप्त हुए और १९६४–६५ में ३·०,७ १९६५–६६ में ३ करोड़ और १९६६–६७ में भी ३ करोड़ रुपए प्राप्त होने की आशा है।

आशा है कि उपहार-कर भारत की अर्थ-व्यवस्था में एक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लेगा। इस कर से कई लाभ प्राप्त होंगे जैसे मृत्यु-कर तथा आय-कर की चोरी कम हो जायेगी। अन्य सम्पत्ति-करों के साथ-साथ उपहार-कर भी धन के वितरण की असमानताओं को कम करने में सहायता करेगा और नियोजन-सम्बन्धी कार्यों के लिए आवश्यक वित्त प्राप्त करने में भी सहायता करेगा। यह ध्यान रहे कि यद्यपि उपहार कर भारत में केल्डोर के प्रस्ताव के अधीन लगाया गया है, परन्तु यह केल्डोर योजना से पूर्णतया भिन्न है। उसके अनुसार कर उपहार पाने वाले व्यक्ति पर लगना था और कर की दर उपहार के मूल्य के अनुसार नहीं वरन् उपहार प्राप्त करने वाले के वास्तविक धन (उपहार को सम्मिलित करके) के अनुसार प्रगतिशील होनी थी। इसके अतिरिक्त उसका प्रस्ताव था कि भारत में मृत्यु-कर के स्थान पर सामान्य उपहार-कर लागू किया जाये। परन्तु भारतीय उपहार-कर मृत्यु-कर के अतिरिक्त लागू किया गया है। यह कर उपहार देने वाले व्यक्ति पर लगाया गया है और इसकी दर को उपहार के मूल्य के अनुसार प्रगतिशील बनाया गया है।

अधिकतर व्यक्तियों का यही विचार है कि भारत में उपहार-कर की सफलता की सम्भावना कम ही है। इसके कई कारण बताये जाते हैं। प्रथम यह पता लगाना ही कठिन हो जायगा कि उपहार किस-किस रूप में और कब दिए जाते हैं। इसके अतिरिक्त प्रचलित बाजारी दरों के हिसाब से सम्पत्ति का मूल्यांकन भी कठिन होगा और इसमें मुकदमेबाजी को भी प्रोत्साहन मिलेगा। परन्तु यह कठिनाइयाँ तो सम्पत्ति करों की विशेषतायें हैं जिनको किसी प्रकार भी दूर नहीं किया जा सकता। अनुभव प्राप्त होने के साथ-साथ इनको कम तो किया जा सकता है परन्तु पूर्णतया दूर नहीं किया जा सकता।

धन-कर (Wealth Tax)—यह कर एक व्यक्ति की सम्पत्ति या पूँजी के

कुल मूल्य पर लगाया जाता है। यह वार्षिक होता है और व्यापारिक कम्पनियों तथा निगमों की सम्पत्ति के मूल्य तथा धन पर लागू किया जाता है। यह कर बहुत ही पुराना है। अन्य सम्पत्ति-करों से यह कर इस बात में भिन्न है कि जबकि अन्य सम्पत्ति कर कुछ विशेष अवसरों पर ही लागू किये जाते हैं धन-कर प्रत्येक वर्ष ही लागू किया जाता है। यह एक सामान्य कर है क्योंकि यह सभी प्रकार की सम्पत्तियों पर लगाया जाता है और इसीलिए इसकी दरें अन्य सम्पत्ति करों की अपेक्षा अधिक नीची रहती हैं।

इस कर को लागू करने में दो मुख्य समस्यायें उत्पन्न होती हैं अर्थात् सभी प्रकार की सम्पत्तियों का पता लगाना और उनका मूल्य आँकना। करदाता की सम्पत्ति के अनेक रूप हो सकते हैं और यह सम्भव नहीं है कि वह अपनी सभी प्रकार की सम्पत्ति के बारे में पूर्ण सूचना दे दे। जेवर इत्यादि को तो बड़ी सरलता से ही छुपाया जा सकता है। फिर सम्पत्ति के आकार में भी समय-समय में परिवर्तन होते ही रहते हैं। अतः करदाता की वास्तविक सम्पत्ति को मालूम करना बहुत ही कठिन होता है। सम्पत्ति के मूल्य आँकने के सम्बन्ध में एक दूसरी कठिनाई और उत्पन्न होती है। यदि सम्पत्ति का मूल्य बाजार में प्रचलित दरों के अनुसार मालूम करना है तो बाजारी दरों के निरन्तर उतार-चढ़ाव से समस्या और भी विषम हो जाती है। यह भी सम्भव है कि आरम्भ में जिस मूल्य पर सम्पत्ति खरीदी गई थी या बनवाई गई थी उसी मूल्य को स्वीकार कर लिया जाय और कर लगा दिया जाए। परन्तु यहाँ यह कठिनाई होगी कि समय के साथ-साथ सम्पत्ति के प्रारम्भिक मूल्य में से कुछ कटौती की जाये या नहीं। क्योंकि समय बीतने के साथ-साथ सम्पत्ति पुरानी होती जाती है और उसका मूल्य कम होता जाता है। इसके अतिरिक्त कुछ सम्पत्तियाँ ऐसी भी होती हैं जिनके मूल्य आँकने सरल नहीं होते। इसलिए यह स्वाभाविक ही है कि धन या पूंजी पर कर लगाते समय किसी न किसी सीमा तक कर-अधिकारी मनमाने ढंग से काम करेंगे। उपहार-कर सम्बन्धी अधिनियम में अपील इत्यादि की भी व्यवस्था करनी होगी और जिन सम्पत्तियों का मूल्य आँकना सरल नहीं है उन पर कर की छूट भी देनी होगी।

यह विश्वास किया जाता है कि वार्षिक सम्पत्ति करों से बचतों की मात्रा देश में कम होने लगेगी। यह अवश्य है कि अन्य सम्पत्ति करों की प्रवृत्ति बचतों पर बुरा प्रभाव डालने की नहीं होती, परन्तु क्योंकि यह कर प्रत्येक वर्ष लगाया जाता है और पूँजी की प्रत्येक वृद्धि से कर का भार बढ़ता जाता है इसलिए यह सम्भव है कि बचत हतोत्साहित हों। परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि उत्पत्ति पर इसका बुरा प्रभाव अवश्य ही पड़े। उत्पादन किसी भी देश में विनियोगों की मात्रा पर निर्भर करता है और विनियोगों की मात्रा लाभ की दरों द्वारा निर्धारित होती है। इसलिए जब तक लाभ की दर ऊँची रहेगी विनियोग बढ़ते ही रहेंगे और उत्पादन भी बढ़ता ही जायेगा। अतः वार्षिक सम्पत्ति-कर का इतना बुरा प्रभाव नहीं होता जितना आय-कर का, क्योंकि आय-कर की दरें बहुत ही प्रगतिशील होती हैं, जबकि इस कर की

दर बहुत नीची होती है। यह कर वितरण की असमानताओं को दूर करने का अस्त्र है। इसका सबसे बड़ा गुण यह है कि करदाता की सम्पत्तियों में जो वार्षिक वृद्धियाँ होती हैं वे भी कर के क्षेत्र में आ जाती हैं जबकि अन्य प्रकार के सम्पत्ति कर ऐसा नहीं कर पाते हैं। यह कर करदान योग्यता को ज्ञात करने का भी एक अच्छा आधार है। इसके अतिरिक्त इस कर को प्रगतिशील भी बनाया जा सकता है। यह कर अन्य सम्पत्ति करों की अपेक्षा अधिक क्रियात्मक है, क्योंकि यह बार-बार उत्पन्न होता है। भारत में यह कर सन् १९५७ में लागू किया गया था। इसका प्रस्ताव भी प्रो० केल्डोर ने दिया था। उन्होंने इसका पक्ष समानता के आधार पर एवं आर्थिक प्रभावों तथा प्रशासन-सम्बन्धी कुशलता के आधार पर लिया था। उनका विश्वास था कि अकेली आय ही किसी व्यक्ति की करदान योग्यता का अच्छा माप नहीं है। यदि आय-करों के साथ-साथ सम्पत्ति करों को लागू कर दिया जाय जब कर-प्रणाली करदान योग्यता के पूर्णतया अनुकूल होगी। इसके अतिरिक्त जो कर सम्पत्ति के मूल्यों पर लगाये जाते हैं वे जोखिम वाले विनियोगों और जोखिम रहित विनियोगों के बीच उस प्रकार भेद नहीं करते, जैसे कि आय-कर द्वारा होता है। अर्थात् सम्पत्ति करों से बचत हतोत्साहित नहीं होती और जोखिम वाले उपक्रमों की भी प्रगति होती रहती है। आय-कर में, जोखिम वाले उद्योगों में आय की मात्रा अधिक होने के कारण अधिक कर वसूल किया जाता है परन्तु सम्पत्ति करों में यह दर लगभग समान ही रहती है। आय-कर और सम्पत्ति कर दोनों की उपस्थिति में कर-प्रणाली की व्यवस्था अधिक कुशल हो जाती है और कर की चोरी भी बच जाती है। इन्हीं कारणों से प्रो० केल्डोर ने अपनी समुचित योजना (Integrated Scheme) में धन-कर को सम्मिलित किया था।

भारत में धन-कर सन् १९५७ में लागू किया गया था। यह व्यक्तियों, कम्पनियों तथा हिन्दू संयुक्त परिवारों के वास्तविक धन पर एक वार्षिक कर था। प्रो० केल्डोर के प्रस्तावों और भारतीय धन-कर अधिनियम में ये अन्तर थे कि भारतीय अधिनियम में कम्पनियाँ भी कर-क्षेत्र में सम्मिलित कर ली गई थीं। कर की दरें, प्रो० केल्डोर के प्रस्ताव की अपेक्षा नीची थीं और कर की छूटें भी अधिक उदार थीं। न्यूनतम कर-रहित सीमा व्यक्तियों के लिए दो लाख रुपये और हिन्दू सम्मिलित परिवारों के लिए चार लाख रुपये थी। व्यक्तियों के लिए कर की दरें निम्न प्रकार थीं :—

कर-रहित सीमा के बाद प्रथम १० लाख रुपये पर	½ प्रतिशत
अगले १० लाख रुपये पर	१ प्रतिशत
शेष पर	१½ प्रतिशत

हिन्दू संयुक्त परिवारों के लिए कर की दरें निम्न प्रकार थीं :—

कर-रहित सीमा के ऊपर ६ लाख रुपयों पर	½ प्रतिशत
अगले १० लाख रुपयों पर	१ प्रतिशत
शेष पर	१½ प्रतिशत

कम्पनियों के लिए ५ लाख रुपयों के आदेयों (Assets) पर कोई कर नहीं था, शेष पर $\frac{1}{2}$ प्रतिशत की सामान्य दर से कर लगाया था। धन कर का प्रशासन भी आय-कर विभाग को सौंप दिया गया है। व्यक्तियों और हिन्दू सम्मिलित परिवारों की सम्पत्ति का मूल्य बाजारी दरों के अनुसार आँका जाता है। व्यापारिक संस्थाओं तथा कम्पनियों पर कर का निर्धारण उनके हिसाब के चिट्ठों (Balance Sheets) के आधार पर किया जाता है।

सन् १९६२–६३ तथा १९६४ में इस कर में महत्त्वपूर्ण संशोधन किये गये हैं। व्यक्तियों के लिए कर की वर्तमान दरें निम्न प्रकार हैं :—

पहिले १ लाख रु० पर	कुछ नहीं
अगले ४ लाख रु० पर	०·५ प्रतिशत
अगले ५ ,, ,,	१·० प्रतिशत
,, १० ,, ,,	२·० प्रतिशत
शेष पर	२·५ प्रतिशत

इस प्रकार अब न्यूनतम कर-रहित सीमा व्यक्तियों के लिए एक लाख रुपये और सम्मिलित हिन्दू परिवारों के लिए दो लाख रुपये कर दी गई है।

कर से छूटें—कुछ सम्पत्तियाँ कर से मुक्त हैं, जैसे कृषि सम्पत्तियाँ, ग्रामों में रहने के मकान, धार्मिक तथा धर्मार्थ न्यासों की सम्पत्तियाँ, कला-कौशल की वस्तुएँ, व्यक्तिगत सम्पत्ति जैसे फरनीचर, केवल २५ हजार रुपयों के मूल्य तक के, और प्रावधान कोष (Provident Fund) और बीमा पालिसियों की राशि इत्यादि। यदि किसी व्यक्ति के कुछ आदेय भारत में हैं और कुछ विदेशों में हैं तब विदेशों में स्थित आदेयों पर ५० प्रतिशत की समानुपातिक कटौती कर दी जायेगी। इसी प्रकार यदि विदेशियों की पूंजी भारत में लगी हुई है तो उस पर भी ५० प्रतिशत की कटौती की जायेगी। इस कर का पक्ष लेते हुए वित्त मन्त्री श्री कृष्णामाचारी ने कहा था कि वर्तमान आय-कर सम्बन्धी नियम तथा व्यवस्था इस योग्य नहीं है कि व्यक्तियों की कर-दान क्षमता का सही माप कर सके और आय-कर की चोरी को बचाने के लिए यह आवश्यक है कि किसी न किसी प्रकार का धन या सम्पत्ति-कर लागू किया जाए। उनके अनुसार यह विनियोगों को भी कम हतोत्साहित करेगा।

वित्त मन्त्री के आश्वासनों के पश्चात् भी बहुत से व्यक्तियों ने धन-कर की आलोचनायें कीं। इसके विरुद्ध पहली आलोचना यह की गई है कि क्योंकि यह वार्षिक कर है और प्रगतिशील है इसलिये यह बचतों को हतोत्साहित करेगा। परन्तु जैसा कि हम पहले कई बार कह चुके हैं आय-कर की तुलना में इसके प्रभाव कम बुरे होंगे। कर के विरुद्ध दूसरी आलोचना इस आधार पर की गई है कि जब विदेशों में यह कर केवल व्यक्तिगत सम्पत्ति एवं धन पर लगाया जाता है, भारत में कम्पनियों के आदेयों पर भी लागू किया गया है। परन्तु यह ध्यान रहे कि भारत में अधिकतर कम्पनियाँ थोड़े से व्यक्तियों के हाथ में होने के कारण इस कर का लगाना आवश्यक था। कुछ लोगों ने आलोचना इस आधार पर भी की है कि धन कर के लगने से

भारत में विदेशी पूँजी के विनियोग को प्रोत्साहन नहीं मिलेगा। परन्तु इस समस्या को दूर करने के लिए विदेशी कम्पनियों तथा व्यक्तियों के लिए कुछ रियायतें कर दी गई हैं। अन्त में सम्पत्ति के मूल्य आँकने के सम्बन्ध में जो कठिनाइयाँ हम पिछले पृष्ठों में अन्य सम्पत्ति-करों के सम्बन्ध में दे आये हैं उन कठिनाइयों के आधार पर इस कर की भी आलोचना की गई है, और जो वास्तविक भी है। सन् १९५९-६० का बजट प्रस्तुत करते हुए श्री देसाई, वित्त मन्त्री, ने घोषित किया कि अगले वर्ष धन-कर से सम्बन्धित सभी खण्डों पर ½ प्रतिशत की दर से कर में वृद्धि कर दी गई है। इस कर से सन् १९५७-५८ में ७·०४ करोड़, सन् १९५८-५९ में ९·६७ करोड़ रुपये, १९५९-६० में १२ करोड़, १९६०-६१ में ८·१५ करोड़, १९६१-६२ में ८·२९ करोड़, १९६३-६४ में १० करोड़ रुपये प्राप्त हुए, १९६४-६५ में ११·०५ करोड़ रुपये, १९६५-६६ में १४ करोड़ और १९६६-६७ में भी १४ करोड़ रुपये प्राप्त होने की आशा है।

पूँजी लाभ-कर (Capital Gains Tax)—मूल्यों में वृद्धि के कारण सम्पत्ति के क्रय-विक्रय से जो लाभ प्राप्त होता है उस लाभ पर जो कर लगाया जाता है उसे पूँजी लाभ-कर कहते हैं; अर्थात् यह कर उन लाभों पर लगाया जाता है जो किसी व्यक्ति को कम मूल्य पर सम्पत्ति खरीद कर अधिक मूल्य पर बेचने से प्राप्त होते हैं। इस प्रकार यदि किसी व्यक्ति ने ५०,००० रुपयों में भूमि खरीद कर १,००,००० रुपयों में बेची है तो उसको ५०,००० रुपयों का पूँजी लाभ प्राप्त हुआ। यह ध्यान रहे कि यह लाभ कभी-कभी ही प्राप्त होते हैं और अनिश्चित या आकस्मिक होते हैं। साथ ही साथ यह व्यक्ति-विशेष के मुख्य व्यवसाय से प्राप्त नहीं होते। उदाहरणार्थ यदि किसी व्यक्ति का व्यवसाय यही है कि वह भूमि खरीदे और बेचे और जो लाभ प्राप्त हों उनसे जीविका उपार्जन करे तो इस प्रकार के कर इसके अन्तर्गत नहीं आयेंगे। दूसरी ओर यदि कोई शिक्षक भूमि को बेचता है तो जो लाभ उसे प्राप्त होगा अवश्य ही उस पर कर लिया जायेगा। सम्पत्ति के विभिन्न रूप होते हैं, जैसे अचल सम्पत्ति; और चल सम्पत्ति; जैसे इमारतें, भूमि, ज़ेवरात, बांड, प्रतिभूतियाँ इत्यादि।

व्यक्तियों में इस बात पर बड़ा मतभेद है, कि पूँजी लाभ सम्पत्ति से प्राप्त लाभ नहीं है वरन् आय है और कुछ लोगों का विचार ठीक इसके विपरीत है। विभिन्न देशों में इस कर को लागू करने के लिए विभिन्न रीतियाँ अपनाई गई हैं। अमेरिका में इसको आय-कर का ही एक भाग माना गया है। इस कर के सम्बन्ध में मुख्य कठिनाई यह है कि जब लाभों पर कर लिया जाता है, तो क्या हानि के समय सरकार व्यक्तियों को कुछ आर्थिक सहायता देगी ताकि हानि की क्षति-पूर्ति हो सके। अभी तक तो व्यवहार में ऐसा नहीं हो पाया है।

भारत में पहिले यह कर सन् १९४७ में लगाया गया था। यह एक प्रगतिशील कर था जो १५,००० रुपयों की न्यूनतम मूल्य से अधिक की सम्पत्ति पर लगाया गया था। १५,००० रुपयों से ५०,००० रुपयों तक कर की दर एक आने प्रति

रुपया थी और १० लाख रुपयों से अधिक के लाभों पर कर की दर ५ आने प्रति रुपया तक थी। व्यापार की वस्तुओं के विक्रय, व्यक्तिगत उपभोग की वस्तुएं और कृषि-भूमि पर कोई कर नहीं था। जो हानि होती थी वह ६ वर्षों तक के लाभों में से पूरी की जा सकती थी और कर उस लाभ पर लगता था जो हानि को पूरा करने के बाद बचता था। यह कर केवल इसीलिए लगाया गया था कि उस समय युद्ध के कारण सम्पत्ति के मूल्यों में बहुत वृद्धि हो गई थी और सम्पत्ति के विक्रय से व्यक्तियों को बहुत लाभ प्राप्त हो रहे थे परन्तु सन् १९४९ में ही इसको हटा दिया गया था।

कर जाँच आयोग इस कर के महत्त्व से भली-भाँति परिचित था, परन्तु उसने उस समय इस कर को लगाने की इसलिए सिफारिश नहीं की थी क्योंकि उसके विचार में विनियोगों को प्रोत्साहित करने के लिए एक अच्छे वातावरण की आवश्यकता थी जिसको इस कर के लगाने से भंग होने का भय था। साथ ही उसने यह भी बताया कि विकास-सम्बन्धी कार्यों के प्रभाव से जब सामान्य मूल्य-स्तर लाभों तथा पूँजी के मूल्यों में वृद्धि होगी तब इस कर को लगाना अधिक लाभप्रद होगा। प्रो० केल्डोर ने अपनी कर-सुधार योजना में इस कर को लगाने का प्रस्ताव दिया था। उनका विचार था कि सभी प्रकार के लाभों तथा आयों पर, जो कम्पनियों को प्राप्त होते हैं, ७ आने प्रति रुपया की समान दर से कर लगाया जाय (यदि यह राशि २५,००० रुपयों से अधिक है तो)। यदि व्यक्तियों की आय तथा पूँजी लाभ २५,००० रुपयों से कम है तो उन पर नीची दरों से कर लगाना था।

यह कर दूसरी बार सन् १९५६ में लागू किया गया। भारत में पूँजीगत वस्तुओं के असाधारण विक्रय, विनिमय तथा हस्तान्तरण से प्राप्त होने वाले लाभों पर यह कर लगाया गया है। पूँजीगत वस्तुओं के अन्तर्गत साधारण व्यापार-सम्बन्धी वस्तुएँ, उपयोग की वस्तुएँ या कच्ची सामग्री जो व्यापारिक कार्यों के लिए होती हैं, व्यक्तिगत उपयोग की वस्तुयें और कृषि-भूमि के अतिरिक्त अन्य सभी प्रकार की सम्पत्तियाँ सम्मिलित की गई हैं। कुछ प्रकार के पूँजीगत लाभों को कर-क्षेत्र में सम्मिलित नहीं किया गया है; जैसे उपहार में सम्पत्ति से हस्तान्तरण के कारण प्राप्त होने वाले लाभ या हिन्दू सम्मिलित परिवार की सम्पत्ति के बँटवारे से उत्पन्न होने वाले लाभ, रिहाइश के मकान को बेचने से प्राप्त होते वाले लाभ आदि को कर-मुक्त रखा गया है। हमारे यहाँ यह कर आय-कर का ही एक भाग है। इस कर में सन् १९६२ और सन् १९६४ में कुछ संशोधन किये गये हैं। अब दीर्घकालीन तथा अल्पकालीन लाभों के बीच भेद करके कर की दर, तथा कर लागू करने की विधि को निश्चित किया जाता है। एक वर्ष से कम की अवधि में प्राप्त होने वाले लाभों को अल्पकालीन कहा गया है और अन्य लाभों को दीर्घकालीन। प्रथम प्रकार के लाभों पर कर, आय-कर के समान ही लगेगा। दूसरी प्रकार के लाभों को दो भागों में बांटा गया है:—भूमि तथा इमारतों से सम्बन्धित लाभ, जिन पर आय-कर के ७५% की दर से कर लगता है, तथा अन्य लाभ जिन पर आय-कर के ५०% की दर से कर लगता है। दीर्घकालीन लाभों पर भी

कर उसी समय लगेगा, जबकि वे ५००० रुपये से अधिक होंगे, और यदि किसी व्यक्ति की कुल आय पूँजीगत लाभों को मिलाकर किसी एक वर्ष में १०,००० रु० से कम होगी तो उस पर कोई कर नहीं लगेगा। कम्पनियों के पूँजीगत लाभों पर २५ प्रतिशत की दर से कर लगेगा। इसके अतिरिक्त दीर्घकालीन भूमि तथा इमारत-सम्बन्धी लाभों पर १५ प्रतिशत की दर से और अन्य लाभों पर ५ प्रतिशत की दर से अति-कर लगेगा। सन् १९६४–६५ से कम्पनियों के द्वारा बांटे गये बोनस हिस्सों को भी इस कर के अन्तर्गत ले लिया गया है। किसी वर्ष में अल्पकालीन सम्पत्तियों पर होने वाली हानि को उस वर्ष के लाभों में से निकाले जाने की सुविधा दी गई है और यदि ये हानियाँ उस वर्ष के लाभों में से पूरी न हो सकें तो वे ८ वर्षों तक के अल्पकालीन लाभों में से मुजरा की जा सकती हैं। दीर्घकालीन सम्पत्तियों से होने वाली हानियों को उस वर्ष के ही दीर्घकालीन लाभों में से मुजरा किया जा सकता है और इन्हें अगले वर्षों तक नहीं ले जाया जा सकता।

वास्तव में इस कर के लगने से व्यक्तिगत करारोपण (Personal Taxation) का ढाँचा भारत में अब पूरा हो गया है। निरन्तर बढ़ते हुए मूल्य की स्थिति में यह कर बहुत ही उचित है। यह कर प्रो० केल्डोर के प्रस्तावों के अनुकूल भी नहीं है, क्योंकि उन्होंने तो चार करों को एक साथ लगाने की एक समुचित योजना प्रस्तुत की थी। फिर भी यह विकास-सम्बन्धी व्ययों के परिणामस्वरूप उत्पन्न होने वाली मूल्य-वृद्धि को रोकेगा और आय की असमानताओं को भी कम करेगा।

अध्याय २०

संघ सरकार की आय के स्रोत (क्रमशः)

(वस्तु तथा व्यक्तिगत व्यय करारोपण)

SOURCES OF REVENUE OF THE UNION GOVERNMENT (CONTD.)

(Commodity and Personal Expenditure Taxation)

वस्तु करारोपण

प्राक्कथन—

वस्तु करारोपण के अन्तर्गत हम उन करों का अध्ययन करेंगे जो वस्तुओं के उत्पादन, क्रय एवं विक्रय, आयात, निर्यात आदि पर लगाये जाते हैं। इस अध्याय में हम केवल उन्हीं वस्तु-करों का अध्ययन करेंगे जो भारत सरकार की आय के स्रोत हैं, अर्थात् उत्पादन-कर (Excise duties) और सीमा-शुल्क (Custom duties)। यद्यपि-विक्री-कर (Sales tax), चुंगी-कर (Octroi duty) और मार्गान्त-कर (Terminal taxes) भी वस्तु-कर हैं, किन्तु हम विक्री कर का अध्ययन राज्यों की वित्त-व्यवस्था (State Finances) का अध्ययन करते समय करेंगे और अन्तिम दो करों का अध्ययन हम स्थानीय वित्त-व्यवस्था (Local Finances) के अध्ययन के साथ करेंगे।

वस्तुओं पर जो कर लगाये जाते हैं वे अप्रत्यक्ष कर (Indirect taxes) होते हैं। आधुनिक कर-प्रणालियों में इनका प्रमुख स्थान है और लगभग प्रत्येक देश के वित्तीय साधनों में इनका विशेष महत्व है। ये कर सोने के अण्डे देने वाली मुर्गी के समान हैं। सरकार को इनसे बहुत आय प्राप्त होती है। करारोपण के सिद्धांतों अथवा न्याय की दृष्टि से तो इन करों का इतना महत्व नहीं है जितना कि इनका आर्थिक एवं सामाजिक महत्व है। आर्थिक दृष्टिकोण से सरकार को इनसे आय प्राप्त होती है और सामाजिक दृष्टिकोण से इनके द्वारा हानिकारक वस्तुओं का उपभोग नियमित किया जा सकता है। परन्तु ऐसे कर देश में वस्तुओं के उत्पादन को प्रोत्साहित नहीं करते, क्योंकि मूल्यों में वृद्धि होने के कारण वस्तुओं का उपभोग

कम होता जाता है। ये कर प्रतिगामी भी होते हैं, यदि ये ऐसी वस्तुओं पर लगाए जाते हैं जिनका उपभोग अधिकतर किया जाता है। निम्न में हम इन करों का विस्तार से अध्ययन करेंगे :—

उत्पादन-कर (Excise Duties)—

यह कर देश में उत्पन्न की हुई वस्तुओं पर लगाया जाता है। यह कर या तो उस समय लगाया जाता है जबकि वस्तुएँ बन रही होती हैं, या यह उनके उपभोक्ताओं तक पहुँचने से पहले ही लगा दिया जाता है। यह एक अप्रत्यक्ष-कर है और क्योंकि यह वस्तुओं तथा सेवाओं पर लगाया जाता है, इसलिए इसका भार उपभोक्ताओं पर पड़ता है। इस उद्देश्य से कि इसका भार निर्धन व्यक्तियों पर कम पड़े, यह कर अधिकतर विलासयुक्त या प्रतिष्ठा-सम्बन्धी वस्तुओं पर लगता है। यह कर जीवन की परम आवश्यक वस्तुओं पर नहीं लगता। विलासयुक्त वस्तुओं में सबसे उपयुक्त, मोटर गाड़ियाँ तथा उनसे सम्बन्धित वस्तुएँ, रेडियो इत्यादि वस्तुयें हैं। प्रतिष्ठा-सम्बन्धी वस्तुओं पर जैसे, तम्बाकू, सिगरेट, अफीम, मादक पेय आदि पर केवल इसलिए कर लगाया जाता है ताकि व्यक्ति इन वस्तुओं का उपभोग कम कर दें और संयमी, सदाचारी और गम्भीर बनें। लगभग सभी धर्मों में नशीली वस्तुओं के उपभोग को बुरा बताया गया है और आध्यात्मिकता को बल प्रदान किया गया है, इसीलिए तो प्राचीन समय से ही इन वस्तुओं पर उत्पादन-कर लगाया जा रहा है।

यह कर कई प्रकार से लगाया जा सकता है। प्रथम रीति तो यह हो सकती है कि वस्तु-विशेष की वास्तविक उत्पत्ति की मात्रा पर लगाया जाये। परन्तु इस रीति में कर की चोरी होने की बहुत संभावना है। यदि कर की चोरी कम करना है तो बहुत ही लम्बी–चौड़ी व्यवस्था करनी होगी। वस्तु के उत्पादन की हर दशा में तथा हर स्थिति पर निगाह रखनी होगी और प्रत्येक दिन के उत्पादन का ब्यौरा रखना होगा, ताकि उत्पत्ति की मात्रा में किसी प्रकार की उलट-फेर न हो सके। यदि एक ही वस्तु के बहुत से छोटे-छोटे उत्पादक हैं और सरकार को वास्तविक उत्पादन का पता लगाना कठिन हो तथा अपव्ययी भी हो, तो दूसरी रीति यह होती है कि सरकार यह अनिवार्य कर दे कि व्यक्तियों को उस वस्तु के उत्पादन के लिए लाइसेन्स लेने होंगे और लाइसेन्स जारी करते समय इनसे कुछ पैसा ले ले। इसकी अन्तिम रीति यह होती है कि सरकार किसी वस्तु का उत्पादन स्वयं एकाधिकारी के रूप में करे और कर को वस्तु के मूल्य में मिलाकर उपभोक्ताओं से वसूल कर ले।

उत्पादन-कर का भार उपभोक्ताओं पर ही पड़ता है, जिसका परिणाम यह होता है कि उपभोग का स्तर नीचा होता जाता है। इसीलिए यह ऐसी वस्तुओं पर अधिक लगाया जाता है, जिनके उपभोग को सरकार कम करना चाहती है। यदि बिना सोचे-समझे, बिना कर के प्रभावों की ओर ध्यान दिये ही उत्पादन-कर लगा दिये जायेंगे तो उपभोग कम होने से व्यक्तियों की कार्य-क्षमता गिरती जायेगी। साथ

ही उत्पादन भी कम होता है और वस्तुओं का उत्पादन-व्यय बढ़ने लगता है। विदेशी वस्तुओं के आयात, ऐसी स्थिति में प्रोत्साहित होते हैं। इसीलिये देश के उद्योगों को हानि से बचाने के लिए, विदेशी वस्तुओं पर आयात-कर लगा दिये जाते हैं। जो उत्पादन-कर विलासयुक्त वस्तुओं पर लगाये जाते हैं वे प्रगतिशील भी होते हैं और धनी व्यक्तियों पर उनका भार पड़ने के कारण धन की असमानताओं को भी कम करते हैं। अतः देश के औद्योगिक विकास पर बुरा प्रभाव न पड़ने देने के लिए यह भी आवश्यक है कि कर का भार सहायक वस्तुओं पर न पड़कर उपभोग की वस्तुओं पर पड़े। इसी प्रकार यह उत्पादन की अन्तिम अवस्था में हा लागू किया जाये, ताकि इसका भार उद्योगपतियों पर न पड़े। इसका एक लाभ यह भी होगा कि वस्तुओं में गुणात्मक भेद-भाव (qualitative differentiation) किया जा सकेगा—अर्थात् अधिक गुण वाली वस्तुओं पर अधिक कर और कम गुण वाली वस्तुओं पर कम कर। अब हम इस स्थिति में हैं कि उत्पादन-करों के लाभ तथा अवगुणों की संक्षेप में गणना कर सकें। उत्पादन-कर के निम्न लाभ हैं :—

करदाताओं को ऐसे करों का भार मालूम नहीं पड़ता, क्योंकि ये वस्तुओं के मूल्य में ही मिले होते हैं, इसलिए ये अति सुविधाजनक होते हैं। दूसरा लाभ यह है कि यदि ये विलासयुक्त वस्तुओं पर लगाये जायें तो यह आय की असमानताओं को भी दूर कर सकते हैं। तीसरे, ये कर उत्पादक होते हैं और अन्त में ये हानिकारक वस्तुओं के उपभोग को नियमित करने में सफल होते हैं। इनके विरुद्ध ये तर्क दिये जाते हैं :—प्रथम, क्योंकि ये अधिकतर सामान्य उपभोग की वस्तुओं पर लगाये जाते हैं, इसलिए इनका भार निर्धन व्यक्तियों पर अधिक पड़ता है। इस प्रकार यह कर प्रतिगामी होते हैं। दूसरे, ये देश में वस्तुओं के उत्पादन को हतोत्साहित करते हैं और कभी-कभी तो देशी वस्तुओं के लिए यह असम्भव हो जाता है कि वे विदेशी वस्तुओं से प्रतियोगिता कर सकें। अन्त में इन करों में न्याय और लोचपूर्णता के सिद्धान्तों का पालन एक ही समय पर नहीं किया जा सकता, क्योंकि यदि ये न्याय की दृष्टि से लोचदार माँग वाली वस्तुओं पर लगाये जाते हैं तो इनमें लोचपूर्णता नहीं रहती और यदि ये लोचपूर्णता की दृष्टि से बेलोच माँग वाली वस्तुओं (जो अधिकतर सामान्य उपभोग वाली वस्तुयें होती हैं) पर लगाये जाते हैं, तो निर्धनों पर इनका भार अधिक पड़ने से इनकी न्यायपूर्णता समाप्त हो जाती है।

भारत में संघ सरकार द्वारा लगाये गए उत्पादन-कर—हमारे देश में उत्पादन-कर का इतिहास मुसलमानी शासन से आरम्भ होता है, जबकि मादक पेयों पर उत्पादन-कर लागू किया गया था। उस समय नशीली वस्तुओं की बिक्री का अधिकार उस व्यक्ति को दिया जाता था जो नीलाम में सबसे अधिक बोली बोलता था। ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना के बाद उत्पादन-कर प्रणाली में बहुत से परिवर्तन कर दिये गये। सन् १६०६ में नशीली वस्तुओं पर उत्पादन-कर लगाने का अधिकार प्रान्तों को सौंप दिया गया। आजकल जो भारत सरकार के उत्पादन-कर हैं, उनका इतिहास सन् १६१६ के ऐक्ट से आरम्भ होता है। इस ऐक्ट के अधीन उत्पादन कर

दो भागों में विभाजित किये गये थे। प्रथम, प्रान्तीय उत्पादन-कर और दूसरे केन्द्रीय उत्पादन-कर। यह विभाजन किसी प्रकार भी वैज्ञानिक नहीं था वरन् इसका मुख्य उद्देश्य प्रशासन-सम्बन्धी सुविधा को प्राप्त करना था। मादक पेयों के उत्पादन तथा विक्रय पर कर लगाने और वसूल करने का अधिकार प्रान्तों को सौंप दिया गया था और अफीम, आयात की हुई स्प्रिट, शक्कर, दियासलाई पर उत्पादन-कर लगाने का अधिकार केन्द्रीय सरकार को दिया गया था। सन् १९३५ के ऐक्ट में इन वस्तुओं की संख्या में और भी अधिक वृद्धि कर दी गई थी और नये संविधान के अनुसार संघ सरकार, एलकोहल-सम्बन्धी शराबों और अफीम, भारतीय भाँग और अन्य निद्राकारक औषधियों (Narcotic Drugs) के अतिरिक्त सभी वस्तुओं पर कर लगा सकती है। उपर्युक्त वस्तुओं पर उत्पादन-कर लगाने का अधिकार राज्य सरकारों को ही होगा। प्रथम वित्त आयोग की सिफारिश के अनुसार तम्बाकू, दियासलाइयों और वनस्पति वस्तुओं पर लगाए हुए उत्पादन-करों की आय का बँटवारा केन्द्रीय सरकार और राज्य सरकारों के बीच होगा। दूसरे वित्त आयोग ने इन वस्तुओं की संख्या को और बढ़ा दिया और अब शक्कर, चाय, कहवा, कागज और वनस्पति अनावश्यक तेलों की आय भी राज्यों और केन्द्रीय सरकारों में बँटेगी।

आजकल केन्द्रीय सरकार निम्न वस्तुओं पर उत्पादन-कर लगाती है :— तम्बाकू, रुई और उससे उत्पादित वस्तुएँ, चाय, कोयला, दियासलाई, चीनी, टायर, सिगरेट, सुपारी, साबुन, वनस्पति वस्तुएँ, वनस्पति अनावश्यक तेल, मोटर, स्प्रिट, कागज, स्पात पिंडक, रेशमी कपड़ा, सीमेंट, जूते आदि। सन् १९५३ में कपड़े पर ३ पाई फी गज की दर से उप-कर (Cess) लागू किया गया था जिससे प्राप्त आय में से करघा तथा खादी उद्योग को आर्थिक सहायता प्रदान की जानी थी।

अन्य करों की भाँति उत्पादन-करों की दरों में समय-समय पर परिवर्तन होते रहे हैं। सन् १९५७ में उत्पादन-करों में बहुत अधिक परिवर्तन किये गये थे। सन् १९५५ में कर जाँच आयोग का प्रस्ताव था कि मिट्टी का तेल, चीनी, दियासलाई, चाय, कपड़े पर करों की दरें बढ़ा दी जायें। आयोग ने तम्बाकू, सिगरेट, मोटर, स्प्रिट, स्पात पिंडक (Steel Ingots), टायर, वनस्पति वस्तुओं पर कर की दर न बढ़ाने का सुझाव दिया था। आयोग का यह भी सुझाव था कि कपड़ा सीने की मशीनें, ऊनी कपड़ा, बिस्कुट, कागज, बैट्रियाँ, पेन्ट तथा वार्निश, बिजली के पंखे, लैम्प तथा चीनी के बर्तनों पर भी उत्पादन-कर लागू कर दिया जाये। आयोग का विश्वास था कि काँच और चीनी के बर्तनों के अतिरिक्त अन्य सब वस्तुओं पर नीची दर से उत्पादन-कर लगाना उपयुक्त होगा।

सन् १९५७ का बजट प्रस्तुत करते हुए वित्त मन्त्री ने यह घोषित किया कि योजनाबद्ध आर्थिक विकास से सम्बन्धित करारोपण नीति का मुख्य उद्देश्य उपभोग को नियन्त्रित करना होता है ताकि मूल्यों के बढ़ने की प्रवृत्ति कम हो और विनियोगों की प्रवृत्ति में वृद्धि हो। स्पष्ट ही है, कि इस उद्देश्य की पूर्ति केवल अप्रत्यक्ष करारोपण द्वारा ही हो सकती थी। इसलिए कुछ उपभोग की वस्तुओं जैसे

मोटर-स्प्रिट, वनस्पति तेल, बनी हुई तम्बाकू तथा दियासलाइयों आदि वस्तुओं पर उत्पादन-करों की दरें बढ़ा दी गईं। इसके अतिरिक्त पूँजीगत वस्तुओं तथा कच्ची सामग्री जैसे, सीमेंट, स्पात पिंडक पर भी उत्पादन-कर बढ़ा दिया गया। यद्यपि वित्त मन्त्री ने यह विश्वास दिलाया कि उपभोग की वस्तुओं पर बढ़ाये हुए उत्पादन-कर का भार विक्रेताओं पर ही पड़ेगा और व्यापारियों तथा उद्योगपतियों के लाभ की दर कम हो जायगी, परन्तु यह कहना उचित ही होगा कि वित्त मन्त्री की आशा पूरी न हो सकी और इसका भार उपभोक्ताओं पर ही अधिक पड़ा। व्यवहार में इन करों की वृद्धि से कोई विशेष लाभ नहीं हुआ। क्योंकि एक ओर तो फुटकर मूल्यों में वृद्धि होती गई और दूसरी ओर सीमेंट तथा स्पात के मूल्य बढ़ जाने से मकानों तथा अन्य योजनाओं की लागतें बढ़ती गईं। सन् १९५८-५९ में सीमेंट और शक्ति द्वारा संचालित कर्घों से बने हुए कपड़ों पर उत्पादन-कर और बढ़ा दिया गया और वनस्पति वस्तुओं पर उत्पादन-कर को कम कर दिया गया। यहाँ पर यह बताना अनुपयुक्त न होगा कि भारत सरकार को कर-स्रोतों में सबसे अधिक आय उत्पादन-करों से ही प्राप्त होती है और इन करों से प्राप्त आय प्रत्येक वर्ष बढ़ती ही जा रही है। यह निम्न आंकड़ों से स्पष्ट हो जाता है। निम्न तालिका में राज्यों का हिस्सा निकालने के बाद केन्द्रीय सरकार को जो आय प्राप्त होती है उसके आंकड़े दिये गये हैं:—

(करोड़ रु० में)

वर्ष	आय	वर्ष	आय
१९५३–५४	७९·४१	१९५९–६०	३५०·८२
१९५४–५५	९३·११	१९६१–६२	४०८·६६
१९५५–५६	१२८·६८	१९६३–६४	५६७·४८
१९५६–५७	१७२·२१	१९६४–६५	६४५·७१
१९५७–५८	२२४·३३	१९६५–६६	७१५·४३
१९५८–५९	२३५·७९	१९६६–६७ (बजट)	७९९·२२

सन् १९५९–६० में रेशमी कपड़े पर पुराने ६ पाई के स्थान पर ६ नये पैसे प्रति गज की दर से उत्पादन-कर लगाया गया और रेशमी सूत पर ७ नये पैसे की दर से उत्पादन-कर में वृद्धि की गई। खंडसारी शक्कर पर भी बिक्री-कर के स्थान पर ७० नये पैसे की दर से उत्पादन-कर में वृद्धि की गई। डीज़ल तेल पर उत्पादन-कर में १० रु० प्रति टन की वृद्धि की गई। सन् १९६०–६१ के बजट में भी रेशमी कपड़ा, डीजल तेल, बिजली के पंखे, बैटरी तथा मोटरों पर उत्पादन-कर को बढ़ाया गया।

१९६६–१९६७ के बजट में कुछ वस्तुओं पर उत्पादन-कर की दर को बढ़ा दिया गया है, जैसे दानेदार चीनी का उत्पादन-कर प्रति क्विन्टल २८·६५ रु० से बढ़ा कर ३७ रु० कर दिया गया। इसी हिसाब से खण्डसारी के उत्पादन-कर में भी वृद्धि

कर दी गई है। सिगार और सिगरेट तथा सिगरेट बनाने के काम में आने वाला तम्बाकू सम्बन्धी उत्पादन कर में २५ से ३०% तक की वृद्धि की गई है। हल्के डीजल तेल पर ६० रु० प्रति किलो लिटर की वृद्धि की गई है। विदेशी रुई की खपत को कम करने के लिये सूती धागे, सूती कपड़े, रेशमी कपड़े तथा सूत पर उत्पादन-कर में वृद्धि की गई है। सोडियम सिलीकेड और कारबन डाई ऑक्साइड पर उत्पादन कर में भी वृद्धि की गई है। आशा है कि इन वृद्धियों से सरकार को सन् १९६६–६७ से ५२·८६ करोड़ रुपयों की अतिरिक्त आय प्राप्त होगी।

नमक कर—नमक उपभोग की एक आवश्यक वस्तु है। इसलिये इस पर कर लगाने से प्रत्येक देश की सरकार को बहुत आय प्राप्त हो सकती है। अन्य देशों की भांति भारत में भी बहुत प्राचीन समय से नमक पर कर लगता आया था। ब्रिटिश साम्राज्य-काल में तो नमक करारोपण की मुख्य वस्तु थी। परन्तु सन् १९४७ में नमक-कर समाप्त कर दिया गया। नमक-कर की समय-समय पर बहुत कड़ी आलोचना होती रही है। नमक उपभोग की एक आवश्यक वस्तु है। भारत के निवासी अत्यधिक निर्धन हैं अतः कर का भार उन पर बहुत अधिक पड़ता है। यह केवल व्यक्तियों के लिए ही नहीं वरन् जानवरों के लिए भी आवश्यक है। बहुत से रासायनिक उद्योग भी इस पर आधारित हैं। नमक पर कर लगने से न केवल मनुष्यों और जानवरों को ही हानि होती है बल्कि उद्योगों को भी क्षति पहुँचती है। इसी कारण देश के प्रमुख नेताओं ने इसका कड़ा विरोध किया था। दादा भाई नौरोजी, गोखले, महात्मा गांधी आदि सभी नेताओं ने इसके विरुद्ध आवाज उठाई थी। महात्मा गांधी के असहयोग आन्दोलन में नमक-कर नियम को तोड़ने का निश्चय एक मुख्य अंग था। महात्मा गांधी के शब्दों में यह कर "निर्धन व्यक्तियों के दृष्टिकोण से सबसे अधिक अन्यायपूर्ण है।" महात्मा गांधी की डंडी यात्रा चिरस्मरणीय रहेगी। इन्हीं सब का परिणाम यह हुआ कि सन् १९४७ में स्वतन्त्रता के पश्चात् इस कर को हटा दिया गया। वैसे भी इस कर से सरकार को कोई विशेष आय नहीं प्राप्त होती थी। लगभग ९ करोड़ रु० प्रति वर्ष की आय थी, जो कुल आय की केवल २ या ३ प्रतिशत ही थी।

भावुकता को परे रखकर यदि हम सत्यता और व्यावहारिकता की दृष्टि से देखें तो प्रतीत होगा कि नमक-कर का भार जितना अधिक बुरा समझा जाता है उतना अधिक है नहीं। यह अनुमान लगाया गया था कि एक वर्ष में एक व्यक्ति को तीन से चार आने देने पड़ते थे। इस प्रकार नमक-कर को हटाने से एक व्यक्ति को अधिक से अधिक चार आने का लाभ पूरे एक वर्ष में प्राप्त होता था। इसके अतिरिक्त चार आनों का यह लाभ कभी भी किसी एक समय पर प्राप्त नहीं होता, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति नमक को समय-समय पर थोड़ी-थोड़ी मात्रा में खरीदता है। इस तरह नमक-कर के हटाने से न तो व्यक्तियों के पास चार आने बचने से बहुत लाभ प्राप्त होगा और न नमक-कर के लगने से व्यक्तियों की जेब में से एक वर्ष में चार आने निकल जाने से उनको कोई विशेष हानि ही होगी, साथ ही सरकार को बहुत

अधिक नुकसान होता है। आजकल जब कि सरकार को विकास कार्यों के लिए धन की इतनी अधिक आवश्यकता है नमक-कर को फिर से लागू करना अनुचित न होगा विशेषकर जब कि कपड़ा, साबुन, अनाज और मिट्टी का तेल आदि आवश्यक वस्तुओं पर उत्पादन और बिक्री-कर लगे हुए हैं। देखा जाये तो इन वस्तुओं पर कर लगने से नमक-कर की अपेक्षा निर्धन व्यक्तियों पर अधिक भार पड़ता है। क्योंकि निर्धन व्यक्ति इन वस्तुओं पर अपनी आय का बहुत बड़ा भाग खर्च करते हैं। नमक-कर से उद्योगों को भी कोई विशेष हानि नहीं होगी। उद्योग सम्बन्धित बहुत सी ऐसी वस्तुओं पर कर लगे हुए हैं जो नमक की अपेक्षा अधिक आवश्यक हैं। इसलिये यह समझ में नहीं आता कि नमक-कर लगने से ही उद्योगों को कौन सी बड़ी हानि पहुँचने की सम्भावना हो सकती है। अतः नमक-कर का विरोध केवल भावुकता के आधार पर ही किया जा सकता है वरन् आर्थिक दृष्टिकोण से इस प्रकार के विरोध में कोई भी तथ्य नहीं है।

सीमा-शुल्क (Custom Duties)—

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से सीमा-शुल्क संसार में सबसे पुराना कर है। आरम्भ में यह कर व्यापारियों के व्यापारिक लाभों पर लगाया जाता था, परन्तु आजकल, उत्पादन-कर की भांति यह कर वस्तुओं पर लगाये जाते हैं। सीमा-शुल्क दो प्रकार के होते हैं—आयात-कर, जो उन वस्तुओं पर लगाये जाते हैं जो देश की सीमाओं के अन्दर विदेशों से आती हैं, और निर्यात-कर, जो उन वस्तुओं पर लगाये जाते हैं, जो देश की सीमाओं से बाहर विदेशों को भेजी जाती हैं।

निर्यात-कर—आरम्भ में यह कर बहुत ही लोकप्रिय था क्योंकि अधिकतर यही विचार था कि उसका भार आयातकर्ताओं पर पड़ता है। परन्तु सदैव ही ऐसा नहीं होता, क्योंकि जैसा कि हम कह चुके हैं, कर-भार, आयातकर्ता एवं निर्यातकर्ता देशों की वस्तुओं की माँग एवं पूर्ति की सापेक्षिक लोचों पर निर्भर करता है। निर्यात-कर सर्वप्रथम ऊन और खालों पर इंगलैण्ड में सन् १२७५ में लगने आरम्भ हुए थे। १७ वीं शताब्दी तक निर्यात कर योरोपीय देशों में बड़े ही लोकप्रिय रहे, क्योंकि इनको देश में अनाज की पूर्ति को बनाये रखने का एक साधन समझा जाता था। वाणिकवादी नीतियों (Mercantilistic Policies) की प्रगति एवं विकास के साथ-साथ, इनका सूर्य भी अस्त होता गया, क्योंकि यह विदेशी व्यापार में बाधा समझी जाने लगीं। स्वतन्त्र व्यापार की नीति ने तो इनके महत्व को पूर्णतया समाप्त कर दिया। परन्तु यह स्थिति बहुत वर्षों तक न चल सकी और समय ने भी करवट ली। निर्यात करों का महत्व फिर बढ़ने लगा। संरक्षा सम्बन्धी विचारों तथा राष्ट्रीयता की भावना की उन्नति के साथ-साथ और प्रथम महायुद्ध के बाद निर्यात-करों का प्रयोग फिर आरम्भ हुआ। आजकल यह अधिकतर पिछड़े हुए देशों में कच्ची सामग्री, खनिज पदार्थों और देश के प्राकृतिक साधनों को सुरक्षित रखने के लिए इन्हीं वस्तुओं के निर्यात पर लगाये जाते हैं। यह उन वस्तुओं पर भी लगाये जाते हैं,

जिनकी मांग वेलोच होती है, परन्तु इन वस्तुओं पर निर्यात कर लगाने का उद्देश्य इनको सुरक्षित रखने का नहीं होता, बल्कि अपनी श्रेष्ठता का प्रदर्शन करना होता है। कभी-कभी यह केवल आय प्राप्ति के उद्देश्य से ही लगाये जाते हैं, जबकि ये उत्पादन पर लगाये जाते हैं और केवल उसी भाग पर लगाये जाते हैं जिसका निर्यात होता है। यह ध्यान रहे कि इस प्रकार के कर बड़ी सावधानी और सोच-विचार के बाद लगाने चाहियें, क्योंकि इनके लगने से देशीय उत्पादक इस स्थिति में नहीं रहते कि विदेशियों से प्रतियोगिता कर सकें।

आयात-कर—जब से लोगों का यह भ्रम दूर हुआ और उन्हें यह मालूम हुआ है कि निर्यात-करों का भार आयातकर्ताओं पर नहीं पड़ता तब से आयात-करों का बहुत अधिक प्रयोग होने लगा है। इनका उपयोग विदेशी आयातों को रोकना और देशीय उद्योगों को विदेशी प्रतियोगिताओं से सुरक्षित रखने के लिए किया जाता है। जब से सरकारों ने नागरिकों के आर्थिक कल्याण के लिए नियोजन कार्य आरम्भ किया है, और नागरिकों के आर्थिक जीवन में अधिक मात्रा में हस्तक्षेप करना प्रारम्भ किया, उस समय से आज तक इनका उपयोग निरन्तर बढ़ता ही गया है। इनका उपयोग भी प्रथम महायुद्ध के बाद बहुत बढ़ा है। सन् १९३० के मन्दी काल तथा रूस में आर्थिक नियोजन की सफलता ने तो आयात-करों के गुणों को और भी अधिक प्रदर्शित कर दिया और यह सिद्ध कर दिया कि ये देश के उद्योगों को विदेशी प्रतियोगिता से बचाने के लिए एक शक्तिशाली अस्त्र हैं। इन करों को लगाने के मुख्यतया दो उद्देश्य होते हैं—प्रथम, संरक्षण और दूसरा, आय प्राप्त करना। कुछ लोगों का विश्वास है कि आयात-करों द्वारा विदेशी प्रतियोगिता को भी रोका जा सकता है और साथ ही आय भी प्राप्त की जा सकती है। परन्तु यह केवल एक भ्रम है, क्योंकि संरक्षात्मक-करों से विदेशी आयतें कम होंगी और सरकार की आय भी कम होगी। अतः या तो संरक्षण ही प्रदान किया जा सकता है या आय प्राप्त की जा सकती है। दोनों उद्देश्यों की पूर्ति एक साथ नहीं की जा सकती है। है तो यह बात सही, परन्तु सत्य यह भी है कि परोक्ष रूप से दोनों ही उद्देश्यों की पूर्ति होती है। यह असम्भव है कि संरक्षण हेतु जो सीमा-शुल्क लगाये जायें उनसे आय प्राप्त न हो या आय के उद्देश्य से सीमा-शुल्क लगाये जायें और उनके फलस्वरूप उद्योगों की रक्षा न हो। व्यवहार में सीमा-शुल्क इन दो उद्देश्यों के अतिरिक्त और भी उद्देश्यों की पूर्ति के लिए लगाए जाते हैं। उत्पादन-करों के बुरे प्रभावों को कम करने के उद्देश्य से भी सीमा-शुल्क लगाये जाते हैं। इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं कि उत्पादन-करों के फलस्वरूप वस्तुओं के मूल्य बढ़ ही जाते हैं, जिसके कारण देशीय व्यापारियों एव उत्पादकों को विदेशों से प्रतियोगिता करना असम्भव हो जाता है। विदेशी वस्तुओं पर कोई कर जो नहीं होता इसीलिए वे सस्ती होती हैं। सरकार इस भेद-भाव का अन्त करने के लिए विदेशी वस्तुओं पर आयात-कर लगाकर उनके मूल्यों को देशीय वस्तुओं के मूल्य के बराबर ले आती है। इसके अतिरिक्त सीमा-शुल्क द्वारा सरकार देश के मूल्य स्तर को भी प्रभावित कर सकती है। आयात-कर

कम करके सरकार आयातों को प्रोत्साहित करके देश के मूल्य-स्तर को नीचा कर सकती है और गिरते हुए मूल्य-स्तर को बहुत कुछ सीमा तक आयात-करों को बढ़ा कर ऊँचा कर सकती है। इसके विपरीत निर्यात-करों की वृद्धि द्वारा निर्यातों में कमी हो जाने से मूल्य-स्तर गिरने लगता है, और निर्यात-करों की कमी द्वारा निर्यातों के प्रोत्साहित होने से मूल्य-स्तर को ऊँचा किया जा सकता है। अतः आधुनिक कर-प्रणालियों में सीमा-शुल्क का बहुत महत्व है।

सीमा-शुल्क या तो मूल्यानुसार लगाये जाते हैं या परिमाणानुसार। जब ये मूल्यानुसार लगाये जाते हैं तो इन्हें यथा मूल्य (Ad valorem) कहते हैं और जब ये परिमाणानुसार लगते हैं तो इन्हें परिमाणिक (Specific) कहते हैं। प्रथम प्रकार के सीमा-शुल्क की दरें वस्तुओं के मूल्यों पर निर्भर करती हैं और ये प्रगतिशील होते हैं। दूसरी प्रकार के सीमा-शुल्क वस्तुओं की मात्रा, संख्या, आकार एवं भार के अनुसार लगते हैं और प्रतिगामी होते हैं, क्योंकि जो कर वस्तुओं की मात्रा एवं भार के अनुसार लगाये जाते हैं वे उपभोक्ताओं से वसूल कर लिये जाते हैं। प्रथम प्रकार के करों को निश्चित करना सरल नहीं होता, क्योंकि अधिकांश वस्तुएँ ऐसी होती हैं जिनका मूल्य नहीं आँका जा सकता। इसीलिए इनकी व्यवस्था भी बहुत कठिन होती है। दूसरी ओर प्रामाणिक सीमा-शुल्क बड़ी सुगमता से निश्चित किये जा सकते हैं और इनकी व्यवस्था भी इतनी जटिल नहीं होती। साथ ही इनकी दरें भी निश्चित होती हैं।

सीमा-शुल्क का भार (Incidence of Custom Duties)—सीमा-शुल्क का भार, वस्तुओं पर लगे हुए अन्य करों की भाँति, आयातकर्ता एवं निर्यातकर्ता देशों की वस्तुओं की माँग और पूर्ति की सापेक्षिक लोचों पर निर्भर करता है। यदि ऐसी वस्तुओं पर सीमा-शुल्क लगाये जाते हैं, जिनका उत्पादन कम नहीं किया जा सकता अर्थात्, जिनकी पूर्ति बेलोच होती है, तो इनका भार उत्पादकों पर पड़ता है। कर-भार निश्चित करते समय यह देखना होगा कि किन वस्तुओं पर निर्यात कर या आयात कर लगाये जा रहे हैं। कुछ वस्तुएँ ऐसी होती हैं जिनकी उत्पत्ति बेलोच होते हुए भी उनकी पूर्ति किसी अन्य देश-विशेष के लिए लोचदार होती है। यदि आयातकर्ता देश की ऐसी वस्तुओं पर आयात-कर लगाते हैं तो निर्यातकर्ता देश की निर्यातें कम हो जायेंगी और आयात-करों का भार आयातकर्ता देश के उपभोक्ताओं पर पड़ेगा, क्योंकि आयातें कम होने से वस्तुओं के मूल्य बढ़ जायेंगे। कर-भार आयातकर्ता देशों के उपभोक्ताओं पर और भी अधिक पड़ेगा यदि निर्यातकर्ता देश ऐसी वस्तुओं का उत्पादन कर रहा है जिनके उत्पादन में उसे एकाधिकार प्राप्त है।

इसी प्रकार यदि किसी देश के लिए, किसी वस्तु-विशेष की माँग बेलोच है, तो सीमा-शुल्क का भार आयातकर्ता देश के उपभोक्ताओं पर पड़ेगा। अधिकतर खाद्य पदार्थ एवं कच्चे माल पर लगे हुए करों का यही परिणाम होता है, चाहे ये सीमा-शुल्क आयातकर्ता देश द्वारा लगाये जायें या निर्यातकर्ता देश द्वारा, इनका भार

सदैव ही उपभोक्ताओं पर पड़ेगा। यह ध्यान रहे कि जबकि साधारणतया आयातकर्ता देश को किसी वस्तु की माँग बेलोच होती है, किन्तु किसी विशेष निर्यातकर्ता देश के सम्बन्ध में उसकी माँग लोचदार भी हो सकती है अर्थात् यदि कोई देश निर्यात-कर लगा देता है तो आयातकर्त्ता देश को यह स्वतन्त्रता होती है कि वह उन वस्तुओं को किसी अन्य देश से मँगा सकता है। उदाहरणार्थ, भारत अनाज कनाडा, अमेरिका, आस्ट्रेलिया आदि देशों से मंगा सकता है पर वह कनाडा से ही मंगाता है। यदि कनाडा यह समझकर कि भारत के लिए अनाज की माँग बेलोच है निर्यात-कर लगा देता है, जिससे अनाज के मूल्य ऊँचे हो जाते हैं तो भारत कनाडा से अनाज मंगाना बन्द करके आस्ट्रेलिया तथा अन्य देशों से मंगा सकता है। इस प्रकार जब कि भारत के लिए अनाज की माँग बेलोच है, किन्तु कनाडा में या किसी भी देश-विशेष के सम्बन्ध में भारत के लिए अनाज की मांग लोचदार हो सकती है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि सीमा-शुल्क का भार प्रत्येक देश के सौदा करने की शक्ति पर निर्भर करता है। अतः संक्षेप में हम कह सकते हैं कि यदि किसी देश की मांग दूसरे देशों की वस्तुओं के लिये अपनी वस्तुओं के लिए विदेशों की मांग की अपेक्षा, अधिक लोचदार है तो सीमा-शुल्क का भार दूसरे देशों पर पड़ेगा और यदि बेलोच है तो इसी देश पर पड़ेगा।

भारत में सीमा-शुल्क (Custom Duties in India)—मुसलिम काल में हमारे देश में सीमा-शुल्क की दर बहुत ही नीची थी और साधारणतया यह कहा जा सकता है कि यह दर मूल्यानुसार ५% थी। जब अंग्रेज हिन्दुस्तान में आये तो उन्होंने तत्कालीन प्रणाली में कोई भी परिवर्तन नहीं किया। उन्होंने केवल कुछ वस्तुओं के लिए सीमा-शुल्क की दरें बढ़ा दीं और अंग्रेजी वस्तुओं तथा गैर-अंग्रेजी वस्तुओं के बीच में इस प्रकार भेद-भाव करना आरम्भ कर दिया है कि अंग्रेजी वस्तुओं को लाभ प्राप्त हो। सन् १८५७ को अशान्ति तथा राष्ट्रीय भावना को दबाने के लिए सरकार ने जो व्यय किया था उसकी पूर्ति करने के उद्देश्य से सीमा-शुल्क की दर ५ से बढ़ाकर १०% कर दी। विलासिता की वस्तुओं पर तो २०% तक की दर थी। १९ वीं शताब्दी के बाद के वर्षों में स्वतन्त्र व्यापार की प्रगति से सीमा-शुल्क को समाप्त करने की प्रवृत्ति आरम्भ हुई, परन्तु सन् १८९४ में सरकार को वित्तीय क्षेत्रों में इतनी कठिनाइयाँ आरम्भ हुईं कि उसने सीमा-शुल्क की दरों को फिर से बढ़ाना आरम्भ कर दिया। उस समय सीमा-शुल्क भारतीय कपड़ा व सूत, लोहा तथा स्पात पर लगे हुए थे। इसके अतिरिक्त अन्य वस्तुओं पर तट-कर (Tariff duties) लगे हुए थे। प्रथम महायुद्ध के आरम्भ होते ही सरकार को सीमा-शुल्क की दरों को बढ़ाना पड़ा। परन्तु इस वृद्धि का मुख्य उद्देश्य आय प्राप्त करना था, संरक्षण प्रदान करना नहीं था। अभी तक भारतीय सरकार के मस्तिष्क में संरक्षण प्रदान करने की बात नहीं उत्पन्न हो पाई थी। सन् १९२२ के बाद भारतीय उद्योगों को संरक्षण प्रदान करने की योजना का श्रीगणेश हुआ। और साधारणतया आयात-करों में ४% की वृद्धि कर दी गई। ओटावा व्यापार

समझौते की स्वीकृति से भारत को सन् १९३२ में साम्राज्य अधिमान (Imperial preference) की नीति अपनानी पड़ी। फलस्वरूप भारत को अपनी सीमा-शुल्क की दरों में कुछ विशेष परिवर्तन करने पड़े जो इंगलैंड के पक्ष में थे। इसी प्रकार सन् १९३५ और ३९ में भी ब्रिटेन से समझौते हुए तथा जापान, ब्रह्मा आदि देशों से भी व्यापार समझौते हुए। ब्रिटेन से जो समझौता सन् १९३९ में हुआ उससे भारतीय तट कर-नीति की घोषित स्वतन्त्रता केवल दिखावटी ही थी। दूसरी लड़ाई में सामान्य रूप से सभी वस्तुओं पर सीमा-शुल्क बढ़ा दिये गये थे। सन् १९४७ में हमारे देश के सीमा-शुल्क में फिर से परिवर्तन हुए। शराब, सुपारी, सोना, चाँदी इत्यादि वस्तुओं पर सीमा-शुल्क बढ़ाये गये और मिट्टी के तेल इत्यादि वस्तुओं पर कम कर दिये गये। सन् १९४८–४९ में भी बहुत-सी वस्तुओं पर सीमा-शुल्क की दरें कम कर दी गईं। परन्तु अगले वर्ष ही बढ़ते हुए मूल्यों के रोकने के लिए सीमा-करों को फिर से बढ़ा दिया गया। कुछ वस्तुओं पर नये निर्यात-कर लगाये गये और कुछ पर नए आयात-कर लगाए गए।

राजकोषीय आयोग सन् १९४९—संरक्षण प्रदान करने के उद्देश्य से राजकोषीय आयोग ने उद्योगों को तीन वर्गों में विभाजित किया : (१) सुरक्षा तथा सैनिक महत्व के उद्योग, जिनको प्रत्येक स्थिति में ही संरक्षण प्रदान कर देना चाहिए। (२) आधारभूत उद्योग, जिनके विषय में यह निश्चय करने की, कि किन उद्योगों को कितने समय के लिए तथा कितनी मात्रा में संरक्षण प्रदान किया जाये, तटकर अधिकारी (Tariff Authority) को पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए। और (३) अन्य उद्योग जिनको, यह सोच-समझकर कि (अ) इससे उद्योग को क्या लाभ होंगे, तथा उद्योग-विशेष में अपने पैरों पर खड़ा होने की क्षमता भविष्य में उत्पन्न होगी, या नहीं, और (ब) क्या उद्योग-विशेष को संरक्षण प्रदान करना राष्ट्रीय हित में है, तथा उस पर किये जाने वाले व्यय का भार समाज पर अधिक तो नहीं पड़ेगा संरक्षण प्रदान किया जाये। आयोग के अनुसार कच्ची सामग्री तथा स्थानीय बाजार की उपलब्धता संरक्षण प्रदान करने के लिए आवश्यक शर्तें नहीं मानी जानी चाहियें और शिशु उद्योगों को भी संरक्षण प्रदान होना चाहिए। आयोग का सुझाव था कि संरक्षण-सम्बन्धी सभी प्रश्नों की जाँच-पड़ताल आदि के लिए एक स्थायी तटकर आयोग नियुक्त किया जाये। सरकार ने इस आयोग की सिफारिशों को स्वीकार कर लिया और उनको व्यावहारिक रूप भी प्रदान किया।

भारत तथा तटकर और व्यापार-सम्बन्धी सामान्य समझौता—भारत उन राष्ट्रों में से एक है, जिन्होंने व्यापार तथा तटकर प्रशुल्कों-सम्बन्धी सामान्य समझौते (General Agreement on Tariffs and Trade—GATT) पर हस्ताक्षर किये थे। इस समझौते के अनुसार भारत ने मशीनों तथा विभिन्न प्रकार की उपभोक्ता वस्तुओं पर लगे आयात-करों में विभिन्न सदस्य देशों को छूटें प्रदान की हैं। निर्यातों पर भी छूटें दी गई हैं। करारोपण जाँच आयोग के अनुमानानुसार इन छूटों के कारण भारत को सन् १९५२--५३ में ८५ लाख रु० की हानि हुई थी, इस

लिए आयोग का सुझाव था कि भविष्य में भारत को अपनी आवश्यकताओं को ध्यान में रख कर समझौते पर पुन: विचार करना चाहिए।

यह ध्यान रहे कि सन् १९३७-३८ से पहले सीमा-शुल्क से जो आय दखाई जाती थी उसमें केन्द्रीय उत्पादन-करों की आय भी सम्मिलित होती थी। दूसरी लड़ाई से सीमा-शुल्क से आय गिरती ही गई, क्योंकि दूसरे युद्ध-काल में भारतीय निर्यात और आयात भी बहुत कम हो गये थे। परन्तु लड़ाई खत्म होते ही इस आय में फिर से वृद्धि होने लगी और जब कि देश के विभाजन से भारतवर्ष को जूट निर्यात-कर से बहुत कम आय प्राप्त हो रही थी तब भी सीमा-शुल्क से आय बढ़ती ही गई। सीमा-शुल्क से इस बढ़ती हुई आय का मुख्य कारण यह है कि इन वर्षों में सीमा-शुल्क की दरों में विशेषकर विलासिता की वस्तुओं में सामान्य वृद्धि हुई थी। परिणामस्वरूप सरकार को सीमा-शुल्क से काफी आय प्राप्त होती गई और आज भी भारत सरकार को सीमा-शुल्क से बहुत आय प्राप्त हो रही है। आयात कर सभी वस्तुओं पर लागू होता है परन्तु कुछ विलासिता की वस्तुओं पर कर की दर अधिक है। कुछ वस्तुयें ऐसी हैं जिन पर ऊंची दर से संरक्षण के उद्देश्य से आयात-कर लगाये जाते हैं, और कुछ वस्तुएँ ऐसी हैं जिन पर आयात कर नहीं लगाये जाते हैं। विलासिता की वस्तुओं पर कर की दर ७५% से १००% तक है। आजकल सीमा-शुल्क मुख्य रूप से इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए लगाये जा रहे हैं। प्रथम, आय की प्राप्ति, दूसरे, मुद्रा-स्फीति को रोकना, तीसरे, देश की प्रमुख निर्यातों पर देश के भीतर तथा विदेशी मूल्यों के अन्तर से लाभ प्राप्त करना; और चौथे, आवश्यक कच्चे माल को देश से बाहर जाने से रोकना ताकि देशीय उद्योगों की माँग पूरी हो सके। यद्यपि सीमा-शुल्क भारत सरकार के बजट में आय का प्रमुख स्रोत रहे हैं परन्तु पिछले वर्षों में आयातों पर कड़े नियन्त्रण लग जाने से इनकी आय कम होती जा रही है और संघ सरकार के बजटों में इनका स्थान उत्पादन-करों ने ग्रहण करना आरम्भ कर दिया है। पिछले वर्षों में सीमा-शुल्क से इस प्रकार आय प्राप्त हुई थी :—सन् १९५३–५४ में १५८·७१ करोड़, १९५४–५५ में १८४·८६ करोड़, सन् १९५५–५६ में १६६·७० करोड़, सन् १९५६–५७ में १७३·२३ करोड़, सन् १९५७–५८ में १७९·९९ करोड़, सन् १९५८–५९ में १३८·२९ करोड़ रुपये, १९५९–६० में १६० करोड़, १९६१–६२ में २१२·२५ करोड़, १९६३-६४ में ३२० करोड़ प्राप्त हुए थे तथा १९६४–६५ में ३८५·०० करोड़, १९६५–६६ में ५३१·२० करोड़ और १९६६–६७ में ५६०·५२ करोड़ रुपए प्राप्त होने की आशा है।

सीमा-शुल्क के सम्बन्ध में कर जाँच आयोग ने निम्न सिफारिशें दी थीं[1] :—(अ) आयात करों की दरों को बढ़ाकर अधिक आय प्राप्त करना सम्भव नहीं है। (ब) आयात नियन्त्रण नीति में निरन्तर परिवर्तन होते रहने चाहियें ताकि उनसे अधिक आय प्राप्त हो सके। (स) विदेशों से व्यापारिक समझौते करते समय

1. Report of the *Taxation Enquiry Commission* Vol. II, p. 276-278.

सरकार को चाहिए कि वह केवल व्यापारिक दृष्टिकोण को ही सामने न रक्खे वल्कि आय पर भी विचार करे। (द) निर्यातों में विविधता उत्पन्न करके निर्यात-करों से प्राप्त आयों को बढ़ाया जा सकता है। (ह) निर्यात करों को, निर्यातों के नियन्त्रण के साधन के रूप में प्रयोग किया जा सकता है और विदेशी मूल्य-वृद्धि से देशी अर्थ-व्यवस्था को बचाया जा सकता है। (य) निर्यात-करों से प्राप्त आय को सरकार केवल कुछ विशेष उद्योगों के विकास के लिए ही उपयोग न करे।

व्यय-कर (Expenditure Tax)—

व्यय-कर लागू करने का विचार कोई नया नहीं है। पिछली शताब्दी में भी इसकी चर्चा हाब्स, मिल, मार्शल आदि लेखकों ने की थी किन्तु उनको व्यय-कर की व्यावहारिकता के बारे में सन्देह था। मार्शल तो प्रगतिशील व्यय-कर को अन्य करों की अपेक्षा सबसे अच्छा समझते थे।[2] कीन्स भी इसको सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से अच्छा समझते थे परन्तु उनका विश्वास था कि इसको व्यावहारिक रूप देना असम्भव था। गत वर्षों में प्रो० केल्डोर ने व्यय-कर का बहुत पक्ष लिया है और आजकल व्यय-कर की ओर ध्यान आकर्षित करने का श्रेय इन्हीं को प्राप्त है।

व्यय-कर, जैसा इसके नाम से ही विदित है, व्यक्ति-विशेष द्वारा किए गए कुल व्यय पर लगाया जाता है। इस कर के पक्षपाती 'व्यक्तिगत व्यय को आय की अपेक्षा करारोपण का अधिक उचित आधार मानते हैं। उनके अनुसार व्यय-कर, आय-कर की अपेक्षा अधिक न्यायपूर्ण है और इसके प्रभाव उत्पादन पर इतने बुरे नहीं होते जितने कि आय-कर के। प्रो० केल्डोर ने आय को करारोपण का उचित आधार मानने में आपत्ति की है। वह आय को व्यक्ति की कर-दान योग्यता का माप नहीं मानते। उनके विचार में व्यक्ति कितना कर दे सकता है, इस बात से निश्चित नहीं किया जा सकता कि उसकी आय कितनी है वरन् इस बात से निश्चित हो सकता है कि वह वास्तव में कितना व्यय करता है। केल्डोर ने तर्क देते हुए बताया कि इसके बारे में लेखक एक मत नहीं हैं कि करारोपण के लिए कौन-कौन से स्रोतों से प्राप्त आय को व्यक्ति की कुल आय में सम्मिलित किया जाये, क्योंकि एक व्यक्ति अपनी आय अनेक स्रोतों से प्राप्त करता है। कुछ आय ऐसी होती है जो आय-कर क्षेत्र में सम्मिलित नहीं की जाती, जैसे पूँजी-लाभ (capital gains)। इसीलिए भिन्न-भिन्न स्रोतों से प्राप्त करने वाले व्यक्तियों पर भिन्न-भिन्न रूप से कर लगाया जाता है, चाहे, उनकी कुल आय समान हो और उनकी व्यय-शक्ति भी समान क्यों न हो। यही नहीं वरन् एक व्यक्ति की व्यय करने की शक्ति इस बात पर भी निर्भर करती है, कि उसके पास सम्पत्ति कितनी है। यदि एक व्यक्ति के पास दूसरे की अपेक्षा अधिक सम्पत्ति है तो उसकी व्यय करने की शक्ति भी अधिक होगी। अतः उस धन में, जिसे मनुष्य खर्च करता है और वह धन जिसके आधार पर कर लगाया जाता है बहुत बड़ा अन्तर होता है। परिणामस्वरूप कुछ व्यक्तियों को अपनी कुल मौद्रिक आय पर कर देना पड़ता है और कुछ को अपनी कुल मौद्रिक आय के केवल

2. *Principles of Economics*, 1949, Appendix G., p. 661.

एक भाग पर ही कर देना पड़ता है। उदाहरणार्थ वेतनभोगी व्यक्तियों को अपनी कुल आय पर कर देना होता है, जबकि बड़ी-बड़ी सम्पत्ति वालों को केवल अपने व्यापारिक लाभों पर ही कर देना पड़ता है (सम्पत्ति के क्रय-विक्रय से जो लाभ होता है वह आय-कर में सम्मिलित नहीं किया जाता)। क्योंकि सभी प्रकार की आय अन्त में खर्च की जाती हैं, इसलिए आय की अपेक्षा व्यय करारोपण का अधिक न्यायसंगत आधार है।

व्यय-कर का पक्ष इस आधार पर भी लिया जाता है कि यह उत्पादन, बचतों तथा विनियोगों को इतना हतोत्साहित नहीं करता जितना आय-कर करता है। पिछले अध्यायों में हम यह कह ही चुके हैं कि आय-कर बचतों और विनियोगों को हतोत्साहित करता है। व्यक्तियों को विनियोग करने की रुचि इसलिए नहीं होती, क्योंकि वे जानते हैं कि विनियोगों से जो आय प्राप्त होगी उस पर भी कर देना पड़ेगा। इस प्रकार जब विनियोगों की ओर उनकी उदासीनता बढ़ती जाती है वे बचत भी कम करते जाते हैं और अपना खर्चा बढ़ाते जाते हैं। यदि व्यय के ऊपर कर लगाया जाय, तो व्यक्तियों में व्यय कम करने की रुचि उत्पन्न होगी, वे बचायेंगे परिणामस्वरूप बचतों को प्रोत्साहन मिलने से विनियोग भी बढ़ेंगे। अतः आय-कर जबकि बचतों और विनियोगों को हतोत्साहित करता है व्यय-कर उन्हें प्रोत्साहित करता है। व्यय-कर जोखिम सहन करने की शक्ति को भी कम नहीं करता। जब कि आय-कर की उपस्थिति में व्यक्ति नये उद्योग स्थापित करना नहीं चाहते, क्योंकि वे जानते हैं कि यदि आय होगी तो सरकार कर तो ले लेगी, परन्तु हानि होने की स्थिति में कोई मुआवज़ा नहीं देगी। दूसरी ओर व्यय-कर से इस तरह की भावना व्यक्तियों में कभी भी उत्पन्न नहीं होगी, क्योंकि व्यय-कर तो व्यक्तिगत व्यय पर लगता है। व्यक्ति जितनी चाहे आय प्राप्त करे, व्यय कर केवल उसी धन-राशि पर लगेगा, जिसका वह व्यय करेगा। इसी कारण व्यय-कर से व्यक्ति कार्य करने के लिये भी हतोत्साहित नहीं होता।

व्यय-कर के समर्थकों का यह भी विचार है कि व्यय-कर व्यक्तिगत उपभोग को नियमित करता है। यह शृंगार, सजावट, विलासयुक्त तथा बेकार की वस्तुओं के उपभोग को नियंत्रित करता है। धनी व्यक्ति अधिकतर ऐसी वस्तुओं पर अपनी आय का बहुत बड़ा भाग खर्च करते हैं, क्लबों और नाचघरों में, घुड़दौड़ों आदि में धन बर्बाद करते हैं। व्यय-कर इस प्रकार के सभी अनार्थिक व्ययों को कम करेगा और व्यक्तियों को सदाचारी बनायेगा। साथ ही बचे हुए धन का उपयोग अधिक उपयोगी तथा उत्पादक कार्यों में होने लगेगा। आय-कर तो इन खर्चों को प्रोत्साहित करता है। जब व्यक्ति यह देखते हैं कि सबसे ऊँचे खण्ड पर उनको रुपये में तेरह या पन्द्रह आने कर के रूप में देने पड़ेंगे तो वह कर की चोरी करते हैं और इस धन को उल्टा-सीधा खर्च करते हैं। इस प्रकार व्यय-कर में कर की चोरी भी नहीं होगी। प्रो० केल्डोर ने तो इस बात पर बहुत जोर दिया है।

व्यय-कर के विपक्ष में बहुधा यह कहा जाता है कि इस कर का प्रबन्ध एवं

व्यवस्था एक टेढ़ी खीर है। प्रत्येक व्यक्ति के लिए अपने व्यय का पूर्ण ब्यौरा रखना सरल नहीं है। बहुत से व्यय जो मनुष्य करता है, वे इतने मामूली होते हैं कि याद ही नहीं रहते; कुछ व्यय ऐसे होते हैं जिनको व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति को बताना नहीं चाहता। अतः पूरे खर्चों को लिखना और उनका हिसाब रखना व्यक्ति के बस की बात नहीं। इसके अतिरिक्त कर-अधिकारियों को भी व्यक्तियों के व्यक्तिगत जीवन में हस्तक्षेप करने का अनुचित अवसर प्राप्त होगा जिसका वे दुरुपयोग भी कर सकते हैं। इस सम्बन्ध में प्रो० केल्डोर आदि अर्थशास्त्रियों का विश्वास है कि व्यक्तिगत व्यय का विस्तृत ब्यौरा तैयार करना आवश्यक नहीं है। यदि हम व्यक्ति की कुल आय में से उसकी बचतों को घटा दें (जो साल के अन्त में उसके पास होंगी) तो हमको उस व्यक्ति के कुल व्यय का अनुमान हो जायेगा। इस अनुमान को प्राप्त करने के लिए हमको एक तो उस व्यक्ति की सारे स्रोतों से प्राप्त कुल आय का पता लगाना होगा और दूसरे इस आय में से उस धन-राशि को घटाना होगा जिसका उपयोग व्यक्तिगत व्यय के लिए नहीं हुआ है जैसे पूँजीगत वस्तुओं पर व्यय और साल के अन्त में बैंक जमा तथा नकदी। यह उस व्यक्ति का कुल व्यय होगा। इस व्यय में से कुछ वह कटौतियाँ करनी होंगी जिनकी सुविधा सरकार ने प्रदान कर रखी हैं। इस प्रकार जो धन-राशि आयेगी उस पर व्यय-कर लगाया जायेगा। यह ध्यान रहे कि चाहे जो भी विधि अपनाई जाये करारोपण के लिए व्यय की राशि का पता लगाने के लिए व्यक्तियों के हिसाबों की जांच-पड़ताल करनी होगी जो कर-अधिकारियों और करदाताओं दोनों के लिए असुविधाजनक होगी। अन्य करों की भांति इस कर में भी एक न्यूनतम कर-रहित सीमा निश्चित की जाती है। यदि किसी व्यक्ति का व्यय इस सीमा से अधिक है तब ही उसे कर का भुगतान करना होगा अन्यथा नहीं। कर को न्यायसंगत बनाने के लिए उन कारणों की ओर भी ध्यान देना होगा जो व्यक्ति के व्यय को बढ़ाने में सहायता करते हैं अर्थात् परिवार में सदस्यों की संख्या, बीमारी, दुर्घटना आदि पर व्यय। ऐसे व्ययों को भी कर-मुक्त करना होगा। यह भी देखना होगा कि यदि कोई व्यक्ति स्थायी पूंजी पर व्यय करे तब उस व्यय पर लगाया जाय या नहीं। यदि उस पर कर लिया जाता है तब व्यक्ति पर कर बहुत अधिक कर-भार पड़ेगा। इसलिये यह आवश्यक है कि इस प्रकार के व्यय को कई वर्षों में विभाजित कर दिया जाय और जो औसत राशि आये उसे कुल व्यय में सम्मिलित करके व्यय-कर निर्धारित किया जाये।

अर्ध-विकसित अर्थ-व्यवस्था और व्यय-कर—उपर्युक्त कठिनाइयों के कारण ही पूर्ण विकसित देशों ने व्यय-कर को लागू करना उपयुक्त नहीं समझा। किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि अर्ध-विकसित देशों के लिये भी यह कर उपयुक्त नहीं है। अर्ध-विकसित राष्ट्रों में विकास के लिये पर्याप्त धन एकत्रित करने के लिये आय के प्रत्येक स्रोत का उपयोग करना आवश्यक है। व्यय कर कई कारणों से ऐसे देशों के लिये उपयोगी सिद्ध हो सकता है—जैसे, प्रथम, इससे निजी बचतें तथा पूँजी निर्माण प्रोत्साहित होते हैं, जिनकी देश को इतनी अधिक आवश्यकता होती है, दूसरे,

यह कर आय-कर के वंचन से होने वाली हानि की पूर्ति कर सकता है; तीसरे, एक विकासशील अर्थ-व्यवस्था में विकास कार्यक्रमों की प्रगति के साथ-साथ मुद्रा-स्फीतिक प्रभाव उत्पन्न होना स्वाभाविक है। एक ओर तो बढ़ती हुई क्रय-शक्ति के कारण और दूसरी ओर वस्तुओं की कमी के कारण—और व्ययकर सभी प्रकार के अत्यधिक उपभोग को कम करके मुद्रा-स्फीति की भीषणता को रोक सकता है। अन्त में व्यय-कर इसलिये भी आवश्यक है कि आय तथा सम्पत्ति पर अत्यधिक कर लगाने से और व्यक्तिगत उपभोग पर कर न लगाने से अधिकतर व्यक्ति अपने धन का अपव्ययी उपभोग करने के लिये प्रोत्साहित हो जायेंगे, जिसको व्यय-कर रोकेगा।

कुछ व्यक्तियों का विचार है कि अर्ध-विकसित देशों में प्रचलित कर-व्यवस्था में व्यय-कर उपयुक्त नहीं रहेगा। इस दिशा में कई दलीलें दी जाती हैं :—प्रथम, वर्तमान आय करारोपण की स्थिति में व्यय-कर लगने से करारोपण बहुत कठोर हो जायेगा। दूसरे, इसमें अनेक प्रशासनिक कठिनाइयाँ होती हैं; अन्त में, अमौद्रिक क्षेत्र के व्यक्ति इस कर के क्षेत्र से फिर भी बाहर रहेंगे क्योंकि इन्हें आय-कर में सम्मिलित नहीं किया जाता। यही नहीं कुछ व्यक्तियों को कृषि-आय के नाम में अपने कुल व्यय को कम दिखाकर कर-वंचन करने का अवसर मिल जायेगा।

यद्यपि इन दलीलों में कुछ तथ्य नजर आता है, किन्तु फिर भी अर्ध-विकसित राष्ट्रों को इन कठिनाइयों की तुलना में इस कर से अधिक लाभ प्राप्त होंगे। प्रो० केल्डोर तो इसे आय-कर से अधिक श्रेष्ठ समझते हैं क्योंकि यह करदान-क्षमता का अधिक अच्छा माप है और इसकी परिभाषा अधिक निश्चितता से दी जा सकती है। फिर भी उनका विचार है कि इन दोनों करों को एक साथ लगाना चाहिये। ये एक दूसरे के पूरक हैं, विरोधी नहीं। यही नहीं यह आय तथा सम्पत्ति करारोपण के दोषों को दूर करेगा। इसके अतिरिक्त इस कर के लगने से आय-कर का प्रशासन अधिक प्रभावशील हो जायेगा। चाहे जो कुछ भी हो, यह स्वीकार करना ही होगा कि अर्ध-विकसित देशों के लिये व्यय-कर आवश्यक प्रतीत होता है—अतिरिक्त आय प्राप्त करने, अपव्ययी उपभोग को नियन्त्रित करने, बचतों तथा पूंजी निर्माण को प्रोत्साहित करके देश की आर्थिक समृद्धि की गति को तीव्र करने—सभी दृष्टिकोणों से।

भारत में व्यय-कर—सर्वप्रथम व्यय-कर भारत में ही लागू किया गया है। इस लिये भारत ही को व्यय-कर को व्यावहारिक रूप देने का श्रेय प्राप्त हुआ है। इसका प्रस्ताव प्रो० केल्डोर ने दिया था। सन् १९५६ में एक व्यय-कर अधिनियम बनाया गया जो जम्मू और काश्मीर राज्य को छोड़कर पूरे देश में १ अप्रैल १९५८ से लागू हो गया। इस प्रकार सन् १९५८–५९ व्यय-कर का प्रथम वर्ष था। यह कर केवल व्यक्तियों और हिन्दू सम्मिलित परिवारों पर ही लगाया गया है और इसके अन्तर्गत वह कम्पनियाँ, फर्में इत्यादि जिन पर आय-कर लागू है नहीं सम्मिलित की गई हैं। यह कर व्यक्तियों और हिन्दू सम्मिलित परिवारों पर भी उसी समय लागू होगा जबकि उनकी वार्षिक आय सब करों का भुगतान करने के बाद ३६,००० रुपयों से अधिक होगी। व्यय-कर अधिनियम के पाँचवें भाग में इन कटौतियों की गणना

की गई है जो कर लगने योग्य व्यय-राशि को निर्धारित करते समय की जाती है। इनके अन्तर्गत ऐसी मदें सम्मिलित की गई हैं, जैसे व्यापारिक खर्चे, सम्पत्ति-सम्बन्धी खर्चे, विनियोग, करों का भुगतान, उपहार, भुगतान की हुई बीमा किश्तें। अविनियम के छठे भाग में कुछ ऐसी कटौतियों की गणना की गई है जो कि उस कुल व्यय-राशि में की जाती है जिन पर कर लगाया जाता है। व्यक्तियों के लिए कर की छूट की सीमा ३०,००० रु० और हिन्दू सम्मिलित परिवारों के लिए केवल परिवार के 'कर्ता' उसकी पत्नी और बच्चों के लिए ३०,००० रु० थी। इसके अतिरिक्त प्रति सम्पत्ति के साझेदार (Coparcener) के लिए ३,००० रु० की छूट दी गई थी। एक परिवार के लिए अधिक से अधिक ६०,००० रु० छूट की सीमा थी। कर की दरें निम्न प्रकार थीं :—

कर लगने योग्य व्यय के प्रथम १०,०००) रुपयों पर	...	१० प्रतिशत
,, ,, ,, अगले १०,०००) ,,	...	२० ,,
,, ,, ,, ,, १०,०००) ,,	...	४० ,,
,, ,, ,, ,, १०,०००) ,,	...	६० ,,
,, ,, ,, ,, १०,०००) ,,	...	८० ,,
,, ,, ,, शेष भाग पर ,,	...	१०० ,,

कुछ अन्य प्रकार की कटौतियाँ भी सम्मिलित की गई हैं, जैसे भुगतान किये हुए कर, विवाह सम्बन्धी व्यय जिसकी प्रत्येक निर्भरकर्त्ता की शादी के लिए अधिकतम सीमा ५,००० रुपयों की होगी, माता-पिता के पालन-पोषण के लिए कटौती की अधिकतम सीमा ४,००० रुपये होगी, चिकित्सा-सम्बन्धी व्यय की कटौती की अधिकतम सीमा ५,००० रुपये, विदेशी शिक्षा के व्यय के लिए कटौती की अधिकतम सीमा ८,००० रुपये प्रति वर्ष इत्यादि निर्धारित की गई है। अतः पाँचवें भाग में जिन कटौतियों के लिए आज्ञा दी गई है और कर के छठे भाग में से जो-जो कटौतियाँ लागू होती हैं उनको काट कर जो व्यय की राशि होती है उस पर उपर्युक्त दरों से कर लगाया जायेगा। उपर्युक्त कर की दरों से स्पष्ट है कि पहले १०,००० रुपयों पर १०% से लेकर कर की दर ५०,००० रुपयों से ऊपर के व्यय पर शत प्रतिशत हो जाती है। इस कर से सन् १९५८-५९ में ६४ लाख रुपये प्राप्त हुए और सन् १९५९-६०, १९६०-६१ तथा १९६१-६२ में क्रमशः ८० लाख, ९१ लाख तथा ८० लाख रुपये प्राप्त हुए और १९६२-६३ में १·५० करोड़ प्राप्त होने की आशा थी। सन् १९६२ में इस कर को समाप्त कर दिया गया था किन्तु १९६४-६५ में इसे पुनः लागू कर दिया है। इस वर्ष में इस कर से ०·७५ करोड़ रुपये, १९६५-६६ में ०·७५ करोड़ और १९६६-६७ में भी ०·७५ करोड़ रुपये प्राप्त होने की आशा है।

भारत में व्यय-कर को लागू करने के लिये प्रो० केल्डोर ने जो अपनी रिपोर्ट दी थी उसमें उन्होंने कर के पक्ष में यह तर्क दिये हैं। प्रथम, जैसा कि उन्होंने खुद ही बताया है, करारोपण में समानता स्थापित करने के लिये तथा उसको न्यायपूर्ण बनाने के लिए व्यय एक अधिक अच्छा आधार है क्योंकि यह आय तथा धन की

असमानताओं के स्थान पर उपभोग की असमानताओं को ध्यान में रखता है। दूसरे, यह कर बचतों को प्रोत्साहित करेगा, क्योंकि कर केवल उसी राशि पर लगेगा जो व्यय की गई है और इस प्रकार भारत के औद्योगिक विकास के लिए अधिक धन उपलब्ध हो सकेगा और अन्त में, यह कर की चोरी को कम करेगा क्योंकि इससे कर-सम्बन्धी ढांचा अधिक समुचित हो जायेगा और कर-अधिकारी का क्षेत्र विस्तृत हो जायेगा।

व्यय-कर के विरुद्ध भी तर्क दिये गये हैं। प्रथम, यह कर करदाताओं पर बहुत अधिक बोझ डालेगा, क्योंकि सरकार ने आय-कर की दरों को उतना कम नहीं किया जितना कम करने का प्रो० केल्डोर ने सुझाव दिया था। इस प्रकार एक ओर आय-कर की ऊँची दरें और दूसरी ओर व्यय-कर, ऊँची आय वाले वर्गों को पीस देंगी। इसके अतिरिक्त प्रत्येक व्यक्ति को अपने व्यय का पूरा हिसाब देना पड़ेगा। जिसका अभिप्राय यह हुआ कि वह अपने व्यक्तिगत मामलात को भी गुप्त नहीं रख सकता। यह भी सन्देहजनक है कि वह विस्तृत ब्यौरे के बाद भी कर-अधिकारियों को सन्तुष्ट कर सकेगा अथवा नहीं। यह कर अन्यायपूर्ण भी है, क्योंकि आय-कर उपहार-कर, व्यय-कर सबका भार केवल कुछ ही व्यक्तियों पर पड़ेगा। इस कर का प्रशासन भी बहुत कठिन प्रतीत होता है। प्रत्येक करदाता के खर्चों के हिसाब-किताब की जाँच-पड़ताल करना और यह पता लगाना कि कर-वंचन हुआ या नहीं सरल बात नहीं। अन्त में, इस विषय पर भी सन्देह प्रकट किया गया है कि इस कर से सरकार को अधिक आय भी प्राप्त हो सकेगी और यह बचतों को भी प्रोत्साहित करेगा या नहीं। वास्तव में यह सन्देह आधार रहित नहीं हैं, क्योंकि सरकार को पिछले वर्षों में न तो इस कर से कोई विशेष आय प्राप्त हुई है और न ही इस कर को केल्डोर के सुझावानुसार लगाया है, जिससे बचतों को प्रोत्साहन मिलता। वास्तव में स्वयं केल्डोर ने इस कर की, इस प्रकार लगाये जाने पर आलोचना की थी क्योंकि इसमें कर-वंचन की संभावनायें बहुत अधिक हो गई हैं। यह कर वास्तविक व्यय पर नहीं वरन् न्यूनतम आय पर आधारित किया गया है। व्यय-कर में वे छूटें तथा माफियाँ दी गई हैं, जो आय-कर में नहीं दी गई हैं। परिणामतया करदाता जब चाहेंगे आय-कर का वंचन करने के लिए आय कम और व्यय अधिक और सभी व्यय-कर का वंचन करने के लिये व्यय को कम और आय अधिक दिखायेंगे और सफल भी हो जावेंगे।

सन् १९६२ में इस कर को समाप्त कर दिया गया, केवल इसी लिये कि इससे आशातीत लाभ प्राप्त नहीं हो पाये थे। किन्तु जब देश की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये नये-नये साधनों की आवश्यकता है, उस समय पुराने साधनों को समाप्त करने से देश को लाभ के स्थान पर हानि ही होगी। इससे अच्छा तो यह रहता कि कर ढाँचे को प्रो० केल्डोर द्वारा बताये गये सुझावों द्वारा समुचित बनाने का प्रयत्न किया जाता। यह कर विशेषरूप से चीनी आक्रमण द्वारा उत्पन्न आपत्ति-कालीन स्थिति में तो बहुत ही लाभप्रद सिद्ध होता। सन् १९६४–६५ में इसको पुनः लागू कर दिया गया। इस बार छूटों अथवा रियायतों में बहुत कमी कर दी गई और दरों

को भी नीचे रक्खा गया है। वर्तमान दरें इस प्रकार हैं:—

प्रथम ३६,००० रुपये के व्यय पर	कुछ नहीं
अगले १२,००० ,, ,,	५%
,, १२,००० ,, ,,	७·५%
,, ,, ,, ,,	१०%
,, ,, ,, ,,	१५%
शेष पर	२०%

१९६६–६७ के बजट में इस कर को हटा लिया गया क्योंकि प्रशासन पर जो बोझ पड़ता है और कर-दाताओं को जो असुविधा होती है, उसके मुकाबिले इससे आय बहुत कम प्राप्त होती है।

निष्कर्ष—उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि भारत में व्यय-कर से जहाँ कुछ कठिनाइयाँ उत्पन्न होंगी, वहाँ कुछ दूर भी होंगी। और जो कुछ कठिनाइयाँ उत्पन्न होंगी, वे प्रारम्भिक वर्षों में ही रहेंगी और अनुभव प्राप्त होने के साथ-साथ दूर होती जायेंगी। वास्तव में जो कुछ कठिनाइयाँ उत्पन्न हुई भी हैं, वे केवल इसीलिये कि सरकार ने व्यय-कर को केल्डोर-प्रस्तावों के अनुसार नहीं लगाया है। अब भी यदि सरकार केल्डोर द्वारा बताई हुई समुचित योजना को व्यावहारिक रूप प्रदान कर दे तो देश को लाभ ही प्राप्त होगा। सच तो यह है कि वर्तमान परिस्थितियों में व्यय-कर अत्यन्त आवश्यक है। प्रथम, देश को विकास के लिए वित्त का एक साधन प्राप्त हो जाता है। दूसरे, देश में बढ़ते हुए मुद्रा-प्रसार के प्रभाव के आधीन बढ़ती हुई कीमतों को नीचे लाने के लिए भी यह आवश्यक है। अन्त में, देश में विकास कार्य-क्रम की प्रगति और औद्योगीकरण के साथ-साथ व्यक्तियों को बढ़ी हुई मात्रा में लाभ प्राप्त हो रहे हैं। यदि इनको व्यक्तियों से लिया नहीं गया तो अपव्ययी उपभोग बढ़ेगा और मूल्य ऊँचे होंगे तथा धन कुछ ही हाथों में केन्द्रित हो जावेगा। इसलिये वर्तमान परिस्थितियों के लिये व्यय-कर अत्यन्त ही उपयुक्त है।

अध्याय २१

संघ सरकार की आय के ग़ैर-कर सम्बन्धी स्रोत

(NON-TAX SOURCES OF REVENUE OF THE UNION GOVERNMENT)

प्राक्कथन—

अभी तक हमने भारत सरकार की आय के कर-सम्बन्धी आय के स्रोतों से प्राप्त होने वाली आय तथा उसके महत्व का अध्ययन किया है। इस अध्याय में हम भारत सरकार के ग़ैर-कर सम्बन्धी आय के स्रोतों का अध्ययन करने जा रहे हैं। ग़ैर-कर सम्बन्धी स्रोतों की आय में आधुनिक सरकारों की उस आय को सम्मिलित किया जाता है जो उन्हें विभिन्न औद्योगिक उपक्रमों को संचालित करने से प्राप्त होती हैं। अर्थात्, आधुनिक समय में सरकारों को जो आय, व्यापार, औद्योगिक उपक्रमों—डाक व तार, रेलों तथा यातायात के अन्य साधनों आदि के स्वामित्व से प्राप्त होती है, उसी को ग़ैर-कर सम्बन्धी आय कहते हैं। आय के इन स्रोतों का महत्व पिछली शताब्दी के अन्तिम चतुर्थ से, विशेपकर प्रथम महायुद्ध के बाद बढ़ना आरम्भ हुआ है। १९वीं शताब्दी के अन्तिम चतुर्थ तक, बल्कि उसके बाद के थोड़े से वर्षों तक आर्थिक क्षितिज में निर्बाधावादी विचारों की गूँज विलीन नहीं हो पाई थी और व्यक्ति आर्थिक क्षेत्र में स्वतन्त्र था। व्यक्तिगत मामलों में राजकीय हस्तक्षेप की बात किसी को भी नहीं भाती थी। फिजिओक्रेट्स का अनुकरण करते हुए एडम स्मिथ ने घोषित किया कि, "व्यापारी और राजा दोनों चरित्र एक दूसरे से असंगत थे।"[1] उनके अनुसार सरकार औद्योगिक केन्द्रों से इतनी दूर स्थित है कि वह उन पर पूरा ध्यान नहीं रख सकती और इसलिये स्मिथ ने सरकार के लिए केवल तीन कार्य करने का ही सुझाव दिया था, अर्थात्—न्याय, रक्षा और कुछ विशेप सार्वजनिक कार्यों तथा संस्थाओं की स्थापना। परन्तु २०वीं शताब्दी के आरम्भ होते ही इन विचारों की शक्ति का ह्रास आरम्भ हो गया और प्रथम महायुद्ध, विशेपकर १९३० के महामन्दी काल के पश्चात् तो इन विचारों का पूर्ण अन्त हो गया। व्यक्तिगत उपक्रम द्वारा उत्पन्न बेकारी, व्यापार-चक्रों तथा धन के वितरण की

1. "No two characters seem more inconsistent than those of trader and sovereign." Wealth of Nations, Book V, Chapter II, Part I. Vol. II, p. 304.

घोर असमानताओं के कारण निजी उपक्रम की निन्दा दिन-प्रतिदिन बढ़ती ही गई। चारों ओर राज्य हस्तक्षेप के पक्ष में आवाज़ें गूंज उठीं और राज्य ने औद्योगिक उपक्रमों की व्यवस्था करनी भी आरम्भ कर दी। आजकल सभी देशों में सरकार जनोपयोगी सेवाओं की व्यवस्था कर रही है। रेलों, सिंचाई, जंगल, डाक व तार, खान, उद्योग, विदेशी व्यापार इत्यादि की व्यवस्था एवं नियन्त्रण कर रही है। इन स्रोतों से सरकारों को बहुत आय प्राप्त होती है। इसी प्रकार राज्य अपने पास वस्तुओं के उत्पादन तथा वितरण का भी एकाधिकार रखता है, जैसे इटली में तम्बाकू, नमक, सिगरेट, दियासलाई आदि वस्तुओं का उत्पादन एवं विक्रय सरकार द्वारा होता है, भारत सरकार अफीम के उत्पादन एवं विक्रय पर पूर्ण नियन्त्रण रखती है। ऐसे एकाधिकार आजकल सरकारों की आय का मुख्य अंग बन गये हैं। इन स्रोतों का सरकारों की आय में जो महत्व है वह निम्न आंकड़ों से स्पष्ट होता है। निम्न तालिका में हम कुछ देशों की कुल आय में इन स्रोतों द्वारा प्राप्त आय के प्रतिशत को देते हैं :—

देश	प्रतिशत	देश	प्रतिशत	देश	प्रतिशत
भारत	३७·६	जापान	३५·३	फ्रांस	२७·२
संयुक्त राज्य	३६·१	द० अफ्रीका	३०·७	कनाडा	२४·२

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि लगभग सभी देशों में ग़ैर-कर सम्बन्धी आय की बहुत बड़ी राशि सरकारों को प्राप्त होती है। भारत में सरकारों को कुल आय का ३७·६% इन स्रोतों से प्राप्त होता है। भारत सरकार को यह आय जनोपयोगी सेवाओं जैसे, रेलों, डाक व तार, टकसाल तथा अन्य औद्योगिक उपक्रमों से प्राप्त होती है। स्वीडन में यह आय झरनों, रेलों, डाक व तार तथा कुछ औद्योगिक कम्पनियों के अंशों से प्राप्त होती है। इसी प्रकार हालैंड में तथा अन्य देशों में भी लगभग यही ग़ैर-कर सम्बन्धी आय के स्रोत हैं। अतः स्पष्ट है कि आजकल सरकारों को इनका बहुत महत्व है। परन्तु यह महत्व सापेक्षिक है और हर देश में भिन्न-भिन्न है। आधुनिक राज्यों के प्रारम्भिक काल में शाही भूमि तथा सम्पत्ति राजकीय आय का मुख्य स्रोत थी किन्तु समय तथा समाज की उन्नति के साथ-साथ इनका महत्व कम होता गया। भारत में जमींदारी तथा ताल्लुकेदारी लगभग सभी राज्यों में समाप्त हो गई है और भूमि फिर से आय का एक महत्वपूर्ण स्रोत बनती जा रही है। भारत में सरकार को जंगलों से भी काफी आय प्राप्त होती है, इसलिये सरकार वनक्षेत्र दिन-प्रतिदिन बढ़ाने का प्रयत्न कर रही है और प्रत्येक वर्ष वन-महोत्सव सप्ताह मनाया जाता है और पेड़ लगाये जाते हैं। इसी प्रकार सरकारों को सिंचाई के साधनों, नहरों इत्यादि से भी बहुत आय प्राप्त होती है। भारत में सरकार औद्योगिक उपक्रमों की व्यवस्था से भी आय प्राप्त करती है। खानें तो आरम्भ से ही सार्वजनिक

सम्पत्ति रही हैं। सरकार कुछ आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन भी करती है तथा कुछ महत्वपूर्ण जनोपयोगी सेवाएँ भी प्रदान करती है, जैसे डाक व तार, रेलों, हवाई जहाजों तथा पानी के जहाजों की व्यवस्था इत्यादि। भारत में भी सरकार को इन स्रोतों से बहुत आय प्राप्त होती है। आधुनिक सरकारें कुछ अन्य प्रकार की सेवाएँ भी अपने नागरिकों को प्रदान करती हैं, जिसके लिए भी वह शुल्क (Fees) वसूल करती हैं। ये शुल्क उन्हीं व्यक्तियों को देने पड़ते हैं जो सरकार से उन सेवाओं को प्राप्त करना चाहते हैं। ये शुल्क कई प्रकार के होते हैं, जैसे बन्दूकों के प्रयोग करने का शुल्क, सम्पत्ति के वैधानिक स्वामित्व को निश्चित करने का शुल्क इत्यादि। इनसे भी आजकल सरकारों को बहुत आय प्राप्त होती है। भारत में यह राज्य सरकारों की आय के स्रोत हैं। आजकल अधिकतर सरकारें अपनी आय के ग़ैर-कर स्रोतों को बढ़ा रही हैं, क्योंकि व्यक्ति नये करों का विरोध करते हैं और अधिक करारोपण के प्रभाव भी बुरे होते हैं।

संघ सरकार की आय के ग़ैर-कर सम्बन्धी स्रोत—भारत सरकार को व्यावसायिक सेवाओं, जिन्हें जनोपयोगी सेवाएँ भी कहते हैं, रेलों, डाक व तार, मुद्रा, टकसाल तथा अन्य औद्योगिक एवं वाणिजयक उपक्रमों आदि से बहुत बड़ी मात्रा में आय प्राप्त होती है। हम निम्न में इन स्रोतों की पृथक्-पृथक् विवेचना करेंगे :—

रेलें—आरम्भ के लगभग ७० वर्षों तक रेलों की आर्थिक स्थिति बहुत अनिश्चित थी। कभी इन्हें लाभ होते थे तो कभी हानि। रेलों की आर्थिक स्थिति की इस अनिश्चितता से तंग आकर एकवर्थ कमेटी के सुझावों पर भारतीय बजट से रेलों के बजट को सन् १९२४ में अलग कर दिया गया। वास्तव में उस समय भारत सरकार के बजट का आधिक्य या घाटा रेलों के लाभ तथा हानियों पर निर्भर करता था। भारत सरकार की आर्थिक स्थिति भी बड़ी अनिश्चित सी रहती थी। साथ ही रेलों की आर्थिक उन्नति तथा विकास भी भारत सरकार के बजट से बंधी हुई थी। एक व्यावसायिक उपक्रम के अपने स्रोत होने चाहियें और उसको पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए कि वह अपने साधनों का जैसे चाहे उपयोग करे। इसीलिए सन् १९२४ में रेलवे बजट को सामान्य बजट से अलग कर दिया गया। यद्यपि इसकी ओर पहले भी कई बार ध्यान दिलाया गया था परन्तु सरकार ने इस नीति को केवल इसी वर्ष स्वीकार किया। सन् १९२४ में केन्द्रीय सरकार और रेलवे विभाग के बीच एक समझौता हुआ जिसके अनुसार रेलवे अर्थ-प्रबन्ध को सामान्य अर्थ-प्रबन्ध से अलग कर दिया गया।

इस समझौते के बाद सन् १९३०-३१ तक रेलों को निरन्तर लाभ होते रहे और उनकी आर्थिक स्थिति ठीक रही। वे बराबर अपने लाभों का एक निश्चित भाग सामान्य आय में देती रहीं, परन्तु १९३०-३१ से रेलों के भाग्य ने फिर पलटा खाया और लाभ पूर्ण हानि में बदलने लगे। फलस्वरूप सन् १९३१-३२ से १९३६-३७ तक सामान्य आय में रेलों ने कोई अंशदान नहीं दिया। वह इस काल

में ३५·४१ करोड़ रुपये की भारतीय सरकार को ऋणी हो गई थी। परन्तु दूसरी लड़ाई आरम्भ होते ही स्थिति फिर बदली और सन् १९३९–४० में रेलों को १०२·७३ करोड़ रुपयों की कुल प्राप्ति हुई जो सन् १९४५–४६ में बढ़ कर २२५ करोड़ रुपये हो गई। इस अवधि में रेलों की आय में ११९ प्रतिशत की वृद्धि हुई थी। इसी अवधि में रेलों का आधिक्य ४·३३ करोड़ रुपयों से बढ़कर ५०·८३ करोड़ रुपये हो गया था। इस प्रकार रेलों को इतने लाभ हुए कि सामान्य बजट के जो पिछले अंशदान उन्हें देने थे वह भी उन्होंने चुका दिए और सुरक्षित कोष से जो ऋण ले रक्खे थे उनका भी भुगतान कर दिया और साथ ही सामान्य बजट में १५८·४३ करोड़ रुपयों के अंशदान और दिए। सन् १९४६–४७ में एक रेलवे उपकारी कोष (Railway Betterment Fund) स्थापित किया गया जिसमें ३ करोड़ रुपये जमा किए गए।

सन् १९४३ में लड़ाई के कारण रेलों को जो लाभ हो रहे थे उनके कारण यह आवश्यक समझा गया कि सन् १९२४ के समझौते में समयानुसार परिवर्तन किए जायें, सन् १९४३ में एक अन्तर्वर्ती (ad hoc) व्यवस्था की गई और यह निश्चय किया गया कि रेलें सामान्य बजट को व्यावसायिक लाइनों (Commercial Lines) में लगी हुई पूँजी पर १% देंगी, और यदि फौजी महत्व वाली लाइनों (Strategic Lines) पर कोई हानि होती है तो उसको इस राशि में से घटा कर भुगतान करेंगी। इसके अतिरिक्त वह रेलवे उपकारी कोष में ३ करोड़ रुपयों को जमा कराएगी और उसके बाद जो कुछ भी बचेगा उसका आधा भाग सामान्य बजट को देगी। श्री मवलांकर की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की गई जिसका कार्य सामान्य बजट में रेलों के अंशदान सम्बन्धी प्रश्न की जाँच-पड़ताल करना था। इस समिति के सुझावों के अनुसार सन् १९५०–५१ में एक नया समझौता हुआ जिसके अनुसार—जबकि रेल तथा सामान्य बजट अलग-अलग रहेंगे रेलें सामान्य बजट को ५ वर्षों तक लगी हुई पूँजी पर ४ प्रतिशत का दर से अपना अंशदान देंगी और उसके बाद यह दर संसद द्वारा नियुक्त एक समिति द्वारा संशोधित की जाएगी। यह अनुमान था कि रेलों को लगभग २९ करोड़ रुपए प्रति वर्ष सामान्य बजट में देने होंगे।

यह समझौता रेल वित्त के विकास की ओर एक महत्वपूर्ण पग था। सन् १९४९ का समझौता ५ वर्ष बाद सन् १९५४ में समाप्त हुआ। इस वर्ष एक नया समझौता हुआ जिसके अनुसार पुराने समझौते में केवल नाममात्र को ही परिवर्तन हुए और रेलों का वार्षिक अंशदान पूर्ववत् रहा।

सन् १९५४ के समझौते में १९६० में कुछ संशोधन किए गए। रेलवे सगमन समिति (Railway Convention Committee) के मुख्य सुझाव इस दिशा में इस प्रकार थे : (१) सामान्य राजस्व में रेलों द्वारा दिए गए लाभांश की दर ब्याज देय-पूँजी (Capital at charge) की ४·२५% निश्चित कर दी जाए, (२) फौजी महत्व वाली रेलों की व्यवस्था में जो हानि हो उसका भार सामान्य राजस्व को सहन करना चाहिए, (३) रेलवे विकास कोष को सामान्य राजस्व से प्राप्त

होने वाले अस्थायी ऋणों की सुविधा अगले पाँच वर्षों तक जारी रहे, (४) १ अप्रैल १९६१ से यात्री-कर को किराये में सम्मिलित किया जाए और राज्यों को सन् १९५८–५९ तथा सन् १९५९–६० में किए गए संग्रहों के औसत के आधार पर अगले पाँच वर्षों में एक निश्चित राशि अर्थात् १२·५ करोड़ रु० प्रति वर्ष दिए जाएँ।

समिति की सभी सिफारिशें स्वीकार कर ली गईं और उनको कार्यान्वित किया गया। किन्तु इस सम्बन्ध में कुछ सिफारिशों की कटु आलोचना की गई। कुछ लोगों ने इस सुझाव का विरोध किया कि सामान्य राजस्व को प्राप्त होने वाले लाभांश की दर को ४·२५% कर दिया जाए। उनके अनुसार तीसरी पंचवर्षीय योजना के लिए अधिक साधनों को जुटाने की आवश्यकता थी और इसलिए रेलों के लाभांश की दर ४·२५% के बजाय ४·५% होनी चाहिए और हुआ भी ऐसा ही। सन् १९६२ और सन् १९६३ में दरों तथा किरायों में वृद्धि होने के साथ सामान्य राजस्व को दिए जाने वाले लाभांश की दर भी बढ़ा कर ४·५% कर दी गई। दूसरे, यह भी कहा गया कि समिति का यह सुझाव कि राज्यों को दी जाने वाली धनराशि को पांच वर्ष के लिए निश्चित कर दिया जाए, न्यायोचित नहीं है। क्योंकि ऐसा करने से राज्यों को भविष्य में उत्पन्न होने वाले लाभ प्राप्त नहीं हो सकेंगे। *यात्री-कर लागू करने का अभिप्राय ही यही था कि राज्यों को प्रत्येक वर्ष* अधिकाधिक साधन उपलब्ध हो सकें। यह भी ध्यान रहे कि राज्यों को अपने साधनों में अतिरिक्त करारोपण द्वारा तीसरी योजना में वृद्धि करने की जो आवश्यकता है, उसे एक उत्तम स्थिति नहीं कहा जा सकता और इसलिए यह आवश्यक है कि राज्यों को यात्री-कर की प्राप्ति में से प्राप्त होने वाली धनराशि पांच वर्ष की अवधि के लिए निश्चित न की जाए। किन्तु जैसा कि समिति ने कहा है कि यात्री-कर के लागू होने का अभिप्राय ही यही है कि रेल-किराये में वृद्धि करने की और अतिरिक्त धन प्राप्त करने की कोई गुंजाइश नहीं रही।

नियोजन-कार्यक्रम में रेलों का योगदान—हम सभी इस बात से सहमत हैं कि पंचवर्षीय योजनाओं के कार्यक्रम को पूरा करने के लिए रेलों का महत्त्व दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। बढ़ते हुए यात्रियों, माल-यातायात और देश की सुरक्षा-सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि रेल-व्यवस्था को विस्तृत और सुदृढ़ बनाया जाए। अपनी पूँजी-सम्बन्धी आवश्यकताओं को अंशतया रेलें अपने आधिक्यों द्वारा पूरा कर सकती हैं, किन्तु शेष भाग को प्राप्त करने के लिए अन्य स्रोतों को ही खोजना पड़ेगा। प्रथम योजना में रेलों ने अपने कार्यक्रमों को पूरा करने के लिए २६७ करोड़ रु० की अनुमानित लागत में से ११५·४ करोड़ रु० का अंशदान दिया था। द्वितीय योजना में ८९०·१ करोड़ रु० की अनुमानित लागत में केवल १५० करोड़ रु० दिया और तृतीय योजना में इनको १०० करोड़ रु० देना था जबकि इनके कार्यक्रमों के लिए १३२५ करोड़ रु० की लागत की व्यवस्था की गई थी। १०० करोड़ रु० की धनराशि की व्यवस्था उनको अपने कार्य-संचालन

व्यय में से मूल्य-ह्रास लागत तथा चालू व्यवस्थाओं के अनुसार लाभांश के भुगतान को निकालने के बाद करनी होगी। इस धनराशि को निश्चित करते समय यह नहीं सोचा गया कि रेलों में किरायों तथा भाड़ों में वृद्धि करके इतनी बड़ी धनराशि एकत्रित करने की क्षमता है भी या नहीं। नियोजन आयोग ने अब १४५ करोड़ रु० की अतिरिक्त लागत लगाने की स्वीकृति दी है जो निम्न उद्देश्यों की पूर्ति करेगी—(अ) कोयला साफ करने के स्थानों को कोयले का परिवहन, (ब) तृतीय योजना के काल में सामान्य माल-परिवहन में वृद्धि करना, और (स) चतुर्थ योजना के संदर्भ में कोयला-परिवहन की वृद्धि के लिए प्रारम्भिक कार्यों की पूर्ति। तीसरी योजना काल में रेलों के विकास के लिये जो व्यय निर्धारित किया गया था उसको बढ़ाकर सन् १९६४–६५ के बजट में १५८१ करोड़ रुपये कर दिया गया था और सन् १९६५–६६ में यह अनुमान था कि योजना काल में कुल व्यय १६४२ करोड़ रुपयों के लगभग होगा।

निम्न तालिका से रेलों की वर्तमान स्थिति का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। तीसरी योजना के काल में किए गए मध्यवर्ती मूल्यांकन में यह अनुमान लगाया गया है कि रेलों का योगदान १०० करोड़ रु० के स्थान पर १४०–१५० करोड़ रु० होने की आशा है।

रेलों की वर्तमान स्थिति निम्न तालिका से स्पष्ट है[2] :—

(करोड़ रुपयों में)

	१९५५-५६	१९६१-६२	१९६२-६३	१९६४-६५	१९६५-६६ (बजट)
कुल आय	३१६·२९	५०१·२४	५२४·१०	६६०·००	७१६·००
कुल व्यय	२५८·२२	३९५·५५	४१२·७४	५४२·९९	५७०·८६
शुद्ध आय	५८·०७	१०५·६९	१११·३६	११७·०१	१४५·१४
सामान्य आय को अंशदान	३६·१२	७५·७०	८१·८५	१०४·५२	११५·९०
शुद्ध आधिक्य	२१ ९५	२९·९९	२९·५१	१२·४९	२९·२४

डाक व तार—भारत सरकार का यह दूसरा महत्वपूर्ण व्यावसायिक विभाग है। रेलों के विकास, व्यापार और उद्योग की उन्नति तथा जनता में शिक्षा के प्रचार के साथ-साथ डाक व तार विभाग का निरन्तर विकास होता रहा है। सन् १९१२ से पहले यह दोनों विभाग अलग-अलग थे और हर विभाग की व्यवस्था एक डाइरेक्टर जनरल द्वारा की जाती थी परन्तु सन् १९१२ में इन दोनों विभागों को मिला दिया गया। पहले यह विभाग उद्योग तथा वाणिज्य मन्त्रालय के अधीन था किन्तु अब यह संवादवाहन मन्त्रालय के अधीन है।

डाक व तार की दरों में समय-समय पर परिवर्तन होते रहे हैं। जब सबसे पहली बार पोस्ट कार्ड व लिफाफे चालू किए गये थे तब इनका मूल्य क्रमशः एक व

2. Hindustan Times, Feb. 19, 1962.

दो पैसे था। दूसरे महायुद्ध में पोस्ट कार्ड का मूल्य ३ पैसे और लिफाफे का मूल्य ६ पैसे हो गया। सन् १९४९–५० में लिफाफों का मूल्य २ आने हो गया। सन् १९५७ में मुद्रा के दशमलवीकरण से पोस्ट कार्ड तथा लिफाफों दोनों ही के मूल्य में वृद्धि हो गई और इनका मूल्य ५ नये पैसे और १५ नये पैसे क्रमशः हो गया। गत वर्षों में इस विभाग के खर्चे बढ़ जाने के कारण आय में बहुत अधिक वृद्धि नहीं हो पाई है। सन् १९५३–५४ में इसकी कुल बचत २·४० करोड़ रुपये, सन् १९५४–५५ में २·६० करोड़, सन् १९५५–५६ में ३·५७ करोड़, सन् १९६०–६१ में ४·०७ करोड़ प्राप्त हुए और सन् १९६१–६२ में ६ करोड़ रुपयों के प्राप्त होने का अनुमान था। वैसे तो बचत में वृद्धि ही हुई है, परन्तु जिस हिसाब से इनके मूल्यों में वृद्धि की गई है यह बचत उस अनुपात में नहीं हो पाई। जिसका मुख्य कारण यह है कि शहरी तथा ग्रामीण क्षेत्रों में बहुत से नए डाकखाने खोल दिये गये हैं। सन् १९६०–६१ से डाक व तार का वित्तीय प्रबन्ध पूर्णरूप से स्वतन्त्र हो गया है, और इस विभाग से भी रेलों की भाँति सामान्य बजट के लिए लाभ का एक निश्चित भाग प्राप्त होने लगा है। सन् १९६१–६२ में ०·७७ करोड़ रु० और सन् १९६४–६५ में १·४१ करोड़ रु० ही प्राप्त हुए थे। अनुमान था कि सन् १९६५–६६ में १·८४ करोड़ रु० प्राप्त होंगे। सन् १९६३–६४ के बजट में डाक, तार व टेलीफोन की दरों में कुछ विशेष वृद्धि की गई। पोस्ट कार्ड का मूल्य ६ पैसे कर दिया गया, स्थानीय पोस्ट कार्ड बन्द कर दिए गए और पुस्तकों, नमूने के पैकिटों आदि की दरें बढ़ा दी गई, रजिस्ट्री की फीस ५५ पैसे कर दी गई और पावती फीस (acknowledgement fee) ६ पैसे के स्थान पर १० पैसे कर दी गई। तार की दरें जो अब तक प्रथम ८ शब्दों के लिए ८० पैसे और बाद के प्रत्येक शब्द के लिए ८ पैसे थी अब प्रथम १० शब्दों के लिए १ रु० और इसके बाद के प्रत्येक शब्द के लिए १० पैसे कर दी गई। बधाई तथा शुभकामनाओं के तारों और आवश्यक तारों की दरें बढ़ा दी गई, ट्रंककाल में दी जाने वाली रियायतें समाप्त कर दी गईं।

मुद्रा और टकसाल—सन् १८९८ से भारत सरकार को टकसालों से निरन्तर आय प्राप्त होती रही है। प्रारम्भिक वर्षों में तो यह आय कोई विशेष नहीं थी, परन्तु सन् १९३५ में रिजर्व बैंक की स्थापना से इस आय में वृद्धि होती रही है। रिजर्व बैंक प्रारम्भिक वर्षों में हिस्सेदारों का बैंक था, इसीलिए इस मद से सामान्य आय में बहुत अधिक अंशदान प्राप्त नहीं हो रहे थे। परन्तु सन् १९४९ में रिजर्व बैंक के राष्ट्रीयकरण के फलस्वरूप इस आय में निरन्तर वृद्धि हुई है क्योंकि अब रिजर्व बैंक को जो कुछ भी लाभ प्राप्त होते हैं वह सब सरकारी खजाने में ही जाते हैं। सन् १९५०–५१ में इस मद से कुल आय ६·७१ करोड़, सन् १९५४–५५ में १०·६५ करोड़, सन् १९५५–५६ में १९·७५ करोड़, सन् १९५६–५७ में १९·४४ करोड़ रुपये, सन् १९५७–५८ में २६·०४ करोड़, १९५८–५९ में २३·४३ करोड़, १९५९–६० में ४६·०१ करोड़ रुपये, १९६०–६१ में ५८·१० करोड़ रुपये, १९६१–६२ में ५३·१५ करोड़ रुपये प्राप्त हुए और १९६६–६७ में ६४·९४ करोड़ रुपये

प्राप्त होने की आशा थी।

अन्य राजकीय उपक्रम—जनोपयोगी सेवाओं के अतिरिक्त औद्योगिक क्षेत्र में भी सरकार ने अधिकाधिक भाग लेना आरम्भ कर दिया है। सन् १९४८ तथा सन् १९५६ के औद्योगिक नीति-प्रस्तावों के अधीन राजकीय क्षेत्र में सरकार ने अनेकानेक उपक्रमों को चालू किया है। यह आवश्यक है कि देश में विकास की गति को तीव्र करने के लिए आर्थिक साधनों को गतिशील बनाया जाए और राजकीय उपक्रम भी अर्थ-व्यवस्था के विकास में अपना पूर्ण योग दें। यद्यपि यह सत्य है कि राजकीय उपक्रमों का उद्देश्य अधिकाधिक मात्रा में लाभ प्राप्त करना नहीं होता किन्तु वास्तविकता यह है कि क्योंकि प्रत्येक राजकीय उपक्रम का अन्तिम उद्देश्य सार्वजनिक कल्याण में वृद्धि करना होता है, विशेषकर एक विकासशील अर्थ-व्यवस्था में, उपक्रमों द्वारा प्राप्त आधिक्यों से ही सार्वजनिक उद्देश्यों की पूर्ति की जा सकती है। तीसरी योजना में इसी सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है। तीसरी योजना-काल में राजकीय उपक्रमों के अंशदान के रूप में ४५० करोड़ रुपये प्राप्त होने की आशा की गई है— ३०० करोड़ रुपये तो रेलों के अतिरिक्त संघ सरकार के अन्य उपक्रमों से और १५० करोड़ रुपये राजकीय उपक्रमों से यह अंशदान "केवल शुद्ध लाभों को ही सूचित नहीं करता, वरन् इसमें राजकीय उपक्रमों की मूल्य-ह्रास क्षतिपूरक कोष तथा अन्य कोषों की शुद्ध जमा राशियाँ भी सम्मिलित होती हैं, क्योंकि यही विश्वास किया जाता है कि इन कोषों का उपयोग इन उपक्रमों के विस्तार के लिए ही किया जाएगा।" किन्तु अब तक की प्रगति से यह नहीं दीखता कि राजकीय उपक्रम निर्धारित लक्ष्य की पूर्ति कर पायेंगे। इसीलिए संघ सरकार को उपक्रमों के अंशदान की राशि को ३०० करोड़ रुपये से घटाकर २५० करोड़ रुपये कर दिया गया है। नियोजन आयोग की रिपोर्ट के अनुसार सन् १९६१–६२ में संघ सरकार के औद्योगिक एवं वाणिज्यिक उपक्रमों से कुल ४१ करोड़ रुपये के आधिक्य प्राप्त हुए थे। सन् १९६२–६३ में भी इतनी ही धनराशि प्राप्त होने की आशा थी और अनुमान था कि सन् १९६३–६४ में यह धनराशि ५० करोड़ रुपये हो जाएगी[3] और सन् १९६५–६६ में ६० करोड़ रुपये हो जायगी। यह अनुमान इस आशा पर आधारित था कि योजना के अन्तिम दो वर्षों में हिन्दुस्तान स्टील में पूर्ण मूल्य-ह्रास की व्यवस्था की जा सकेगी और भारी विद्युत-यन्त्र (Heavy Electricals) तथा ट्राम्बे के रासायनिक खाद के कारखाने जैसे अन्य उपक्रमों में उत्पादन में वृद्धि सम्भव हो सकेगी। किन्तु नियोजन आयोग के मध्यवर्ती मूल्यांकन से यह विदित हुआ है कि राजकीय उपक्रमों से सन् १९६१–६२ में केवल २० करोड़ रुपये और १९६२–६३ में २८ करोड़ रुपये के आधिक्य ही प्राप्त हुए थे और अनुमान था कि सन् १९६३–६४ में ६९ करोड़ रु० के आधिक्य प्राप्त हो सकेंगे।[4]

3. Commerce, Dated, 24 August, 1963—*Working of Public Sector Enterprises.*

4. Commerce, Dated, 18th May, 1963.

जहाँ तक राजकीय उपक्रमों में सरकारी विनियोगों का सम्बन्ध है, उनकी राशि सन् १९६३–६४ में १७८० करोड़ रु० थी। यह ध्यान रहे कि हिन्दुस्तान स्टील में अकेले ८०४ करोड़ रु० के विनियोग हुए थे जो कि अन्य उपक्रमों की अपेक्षा सबसे अधिक थे।

इस्पात के तीनों कारखानों का उत्पादन सन् १९६३–६४ में २९·२ लाख टन था और पूँजी की उलट-फेर १८१ करोड़ रुपयों की थी। इनको कुल ४५ करोड़ रुपयों के आधिक्य प्राप्त हुए थे। सब खर्चों को पूरा करने के बाद तथा सूद की राशि चुकाने के बाद और टूट-फूट की व्यवस्था करने के बाद इनको इस वर्ष ५ करोड़ रुपयों की हानि हुई थी जबकि पिछले वर्ष २४ करोड़ रुपयों की हानि हुई थी। इनको ३५७ करोड़ रुपयों के ऋणों का भुगतान करना था। इन तीनों कारखानों के विस्तार के लिये लगभग ४४० करोड़ रुपयों की लागत के कार्यक्रम आरम्भ कर दिये गये थे।

बाकी के ३३ उपक्रमों में १९६३–६४ के अन्त तक ३८१ करोड़ रुपयों की पूँजी लगाई गई थी। इस वर्ष इन्होंने ३२४ करोड़ रुपयों का व्यापार किया था। इन उपक्रमों में सब से अधिक इंडियन आयल कम्पनी को लाभ हुए थे। इनको इस वर्ष २९ करोड़ रुपयों के लाभ प्राप्त हुए थे। इनसे औसतन शुद्ध लाभ १८ करोड़ रुपये थे जबकि पिछले वर्ष इन्हें १४·५ करोड़ रुपयों के ही शुद्ध लाभ प्राप्त हुए थे। परिदत्त पूंजी के प्रतिशत के रूप में शुद्ध लाभ ७·३% से बढ़कर ८·१% हो गये थे। १९ उपक्रमों के लाभों में विशेष रूप से वृद्धि हुई थी, जिनमें से मुख्य हिन्दुस्तान मशीन टूल्स, इंडियन एअर लाइन्स कार्पोरेशन और एअर इंडिया, नेशनल कोल डेवलपमेन्ट कॉर्पोरेशन और स्टेट ट्रेडिंग कार्पोरेशन के शुद्ध लाभ इस वर्ष काफी कम हो गये थे। इनमें से अधिकांश उपक्रमों में शुद्ध लाभों को दुबारा विनियोग में लगा दिया गया था। किन्तु इनमें से १२ उपक्रमों ने १० प्रतिशत से ३½% तक लाभांश घोषित किये थे जिनकी कुल राशि २·७ करोड़ रुपये थी। शेष १६·७ करोड़ रुपयों के लाभ विभिन्न प्रकार के संचित कोषों में डाल दिये गये थे। इन उपक्रमों में अधिकतर लाभों का उपयोग पूँजी बढ़ाने के लिये ही किया गया है। इस प्रकार तीसरी योजना के प्रथम तीन वर्षों में १२६ करोड़ रुपयों के नये साधन लाभों में से प्राप्त किये गये थे।

विकास सम्बन्धी उपक्रमों में (जिनकी संख्या ९ थी) कुल विनियोगों की राशि सन् १९६६–६७ में ११७ करोड़ रुपये थी जबकि पिछले वर्ष यह केवल ८१ करोड़ रुपये ही थी। इस प्रकार इन उपक्रमों में कुल विनियोगों का लगभग ६·६% भाग लगा हुआ है। इनको ६६ लाख रुपयों के लाभ प्राप्त हुए थे। चारों वित्तीय संस्थाओं में लगभग ८१ करोड़ रुपयों की पूँजी लगी हुई थी और सन् १९६३–६४ में इनको ८९ करोड़ रुपयों के लाभ प्राप्त हुए थे जबकि जीवन बीमा निगम को अकेले ८८ करोड़ रुपयों के लाभ प्राप्त हुए थे।

जो उपक्रम अभी चालू नहीं हुए हैं या निर्माण की अवस्था में ही हैं उनमें सन् १९६३–६४ के अन्त तक ३९७ करोड़ रुपयों की पूँजी लगाई जा चुकी थी जैसे

हैवी इलैक्ट्रीकल इक्युपमेन्ट, हैवी मशीन टूल्स, ओरगैनिक कैमीकल्स, आयल रिफाई-निग इत्यादि से सम्बन्धित योजनाएँ।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि स्थिति कुछ अधिक उत्साह जनक नहीं है। जैसे-जैसे यह योजनाएँ पूरी होती जाएँ और इनमें उत्पादन आरम्भ होते जाये वैसे ही यह आवश्यक है कि (जैसा कि चौथी योजना के मैमोरेन्डम में निश्चित किया गया है) कम से कम विनियोग की गई पूँजी पर १२% की दर से लाभ प्राप्त होने चाहिये। भविष्य ही बता सकेगा कि इस लक्ष्य की पूर्ति हो सकेगी या नहीं।

अध्याय २२

राज्य सरकारों की आय के स्रोत–मालगुज़ारी तथा कृषि आय-कर

(SOURCES OF STATE REVENUE—LAND REVENUE AND AGRICULTURAL INCOME TAX)

प्राक्कथन—

हमारे संविधान के अनुसार राज्य सरकारें निम्न मुख्य करों को लगा सकती हैं और उनकी आय को जमा कर सकती हैं :—

(१) मालगुजारी, (२) कृषि आय-कर, (३) कृषि भूमि सम्बन्धी उत्तराधिकार-कर तथा जायदाद-कर, (४) भूमि तथा इमारतों पर कर, (५) खानों से सम्बन्धित अधिकारों पर कर, (६) अफीम, भांग, निद्राकारक दवाइयों (दवाइयों तथा शृंगार वस्तुओं के अतिरिक्त) तथा ऐलकोहल वाली शराबों पर उत्पादन-कर, (७) मार्गान्त-कर, (८) बिजली के क्रय एवं उपयोग पर कर, (९) समाचार-पत्रों के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं पर कर, विक्रय-कर, (१०) समाचार-पत्रों में प्रकाशित होने वाले विज्ञापनों पर कर, (११) व्यक्तियों तथा वस्तुओं के यातायात पर कर, (१२) गाड़ियों, जानवरों, तथा नावों पर कर, (१३) व्यवसायों, व्यापारों आदि पर कर, (१४) विलासयुक्त वस्तुओं पर कर जिसमें मनोरंजन और जुआ भी सम्मिलित हैं, (१५) स्टाम्प कर, इत्यादि।

अब हम इन करों में से कुछ मुख्य-मुख्य करों का विस्तृत अध्ययन करेंगे।

मालगुजारी (Land Revenue)—मालगुजारी संसार के सबसे प्राचीन करों में से एक है। कहा जाता है कि यह ईसा के जन्म से २,००० वर्ष पहले चीन और मिश्र में लागू किया गया था।[1] आजकल मालगुजारी लगभग प्रत्येक देश में ही ली जाती है। भूमि पर कर लगाने की कई रीतियाँ हो सकती हैं, जैसे भूमि के पूंजीगत मूल्य के अनुसार, जो भूमि के बाजारी मूल्य द्वारा निश्चित होता है। दूसरा, भूमि पर प्राप्त होने वाले वार्षिक लगान के अनुसार और तीसरा, भूमि के मूल्य में बिना कमाई हुई वृद्धि (Unearned increment) के अनुसार। संयुक्त राज्य

1. Mehta and Agarwal, *Public Finance : Theory and Practice*, 1951, p. 393

अमेरिका में प्रथम रीति के अनुसार भूमि पर कर लगाया जाता है। इस रीति का सबसे बड़ा लाभ यह है कि कर भूमि के उपजाऊपन और स्थिति, दोनों ही को ध्यान में रख कर निर्धारित किया जाता है। इसका दूसरा लाभ यह है कि इसमें कमाई हुई तथा बिना कमाई हुई मूल्य-वृद्धि के बीच भेद करने की आवश्यकता नहीं होती। इंगलैंड में दूसरी रीति अपनाई जाती है और भूमि के वार्षिक लगान पर २५ प्रतिशत की दर से कर लगाया जाता है। परन्तु यह रीति इतनी अच्छी नहीं है जितनी कि पहली रीति है। क्योंकि यह सम्भव है कि मालगुजारी सदैव ही आर्थिक लगान के बराबर न हो। अर्थात् मालगुजारी आर्थिक लगान से भी अधिक हो सकती है। इस प्रकार इस रीति में भूमि पर लगाया हुआ कर अन्यायपूर्ण भी हो सकता है। तीसरी रीति आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड में अपनाई गई है। स्थानीय सुधारों के कारण भूमि के मूल्य में वृद्धि होती है जिसका लाभ भूमि के मालिक को बिना किसी प्रयत्न के ही प्राप्त होता है, इसलिए राज्य या स्थानीय सरकारों को इस प्रकार की मूल्य-वृद्धि पर पूर्ण अधिकार होता है। भूमि की बिना कमाई हुई मूल्य-वृद्धि पर जो कर लगाया जाता है वह पूँजी लाभ कर (Capital Gains Tax) के ही समान है और इसलिए जो तर्क पूँजी लाभ कर के पक्ष में दिये जाते हैं वे ही इस कर के पक्ष में दिये जाते हैं। उपर्युक्त तीनों रीतियों के अनुसार भूमि-करों को अलग-अलग नाम से पुकारा जाता है। प्रथम रीति के अनुसार इसको मालगुजारी कहते हैं, दूसरी रीति के अनुसार इसे कृषि आय-कर कहते हैं और तीसरी रीति के अनुसार इसे भूमि पर पूँजी लाभ कर कहते हैं।

भारत में मालगुजारी का संक्षिप्त इतिहास—जहाँ तक भारत का सम्बन्ध है मालगुजारी बहुत प्राचीन कर है। हिन्दू-काल में यह कर वस्तुओं के रूप में एकत्रित किया जाता था और इसकी दर कुल पैदावार की $\frac{१}{६}$ से लेकर $\frac{१}{१२}$ तक थी। हिन्दू राजा इस कर को युद्ध तथा संकट काल में बढ़ा कर कुल उपज का $\frac{१}{४}$ तक कर देते थे। मुसलमानों के शासन-काल के प्रारम्भिक वर्षों में मालगुजारी कृषि-वस्तुओं के रूप में ही एकत्रित होती रही, परन्तु बाद में द्रव्य के रूप में वसूल की जाने लगी। ब्रिटिश-काल में वारेन हेस्टिंग्स ने पंचवर्षीय बन्दोबस्त किया, किन्तु लार्ड कार्नवालिस ने सन् १७९३ में स्थायी बन्दोबस्त की बुनियाद रखी। स्थायी बन्दोबस्त में जमींदारों को भूमि का स्वामी मान लिया गया और उन पर सदा के लिए मालगुजारी निश्चित कर दी गई। इस व्यवस्था में किसानों का लगान स्थायी रूप से निश्चित नहीं किया गया था। जिसका परिणाम यह हुआ कि किसानों पर तो लगान बढ़ता गया परन्तु जमींदारों के लिए मालगुजारी पूर्ववत् रही। उत्तर-प्रदेश के अधिकांश भागों में तथा पंजाब, मध्य प्रदेश आदि में अस्थायी बन्दोबस्त प्रचलित रहा। उत्तर-प्रदेश तथा पंजाब में ४० वर्ष बाद और मध्य-प्रदेश में २० वर्षों के बाद मालगुजारी में परिवर्तन होते रहे हैं। बम्बई में यह ३० वर्षों के बाद बदला जाता था। इसके अतिरिक्त मालगुजारी निर्धारित करने की विधि तथा उसकी दरें भी भिन्न-भिन्न राज्यों में भिन्न-भिन्न रही हैं।

भारत में मालगुजारी निश्चित करने की विधि सन्तोषजनक नहीं रही है। भारत के सभी भागों में वास्तविक सम्पत्ति का अर्थ अलग-अलग लिया जाता है और इसका निर्धारण मालगुजारी निश्चित करने वाले की इच्छा पर रहता है, अतः मालगुजारी निश्चित करने का ढंग मनमाना रहा है।

प्रारम्भिक वर्षों में मालगुजारी भूमि की कुल उत्पत्ति के अनुसार ली जाती थी। परन्तु आजकल इसका निर्धारण शुद्ध आदेयों (Net Assets) के आधार पर किया जाता है। शुद्ध आदेयों को मालूम करते समय कुल उत्पत्ति में से उत्पादन-लागत घटा दी जाती है। यद्यपि यह ढंग सैद्धान्तिक रूप से अधिक अच्छा है किन्तु इसमें एक दोष तो यह है कि यह कर व्यक्ति पर न होकर वस्तु पर होता है और इसीलिए यह प्रतिगामी है। भारतीय कर जाँच समिति (१९२४) ने कहा था कि "यदि मालगुजारी को करारोपण की योजना के रूप में देखा जाए तो यह केवल अप्रगतिशील ही नहीं है बल्कि वास्तव में उसके विपरीत है।"[2]

१९वीं शताब्दी के अन्त तक मालगुजारी भारत सरकार की आय का मुख्य साधन था जैसे, देश को करों से प्राप्त होने वाली आय का सन् १७९३-९४ में ६९%, १८५०–५१ में ६६·५%, १८९१–९२ में ४१·३% मालगुजारी से प्राप्त होता था परन्तु २०वीं शताब्दी के आरम्भ से ही इसका महत्व घटता गया है। जैसे १९०१-०२ में भारत की कुल आय का ४१·८%, १९१९-२० में २७·८%, १९३९-४० में १९·९% भाग मालगुजारी से प्राप्त होता था। प्रथम पंचवर्षीय योजना के आरम्भ होते ही मालगुजारी की आय फिर से बढ़ने लगी। इसकी राशि सन् १९५१-५२ में लगभग ४८ करोड़ रुपए थी, १९५५-५६ में ८०·३३ करोड़ रुपए थी, १९५९-६० में ९५·१५ करोड़, सन् १९६४-६५ में ११३·५१ करोड़ और १९६५-६६ में ११६.६७ करोड़ रुपयों के प्राप्त होने का अनुमान था।

मालगुजारी तथा करारोपण के सिद्धान्त—मालगुजारी में निश्चितता का गुण पाया जाता है। जितने समय के लिए मालगुजारी निश्चित की जाती है उससे पहले मालगुजारी की दरों में कोई भी परिवर्तन नहीं होते। इस प्रकार किसान को यह पता रहता है कि उसको कितना भुगतान करना है और सरकार को भी यह पता रहता है कि मालगुजारी से कितनी आय प्राप्त होगी। मालगुजारी में सुविधा का भी गुण पाया जाता है क्योंकि लगान किसान से उस समय वसूल किया जाता है जबकि वह अपनी फसल को बेचता है। मालगुजारी का प्रबन्ध एवं व्यवस्था अपव्ययी है क्योंकि इसको एकत्रित करने के लिए एक बहुत बड़ा कर्मचारी वर्ग रखा जाता है। अन्त में लगान किसान की भूमि से प्राप्त आय के अनुसार नहीं लगाया जाता और इसलिये यह काश्तकार की योग्यता के अनुकूल नहीं होता। इसके अतिरिक्त यह प्रतिगामी होता है।

मालगुजारी कर है या लगान ?—हमारे देश में इस विषय पर काफी लम्बे समय से वाद-विवाद होता आ रहा है कि मालगुजारी कर है या लगान ? यह

2. Report, p. 77.

निश्चित करने के लिए हमको यह देखना होगा कि भूमि का मालिक कौन है, किसान या सरकार। यदि भूमि की मालिक सरकार है तब तो मालगुजारी लगान के रूप में दी जाती है और यदि भूमि का मालिक किसान है तब यह कर हो जाता है। इस प्रकार भूमि का स्वामित्व इस समस्या का केन्द्रीय बिन्दु है और इसके विरुद्ध तथा इसके पक्ष में बोलने वाले व्यक्ति अपने-अपने राग अलापते हैं। वे लोग जो इसको लगान बताते हैं उनका कथन है कि मालगुजारी लगान इसलिए है कि सरकार इसकी दर को आवश्यकतानुसार नहीं बदल सकती। साथ ही किसानों को मकान बनवाने के लिए भूमि मुफ्त दी जाती है और उनको सम्मिलित भूमि में पशुओं को चराने का अधिकार भी है। परन्तु यह ध्यान रहे कि सरकार के ऊपर कोई ऐसा नियन्त्रण नहीं है कि वह मालगुजारी को न बढ़ा सके। सरकार तो मालगुजारी की दर को केवल इसीलिए नहीं बदलती क्योंकि ऐसा करने में बड़ी कठिनाई होगी, और कहीं-कहीं तो जमीन के अधिकार भी हर वर्ष बदलते जाते हैं। जहाँ तक किसानों को मकानों के लिए मुफ्त भूमि मिलने का सम्बन्ध है तो इसका भी कोई विशेष महत्व नहीं है, क्योंकि सरकार भूमि में अपना महत्व स्थापित किये बिना ही किसानों को इस प्रकार की सुविधायें प्रदान कर सकती है। इन लोगों का दूसरा तर्क यह है कि चाहे आरम्भ में जो भी स्थिति रही हो परन्तु अब तो मालगुजारी लगान ही है क्योंकि भूमि के बार-बार बेचे और खरीदे जाने से मालगुजारी के रूप में की गई सरकारी माँग का पूँजीकरण (Amortisation) हो गया है। परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि कर कभी बढ़ाया नहीं जा सकता, बल्कि इसका अर्थ केवल यही है कि कर-भार सम्पत्ति के बेचने वाले पर पड़ता है, क्योंकि उसको खरीदने वाला कर का धन निकाल कर भूमि का मूल्य चुकाता है। यह भी ध्यान रहे कि पूरे कर का पूँजीकरण भी बहुत कठिन है क्योंकि सरकार की माँग का पहले से पता नहीं किया जा सकता।

भारतीय कर जाँच आयोग ने मालगुजारी को कर माना है और इसके पक्ष में निम्नलिखित तर्क दिए हैं—

(१) सरकार ने स्थायी बन्दोबस्त वाले क्षेत्रों में जमींदारों को भूमि का स्वामी माना है और रैयतवारी क्षेत्रों में भी भूमि के बेचने तथा खरीदने पर कोई पाबन्दी नहीं लगाई है।

(२) सरकार ने अपने आप को भूमि का स्वामी घोषित नहीं किया है।

(३) भारत में लगान आर्थिक लगान से ऊँचा है और उसका भुगतान कर की भाँति अनिवार्य रूप से करना होता है।

(४) लगान राष्ट्रीय आय का एक अंग है।

सच तो यह है कि इस वाद-विवाद का अन्त करना सरल नहीं है। इसलिए सरकार ने जमींदारी उन्मूलन करके इस प्रकार के वाद-विवाद का अन्त ही कर दिया है।

लगभग सभी राज्यों में मालगुजारी वसूल करते समय कुछ रियायतें तथा

कटौतियाँ कर दी जाती हैं विशेष कर जब अकाल और बाढ़ के कारण फसलें पूर्णतया नष्ट हो जाती हैं। कभी-कभी मन्दी के समय भी मूल्यों के गिरने के कारण यह कटौतियाँ की जाती हैं। यद्यपि विभिन्न राज्यों में इन रियायतों को प्रदान करने के नियम अलग-अलग हैं परन्तु अधिकतर सन् १९०१ के अकाल आयोग की सिफारिशों का ही पालन किया जाता है। मालगुजारी में रियायतें होने के साथ-साथ लगान में भी कमी कर दी जाती है।

यह सब कुछ होते हुए भी भारत की मालगुजारी प्रणाली की सभी ओर से आलोचना हुई है। इसका भार धनी व्यक्तियों की अपेक्षा निर्धन कृषकों पर अधिक पड़ता है, क्योंकि यह तो शुद्ध आदेयों या वार्षिक लगान के अनुसार निश्चित की जाती है और भूमि के मालिक या किसान की कर-दान योग्यता की ओर कोई ध्यान नहीं दिया जाता। अतः यह अनुपातिक है, प्रगतिशील नहीं और कृषकों के विभिन्न वर्गों पर इसका भार भी असमान है। कर जाँच आयोग ने इस प्रणाली को सुधारने के लिए निम्न सुझाव प्रस्तुत किये हैं :—

कर जाँच आयोग की सिफारिशें—कर जाँच आयोग का विचार है कि पिछले वर्षों में, विशेष रूप से दूसरी लड़ाई के बाद, भूमि के मूल्यों में इतनी वृद्धि हो गई है कि मालगुजारी का भार दिन-प्रति-दिन कम होता जा रहा है। इसलिए आयोग का विश्वास था कि मालगुजारी-व्यवस्था का पुनर्संगठन होना चाहिए। आयोग ने इसके निम्न कारण दिये हैं :—

(१) प्रथम, मालगुजारी व्यवस्था का, तथा बन्दोबस्त का काम इतना विस्तृत और विशेष प्रकृति का है कि समय-समय पर भिन्न-भिन्न जिलों में भिन्न-भिन्न प्रकार से बन्दोबस्त किये गए हैं। परिणामस्वरूप विभिन्न क्षेत्रों में मालगुजारी के भार का वितरण असमान है। इसके अतिरिक्त बहुत से राज्यों में मालगुजारी की दरें अभी तक नहीं बदली गई हैं और पहले ही जैसी चली आ रही हैं।

(२) बन्दोबस्त की जो वर्तमान विधि है उसके द्वारा मालगुजारी में मूल्यों के परिवर्तनों के साथ-साथ हेर-फेर नहीं किया जा सकता है। बन्दोबस्त की अवधि बहुत लम्बी है और इसकी दरों में परिवर्तन करने का ढंग अत्यधिक विस्तृत है।

(३) वर्तमान प्रणाली में मालगुजारी को प्रगतिशील बनाने के लिए कोई भी विधि प्रस्तुत नहीं की गई है।

(४) कुछ क्षेत्रों में तो बन्दोबस्त अभी तक वैज्ञानिक रीतियों के अनुसार नहीं हो पाये हैं। इसलिए आयोग ने निम्न सिफारिशें दी हैं :—

(१) आयोग की पहली सिफारिश यह थी कि राज्य के सभी भागों में मालगुजारी की दरें समान तथा प्रमापीकृत होनी चाहियें। उसका प्रस्ताव है कि दरों की असमानता वर्तमान विधि का प्रयोग करने से दूर नहीं हो सकती, क्योंकि इसके लिए एक बड़ी संख्या में कर्मचारियों की आवश्यकता होगी और समय भी अधिक लगेगा। इसलिए उनका सुझाव है कि जिन क्षेत्रों में मालगुजारी पिछली बार सन् १८८०-१८९० के काल में प्रचलित मूल्यों के अनुसार निश्चित हुई थी उनकी दरों में

२५% की वृद्धि होनी चाहिये। जिन क्षेत्रों में पिछला बन्दोबस्त सन् १९०० और १९१९ के बीच के मूल्यों के आधार पर हुआ था उसमें १२$\frac{1}{2}$% की और जिन क्षेत्रों में सन् १९२०–१९३९ के मूल्यों के अनुसार हुआ था उसमें ६$\frac{1}{4}$% की वृद्धि होनी चाहिए थी और यदि पिछला बन्दोबस्त १९४० के बाद के मूल्यों पर आधारित था तो उसमें कोई भी परिवर्तन नहीं होना चाहियें।

(२) आयोग का दूसरा प्रस्ताव था कि मालगुजारी की दरों में प्रत्येक १० वर्ष के बाद परिवर्तन होना चाहिए। वर्तमान अवधि जो २० से ४० वर्षों तक है, बहुत लम्बी है और मालगुजारी की दरें वर्तमान मूल्यों के अनुकूल नहीं हैं। यह तो सम्भव नहीं है कि प्रत्येक १,२ या ३ वर्षों के बाद मालगुजारी की दरों में परिवर्तन किये जा सकें क्योंकि एक तो इसमें प्रबन्ध-सम्बन्धी अनेकों कठिनाइयाँ उत्पन्न होंगी और दूसरे इससे किसानों को भी बहुत कष्ट होगा। इसके अतिरिक्त मालगुजारी की दरों में परिवर्तन करने की विधि भी ऐसी होनी चाहिए जिसमें वर्तमान प्रणाली की भाँति विस्तृत पूछताछ करने की आवश्यकता न हो। इसके अतिरिक्त यह भी आवश्यक है कि मालगुजारी की दरें सम्पूर्ण राज्य में एक साथ निश्चित की जायें, क्योंकि प्रत्येक जिले या तहसील में अलग-अलग मालगुजारी निश्चित करना सुविधाजनक नहीं होता। इसलिए आयोग ने यह सुझाव दिया कि मालगुजारी की नई दरें राज्य की मुख्य फसलों के मूल्य-सूचक अंक के अनुसार निर्धारित की जायें।

(३) आयोग का तीसरा सुझाव यह था कि मालगुजारी की दर में मूल्यों के परिवर्तनों के अनुपात में परिवर्तन नहीं होना चाहिए बल्कि मूल्यों के परिवर्तनों के अनुपात से कम परिवर्तन किए जायें।

(४) विशेष परिस्थितियों में मालगुजारी की दरें किसी समय भी बदली जा सकती हैं अर्थात् जब सूखी भूमि में सिंचाई की व्यवस्था हो जाय या सिंचाई वाली भूमि सूखी भूमि हो जाये या भूमि की उपजाऊ शक्ति कम हो जाये या प्राकृतिक कारणों से भूमि खेती के योग्य न रहे।

(५) आयोग की यह भी सिफारिश थी कि मालगुजारी पर स्थानीय सरकारें जैसे जिला बोर्ड, पंचायतें, अतिरिक्त कर (Surcharge) भी लगा सकती हैं और जो आय प्राप्त हो वह पूर्ण रूप से स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उपयोग की जा सकती है। यह अतिरिक्त कर या तो मालगुजारी की राशि के अनुसार या किसान द्वारा बोई गई फसल के अनुसार निर्धारित किया जा सकता है।

(६) आयोग ने यह भी सिफारिश की है कि प्रत्येक स्थानीय क्षेत्र में एकत्रित की गई मालगुजारी का कम से कम १५% उस क्षेत्र की स्थानीय सरकारों को दिया जाय। यदि मालगुजारी की नई दरों से किसी क्षेत्र में आय की वृद्धि हो जाती है तब इस बढ़ी हुई आय का कुछ भाग स्थानीय सरकारों को भी दिया जाय। यह या तो आर्थिक सहायता के रूप में या किसी विशेष स्थानीय योजना को कार्यान्वित करने के लिए राज्य सरकारों की ओर से अनुदान के रूप में दिया जा सकता है।

(७) आयोग का प्रस्ताव था कि मालगुजारी के भार की असमानताओं को

कम करने के लिए कृषि आय-कर लागू होना चाहिए।

कृषि आय-कर—भारत में कृषि आय-कर राज्यों की आय का एक स्रोत है। आजकल यह कर बिहार, आसाम, बंगाल, उड़ीसा, उत्तर-प्रदेश, मद्रास, राजस्थान और केरल में लगा हुआ है। सबसे पहले इसको बिहार ने सन् १९३८–३९ में लगाया था। इसके एक वर्ष बाद आसाम में लगाया गया। बंगाल और उड़ीसा में सन् १९४४ में और उत्तर-प्रदेश में सन् १९४८–४९ में लगाया गया। यद्यपि कृषि आय कर हमारे देश में पिछले २० वर्षों से ही राज्य सरकारों ने लगाना आरम्भ किया है परन्तु यह भारत के लिए कोई नया कर नहीं है। इसका इतिहास लगभग १ शताब्दी पुराना है। यह कर सन् १८६० में सामान्य आय-कर का ही एक भाग था जो सन् १८८६ तक लगाया जाता था। ब्रिटिश साम्राज्य में यह इसलिए हटा दिया गया था, क्योंकि अंग्रेजों ने राजनैतिक तथा शासन-संबन्धी सुविधाएँ प्राप्त करने के लिए एक नए वर्ग का निर्माण किया था, जिसे जमींदार कहा जाता है। जमींदार भूमि का स्वामी बनाया गया और क्योंकि ब्रिटिश साम्राज्य बड़े अंश तक जमींदारों की सहायता पर निर्भर था इसलिए उसने कोई भी ऐसा काम करना उचित नहीं समझा जिससे इस वर्ग को रुष्ट होना पड़े। इसीलिए कृषि आय-कर कभी भी नहीं लगाया गया। सन् १८८६ के आय-कर के नियम में तथा सन् १९१९ के सुधारों में भी कृषि आय-कर को कर-मुक्त रखा था। परन्तु सन् १९३५ के एक्ट ने प्रान्तों को कृषि आय पर कर लगाने का अधिकार दिया। इस एक्ट में भी कृषि आय को सामान्य आय-कर से अलग समझा गया और यहाँ तक कि हमारे नए संविधान में भी इस भेद को बनाए रखा गया यद्यपि सरकार कमेटी तथा सन् १९५५ के भारतीय कर जाँच आयोग ने भी, अपना मत प्रकट करते हुए कह दिया था कि अन्य स्रोतों से प्राप्त आय और भूमि से प्राप्त आय में कोई भी अन्तर नहीं है। सन् १९५५ के कर जाँच आयोग ने अपनी रिपोर्ट में लिखा था कि "आय-कर में से कृषि से प्राप्त आयों के कर-मुक्त रहने का कोई भी ऐतिहासिक या सैद्धान्तिक औचित्य नहीं है।" और सुझाव दिया था कि "एक व्यक्ति की अन्य आयों पर कर की दर निर्धारित करते समय कृषि-आयों को भी सम्मिलित करना चाहिए, यदि यह प्रबन्ध के दृष्टिकोण से उचित हो और व्यावहारिकता के दृष्टिकोण से उचित हो।" परन्तु खेद की बात यह है कि अभी तक कृषि-आय को अन्य प्रकार की आयों से अलग समझा जाता है।

कर-निर्धारण की कठिनाइयाँ—कृषि आय-कर को निर्धारित करते समय कुछ विशेष कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं जैसे, कृषि भूमि में लगी हुई सम्पत्ति जैसे मकान से प्राप्त आय को कृषि-आय में सम्मिलित किया जाए या नहीं। वास्तव में मकान का किराया कृषि-आय नहीं है क्योंकि उसमें भूमि का लगान, पूँजी का सूद, जोखिम का लाभ, और श्रम की मजदूरी सम्मिलित है। परन्तु जो आय जमींदार दूसरों को खेती के लिए अपनी भूमि देकर प्राप्त करते हैं और स्वयं कृषि नहीं करते ऐसी आय अवश्य ही कृषि-आय है। अतः कृषि-आय को मालूम करने की एक सरल विधि यह

है कि उन सभी भूमियों से जिन पर मालगुजारी दी जाती है, जो भी आय प्राप्त होती है वह कृषि-आय है। इसके अतिरिक्त एक समस्या यह भी है कि कृषि-आय पर कर लगाने का आधार क्या होना चाहिए ? क्या यह कर आय-प्राप्ति के स्रोत पर लगाना चाहिए या करदाता के रहने के स्थान पर ? आय-कर में दोनों ही आधार अपनाये जाते हैं। परन्तु कृषि आय-कर में ऐसा नहीं किया जा सकता, क्योंकि ऐसा करने से एक तो दो बार करारोपण होने का भय रहता है और दूसरे अन्तर्प्रान्तीय झगड़े होने की सम्भावना रहती है। उदाहरणस्वरूप यदि कोई व्यक्ति उत्तर-प्रदेश में रहता है जिसकी भूमि बंगाल में है तब बंगाल सरकार तो आय के स्रोत के आधार पर कर लगाएगी और उत्तर-प्रदेश की सरकार रहने के स्थान के आधार पर कर लगाएगी। इसीलिए इन सब झगड़ों को दूर करने के उद्देश्य से सभी राज्य सरकारें केवल एक ही आधार मानती हैं, अर्थात् आय के प्राप्त होने का स्रोत। इसके अतिरिक्त भारत में इस प्रकार की भी व्यवस्था की गई है कि केवल उसी भूमि से प्राप्त आय को कृषि-आय में सम्मिलित किया जाएगा जो भारत में स्थित है। यह भी प्रश्न उठता है कि कर किस आय पर लगाया जाए ? प्राप्त होने वाली वास्तविक आय पर या अनुमानित आय पर ? भारत में सन् १९३९ से पहले आय-कर केवल उसी आय पर लगता था जो आय प्राप्त होती थी। परन्तु क्योंकि इसमें कर की बहुत चोरी होती थी इसलिए अब आय-कर अनुमानित आय के आधार पर लगाया जाता है। परन्तु कृषि आय-कर वास्तविक प्राप्त आय पर ही लगाया जाता है क्योंकि कर केवल भूमि की स्थिति के अनुसार लगाया जाता है और कर-दाता को किसी अन्य स्रोत से आय प्राप्त ही नहीं होती, इसलिए कर को बचाने या कर को चुराने का प्रश्न ही नहीं उठता। कृषि आय-कर में भी खण्ड प्रणाली (Slab system) अपनाई गई है। मद्रास में कर रहित न्यूनतम सीमा २००० रुपए है तथा उड़ीसा में ३००० रुपए हैं और शेष प्रान्तों में १,५०० रुपए है। साधारणतया कर की न्यूनतम दर ३ पैसे या ५ पैसे प्रति रुपया है, परन्तु उत्तर-प्रदेश में यह दर ६ पैसे है। सबसे ऊँचे खण्ड पर यह दर साधारणतया २५ पैसे प्रति रुपया है परन्तु राजस्थान में १६ पैसे है और उड़ीसा में ७८ पैसे है। बिहार, उत्तर-प्रदेश, केरल, मद्रास, और राजस्थान में अति-कर भी लगाया जाता है। राजस्थान में ३०,००० रुपयों से अधिक आय पर अति-कर लगाया जाता है और शेष राज्यों में अति-कर २५,००० रुपयों से अधिक आयों पर लगता है। मद्रास और केरल में अति-कर की दर ३७ पैसे है और अन्य राज्यों में ३३ पैसे।

भारत में कृषि आय-कर—भारत में कृषि आय-कर कृषि एवं कृषि से सम्बन्धित क्रियाओं से प्राप्त आयों पर लगाया जाता है। कर निर्धारित करने से पहले कुल आय में से कुछ कटौतियाँ कर दी जाती हैं जैसे राज्य सरकार को दी गई मालगुजारी या जमींदारों को दिया गया लगान, स्थानीय करों का भुगतान, सिंचाई शुल्क, कुएँ, तालाब इत्यादि सिंचाई के साधनों की मरम्मत आदि का व्यय, कृषि-कार्यों के लिए प्राप्त किए गए ऋणों का सूद, खेती करने के सम्बन्ध में किए गए खर्चे जैसे बीज

खाद इत्यादि का मूल्य, कृषि-सम्बन्धी पशु तथा औजारों की व्यवस्था तथा अन्य बातों पर व्यय और बीमा-सम्बन्धी अंश-दान। कृषि आय-कर के अधीन करदाताओं के लिए यह नितांत आवश्यक है कि वे अपनी आयों और कृषि-सम्बन्धी खर्चों का विस्तृत हिसाब रखें। परन्तु अधिकांश कृषकों के लिए यह सम्भव नहीं है कि वह अपना पूरा हिसाब रख सकें। इसलिए कुछ सरकारों ने भूमि से प्राप्त लगान के आधार पर आय मालूम करने की विधि अपनाई है जैसे उत्तर-प्रदेश में जिस व्यक्ति पर कर लगाया गया है उसको यह स्वतन्त्रता है कि वह कर का भुगतान या तो अपने हिसाबों के आधार पर करे या अपने लगान के १२½ गुने की दर से करे। करदाता जो भी विधि एक बार चुन लेगा उसको उस समय तक नहीं बदल सकता जब तक कि आय बोर्ड (Board of Revenue) से आज्ञा प्राप्त न कर ले। बिहार और बंगाल राज्यों में इस प्रकार की स्वतन्त्रता नहीं दी गई है।

अतः स्पष्ट है कि राज्यों को कृषि आय-कर से कोई विशेष आय प्राप्त नहीं हो रही है। इस कर के विरुद्ध बहुत से आरोप लगाए जाते हैं जैसे, कृषि आय-कर से कृषकों को दो बार कर देना होगा। क्योंकि वे पहले से ही मालगुजारी दे रहे हैं। परन्तु यह आलोचना ठीक नहीं है। इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि किसी भी व्यक्ति पर एक ही आधार के अनुसार दो बार कर नहीं लगने चाहिए। परन्तु यदि कोई व्यक्ति एक कर का भुगतान करता है तो इसका यह अभिप्राय नहीं कि वह किसी दूसरे कर का भुगतान न करे। मालगुजारी कृषि उत्पादन के अनुसार दी जाती है और कृषि आय-कर कृषि से प्राप्त आय के अनुसार। अतः यह स्पष्ट ही है कि एक ही आधार पर दो कर नहीं लगाये जाते हैं। यह गड़बड़ी इस कारण भी उत्पन्न होती है कि बहुधा लोग करापात (Impact) और कर-भार (Incidence) के भेद को ठीक प्रकार से नहीं समझ पाते। मालगुजारी का करापात तो जमींदारों पर है परन्तु कर-भार जमीन जोतने वालों या उपभोक्ताओं पर पड़ता है। केवल कृषि आय-कर में ही कर-भार जमींदारों पर पड़ता है। यदि यह भी मान लिया जाये, जो कि सही नहीं है, कि मालगुजारी का भार जमींदारों को ही सहन करना पड़ता है क्योंकि वे इस स्थिति में नहीं हैं कि इसका विवर्तन कर सकें और इसलिए माल-गुजारी का भार जमींदारों पर पड़ता है। परन्तु यह तर्क भी कम से कम वर्तमान जमींदारों के सम्बन्ध में सही नहीं है। पूँजीकरण की विधि द्वारा यह भार भूमि को बेचते समय पहले जमीदारों पर अवश्य ही पड़ा होगा और क्योंकि वर्तमान जमींदार प्रारम्भिक जमींदार नहीं हैं इसलिए मालगुजारी का भार उन पर नहीं पड़ता और इसलिए दो बार करारोपण का तर्क निराधार है। इसके विरुद्ध दूसरी आलोचना यह की जाती है कि इस कर से कृषकों का कर-भार बहुत अधिक हो जायेगा। परन्तु यह तर्क भी ठीक नहीं है क्योंकि, कृषि आय-कर केवल उन्हीं कृषकों पर लगाया जाता है जिनकी आय निश्चित न्यूनतम सीमा से अधिक होती है। वास्तव में इस कर से कृषकों की आय की असमानताएँ दूर होंगी। साथ ही प्रगतिशील कृषि आय-कर का भार बड़ी-बड़ी आयों पर अधिक पड़ेगा और छोटी-छोटी आयों पर कम

पड़ेगा। अन्तिम आलोचना इस कर के विरुद्ध यह की जाती है कि, इसका प्रबन्ध एवं व्यवस्था सरल नहीं होती। अधिकांश कृषक अपनी आय और व्यय का पूरा हिसाब नहीं रख पाते और यह भी सम्भावना है कि कर-अधिकारी अशिक्षित कृषकों को परेशान करें। इस सम्बन्ध में इतना बता देना उचित होगा कि गैर-कृषि आय के सम्बन्ध में भी यह आरोप लगाया जाता है। परन्तु अनुभव यह बताता है कि धीरे-धीरे लोगों को अपना उचित हिसाब बनाने का ज्ञान बढ़ता जा रहा है और आरम्भ में जो कठिनाइयाँ थीं वे अब बहुत कुछ दूर होती जा रही हैं। कृषि आय-कर की व्यवस्था में जो कठिनाइयाँ आज अनुभव हो रही हैं वह धीरे-धीरे कम होती जायेंगी।

कृषि आय-कर के पक्ष में यह तर्क दिये जाते हैं : प्रथम, यह कर मालगुजारी की असमानताओं को दूर करता है। हम कह चुके हैं कि मालगुजारी की दर कर-दाता की करदान योग्यता के अनुसार निश्चित नहीं की जाती। यह तो वार्षिक लगान या उपज के अनुसार निश्चित की जाती है और निर्धन तथा धनी के लिए एक ही दर रहती है। मालगुजारी से कृषकों में कर-भार की जो असमानताएं उत्पन्न होती हैं उनको कृषि आय-कर दूर कर देगा। दूसरे, इस कर की अनुपस्थिति में कृषकों और गैर-कृषकों के बीच की असमानताएँ भी उपस्थित रहेंगी। एक व्यापारी को एक निश्चित आय पर जबकि एक प्रगतिशील दरों के आय-कर का भुगतान करना होता है उतनी ही आय वाले भूमि के मालिक को मालगुजारी के रूप में एक बहुत ही हलका भार सहन करना होगा। परन्तु यह स्थिति न्यायसंगत नहीं है। इसलिए इस असमानता को दूर करने का एकमात्र साधन कृषि आय-कर ही है। तीसरे, कुछ व्यक्तियों को भूमि और व्यापार दोनों ही से आय प्राप्त होती है। यदि कृषि आय-कर नहीं लगाया जायेगा तो उनकी कुल आय के केवल एक ही भाग पर कर लग पायेगा जबकि दूसरे व्यक्ति केवल अपने व्यापार से उतनी ही आय प्राप्त करते हैं और उनकी पूरी आय पर कर लगाया जाता है। इस प्रकार की असमानता भी कृषि आय-कर से दूर होगी। अन्त में, जबकि सामाजिक कल्याण सम्बन्धी कार्यों को सम्पन्न करने के लिए और विकास-सम्बन्धी योजनाओं को पूरा करने के लिए राज्य सरकारों की आवश्यकताएँ दिन-प्रतिदिन बढ़ती ही जा रही हैं यह कर बहुत ही आवश्यक हो जाता है। इसलिए प्रत्येक राज्य में ही इस कर को लागू कर देना चाहिए।

कर जाँच आयोग के विचार—कर जाँच आयोग का विचार है कि सभी राज्यों को कृषि आय-कर ३००० रुपयों से अधिक आय पर लागू कर देना चाहिए ताकि राज्यों की आय बढ़ जाए और भूमि-कर प्रणाली भी अधिक न्यायसंगत हो जाए। यद्यपि आयोग ने इस बात पर जोर नहीं दिया है कि कृषि आय-कर की दरें सभी राज्यों में एक समान हों किन्तु उसकी यह सिफारिश थी कि जिन राज्यों में कृषि आय-कर लगा हुआ है उसकी वर्तमान दरें बहुत नीची हैं इसलिए उनमें पर्याप्त वृद्धि की जाए। आयोग इस बात से पूर्णतया सहमत था कि आय करारोपण में कुछ न कुछ असमानतायें अवश्य रहेंगी चाहे सभी राज्य कृषि आय-कर को

लागू क्यों न कर दें, क्योंकि राज्य तो केवल कृषि-आयों पर ही कर लगायेगा और संघ सरकार केवल गैर-कृषि आय पर ही कर लगायेगी। अतः विभिन्न राज्यों में थोड़े-बहुत अन्तर अवश्य ही पाये जायेंगे। इन असमानताओं को दूर करने के लिए आयोग ने यह सुझाव दिया था कि सभी प्रकार की आयों पर एक साथ कर लगाया जाये। अर्थात् कृषि और गैर-कृषि आयों में कोई भेद न रखा जाये। इस उद्देश्य की पूर्ति करने के लिए आयोग का सुझाव था कि कृषि आय-कर पर राज्य सरकारें अतिरिक्त कर लगायें जिसकी दर गैर-कृषि आय के अनुसार निश्चित की जाये। ऐसा करने से उन लोगों की आय जो केवल एक ही स्रोत से प्राप्त होती है तथा उन लोगों की आय जो दोनों, कृषि एवं गैर-कृषि, स्रोतों से प्राप्त होती हैं, में कोई भी अन्तर नहीं रहेगा। साथ ही कृषि और गैर-कृषि आय को मिलाकर एक समुचित आय-कर भी लगाया जा सकेगा।

कृषि आय-कर का महत्व गत वर्षों में बहुत कुछ कम हो गया है, क्योंकि जमींदारी उन्मूलन से कृषि-आय बहुत कम हो गई है। फिर भी कृषि आय-कर का स्थान राजकीय करों में प्रमुख है और राज्यों को अब भी काफी आय इस स्रोत से प्राप्त हो रही है, और इस कर से प्राप्त आय में वृद्धि ही हो रही है। भारत में राज्यों की कुल आय, कृषि आय-कर से सन् १९५१-५२ में ४३३ लाख रुपये, सन् १९५६-५७ में ५७३ लाख, सन् १९६१-६२ में ९४४ लाख रुपये और १९६३-६४ में ९६ लाख रुपये थी और सन् १९६४-६५ में १०७·५ लाख और १९६५-६६ में ९८·३ लाख रुपयों की आय प्राप्त होने का अनुमान था।

अध्याय २३

राज्य सरकारों की आय के स्रोत (क्रमशः)

(उत्पादन-कर तथा मदिरा निषेध नीति)

SOURCES OF STATE REVENUE (CONTD.)

(Provincial Excise and Prohibition Policy)

प्राक्कथन—

राज्य सरकारों को निम्न वस्तुओं पर प्रतिबन्धक उत्पादन-कर लगाने का अधिकार प्राप्त है। (१) देशी शराब, (२) ताड़ी जो नारियल, खजूर आदि वृक्षों का रस होता है; (३) चावलों या जौ की शराब, (४) देशी पेड़ों की नशीली पत्तियाँ जैसे चर्स, भाँग, गाँजा और (५) अफीम। हमारे देश में प्रान्तीय उत्पादन-करों का इतिहास अनेकों प्रयोगों और खोजों से परिपूर्ण है, जिसका विस्तृत वृतान्त यहाँ पर देना सम्भव नहीं है। सामान्य रूप से सरकार का केवल यही उद्देश्य रहा है कि वह हानिकारक दवाइयों और मदिरा के उपभोग पर प्रतिबन्ध लगाये। अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए विभिन्न सरकारों ने कई प्रकार की योजनाओं को अपनाया जैसे (१) नियन्त्रण के उद्देश्य से ऐसी वस्तुओं के उत्पादन का केन्द्रीयकरण, (२) लाइसेन्स तथा विना लाइसेन्स द्वारा ऐसी वस्तुओं की बिक्री पर प्रतिबन्ध लगाना; (३) बिक्री के क्षेत्र को सीमित रखना; (४) बिक्री के घन्टों को सीमित रखना; (५) उन दुकानों की संख्या को कम करना जहाँ पर ऐसी वस्तुओं की बिक्री होती है और (६) व्यक्तियों में ऐसी वस्तुओं के उपभोग के प्रति अरुचि उत्पन्न करना।

भारत में आबकारी-कर का इतिहास तथा महत्व—ब्रिटिश साम्राज्य के आरम्भ होने से पहले यह कर बंगाल में जमींदारों द्वारा एकत्रित किया जाता था। परन्तु इस प्रथा को सन् १७६० में समाप्त कर दिया गया। तत्पश्चात् १० वर्षों के लिए शराब बनाने और बेचने के लिए लाइसेन्स प्रणाली की स्थापना हुई और केन्द्रीय शराब बनाने के कारखाने कुछ बड़े-बड़े शहरों में स्थापित किए गये। यद्यपि यह बीच में बन्द कर दिये गए थे परन्तु सन् १८८३ से यह फिर चालू कर दिये गये जो आज तक चल रहे हैं। मद्रास में भी व्यक्तिगत आधार पर प्रारम्भिक काल में खेती-प्रणाली स्थापित थी। सन् १८२० में एक एक्ट बनाया गया जिसके अनुसार ताड़ी का उत्पादन एवं विक्रय केवल अधिकृत

व्यक्तियों द्वारा ही किया जा सकता था। २० वर्षों के बाद शराबों पर उत्पादन-कर लागू किया जाने लगा और वार्षिक फी प्राप्त करने की प्रथा को समाप्त कर दिया गया। सन् १८८४ में एक आयोग नियुक्त किया गया जिसकी सिफारिशों को प्रान्तीय सरकारों ने स्वीकार किया और शराब बनाने के कार्य को उसकी बिक्री करने से अलग कर दिया गया। अब सरकार को शराब उत्पन्न करने वाले व्यक्तियों से प्रति गैलन उत्पादन-कर भी प्राप्त होने लगा और बेचने वालों से लाइसेन्स फी भी प्राप्त होने लगी। इस प्रकार सरकार की आय में दुगुनी वृद्धि हुई। उत्तर प्रदेश में भी पहले व्यक्तिगत उत्पादन-प्रणाली थी। सन् १८३३ में केन्द्रीय शराब बनाने के कारखानों को स्थापित करने का प्रस्ताव रखा गया, जो केवल सन् १८६३ में ही कार्यान्वित किया जा सका। सन् १८७०-७१ से जिलाधीशों को यह अधिकार सौंप दिया गया कि वे शराब बेचने वाली दुकानों की संख्या को निर्धारित करें और उनके किरायों को निश्चित करें। परन्तु क्योंकि ऐसी दुकानों के किरायों को निश्चित करना इतना सरल नहीं था, इसलिए दुकानों का नीलाम द्वारा ठेका देने की प्रथा आरम्भ हुई। लगभग सभी प्रान्तों में इसी प्रकार की नीतियाँ अपनाई गई हैं। सन् १८९४ में एक आयोग नियुक्त हुआ था जिसने इस बात पर जोर दिया कि गाँजा, चर्स इत्यादि की खेती को जितना नियन्त्रित किया जा सके किया जाए और गोदामों से गाँजा, चर्स लेने की मात्रा के अनुसार कर लगाया जाए। जहाँ तक भांग का सम्बन्ध था उसके उत्पादन एवं विक्रय पर इतने नियन्त्रण नहीं रखे गए। सन् १९०५-०६ में भारतीय आबकारी आयोग नियुक्त किया गया था। उस समय तक सरकार की नीति व्यक्तियों द्वारा नशीली वस्तुओं के उपभोग में हस्तक्षेप न करने की थी। आयोग की सिफारिशों के अनुसार करों की दर में वृद्धि कर दी गई, प्रतिबन्धक संस्थाओं में सुधार किए गए और शराब बनाने के लिए ठेके दिये गये। सन् १९१९ के एक्ट से उत्पादन-करों के इतिहास में एक नये अध्याय का श्रीगणेश होता है जिसके अनुसार देशी तथा विदेशी शराबें, गाँजा, चर्स, भाँग, अफीम इत्यादि प्रान्तों की आय के साधन बना दिये गये। परन्तु सन् १९२१ में महात्मा गांधी के असहयोग आन्दोलन से प्रान्तों को इस मद से प्राप्त होने वाली आय में बहुत कमी हो गई। लगभग सभी प्रान्तों ने इस नीति को स्वीकार किया कि नशीली वस्तुओं के उपभोग को जितना भी हो सके कम किया जाए। सन् १९३७ के प्रान्तीय स्वशासन में अधिकतर प्रान्तों में मदिरा निषेध की नीति अपनाई गई। सन् १९३९ में राष्ट्रीय सरकारों ने अपने-अपने त्यागपत्र दे दिये क्योंकि वे ब्रिटिश सरकार की युद्ध-सम्बन्धी-नीति से सहमत नहीं थीं। सन् १९४६ में कांग्रेस सरकारें फिर स्थापित हुई और उन्होंने मदिरा निषेध को अपना प्रमुख उद्देश्य बनाया। सन् १९४८ में वित्तीय कठिनाइयों के कारण केन्द्रीय सरकार ने राज्य सरकारों को यह सलाह दी कि वे मदिरा निषेध के कार्यक्रम को धीरे-धीरे ही कार्यान्वित करें। कुछ राज्यों ने जैसे यू० पी०, बिहार और उड़ीसा ने तो केन्द्रीय सरकार की सलाह को माना परन्तु बम्बई और मद्रास जैसे राज्यों ने इसको स्वीकार नहीं किया। प्रथम योजना के

आरम्भ होते ही सरकार को फिर से मदिरा निषेध कार्यक्रम की प्रगति का ज्ञान प्राप्त करने की आवश्यकता अनुभव हुई और इसलिए नियोजन आयोग ने १९५४ में श्री श्रीमन्नारायण की अध्यक्षता में एक मदिरा निषेध जाँच समिति नियुक्त की जिसने अपनी रिपोर्ट सन् १९५६ में दी थी। इसका अध्ययन हम बाद में करेंगे।

इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि मदिरा निषेध नीति को इतनी सफलता प्राप्त नहीं हो सकी है जितनी कि आशा की जाती थी। इस नीति से एक ओर तो राज्य सरकारों की आय कम हो गई और दूसरी ओर राज्य सरकारों को मदिरा निषेध कार्यक्रम पूरा करने के लिए खर्चा भी अधिक करना पड़ रहा है। जो नशे के आदी हैं, उनकी आदत अभी तक कम नहीं हुई। गैर-कानूनी शराब बनाने वाले तथा गीले क्षेत्रों (Wet Areas) से शराब की चोरी करने की बुराइयों में और अधिक वृद्धि हो गई है। जहां तक राज्य सरकारों को इस कर से आय प्राप्त होने का सम्बन्ध है। सन् १९५१–५२ और सन् १९५६–५७ में लगभग क्रमशः ४९·४१ तथा २२·७६ करोड़ रुपयों की आय प्राप्त हुई जो बढ़कर सन् १९६१–६२ में ५८·५८ करोड़ रुपए थी। अनुमान था कि सन् १९६४–६५ में ७०·५ करोड़ रु० की आय प्राप्त होगी। राज्य सरकारों ने अपनी आय की इस कमी को पूरा करने के लिए बिक्री-कर लागू किए हैं। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय सरकार द्वारा तम्बाकू, चीनी और कपड़ों पर लगाये हुए अतिरिक्त उत्पादन-करों से जो आय प्राप्त होगी वह काफी अंश तक इस कमी को पूरा कर देगी, क्योंकि इन करों से प्राप्त आय में निरन्तर वृद्धि होती रहेगी। भारत-चीन युद्ध के कारण उत्पन्न होने वाली वित्तीय कठिनाइयों के परिणाम-स्वरूप सरकार ने अब मदिरा निषेध की नीति को स्थगित कर दिया है।

मदिरा निषेध नीति (Policy of Prohibition)—मदिरा पीना सामाजिक, धार्मिक, नैतिक और आर्थिक—सब दृष्टिकोणों से ही बुरा बताया गया है। कुछ धर्मों में तो इसके उपयोग को पाप बताया गया है और कुछ देशों में यह एक सामाजिक बुराई समझी जाती है। भारत जैसे निर्धन देश में जहाँ व्यक्तियों को पेट भर भोजन प्राप्त नहीं होता मदिरा पीने के विचार का समर्थन कोई भी व्यक्ति नहीं करेगा। लगभग सभी बुद्धिमान् व्यक्तियों तथा विचारकों ने इसको बुरा बताया है। प्राचीन समय में एक बार एक राजा ने कहा था कि "मेरे राज्य में न कोई चोर है, न वस्तुओं में मिलावट करने वाला और न शराब पीने वाला।" इस वाक्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन समय के राजा मदिरा पीने को कितना बुरा समझते थे और इसलिए यह तो भारत की सभ्यता का प्रमुख लक्षण है। अभाग्यवश प्राचीन परम्परा टूटते देर नहीं लगी और मुगल राजाओं के काल में आनन्दमय तथा भोग-विलासी जीवन व्यतीत करने की लालसा से तथा अंग्रेजी शासन काल में विदेशी सभ्यता की छाप लगने से हमारे देश में मदिरापान करने का शौक बढ़ता गया और आज बढ़ते-बढ़ते उसने अधिकांश व्यक्तियों के लिए, एक आदत का-सा रूप धारण कर लिया। विदेशों की तो बात ही दूसरी है। वहां की जलवायु अपेक्षाकृत ठण्डी है और वहाँ पर मदिरापान करना कुछ अंश तक आवश्यक भी है। परन्तु हमारे देश में

तो यह केवल पाश्चात्य सभ्यता की नकल करने का ही परिणाम है और विदेशियों की ही देन है । भारत जैसे देश के लिए विलासयुक्त वस्तुओं का उपभोग कदापि भी लाभप्रद नहीं हो सकता ।

मदिरा निषेध का अर्थ—मदिरा निषेध का शब्दार्थ कानून द्वारा मादक पेयों के उत्पादन एवं विक्रय को रोकना है । परन्तु व्यावहारिक जीवन में सभी प्रकार की नशीली वस्तुओं के विक्रय एवं उत्पादन को रोकने की बात मदिरा निषेध के क्षेत्र में सम्मिलित कर ली जाती है । मदिरा निषेध की नीति पाश्चात्य देशों में भी अपनाई गई है और अब हमारे देश के लिए तो एक स्थायी नीति बन गई है । परन्तु व्यक्तियों को इसकी सफलता, विशेषकर भारत में, के बारे में बहुत संदेह है । यहां तक की एक शिक्षित और सभ्य व्यक्ति जो मदिरा नहीं पीता है उसको भी मदिरा निषेध नीति की न्यायशीलता तथा इसकी योग्यता के बारे में सन्देह है । वह इसको एक प्रकार का दबाव समझता है । उसके अनुसार यह कार्य निन्दनीय और असभ्य है, क्योंकि उसके विचार में प्रत्येक व्यक्ति को अपने सम्बन्ध में सोचने तथा कार्य करने की पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए । यह तो उसका जन्माधिकार है । एक क्षण के लिए हम इस विचार से सहमत हो सकते हैं, परन्तु जरा गम्भीरता से सोचने के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य-सम्बन्धी कार्य केवल आदर्शवादी तथा अव्यावहारिक अधिकारों के आधार पर ही नहीं चलते । स्वतन्त्रता को केवल एक अधिकार ही नहीं समझना चाहिए । इसके साथ कुछ कर्त्तव्यों का भी पालन करना पड़ता है । हम में से हर एक को अपने सम्बन्ध में सोचने और कार्य करने का अधिकार तो अवश्य प्राप्त है परन्तु कुछ सीमाओं के अन्दर । हमारे लिए स्वतन्त्रता का अधिकार उसी समय तक सुरक्षित है जब तक हम उसका उपयोग ठीक प्रकार से करते हैं । अर्थात् हम अपनी स्वतन्त्रता को बनाए रखने के लिए समाज या किसी अन्य व्यक्ति का अहित नहीं कर सकते । शराब पीना एक सामाजिक बुराई है और इससे अनेकों प्रकार के शारीरिक, नैतिक और मानसिक दुष्परिणाम उत्पन्न होते हैं । इसलिए मदिरा-निषेध को यह समझना कि यह व्यक्तियों की स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप है ठीक नहीं है वरन् इसके द्वारा व्यक्ति और उसके परिवार को नष्ट होने से बचाया जाता है । गांधी जी ने एक बार कहा था कि 'हम चोरों को चोरी करने के लिए सुविधाएँ नहीं प्रदान करते । मैं शराब पीने को, चोरी और कदाचित् वेश्याकर्म (Prostitution) से भी अधिक निन्दनीय समझता हूँ ।"

भारत में मद्य-निषेध नीति प्राथमिक रूप से निर्धनों के हित में निर्मित की गई है । हम में से कोई भी यह प्रश्न पूछ सकता है कि निर्धनों के शराब पीने में क्या बुराई है । आखिरकार उनका जीवन भी मुसीबतों और कठिनाइयों से परिपूर्ण है । हमको उनके शराब पीने से द्वेष नहीं करना चाहिए, क्योंकि उनके पास अपने शुष्क और प्रसन्नतारहित जीवन से बचने के लिए यही तो एक मात्र साधन है । शराबी के दृष्टिकोण से तो यह विचार पूर्णतया सत्य है । परन्तु उसकी पत्नी, बच्चे तथा अन्य निर्भरकर्त्ताओं का क्या होगा ? क्या हमारा यह कार्य उचित है कि हम उसको

एक ऐसी आदत डालने में प्रोत्साहन दें जिसके प्रभाव में वह उसके इतना आधीन हो जावे कि वह अपने बच्चों तथा पत्नी को भूल जाए और उनको वीरान कर दे। यदि मद्य-निषेध उन हजारों दुःखी औरतों तथा निस्सहाय बच्चों को प्रसन्नता प्रदान कर सकता है और निर्धनों को जीवन की अच्छी दशाएँ दे सकता है तो इसके विरुद्ध कुछ भी कहना एक मूर्खता होगी। इसके द्वारा न केवल शराबी को ही शराब का त्याग करना पड़ता है बल्कि उसके परिवार के भरण-पोषण का अधिकार भी सुरक्षित रहता है। अतः राज्य उस स्वतन्त्रता को रोकने में पूर्णरूप से ठीक है जिसके उपयोग से समाज का अहित हो।

कभी-कभी मद्य-निषेध के विरुद्ध यह तर्क दिया जाता है कि क्या हम कानून के बल पर व्यक्तियों का नैतिक स्तर ऊँचा करने में सफल हो सकते हैं ? हम पूछते हैं कि इस सम्बन्ध में अर्थात् अफीम जैसी नशीली वस्तुओं के सम्बन्ध में अमेरिका तथा यूरोप के अन्य देशों की क्या नीति है ? क्या वहाँ पर इन वस्तुओं की बिक्री पर नियन्त्रण नहीं है ? सभी देशों में ऐसी वस्तुओं का विक्रय एवं उत्पादन कानून द्वारा नियमित किया जाता है, परन्तु कहीं भी यह बात सुनने में नहीं आती कि व्यक्ति कानून द्वारा नैतिक नहीं बन सकते। मदिरा भी अब, सभी डाक्टरों और वैज्ञानिकों द्वारा अफीम की भाँति एक निद्राकारक (Narcotic) वस्तु स्वीकार कर ली गई है। इतना सब होते हुए भी पाश्चात्य देशों में शराब पीने को रोकना सम्भव नहीं हो सका है, क्योंकि उन देशों में शराब सामाजिक जीवन का एक मुख्य अंग बन गई है। हमारे देश में जहाँ बहुत थोड़े से व्यक्ति शराब पीते हैं और जहाँ अधिकांश जनमत शराब पीने के विरुद्ध है मदिरा निषेध करना अधिक सरल है।

इसके अतिरिक्त शराब या नशीली वस्तुओं के उत्पादन, वितरण तथा उपभोग के विरुद्ध कानून बनाने का अभिप्राय यह नहीं है कि व्यक्तियों का नैतिक स्तर ऊँचा किया जा रहा है। उसका केवल एक ही उद्देश्य होता है, कि जिन लोगों में शराब पीने की आदत उत्पन्न नहीं हो पाई है उनमें शराब पीने की आदत न पड़े। हम लोग अपने वातावरण से ही बनते और बिगड़ते हैं। खुले हुए शराब घर एवं दुकानें उन व्यक्तियों को खुला निमन्त्रण देती हैं जो शराब के स्वाद तक को नहीं जानते और उनमें धीरे-धीरे शराब पीने की आदत उत्पन्न कर देती है। यदि उन दुकानों को कानून की सहायता से बन्द कर दिया जाय तो अनेकों व्यक्तियों को शराब पीने की बुराइयों से बचाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त राज्य पर भी यह दायित्व है कि वह ऐसा वातावरण उत्पन्न करे जिससे उसके नागरिकों का हित अग्रसर हो। अतः राज्य को वातावरण सुधारने में उन हानिकारक बातों का अन्त करना होगा जो व्यक्तियों में ऐसी आदत उत्पन्न करती हैं जिनके प्रभाव में वह अपने को भूल जाता है। यही मद्य-निषेध का उद्देश्य है। मदिरा निषेध शराब की खुली बिक्री को रोक कर शराब पीने की बीमारी को रोकता है। क्योंकि शराब की खुली बिक्री की अवस्था में शराब विक्रेता विज्ञापनों द्वारा अधिकाधिक व्यक्तियों को फाँसने का प्रयत्न करते हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका में सन् १९४४ में ४,५५,६१,७८८ डालर शराब

पीने से सम्बन्धित विज्ञापनों तथा प्रचार पर खर्च हुए थे। इस व्यय में केवल वही विज्ञापन सम्मिलित हैं जो विभिन्न पत्र एवं पत्रिकाओं में दिये गये थे। इसके अतिरिक्त सड़कों तथा बाजारों में जो प्रचार की विभिन्न रीतियाँ अपनाई गई थीं तथा रेडियो द्वारा प्रचार करने में जो व्यय हुआ था वह इससे अलग था। डा० मारटिन (Dr. R. H. Martin) जिन्होंने कुछ वर्षों पहले अमेरिका में शराब बनाने तथा बेचने वाली फर्मों के विज्ञापन सम्बन्धी खर्चों का विस्तृत अध्ययन किया था, उसका अनुमान है कि शराब-सम्बन्धी विज्ञापनों पर लगभग १० करोड़ डालर प्रतिवर्ष खर्च होते हैं। व्यापारी वर्ग बड़ा ही चालाक होता है और वह एक भी डालर उस समय तक खर्च नहीं करता जब तक कि उसको उस डालर के बदले में और बहुत से डालर प्राप्त नहीं हो जाते और यही कारण था कि गांधीजी ने सन् १९३१ में यंग इण्डिया में लिखा था कि "यदि मैं सम्पूर्ण भारत के लिए केवल एक घन्टे को एकक शासक (Dictator) नियुक्त कर दिया जाऊँ तो पहला काम जो मैं करूँगा वह यह होगा कि सब शराब की दुकानों को बिना किसी मुआवज़े के बन्द कर दूँ।"

कुछ लोगों का विचार है कि हम व्यक्तियों के निजी जीवन के संबन्ध में कानून कैसे बना सकते हैं? हमको उनके व्यक्तिगत जीवन में हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नहीं है। वास्तव में किसी भी मनुष्य के जीवन का कोई भी भाग ऐसा नहीं है जो घरेलू या निजी कहा जाय। वह अन्य व्यक्तियों से ऐसा बंधा हुआ है कि वह जो कुछ भी करता है उसका प्रभाव दूसरों पर अवश्य पड़ता है। मदिरा निषेध व्यक्तियों की निजी स्वतन्त्रता को समाप्त नहीं करता, बल्कि यह उनको उस शराब से बचाता है जो उनको अपना गुलाम बना लेती है, जिसके नशे में वह अन्धे हो जाते हैं और उस स्वतन्त्रता को खो बैठते हैं जिसके लिए हम अपना ऊँचा मूल्य भी देने को तैयार रहते हैं। शराब के नशे में कोई भी मनुष्य अपने असली रूप में नहीं रहता है। वह जुर्म करता है और अनैतिक बातों में अधिक सरलता से फंस जाता है। शराब के प्रभाव में उसके निर्णय करने की नैतिक शक्ति तथा बुरे-भले की पहचान करने की शक्ति का अन्त हो जाता है। वैज्ञानिकों का मत है कि यदि शराब को नशा उत्पन्न करने वाली मात्रा में पिया जाए तो इसके प्रभाव से व्यक्तियों की स्फूर्ति समाप्त होती जाती है और मनुष्य का व्यवहार ऐसा हो जाता है कि किसी भी शिष्ट जाति के व्यक्तियों से उस प्रकार के व्यवहार की आशा नहीं की जा सकती। सड़कों पर दुर्घटनाएँ, लिंग सम्बन्धी अनैतिकता, निर्लज्जता, शान्ति भंग करना, सम्पत्ति को नष्ट करना, परिवार तथा पेशे-सम्बन्धी जिम्मेदारी की ओर ध्यान न देना, धन तथा साख का दुरुपयोग और इसी प्रकार के अन्य जुर्म शराब के नशे में मनुष्य करने को तैयार हो जाता है।

परन्तु कुछ लोगों का कहना है कि प्रचार द्वारा मनुष्य को शराब की बुराइयों से परिचित क्यों न कराया जाय? क्यों न मनुष्य में हम शिक्षा द्वारा इतना ज्ञान उत्पन्न कर दें कि वह स्वयं शराब पीने की बुराइयों को समझने लगे? जब हमें

ऐसी अहिंसात्मक विधियाँ उपलब्ध हैं तो मद्य-निषेध जैसी हिंसात्मक नीति का समस्या के सुलझाने में क्यों उपयोग किया जाय ? क्योंकि यह नीति जितनी समस्याओं का समाधान नहीं करती उससे अधिक समस्याओं को उत्पन्न करती है । ऐसा इसलिए होगा कि जब कानूनन व्यक्तियों को शराब पीने को नहीं मिलेगी तो वे अपनी इच्छा को चोरी से पूरा करेंगे । अपने-अपने घरों पर ग़ैर-कानूनी शराब बनायेंगे और चोरी से शराब का व्यापार चलायेंगे । यह स्थिति तो और भी खराब है, क्योंकि जब मद्य-निषेध में भी व्यक्तियों को शराब पीने को मिल रही है तो इस नीति को कार्यान्वित करने से हम शराब पीने को तो बन्द कर नहीं पाये उसके अतिरिक्त हमने अनेकों बुराइयाँ और उत्पन्न कर दीं, जैसे ग़ैर-कानूनी शराब बनाने का जुर्म, कानून की निन्दा और शराब से जो आय प्राप्त होती थी उसके स्थान पर इन जुर्मों को रोकने पर व्यय और अधिक करना पड़ेगा । यह तर्क तो वास्तव में बहुत बलपूर्ण हैं और हमको यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि शराब पीने के विरुद्ध शिक्षात्मक प्रचार निःसंदेह ही आवश्यक है । परन्तु केवल प्रचार से ही काम नहीं चलेगा जैसा कि अमेरिका के अनुभव से सिद्ध होता है । शराब पीना भी एक प्रकार का नशा है और लत है । अन्य नशों या लतों की भाँति शराबी भी तर्क की ओर ध्यान नहीं देता । एक युवक के लिए तो इसका प्रभाव और भी उल्टा हो सकता है और वह शराब केवल इसीलिए पीने लग जाये क्योंकि उसको रोका जा रहा है । कुछ लोग तो शराब केवल इसीलिए पीते हैं कि लोग उन्हें हिम्मत वाला कहें और योद्धा कहें और उनको पुराने विचारों का न समझें । इसलिए अकेला प्रचार ही क्रियात्मक सिद्ध नहीं होगा । इसका क्षेत्र अति सीमित है और फिर यह तो केवल शराब पीने के विरुद्ध जनमत उत्पन्न करने में सहायक होता है । परन्तु हमारे देश में तो जनमत पहले से ही शराब पीने के विरुद्ध है और जो कुछ लोग शराब पीते भी हैं तो यह प्रचार की कमी नहीं है, बल्कि उन अवसरों एवं सुविधाओं का कसूर है जो शराब की खुली बिक्री द्वारा उपलब्ध होती हैं । इस प्रकार की बिक्री से प्रचार के सारे लाभ समाप्त हो जाते हैं क्योंकि दोनों एक दूसरे के विरुद्ध हैं । इस प्रकार अनुभव यह बताता है, कि शराब की दुकानों को बन्द कर देना चाहिए । जो लोग इस बात का ताना देते हैं कि मद्य-निषेध नीति में भी ग़ैर-कानूनी शराब बनती रहती है उन लोगों के लिए केवल इतना ही बताना काफी होगा कि ऐसी नीति तथा ऐसे सुधारों को कार्यान्वित करने में कुछ समय लगता है और उनमें सफलता शीघ्र ही प्राप्त नहीं होती । हो सकता है कि चोरी, कत्ल आदि बुराइयों की भाँति यह भी अनन्त समय तक चलता रहे । हाँ, इतना अवश्य है, कि मदिरा निषेध नीति से यह बुराई केवल थोड़े से ही व्यक्तियों तक सीमित रहेगी और उसका क्षेत्र सीमित होने के साथ-साथ उसका प्रसार भी नहीं होगा ।

कुछ लोगों के अनुसार मदिरापान करने के विरुद्ध प्रत्यक्ष प्रयत्न करने के स्थान पर यदि हम आर्थिक तथा सामाजिक परिस्थितियों को सुधार दें, जिनसे व्यक्तियों में शराब पीने की आदत पड़ती है, तो हमारी समस्या बहुत अंश तक कम हो जावेगी ।

निर्धन व्यक्ति शराब इसलिये पीते हैं कि उनका जीवन बड़ा नीरस, परेशानियों और कठिनाइयों से भरा हुआ होता है और वे अपने जीवन को एक भार-सा समझते हैं और उनसे बचना चाहते हैं। यदि उन्हें अच्छा जीवन-स्तर बनाए रखने का आश्वासन दे दिया जाए, यदि उन्हें आर्थिक असुरक्षा से मुक्त करा दिया जाए, उनकी नीरसता को दूर करने के लिए तथा काम की थकावट को दूर करने के लिए मनोरंजन के उचित साधनों की व्यवस्था कर दी जावे, उनकी पत्नी और बच्चों के लिए उचित प्रबन्ध कर दिए जाएँ तो उनका ध्यान शराब की ओर कभी भी न जायेगा। इसी प्रकार एक बेकार मनुष्य भी बेकारी की नीरसता से बचने के लिए शराब पीता है। यदि उसे काम दे दिया जाए तो वह कभी भी शराब पीने की न सोचेगा। निर्धन श्रमिक अपने घरों को छोड़कर ग्रामों से शहरों को आते हैं, बिना पत्नी व बच्चों के और तथा नए नए लोगों के साथ छोटे-छोटे तथा गन्दे स्थानों पर रहते हैं। यदि उन को सामाजिक सुविधाएँ थियेटर, पुस्तकालय, खेल-कूद आदि की सुविधाएँ प्रदान की जायें तो हमारी समस्या काफी दूर हो जाएगी। इसमें कोई सन्देह नहीं कि केवल आर्थिक व सामाजिक परिस्थितियों को सुधारने से ही काम नहीं चलेगा। परन्तु यह भी तो सम्भव नहीं है कि केवल मदिरा निषेध नीति ही शराब पीने की आदत को समाप्त कर दे। हमारे देश में जो कुछ असफलता प्राप्त हुई है वह इसी कारण है। जैसे-जैसे आर्थिक, सामाजिक परिस्थितियों में सुधार होते जायेंगे व्यक्तियों में शराब पीने की आदत कम होती जाएगी।

पाश्चात्य देशों में अधिकतर जनमत मद्य-निषेध के पक्ष में नहीं है वरन् मामूली शराब पीने के पक्ष में है। उन देशों में शराब सामाजिक जीवन का एक अंग बन चुकी है। शाम की पार्टी, रात का खाना, नाच, शादी, खेल-कूद, सभी बिना शराब के नीरस से लगेंगे। इसलिए वे यह नहीं चाहते कि शराब बिलकुल बन्द कर दी जाए। वे यह चाहते हैं कि शराब पीने की लत को कम कर दिया जाए। वे नशे को नहीं वरन् नशेबाजी को बुरा मानते हैं। वे मामूली शराब पीने को नहीं बल्कि अत्यधिक शराब पीने को बुरा मानते हैं। भाग्यवश हमारे देश के सामाजिक जीवन में शराब का इतना महत्व नहीं है। हमारे देश में क्या मामूली शराब पीना भी बन्द हो जाना चाहिये ? इस प्रश्न के उत्तर में हम निम्न बातें कह सकते हैं—प्रथम, मामूली शराब पीने वाला किसी भी प्रकार से शराब के बुरे प्रभाव से मुक्त नहीं होता। यह दूसरी बात है कि उसके सम्बन्ध में शराब के दुष्परिणाम एक शराबी की भाँति दृष्टिगोचर भले ही न हों। डा० नार्मनकर (Normonkarr) जो अमेरिका में शराब पीने वालों के अध्ययन की समिति के प्रधानाचार्य थे, उनका कहना है कि "मुझे इस बात को कहने में कोई भी संकोच नहीं है कि मैंने अपने व्यवसाय सम्बन्धी अनुभव से पता लगाया है कि बहुत अधिक व्यक्ति मामूली शराब पीने के नाम में निरन्तर शराब पीते रहने पर शराब के जहर के कारण अपने जीवन को समय से पहले ही समाप्त कर लेते हैं, उन लोगों की अपेक्षा जो एक बार में बहुत ज्यादा शराब पीते हैं।" अत: मामूली शराब पीने की अपेक्षा एक बार बहुत अधिक शराब

पीना बुरा नहीं है। दूसरे यह मामूली शराब पीने वाला ही होता है, जो समय बीतने से साथ-साथ शराब पीने का आदी होता जाता है। यदि शराब पीने की आदत को समाप्त करना है तो मामूली शराब पीने का भी अन्त करना होगा।

कुछ लोग मदिरा-निषेध नीति का विरोध इसलिये भी करते हैं, कि जब आजकल सरकार को विकास-सम्बन्धी कार्यों के लिए तथा अन्य राष्ट्रीय विकास सेवाओं के लिए इतने धन की आवश्यकता है तो मदिरा-निषेध नीति समयानुकूल नहीं है। इससे सरकारों को बहुत से धन की हानि होगी। परन्तु प्रश्न यह है कि, क्या मदिरा निषेध से हमारी आय इतनी कम हो गई है कि उसकी पूर्ति किसी अन्य स्रोत से नहीं हो सकती और लाखों व्यक्तियों तथा उनके परिवारों का जीवन नष्ट करके इस आय को प्राप्त करना आवश्यक है? इसमें कोई सन्देह नहीं कि हमको पंचवर्षीय योजनाओं को सफल बनाने के लिए एक-एक पाई को सुरक्षित रखना पड़ेगा। परन्तु क्या मदिरा निषेध से जो आय की हानि होगी उसको हम अन्य स्रोतों से पूरा नहीं कर सकते? वास्तव में ऐसा नहीं है। हम आर्थिक उन्नति के नाम से हजारों-लाखों व्यक्तियों के नैतिक जीवन की बलि नहीं चढ़ा सकते। हजारों औरतों के सतीत्व को लुटते नहीं देख सकते और हजारों बच्चों को चिथड़ों से लिपटा हुआ एवं भूखे मरते नहीं देख सकते। यदि ऐसी परिस्थितियों को बनाये रख कर अपने देश का आर्थिक उत्थान करना चाहते हैं तो हमारे ऐसे आर्थिक विकास को धिक्कार है। इसके अतिरिक्त राज कदापि सामाजिक कुरीतियों के व्यापार में साझेदार नहीं बन सकता। यह हमारे देश की सभ्यता और परम्परा के विरुद्ध है। जैसा कि गांधी जी ने कहा था "यह हमारे लिए गर्व की बात नहीं है कि हमारे बच्चों को उस धन में से शिक्षा दी जाती है जो इस साधन (शराब) से प्राप्त होता है।" गोखले तो और भी दृढ़ थे। उनका कहना था कि "नमक कर, जिसका कि मैं इतना विरोध करता हूँ, तब भी उसका आबकारी-कर की आय की अपेक्षा अधिक पक्ष लिया जा सकता है, क्योंकि आबकारी-कर में निर्धनों की जेबों से इतना अधिक धन निकाल लिया जाता है और इस सौदे से इतनी अधिक मुसीबतें बढ़ जाती हैं।"

मदिरा-निषेध के आर्थिक पहलू का अध्ययन हम एक और दृष्टि से भी कर सकते हैं। यह ध्यान रहे कि शराब का भुगतान करने के लिए प्रत्येक शराब पीने वाले को सरकारी खजाने में एक रुपया देने पर लगभग तीन रुपये की शराब खरीदनी पड़ती है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि शराबी जितना धन राजकीय खजाने में देता है उससे तिगुना खर्च करता है। दूसरे शब्दों में जब करदाता तीन रुपये खर्च करता है सरकार को केवल एक ही रुपया प्राप्त होता है और इस प्रकार जितना सरकार को लाभ प्राप्त होता है उससे तिगुनी हानि निर्धन व्यक्तियों को उठानी पड़ती है। अतः यह कर न्यायसंगत नहीं है और कर-भार का वितरण भी न्यायपूर्ण नहीं है। श्री पी० के० राव जो मध्य प्रदेश मदिरा निषेध समिति के अध्यक्ष थे उनका कहना है, "आबकारी-कर का भार कदाचित् सबसे अधिक है, उदाहरणार्थ मध्य प्रदेश में जहाँ लगभग आधी जनसंख्या आबकारी-कर का भुगतान करती है सन्

१९५० में एक गैलन शराब का लागत मूल्य २ रुपया था, परन्तु उसका विक्री मूल्य १३ रुपये २ आने से ५२ रुपये ३ आने तक था।" इस प्रकार आबकारी-कर आय अन्यायपूर्ण होती है और ठेकेदारों द्वारा इस आय को एकत्रित करने की विधि तो और भी अधिक खराब है। अतः मदिरा-निषेध से सरकार को आय की जितनी हानि होगी उससे अधिक लाभ जनता को प्राप्त होगा। निःसन्देह ही जब कि राज पहले की अपेक्षा एक रुपया कम खर्च पायेगा व्यक्ति के पास खर्च करने के लिए ३ रुपये होंगे, और यह सौदा बुरा नहीं है। क्योंकि व्यक्ति इस अधिक क्रय-शक्ति को अन्य वस्तुओं पर खर्च करेंगे और अन्त में राज की हानि पूरी हो जायगी। इसके अतिरिक्त मदिरा निषेध से बचतों में तथा पूंजी-निर्माण में भी सहायता मिलेगी। जो अधिकतर व्यक्ति शराब पर खर्च करते थे उसमें से वह कुछ पैसा अपने भविष्य के लिए बचा कर रखेंगे; इस प्रकार आर्थिक दृष्टिकोण से भी मदिरा-निषेध अनुचित नहीं है। जिस प्रकार मदिरा-निषेध के तुरन्त बाद ही राज्य सरकारों ने विक्री-कर लागू कर के अपनी आय को बहुत कुछ बढ़ा लिया है, और मदिरा निषेध से उत्पन्न होने वाली हानि को बहुत कुछ पूरा कर लिया है उसी प्रकार राज्य सरकारें और भी ऐसे करों को लागू कर सकती हैं जिनका भार सभी व्यक्तियों पर समान हो। यह ध्यान रहे कि, बहुत से राज्यों में जहाँ मदिरा-निषेध की नीति अपनाई गई है आबकारी-कर की आय की हानि को अन्य करों से पूरा करने का प्रयत्न किया है। बम्बई राज्य में जबकि सन् १९४६-४७ से सन् १९५१-५२ तक आबकारी कर की आय ९.७४ करोड़ रुपये से गिरकर ०.९६ करोड़ रुपये रह गई उसी काल में विक्री-कर की आय १.१७ करोड़ रुपये से बढ़ कर १३.१ करोड़ रुपये हो गई। इसी काल में जब कि मद्रास में आबकारी कर की आय १६.८ करोड़ रुपयों से घट कर ०.४१ करोड़ रुपये रह गई तब सामान्य विक्री-कर की आय ५.८३ करोड़ रुपयों से बढ़कर १५.५९ करोड़ रुपये हो गई।

मदिरा निषेध के विरुद्ध कभी-कभी यह आरोप भी लगाया जाता है कि यह एक अनार्थिक कार्य है, क्योंकि इसमें धन की बर्बादी की अपेक्षा और कुछ भी हाथ नहीं लगता और सरकार को अपनी नीति को कार्य साधक बनाने के लिए बहुत अधिक कर्मचारियों को नियुक्त करना पड़ता है। इस प्रकार एक ओर तो आबकारी कर की आय कम होती चली जाती है और दूसरी ओर मदिरा निषेध पर खर्च बढ़ता चला जाता है और फिर भी जिन लोगों को शराब पीनी होती है उन लोगों को तो मिल ही जाती है। इन सब तर्कों के विरुद्ध यह कहा जा सकता है कि मदिरा-निषेध का उद्देश्य इन लोगों को शराब पीने से रोकना नहीं है जो शराब के आदी हो गये हैं; वरन् उन व्यक्तियों को रोकना है जिनमें खुली हुई दुकानें देखकर शराब पीने का लालच उत्पन्न होता है। इस प्रकार जो कुछ भी व्यय होता है वह बेकार नहीं जाता है। जब हम शत्रु के आक्रमण से बचने के मूल्य की ओर कोई भी ध्यान नहीं देते तो क्या यह आवश्यक नहीं है कि हम हर सम्भव रीति से उस शत्रु से लड़ने के लिए तैयार रहें जो अन्दर ही अन्दर धीरे-धीरे राष्ट्र को खोखला कर रहा है।

क्या यह उचित होगा कि हम इस कार्य के मूल्य की ओर ध्यान दें ? हमको तो इस बुराई से लड़ने के लिए हर त्याग के लिए तैयार रहना चाहिए। गांधीजी ने लिखा था कि "मैं आय की इस हानि को कोई भी महत्व नहीं देता।" जितनी सरकार को हानि नहीं होगी उतना देश को लाभ प्राप्त होगा। हजारों व्यक्तियों को खाने के लिए अच्छा भोजन मिलेगा, रहने के लिए अच्छे मकान होंगे, अच्छे कपड़े पहनने को मिलेंगे, शिक्षा प्राप्त हो सकेगी और कार्यक्षमता में वृद्धि होने से राष्ट्रीय आय में वृद्धि हो सकेगी। इसके अतिरिक्त जबकि हमारे देश में लोग भूखे मर रहे हैं तो क्या हमारे लिए यह उचित होगा कि हम ताड़ के वृक्षों के उस रस को जिससे गुड़ बनाया जा सकता है नशीली शराब बनाने में नष्ट कर दें। अतः मदिरा निषेध से हम केवल उस धन की रक्षा ही नहीं करेंगे जो शराब पर खर्च किया जाता है बल्कि उन हजारों व्यक्तियों को भोजन भी प्रदान करेंगे जिनके मुँह में से केवल शराब बनाने के लिए भोजन निकाल लिया जाता है और फिर हम जुर्मों को भी रोकेंगे, टूटे मकान, भूखे बच्चे और बेकार व्यक्तियों की संख्या में भी वृद्धि नहीं होने देंगे और संक्षेप में हम व्यक्तियों की बुद्धि तथा निर्णय लेने की शक्ति को बचायेंगे। कितनी सही बात कही गई है कि मदिरा निषेध को एक महँगा सौदा कहने का अभिप्राय यह है कि हमें घी से भरे हुए ड्राम में एक छेद को बन्द करने के लिए १ रुपया खर्च नहीं करना चाहिये बल्कि घी को गिरते ही रहने देना चाहिये, क्योंकि इतने छोटे छेद को बन्द करने पर एक रुपया खर्च करना बहुत अधिक होगा।

बहुधा मदिरा निषेध की सफलता में जिन व्यक्तियों को संदेह है वह इसकी आलोचना करते हुए कहते हैं कि जब अन्य देशों में मदिरा-निषेध नीति सफल नहीं हो पाई तो भारत में क्या सफल होगी ? और वह संयुक्त राज्य अमेरिका का उदाहरण देते हैं। आश्चर्य की बात है कि संयुक्त राज्य में कोई भी यह विश्वास नहीं करता कि मदिरा-निषेध नीति वहाँ असफल रही है। अपनी पुस्तक 'Should Prohibition Return' में George B. Cutten ने निम्न तथ्य मदिरा निषेध नीति को पुनः लागू करने के सम्बन्ध में दिये हैं :—

"सन् १९२५ में वाणिज्य विभाग के सेक्रेटरी Herbert Hoover ने घोषित किया था कि मदिरा-निषेध द्वारा निस्संदेह ही उत्पादन शक्ति में १० प्रतिशत की वृद्धि हो गई थी।

"घर बनाने की संस्थाओं में सदस्यों की संख्या पहले की अपेक्षा दुगुनी से अधिक हो गई थी। यह सन् १९२० में ४९ लाख से बढ़कर १९३० में १२३ लाख हो गई।

"बचतों की जमा सन् १९२० में प्रति व्यक्ति १४४ डालर से बढ़कर सन् १९२६ में २११ डालर हो गई।

"जीवन बीमा में विनियोगों की प्रति व्यक्ति राशि ३४२ डालर से बढ़कर ६८० डालर हो गई थी।

"राष्ट्रीय मदिरा निषेध काल में प्रति व्यक्ति दूध का उपभोग २१२ पौंड प्रति व्यक्ति की दर से बढ़ गया।

"शराब के कारण मृत्यु की दर में १६ प्रतिशत की कमी हो गई।

"शराब के प्रभाव में होने वाले जुर्मों की संख्या कम हो गई। स्त्रियों की पवित्रता को भंग करने की वारदातों की संख्या भी पहले से घट गई।

"अतः राष्ट्रीय मदिरा-निषेध ने गैलनों की संख्या में शराब पीने में ७६ प्रतिशत की कमी कर दी थी और इस नीति का अन्त हो जाने से शराब पीने में ३०० प्रतिशत की वृद्धि हो गई है।"

इस प्रकार यह नहीं कहा जा सकता कि संयुक्त राज्य में मदिरा-निषेध नीति असफल हुई थी। भारत में बहुत से व्यक्तियों को यह भी ज्ञान नहीं है कि यद्यपि राष्ट्रीय मदिरा-निषेध नीति को समाप्त कर दिया गया है फिर भी व्यक्तिगत राज्यों को अब भी मदिरा निषेध करने का पूर्ण अधिकार है और कुछ राज्यों में तो आज भी मदिरा-निषेध नीति लागू है। अतः हम इस मत को स्वीकार नहीं कर सकते कि अमेरिका में मदिरा-निषेध असफल हुआ है। यदि मदिरा-निषेध असफल हो भी गया और यदि यह भविष्य में भी असफल रहे तो इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि यह नीति भारत में भी असफल रहेगी, क्योंकि हमारा शराब का व्यापार इतना धनी और सुसंगठित नहीं है जितना अमेरिका का, (२) हमारे यहाँ बहुत थोड़े से व्यक्ति ही शराब पीते हैं और यदि शराब पीने पर कड़े नियन्त्रण लगा दिये जायें तो यह बुराई बिल्कुल समाप्त हो सकती है और (३) हमारे देश में जनमत शराब पीने के विरुद्ध है। वास्तव में यदि कोई देश संसार में ऐसा है जहाँ मदिरा-निषेध नीति सफल हो सकती है तो वह भारत ही है, और यदि हमें सफलता प्राप्त हो जायेगी तो हम मानव जाति के सम्मुख उस पथ का प्रदर्शन कर सकेंगे जिसके लिए वह अनन्त समय से शराब के भूत से लड़ने का प्रयत्न कर रही है।

भारत और मदिरा निषेध नीति—हमने पिछले पृष्ठों में उन सारी आपत्तियों को दूर करने का प्रयत्न किया है जो मदिरा निषेध नीति के विरुद्ध लगायी जाती हैं और यह भी सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि मदिरा-निषेध मानव-जाति के लिए एक सर्वोत्तम नीति है। जब देश स्वतन्त्र भी नहीं हुआ था उसी समय से मद्य-निषेध नीति भारत की राष्ट्रीय कांग्रेस की दृढ़ सामान्य नीति का, एक मुख्य अंग बनी हुई है। सन् १९२१ में कांग्रेस ने एक प्रस्ताव में यह घोषित किया था कि उसकी ओर से जो भी संविधान बनाया जाये उसमें स्वदेशी सरकार को यह सामर्थ्य प्रदान की जानी चाहिए, कि मादक पेयों तथा अन्य वस्तुओं का दवाइयों के अतिरिक्त अन्य प्रकार का उपयोग पूर्णतया बन्द हो जाएगा। कांग्रेस ने अपने आन्दोलन में मदिरापान का भी विरोध निरन्तर जारी रखा। परिणामस्वरूप बहुत से व्यक्तियों ने शराब पीनी छोड़ दी और सरकार की आय बहुत कम हो गई। सन् १९३७ में बहुत से प्रान्तों में जब कांग्रेस ने प्रशासन की बागडोर संभाली तो मद्रास, बम्बई, यू० पी०, बिहार, मध्य प्रान्त और उत्तरी-पश्चिमी सीमा-प्रान्त में मदिरा-

निषेध की नीति लागू की। साथ ही मदिरापान के विरुद्ध प्रचार भी आरम्भ किया और गाने, ड्रामे इत्यादि के लिए मनोरंजन केन्द्र स्थापित किये। औद्योगिक क्षेत्रों में सोडे के पानी और दूध की दूकानें खोलीं और इन वस्तुओं को लागत मूल्य पर बिकवाया। द्वितीय महायुद्ध में कांग्रेस सरकारों ने स्तीफा दे दिया और मदिरा-निषेध कार्यक्रम का अन्त ही हो गया। स्वतन्त्रता प्राप्ति के साथ ही कांग्रेस ने फिर राज सँभाला और मदिरा-निषेध का कार्यक्रम पुनः आरम्भ किया। हमारे संविधान की धारा नं० ४७ के अनुसार सरकारी नीति के निर्देशक सिद्धान्तों में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि सरकार भारत में मदिरा-निषेध को सफल बनाने के लिए प्रयत्न करेगी।

कर-जांच आयोग के विचार :—कर-जाँच आयोग के सदस्यों में मद्य-निषेध के प्रश्न पर काफी मत-भेद रहा। आयोग के तीन सदस्य इस बात के पक्ष में थे कि मद्य-निषेध नीति को जल्दी से जल्दी लागू किया जाए। उनके अनुसार सामाजिक कल्याण की अपेक्षा वित्तीय उद्देश्यों को महत्ता प्रदान नहीं की जानी चाहिए। वे इससे भी सहमत न थे कि भारी उत्पादन-कर लगाकर मद्य के उपभोग को कम किया जाये या मद्य का राशन किया जाये। उनका तो यही सुझाव था कि एक तिथि निश्चित कर दी जाए और उस तिथि तक समस्त देश में मद्य-निषेध कार्यक्रम लागू कर दिया जायें। आयोग के शेष तीन सदस्य इस नीति के विरुद्ध थे। उनके अनुसार इस कार्यक्रम की गति को प्रशासनिक साधनों तथा उन साधनों को ध्यान में रखकर निर्धारित किया जाए जिनके आधार पर मद्य-निषेध को प्रभावपूर्ण ढंग से लागू किया जा सकता है। उन्होंने यह स्वीकार किया कि वित्तीय प्रश्न को प्राथमिकता न दी जाए, किन्तु वे इससे सहमत नहीं थे कि इस प्रश्न पर कोई विचार ही न किया जाए। चूँकि पक्ष तथा विपक्ष में सदस्यों की संख्या बराबर थी, इसलिए आयोग ने इस विषय पर कोई भी सुझाव नहीं दिए।

सन् १९५४ की मदिरा निषेध जाँच समिति के अनुसार कुल देश का २८ प्रतिशत भाग और ३६ प्रतिशत जनसंख्या सम्पूर्ण मदिरा-निषेध के अधीन थी। सन् १९५७ के आरम्भ में देश का ३२ प्रतिशत भाग और लगभग ४० प्रतिशत जन-संख्या पूर्ण मदिरा-निषेध से प्रभावित हो चुकी थी। परन्तु यह स्थिति प्रशंसनीय नहीं थी। भारत जैसे विशाल देश के लिए मदिरापान का निषेध करने के लिए बहुत ही प्रभावयुक्त प्रयत्नों की आवश्यकता है, यद्यपि कुछ लोग ऐसे हैं जो मादक वस्तुओं के उपभोग को कोई विशेष समस्या नहीं मानते।[1] किन्तु जैसा कि मदिरा निषेध जाँच समिति ने अपनी रिपोर्ट में लिखा है कि "एक स्वस्थ और चरित्रवान् जनता कल्याणकारी राज के लिए एक निश्चित आधार है," इसलिए समिति ने बड़े ही जोरदार शब्दों में इस बात के महत्व को स्पष्ट करने का प्रयास किया है।

मदिरा-निषेध जाँच समिति की नियुक्ति श्री श्रीमन्नारायण की अध्यक्षता में

1. Report of the *Prohibition Enquiry Committee, Minute of Dissent by Sri P. K. Roy.*

नियोजन आयोग ने दिसम्बर सन् १९५४ में की थी जिसके निम्नांकित कार्य थे :—

(१) राज्य सरकारों के उन प्रयत्नों के अनुभवों की जांच-पड़ताल करना जो उन्होंने मदिरा-निषेध नीति को सफल बनाने के लिए किए थे और उनकी सफलताओं और व्यावहारिक कठिनाइयों का ज्ञान प्राप्त करना।

(२) राष्ट्रीय स्तर पर मदिरा-निषेध के कार्यक्रम के हेतु सुझाव प्रस्तुत करना।

(३) उन विधियों तथा संगठन को बताना जिनके द्वारा इन कार्यक्रमों को पूरा किया जाये।

(४) अन्य विषयों पर सिफारिशें देना, जिन पर सुझाव देना समिति आवश्यक समझे।

समिति का सुझाव था कि देश भर में १ अप्रैल सन् १९५८ तक सम्पूर्ण मदिरा-निषेध हो जाना चाहिये और इस काल में सरकार को वह सब विधि तैयार कर लेनी चाहिये जिससे कि मदिरा-निषेध को कार्यशील बनाया जा सके। राज्य सरकारों को भी इस सम्बन्ध में पूरी तैयारी कर लेनी चाहिये और केन्द्रीय सरकार एक ऐसी समिति नियुक्त करे जो राज्यों द्वारा की गई तैयारियों की जांच-पड़ताल करे। समिति के अनुसार यह प्रयत्न निम्न प्रकार थे :—

प्रत्यक्ष मदिरापान का पूर्ण निषेध अर्थात् होटलों, चाय-घरों, क्लब-घरों, पार्टियों और उत्सव-समारोह पर मदिरापान पर नियन्त्रण लगा देना चाहिये। विदेशियों के लिए एक अलग कमरे में शराब पीने का प्रबन्ध कर दिया जाये। मदिरा-सम्बन्धी सारे विज्ञापन समाप्त कर दिये जायें। एक नियम बना दिया जाय कि सरकारी कर्मचारी शराब न पियें, शहरी तथा ग्रामीण क्षेत्रों में शराब की दुकानें, शराब बिकने के दिनों, दुकानों पर शराब की पूर्ति, शराब की तेजी आदि को कम कर दिया जाए और जो दुकानें औद्योगिक क्षेत्रों या रहने के मुख्य स्थानों के निकट हैं उनको वहाँ से हटा कर दूरी पर स्थापित कर दिया जाय। सैन्य सेवाओं (Defence Services) के लिए कोई विशेष रियायत की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि उन्होंने पहले ही मदिरा-निषेध नीति को स्वीकार कर लिया है। जहाँ तक पिछड़े हुए क्षेत्रों का सम्बन्ध है समिति का सुझाव था कि मनीपुर, त्रिपुरा और नेफा को छोड़कर शेष सभी स्थानों पर मदिरा-निषेध लागू कर दिया जाय। समिति का सुझाव था कि १ अप्रैल सन् १९५८ के बाद स्वास्थ्य रक्षा के बहाने भी शराब पीने के लिए परमिट न दिये जायें। समिति ने मदिरा-निषेध नीति को लागू करने की विधि पर बहुत जोर दिया है और उनका सुझाव है कि यह नीति दो ओर से चालू की जाए— प्रथम शिक्षात्मक और प्रतिबन्धक और दूसरे वैधानिक तथा प्रशासन सम्बन्धी। इन दोनों ही क्षेत्रों में उचित समन्वय स्थापित रहना चाहिये। प्रत्येक राज्य में मदिरा निषेध का एक प्रबन्धक नियुक्त किया जाए और मदिरा निषेध बोर्ड नियुक्त किया जाए। इस बोर्ड में मदिरा-निषेध संगठन तथा जनमत, दोनों ही के प्रतिनिधि होने चाहियें। ग्रामों और मुहल्लों में मदिरा-निषेध नीति समितियां भी स्थापित की जाएँ।

शिक्षात्मक कार्यक्रम के लिए समिति का सुझाव था कि नशीली चीजों के उपयोग के विरुद्ध एक सुसंगठित शिक्षात्मक आन्दोलन चालू किया जाए जिसके लिए स्कूलों, समाचार-पत्रों और अन्य सामाजिक संस्थाओं की सहायता प्राप्त की जाय। इस प्रकार के प्रयत्नों से नकली शराब बनाना काफी बन्द हो जाएगा। कड़े प्रबन्ध तथा व्यवस्था के लिए समिति का सुझाव था कि मदिरा-निषेध नीति को लागू करने वाले सम्पूर्ण संगठन को कड़ा किया जाए और शिक्षा प्राप्त व्यक्तियों द्वारा शक्तिशाली बनाया जाय। इसके अतिरिक्त मदिरा-निषेध सम्बन्धी सभी जुर्मों में जमानत स्वीकार न की जाय और कानून का कड़ा पालन किया जाय।

मदिरा निषेध नीति के आर्थिक पहलू पर अपना मत प्रकट करते हुए समिति ने कहा कि वर्तमान आबकारी-कर प्रतिगामी और गैर-सामाजिक है और इसलिए हमारी कर-प्रणाली के इस धब्बे को तुरन्त ही दूर होना चाहिये। समिति ने इस बात को स्वीकार किया कि कुछ राज्य विशेष रूप से आबकारी-कर की आय पर निर्भर थे और इसलिए वे तुरन्त ही मदिरा-निषेध न कर सके। समिति को आशा थी कि सरकार इन राज्यों की आर्थिक स्थिति की ओर पूरा ध्यान देगी।

विभिन्न राज्यों में मदिरा निषेध नीति में जो सफलताएँ तथा अनुभव प्राप्त हुए थे उनकी ओर भी समिति ने ध्यान दिया और गहन अध्ययन के पश्चात् समिति को पूर्ण विश्वास था कि भारत में मदिरा-निषेध कार्यक्रम को अन्य देशों की भाँति कठिनाइयाँ अनुभव नहीं होंगी, क्योंकि यहाँ पर मदिरापान की समस्या का रूप कोई भयंकर नहीं है। यहाँ के नागरिक नियमों का पालन करना जानते हैं। इस नीति के प्रति स्त्री-जाति की पूर्ण सहानुभूति है और मदिरा हमारे सामाजिक तथा धार्मिक जीवन में अभी तक कोई भी स्थान प्राप्त नहीं कर पाई है। इसलिये यह आवश्यक था कि द्वितीय पंचवर्षीय योजना में मदिरा-निषेध को एक मुख्य स्थान प्रदान किया जाय।

मदिरा-निषेध कार्यक्रम के सम्बन्ध में समिति की सिफारिशें निम्न प्रकार थीं :—

(१) विज्ञापनों आदि को बन्द कर दिया जाए (२) खुले हुए जन-स्थानों पर मदिरा-विक्रय एवं पीने पर नियन्त्रण लगा दिये जायें। (३) कुछ विशेष समितियाँ नियुक्त कर दी जायें जो ऐसा कार्यक्रम निश्चित करें जिनके द्वारा (अ) शहरी तथा ग्रामीण क्षेत्रों में शराब की दुकानों को तीव्र गति से कम किया जा सके। (ब) शराब की दुकानों को सप्ताह में अधिक दिन बन्द रखा जा सके। (स) दुकानों पर जो शराब बिके उसकी तेजी को कम किया जा सके। (द) दुकानों को होने वाली पूर्ति को कम किया जा सके। (य) औद्योगिक तथा विकास-क्षेत्रों के निकट जो दुकानें स्थापित हैं उनको बन्द किया जा सके। (र) शहरों तथा ग्रामों में मुख्य बाजारों तथा घने बसे हुए मुहल्लों तथा स्थानों पर से दुकानें हटाई जा सकें। (४) ऐसे प्रयत्न अपनाना जिससे सस्ते तथा स्वस्थ पेयों की उत्पत्ति को बढ़ावा मिल सके। (५) निजी संस्थाओं को मनोरंजन केन्द्रों की स्थापना में सहायता प्रदान करना और

(६) राष्ट्रीय विस्तार तथा सामुदायिक विकास कार्यक्रम वाले क्षेत्रों तथा सामाजिक कल्याण वाले क्षेत्रों में रचनात्मक (Constructive) कार्यक्रम में मदिरा-निषेध को शामिल करना।

इन सुझावों के अतिरिक्त समिति ने और भी सुझाव दिये थे, परन्तु नियोजन आयोग ने, राज्यों तथा केन्द्रीय मन्त्रालयों से विचार विमर्श करने के बाद राष्ट्रीय विकास परिषद् की अनुमति से राज्य सरकारों को एक प्रारम्भिक प्रयत्न के रूप में उपर्युक्त सुझावों को कार्यान्वित करने की ही सिफारिश की है। राज्य सरकारों से यह प्रार्थना की गई है कि वह इन सुझावों के आधार पर मदिरा-निषेध के लिए अपना कार्यक्रम बनायें ताकि मदिरा-निषेध कार्य को उचित अवधि के अन्दर पूरा किया जा सके। अधिकांश-राज्य सरकारों ने अपना मत प्रकट करते हुए कहा है कि उनके लिए यह सम्भव न हो सकेगा कि वह मदिरा निषेध जाँच समिति द्वारा निर्धारित तिथि तक मदिरा-निषेध के कार्य को पूरा कर सके। कुछ राज्य सरकारों जैसे मैसूर, राजस्थान इत्यादि ने केन्द्रीय सरकार से इस सम्बन्ध में वित्तीय सहायता के लिए भी प्रार्थना की है। बिहार, पश्चिमी बंगाल तथा जम्मू और काश्मीर के अतिरिक्त सभी राज्यों ने आंशिक मदिरा निषेध की ओर प्रयत्न करने आरम्भ कर दिए हैं। हाल ही में भारत सरकार ने अपना निर्णय घोषित किया है कि वह देश में मदिरा-निषेध की प्रगति की जाँच करने के लिए एक संसदीय समिति (Parliamentary Committee) नियुक्त करेगी।

नियोजन काल में मद्य-निषेध-नीतिः—मद्य-निषेध जांच-समिति द्वारा प्रस्तुत की गई सिफारिशों पर नियोजन-आयोग ने राज्य सरकारों तथा केन्द्रीय मन्त्रालयों से परामर्श किया और राष्ट्रीय विकास परिषद के सम्मुख कुछ सुझाव रखे जिन्हें परिषद ने स्वीकार कर लिया। जहाँ तक समिति के इस सुझाव का सम्बन्ध था कि १ अप्रैल, १९५८ तक सम्पूर्ण देश में मद्य-निषेध को लागू कर दिया जाए, नियोजन आयोग का विचार था कि यह आवश्यक नहीं कि सभी राज्यों के लिए एक ही लक्ष्य-तिथि निश्चित की जाए और यद्यपि यह आवश्यक है कि इस दिशा में सम्पूर्ण देश में सामूहिक प्रयत्न किए जाएं, किन्तु फिर भी विस्तृत कार्यक्रम राज्यों द्वारा ही तैयार किये जाने चाहियें ताकि वे उन्हें सफलतापूर्वक क्रियान्वित कर सकें। नियोजन-आयोग का सुझाव था कि इस दिशा में राज्य सरकारों को निम्न उपाय करने चाहियें :—

१. मद्य-पान से सम्बन्धित विज्ञापनों तथा सार्वजनिक प्रलोभनों पर रोक लगाई जाय।

२. यह ध्यान में रख कर कि विदेशी मिशनों तथा पर्यटकों और दर्शकों के अधिकार सुरक्षित रहें और उनको किसी भी प्रकार की असुविधा न हो, राज्य सरकारों को चाहिए कि सार्वजनिक स्थानों तथा स्वागत-समारोहों में मद्य-पान न हो।

३. तकनीकी समितियाँ नियुक्त की जायें जो निम्न उद्देश्यों की पूर्ति के

लिए कार्य करें:— (अ) ग्रामीण तथा शहरी क्षेत्रों में शराब की दुकानों की संख्या को कम करना, (ब) सप्ताह में शराब की दुकानों के बन्द होने वाले दिनों की संख्या में वृद्धि करना, (स) शराब की दुकानों द्वारा बेची जाने वाली शराब की मात्रा को कम करना, (द) देश में बनायी जाने वाली शराब की तेजी में कमी करना, (य) औद्योगिक तथा अन्य विकास परियोजनाओं के क्षेत्रों में तथा उनके आस-पास की शराब की दुकानों को बन्द करना और (र) ग्रामीण तथा शहरी क्षेत्रों में शराब की दुकानों को मुख्य सड़कों और मुहल्लों से दूर हटाना।

४. सस्ते तथा स्वास्थ्यवर्धक मादक पेयों के उत्पादन को प्रोत्साहित करना।

५. मनोरंजन केन्द्रों की स्थापना के लिए सक्रिय पग उठाना।

६. राष्ट्रीय विस्तार तथा सामुदायिक विकास-क्षेत्रों और सामाजिक कल्याण के विस्तार की अन्य योजनाओं में मद्य-निषेध सम्बन्धी कार्यक्रम को सम्मिलित करना।

उपर्युक्त उद्देश्यों की पूर्ति के लिए राज्य सरकारों से यह आग्रह किया गया कि वे मद्य-निषेध के कार्यक्रम को इस प्रकार निश्चित करें कि उनको सफलतापूर्वक सम्पन्न किया जा सके।

श्री टेकचन्द की अध्यक्षता में मद्य-निषेध सम्बन्धी प्रश्न पर विचार करने के लिये एक समिति नियुक्त की थी जिसने अपनी रिपोर्ट सन् १९६४ में दी थी। कमेटी का विचार था कि सम्पूर्ण देश में इस नीति को एकदम लागू करना कठिन है और इसलिये उसका प्रस्ताव था कि एक ऐसा कार्यक्रम निश्चित किया जाये जिससे पाँचवी पंचवर्षीय योजना के अन्त तक धीरे-धीरे सारे देश में मद्य-निषेध हो जाए। इसका अनुमान था कि राज्यों को १९७५ तक लगभग ८० करोड़ रुपयों की हानि होगी जिसको बिक्री-कर, केन्द्रीय उत्पादन-करों इत्यादि के द्वारा पूरा किया जा सकता है। ग़ैर-कानूनी शराब बनाने को रोकने के लिए उसका सुझाव था कि मद्य-निषेध वाले क्षेत्रों में नियमों को जरा ढीला रक्खा जाये और हल्के नशे वाली शराब नियंत्रित परिस्थितियों के अन्दर बेची जाए। इसके लिए परमिट प्रणाली का उपयोग किया जाये और विद्यार्थियों, औद्योगिक श्रमिकों और निम्न आय वाले व्यक्तियों को शराब पीने से रोका जाये। मद्रास तथा गुजरात में नियमों को ढीला करने की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि वहाँ पर मद्य-निषेध नीति काफी सफल रही है। जिन क्षेत्रों में शराब बेचने तथा पीने की आज्ञा है वहाँ पर शराब की कीमतों तथा कर की दरों में कमी कर दी जाये ताकि ग़ैर-कानूनी शराब बनाने के लिए प्रोत्साहन न मिले। यदि आवश्यकता हो तो शराब का उत्पादन राज द्वारा किया जाये। रिपोर्ट की काफी आलोचना हुई है और अधिकतर लोगों का यही विचार है कि कमेटी की सिफारिशें बहुत जटिल हैं और उनको लागू करने से शराब के ग़ैर-कानूनी उत्पादन को प्रोत्साहन ही मिलेगा। ज्यादातर राज्यों ने कमेटी के प्रस्तावों से सहमति प्रगट तो की है परन्तु उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया है कि जब तक केन्द्रीय सरकार सहायता नहीं देगी तब तक वे इन सिफारिशों को लागू नहीं कर सकतीं।

वर्तमान स्थिति:—मद्रास और गुजरान में मद्य-निषेध नीति पूर्णरूप से लागू की गई है, यद्यपि विदेशियों और फौजियों आदि के लिए कुछ सुविधायें अवश्य ही प्रदान की गई हैं। महाराष्ट्र में यह सोचकर कि ग़ैर-कानूनी उत्पादन और व्यापार रुक जायेगा, सरकार ने कुछ छूटें देने का निश्चय किया है। मध्य प्रदेश, मैसूर, उड़ीसा, केरल तथा दिल्ली राज्यों में यह नीति आंशिक रूप में लागू है। इन राज्यों को दो प्रकार के क्षेत्रों में विभाजित कर दिया गया है—'शुष्क क्षेत्र' (Dry Areas) तथा 'तर क्षेत्र' (Wet Areas)। प्रथम प्रकार के क्षेत्रों में मद्य-पान करना निषिद्ध घोषित कर दिया है और दूसरे क्षेत्रों में मद्य-पान की स्वतन्त्रता है, किन्तु इन क्षेत्रों में भी शराब की बिक्री के दिनों तथा घण्टों की संख्या पर प्रतिबन्ध लगाये गये हैं और सार्वजनिक स्थानों आदि पर मद्य-पान निषिद्ध है। उड़ीसा में मद्य-निषेध नीति को और अधिक जिलों में लागू कर दिया गया है तथा 'तर-क्षेत्रों' में 'शुष्क' दिनों की संख्या बढ़ा दी गई है। बंगाल तथा बिहार में शराब के प्रयोग को सीमित करने के लिए प्रयत्न किए गए हैं यद्यपि आरम्भ में उत्तर प्रदेश के ग्यारह जिले 'शुष्क' घोषित कर दिये गये थे किन्तु सन् १९६२ से इन जिलों में भी केवल सीमित प्रयोग की नीति ही अपनायी गई है। जम्मू और कश्मीर में इस दिशा में कोई प्रयत्न नहीं किया गया है। अन्य राज्यों में भी इस प्रश्न पर अभी विचार ही किया जा रहा है। सन् १९५७–५८ तक देश में कुल क्षेत्रफल के लगभग ३२% और कुल जनसंख्या के लगभग ४२% भाग मद्य-निषेध नीति के अन्तर्गत आ चुके थे।

अध्याय २४

राज्य सरकारों की आय के स्रोत (क्रमशः)

SOURCES OF STATE REVENUE (CONTD.)

(बिक्री-कर)

(Sales Tax)

प्राक्कथन—

विक्री-कर वस्तुओं की विक्री पर लगाया हुआ कर होता है। वस्तु करारोपण[1] का यह एक मुख्य अंग है। यह कर व्यक्तिगत सम्पत्ति या वस्तुओं की फुटकर या थोक बिक्री पर लगाया जाता है। कभी-कभी यह कर सेवाओं की विक्री पर भी लगाया जाता है। परन्तु वह साधारणतया बिक्री कर में सम्मिलित नहीं किया जाता। विक्री-कर, क्रय-कर से भिन्न होता है। यद्यपि क्रय और विक्रय किसी भी विनिमय सम्बन्धी क्रिया के दो पक्ष हैं, विक्री-कर सरकार द्वारा विक्रय पर लगाया जाता है और विक्रेताओं से जमा किया जाता है, जब कि क्रय-कर क्रेताओं पर लगाया जाता है और उन्हीं से वसूल किया जाता है। इन दोनों करों की व्यवस्था भिन्न-भिन्न प्रकार से की जाती है।

बिक्री कर के रूप—विक्री-कर के कई रूप हो सकते हैं। जैसे (१) विशिष्ट वस्तु विक्री-कर अथवा सामान्य विक्री-कर (Selected Commodity Sales Tax or General Sales Tax)—जब कुछ चुनी हुई वस्तुओं की विक्री पर कर लगाया जाता है तो उसको विशिष्ट वस्तु विक्री-कर कहते हैं जैसे बहुत ऊँचे मूल्य वाली या विलासयुक्त वस्तुयें इत्यादि। परन्तु जब विक्री-कर सामान्य रूप से सभी वस्तुओं पर लगाया जाता है तो उसे सामान्य विक्री-कर सकते हैं। यह सम्भव है कि सामान्य विक्री-कर के क्षेत्र में कुछ वस्तुओं को सम्मिलित न किया जाये। भारत में सामान्य विक्री कर ही लागू किया गया है। (२) फुटकर अथवा थोक विक्री-कर (Retail or Whole sale Sales Tax)—जब कर फुटकर व्यापार में वेची गई वस्तुओं पर लगाया जाता है और फुटकर व्यापारियों से वसूल किया जाता है तो उसे फुटकर विक्री कर कहते हैं और जब यह कर थोक व्यापारियों से वसूल किया जाता है तो इसको थोक विक्री कर कहते हैं। (३) विक्री अथवा समस्त क्रय-विक्रय कर (Sales or Turnover Tax)—जब कर केवल वस्तुओं की विक्री पर लगाया जाता है तो उसको विक्री

1. अन्य वस्तु-करों जैसे उत्पादन करों, सीमा-शुल्क आदि के विवरण के लिए अध्याय २० देखिये।

कर कहते हैं, परन्तु जब वह वस्तुओं और सेवाओं के क्रय-विक्रय पर लगाया जाता है तो उसे समस्त क्रय-विक्रय कर कहते हैं। (४) एक बिन्दु अथवा बहु-बिन्दु कर (Single point or Multiple points Sales Tax)—जब कर या तो केवल फुटकर बिक्री के समय या केवल थोक बिक्री के समय लगाया जाता है तो ऐसे कर को एक बिन्दु कर कहते हैं परन्तु जब यह वस्तु की प्रत्येक बिक्री पर लगाया जाता है अर्थात् जितनी बार वस्तु बेची जाये उतनी ही बार कर लगाया जाये तब उसको बहु बिन्दु बिक्री कर कहते हैं। इस प्रकार सामान्य बिक्री कर सभी रूप धारण कर सकता है। यदि सामान्य बिक्री-कर सभी वस्तुओं की केवल एक बिक्री पर लगाया जाता है तब यह एक बिन्दु-कर होगा और यदि यह सभी बिक्रियों पर लगाया जाता है तो यह बहु-बिन्दु कर हो जाएगा। यदि यह वस्तुओं की बिक्री के साथ-साथ सेवाओं की बिक्री पर भी लगाया जाता है तो यह समस्त क्रय-विक्रय कर (Turnover Sales Tax) कहलायेगा।

विशिष्ट वस्तु बिक्री कर तथा सामान्य बिक्री-कर के अपने-अपने गुण तथा अवगुण होते हैं। पहले कर में दूसरे की अपेक्षा प्रबन्ध संबन्धी कठिनाइयाँ कम होती हैं। दूसरे कर में न्यूनतम कर-रहित सीमा के ऊपर जितने भी व्यापारी होते हैं उन सभी से सम्पर्क रखना पड़ता है और उनके हिसाब-किताब का निरीक्षण करना पड़ता है। ऐसे व्यापारियों की संख्या बहुत अधिक होती है। परन्तु पहले प्रकार के कर में केवल थोड़े से ही व्यापारियों से सम्पर्क स्थापित करना होता है और उनके हिसाब-किताब की जाँच-पड़ताल करनी होती है और इसीलिये इनमें प्रबन्ध संबन्धी कठिनाइयाँ बहुत कम होती हैं। इसके अतिरिक्त विशिष्ट वस्तु कर केवल उन्हीं वस्तुओं की बिक्री पर लगाया जाता है जिनका उपभोग धनी व्यक्तियों द्वारा किया जाता है। इसीलिए इस कर को प्रगतिशील भी बनाया जा सकता है; दूसरी ओर सामान्य बिक्री-कर सभी वस्तुओं की बिक्री पर लगाया जाता है इसलिए वह प्रतिगामी होता है परन्तु सामान्य बिक्री-कर विशिष्ट वस्तु बिक्री-कर की अपेक्षा अधिक आय प्रदान करता है।

एक बिन्दु बिक्री-कर और बहु-बिन्दु बिक्री-कर के भी अलग-अलग गुण तथा दोष होते हैं। एक बिन्दु कर में कर की राशि का पता लगाया जा सकता है, क्योंकि कर केवल एक ही बार लगाया जाता है परन्तु, बहु-बिन्दु बिक्री-कर में कर की राशि का पता लगाना असम्भव हो जाता है, क्योंकि प्रथम और अन्तिम विक्रेता के बीच में अनेकों व्यक्ति होते हैं जो वस्तु का क्रय-विक्रय करते हैं जिनकी आय साधारणतया मालूम नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त एक बिन्दु कर में बहु-बिन्दु कर की अपेक्षा कर की दर ऊँची होती है। इन दोनों करों में एक भेद यह भी है कि एक बिन्दु कर में एक विस्तृत हिसाब-किताब रखना पड़ता है जो कि बहुत ही जटिल होता है। ऐसी प्रथा में यदि फुटकर बिक्री पर कर लग रहा है तो सभी फुटकर विक्रेताओं से सम्पर्क रखना होगा और उनके हिसाबों की जाँच-पड़ताल करना होगी। परन्तु यह मालूम करना कि एक वस्तु के कितने फुटकर

विक्रेता हैं तथा उन्होंने कितनी मात्रा उस वस्तु की वेची है और उन्होंने वस्तुओं को उपभोक्ताओं को ही वेचा है या अन्य व्यापारियों को, कोई साधारण वात नहीं है। क्योंकि वहुत से व्यापारी कर वचाने के लालच से झूठे हिसाव-किताव रखेंगे और झूठी सूचनायें देंगे। इसलिए एक विन्दु-कर की व्यवस्था अपेक्षाकृत कठिन होती है। दूसरी ओर वहु विन्दु विक्री-कर अपेक्षाकृत सरल होता है क्योंकि यह वस्तु की सारी विक्री पर लगाया जाता है और इसलिए वस्तुओं की विक्री के संवन्ध में विस्तृत हिसाव रखने की आवश्यकता नहीं होती। कर जाँच आयोग[2] ने दोनों करों के उद्देश्य वताते हुए लिखा है कि वहु-विन्दु विक्री-कर के निम्न उद्देश्य होते हैं :—"(१) कर को उपभोग की अधिकांश वस्तुओं पर लागू करना (उन वस्तुओं को भी सम्मिलित करते हुए जो अपेक्षाकृत आवश्यक हैं)। (२) व्यापारियों की एक वड़ी संख्या पर कर लागू करना और साथ ही, (३) इतनी नीची दर से कर लगाना कि उसके भयंकर परिणाम न हों।" दूसरी ओर एक विन्दु विक्री-कर के निम्न उद्देश्य होते हैं :—"(१) कर को वहुत सी किस्मों पर, परन्तु अधिकांश वस्तुओं पर नहीं लागू करना, (२) थोड़े से ही व्यापारियों पर लागू करना और (३) कर की अपेक्षाकृत ऊँची दर निर्धारित करना और पर्याप्त मात्रा में विस्तृत छूटें प्रदान करना।

विक्री-करों से वस्तुओं को छूटें प्रदान करना कई कारणों से आवश्यक होता है। छोटे-छोटे सुदूर ग्रामों में छोटे-छोटे व्यापारियों पर विक्री-कर नहीं लगाया जाता, क्योंकि ऐसे व्यापारियों से कर वसूल करने का खर्चा वहुत होता है और उनके हिसाव-किताव का निरीक्षण करने में वहुत सी असुविधायें होती हैं। साथ ही इन व्यापारियों से यह भी आशा नहीं की जा सकती कि वे अपने हिसाव उचित रूप से रख सकेंगे क्योंकि वे अधिकतर अशिक्षित होते हैं। ऐसे हिसावों के अभाव में, यह स्पष्ट ही है कि कर को निर्धारित करना सम्भव नहीं होगा। उपभोग की कुछ आवश्यक वस्तुओं, जैसे कपड़ा, अनाज आदि वस्तुओं को कर-मुक्त कर दिया जाता है ताकि कर वहुत अधिक प्रतिगामी न हो और उसका भार निर्धनों पर वहुत अधिक न पड़े। इसी प्रकार कुछ निर्यात की जाने वाली वस्तुओं तथा अन्तरस्थानीय व्यापार की वस्तुओं को भी कर-मुक्त किया जा सकता है, ताकि उनका व्यापार हतोत्साहित न हो।

विक्री-कर को व्यावहारिक रूप प्रदान करने के लिए सरकार को निरीक्षण करने वाले कर्मचारियों को वहुत वड़ी संख्या में नियुक्त करना पड़ता है। साथ ही साथ व्यापारियों को भी विस्तृत हिसाव-किताव रखने में वहुत असुविधायें होती हैं। निरीक्षण के लिए कितने ही कर्मचारी नियुक्त क्यों न किये जायें फिर भी कर की चोरी एक मामूली सी वात है। यद्यपि कर की चोरी तो सभी करों में होती है परन्तु अन्य करों की अपेक्षा इस कर में अधिक सरल होती है। विक्री-कर का भुगतान कई प्रकार से वचाया जा सकता है जैसे झूठे हिसाव वनाकर विक्री-संवंधी

2. *Report*, Vol. III, p. 8.

झूठी सूचना देकर इत्यादि-इत्यादि। यह भी सम्भव है कि बिक्री-कर में कर की चोरी हिसाब-किताब की जटिलताओं के कारण ही अधिक होती है। इसलिए यह आवश्यक है कि बिक्री-कर प्रणाली को बहुत ही सरलतम रखा जाये और कानून ऐसा बनाया जाये जिससे उसमें कम से कम त्रुटियाँ रहें।

बिक्री-कर का भार——व्यापारी, बिक्री-कर का विवर्तन उपभोक्ताओं पर कर देते हैं, क्योंकि यह कर उपभोग पर लगा हुआ कर समझा जाता है। इस कर का विवर्तन यों भी सुगमता से कर देते हैं क्योंकि यह एक अप्रत्यक्ष कर है। बिक्री-कर के भार की मुख्य समस्या यह पता लगाने में है कि कर का विवर्तन किस अंश तक होता है अर्थात् क्या पूरा कर उपभोक्ताओं पर ढकेल दिया जाता है ? यदि ऐसा नहीं तो कर का कितना भाग उपभोक्ताओं पर डाल दिया जाता है और कितना भाग व्यापारी स्वयं सहन करते हैं ? किसी भी कर का विवर्तन या भार अनेक कारणों पर निर्भर करता है। जैसे माँग की लोच, पूर्ति की लोच, वस्तु के उत्पादन में जो नियम लागू हो रहा है, कर की प्रकृति एवं दर, वस्तु का मूल्य इत्यादि और कर-विवर्तन का अंश इन्हीं सब कारणों के सामूहिक परिणामों पर निर्भर करता है। सामान्य रूप से हम यह कह सकते हैं कि वस्तु की पूर्त्ति की लोच जितनी अधिक होगी उतना ही उपभोक्ता पर कर-भार ढकेले जाने की सम्भावना अधिक होगी और जितनी माँग की लोच अधिक होगी उतना ही कर-भार व्यापारियों पर अधिक होगा। वास्तव में कभी-कभी तो उपभोक्ताओं पर कर की राशि से भी अधिक मौद्रिक भार पड़ जाता है, क्योंकि एक तो विक्रेता मूल्य को बढ़ा देते हैं और उसके अतिरिक्त बिक्री-कर अलग से क्रेताओं से लेते हैं। इस प्रकार एक ओर तो विक्रेता क्रेताओं को यह विश्वास दिलाने में सफल हो जाते हैं कि मूल्य में जो वृद्धि हुई है वह बिक्री-कर का परिणाम है और दूसरी ओर वह क्रेताओं को यह भी बता देते हैं कि बिक्री-कर एक अनिवार्य भुगतान होता है जो कि ग्राहकों को करना ही चाहिए। कभी-कभी यह भी हो सकता है कि बिक्री-कर का विवर्तन न हो पाये। एक ऐसे देश में जहाँ संघ सरकार है वहाँ पर विभिन्न राज्यों में से कुछ ऐसे हो सकते हैं जहाँ बिक्री-कर लागू नहीं किया जाए। इसलिए यदि दो ऐसे राज्य पास-पास स्थित हैं जिनमें से एक में बिक्री-कर लगा हुआ है और दूसरे में बिक्री-कर नहीं लगा हुआ है तो बिक्री कर वाले राज्य में रहने वाले लोग बिना बिक्री-कर वाले राज्य से अपनी वस्तुयें प्राप्त करना चाहेंगे ताकि उन पर बिक्री-कर का भार न पड़े। इस प्रकार बिक्री-कर वाले राज्य के व्यापारी कर का भार स्वयं ही सहन करना पसन्द करेंगे मगर अपने ग्राहकों को बाहर नहीं जाने देंगे। ऐसी स्थिति उस समय भी उत्पन्न होगी जब कि एक राज्य में दूसरे की अपेक्षा बिक्री-कर की दर ऊँची होती है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि क्रेताओं को कुछ वस्तुओं का एक ही मूल्य देने की आदत पड़ जाती है और यदि उन्हें विक्रेता उससे अधिक मूल्य पर वस्तु बेचे तो वह उससे न खरीद कर किसी दूसरे विक्रेता से वस्तु को खरीदेंगे। ऐसी स्थिति में भी विक्रेता कर-भार स्वयं ही

सहन करते हैं। यदि विक्रेता ईमानदार हैं और वे वस्तु के गुणों को कम करके कर-भार उपभोक्ताओं पर ढकेलना नहीं चाहते तो भी वह कर-भार को खुद ही सहन करेंगे। विक्री-कर के भार का अध्ययन हम दो प्रकार से कर सकते हैं। प्रथम, विशिष्ट वस्तु विक्री-कर का भार और दूसरे सामान्य विक्री-कर का भार :—

(अ) विशिष्ट वस्तु बिक्री-कर का भार—(१) जिन वस्तुओं की माँग लोचदार होती है उन पर लगे हुए कर का भार व्यापारियों पर पड़ता है। परन्तु बेलोच माँग वाली वस्तुओं का भार क्रेताओं पर पड़ता है। (२) जिन वस्तुओं की पूर्ति लोचदार होती है उनका कर-भार क्रेताओं पर पड़ता है तथा बेलोच पूर्ति वाली वस्तुओं का भार व्यापारियों पर पड़ता है। (३) यदि वस्तु क्रमागत-उत्पत्ति-ह्रास नियम के अन्तर्गत उत्पन्न हो रही है तो उसका कर-भार क्रेताओं पर पड़ता है। (४) यदि क्रमागत-उत्पत्ति-वृद्धि नियम के अन्तर्गत उत्पन्न हो रही है तो उसका कर-भार व्यापारियों पर पड़ता है और यदि क्रमागत उत्पत्ति समानता नियम के अन्तर्गत उत्पन्न हो रही है तो उसका कर-भार क्रेताओं और विक्रेताओं दोनों पर पड़ता है। और यदि एकाधिकार की स्थिति में वस्तु बिक रही है तब कर का भार ढकेला भी जा सकता है और नहीं भी ढकेला जा सकता है। (५) कम मूल्य वाली वस्तु का भार अधिक मूल्य वाली वस्तु की अपेक्षा क्रेताओं पर बड़ी सरलता से ढकेला जा सकता है। इसी प्रकार मुद्रा-स्फीति के समय में कर-भार का ढकेलना मुद्रा संकुचन की अपेक्षा अधिक सरल होता है। निश्चित मूल्य वाली वस्तुओं का कर-भार उपभोक्ताओं पर ढकेलना सरल नहीं है।

परन्तु यह कठिनाइयाँ केवल अल्पकाल में ही उपस्थित होती हैं। दीर्घकाल में तो कर-भार उपभोक्ताओं पर ही पड़ता है।

(आ) सामान्य विक्री-कर का भार—(१) यदि वस्तु की बिक्री सहकारी समितियों द्वारा हो रही है जो बिक्री-कर से मुक्त हैं और अपनी वस्तुयें केवल अपने सदस्यों को ही बेचती हैं तब कर का भार दूसरे क्रेताओं पर ढकेला जा सकता है। यदि यह समितियाँ सब व्यक्तियों अर्थात् सदस्यों तथा ग़ैर-सदस्यों को वस्तु बेचती हैं तो कर का भार अन्य विक्रेताओं पर पड़ेगा। (२) यदि छोटे-छोटे व्यापारियों को कर की एक निश्चित राशि का भुगतान करना पड़ता है तब कर-भार स्वयं उन्हें भी सहन करना पड़ेगा। (३) यदि किसी वस्तु की अधिकांश मात्रा छोटे-छोटे व्यापारियों द्वारा बेची जाती है जिनको कर का भुगतान नहीं करना होता तो कर का भार बड़े-बड़े व्यापारियों पर ही पड़ेगा। यदि छोटे व्यापारी वस्तु का केवल थोड़ा सा ही भाग बेचते हैं तब कर-भार क्रेताओं पर ही पड़ेगा। (४) यदि बिक्री-कर प्रगतिशील है तब उसका भार व्यापारियों पर ही पड़ता है। (५) यदि कोई व्यापारी अनेकों वस्तुओं में व्यापार कर रहा है तो वह कुछ विशेष वस्तुओं पर लगे हुए बिक्री-कर का भार अन्य वस्तुओं के क्रेताओं पर भी ढकेल सकता है जिन पर बिक्री-कर नहीं लगा हुआ है।

विक्री-कर के लाभ—विक्री-कर के निम्न लाभ होते हैं—

(१) विक्री-कर, विशेषकर सामान्य विक्री-कर एक उत्पादक-कर है; इसी गुण के कारण संसार के अधिकांश देशों में इस कर को लागू किया गया है। इसकी उत्पादकता का मुख्य कारण यह है कि एक तो यह वस्तुओं तथा व्यापारियों की बड़ी से बड़ी संख्या पर लगाया जा सकता है और दूसरे कर की छोटी-सी दर से ही एक बड़ी धनराशि प्राप्त की जा सकती है। (२) विक्री-कर का दूसरा महत्वपूर्ण गुण यह है कि यह लोचदार होता है, क्योंकि यह कर बहुत सी वस्तुओं तथा व्यापारियों पर लगाया जा सकता है, इसलिये सरकार की आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए इसमें आवश्यतानुसार परिवर्तन किये जा सकते हैं और आय प्राप्त की जा सकती है। (३) विक्री-कर का अन्तिम गुण यह है कि इसके भार का वितरण सुगमता से एक बहुत बड़े क्षेत्र पर किया जा सकता है, अर्थात् इस कर को इतने रूपों में लगाया जा सकता है कि कर का भार निर्धन से निर्धन और धनी से धनी व्यक्ति पर डाला जा सकता है।

विक्री-कर के दोष—विक्री-कर में निम्न दोष पाये जाते हैं—

(१) विक्री-कर का एक बड़ा दोष यह है कि यह प्रगतिशील नहीं है। क्योंकि यह एक अप्रत्यक्ष-कर है और वस्तु पर लगाया गया कर है, इसलिये इसमें प्रगतिशीलता लाने की कोई सम्भावना नहीं होती है। सभी उपभोक्ताओं पर बिना उनकी आय की ओर ध्यान दिये हुए या उनकी कर दान योग्यता को ध्यान में रखे हुए एक ही दर से कर लगाया जाता है। इसलिये यह कर प्रतिगामी होता है, क्योंकि इसका भार निर्धन व्यक्तियों पर अधिक पड़ता है। विक्री-कर की प्रतिगामिता (Regressiveness) को कम करने के लिए बहुधा दो उपाय किये जाते हैं। प्रथम, विक्री-कर केवल विलासयुक्त वस्तुओं पर ही लगाये जाते हैं, परन्तु यह इतने उत्पादक नहीं होते जितने कि सामान्य विक्री-कर होते हैं। विक्री-कर की प्रतिगामिता को कम करने के लिए दूसरा उपाय यह किया जाता है कि उपभोग की कुछ आवश्यक वस्तुओं को जिनका उपभोग मुख्यतः निर्धन व्यक्तियों द्वारा ही किया जाता है उन पर या तो कर लगाया ही नहीं जाता या अगर कर लगाया जाता है तो उसकी दर बहुत नीची रखी जाती है।

(२) विक्री-कर का एक दूसरा बड़ा अवगुण यह है कि इसको लगाते समय किसी भी परिवार की कर भुगतान शक्ति को ध्यान में नहीं रखा जाता। यह इसलिए आवश्यक है कि समान आय वाले परिवारों के सम्बन्ध में जितना बड़ा परिवार होगा उतनी ही उसकी कर भुगतान करने की शक्ति कम होगी। इसलिये समान आय रहने पर बड़े परिवारों पर कर की दर नीची होनी चाहिये, क्योंकि बड़े परिवार की खरीदारी भी अधिक होगी और कर की दर नीची होते हुए भी उनको धन की अधिक राशि देनी होगी।

(३) विक्री-कर लगने के कारण अधिकतर औद्योगिक गुटबन्दी को प्रोत्साहन मिलता है। व्यापारी लोग आपस में मिलकर ऐसी संस्थायें स्थापित कर लेते हैं जिनमें

कच्चे माल के उत्पादन से लेकर बनी हुई वस्तुओं के उत्पादन तक सभी क्रियायें एक ही संगठन के भिन्न-भिन्न विभागों द्वारा सम्पन्न की जाती हैं। एक विभाग दूसरे विभाग को वस्तुयें बिना बिक्री-कर का भुगतान किये ही देता है और इस प्रकार कर के भुगतान से बच जाता है।

(४) बिक्री कर का एक दोष यह भी है कि इसके लगने से व्यापार करने के ढंग को भी बदल दिया जाता है। कर का भुगतान न करने के लिए थोक व्यापारियों के स्थान पर दलालों को नियुक्त कर दिया जाता है और वस्तुओं को ऐसे बेचा जाता है जैसे कि उत्पादक स्वयं बेच रहा हो। यह दोष मुख्यतया बहु-बिन्दु प्रणाली में होता है। जिसमें बिक्री-कर वस्तु की प्रत्येक बिक्री पर लगता है। व्यापार करने के ढंग में ऐसे परिवर्तन हो जाने से वस्तु की बिक्री पर कर केवल एक ही बिन्दु पर लग पाता है।

(५) कभी-कभी बिक्री-कर एक ही वस्तु पर दो बार लग जाता है, यदि वह वस्तु ऐसी है जिसको कच्चे माल के रूप में भी प्रयोग किया जा सकता है और प्रत्यक्ष उपभोग के लिए भी इसको प्रयोग में लाया जा सकता है।

(६) इस कर की व्यवस्था इतनी जटिल होती है और व्यापारियों को इतने विस्तृत हिसाब-किताब रखने पड़ते हैं कि उनको, विशेष रूप में छोटे व्यापारियों के लिए यह कर बहुत ही असुविधाजनक होता है। हिसाब-किताब की जाँच-पड़ताल भी एक दुखद कार्य होता है और कभी-कभी कर अधिकारी व्यापारियों को बहुत परेशान करते हैं। इसीलिए व्यापारी कर के भुगतान से बचना चाहते हैं और कर की चोरी भी करते हैं।

(७) बिक्री-कर से अन्तर-स्थानीय व्यापार को, विशेषकर उन देशों में जहाँ संघ सरकार स्थापित होती है, बहुत हानि पहुँचती है। एक ही वस्तु के स्थानान्तरण पर जब प्रत्येक राज्य बिक्री-कर लगाता है तो जितने राज्यों में होकर वह वस्तु बिकती है उतना ही उसका मूल्य बढ़ता जाता है और इस प्रकार अन्तर-स्थानीय व्यापार को क्षति पहुँचती है।

(८) मुद्रा-स्फीति के काल में जब कि करारोपण का मुख्य उद्देश्य व्यक्तियों की जेबों में से अतिरिक्त क्रयशक्ति को निकाल कर वस्तुओं के मूल्यों को कम करना होता है, बिक्री-कर से मूल्य गिरने के स्थान पर और बढ़ते हैं। इस प्रकार सामान्य मूल्य-स्तर में वृद्धि होने से नागरिकों में महँगाई भत्ते की माँग बढ़ने लगती है और यदि सरकार इन माँगों को पूरा कर दे तो और अधिक मुद्रा-स्फीति की सम्भावना उत्पन्न हो जाती है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि बिक्री-कर कोई अच्छा कर नहीं है। प्रतिगामी होने के साथ-साथ इसकी व्यवस्था बहुत ही कठिन होती है। यह देश की औद्योगिक एवं व्यापारिक उन्नति में भी बाधक सिद्ध होता है। इसीलिए इस कर की इतनी आलोचनाएँ हुई हैं और इसको अन्यायपूर्ण माना गया है। परन्तु आधुनिक सरकारों की वित्तीय आवश्यकताएँ इतनी तेजी से बढ़ती जा रही हैं कि अधिकतर

सरकारों का काम बिना इसको लागू किए चल ही नहीं रहा है क्योंकि इस कर का सबसे बड़ा गुण इसकी उत्पादकता है। सारांश में बिक्री-कर दूसरा सबसे उत्तम कर समझना चाहिये—एक ऐसा कर जिसका प्रयोग उस समय किया जाये, जबकि परिस्थितियाँ यह सिद्ध कर दें कि आय-कर तथा अन्य उपयुक्त करों पर भरोसा करना ठीक नहीं है।[3]

बिक्री-कर और मुद्रा प्रसार:— मुद्रा प्रसार के काल में बढ़ती हुई कीमतों को नियन्त्रित करने के लिये, बिक्री-कर अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हो सकता है क्योंकि इसमें उपभोग को नियन्त्रित करने की क्षमता तो होती ही है। द्वितीय महायुद्ध से पहले अधिकतर अर्थ-शास्त्रियों का यही विश्वास था कि बिक्री-कर आय प्राप्त करने का एक मात्र अस्त्र है, किन्तु युद्ध के बाद से बिक्री-कर का उपयोग मुद्रा-स्फीति निरोधक यन्त्र के रूप में काफी किया गया है।

कुछ लोगों का कहना है कि बिक्री-कर से तो मूल्यों में स्वयं वृद्धि होती है, वह मुद्रा-स्फीति में बढ़ते हुए मूल्यों को कैसे नियन्त्रित कर सकता है। किन्तु यह ध्यान रहे कि बिक्री-कर वस्तुओं के मूल्यों को बढ़ाकर ही नियन्त्रित करना है। बात कुछ ऐसी है कि बिक्री-कर के प्रभाव में होने वाली मूल्य-वृद्धि मुद्रा-स्फीति के प्रभाव में होने वाली मूल्य वृद्धि से पूर्णतया भिन्न होती है। मुद्रा-स्फीतिक मूल्य-वृद्धि का आकार सर्वव्यापी होता है और वह वस्तुओं और उनके साधनों, दोनों ही को अपने अन्तर्गत समेट लेती है। इसके अतिरिक्त यह मूल्य वृद्धि मौद्रिक आय में वृद्धि होने के कारण उत्पन्न होती है। यही नहीं, मूल्य वृद्धि के साथ-साथ मौद्रिक आय में और अधिक वृद्धि होती जाती है, जो मूल्य-वृद्धि की गति को और भी अधिक तीव्र कर देती है। दूसरी ओर बिक्री-कर केवल वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि करता है साधनों के मूल्यों में नहीं, और व्यक्तियों के हाथों में अतिरिक्त क्रय-शक्ति उत्पन्न करने के स्थान पर क्रय-शक्ति को कम करता है। किन्तु यह ध्यान रहे कि बिक्री-कर की सफलता उसी समय सम्भव हो सकती है जबकि साधनों के मूल्यों में वृद्धि नहीं होती, अर्थात् श्रमिक-वर्ग वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि होने के साथ-साथ अपने वेतनों में वृद्धि होने की मांग न करे। इस विषय पर अधिक वृत्तान्त न देकर हमें तो यह देखना है कि मुद्रा-स्फीति विरोधी उपायों में आय-कर अधिक अच्छा है या बिक्री-कर ?

क्या बिक्री-कर आय-कर की अपेक्षा अधिक अच्छा है :— बिक्री-कर उपभोग को नियन्त्रित करके बचतों को प्रोत्साहित करता है। यह सच है, किन्तु यह तभी सम्भव है जबकि कर की दर का क्षेत्र तथा कर का काल सब इसी उद्देश्यों से निश्चित किये गये हों। कहने का अभिप्राय यह है कि कर अधिक से अधिक वस्तुओं पर लगाया जाये ताकि व्यक्तियों को कर लगी हुई वस्तुओं के स्थान पर बिना कर लगी हुई वस्तुओं का उपभोग करने के लिए प्रोत्साहन न मिले। मुद्रा-स्फीति को नियन्त्रित करने की दृष्टि से भोजन-सम्बन्धी

3. John Due : *Sales Taxation*, p. 41.

वस्तुओं पर भी बिक्री कर लगाना चाहिए। इसी प्रकार बिक्री कर की सफलता के लिये यह आवश्यक है कि यह घोषित कर दिया जाये कि कर केवल मुद्रा-स्फीति काल तक के लिए ही लगाया गया है और मुद्रा-स्फीति के प्रभावों का अन्त होते ही उसे हटा दिया जायेगा। इस घोषणा का परिणाम यह होगा कि व्यक्तियों में अपने उपभोग को स्थगित करने की इच्छा प्रबल हो जायेगी, जिससे वस्तुओं के मूल्यों के नीचे गिरने में सहायता मिलेगी। बिक्री कर इस दृष्टि से भी उत्तम है कि प्रत्येक व्यक्ति इस बात को जान जाता है कि वस्तु खरीदते समय उसको कितना कर देना पड़ रहा है और यदि वह वस्तु-विशेष को न खरीदे या कम मात्रा में खरीदे तो उसे कर का भुगतान नहीं करना पड़ेगा। यह गुण आय-कर में नहीं है। इसके अतिरिक्त बिक्री-कर उन्हीं वर्गों को प्रभावित करता है जो अपनी आय का एक बड़ा भाग खर्च करते हैं। बड़े कुटुम्ब वाले व्यक्तियों तथा निम्न आय वाले वर्ग, जो आय-कर के अन्तर्गत नहीं आ पाते उनके लिये यह कर अति उत्तम है। यह अवश्य है कि यह कर अन्यायपूर्ण होता है किन्तु जब हमारा उद्देश्य मुद्रा-स्फीति को नियन्त्रित करने का है तो उस समय न्याय अथवा अन्याय का प्रश्न ही नहीं उठना चाहिए।

आय-कर की तुलना में बिक्री-कर के दोष :—कुछ अंश तक बिक्री कर में आय-कर की तुलना में, दोष तथा कमियाँ देखने को मिलती हैं। प्रथम, बिक्री-कर से वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि हो जाती है और श्रमिक-वर्ग मजदूरी बढ़ाने के लिए माँग करता है। और सरकार जब मजदूरी बढ़ा देती है तो बढ़ी हुई मजदूरी से वस्तुओं की लागत बढ़ जाने से वस्तुओं के मूल्य और ऊँचे हो जाते हैं। अतः मुद्रा-स्फीति और भी तीव्र हो जायेगी। दूसरे उत्पादकों की वस्तुओं पर बिक्री कर लागू होने से भी वस्तु की लागतों में वृद्धि होगी और मूल्य और भी अधिक बढ़ेंगे। इसके अतिरिक्त यदि मूल्य नियन्त्रण की नीति जारी है तो वस्तुओं की लागतों में वृद्धि होने से नियन्त्रित मूल्यों में विस्तृत परिवर्तन करने की आवश्यकता होगी, जिससे मूल्य नियन्त्रण का प्रशासन काफी जटिल हो जायेगा। तीसरे, क्योंकि बिक्री कर साधारणतया अन्यायपूर्ण समझा जाता है, इसलिए सरकार, उसको न्यायपूर्ण बनाने के लिये कुछ वस्तुओं को कर-मुक्त रखेगी, जिसका परिणाम यह होगा कि मुद्रा-स्फीति निरोधक अस्त्र के रूप में बिक्री-कर प्रभावयुक्त सिद्ध नहीं होगा। अन्त में, यदि बिक्री कर वस्तुओं की फुटकर बिक्री पर न लगाकर उत्पादन तथा थोक वितरण के स्तर पर लगाया जायेगा तो वस्तु के मूल्य में आरम्भ से अन्त तक निरन्तर वृद्धि होती जायेगी जो कर की मात्रा से कहीं अधिक होगी और मुद्रा-स्फीति कम होने के स्थान पर और तीव्र हो जायेगी।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि बिक्री कर मुद्रा-स्फीति निरोधक यन्त्र के रूप में उसी समय प्रभावशाली सिद्ध हो सकता है, जबकि उसका उपयोग अस्थायी रूप से किया जाये और व्यक्तियों को भी यह स्पष्ट कर दिया जाये कि बिक्री-कर कुछ ही समय के लिए लगाया गया है और स्थिति सुधरने के बाद इसको समाप्त

कर दिया जायेगा। इसके अतिरिक्त कर फुटकर बिक्री के स्तर तथा अधिक से अधिक वस्तुओं पर ही लगाया जाये। बिक्री कर को पूंजीगत वस्तुओं पर नहीं लगाना चाहिये, और कर की दरों का निर्धारण, वस्तुओं का उपयोग करने वाले वर्गों की आय के अनुसार किया जाये।

भारत में बिक्री कर—

बिक्री कर बहुत पुराने समय में मिस्र तथा रोम में लगाया गया था। हमारे देश में मौर्यकाल में इसका प्रयोग हुआ था। यूरोप के बहुत से देशों में जैसे फ्रांस, बेलजियम, चैकोस्लेवेकिया, रूस आदि देशों में यह प्रथम महायुद्ध में लगाया गया था। इंगलैंड में इसको इसलिए रद्द कर दिया गया, क्योंकि यह अन्यायपूर्ण समझा गया। आधुनिक समय में बिक्री कर का इतिहास हमारे देश में प्रान्तीय स्वशासन से आरम्भ होता है। सबसे पहले यह कर सन् १९३८ में मध्य-प्रदेश तथा बरार मे, तत्पश्चात् सन् १९३९ में मद्रास में लगाया गया था। सन् १९३९ के बाद यह कर लगभग सभी प्रान्तों में लगा दिया गया। हमारे देश के संविधान में राज्यों को समाचार-पत्रों के अतिरिक्त सभी वस्तुओं के क्रय-विक्रय पर कर लगाने का अधिकार प्रदान कर दिया गया है। परन्तु साथ ही कुछ नियन्त्रण भी लगा दिए गए हैं जैसे, (१) उन वस्तुओं के विक्रय एव क्रय पर जिनका व्यापार देश की सीमाओं से बाहर होता है राज्य बिक्री कर नहीं लगा सकते। (२) जो वस्तुएँ उपभोग के लिए दूसरे राज्यों में भेजी जाती हैं। (३) अन्तर-राज्य व्यापार की वस्तुओं पर राज्य सरकारें कर नहीं लगा सकतीं। (४) जो वस्तुएँ संसद ने आवश्यक घोषित कर दी है, उन पर बिक्री कर लगाने से पहले राज्य सरकारों को राष्ट्रपति की आज्ञा प्राप्त करनी होगी। सन् १९५६ में हमारे संविधान में कर जांच आयोग की सिफारिशों के अनुसार एक महत्त्वपूर्ण संशोधन किया गया जिसके फलस्वरूप अन्तर्राज्य क्रय एव विक्रय की वस्तुओं पर कर लगाने का अधिकार केवल संघ सरकार को ही सौंपा गया और यह भी घोषित किया गया कि उन वस्तुओं पर जिनकी बिक्री किसी राज्य की सीमाओं के अन्दर होती है परन्तु जो अन्तर्राज्य व्यापार की मुख्य वस्तुएं है, राज्य सरकार के कर लगाने के अधिकार पर केन्द्रीय सरकार नियन्त्रण लगा सकती है। सन् १९५६ में एक ऐक्ट भी बना दिया गया जिसमें उन वस्तुओं की गणना की गई जो अन्तर्राज्य व्यापार की मुख्य वस्तुएँ हैं।

हमारे देश में राज्यों की अर्थ-व्यवस्था में बिक्री कर का मुख्य स्थान है। कुछ राज्यों में तो यह आय का सबसे बड़ा स्रोत है। सन् १९४४ से सन् १९५८ तक बिक्री कर से प्राप्त आय में जो वृद्धि हुई है उससे इसके बढ़ते हुए महत्व का अनुमान लगाया जा सकता है। सन् १९४४ में बिक्री कर से समस्त राज्यों को लगभग ८ करोड़ रुपया प्राप्त होता था, परन्तु सन् १९५८ में यह राशि बढ़कर १०० करोड़ रुपए हो गई। निम्न तालिका में कुछ चुने हुए वर्षों के आंकड़े दिये गए हैं :—

(करोड़ रु० में)

मदें	१९५१-५२	१९५५-५६	१९६१-६२	१९६३-६४	१९६४-६५	१९६५-६६ (बजट)
सामान्य बिक्री कर	५४·४०	६८·२८	१६३·१४	२४१·८	२७०·५३	२८७·२९
मोटर स्प्रिट बिक्री-कर	४·५३	८·३०	१५·३०	२०·१	२६·९८	२८·२७

कर जाँच आयोग के विचार—कर जाँच आयोग ने इस समस्या को दूर करने के लिए बहुत ही सुन्दर प्रस्ताव दिया है। इस प्रस्ताव में उन्होंने सारी वस्तुओं पर बहुत नीची दर से और बहुत कम छूटों के साथ बहु-बिन्दु बिक्री-कर लगाने का प्रस्ताव दिया है और साथ ही विशिष्ट वस्तुओं पर एक बहुत ऊँची दर से एक बिन्दु-बिक्री-कर लगाने का प्रस्ताव दिया है। अतः इस प्रस्ताव में एक बिन्दु और बहु-बिन्दु-करों का मिश्रण किया गया है। आयोग इस बात से पूर्णतया सहमत था कि राज्यों को अपने विकास-सम्बन्धी तथा सामाजिक कल्याण-सम्बन्धी क्रियाओं को पूरा करने के लिए बहुत अधिक धन की आवश्यकता थी और इस सम्बन्ध में बिक्री-कर का विशेष महत्व है। आयोग ने यह भी स्वीकार किया था कि देश के पूँजीगत साधनों को गतिशील बनाने के लिए यह आवश्यक था कि निम्न आय वाले वर्गों पर भी कर लगाया जाये और उन पर कर का भार बहुत हल्का होना चाहिए और धनी व्यक्तियों पर बहुत अधिक। इसलिए आयोग की सिफ़ारिश थी कि उन सभी व्यापारियों पर जिनकी वार्षिक बिक्री की फेर-बदल (Turn-over) ५,००० रुपये से अधिक हो उन पर अधिक से अधिक ½ प्रतिशत की दर से कर लगाया जाये। इसमें किसी भी प्रकार की छूटें न दी जायें। साथ ही ऊँची बिक्री वाले जैसे ३०,००० रुपये प्रति वर्ष की बिक्री वाले व्यापारियों पर एक बिन्दु कर लागू किया जाय, जिसकी दर बहु-बिन्दु-कर से ऊँची हो और जिसको प्रत्येक सरकार अपने-अपने राज्य की परिस्थितियों और आवश्यकताओं को देख कर निश्चित करे। जो वस्तुयें निर्धन व्यक्तियों के उपभोग में आती हैं उन पर एक बिन्दु कर न लगाया जाये। इसके अतिरिक्त कुछ विशेष विलासयुक्त वस्तुओं के लिए एक बिन्दु कर की दर बढ़ा दी जाये। आयोग का विचार था कि बड़े-बड़े व्यापारियों के लिए हिसाब रखने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए और उसको विश्वास था कि यदि ये विचार कार्यारोपित कर दिए गए तो राज्यों की आय में वृद्धि होगी। इसमें तो कोई संदेह नहीं कि आयोग की सिफ़ारिशों को यदि कार्यान्वित कर दिया जाये तो बिक्री-कर प्रणाली अधिक सरल और विवेकशील हो जायेगी तथा कर की चोरी भी कम हो जायेगी। परन्तु यह आवश्यक है कि इन प्रस्तावों से छोटे व्यापारियों पर कर-भार बहुत अधिक पड़ेगा, क्योंकि आयोग के अनुसार ५,००० रुपयों की वार्षिक बिक्री पर कर लगाना चाहिए, अर्थात् जिस व्यापारी की बिक्री लगभग १४ रुपये प्रति दिन होगी उस पर भी कर

लागू किया जायेगा यद्यपि उस कर की दर नीची होगी। परन्तु ऐसे व्यापारियों के लिए हिसाब का रखना तथा बिक्री की रसीदों को सुरक्षित रखना असम्भव है। साथ ही बिक्री कर प्रणाली की व्यवस्था भी अधिक महँगी हो जायेगी और छोटे-छोटे व्यापारियों से सम्पर्क स्थापित करने में समय और धन दोनों ही नष्ट होंगे। इन सिफारिशों को अभी तक किसी राज्य में भी कार्यान्वित नहीं किया गया है।

अन्तर-राज्य व्यापार—इस अध्याय के आरम्भ में हम कह चुके हैं कि बिक्री कर अन्तर-राज्य व्यापार को हतोत्साहित करता है और वस्तुओं के आवागमन में बाधायें उत्पन्न करता है, विशेषकर जबकि कर की दर बहुत ऊँची होती है। भारत के संविधान में इस बात को स्पष्ट कर दिया गया है, कि कोई भी राज्य वस्तुओं के उन क्रय या विक्रय पर कर नहीं लगा सकता, जो राज्य की सीमाओं के बाहर हुए हैं। अर्थात् कोई भी राज्य उन वस्तुओं पर कर नहीं लगा सकता जो राज्य के बाहर रहने वाले व्यक्तियों को बेची गई हैं। सुप्रीम कोर्ट ने बम्बई बिक्री कर के सम्बन्ध में अपना मत प्रकट करते हुए बताया कि संविधान में केवल राज्य के बाहर बेची जाने वाली वस्तुओं पर अन्य राज्य कर नहीं लगा सकते परन्तु वह राज्य जिसमें वस्तु उपभोग के लिए खरीदी गई है, कर लगा सकता है। इसका परिणाम यह हुआ कि राज्य सरकारों ने अन्य राज्यों में स्थित व्यापारियों पर कर लगाने आरम्भ कर दिए जिनकी वस्तुएँ उनके राज्य में आती थीं। स्पष्ट ही है कि व्यापारियों को बहुत परेशानी होगी यदि उनको अन्य राज्य सरकारों को भी अपने हिसाब दिखाने पड़ें। सन् १९५३ में विभिन्न राज्यों के अफसरों का एक अधिवेशन हुआ जिसने दो सिफारिशें की थीं। प्रथम, व्यापारियों को अन्य राज्य सरकारों को हिसाब दिखाने के लिए न कहा जाए बल्कि कर लगाने वाले राज्यों के कर्मचारियों को स्वयं जाकर हिसाबों की जाँच-पड़ताल करनी चाहिए और दूसरा, प्रत्येक राज्य सरकार अन्य राज्यों की सरकारों को यह सूचना दे कि उनके राज्य से व्यापारियों ने कौन-कौन सी वस्तुओं का निर्यात किया है। यद्यपि विभिन्न सरकारों ने इन सिफारिशों को स्वीकार करके कार्यान्वित कर दिया है परन्तु अब भी व्यापारियों की समस्याओं का पूर्णरूप से समाधान नहीं हुआ है। सन् १९५५ में सुप्रीम कोर्ट ने एक और मुकदमे के फैसले में इस बात को स्पष्ट कर दिया कि कोई भी राज्य किसी प्रकार की अन्तर-राज्य व्यापार में आने वाली वस्तुओं के क्रय या विक्रय पर कर नहीं लगा सकता। यह समस्या, बिक्री-कर की सबसे बड़ी समस्या है। कर जाँच आयोग ने इस समस्या को दूर करने में निम्न प्रस्ताव दिए :—

(१) बिक्री-कर राज्य की आय का ही साधन बना रहना चाहिए, क्योंकि राज्य की आर्थिक प्रणाली में इसका महत्वपूर्ण स्थान है और विभिन्न राज्यों में व्यापारिक दशाओं में बहुत अधिक भिन्नतायें भी हैं, इसलिए राज्य के अन्दर वस्तुओं की बिक्री पर केवल राज्य सरकारें कर लगायें और अन्तर-राज्य व्यापार में आने वाली वस्तुओं पर संघ सरकार कर लगाए। इस प्रकार वस्तुओं की बिक्री को दो वर्गों में बाँटा जा सकता है। प्रथम ऐसी वस्तुयें जो अन्तर-राज्य व्यापार में नहीं

आतीं और दूसरी वे वस्तुयें जो अन्तर-राज्य व्यापार में आती हैं। दूसरे प्रकार की वस्तुओं पर संघ सरकार को कर लगाना चाहिए।

(२) जबकि अन्तर-राज्य व्यापार पर बिक्री-कर संसद द्वारा निश्चित किया जाए, उसका वास्तविक प्रशासन राज्य सरकारों द्वारा ही हो और इन करों से जो आय प्राप्त हो वह राज्य सरकारों को भी दी जाएँ।

(३) ऐसे कर उस समय लगाए जायें जबकि उनका अन्तर-राज्य बिक्री के लिए निर्यात हो रहा हो।

(४) ऐसी बिक्रियों पर कर की दर प्रायः निश्चित होनी चाहिए ताकि उपभोक्ताओं पर कर-भार बहुत अधिक न पड़े और अन्तर-राज्य व्यापार को बहुत हानि न हो। आयोग का प्रस्ताव था कि कर की दर अन्तर-राज्य व्यापार की कुछ विशेष महत्वपूर्ण वस्तुओं के अतिरिक्त सभी वस्तुओं पर १ प्रतिशत होनी चाहिए और जो केवल उसी समय लगाई जाए जबकि वस्तु अन्य राज्यों में स्थित पंजीकृत व्यापारियों को बेची जा रही हो परन्तु यदि वस्तुयें ऐसे व्यापारियों तथा उपभोक्ताओं को बेची जा रही हैं जो पंजीकृत नहीं हैं तो उन पर उसी दर से कर लगाया जाय जो राज्य में प्रचलित हैं।

(५) कुछ ऐसी वस्तुओं की सूची बना देनी चाहिए जो अन्तर-राज्य व्यापार के लिए आवश्यक है और उन पर कर बहुत नीची दर से लगाया जाए जैसे ३ पाई प्रति रुपया का एक विन्दु-कर और वह भी वस्तु की अन्तिम बिक्री पर। इन वस्तुओं में आयोग ने कोयला, लोहा और इस्पात, कपास, कच्ची और पक्की खालें, तिलहन और तेल सम्मिलित किए हैं। इन वस्तुओं पर इतनी नीची दर से कर लगाने का प्रस्ताव आयोग ने कदाचित् इसी विचार से दिया है कि ये कच्ची सामग्री की वस्तुयें हैं और इनसे बनी हुई वस्तुओं का निर्यात अन्य राज्यों को होगा। यदि इन पर बहुत ऊँची दर से कर लगा दिए जाये तो अन्य राज्यों में रहने वाले उपभोक्ताओं पर बहुत अधिक कर का भार पड़ेगा।

(६) आयोग का विचार था कि सन् १९५२ के आवश्यक वस्तु ऐक्ट के अधीन जो कर-मुक्त वस्तुओं की सूची तैयार हुई थी वह बहुत बड़ी है।

(७) आयोग की अन्तिम सिफारिश यह थी कि विभिन्न राज्यों के बिक्री कर विभागों के अध्यक्ष वर्ष में एक बार अवश्य ही विचार-विनिमय करें और पारस्परिक हित की समस्याओं की विवेचना करें ताकि कर की व्यवस्था सरल हो जाए। अन्तर-राज्य करारोपण परिषद् (Inter State Taxation Council) को भी इस ओर प्रयत्न करने चाहियें।

आयोग की सिफारिशों को कार्यान्वित करने की ओर पहला पग यह था कि सन् १९५६ में संविधान को संशोधित करके अन्तर-राज्य क्रय-विक्रय करारोपण को संघ सूची में सम्मिलित कर दिया गया। उसी वर्ष संसद ने एक केन्द्रीय बिक्री-कर ऐक्ट भी पास किया जिसके अनुसार अन्तर-राज्य व्यापार में होने वाले क्रय-विक्रय पर केन्द्रीय सरकार कर लगाएगी यदि ये वस्तुयें पंजीकृत व्यापारियों को बेची गई हैं

तो ११% की दर से कर लगेगा और यदि अन्य व्यापारियों को बेची गई हैं तो उस विशेष राज्य के नियम के अनुसार कर लगाया जाएगा। इस कर की व्यवस्था राज्यों के बिक्री-कर अधिकारी ही करेंगे और जो आय प्राप्त होगी उसमें से निर्धारित किया हुआ भाग रखकर शेष भाग केन्द्रीय सरकार को दे देंगे।

इस ऐक्ट के अनुसार अन्तर-राज्य व्यापार या वाणिज्य में इन वस्तुओं का विशेष महत्व है :—कोयला, कपास का सूत तथा कपास, खालें, लोहा, इस्पात सभी प्रकार का, पटसन और तिलहन इन वस्तुओं पर बिक्री-कर लगाने के सम्बन्ध में राज्य सरकारों पर कुछ प्रतिबन्ध लगा दिये गये हैं। राज्य सरकारें इन वस्तुओं के क्रय-विक्रय के केवल अन्तिम बिन्दुओं पर ही कर लगा सकती हैं और कर की दर क्रय-विक्रय मूल्य के २ प्रतिशत से अधिक नहीं हो सकती। इन वस्तुओं के अन्तर-राज्य बिक्रियों पर कोई भी कर नहीं लगाया जा सकता। इस ऐक्ट के बन जाने से कर जांच आयोग की लगभग सभी सिफ़ारिशों को व्यावहारिक रूप प्रदान किया गया है। अन्तर-राज्य व्यापार में उत्पन्न होने वाली बाधाओं को दूर करने के लिए संघ सरकार ने दूसरा महत्वपूर्ण पग यह उठाया कि सन् १९५७ से मिल के बने हुए कपड़े, चीनी और तम्बाकू पर राज्य बिक्री-कर के स्थान पर अतिरिक्त उत्पादन-कर लगा दिये हैं और इनसे जो आय प्राप्त होती है वह राज्यों में दूसरे वित्त आयोग की सिफारिशों के अनुसार बाँट दी जाती है। केन्द्रीय बिक्री-कर ऐक्ट को, सितम्बर सन् १९५८ में संशोधित करके उपर्युक्त तीनों वस्तुओं को उन वस्तुओं की सूची में जोड़ दिया गया है जिनका अन्तर-राज्य व्यापार में विशेष महत्व है। इस संशोधन के अनुसार जितनी भी अन्तर-राज्य बिक्रियां केन्द्रीय या राज्य सरकारों पर की जायेंगी, उन पर सामान्य रूप से रियायती दर से कर लगाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त कर केवल एक ही बिन्दु पर लगाया जा सकता है और वह उस राज्य द्वारा लगाया जायगा जहाँ से कि वस्तुओं का स्थानान्तरण आरम्भ होता है।

कर जांच आयोग की इन सिफारिशों को कार्यान्वित कर देने के बाद बिक्री-कर की लगभग सभी जटिलताएं दूर होने की आशा की जा सकती है। इसके बाद न तो बिक्री-कर व्यापारियों के लिए ही कष्टदायक होगा और न अधिकारियों के लिए ही। इसके अतिरिक्त कर की चोरी भी बहुत अंश तक बच जायेगी।

कर जाँच आयोग ने दो सिफारिशें और की थीं। प्रथम, प्रत्येक राज्य में एक बिक्री कर सलाहकार कमेटी नियुक्त की जाये जिसमें व्यापार, उद्योग और उपभोक्ताओं के प्रतिनिधि हों जो सामान्य हित की, बिक्री-कर सम्बन्धी समस्याओं का अध्ययन करेगी और उनको दूर करने के उपाय बतायेगी। कुछ राज्यों में ऐसी कमेटियों की स्थापना हो चुकी है और उनको काफी सफलता प्राप्त हुई है। दूसरे, आयोग ने यह भी सिफारिश की कि स्वतन्त्र बिक्री की अदालतें भी स्थापित की जायें जिनमें बिक्री-कर सम्बन्धी झगड़ों की अन्तिम अपील का फैसला होगा। ऐसी संस्थाओं से करदाताओं में काफी विश्वास उत्पन्न होगा। यह संस्थायें केवल कुछ ही राज्यों में अभी तक स्थापित हो पाई हैं।

डा० लोकनाथन, जिन्होंने मद्रास राज्य में खोज की थीं, यह बताया कि बिक्री-कर की कुल आय का ८५% भाग उन करदाताओं से वसूल किया जाता है जिनकी वार्षिक बिक्री ५०,००० रुपये या उससे अधिक होती है। यह बात लगभग सारे ही राज्यों के लिए ठीक हो सकती है और इससे यह स्पष्ट होता है कि न्यूनतम कर-रहित सीमा को बिना आय की हानि के बढ़ाया जा सकता है। डा० लोकनाथन का सुझाव है कि छोटे व्यापारियों पर जिनकी वार्षिक बिक्री १०,००० रुपयों से २५,००० रुपयों तक है। उन पर खण्ड प्रणाली के आधार पर एक निश्चित कर की राशि प्रति माह वसूल की जा सकती है। ऐसा कर देने से कर का प्रबन्ध बहुत सरल हो जायेगा। उनका विचार है कि अधिकांश वस्तुओं पर एक बिन्दु कर लगाया जाये, कुछ आवश्यक वस्तुओं पर बहु बिन्दु कर ½% की दर से लगाया जाये और शेष वस्तुओं पर १% का बहु-बिन्दु कर लगाया जाये। इसमें कोई संदेह नहीं कि डा० लोकनाथन के विचार व्यावहारिक और प्रभाव-युक्त हैं। अभी हाल ही में भारतीय व्यापारियों के चेम्बर ने यह सुझाव दिया था कि बिक्री-कर का केन्द्रीयकरण कर दिया जाये और उससे जो भी आय प्राप्त हो उसे राज्यों में बाँट दिया जाये और यदि यह सम्भव नहीं हो तो बिक्री-कर के स्थान पर अतिरिक्त उत्पादन-कर लगा दिये जायें जिनको केन्द्रीय सरकार राज्यों की ओर से वसूल करे। उन वस्तुओं पर जो देश में नहीं बनाई जातीं, एक बिन्दु कर या तो पहली या अन्तिम स्थिति पर लगाया जाये। परन्तु इन सिफारिशों को कार्यरूप नहीं दिया जा सकता क्योंकि प्रत्येक राज्य की आर्थिक परिस्थितियाँ अलग-अलग होती हैं और सभी के लिए सामान्य बिक्री-कर ऐक्ट नहीं बनाया जा सकता।

राज्यों में करारोपण की मुख्य प्रवृत्तियाँ—

हमने पिछले अध्यायों में राज्य सरकारों के व्यय[1] तथा आय के मुख्य-मुख्य स्रोतों का उल्लेख किया था। व्यय-सम्बन्धी प्रवृत्तियों को जान लेने के पश्चात् तथा राज्यों की आय की सामान्य प्रवृत्तियों का ज्ञान प्राप्त कर लेने के पश्चात् हम इस स्थिति में हैं कि राज्य सरकारों की कर-प्रणाली सम्बन्धी मुख्य-मुख्य बातों का उल्लेख कर सकें। हम अगले पृष्ठों में इसी का विश्लेषण करने जा रहे हैं।

पिछले वर्षों में भारत के राज्यों की वित्तीय व्यवस्था की मुख्य विशेषता [illegible] रही है कि आय के स्रोत अपर्याप्त एवं लोचहीन थे तथा सामाजिक सेवाओं पर [illegible] व्यक्ति व्यय अनुचित रूप से कम था। यद्यपि राज्यों के बजट अधिकतर 'आधिक्य [illegible] (Surplus Budgets) होते थे, किन्तु अधिक व्यय प्रशासन, शान्ति-व्यवस्था प[illegible] होता था। सामाजिक सेवाओं, शिक्षा, स्वास्थ्य आदि पर बहुत ही कम खर्च होता था और आवश्यक सेवाओं पर बिल्कुल भी व्यय नहीं होता था। हाल ही के वर्षों में स्थिति में पूर्ण परिवर्तन हो गया है। बिक्री तथा आय-कर लागू होने से, केन्द्रीय आय में से अधिक भाग प्राप्त होने से और केन्द्रीय सरकारों से ऋण तथा अनुदानों

1, See chapter on '*Public Expenditure in India*'.

की अधिकाधिक प्राप्ति से, अब राज्य सरकारों की आय के स्रोत पहले से अधिक लोचपूर्ण हो गये हैं। किन्तु अब भी उनकी आय पर्याप्त नहीं है क्योंकि राष्ट्रीय निर्माण सम्बन्धी कार्यक्रम का पूरा भार उन्हीं पर है। यही कारण है कि हमारे देश में राष्ट्रीय निर्माण सेवायें उतनी मात्रा में उपलब्ध नहीं हो रही हैं, जितनी मात्रा में होनी चाहिये। राज्य सरकारों की, संघ सरकार की भाँति, कर-आय में पिछले वर्षों में काफी वृद्धि हुई है। राज्यों की कुल कर-आय सन् १९५१-५२ में २८१·५ करोड़ रु० थी, जो सन् १९५६-५७ में ३६६·७३ करोड़ रु०, सन् १९६१-६२ में ६६२·५८ करोड़ रु० और सन् १९६४-६५ में ९८३·७३ करोड़ रु० हो गई थी। इस प्रकार पिछले बारह वर्षों में राज्यों की कर-आय में २५०% की वृद्धि हुई है। यह ध्यान रहे कि इन राशियों में वे राशियाँ भी सम्मिलित हैं जो राज्यों को जायदाद-कर, आय-कर तथा संघ उत्पादन कर की प्राप्तियों में से हिस्सों के रूप में संघ सरकार द्वारा प्राप्त होती हैं। इनकी राशि सन् १९५१-५२ में ५३·३५ करोड़ रु० थी, जो बढ़ कर सन् १९५६-५७ में ७२·२९ करोड़, सन् १९६१-६२ में १७८·९१ करोड़ और सन् १९६४-६५ में २६१·८५ करोड़ रु० हो गई थी। कुल कर-आय में इनका प्रतिशत क्रमशः १९, २०, २७ और २७ था।

राज्य सरकारों के करों में सबसे अधिक महत्वपूर्ण बिक्री-कर है। सबसे अधिक आय इसी कर से प्राप्त हो रही थी। सन् १९५१-५२ में बिक्री-कर से ५८·९३ करोड़ रु० प्राप्त होते थे। यह राशि बढ़कर सन् १९५६-५७ में ७९·३६ करोड़ रु०, सन् १९६१-६२ में १८१·४४ करोड़ रु० और सन् १९६४-६५ में २९७·५१ करोड़ रु० हो गई थी। कुल कर-आय बिक्री-कर द्वारा प्राप्त आय के प्रतिशत में भी निरन्तर वृद्धि हुई है। यह प्रतिशत उपर्युक्त वर्षों में क्रमशः २१, २२, २७ और ३० था। मालगुजारी तथा आबकारी-कर का दूसरा और तीसरा स्थान है। मालगुजारी से उपर्युक्त वर्षों में क्रमशः ४७·९९ करोड़ रु०, ९२·६६ करोड़ रु०, ९५·२३ करोड़ रु० और ११३·५१ करोड़ रु० की आय प्राप्त हुई थी। आबकारी-कर से इन्हीं वर्षों में क्रमशः ४९·४१ करोड़ रु०, ५२·७६ करोड़ रु०, ५८·५८ करोड़ रु० और ७९·३७ करोड़ रु० प्राप्त हुए थे। इन करों से प्राप्त होने वाली आय में बहुत थोड़ी ही वृद्धि हुई है। इसका मुख्य कारण यह है कि एक तो सरकार ने जमींदारी का उन्मूलन कर दिया और दूसरे मदिरा निषेध की नीति लागू कर दी। कृषि आयकर, [illegible] तथा पंजीकरण (Stamps and Registration), मनोरंजन-कर (Entertainment Tax), विद्युत-शुल्क (Electricity duties) आदि से प्राप्त होने वाली आय में वृद्धि तो अवश्य हुई है किन्तु यह सराहनीय नहीं है। निम्न तालिका से राज्यों की कर-आय का पिछले कुछ वर्षों में ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है :—

राज्य सरकारों की कर-आय

(करोड़ रु० में)

	१९५६–५७	१९६१–६२	१९६३–६४	१९६४–६५	१९६५–६६
आय पर कर	५९·३३	१०४·२६	१२७·५	१३४·६०	१३३·५४
(१) आय कर का भार	५३·५१	९४·३७	१७७·९	१२३·०७	१२२·९५
(२) कृषि आय कर	५·७३	९·४४	९·६	१०·७५	९·८३
(३) व्यवसाय कर	·०९	·४५	—	·७८	०·७६
सम्पत्ति तथा पूँजी कर	१२६·८८	१४८·७५	१८३·१	१८६·४०	१९१·९१
(१) जायदाद कर	२·३८	३·८९	४·०	५·९१	६·०३
(२) मालगुजारी	९२·६६	९५·२३	११७·५	११३·५१	११६·६७
(३) स्टाम्प तथा तथा रजिट्रेशन	२९·९०	४६·५७	५९·८	६५·२०	६७·२९
(४) शहरी अचल सम्पत्ति कर	१·९४	३·०६	१.८	१·७८	१·९२
वस्तुओं तथा सेवाओं पर कर	१८०:५१	४०९·६८	६०४·४	६६२·७३	२१०·३?
(१) संघ उत्पादन कर का भाग	१७·०४	८०·६५	१३४·४	१३२·८७	१४४·३२
(२) आवकारी कर	४२·७६	५८·५८	६७·०	७९·३७	८१·९८
(?) सामान्य विक्री कर	७०·९६	१६३·१४	२४१·८	२७०·५३	२८७·२७
(४) मोटर स्प्रिट पर कर	८·७३	१८·३०	२०·१	२६·९८	२८·२७
(५) मनोरंजन कर	६·५३	१५·१०	२१·३	२३·३४	२४·६०
(६) विजली कर	५·८१	१४·८९	२६·१	३१·८०	३३·९८
(७) मोटर गाड़ी कर	१४·९८	३७.९३	५३·१	५७·९७	६०·८६
(८) अन्य कर	१४·०१	२०·९९	३४·५	३९·८७	४९.०१
कुल कर आय	३९९·७३	६६२·५८	९१५·००	९८३·७३	१०३५·७६

उपर्युक्त तालिका से उन सभी तथ्यों की पुष्टि हो जाती है जिनका विवरण हमने पीछे किया है। यह भी स्पष्ट ही है कि भविष्य में राज्य सरकारों की आय का मुख्य स्रोत बिक्री कर ही रहेगा क्योंकि अन्य स्रोत तो बेलोच ही प्रतीत होते हैं। तीसरी योजना काल में राज्यों को ६१० करोड़ रु० के अतिरिक्त कर साधनों की व्यवस्था करनी थी। अब तक जो प्रयत्न किये गए हैं उनसे अनुमान है कि योजना काल में ५२० करोड़ रु० ही एकत्रित हो पायेंगे। इधर सुरक्षा सम्बन्धी व्यवस्था पर भी अधिक व्यय करना पड़ेगा। इसलिए राज्यों को आवकारी कर तथा कृषि आय-कर को ही उपयोग करना होगा। इसके लिए यह तो ठीक नहीं रहेगा कि मद्य-निषेध को पूर्णतया समाप्त कर दिया जाय। हाँ, इतना अवश्य ही करना पड़ेगा कि सीमित

मद्य-निषेध पर ही जोर दिया जाये और इसके प्रशासन को मितव्ययी बनाया जाये, जो दूसरे, कृषि आय-कर में कर जाँच आयोग द्वारा दिये गये सुझावों के अनुसार परिवर्तन करने होंगे। प्रत्येक राज्य में ही इसको लागू करना होगा। भूमि पर अधिभार लगाने का सुझाव भी वर्तमान परिस्थितियों में उत्तम प्रतीत होता है। इसी प्रकार समुन्नति करों (betterment levy) का भी प्रयोग किया जा सकता है, विशेषकर उन क्षेत्रों में जहाँ पर सरकारी प्रयोजनाओं से भूमि में सुधार हो गया है। किन्तु राजनैतिक कारणों से यह असम्भव ही प्रतीत होता है कि सरकार इन सबका प्रयोग करेगी। वास्तव में राज्यों को संघ सरकार पर अपनी निर्भरता को कम करने के लिए प्रयत्न करने ही पड़ेंगे और अपनी आय के नये-नये स्रोतों को ढूंढ़ निकालना होगा अन्यथा देश के भावी विकास को क्षति पहुँचने की सम्भावना है।

—:o:—

अध्याय २५

स्थानीय सरकारों की वित्त-व्यवस्था

(FINANCES OF THE LOCAL GOVERNMENTS)

प्राक्कथन—

स्थानीय वित्त के अन्तर्गत हम स्थानीय संस्थाओं (local bodies) की वित्तीय समस्याओं अर्थात् आय तथा व्यय के साधनों से सम्बन्धित समस्याओं का अध्ययन करते हैं। एक संघीय शासन प्रणाली में स्थानीय संस्थाओं का तीसरा स्थान है। जिस प्रकार संघ सरकार और राज्य सरकारों में साधनों के वितरण के सम्बन्ध में बहुत सी समस्यायें उत्पन्न होती हैं, उसी प्रकार राज्य सरकारों और स्थानीय सरकारों के बीच आय के स्रोतों के बँटवारे के सम्बन्ध में भी अनेकों कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं, जिनकी प्रकृति लगभग समान ही होती है। स्थानीय सरकारों की वित्तीय समस्यायें भी लगभग वैसी ही होती हैं जैसी संघ तथा राज्य सरकारों की होती हैं, केवल अन्तर इतना होता है कि उनका आकार और तीव्रता संघ तथा राज्य सरकारों की समस्याओं से कम होते हैं और यह कुछ अंश तक उचित भी है, क्योंकि इनके कार्यों का आकार भी तो सीमित होता है। स्थानीय सरकारें, संघीय शासन प्रणाली की अन्तिम श्रृंखला होती हैं। वास्तव में इनकी समस्यायें बहुत अधिक होती हैं, क्योंकि उन्हें सदैव ही नागरिकों के निकट सम्पर्क में रहना होता है। इसमें तो सन्देह नहीं कि संघ तथा राज्य सरकारों की अपेक्षा इन्हें अधिक जनसंख्या के लिए तथा एक बड़े क्षेत्र में कार्य करना नहीं होता, परन्तु यह भी सच है कि स्थानीय सरकारों के कार्य अधिक महत्वपूर्ण इसलिए कहे जा सकते हैं क्योंकि यह नागरिकों को अधिकतर प्रत्यक्ष सेवायें प्रदान करती हैं, ये उनकी कार्यक्षमता को बढ़ाने वाली स्वास्थ्य तथा शिक्षा-सम्बन्धी सेवायें प्रस्तुत करती हैं और साधारण जनता को नागरिकता में शिक्षा प्रदान करती हैं। इस प्रकार ये संघीय प्रशासन तथा राज्य प्रशासन के लिए सच्चे नागरिकों को जन्म देती हैं, और इसलिए इन्हें यदि संघीय प्रशासन व्यवस्था की पहली सीढ़ी तथा आधार माना जाये तो अनुचित न होगा। खैर, इस वाद-विवाद को यहीं छोड़िये, क्योंकि यह हमारे अध्ययन का विषय नहीं है। हमारा सम्बन्ध तो केवल स्थानीय सरकारों की वित्तीय

समस्याओं के अध्ययन से है। हां, उपर्युक्त वाद-विवाद की गहराई में अधिक न जाकर केवल इतना अपने काम के लिए अवश्य ले सकते हैं कि क्योंकि स्थानीय संस्था संघीय प्रशासन व्यवस्था की आधारभूत संस्था है, इसलिये संघीय वित्त-व्यवस्था में इनकी वित्तीय-व्यवस्था को प्राथमिक महत्व मिलना चाहिये और जैसा कि अधिकतर दूसरे देशों में है, ऐसा न होकर, आय के स्रोतों का वँटवारा होते समय इनको भी उचित स्थान दिया जाये, अर्थात् आय के कुल स्रोतों को केवल संघ तथा राज्य सरकारों में ही नहीं वरन् तीनों सरकारों में एक साथ बाँटा जाये। दूसरे शब्दों में, स्थानीय सरकारों को वही स्थान प्रदान किया जाए, जो राज्य सरकारों को दिया जाता है। स्थानीय सरकारों को राज्य सरकारों की दया पर छोड़ देना न्यायोचित नहीं है, जैसी कि प्रथा प्रचलित है, वरन् संघीय आय में स्रोतों का बँटवारा इस प्रकार किया जाये कि स्थानीय सरकारें भी अपने क्षेत्र में स्वावलम्बी हों।

हाँ, तो हम स्थानीय संस्थाओं की वित्तीय समस्याओं की प्रकृति के सम्बन्ध में कह रहे थे, कि वे पूर्णतया ऐसी ही हैं जैसे कि राष्ट्रीय वित्तीय समस्यायें होती हैं और इसीलिए स्थानीय वित्त का उद्देश्य भी वही है जो अन्य सरकारों के लिए होता है, अर्थात् अधिकतम सामाजिक कल्याण। कुछ अर्थशास्त्री स्थानीय तथा राष्ट्रीय वित्त में भेद करते हैं। उनके अनुसार जबकि राष्ट्रीय वित्त में कर-भार की मात्रा कर-दान योग्यता के अनुसार निश्चित की जाती है, स्थानीय वित्त में यह सेवाओं के मूल्य या सेवाओं से प्राप्त होने वाले लाभ के अनुसार या 'जैसे को तैसा' के सिद्धान्त के अनुसार निश्चित की जाती है। परन्तु वास्तव में यह केवल एक भ्रम है। यह गड़बड़ी केवल इसी कारण उत्पन्न होती है कि स्थानीय सरकारों का कार्य-क्षेत्र या प्रशासन केन्द्र इतना संकीर्ण होता है कि करदाता को भुगतान किये गए कर से प्राप्त होने वाला लाभ तुरन्त ही दिखाई दे जाता है, उदाहरणार्थ, करदाता, जो गृह-कर या पानी कर देता है तो प्रत्येक दिन वह देखता है कि सुबह सड़क व नालियों की सफाई हो रही है और रात को गली तथा बाजारों में अंधेरा होते ही रोशनी हो जाती है। इसी को देखकर करदाता को यह गलत अनुमान हो जाता है कि जो कर वह दे रहा है उसका लाभ उसे तुरन्त ही मिल जाता है या वह कर उन सेवाओं के बदले में दे रहा है जो उसे प्रतिदिन प्रदान की जाती हैं। परन्तु यह धारणा इसलिए सही नहीं है, क्योंकि नगरपालिका सड़क या नाली की सफ़ाई करने का मूल्य, गृह-कर या पानी-कर के रूप में प्रत्येक करदाता के मकान के सामने सड़क की लम्बाई या मकान के साथ-साथ चलने वाली नाली की लंबाई, या मकान से फैंके गये कूड़े के वजन के अनुसार निश्चित नहीं करती वरन् कर की मात्रा सम्पत्ति के मूल्यानुसार निर्धारित होती है। जितनी अधिक मूल्य वाली संपत्ति होती है उतना ही कर भी अधिक होता है और इस प्रकार कर का आधार करदान योग्यता ही है। यदि हम स्थानीय संस्थाओं के व्यय की ओर ध्यान दें तो भी ज्ञात होगा कि राष्ट्रीय व्यय और स्थानीय व्यय में कोई भेद नहीं है। ये संस्थायें

भी अपने व्यय द्वारा निर्धनों को ही अधिक लाभ प्रदान करती हैं, क्योंकि ये उन स्थानों की सफाई अधिक कराती हैं जहाँ गरीव व्यक्ति रहते हैं, ये गरीवों की वस्तियों में अपने कर्मचारियों द्वारा वच्चों को टीका लगवाती हैं तथा दवाइयां वँटवाती हैं। सच तो यह है, जैसा कैनन ने भी कहा है, कि स्थानीय (local) शब्द सापेक्षिक है। देश की सीमाओं में संघ सरकार द्वारा लगाया हुआ कर स्थानीय-कर है, राज्य की सीमाओं में लगा हुआ कर भी स्थानीय होगा। अतः राष्ट्रीय तथा स्थानीय वित्त में केवल नाम-मात्र का ही अन्तर है, कोई मौलिक भेद नहीं है।

स्थानीय वित्त के सिद्धान्त—व्यवहार में अधिकतर स्थानीय सरकारें राज्य सरकारों की दया पर निर्भर करती हैं, इसलिए यह आवश्यक है कि राज्य तथा स्थानीय सरकारों की वित्तीय व्यवस्था, उनकी आय तथा व्यय में समचय होना चाहिए। हम आगे देखेंगे कि स्वतन्त्र करों, अपर्याप्त साधनों तथा बढ़ते हुए कार्यों के साथ-साथ स्थानीय वित्त अकुशल तथा अपव्ययी होता गया है। स्थानीय वित्त की अकुशलता तथा अपव्ययिता को दूर करने के लिये यह नितान्त आवश्यक है कि एक तो स्थानीय सरकारों की आय के स्रोतों को वढ़ाया जाय और दूसरे स्थानीय तथा राज्य सरकारों के स्रोतों में समचय स्थापित किया जाय। इसका वर्णन हम विस्तार में वाद में करेंगे। यहाँ पर हम केवल स्थानीय वित्त के सिद्धान्तों का ही उल्लेख करेंगे। स्थानीय वित्त के वास्तविक सिद्धान्तों पर आने से पहले, यह आवश्यक है कि कण्टकारक (Onerous) तथा उपयोगी (Beneficial) सेवाओं के भेद को स्पष्ट कर दिया जाय, क्योंकि यह भेद आगे चलकर बहुत लाभप्रद होगा। इंगलैंड के स्थानीय करारोपण पर शाही आयोग (The Royal Commission on Local Taxation) ने १९०१ में इस भेद को स्पष्ट करते हुए वताया था कि सेवायें जो अपने चरित्र से मुख्यतया राष्ट्रीय हैं और साधारणतया करदाता को भारी होती हैं, उन्हें कण्टकारक सेवायें कहते हैं, और वह सेवायें जो अपने चरित्र से मुख्यतया स्थानीय हैं, जो कर दाता को प्रत्यक्ष तया अद्भुत लाभ पहुँचाती हैं, लगभग कर-भार की क्षतिपूर्ति करते हुए, वे उपयोगी हैं।[1] आयोग ने यह स्पष्ट कर दिया था कि यह भेद कोई निश्चित नहीं है और न इसके आधार पर सेवाओं को विभिन्न वर्गों में विभाजित ही किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में आयोग ने यह सिद्ध किया है कि लाभ का सिद्धान्त स्थानीय वित्त में भी लागू होता है। इसी प्रकार प्रो० कैनन[2] ने भी कण्टकारक तथा उपयोगी सेवाओं के वीच भेद, स्थानीय व्यय जो लाभ व्यक्तियों को प्रदान करता है उसके आधार पर, किया है। उनके अनुसार यदि किसी व्यय से करदाता को कर के भार से भी अधिक लाभ प्राप्त होता है तो ऐसी सेवा को लाभकारक या उपयोगी सेवा कहेंगे, और यदि ऐसा नहीं होता तो उसी सेवा को कण्टकारक कहेंगे। उनका अभिप्राय यह है कि यदि किसी सेवा से अचल सम्पत्ति के मूल्य में इतनी वृद्धि हो जाती है कि कर की वढ़ी हुई दरों की भी क्षतिपूर्ति हो जाती है तो वह सेवा लाभकारक

1. B. R. Misra : *Indian Federal Finance*, p. 18.
2. *Ibid.*, p. 19.

होगी और यदि बढ़ी हुई दरों से जो व्यय किया जाय उससे सम्पत्ति का मूल्य कम हो जाता है तो वही सेवा या व्यय कष्टकारक होगा। अतः कैनन भी स्थानीय वित्त में लाभ के सिद्धान्त को ही उपयुक्त मानते हैं।

स्थानीय वित्त-सम्बन्धी सिद्धान्तों की विवेचना करते हुए प्रो० मिश्रा[3] ने लिखा है कि स्थानीय-सेवाओं को कष्टकारक या उपयोगी में बाँटने से दो महत्त्वपूर्ण समस्यायें उत्पन्न होती हैं, जो राज्य तथा स्थानीय सरकारों के वित्तीय सम्बन्धों को निश्चित करने के लिए महत्त्वपूर्ण हैं। यह समस्यायें हैं (अ) स्थानीय करों की न्यायशीलता या समानता और (ब) स्थानीय सेवाओं का वित्तीय प्रबन्ध। प्रो० मिश्रा का विचार है कि स्थानीय वित्त और राष्ट्रीय वित्त में केवल इतना अन्तर है कि पहले में कर राशि और उससे प्राप्त होने वाले प्रत्यक्ष लाभों के बीच सम्बन्ध स्थापित करना सरल होता है और दूसरे में नहीं होता, यद्यपि हर कर की आय को उपभोक्ता पर ही खर्च किया जाता है। कुछ स्थानीय कर तो विशेष स्थानों के रहने वालों पर विशेष सुविधाओं के बदले लगाये जाते हैं। इनका मत है कि लाभ सिद्धान्त, योग्यता सिद्धान्त की अपेक्षा, स्थानीय वित्त में अधिक लागू होता है, जबकि राष्ट्रीय वित्त में योग्यता सिद्धान्त अधिक लागू होता है, किन्तु एक न्यायपूर्ण कर-प्रणाली में दोनों ही सिद्धान्तों को एक-दूसरे का पूरक होना चाहिये।[4]

प्रो० कैनन ने स्थानीय वित्त के सिद्धान्त निम्न प्रकार बताये हैं[5] :—

(अ) स्थान-विशेष के प्रत्येक व्यक्ति को अपनी योग्यतानुसार अंशदान देना चाहिये; और

(ब) हर व्यक्ति को, जो स्थानीय करारोपण से प्रत्यक्ष लाभ प्राप्त करता है उसके अनुपात में अंशदान देना चाहिये।

हम योग्यता तथा लाभ सिद्धान्त सम्बन्धी वाद-विवाद का स्पष्टीकरण काफी कर चुके हैं।[6] हम बता चुके हैं कि जब कि ऊपर से देखने पर यह दोनों सिद्धान्त अच्छे तथा ठीक मालूम पड़ते हैं, इन्हें व्यावहारिक रूप प्रदान करना सरल नहीं होता क्योंकि न तो प्रत्येक व्यक्ति की करदान योग्यता ही और न कर से प्राप्त होने वाले व्यक्तिगत लाभों को ही निश्चित किया जा सकता है। केवल सम्पत्ति ही एक ऐसी वस्तु है जिसको सभी ने स्थानीय करारोपण में योग्यता का आधार स्वीकार किया है। किन्तु कुछ सेवायें ऐसी हैं जिनके लाभ को मालूम ही नहीं किया जा सकता, जैसे गली तथा सड़कों पर रोशनी का प्रबन्ध करना, सड़कें बनवाना, पानी का प्रबन्ध करना, नालियों की उचित व्यवस्था करना, नगर सुधार, पुलों आदि का प्रबन्ध करना, ऐसी सेवायें हैं जिनका मूल्य व्यक्तिगत करदाता को प्राप्त होने वाले लाभों के अनुपात में निश्चित करना चाहिए परन्तु क्या इन सेवाओं के व्यक्तिगत लाभों को निश्चित करना सम्भव होगा? इसीलिये नगर पालिकायें पूंजी के वार्षिक मूल्य पर कर लगाकर इन सेवाओं की लागतों को पूरा करने के लिए धन प्राप्त करती है। कुछ सेवायें

3. *Ibid.*, p. 19-20
4. *Ibid.*, p. 20
5. *Ibid.*, p. 20.
6. See Chapter 9

ऐसी अवश्य होती हैं जिनके लाभों को प्रत्यक्ष रूप से नापा जा सकता है और उसी के अनुसार व्यक्तियों से उनका मूल्य भी लिया जाता है, जैसे कहीं-कहीं पर पानी की पूर्ति करने का मूल्य नगरपालिकाएँ मीटर लगाकर उपयोग की गई पानी की मात्रा के अनुसार व्यक्तियों से वसूल करती हैं। यदि पानी के लिए शुल्क की दर का निर्धारण भी सम्पत्ति के मूल्यानुसार हो तो यह शुल्क प्रगतिशील हो जायेगा, क्योंकि छोटी सम्पत्ति वालों को भुगतान कम करना होगा, जबकि वह पानी का उपभोग अधिक मात्रा में करेंगे।

साधारणतया इन सिद्धान्तों को एक साथ एक ही कर के सम्बन्ध में लागू करना सम्भव नहीं है, क्योंकि दोनों सिद्धान्त एक दूसरे के विपरीत हैं। इसलिए हम अपने पिछले निष्कर्ष पर ही टिकते हैं जो हमने इस अध्याय के आरम्भ में निकाला था। परन्तु यहाँ एक और बात की ओर ध्यान देना आवश्यक है। स्थानीय अधिकारियों को जनोपयोगी सेवाओं की दर किस सिद्धान्त के आधार पर निर्धारित करनी चाहिये? ऐसी सेवाओं की लागतें दो प्रकार की होती हैं—सीमान्त लागतें और स्थायी लागतें। सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से तो प्रत्येक व्यक्ति को सेवा का मूल्य सेवा की सीमान्त लागत के अनुसार देना चाहिये, क्योंकि स्थायी लागतों को निश्चित करना सरल नहीं होता। इस कठिनाई से बचने के लिए बहुधा यह कहा गया है कि स्थायी लागतों को सामान्य आय में से पूरा किया जाये। किन्तु ऐसा करना पूर्णतया अन्यायपूर्ण होगा, क्योंकि सामान्य आय में से स्थायी लागतों को पूरा करने का अभिप्राय यह होगा कि उसका भार प्रत्येक व्यक्ति पर पड़ेगा और अप्रत्यक्ष रूप से उन व्यक्तियों की भी सेवा का मूल्य देना पड़ेगा जो उस सेवा का उपयोग नहीं कर रहे हैं। इसलिए प्रो० मिश्रा[7] का प्रस्ताव है कि सेवाओं का उपयोग करने वालों को इन स्थायी लागतों का भुगतान सेवा के उपयोग के अनुपात में करना चाहिए, अर्थात् प्रत्येक उपभोक्ता को सीमान्त लागत का भुगतान करना चाहिए और जो सेवा की अधिक मात्रा का उपभोग करें उनको स्थायी लागतों का अधिक भाग देना चाहिए अपेक्षाकृत उन व्यक्तियों के जो कम मात्रा का उपभोग करें।

कष्टकारक सेवायें केवल स्थान-विशेष को ही नहीं वरन् पूरे देश को ही लाभ पहुँचाती हैं यद्यपि उनका लाभ उन व्यक्तियों को पहुँचता है जो उसका मूल्य कुछ भी नहीं देते, जैसे निर्धन व्यक्तियों के बच्चों को निःशुल्क शिक्षा और इसका व्यय उन व्यक्तियों को पूरा करना होता है जो धनी होते हैं या जिनकी सम्पत्ति होती है, जिनको कोई भी प्रत्यक्ष लाभ नहीं होता। स्पष्टतया यह न्यायोचित नहीं है। स्थानीय करारोपण को न्यायसंगत बनाने के लिए ऐसी सेवाओं का व्यय राज्य सरकारों तथा स्थानीय अधिकारियों को मिल कर पूरा करना चाहिए। इसका एक अच्छा परिणाम यह होगा कि स्थानीय भारों को राज्यकोषों द्वारा पूरा करके व्यक्तियों तथा विभिन्न स्थानों में उचित रूप से बाँटा जा सकता है।[8]

---

7. *Ibid.*, p. 21.
8. *Ibid.*, p. 22.

भारत में स्थानीय वित्त—

स्थानीय संस्थाओं का इतिहास—प्रारम्भिक हिन्दू काल में भी भारत में स्थानीय संस्थाएँ स्थापित थीं, यद्यपि इनका रूप भिन्न था। उस समय गांव स्वावलम्बी और स्वतन्त्र थे और उनकी देखभाल तथा प्रशासन पंचायतों द्वारा होता था, जो फौजदारी, तथा माल के मुकदमों को भी तय करती थीं। आज की नगरपालिकाओं की भाँति उस समय नगरों के प्रशासन के लिए भी पंचायतें थीं, जिन्हें श्रेनी (*Srenis*) कहते थे। मुसलिम काल में, शहरों का प्रबन्ध शहर कोतवाल के हाथ में था। ग्रामीण शासन-व्यवस्था में किसी प्रकार के भी परिवर्तन नहीं हुए और उनका प्रबन्ध ग्राम पंचायतों द्वारा ही होता रहा। अंग्रेजी शासन काल के प्रारम्भिक वर्षों में हमारे देश में स्थानीय संस्थाएँ पूर्णरूप से समाप्त कर दी गई थीं, क्योंकि ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने केन्द्रित प्रशासन की नीति अपनाई थी। परन्तु शीघ्र ही नगरपालिकायें स्थापित हुईं, किन्तु ग्राम पंचायतें तो समाप्त हो ही गईं।

इन संस्थाओं को कर लगाने का अधिकार सर्वप्रथम सन् १७९३ के ऐक्ट के आधीन प्राप्त हुआ था। सन् १८४२ के ऐक्ट के आधीन नगरपालिकाओं को कुछ और कर लगाने के अधिकार सौंपे गये, जो अधिकतर प्रत्यक्ष कर थे। परोक्ष करों के लगाने की व्यवस्था केवल सन् १८५० के ऐक्ट से ही हो सकी और आज तक इन करों की संख्या में निरन्तर वृद्धि होती रही है।

सन् १९१९ में स्थानीय संस्थाओं के राज्यों को हस्तान्तरित हो जाने से देश में ग्राम पंचायतों के संगठन के प्रश्न ने एक बार फिर जोर पकड़ा और विभिन्न प्रान्तों में इस सम्बन्ध में नियम बनने आरम्भ हुए। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद तो ऐसे नियम बनाने की चेष्टा की गई है जिनसे स्थानीय संस्थाओं का विकास हो सके और वे स्थानीय स्वशासन की प्रभावशाली इकाइयाँ बन सकें। हमारे संविधान में ग्राम पंचायतों को एक महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया गया है। धारा ४१ में इनके विकास को राज्यों की नीति का एक निर्देशक सिद्धान्त (Directive Principle) बनाया गया है और आज ग्राम पंचायतें भारतीय शासन-व्यवस्था की प्रमुख इकाइयाँ हैं।

स्थानीय संस्थाओं के कार्य—स्थानीय संस्थाओं के कार्य भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न प्रकार से निर्धारित किये गए हैं। यद्यपि इनके कार्यों की प्रकृति सभी देशों में एक जैसी है किन्तु इनको निर्धारित करने के लिए अलग-अलग देशों में अलग-अलग सैद्धान्तिक आधार स्वीकार किये गए हैं। जर्मनी में इनके कार्यों को नियमानुसार निर्धारित नहीं किया जाता वरन् यह संस्थायें उन सभी कार्यों को कर सकती हैं, जो कानून द्वारा किसी अन्य सरकार को नहीं दिए गए हैं। अर्थात् यह उन कार्यों को नहीं कर सकतीं जो किसी अन्य सरकार जैसे संघ सरकार, राज्य सरकार या अन्य स्थानीय सरकार द्वारा किये जाते हैं। इंगलैंड में यह संस्थायें केवल उन्हीं कार्यों को कर सकती हैं जो उन्हें कानून द्वारा सौंप दिये गये हैं। रूस में स्थानीय सरकारों के कार्यों

को न तो कानून द्वारा निश्चित किया जाता है और न उनके कार्य-क्षेत्र पर साधारणतया कोई प्रतिबन्ध ही होता है अर्थात् यह संस्थायें सभी प्रकार के कार्य कर सकती हैं। हाँ, इतना अवश्य है कि यदि उच्च अधिकारी जिस कार्य को ठीक नहीं समझते तो उनको उस कार्य के करने से रोक सकते हैं। हमारे देश में स्थानीय संस्थायें इंगलैंड के नमूने पर ही स्थापित की गई हैं और इसलिए इन संस्थाओं के कार्य कानून द्वारा स्पष्ट कर दिये गये हैं। हम स्थानीय संस्थाओं में नगरपालिकाओं, नगर कॉरपोरेशन (Municipal Corporation), जिला बोर्डों तथा ग्राम-पंचायतों के कार्यों का संक्षेप में वर्णन करेंगे।

नगरपालिकाएँ—नगरपालिकाएँ नगरों की व्यवस्था करती हैं और इनके कार्य प्रत्येक स्थान पर लगभग एक से ही हैं। इनके कार्यों को दो भागों में विभाजित किया जाता है—अनिवार्य तथा ऐच्छिक परन्तु यह वर्गीकरण न तो लोकप्रिय ही है और न सर्वव्यापी ही है, केवल अध्ययन की सुगमता के लिए यह वर्गीकरण कर दिया गया है। अनिवार्य कार्य वे हैं जिनको कानूनन नगरपालिकाओं को करना ही पड़ता है और जहां तक ऐच्छिक कार्यों का सम्बन्ध है वे उनकी स्वेच्छा पर निर्भर करते हैं। यह संस्थायें साधारणतया ऐसे कार्य करती हैं जिनसे नागरिकों का जीवन उच्चतम बनता है, उनकी कार्यक्षमता में वृद्धि होती है और नागरिकों को नगर सम्बन्धी आधुनिक सेवायें प्राप्त होती हैं, जैसे शिक्षा, स्वास्थ्य, सफाई तथा सार्वजनिक कार्य इत्यादि। यह समितियाँ नागरिकों के लिए प्रारम्भिक शिक्षा की व्यवस्था अनिवार्य रूप से करती हैं और कहीं-कहीं पर माध्यमिक शिक्षा का भी प्रबन्ध करती हैं और स्कूलों तथा कालिजों को स्थापित करती हैं। कहीं-कहीं पर तो यह राज्य सरकारों की ओर से निःशुल्क तथा अनिवार्य प्रारम्भिक शिक्षा का भी प्रबन्ध करती हैं। इसके अतिरिक्त यह नागरिकों के स्वास्थ्य की भी देख-भाल करती हैं। नगर में गन्दे पानी की नालियों को बनवाने और उनकी सफाई करवाने, नागरिकों के लिए स्वच्छ पानी की व्यवस्था करने, सड़कों की सफाई, बीमारियों की रोक-थाम के लिए गन्दे स्थानों को साफ करवाने तथा टीके आदि की व्यवस्था करने, गन्दी वस्तुओं के विक्रय को रोकने, नागरिकों की चिकित्सा के लिए दवाखानों को स्थापित करने और उनको चालू रखने तथा नागरिकों को छूत की बीमारियों से बचाने आदि का प्रबन्ध करती हैं। सार्वजनिक कार्यों में—सड़कें, पुल, बाजार, नगर सुधार योजनाओं में नगर में रोशनी करने, उनको साफ रखने तथा पानी छिड़कने, बागों तथा पार्कों को बनवाने, पशु-वध घरों को बनवाने, पुस्तकालयों, चित्रघरों तथा अजायबघरों को स्थापित करने, सड़कों के किनारे पेड़ लगाने आदि की व्यवस्था करती हैं। इसके अतिरिक्त यह अप्रिय व्यवसायों, मेलों, तमाशों, नुमायशों आदि को नियन्त्रित करती हैं, पशु-चिकित्सा और आग बुझाने आदि का प्रबन्ध करती हैं।

नगर कॉरपोरेशन—नगरपालिकाओं की भाँति नगर कॉरपोरेशन भी लगभग ऐसे ही कार्य करते हैं; अन्तर केवल इतना है कि यह अधिक शक्तिशाली होते हैं और इनका कार्यक्षेत्र अधिक विस्तृत होता है। इन पर राज्य सरकार का उतना नियन्त्रण

नहीं होता जितना नगरपालिकाओं पर होता है। इनको कर लगाने तथा वसूल करने के अधिकार समितियों की अपेक्षा अधिक प्राप्त होते हैं। भारत में आजकल १२ नगर-कॉरपोरेशन स्थापित हैं।

जिला बोर्ड—जिला बोर्डों को भी नगरपालिकाओं की भांति बहुत से कार्य करने होते हैं, जिनकी प्रकृति लगभग वैसे ही होती है जैसे नगरपालिकाओं के कार्यों की होती है। अन्तर केवल इतना होता है कि यह अपने कार्य ग्रामीण क्षेत्रों में करते हैं। अतः यह संस्थायें ग्रामीण क्षेत्रों में रहने वाले व्यक्तियों की सुरक्षा, स्वास्थ्य, सुविधा तथा उन्नति के लिए व्यवस्था करती हैं। यह नई-नई सड़कों को बनवाने, पुरानी सड़कों की मरम्मत तथा देख-भाल करने, सड़क के किनारे पेड़ लगवाने और उनकी देख-भाल करने, व्यक्तियों के लिए पानी का प्रबन्ध करने तथा उसको सुरक्षित रखने, सिंचाई के लिए नहरों, तालाबों और कुएँ आदि का प्रबन्ध करने, कृषि के लिए पानी का प्रबन्ध करना, अस्पतालों, चिकित्सालयों, पशु अस्पतालों, बाजार, पार्क, प्रारम्भिक शिक्षा सम्बन्धी स्कूलों और पुस्तकालयों, सड़कों की सफाई तथा बीमारियों की रोक-थाम करने, तालाबों, घाटों की व्यवस्था करना, अकाल तथा बाढ़ के समय में निवारण कार्यों की व्यवस्था करना और कृषि की उन्नति तथा विकास के लिए कृषि-नुमायशों तथा आदर्श फार्मों को व्यवस्था करती हैं। विगत वर्षों में राज्य सरकारों के सामाजिक कल्याण तथा विकास-कार्यों में वृद्धि होने से तथा ग्राम पंचायतों के विकास से इन संस्थाओं का महत्व बहुत कम हो गया है और कहीं-कहीं पर तो इनको बिल्कुल बेकार समझा जाने लगा है। उत्तर प्रदेश में तो इन को पूर्णतया समाप्त कर दिया गया है। बंगाल और आसाम राज्यों में चिकित्सा और स्वास्थ्य सम्बन्धी सेवायें और मद्रास में सड़कों के निर्माण का कार्य राज्य सरकारों ने अपने हाथों में ले लिया है। इसी प्रकार अन्य राज्यों में भी जो कार्य जिला बोर्डों द्वारा किए जाते थे वे अब या तो राज्य सरकारों द्वारा या ग्राम पंचायतों द्वारा या विशेष संस्थाओं द्वारा किये जाने लगे हैं।

ग्राम पंचायत—साधारणतया एक गाँव में एक पंचायत स्थापित होती है, यद्यपि कभी-कभी एक ही पंचायत कई ग्रामों की देखभाल कर सकती है। ग्राम पंचायतों की स्थापना भारत में लगभग सभी राज्यों में हो गई है। प्रथम पंचवर्षीय योजना काल में इनकी संख्या ८३,०८७ से बढ़कर १,१७,५९३ हो गई थी और आशा की जाती है कि इनकी संख्या दूसरी योजना काल में २,४४,५६१ हो जायगी। ग्राम पंचायतों को अनेकों कार्य सौंपे जाते हैं और यह आशा की जाती है कि वे न्याय, पुलिस, नागरिकता सम्बन्धी और आर्थिक, सामाजिक सभी कार्य कर सकती हैं। कर जांच आयोग के विचारानुसार ग्राम पंचायतें छोटे-छोटे झगड़ों को तय कर सकती हैं। सड़कों, स्कूलों तथा ग्रामीण चिकित्सालयों का प्रबन्ध कर सकती है, पीने तथा सिंचाई के लिए पानी की पूर्ति की व्यवस्था कर सकती हैं और यहां तक कि खेती, फसल की बिक्री आदि जैसी उत्पादक और आर्थिक क्रियायें भी सम्पन्न कर सकती हैं। परन्तु व्यावहारिक जीवन में पंचायतें साधारणतया यह सारे काम नहीं करतीं।

वे केवल पंचायतघरों तथा कुंओं को बनाने और उनकी देखभाल करने, गाँव की कुछ सड़कें तथा नालियों का प्रबन्ध करने, गाँव में रोशनी करने तथा ऐच्छिक मजदूरों का संगठन करना, कभी-कभी स्कूलों तथा चिकित्सालयों की इमारतों को बनवाना और जन्म-मरण सम्बन्धी आँकड़ों को एकत्रित करने के कार्य करती हैं, परन्तु सभी स्थानों पर ग्राम पंचायतें यह सारे काम नहीं करतीं। अधिकतर वे इनमें से दो या तीन कार्य ही कर सकती हैं। इसलिए आयोग का विचार था कि उनके लिए इतने अधिक कार्य को सौंपने के स्थान पर केवल कुछ महत्वपूर्ण कार्य ही दिये जायें और उनके कार्यक्षेत्र में से वे कार्य निकाल दिये जायें जो सहकारी समितियों द्वारा किये जा सकते हों।

नियोजन आयोग के अनुसार ग्राम पंचायतों को निम्न कार्य करने चाहियें। ये कार्य द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अनुसार हैं और इनका सम्बन्ध देश के आर्थिक विकास से है :—

ग्रामों में उत्पत्ति कार्यक्रमों को निर्मित करना; इन कार्यक्रमों को कार्यान्वित करने के लिए सहकारी-समितियों के सहयोग से वित्त तथा अन्य आवश्यकताओं की सूची तैयार करना ; एक ऐसे माध्यम का कार्य करना जिससे कि अधिक से अधिक मात्रा में सरकारी सहायता ग्रामों को प्राप्त हो सके ; सामान्य भूमियों जैसे जंगल, तालाब, बिना खेती की भूमि आदि को उन्नत करना तथा जमीन के कटाव को रोकना ; सामान्य ग्राम इमारतों, कुंओं, तालावों, सड़कों इत्यादि को बनवाना, मरम्मत करवाना और सुरक्षित रखना, इन सभी क्रियाओं के लिए परस्पर सहायता और सम्मिलित प्रयत्नों का संगठन करना, सहकारी समितियों को प्रोत्साहन देना, सामुदायिक कार्यों के लिए ऐच्छिक श्रम का संगठन करना, अल्प-बचतों को बढ़ावा देना और पशुधन को सुधारना। इन कार्यों के अतिरिक्त पंचायतें कुछ भूमि-सुधार तथा भूमि-व्यवस्था सम्बन्धी कार्य भी सम्पन्न करेंगी जैसे सामान्य भूमियों के उपयोग को नियमित करना, ग्राम समुदाय के लाभ के लिए जो भूमि अलग रख दी गई हों उन पर खेती करना, अपने क्षेत्र में कृषि तथा व्यवस्था के उच्च स्तरों को अपनाना, उस भूमि को निर्धारित करना जिसका वितरण व्यक्तिगत खेती करने के अधिकारों की प्राप्ति के बाद भूमि के मालिकों तथा काश्तकारों के बीच होगा, कृषि भूमियों की अधिकतम सीमा के निर्धारित होने के बाद जो अधिक भूमि बचेगी उसको निर्धारित करना और उस भूमि का पुनर्वितरण करना। इनके अतिरिक्त ग्राम-पंचायतों को कुछ न्याय सम्बन्धी कार्य भी करने होंगे जैसे कृषक मजदूरों के लिए न्यूनतम मजदूरों को लागू करवाना, भूमि-सम्बन्धी साधारण झगड़ों को तय करना तथा अन्य माल तथा फौजदारी के मुकदमों को तय करना।

स्थानीय संस्थाओं की आय के स्रोत—स्थानीय संस्थाओं की आय के मुख्य स्रोत निम्न प्रकार हैं :—

(१) कर, जिसके अन्तर्गत उन करों का भाग भी सम्मिलित है जो राज्य सरकारों द्वारा लगाये जाते हैं और वसूल भी किए जाते हैं।

(२) कर के अतिरिक्त अन्य स्रोत ।

(३) राज्य सरकारों से प्राप्त अनुदान ।

(१) प्रत्येक राज्य में स्थानीय संस्थाओं के लिए कुछ विशेष करों को छोड़ दिया जाता है। यह कर निम्न प्रकार के होते हैं :—

सम्पत्ति पर कर जैसे मकानों और भूमि पर कर तथा भूमि के हस्तान्तरण पर कर, कृषि भूमि उप-कर, बिना कमाई हुई वृद्धि पर और पूंजी के हस्तान्तरण पर लगे हुए कर का अति-शोधन (Surcharge) सम्मिलित है। इसके अतिरिक्त कुछ व्यावसायिक कर जैसे चुंगी, घाटों तथा नाव-पुलों की आय, व्यक्ति कर आदि भी लगाये जाते हैं। स्थानीय संस्थायें एक तीसरी प्रकार का कर भी लगाती हैं जो व्यक्तिगत कर कहलाते हैं, जिनमें व्यवसायों, व्यापारों आदि पर कर, परिस्थितियों और सम्पत्तियों पर कर, यात्रियों पर कर, कम्पनियों पर कर, मोटर यात्रियों पर कर, आदि सम्मिलित हैं। ये संस्थायें कुछ विशेष सेवाओं का शुल्क भी प्राप्त करती हैं जैसे व्यक्तिगत घरों में मेहतर का काम, मोटर तथा गाड़ियों, गायों, बैलों, कुत्तों आदि का लाइसेन्स शुल्क तथा भयानक व्यवसायों को नियन्त्रित करने का लाइसन्स शुल्क।

(२) स्थानीय संस्थाओं को कर के अतिरिक्त कुछ अन्य स्रोतों से भी आय प्राप्त होती है, जैसे :—

भूमि तथा भूमि की उपज की आय, भूमि का लगान तथा मकानों, विश्राम-गृहों तथा डाक-बंगलों आदि का किराया, शिक्षा से आय, चिकित्सालयों से प्राप्त आय; बाजारों, कसाई-घरों आदि की आय, विनियोगों से आय इत्यादि।

(३) स्थानीय संस्थाओं की आय का अन्तिम स्रोत राज्य सरकारों द्वारा दिए गये अनुदान हैं। अब हम भिन्न-भिन्न स्थानीय संस्थाओं के व्यक्तिगत आय के स्रोतों की विवेचना करेंगे :—

नगरपालिकाएँ सम्पत्ति-कर, वस्तु-कर, व्यक्तिगत-कर, तथा गाड़ियों, जानवरों, थियेटर और नुमाइश आदि पर कर लगा कर आय प्राप्त करती हैं। बम्बई, मध्य-प्रदेश और उत्तर-प्रदेश में चुंगी तथा सीमा-करों का, नगरपालिकाओं की आय के स्रोतों में एक प्रमुख स्थान है। पश्चिमी बंगाल, बिहार, केरल, मद्रास तथा आसाम में सम्पत्ति-करों का विशेष महत्व है। नगरपालिकाओं की वित्तीय व्यवस्था का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि इनकी आय के स्रोतों में सामान्य रूप से प्रत्यक्ष करों को बहुत कम महत्व प्रदान किया गया है और ऐसा प्रतीत होता है कि यह प्रत्यक्ष-कर लगाने की ओर से पूर्णतया उदासीन हैं।

नगर कॉरपोरेशनों द्वारा जो कर लगाये जाते हैं वे लगभग वही हैं जो नगर-पालिकाओं द्वारा लगाये जाते हैं। हम पहले भी कह चुके हैं कि कॉरपोरेशन अपने कार्यक्षेत्र में पूर्णतया स्वतन्त्र होते हैं और इसलिए वे बिना राज्य सरकारों की आज्ञा के अपनी इच्छानुसार कर लगा सकते हैं। केवल इनकी अधिकतम और न्यूनतम सीमायें विभिन्न कॉरपोरेशन कानूनों में निर्धारित कर दी जाती हैं फिर भी कॉर-

पोरेशन के करों की सूची में सम्पत्ति-करों का प्रमुख स्थान है।

जिला वोर्डों के कर लगाने की शक्ति अपेक्षाकृत सीमित रहती है। इनका सबसे अधिक महत्वपूर्ण-कर भूमि-कर होता है जो मालगुजारी के अनुसार निर्धारित किया जाता है। इसके अतिरिक्त व्यवसाय-कर, सम्पत्ति तथा परिस्थितियों पर कर, और सम्पत्ति के हस्तान्तरण पर भी कर लगाये जाते हैं। परन्तु ये कर भिन्न-भिन्न राज्यों में भिन्न-भिन्न हैं। ग्राम-पंचायतों के विकास के कारण इन संस्थाओं के कर लगाने का अधिकार तथा क्षेत्र बहुत अंश तक सीमित होते जा रहे हैं।

लगभग प्रत्येक राज्य में ही ग्राम-पंचायतें स्थापित हो चुकी हैं। इनके कर लगाने का अधिकार भिन्न-भिन्न प्रान्तों में भिन्न-भिन्न है। यह सभी राज्यों में सम्पत्ति कर लगाती हैं, अधिकतर राज्यों में व्यवसाय-कर, भूमि-कर, गाड़ियों तथा पशुओं पर कर इत्यादि लगाती हैं और केवल कुछ ही राज्यों में चुंगी, यात्री-कर, वस्तुओं की विक्री पर कर, मेले, त्यौहार, शादियों इत्यादि पर कर लगाती हैं। इन करों के लगाने तथा वन्द करने या दरों को निर्धारित तथा संशोधित करने के लिए राज्य सरकारों से आज्ञा प्राप्त करनी होती है। राज्य सरकारों ने कहीं-कहीं पर उन नियमों की रचना भी कर दी है जिनके अनुसार यह कर लगाये जाते हैं। क्योंकि पंचायतों का विकास अभी हाल ही में हुआ है, इसलिये उन्होंने अपने कर लगाने के अधिकारों का प्रयोग अधिक नहीं किया है। कदाचित् उन्हें व्यक्तियों के विरोध का भी डर है। कर जाँच आयोग के अनुसार तो पंचायतों को उस समय तक कर लगाने ही नहीं चाहियें जब तक कि वह पूर्ण रूप से स्थापित न हो जायें। उस समय तक वे अपना कार्य राज्य सरकारों से प्राप्त अनुदानों से चलायें और तत्पश्चात् वह ऐसे कर लगायें जिनका भार सभी व्यक्तियों पर पड़े। ग्राम पंचायतों ने अभी तक भूमि कर, व्यवसाय-कर, सम्पत्ति-कर तथा जानवरों और गाड़ियों पर ही अधिकतर कर लगाये हैं।

स्थानीय वित्त जाँच समिति (सन् १९५१) की सिफारिशों के अनुसार स्थानीय-संस्थाओं के लिए कुछ आय के स्रोत तो पूर्व निश्चित होने ही चाहियें जैसे रेल, समुद्र तथा हवा के यात्रियों तथा वस्तुओं पर सीमा-कर और भूमि तथा इमारतों, खान उद्योग सम्बन्धी अधिकारों पर कर, एक विशेष स्थानीय क्षेत्र में उपभोग के लिए आने वाली वस्तुओं पर कर, उनकी विक्री पर कर, विजली की विक्री पर कर, समाचार-पत्रों के अतिरिक्त अन्य प्रकार के विज्ञापनों पर कर, उन गाड़ियों पर कर जो मशीन द्वारा संचालित नहीं होतीं, जानवरों, नावों, व्यवसायों तथा व्यापारों, नौकरियों, मनोरंजन आदि पर कर।

कर जाँच आयोग का भी यही विचार था और उनकी सिफारिश थी कि जो कर राज्य सरकारों द्वारा इस समय लगाये जा रहे हैं उन पर से वे अपना अधिकार धीरे-धीरे हटा लें और स्थानीय संस्थाओं को सौंप दें। आयोग का विचार था कि स्थानीय वित्त जाँच समिति द्वारा सिफारिश किए गए सभी कर स्थानीय संस्थाओं के लिए उपयुक्त नहीं होंगे। इनके अनुसार सम्पत्ति के हस्तान्तरण पर कर तो स्थानीय

संस्थाएँ ही लगायें परन्तु राज्य सरकारें उनको स्थानीय संस्थाओं की ओर से एकत्रित करें। इसी प्रकार रेल, समुद्र तथा हवाई यात्रियों तथा वस्तुओं पर जो सीमा-कर लगाये जायें उनको संघ सरकार स्थानीय संस्थाओं की ओर से लगाएँ और वसूल करें बाकी करों को स्थानीय संस्थायें ही लागू करें। आयोग का प्रस्ताव था कि स्थानीय संस्थाओं की कर-व्यवस्था को लोचपूर्ण बनाने के लिए यह आवश्यक है कि राज्य सरकारें करों की अधिकतम तथा न्यूनतम दरें निर्धारित कर दें। ऐसा करने से इनको, जैसी प्रथा प्रचलित है, हर कर लगाने से पहले राज्य सरकार की आज्ञा नहीं लेनी होगी।

जहाँ तक उस आय का सम्बन्ध है, जो स्थानीय संस्थाओं को उन कुछ करों के हिस्से के रूप में प्राप्त होती है जो राज्य सरकारों द्वारा लगाए तथा वसूल किये जाते हैं, उसकी राशि बहुत ही कम होती है। स्थानीय संस्थाओं को मोटरगाड़ी कर के बदले में कुछ मुआवजा प्राप्त होता है। कुछ राज्यों में अभी हाल ही से मालगुजारी में से भी इन संस्थाओं को हिस्सा देना आरम्भ कर दिया गया है और कुछ राज्यों में मनोरंजन कर में से भी कुछ भाग दिया जाता है। कर जाँच आयोग इस प्रकार के बँटवारे के अधिक पक्ष में नहीं था। उनका प्रस्ताव था कि मालगुजारी में से कम से कम १५% भाग ग्राम-पंचायतों को दे दिया जाये।

स्थानीय संस्थाओं को कर के अतिरिक्त अन्य स्रोतों से भी अधिक आय प्राप्त नहीं होती है। कुछ नगरपालिकायें तथा कॉरपोरेशन पानी तथा बिजली की पूर्ति और सड़क यातायात की व्यवस्था कर रही हैं, परन्तु इनकी संख्या बहुत ही कम है। कुछ राज्यों में तो राज्य सरकारों ने स्वयं ही इन सेवाओं को प्रदान करना आरम्भ कर दिया है। कर-जांच आयोग का प्रस्ताव था कि नगरपालिकाओं को विशेष रूप से कॉरपोरेशन को अधिक से अधिक संख्या में इन सेवाओं को अपने हाथ में ले लेना चाहिए।

यद्यपि राज्य सरकारें स्थानीय संस्थाओं को अनुदानों द्वारा सहायता प्रदान करती हैं परन्तु यह आय का एक बड़ा स्रोत नहीं है। यह सहायता मुख्य रूप से विभिन्न योजनाओं की पूँजीगत लागतों के कुछ भाग को पूरा करने के लिए दी जाती हैं जैसे वाटर वर्क्स, नालियों सम्बन्धी योजना, प्रारम्भिक स्कूलों की स्थापना तथा प्रबन्ध, अस्पतालों, शिशु कल्याण केन्द्रों, जन-स्वास्थ्य सम्बन्धी कार्यक्रमों इत्यादि। यह अनुदान अधिकतर कुछ विशेष खर्चों के लिए निश्चित अनुपात में दिये जाते हैं और इसलिये इनका किसी संस्था-विशेष की आवश्यकताओं से कोई विशेष संबंध नहीं होता। स्थानीय वित्त में इन अनुदानों का कितना महत्व है, इसका उल्लेख हम स्थानीय संस्थाओं की समस्याओं का अध्ययन करते समय करेंगे। नगरपालिकाओं तथा कॉरपोरेशन को कुछ बड़ी-बड़ी योजनाओं के लिए ऋण तथा आर्थिक सहायता भी प्राप्त करनी पड़ती है। परन्तु वे अधिकतर अपने प्रयास में सफल नहीं होते। कर जाँच आयोग का सुझाव था कि राज्य सरकारें इन संस्थाओं को ऋण दें और आर्थिक सहायता प्रदान करें।

स्थानीय संस्थाओं की आय के मुख्य-मुख्य स्रोतों की विवेचना—नगरपालिकाओं को कुल आय का लगभग $\frac{2}{3}$ भाग या ६८% करों से प्राप्त होता है। जिला बोर्डों को लगभग $\frac{1}{3}$ भाग या ३२% करों से प्राप्त होता है। हम ऊपर कह चुके हैं कि स्थानीय संस्थाओं की आय के स्रोतों में सम्पत्ति करों का बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है। इसलिए हम सबसे पहले सम्पत्ति करों का उल्लेख करेंगे :—

सम्पत्ति-कर—सम्पत्ति-कर अधिकतर वे कर होते हैं जो अचल सम्पत्ति के क्रय, विक्रय, सुधार आदि पर लगाये जाते हैं। यह कर चार प्रकार के हो सकते हैं, भूमि तथा इमारतों पर कर, बिना कमाई हुई वृद्धि पर कर, सम्पत्ति के हस्तान्तरण पर कर और भूमि तथा कृषि भूमि की उपज पर कर। कर जाँच आयोग ने अनुमान लगाया था कि सन् १९५२–५३ में नगरपालिकाओं को इस कर से ५·२३ करोड़ रुपयों की आय प्राप्त हुई थी। सम्पत्ति-कर, जो भूमि तथा इमारतों पर लगाये जाते हैं, दो प्रकार के हो सकते हैं अर्थात् सामान्य सम्पत्ति-कर तथा सेवा-कर। प्रथम प्रकार के कर सम्पत्ति के वार्षिक मूल्य पर लगाये जाते हैं। परन्तु सम्पत्ति का मूल्य निर्धारित करना सरल नहीं होता इसलिये स्थानीय वित्त जाँच समिति का विचार था कि लगान को ही कर का आधार बनाये रखना चाहिए। हमारे देश में सम्पत्ति कर की दर प्रत्येक भूमि के लिए समान होती है, परन्तु स्थानीय वित्त समिति का प्रस्ताव था कि इस कर को प्रगतिशील बनाया जाए और किसी प्रकार की भी छूट न दी जाए। कर जाँच आयोग इन छूटों के पक्ष में था, क्योंकि उसके अनुसार न्याय की दृष्टि से निर्धन व्यक्तियों की भूमि पर कोई कर नहीं लगाना चाहिए। सेवा करों के अन्तर्गत पानी की पूर्ति, नालियों, गलियों तथा सड़कों की सफाई, शिक्षा, रोशनी आदि का प्रबन्ध करने के लिए जो सम्पत्ति-कर लगाये जाते हैं वे इसके अन्तर्गत आते हैं। इनका निर्धारण भी सम्पत्ति के लगान के अनुसार होता है। सम्पत्ति-करों में सबसे बड़ी कठिनाई दरों के निर्धारित करने के सम्बन्ध में होती है। आयोग के अनुसार अधिकतर नगरपालिकाओं के कर निर्धारित करने के आधार दोषपूर्ण हैं। इसके अतिरिक्त सम्पत्ति पर कई ओर से कर लगाया जाता है। अर्थात् राज्य सरकारें भी कर लगाती हैं और स्थानीय संस्थायें भी, जिससे करदाताओं पर कर का भार बहुत अधिक हो जाता है और दोनों में समचय भी स्थापित नहीं होता है। इसलिए कर जाँच आयोग का सुझाव था कि राज्य सरकारों को सम्पत्ति पर कर नहीं लगाना चाहिए। कभी-कभी नगर-विकास या नगर-सुधार योजनाओं के कार्यान्वित होने से नगर में स्थित भूमि या इमारतों के मूल्य बढ़ जाते हैं। जिन नगरों में नगर-सुधार ट्रस्ट होते हैं वहाँ पर यह ट्रस्ट सम्पत्ति की इस प्रकार मूल्य वृद्धि पर उपकार-कर (Betterment Tax) लगाते हैं और अन्य स्थानों पर नगरपालिकाओं और नगर कॉरपोरेशन को यह कर लगाने का अधिकार प्राप्त होता है। परन्तु इस कर को लगाने में अनेकों प्रकार की कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं जैसे विभिन्न इमारतों तथा सम्पत्तियों में यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि किसको कितना लाभ हुआ है और किसके मूल्य में कितनी वृद्धि हुई है। इसमें मुकदमेबाजी भी काफी होती है।

कर जाँच आयोग का सुझाव है कि अधिकतर इन्हीं करों को लगाया जाए और इन की दर सम्पत्ति की मूल्य वृद्धि की कम से कम आधी होनी चाहिए। कुछ राज्यों में सम्पत्ति के हस्तान्तरण पर भी कर लगाया जाता है। इस कर की दर पूर्वनिश्चित होती है और राज्य सरकारें इसे एकत्रित करती हैं। कर जाँच आयोग के अनुसार यह बहुत ही उपयुक्त कर है और उनकी सिफारिश है कि इसका प्रयोग अन्य राज्यों में भी किया जाय। जिला बोर्डों की आय मुख्य रूप से भूमि करों (Land Cesses) से प्राप्त होती है। कुछ राज्यों में यह भी व्यवस्था की गई है, कि इनकी आय का कुछ भाग पंचायतों को भी दिया जाय और कुछ राज्यों में पंचायतें स्वयं इस कर को लगाती हैं। यह कर मालगुजारी पर अतिरिक्त कर के रूप में लगाया जाता है और स्थानीय सरकारों की ओर से राज्य सरकारें इस कर को मालगुजारी के साथ-साथ वसूल करती हैं। उत्तर-प्रदेश में जमींदार-उन्मूलन से इस कर को मालगुजारी में ही मिला दिया गया था और राज्य सरकार जिला बोर्डों को केवल मुआवजा अनुदान देती थी।

चुंगी तथा सीमा-कर—भारत में बहुत से राज्यों में नगरपालिकाओं की आय का यह मुख्य स्रोत है। यह इतना लाभप्रद है कि ग्राम पंचायतों ने भी इनको लगाना आरम्भ कर दिया है। किसी विशेष क्षेत्र में वस्तुओं या यात्रियों के आने तथा जाने पर सीमा-कर लगाया जाता है और चुङ्गी उन वस्तुओं पर लगाई जाती है जो किसी क्षेत्र में बिक्री या उपभोग के लिए आती हैं या उस क्षेत्र के बाहर जाती हैं। सीमा-कर प्रत्येक परिस्थिति में वस्तुओं के किसी विशेष क्षेत्र में से जाने तथा आने पर लगाया जाता है चाहे उस क्षेत्र में वह वस्तु बिके या न बिके। दूसरी ओर चुंगी केवल वस्तुओं के आने पर लगाई जाती है और यदि वे ही वस्तुयें दुबारा उस क्षेत्र से बाहर भेजी जायें तो चुङ्गी से वसूल की गई राशि को लौटाना पड़ेगा। जिन वस्तुओं या व्यक्तियों का हस्तान्तरण रेलों, समुद्री या हवाई यातायात द्वारा होता है, उन पर संघ सरकार सीमा-कर लगाती है और उनसे प्राप्त हुई राशि को राज्य सरकारों में बाँट देती है। जिन वस्तुओं या यात्रियों का हस्तान्तरण सड़कों या नदियों द्वारा होता है उन पर सीमा-कर राज्य सरकारों द्वारा लगाया जाता है और उपभोग या बिक्री के स्थानीय क्षेत्रों में आने वाली या बाहर जाने वाली वस्तुओं पर भी राज्य सरकारें ही कर लगाती हैं। दोनों ही कर अपने-अपने स्थान पर अच्छे हैं। सीमा-करों में वस्तुओं के क्षेत्र में बाहर जाते समय कर की राशि को वापिस करने का झगड़ा नहीं होता जैसा कि चुंगी में है। वापिसी से वस्तुओं के आने-जाने में केवल देर ही नहीं होती, बल्कि भ्रष्टाचार को भी प्रोत्साहन मिलता है। इन्हीं कारणों से चुंगी से वस्तुओं के स्वतन्त्र प्रवाह में रुकावटें उत्पन्न होती हैं। चुंगी की अपेक्षा सीमा-कर में एक गुण यह भी है कि रेलों से आने-जाने वाली वस्तुओं पर रेलों के भाड़ों के साथ-साथ ही सीमा-कर भी वसूल किया जा सकता है और इस प्रकार एकत्रित की गई राशि को नगरपालिकाओं को दिया जा सकता है। नगरपालिकाओं को यह आय बिना किसी खर्चे के ही प्राप्त हो सकती है। ऐसा होने से न तो

व्यापारियों को ही परेशानी होती है और न कर की चोरी ही होती है। इसके अतिरिक्त एक लाभ यह भी है कि सीमा-कर लगाने के लिए वस्तुओं का वर्गीकरण मनमाने ढंग से करने की आवश्यकता नहीं होती है। वस्तुओं का वही वर्गीकरण अपनाया जा सकता है जो रेलों द्वारा किया जाता है। यह ध्यान रहे कि सड़कों द्वारा वस्तुओं के स्थानान्तरण पर सीमा कर वसूल करने के लिए बिल्कुल ही अलग व्यवस्था करनी होती है। साथ ही यह भी कठिनाई होती है कि यदि स्थानीय सरकारें वस्तुओं पर बहुत ऊँचा सीमा कर लगा देंगी तो व्यक्ति रेलों से अपनी वस्तुओं को भेजना बन्द कर देंगे और इस प्रकार रेलों की आय भी कम हो जायेगी। यही कारण था कि सीमा-करों को संघ सरकार के करों की सूची में सम्मिलित किया गया है। सीमा-करों में एक कठिनाई यह भी है कि सड़क द्वारा दूर स्थानों पर वस्तुओं के जाने में एक ही वस्तु पर कई बार कर लग जाता है। इसके अतिरिक्त इन दोनों ही करों में कर वसूल करने में बहुत अधिक खर्चा होता है तथा व्यापारियों को बहुत सी असुविधायें होती हैं और भ्रष्टाचार भी बढ़ता है। कर जाँच आयोग का विचार था कि चुंगी-कर की व्यवस्था को अधिक सरल बनाया जाय तथा नगरपालिकाओं के लाभ के लिए जहाँ पर उचित हो संघ सरकार और भी कर लागू करे। आयोग ने चुंगी-कर व्यवस्था में निम्न दशाओं में सुधार करने की सिफारिश की है :—

देरी तथा असुविधाओं को रोकने के लिए वस्तुओं पर मूल्यानुसार कर न लगाया जाए बल्कि भार के अनुसार लगाया जाये। चुंगी की आदर्श दरें राज्य सरकारों द्वारा निर्धारित कर दी जायें और उन वस्तुओं पर कर न लगाया जाय जिनमें असुविधा होने की सम्भावना होती है। छोटे कर्मचारियों पर ऊँचे अफसरों द्वारा कड़ा नियन्त्रण रखा जाए ताकि भ्रष्टाचार न बढ़े; खाद्य-पदार्थों पर चुंगी की वर्तमान दरों में वृद्धि के लिए साधारणतया राज्य सरकारों को आज्ञा नहीं देनी चाहिए।

इसमें कोई संदेह नहीं कि ये दोनों कर बहुत उत्पादक हैं किन्तु यह भी सच है कि इनसे आन्तरिक व्यापार को हानि होती है और यह प्रतिगामी होते हैं। चुंगी-करों के बारे में **स्टाम्प** का कहना था कि "इसमें लगभग प्रत्येक बुराई" हैं।[9] कुछ स्थानों पर यात्री-कर भी लगाया जाता है। यह यात्रियों पर सीमा-कर होता है। यह भी रेलों द्वारा लगाया जाता है और रेल के किरायों में ही सम्मिलित कर दिया जाता है। इस कर के लागू करने का मुख्य कारण यह है कि लोगों का विचार है कि क्योंकि स्थानीय संस्थायें बाहर से आने वाले यात्रियों को अनेकों सुविधायें प्रदान करने में बहुत खर्चा करती हैं इसलिए इस खर्चे में कुछ हाथ यात्रियों को भी बटाना चाहिए। कर जाँच आयोग का विचार था कि लम्बे सफर वाले यात्रियों पर भी सीमा-कर बहुत नीची दरों से लगाया जाए।

व्यवसाय तथा पेशों पर कर—आसाम को छोड़कर अन्य राज्यों में यह कर स्थानीय संस्थाओं द्वारा लगाया जाता है। आसाम में इस कर को राज्य सरकार लगाती है। मद्रास, आंध्र और पश्चिमी बंगाल के अतिरिक्त अन्य राज्यों में इस कर

9. B. R. Misra, *Op. cit.*, p. 223.

का कोई विशेष महत्व नहीं है। भिन्न-भिन्न व्यवसायों तथा व्यापारों के लिए कर की दरें भिन्न-भिन्न होती हैं। परन्तु कुछ राज्यों में लगभग समान दरें रखी जाती हैं।

गाड़ियों तथा नावों और पशुओं पर कर—यह कर ग्रामों तथा शहरों में भी स्थानीय सरकारों द्वारा लगाये जाते हैं। बम्बई को छोड़कर अन्य राज्य में मोटरों पर कर राज्य सरकार द्वारा लगाया जाता है, परन्तु बम्बई में यह स्थानीय सरकार लगाती है। जिन राज्यों में यह कर राज्य सरकारें लगाती हैं वहाँ पर वे स्थानीय सरकारों को कुछ मुआवजा देती हैं, क्योंकि मोटर कर की आय दिन-प्रतिदिन बढ़ती ही जा रही है इसलिए कर जाँच आयोग का सुझाव था कि मुआवजे की एक निश्चित राशि के स्थान पर स्थानीय सरकारों को कर की आय का एक निश्चित भाग मिलना चाहिए।

मार्ग शुल्क (Toll Tax)—मार्ग शुल्क भी व्यावसायिक कर-परिवार का एक सदस्य है और यह किसी विशेष क्षेत्र या विशेष स्थानों में आने वाले या वहाँ से गुजरने वाले व्यक्तियों, गाड़ियों तथा जानवरों पर लगाया जाता है। यह कर प्रतिगामी होते हैं क्योंकि इनकी दर गरीबों तथा अमीरों के लिए एक सी ही रहती है। उन्नतिशील देशों में इस कर को समाप्त कर दिया गया है परन्तु भारत में इस का प्रयोग लगभग सभी स्थानीय सरकारें कर रही हैं। कर जाँच आयोग का सुझाव था कि इस कर को एकदम बन्द कर दिया जाय और केवल ५ लाख रुपयों से अधिक लागत के पुलों पर यह कर लगाया जाय और पुल की लागत निकल आने पर इस कर को बन्द कर दिया जाये। स्थानीय सरकारों की आय में जो कमी हो उसको पूरा करने के लिए राज्य सरकारें मोटर कर में से एक भाग स्थानीय सरकारों को दे दें।

स्थानीय संस्थाओं का व्यय—सन् १९४६–४७ के आँकड़ों के आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि नगरपालिकाओं की अपेक्षा जिला बोर्ड अधिक जनसंख्या की सेवा करते हैं। उस वर्ष नगर क्षेत्रों में कुल जनसंख्या २ करोड़ १९ लाख थी। जबकि जिला बोर्डों के क्षेत्र में कुल जनसंख्या २० करोड़ ४५ लाख के लगभग थी। इसलिए दोनों संस्थाओं के व्यय में १० और १ का अनुपात था। स्थानीय सरकारों के व्यय की मदों को तीन बड़े-बड़े भागों में विभाजित किया जा सकता है अर्थात् शिक्षा, चिकित्सा तथा स्वास्थ्य और संवादवाहन। इनमें से प्रत्येक का वर्णन हम निम्न पृष्ठों में करेंगे :—

शिक्षा—हमारे संविधान के अनुसार राज्य सरकारों को संविधान लागू होने के १० वर्षों के अन्दर ही १४ वर्ष से कम आयु वाले बच्चों के लिए निःशुल्क तथा अनिवार्य शिक्षा प्रदान करना है। इस उद्देश्य की ओर अग्रसर होने में स्थानीय सरकार के व्यय में वृद्धि हुई है। उत्तर प्रदेश में सन् १९१९ में प्रारम्भिक शिक्षा ऐक्ट पास हुआ था जिसके अनुसार केवल शहरी क्षेत्रों में अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था की गई थी। सन् १९२६ में जिला बोर्ड प्रारम्भिक शिक्षा ऐक्ट बन जाने के बाद ग्रामीण क्षेत्रों में भी अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था आरम्भ हो गई। इस

समय उत्तर-प्रदेश के ३६ नगरों में लड़कों के लिए अनिवार्य शिक्षा चालू कर दी गई है, और २६ जिला बोर्डों के चुने हुए क्षेत्रों में भी अनिवार्य शिक्षा प्रदान की जा रही है। लड़कियों के लिए अनिवार्य शिक्षा लखनऊ और इटावा के जिला बोर्डों के कुछ चुने हुए क्षेत्रों में तथा मिर्जापुर और मथुरा की नगरपालिकाओं में की गई है। इटावा के जिला बोर्डों को शिक्षा का पूरा व्यय राज्य सरकार देती है जबकि अन्य क्षेत्रों में खर्च का दो-तिहाई भाग राज्य सरकार देती है। पिछले १० वर्षों में कुल व्यय में लगभग ११% की वृद्धि केवल शिक्षा के कारण ही हुई है। परन्तु खेद की बात यह है कि ग्रामीण तथा शहरी क्षेत्रों में अनेकों ऐसे स्थान देखने में आते हैं जहाँ पर छोटे-छोटे लड़कों और लड़कियों के लिए शिक्षा का कोई प्रबन्ध नहीं है। छोटे-छोटे बच्चों को शिक्षा प्राप्त करने के लिए मीलों दूर जाना पड़ता है और फिर भी न तो स्कूलों में उचित शिक्षा ही प्रदान की जाती है और न बच्चों के चरित्र की ही ओर कोई ध्यान दिया जाता है। बात यह है कि इन स्कूलों में शिक्षा की उचित व्यवस्था नहीं है; इनके पास पर्याप्त सामान भी नहीं है और अध्यापकों को इतना कम वेतन दिया जाता है कि उनको अपनी जीविका कमाने के लिये अन्य स्रोतों को खोजना पड़ता है। इसलिये वे बच्चों को पढ़ाने की ओर उचित ध्यान नहीं देते और रुचि भी नहीं दिखाते। यदि देश में अच्छे नागरिकों को जन्म देना है तो यह आवश्यक है कि शिक्षा का उचित प्रबन्ध किया जाय और ऐसे अध्यापक रखे जायें जो उचित शिक्षा प्रदान कर सकें और इन अध्यापकों के वेतन का भी उचित प्रबन्ध होना चाहिये।

चिकित्सा तथा स्वास्थ्य—यह स्थानीय सरकारों का दूसरा महत्वपूर्ण कार्य है। इस कार्य में कई कार्य सम्मिलित हैं जैसे चिकित्सा के लिये अस्पतालों, दवाइयों, डाक्टरों आदि का प्रबन्ध करना और रोग निवारण करने के लिये अन्य उपाय करना, गन्दे पानी की निकासी के लिये नालियों का उचित प्रबन्ध करना, कूड़े के ढेरों को साफ कराना, सड़कों तथा मण्डियों और मेलों के स्थान की सफाई, खाने पीने की वस्तुओं की बिक्री का उचित प्रबन्ध, शहरों तथा गाँव में पानी की व्यवस्था इत्यादि। इस मद पर नगरपालिकाओं का कुल व्यय लगभग ५ करोड़ रुपया था। जिला बोर्डों का व्यय बहुत कम था क्योंकि उन्हें गन्दे पानी की निकासी तथा कूड़े की सफाई, सड़कों की सफाई और पानी की व्यवस्था नहीं करनी होती है। इसलिये इनका कुल व्यय १ करोड़ ७७ लाख रुपयों से कुछ ही अधिक था। जन-साधारण के स्वास्थ्य की जिम्मेदारी भी इन्हीं संस्थाओं पर होती है। यह बीमारियों तथा महामारियों को फैलने से रोकने का काम करती हैं और इस सम्बन्ध में इनको बहुत से काम करने होते हैं जैसे अपने-अपने क्षेत्रों में सफाई रखना, कूड़े और गन्दगी को जमा न होने देना, नालियों, शौचालयों तथा मूत्रालयों की व्यवस्था करना, कब्रिस्तानों तथा श्मशान घाटों की व्यवस्था करना, छूत की बीमारियों को न फैलने देने के लिए टीका आदि का प्रबन्ध करना, अस्पतालों तथा चिकित्सालयों की व्यवस्था करना इत्यादि।

यातायात—स्थानीय संस्थाओं को सड़कों, पुलों, घाटों इत्यादि को बन-

वाना और उनकी भी मरम्मत करवानी होती है तथा सड़कों के किनारे पेड़ भी लगवाने होते हैं। सन् १९४४-४५ में इन सरकारों के अधीन केवल १,६५,८५९ मील लम्बी सड़कें थीं जिनकी देखभाल तथा मरम्मत पर लगभग २८१ लाख रुपया खर्च हो रहा था। उसी वर्ष में सार्वजनिक निर्माण विभाग के अधीन ४१,०३२ मील लम्बी सड़कें थीं जिन पर यह विभाग ४३० लाख रुपया खर्च कर रहा था। अतः स्थानीय सरकारों का सड़कों पर औसत खर्च १६९ रुपया प्रति मील था, जबकि अन्य सड़कों पर यह व्यय १,०४८ रुपया प्रति मील था। स्वाभाविक ही है कि सार्वजनिक निर्माण विभाग द्वारा बनाई गई सड़कें अधिक मजबूत और टिकाऊ होंगी और स्थानीय संस्थाओं द्वारा जिन सड़कों की व्यवस्था हो रही है उनकी स्थिति अवश्य ही शोचनीय होगी इसलिये यदि सड़कों की स्थिति को सुधारना है तो सड़कों की व्यवस्था राज्य सरकार द्वारा ही होनी चाहिए। संवादवाहन के लिये राज्य सरकार स्थानीय सरकारों को दो प्रकार से सहायता देती है, एक तो अपनी आय में से और दूसरे उत्तर-प्रदेश सड़क विकास कोष में से।

स्थानीय संस्थाओं की समस्यायें—

हमारे देश में स्थानीय संस्थाओं को जो कार्य सौंपे गये हैं वे बहुत ही विस्तृत हैं। वास्तव में ग्रामीण तथा शहरी क्षेत्रों के कल्याण तथा उन्नति के लिए इन्हीं संस्थाओं को जिम्मेदार बनाया गया है। परन्तु उनकी आय के साधन बहुत ही सीमित हैं। इनके साधन इतने कम हैं कि कहीं-कहीं पर तो यह संस्थायें अनिवार्य कार्यों तक सम्पन्न करने में असमर्थ रहती हैं। स्थानीय संस्थाओं की आय कम होने के कारण यह अपने कार्यों को इतनी कुशलता से सम्पन्न नहीं कर पा रही हैं जितनी कुशलता से इनको करना चाहिए, और इसलिए इनसे देश को आशातीत लाभ भी प्राप्त नहीं हो रहा है। ऊपर से देखने पर तो इन संस्थाओं की आय और व्यय सम्बन्धी आँकड़े काफी संतोषजनक प्रतीत होते हैं परन्तु यदि प्रति व्यक्ति आय और व्यय का अध्ययन किया जाये तो स्पष्ट हो जाता है कि इनकी दशा अत्यन्त ही शोचनीय है। बात यह है कि प्रारम्भिक काल में जो साधन इनको सौंपे गये वे बेलोच होते हुए भी इनके लिए उस समय पर्याप्त थे क्योंकि उस समय आय की तुलना में इनका व्यय बहुत कम था। परन्तु जैसे-जैसे समय की प्रगति हुई और राजकीय सरकारों का कार्य-क्षेत्र विस्तृत होता गया, इन संस्थाओं का व्यय भी बढ़ता गया। किन्तु इनके व्यय के बढ़ने के साथ-साथ आय में उतनी वृद्धि नहीं हुई। परिणामस्वरूप इन संस्थाओं को बहुत ही बुरा समय देखना पड़ा और इन्होंने नागरिकों को भी बहुत कम सुविधाएँ प्रदान कीं। इसलिए यह संस्थायें अधिक लोकप्रिय नहीं हो पाईं। एक अनुमान के अनुसार नगरपालिकाओं की प्रति व्यक्ति आय केवल ७ रुपये १२ आने १ पाई प्रतिवर्ष थी और जिला बोर्डों की १३ आने २ पाई प्रति व्यक्ति थी। इतनी कम आय होते हुए यह आशा करना, कि ये संस्थायें अपना कार्य कुशलतापूर्वक कर सकेंगी, निराधार है। स्थिति इतनी खराब है कि ८० प्रतिशत

गाँव में प्रारम्भिक स्कूल नहीं हैं, गाँव से शहरों तथा रेलवे स्टेशनों को मिलाने वाली सड़कें नहीं हैं और गाँव में भी जो सड़कें हैं उन पर वर्षा के दिनों में सफर करना सम्भव नहीं होता। गन्दे पानी के निकालने की व्यवस्था नहीं के बराबर है, और मैला तथा कूड़ा-करकट उठवाने का उचित प्रबन्ध नहीं है। विगत वर्षों में इन संस्थाओं के कार्यों की संख्या तो बढ़ती गई है परन्तु इनकी आय के साधन यथास्थिर रहे हैं। परिणामस्वरूप अधिकांश संस्थायें अपने कार्यों को राज्य सरकारों को दे देने पर विवश हो रही हैं। एक ओर तो स्थानीय संस्थायें निराश तथा हतोत्साहित होकर राज्य सरकारों को कार्य सौंपना चाहती हैं और दूसरी ओर यह दृश्य देखने में आता है कि राज्य सरकारें स्थानीय संस्थाओं को नये-नये कार्य सौंपती जा रही हैं। एक यह भी प्रवृत्ति देखने में आती है कि शिक्षा, स्वास्थ्य, यातायात जैसी मुख्य सेवाओं को राज्य सरकारों ने अपने हाथों में ले लिया है। उत्तर-प्रदेश में छूत की बीमारियों के अस्पताल तथा शिक्षा संस्थाओं को सरकार ने अपने हाथ में ले लिया है और सड़कों की रक्षा का कार्य भी सरकार स्वयं ही कर रही है। दूसरी ओर ग्राम पंचायतों को बढ़ावा दिया जा रहा है और उनके कार्यों की संख्या को बढ़ाया जा रहा है। क्योंकि कुछ ऐसा विश्वास है कि पंचायतें प्रजातान्त्रिक राज्य के लिए व्यक्ति को कुशल नागरिक बना सकेंगी। अतः स्थानीय संस्थाओं के वित्तीय संगठन से सम्बन्धित निम्न समस्याओं को सुलझाना परम आवश्यक है :—

(१) स्थानीय संस्थाओं को कार्य सौंपते समय इस बात को ध्यान में रखा जाये कि राज्य सरकारों तथा स्थानीय संस्थाओं के बीच जो साधनों का वितरण हो उसमें और कार्यों के वितरण में किसी प्रकार का भी असंतुलन न रहे।

(२) स्थानीय संस्थाओं के वर्तमान साधनों तथा उनकी आय प्राप्त करने के अधिकारों की विस्तृत जाँच की जाय।

(३) स्थानीय सरकारों तथा राज्य सरकारों के बीच आय के साधनों का समुचित वितरण हो।

(४) स्थानीय संस्थाओं को राज्य सरकारों से प्राप्त होने वाले अनुदानों सम्बन्धी सिद्धान्तों की पूरी जाँच की जाय।

(५) भविष्य में स्थानीय संस्थाओं की आय के साधनों में किस प्रकार वृद्धि हो सकती है और उनकी कार्य-कुशलता में कैसे उन्नति की जा सकती है इन बातों की भी पूरी जाँच की जाय।

हम सभी इस बात से सहमत हैं कि स्थानीय संस्थाओं की आर्थिक दशा बहुत ही खराब है और उनको तुरन्त ही आर्थिक सहायता प्राप्त होनी चाहिए। वास्तव में स्थानीय संस्थाओं के कुशलतापूर्वक काम न कर पाने का प्रमुख कारण यही है कि उनके पास अपने कार्यों को सम्पन्न करने के लिए आवश्यक धन नहीं होता। हम सभी उनकी आलोचना तो करते हैं परन्तु उनकी विवशता की ओर ध्यान नहीं देते। राज्य सरकारों में तो गत वर्षों में कुछ ऐसी प्रवृत्ति उत्पन्न हुई है

कि वह स्थानीय संस्थाओं को आर्थिक सहायता प्रदान करने के स्थान पर उनके प्रबन्ध, अधिकारों तथा कर्त्तव्यों को ही अपने हाथ में ले लेती है। ऐसी नीति न्यायोचित नहीं है। प्रजातांत्रिक प्रशासन के लिए प्रशासन का विकेन्द्रीयकरण बहुत ही आवश्यक होता है और यदि राज्य सरकारें इसी तरह धीरे-धीरे स्थानीय सरकारों को हड़प करती गईं तो न तो अच्छे नागरिक ही उत्पन्न हो सकेंगे और न देश में प्रजातन्त्र का जीवन ही स्थायी बन सकेगा। स्थानीय वित्त जाँच समिति ने ठीक ही कहा है कि *स्थानीय संस्थाओं से राज्य सरकारों को "सभी कार्यों का हस्तान्तरण एक प्रतिगामी कार्य है जिसे बन्द होना चाहिए।"* भारत जैसे देश के लिए तो यह परम आवश्यक है। भारत में प्रजातन्त्र अभी अपनी शिशु अवस्था में ही है। अभी भारतवासी प्रशासन सम्बन्धी कार्यों में निपुण नहीं हैं। बिना जनता के सहयोग के प्रशासन सफल नहीं हो सकता और जनता का सहयोग उसी समय प्राप्त हो सकता है जबकि प्रत्येक नागरिक अपने कर्त्तव्यों को समझे। इसलिए अच्छे नागरिक उत्पन्न करने के लिए तथा व्यक्तियों को नागरिकता में शिक्षा प्रदान करने के लिए स्थानीय सरकारों का होना बहुत आवश्यक है। इसलिए उनका अन्त करने के स्थान पर उनकी आर्थिक दशा को इतना उन्नत कर दिया जाय कि वे अपने कर्त्तव्यों का पालन सुचारु रूप से कर सकें। भारत में अधिकतर आय के स्रोत जो राज्य सरकारों को दिये गये हैं वे लोचदार हैं और जो स्थानीय सरकारों को दिए गए हैं वे बेलोच हैं। पाश्चात्य देशों में बिक्री-कर, मनोरंजन-कर तथा भूमि-कर जो स्थानीय संस्थाओं की आय के मुख्य स्रोत हैं वे भारत में राज्य सरकारों ने अपने पास रखे हैं इसलिए यह आवश्यक है कि आय के साधनों का राज्य सरकारों तथा स्थानीय संस्थाओं में बँटवारा फिर से किया जाए या उन्हें आय के और अधिक स्रोत सौंप दिये जायें।

स्थानीय संस्थाओं की हीन दशा तथा हीन कार्यकुशलता का एकमात्र कारण यही नहीं है कि उनके पास आय के स्रोत नहीं हैं वरन् इसका एक कारण यह भी है कि स्थानीय सरकारें अपने वर्तमान आर्थिक अधिकारों तथा साधनों का उपयोग भली प्रकार नहीं कर रही है। इनकी आलोचना इस आधार पर बड़े कड़े शब्दों में की जाती है। यह संस्थायें करारोपण में पक्षपात से काम लेती हैं और कर वसूल करने में भी ढीलापन दिखाती हैं। इन संस्थाओं के गहन अध्ययन के पश्चात् इनके कुछ मौलिक दोष दृष्टिगोचर होते हैं, जैसे करों में पक्षपात करना तथा उनको वसूल करने में कुशलता का अभाव रहना; विरोध तथा आलोचना के भय के कारण उन करों को भी न लगाना जिनके लिए राज्य सरकारों ने आज्ञा दे रखी है; शासन की अकुशलता तथा शासन-प्रबन्ध में निरीक्षण, नियन्त्रण तथा नियमितता का अभाव और आर्थिक सहायता के लिए सदैव ही राज्य सरकारों का मुँह ताकना।

इसमें तो कोई सन्देह नहीं है कि स्थानीय सरकारों के शासन-प्रबन्ध अकुशल हैं। परन्तु इसका प्रमुख कारण यही है कि इनकी आय के साधन पर्याप्त नहीं हैं। इसलिए राज्य सरकारों को चाहिए कि वे इन संस्थाओं को उन करों को लगाने के

लिए बाध्य करें जिनका उपयोग वह अभी तक नहीं कर पाई हैं। राज्य सरकारों को यह भी चाहिये कि वे उन प्रतिबन्धों को भी हटा लें जो उन्होंने स्थानीय सरकारों के अधिकारों तथा उनकी शक्तियों पर लगा रखे हैं। वास्तव में आय के किसी भी नये साधन को अपनाने के लिए स्थानीय सरकारों को राज्य सरकारों से आज्ञा लेनी होती है। इस व्यवस्था का सबसे बुरा परिणाम यह होता है कि शासन-प्रबन्ध की अकुशलता तथा उनकी हीन दशा के लिए यह निश्चिय करना कठिन हो जाता है कि किसको जिम्मेदार बनाया जाये अर्थात् इसकी जिम्मेदारी राज्य सरकारों पर है या स्थानीय सरकारों पर। बात यह है कि इस प्रकार की व्यवस्था से उत्तरदायित्व राज्य सरकारों तथा स्थानीय सरकारों के बीच बट जाता है और यह कहना कठिन हो जाता है कि स्थानीय संस्थाओं की निर्धनता इस कारण है कि वे करों का प्रयोग नहीं करतीं या इस कारण कि राज्य सरकारें उनके प्रस्तावों को स्वीकार नहीं करतीं। इसके अतिरिक्त करों की कोई ऐसी सूची भी नहीं है जिसके आधार पर यह निश्चित किया जा सके कि अमुक कर स्थानीय सरकारों द्वारा लगाये जा सकते हैं। हमारे संविधान में भी सन् १९३५ के ऐक्ट की भांति स्थानीय करों की कोई पृथक् गणना नहीं की गई है। राज्य सूची में जिन करों को सम्मिलित किया गया है उनके विषय में यह स्पष्ट नहीं किया गया है कि उनमें से कौन से कर स्थानीय सरकारों के लिए उचित रहेंगे। इसलिए स्थानीय संस्थाओं की वित्तीय दशा को सुधारना कोई सरल बात नहीं है। यदि हम भारत में विभिन्न सरकारों की तुलना अन्य संघीय प्रशासन वाले देशों से करें तो स्पष्ट हो जाता है कि हमारे देश में आर्थिक दृष्टिकोण से स्थानीय संस्थाओं का कोई महत्व नहीं है। निम्न तालिका में हम कुल आय में विभिन्न सरकारों की व्यक्तिगत आय के तुलनात्मक आँकड़े देते हैं जो केवल चार देशों से ही सम्बन्धित हैं :—

देश	केन्द्रीय सरकारें	प्रान्तीय सरकारें	स्थानीय सरकारें
संयुक्त राष्ट्र अमेरिका	३०%	१५%	५५%
जापान	५१%	१२%	३७%
जर्मनी	४०%	२०%	४०%
भारत	४६%	३२%	१९%

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि कुल राजकीय आय का स्थानीय सरकारों के पास केवल १९% भाग ही रह पाता है जबकि अमेरिका में ५५%, जर्मनी में ४०% और जापान में ३७%। दूसरी ओर जबकि अन्य देशों में केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों का प्रतिशत बहुत कम है, हमारे देश में यह प्रतिशत बहुत अधिक है।

स्थानीय वित्त जाँच समिति के सुझाव—सन् १९४९ में स्थानीय वित्त की

जाँच-पड़ताल करने के लिए भारत सरकार ने एक समिति नियुक्त की थी जिसने अपनी रिपोर्ट सन् १९५१ में प्रस्तुत की थी। इस रिपोर्ट के अनुसार समिति की मुख्य सिफारिशें निम्न प्रकार थीं :—

(१) केन्द्रीय सरकार को रेल, समुद्री तथा हवाई यात्रियों पर सीमा-कर लगाना चाहिए और उससे प्राप्त आय को स्थानीय संस्थाओं को दे देना चाहिए।

(२) राज्य सरकारों को चाहिए कि वे मोटर गाड़ियों के अतिरिक्त अन्य गाड़ियों पर कर, बिजली बिक्री कर, भूमि, मकान तथा मनोरंजन करों से जो आय प्राप्त हो वह स्थानीय संस्थाओं को दे दें।

(३) राज्य सरकारों को चाहिए कि वे स्थानीय सरकारों को, अपने वर्तमान कर लगाने के अधिकारों का उपयोग करने के लिए बाध्य करें।

(४) सभी राज्यों में सम्पत्ति कर अनिवार्य रूप से लगाया जाये और स्थानीय कोष उप-कर (Local Fund Cess) की दर सभी स्थानों पर ३ आने कर दी जाय।

(५) चुंगी-कर के लिए एक आदर्श सूची तैयार कर दी जाय।

(६) केवल एक हजार रुपए कमाने वाले व्यक्तियों पर ही व्यावसायिक कर लगाया जाय।

(७) समिति का सुझाव था कि होटल में ठहरने वालों पर भी कर लगाया जाय।

(८) राज्य सरकारों को मोटर गाड़ी कर की आय में से एक भाग स्थानीय सरकारों को देना चाहिए।

(९) केन्द्रीय सरकार की सम्पत्ति पर जो स्थानीय कर नहीं लगाये जाते उनके बदले में स्थानीय संस्थाओं को केन्द्रीय सरकारों से कुछ मुआवजा मिलना चाहिए।

यह अनुमान किया गया है कि यदि समिति के सभी सुझाव स्वीकार कर लिये जाते तो भारत में सभी स्थानीय सरकारों की आय में ४० करोड़ रुपयों की वृद्धि होने की आशा थी। यहाँ पर यह बताना अनुचित न होगा कि समिति ने केवल ७९७ स्थानीय संस्थाओं का ही अध्ययन किया था जिनमें छोटी-छोटी नगरपालिकायें तथा पंचायतें सम्मिलित नहीं थीं। इसके अतिरिक्त समिति के सुझावों में से कुछ सुझाव ऐसे हैं जिनको कार्यान्वित करना कठिन है और जिनके सम्बन्ध में यह भी भय है कि उनसे राज्य सरकारों की वित्तीय व्यवस्था खराब हो जायगी। यह भी ध्यान रहे कि समिति ने जिन करों को लगाने का सुझाव दिया है उनमें से कुछ तो इतने छोटे-छोटे हैं कि उनकी व्यवस्था ही कठिन है।

उत्तर प्रदेश की स्वशासन जांच समिति ने निम्न सुझाव दिये हैं :—

(१) शहरों और गांव में महाजनी का काम करने वालों पर कर लगाया जाये।

(२) प्रान्तीय कोर्ट फीस में से कुछ हिस्सा स्थानीय सरकारों को दिया जाय।

(३) मुद्रांक कर पर $\frac{1}{6}$ के बराबर अतिरिक्त कर लगाया जाय और उसकी आय स्थानीय संस्थाओं को दी जाये।

ग्राम पंचायतों के लिये इस समिति के निम्न सुझाव थे :—(अ) जमींदारी के लगान पर लगाये गए कर का ५ से ७$\frac{1}{3}$% ग्राम पंचायतों को दिया जाये। (ब) राज्य सरकारों को प्राप्त होने वाली मालगुजारी का ५% ग्राम पंचायतों को दिया जाए। (स) भूमि उपकर का २५% भाग जिला बोर्ड ग्राम पंचायतों को दें। (द) यदि आवश्यक हो तो श्रम दर (Labour Rates) के स्थान पर श्रम कर (Labour Tax) लगाया जाय।

कर जाँच आयोग के सुझाव—भारतीय कर जाँच आयोग ने भी स्थानीय वित्त का विस्तारपूर्वक अध्ययन किया था। उसका विचार है कि स्थानीय वित्त की एक समुचित प्रणाली स्थानीय और प्रत्यक्ष करारोपण पर ही आधारित हो सकती है। आयोग ने अपना मत प्रकट करते हुए कहा है कि राज्य सरकारों द्वारा स्थानीय सरकारों की कर लगाने की शक्तियों को हथियाने का प्रयत्न न्यायोचित नहीं है। कुछ कर ऐसे निश्चित कर दिये जायें जिन्हें केवल राज्य सरकारें ही लगा सकें। इस कार्य के लिए उसका विश्वास था कि संविधान में संशोधन करने की आवश्यकता नहीं है वरन् धीरे-धीरे राज्य सरकारें स्थानीय सरकारों के अधिकारों को हथियाना बन्द कर दें और उन्हें उनको सौंपे हुए साधनों का उपयोग करने में प्रोत्साहन दें। आयोग इस बात से सहमत नहीं था कि स्थानीय सरकारों को राज्य सरकारों के कुछ विशेष करों की आय में से हिस्सा दिया जाय क्योंकि ऐसा करने से स्थानीय सरकारें बिना किसी जिम्मेदारी के ही आय प्राप्त करेंगी। आयोग का मत था कि राज्य सरकार विभिन्न स्थानीय सरकारों की विशेष आवश्यकताओं तथा उनकी व्यवस्था की कुशलता को ध्यान में रख कर यदि अनुदान दे तो अधिक उपयुक्त होगा परन्तु राज्य सरकारें जो भी करारोपण के अधिकार स्थानीय सरकारों को दें उनमें दो बातों को अवश्य ही ध्यान में रखा जाये। प्रथम करों की स्थिरता और दूसरे करों की न्यायशीलता तथा पर्याप्तता के साथ लगाने की कुशलता। इसके अतिरिक्त आयोग का यह भी सुझाव था कि राज्य सरकारें इन संस्थाओं को ऋण और सहायता भी प्रदान करें। इन सब बातों को ध्यान में रखकर आयोग ने निम्न सुझाव दिये हैं :—

(१) ग्राम पंचायतों के कार्यक्षेत्र को बढ़ाने में बड़ी सावधानी से काम लेना चाहिए। यह उचित होगा कि इन्हें कुछ निश्चित कार्य सौंप दिये जायें और इनको स्थानीय विकास योजनाओं से भी सम्बन्धित कर दिया जाय।

(२) यह सम्भव नहीं है कि जिला बोर्डों का वर्तमान रूप सदैव ही बना रहे। इनके कार्यक्षेत्रों के भौगोलिक आकार को सीमित किया जाये और इनके कार्यों, वित्त-व्यवस्था तथा करारोपण का पंचायतों के साथ समन्वय स्थापित किया जाये और इनको अपनी आय का अधिकांश भाग करों की अपेक्षा राज्य अनुदानों से

कि उन कार्यक्रमों को प्राथमिकता दी जा सके जिनमें रोजगार प्रदान करने की अधिक क्षमता है।

इतने उत्साहपूर्ण कार्यक्रम की घोषणा के बाद भी प्रथम योजना बेकारी की समस्या को सुलझाने में लगभग असमर्थ ही रही। एक पिछड़े हुए देश में बेकारी की समस्या विकास कार्यक्रम की मुख्य समस्या होती है, जिसका घनिष्ठ सम्बन्ध देश में किये जाने वाले विनियोगों की मात्रा से होता है। प्रथम योजना काल में न तो विनियोगों में ही उन्नति हो सकी और न पूंजी निर्माण की गति ही तीव्र हो सकी। फिर भी प्रथम योजना भारतीय अर्थ-व्यवस्था को स्थायित्व प्रदान करने में सफल हुई और नियोजन आयोग को शक्ति प्रदान कर सकी कि वे दूसरी योजना में बेकारी की समस्या पर उचित ध्यान दे सके।

रोजगार तथा दूसरी योजना—यह अनुमान था कि यदि भारत में बेकारी की समस्या को पूर्णरूप से दूर करना है तो दूसरी योजना में लगभग १·५३ करोड़ नये व्यक्तियों को रोजगार प्रदान किया जाये। नियोजन आयोग ने नेशनल सेम्पिल सर्वे (National Sample Survey) के आंकड़ों का विश्लेषण करने के बाद यह निष्कर्ष निकाला था कि दूसरी योजना के आरम्भ होने पर शहरों में लगभग २५ लाख व्यक्ति बेकार थे और जनसंख्या की वृद्धि के कारण ३८ लाख व्यक्ति और अधिक बढ़ गये थे। अतः शहरों में बेकारों की संख्या ६३ लाख थी। कुछ समय बाद कृषि श्रम जाँच द्वारा यह स्पष्ट किया गया कि प्रथम योजना के अन्त में कृषि क्षेत्र में बेकारों की संख्या २८ लाख थी जिसमें ६२ लाख व्यक्ति और बढ़ जायेंगे। इस प्रकार ग्रामीण क्षेत्रों में बेकारों की कुल संख्या ९० लाख होगी। उस समय प्रश्न यह था कि क्या दूसरी योजना १५० लाख नये रोजगार अवसर प्रदान कर सकेगी? वास्तव में ऐसा सोचना इस योजना से बहुत ऊँची आशा करनी थी और यदि हम आशावादी दृष्टिकोण अपना भी लेते तो भी इतने व्यक्तियों को नौकरियाँ प्रदान करने के बाद भी स्थिति में कोई विशेष सुधार नहीं होता क्योंकि दूसरी योजना के ५ वर्षों में जनसंख्या की वृद्धि से इतने ही व्यक्ति और बेकार हो जाते।

दूसरी योजना में बेकारी दूर करने के लिए त्रिमुखी कार्य किया गया। प्रथम, शहरों तथा गाँव में उस समय जो बेकार लोग थे उनके लिए काम की व्यवस्था की गई। दूसरे, काम ढूंढने वाले व्यक्तियों की संख्या में प्रति वर्ष २० लाख की जो वृद्धि होती है उसके लिए भी समुचित उपाय किये गये, और तीसरे, ग्रामीण क्षेत्रों में जिन लोगों को पूरा काम नहीं मिलता तथा शहरों में जो व्यक्ति घरेलू कामों में लगे हुए हैं उनके लिए अधिक या पूरे समय के लिए काम की व्यवस्था की गई। राज्य तथा केन्द्र मन्त्रालयों ने जो आंकड़े भेजे और निजी क्षेत्र में उत्पादन बढ़ने से जो नए रोजगार मिलने का अनुमान था उनके आधार पर यह हिसाब लगाना सम्भव हो गया था कि दूसरी योजना के कार्यान्वित होने पर नौकरी के जो अतिरिक्त स्थान प्राप्त हो सकेंगे वे निम्न प्रकार हैं :—

कम हो जायेगी और शिक्षा का स्तर भी ऊँचा हो सकेगा। व्यावहारिक शिक्षा प्रदान करने के लिए जैसे डाक्टरी शिक्षा, निर्माण कला, हिसाब-किताब रखने की कला, बीमा कार्य, हस्तकला आदि के विकास के लिए अधिक सुविधायें प्राप्त की जाएँ। सरकार का प्रयत्न यह होना चाहिए कि वह प्रशिक्षित व्यक्तियों का ग्रामीण तथा शहरी क्षेत्रों में उचित बँटवारा करने के लिए प्रयास करे।

रोजगार तथा प्रथम पंचवर्षीय योजना—प्रथम योजना का निर्माण ऐसे समय पर हुआ था जब कि नियोजन आयोग को बेकारी की समस्या का आकार एवं प्रकृति पूर्णरूप से स्पष्ट नहीं थी और युद्धोत्तर काल की परिस्थितियों से उनकी दृष्टि बहुत कुछ धुंधली हो गई थी। सन् १९५३ के आरम्भ से ही रोजगार सम्बन्धी चित्र में परिवर्तन होना आरम्भ हुआ और नियोजन आयोग के सामने जो आशावादी चित्र था वह अकस्मात् ही अदृश्य हो गया और उसको कठोर वास्तविकताओं का सामना करना पड़ा। आयोग ने अतिरिक्त रोजगारों को प्रदान करने के लिए व्यवस्था की और इसी उद्देश्य से प्रथम योजना में व्यय की प्रारम्भिक राशि, जो २०६९ करोड़ रुपये थी उसमें ३०९ करोड़ रुपये की वृद्धि करनी पड़ी। नियोजन आयोग द्वारा सन् १९५३ के अन्त में रोजगार अवसरों में वृद्धि करने के लिए एक कार्यक्रम घोषित किया गया था जिसकी ११ मुख्य बातें थीं। यह निम्न प्रकार हैं :—

(१) सिंचाई शक्ति और निर्माण कार्यों से निकट स्थानों पर प्रशिक्षण क्षेत्रों की स्थापना करना ताकि व्यक्तियों को रोजगार अवसर प्राप्त हो सके।

(२) व्यक्तियों को छोटे उद्योग तथा व्यापार स्थापित करने के लिए विशेष सहायता दी जाएगी।

(३) उन क्षेत्रों में जहाँ श्रमशक्ति का अभाव है प्रशिक्षण सम्बन्धी सुविधाएँ प्रदान की जाएँगी।

(४) कुटीर तथा लघु उद्योगों की वस्तुओं को प्रोत्साहन देने के लिए सरकारी दफ्तरों में अधिकाधिक मात्राओं में खरीदा जाएगा।

(५) अधिकाधिक संख्या में शहरों में बालिग व्यक्तियों को शिक्षा प्रदान करने के लिए स्कूल खोले जायेंगे और ग्रामों में एक मास्टर वाले स्कूल स्थापित किये जायेंगे या उनकी स्थापना के लिए उचित सुविधायें दी जायेंगी।

(६) राष्ट्रीय विस्तार सेवा का तीव्र गति से विस्तार किया जाएगा।

(७) सड़क यातायात का विकास किया जाएगा।

(८) श्रमिकों के रहने के गन्दे स्थानों की सफाई सम्बन्धी योजनाएँ बनाई जायेंगी और शहरी क्षेत्रों में निम्न आय वाले वर्गों के रहने के लिए मकान बनाने के कार्य-क्रमों को कार्यान्वित किया जाएगा।

(९) निजी गृह निर्माण क्रियाओं को प्रोत्साहित किया जायेगा।

(१०) शरणार्थियों की कालोनी स्थापित करने के लिए नियोजित रूप से सहायता प्रदान करने की व्यवस्था की जाएगी।

(११) प्रथम पंचवर्षीय योजना में इस प्रकार उचित संशोधन किए जायेंगे

(संख्या लाखों में)

१.	निर्माण कार्य	२१·००
२.	सिंचाई तथा बिजली	·५१
३.	रेलवे	२·५३
४.	अन्य परिवहन तथा संचार	१·८०
५.	उद्योग तथा खनिज	८·००
६.	कुटीर तथा छोटे उद्योग	४·५०
७.	वन-विकास, मत्स्य पालन, राष्ट्रीय विस्तार-सेवा तथा अन्य योजनायें	४·१३
८.	शिक्षा	२·६०
९.	स्वास्थ्य	१·१६
१०.	अन्य सामाजिक सेवायें	१·४
११.	सरकारी सेवायें	४·[illegible]
	(१ से ११ तक का योग)	५१·[illegible]
१२.	व्यापार और उद्योग समेत अन्य रोजगार में	२७·०४
	कुल योग	७९·०३
	अर्थात् ८० लाख के आस-पास	

यहाँ पर यह बताना आवश्यक है कि विकास सम्बन्धी व्यय से दो प्रकार के रोजगार सुलभ हो सकते हैं। प्रथम, उत्पादक या आर्थिक रोजगार जिससे देश के उत्पादन में वास्तविक वृद्धि होती है, और दूसरा 'मुक्ति रोज़गार' जो आय तथा रोज़गार में वृद्धि तो करता है किन्तु देश के वास्तविक उत्पादन में वृद्धि नहीं करता है। यदि यह निर्माण कार्यों में उत्पन्न होता है तो एक ओर तो सामाजिक पूंजी में वृद्धि होती है और दूसरी ओर बेकार व्यक्तियों को रोज़गार प्राप्त होता है। यह रोज़गार ऐसी योजनाओं में प्राप्त हो सकता है जैसे सड़क व पुल बनाना, बांध बनाना इत्यादि। किन्तु यदि मुक्ति रोजगार घरेलू तथा कुटीर उद्योगों के विस्तार द्वारा प्रदान होता है तो सामाजिक उत्पत्ति में कठिनाई से ही कोई वृद्धि हो सकेगी। संरक्षित कुटीर उद्योगों से जो रोजगार में वृद्धि होती है उसको आर्थिक रोज़गार की वृद्धि नहीं स्वीकार किया जा सकता। वह तो केवल एक प्रकार का 'मुक्ति रोजगार' ही है जिसकी तुलना अन्य प्रकार के अनुत्पादक कार्यक्रमों पर किये गये व्यय से भली-भांति की जा सकती है।

दूसरी योजना में रोजगार सम्बन्धी नीति की मुख्य विशेषता यह है कि नियोजन आयोग ने अधिक से अधिक रोज़गार अवसरों को उत्पन्न करने का प्रयत्न किया है और मुक्ति रोजगार को अधिक महत्व प्रदान किया है। घरेलू तथा कुटीर [illegible]ों के साथ-साथ भारी उद्योगों का विकास करने का विचार सर्वप्रथम प्रो० [illegible] ने प्रस्तुत किया था। "सरकारी क्षेत्र में भारी उद्योगों में विनियोगों

द्वारा क्रय-शक्ति में वृद्धि करके और स्वास्थ्य शिक्षा एवं सामाजिक सेवाओं पर व्यय करके और उपभोक्ता वस्तुओं की बढ़ती हुई माँग को एक ऐसी वस्तुओं की नियोजित वस्तुओं द्वारा पूरी करके", प्रो० महलनॉविस ने तीव्र औद्योगीकरण और बेकारी की समस्याओं को दूर करने का प्रस्ताव दिया था। और यह प्रस्ताव दूसरी योजना का आधार-स्तम्भ बन गया। बाद में यह ज्ञात हुआ कि उपलब्ध पूंजी का अधिकांश भाग भारी उद्योगों के विकास के लिए ही उपयोग कर लिया जायेगा और तः भी पर्याप्त रोज़गार-अवसर सुलभ नहीं हो सकेंगे। भारी उद्योगों के विकास के बाद जो कुछ थोड़ी पूँजी बच रहेगी, वह उपभोक्ता संगठित वस्तुओं के उद्योगों के विकास के लिए काफी नहीं रहेगी। इसीलिये उपभोक्ता वस्तुओं की नियोजित पूर्ति तथा बेकारी की समस्याओं को सुलझाने के लिए कुटीर तथा घरेलू उद्योगों के विकास पर अधिक बल दिया गया। किन्तु घरेलू तथा कुटीर उद्योगों में, उत्पत्ति के प्राचीन ढंगों तथा औज़ारों के प्रयोग के कारण, इतनी शक्ति नहीं है कि वे एक ही प्रकार की वस्तुओं के उत्पन्न करने में उपभोक्ता वस्तुओं के संगठित उद्योगों से प्रतियोगिता कर सकें। इसीलिए यह निश्चय किया गया था कि कुटीर तथा घरेलू उद्योगों के विकास के लिए एक बड़ी मात्रा में आर्थिक सहायता प्रदान की जाये और मशीन से उत्पन्न की जाने वाली उपभोक्ता वस्तुओं के उद्योगों के विकास को प्रोत्साहित न किया जाए। इस नीति का परिणाम यह हुआ, जैसा कि दूसरी योजना के प्रथम दो वर्षों की प्रगति से स्पष्ट है कि 'मुक्ति' प्रकार के रोजगार में कुछ वृद्धि अवश्य हुई किन्तु यह वृद्धि दीर्घकालीन दृष्टिकोण से पूर्णतया अनार्थिक है। अब जबकि यह पूर्णतया निश्चित है कि योजना में सम्मिलित किये गये सारे कार्यक्रमों को पूरा करना सम्भव नहीं है तो यह अच्छा होगा कि नियोजन आयोग विनियोगों के कार्यक्रमों को पुन: निर्धारित करे ताकि उपभोक्ता वस्तुओं के संगठित उद्योग जिनमें घरेलू उद्योगों की अपेक्षा उत्पत्ति के उन्नत ढंगों का प्रयोग होता है, अपनी पुरानी स्थिति को प्राप्त करने योग्य हो जायें और समाज को अधिक लाभ प्रदान कर सके। इसका यह अभिप्राय नहीं कि हम कुटीर उद्योगों के विकास एवं विस्तार सम्बन्धी नीति का तिरस्कार कर रहे हैं किन्तु हमारा विचार यह अवश्य है कि कृषि से सम्बन्धित ग्रामीण उद्योगों का विकास किया जाये, क्योंकि एक तो यह उत्पादक रोज़गार-अवसरों को प्रदान करने में समर्थ है और दूसरे इनका विकास कृषि के विकास के साथ-साथ ही सुगमता से किया जा सकता है। मशीनों तथा यन्त्र-कला से सम्बन्धित छोटे-छोटे कुटीर उद्योगों का विकास भी आवश्यक है, क्योंकि यह बड़े उद्योगों के सहायक उद्योग हैं। निरन्तर बढ़ती हुई अर्थ-व्यवस्था में जहाँ कृषि, यातायात और उद्योगों के विकास को अधिक महत्त्व दिया जा रहा है; मरम्मत करने वाले छोटे-छोटे उद्योगों का भी विशेष महत्व है क्योंकि इन उद्योगों में
हो सकेंगे। यह सराहनीय है कि नियोजन आयोग ने दू
में इस समस्या की ओर ध्यान दिया है। यह अधिक अच्छ
को बनाते समय भारी उद्योगों में विनियोग की राशि को

प्राप्त होना चाहिए।

(३) स्थानीय वित्त-व्यवस्था की समुचित प्रणाली करारोपण पर आधारित होनी चाहिए।

(४) ग्राम-पंचायतों की सफलता तथा उनके विकास के लिए यह आवश्यक है कि प्रारम्भिक अवस्था में राज्य सरकार उनको इतनी आर्थिक सहायता दे कि उन्हें कर लगाने की आवश्यकता न हो।

(५) यह भी आवश्यक है कि कुछ करों तथा उनकी आय को केवल स्थानीय सरकारों के उपयोग के लिए ही सुरक्षित रखा जाए।

(६) आयोग ने राज्य सरकारों के लिए निम्न करों को सुरक्षित रखने का सुझाव दिया है— (अ) भूमि और मकानों पर कर; (ब) चुंगी कर ; (स) ऐसी गाड़ियों पर कर जिनमें शक्ति का प्रयोग नहीं होता ; (द) जानवरों तथा नावों पर कर ; (य) व्यापार, व्यवसाय; रोजगार आदि पर कर ; (ह) समाचार-पत्रों में प्रकाशित विज्ञापनों के अतिरिक्त अन्य विज्ञापनों पर कर।

आयोग का सुझाव था कि कुछ प्रकार के मनोरंजन करों और सम्पत्ति के हस्तान्तरण पर लगाये जाने वाले करों को स्थानीय संस्थाओं को दे दिया जाय। आयोग ने यह भी सुझाव दिया कि सड़कों और आन्तरिक जल-मार्गों द्वारा आने वाले माल और सवारियों पर कर लगाने तथा मार्ग-कर (Toll Tax) लगाने की आज्ञा स्थानीय संस्थाओं को दी जाय।

(७) स्थानीय संस्थाओं के सम्पूर्ण विकास के लिए राज्य सरकारों को निम्न प्रयत्न करने चाहिएँ :— (अ) राज्य सरकारें स्थानीय संस्थाओं को कर लगाने के सम्पूर्ण अधिकार सौंप दें। (ब) यह कर पर्याप्त लोचदार तथा विभिन्न प्रकार के हों। (स) सौंपे जाने वाले करों का घनिष्ठ सम्बन्ध उनको दिये जाने वाले अधिकारों से होना चाहिए, और (द) ऐसे कर लगाने के अधिकार समाप्त कर देने चाहिएँ जो समयानुकूल नहीं हैं।

(८) मोटर गाड़ी कर की आय का कम से कम २५% भाग नगरपालिकाओं और जिला बोर्डों को और भूमि कर का कम-से-कम १५% ग्राम पंचायतों और ग्राम समितियों को दिया जाय।

(९) नगरपालिकाओं के गैर कर आय के स्रोतों को बढ़ाया जाय और व्यापारिक सेवाओं को अधिकतर इन संस्थाओं द्वारा चलाने का अधिकार दिया जाय।

(१०) आयोग का मत था कि दूसरी योजना में पानी का प्रबन्ध करने तथा अन्य प्रकार के विकास के कार्यों के लिए नगरपालिकाओं को ऋण तथा आर्थिक सहायता प्रदान की जाय।

(११) ग्राम पंचायतों के लिए सामान्य सम्पत्ति-कर, सेवा-कर, भूमि उप-कर तथा सम्पत्ति हस्तान्तरण कर ही अधिक उपयुक्त हैं। व्यक्तिगत पंचायतों को उचित दशाओं में सवारी-कर, व्यवसाय-कर तथा मनोरंजन-कर लगाने का भी अधिकार

दिया जाय।

(१२) विभिन्न स्थानीय सरकारों को आय को बढ़ाने के लिए भिन्न-भिन्न प्रयत्नों की आवश्यकता है। नगर कॉरपोरेशन और बड़ी-बड़ी नगरपालिकाओं को अधिक कर लगाने के अधिकार मिलने चाहिएँ और छोटी-छोटी स्थानीय संस्थाओं को अधिक अनुदान मिलने चाहिएँ।

(१३) सहायक अनुदानों के सम्बन्ध में आयोग ने अपने सुझाव देते हुए बताया है कि राज्य सरकारों को निम्न सिद्धान्तों के आधार पर काम करना चाहिए :—(अ) नगरपालिकाओं और कॉरपोरेशन के अतिरिक्त अन्य स्थानीय संस्थाओं के लिए सामान्य उद्देश्य अनुदानों की व्यवस्था करना होना चाहिए। (ब) अनुदान देते समय प्रत्येक संस्था के क्षेत्र, आकार, जनसंख्या तथा साधनों को ध्यान में रखना चाहिए। (स) अनुदानों की मात्रा कम से कम इतनी हो कि स्थानीय संस्था को अनिवार्य तथा प्रशासन सम्बन्धी कार्य करने में कोई कठिनाई न हो। (द) प्रारम्भिक अनुदानों में प्रति वर्ष परिवर्तन नहीं होने चाहियें। वे कम से कम ३ वर्ष से ५ वर्ष तक चलते रहें। (य) वार्षिक अनुदानों के अतिरिक्त विशेष कार्यों के लिए भी विशेष अनुदान दिये जाएँ।

(१४) राज्य सरकारों को स्थानीय सरकारों के कार्य संचालन में उचित सहायता प्रदान करनी चाहिए और राज्यों के नियन्त्रण तथा सलाह का मुख्य उद्देश्य यह होना चाहिए कि वे स्वशासन की ऐसी इकाइयों का निर्माण करें जो नीति बना सकें और उसको कार्यान्वित भी कर सकें।

(१५) कर्मचारियों को पर्याप्त प्रशिक्षण मिलना चाहिये और अच्छा वेतन भी। यदि सम्भव हो तो स्थानीय सरकारें दिन-प्रति-दिन के कार्य संचालन के व्यय का एक भाग अपनी आय में से पूरा करें।

सरकारी अनुदान—पिछले पृष्ठों में हमने स्थानीय सरकारों की वित्तीय समस्याओं का विस्तारपूर्वक अध्ययन किया है और विभिन्न समितियों और आयोगों की सिफारिशों को भी देखा है। सभी इस बात से सहमत हैं कि संस्थाओं की वित्तीय व्यवस्था सन्तोषजनक नहीं है और आवश्यकता इस बात की है कि उनकी स्थिति को तुरन्त ही सुधारा जाय। कर जाँच आयोग तथा स्थानीय वित्त समितियों आदि सभी ने एक मत होकर यह सुझाव दिया है कि राज्य सरकारों और स्थानीय सरकारों के वित्तीय सम्बन्धों में आवश्यक परिवर्तन होने चाहियें। परन्तु प्रश्न यह है कि यह परिवर्तन किस प्रकार किये जायें? क्योंकि किसी भी व्यवस्था में नए परिवर्तन करना एक तो सरल नहीं होता और दूसरे चारों ओर से उसकी आलोचना होने लगती है। इस सम्बन्ध में हम इंगलैंड में स्थानीय संस्थाओं के वित्तीय इतिहास से कुछ लाभ प्राप्त कर सकते हैं। वहाँ पर उन्होंने राज्य सरकारों और स्थानीय सरकारों के पारस्परिक वित्तीय सम्बन्धों को सुधारने के लिए अनुदानों का सहारा लिया है। सिडनी वैब (Sidney Webb) ने स्थानीय सरकारों को वित्तीय शक्ति प्रदान करने के लिए तथा उनके भारों में समानता लाने के चार आधारों पर अनुदानों को

आवश्यक बताया है। यह आधार निम्नांकित हैं :—

(अ) प्रथम, विभिन्न स्थानीय संस्थाओं के भार की असमानताओं के रोकने के लिए यह अनुदान बहुत आवश्यक है।

(ब) ये अनुदान इसलिए भी आवश्यक हैं कि राजकीय सरकारों द्वारा प्रबन्ध में कुशलता तथा मितव्ययिता लाने के लिए जो प्रस्ताव और सलाह दी जाती है तथा जो आलोचना स्थानीय सरकारों की की जाती है उनको ये अनुदान शक्ति प्रदान करेंगे।

(स) ये अनुदान स्थानीय सरकारों को एक ऐसी व्यावहारिक रीति प्रदान करते हैं जो उनकी स्वतन्त्रता के लिए आवश्यक हैं और जिसके द्वारा वे अपने शासन-प्रबन्ध में संसद द्वारा निर्धारित की गई सामान्य नीति को कार्यान्वित करने में अनुभवों की बुद्धिमानी, ज्ञान और विस्तृत दृष्टिकोण से काम ले सकते हैं।

(द) इन्हीं अनुदानों द्वारा हम यह आशा कर सकते हैं कि स्थानीय सेवाओं में राष्ट्रीय न्यूनतम कुशलता उत्पन्न होगी जो राष्ट्रीय हित के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

भारत में राज्य सरकारों ने इस ओर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया है। इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि राज्य सरकारों की अपनी भी कठिनाइयाँ हैं परन्तु यह तो स्वीकार करना ही होगा कि स्थानीय सरकारों की अपेक्षा राज्य सरकारों की आय के स्रोत अधिक लोचदार हैं। राज्य सरकारों को कुछ विशेष परिस्थितियों के लिए तो अनुदानों का प्रबन्ध करना ही होगा जैसे राष्ट्रीय न्यूनतम स्तर (National Minimum Standard) प्राप्त करने के लिये, जनोपयोगी सेवाओं के लिए, कार्य-क्षेत्र विस्तृत करने के लिए तथा विशेष परिस्थितियों और संकट के लिए।

अनुदानों द्वारा राज्य सरकार स्थानीय सरकारों को केवल आर्थिक सहायता ही प्रदान नहीं करती वरन् उसके शासन-प्रबन्ध को कुशल बनाने के लिए उचित सलाह भी देती है और स्थानीय सरकारों की सामान्य नीति तथा व्यय को इच्छा अनुसार प्रभावित भी कर सकती हैं। इनकी सहायता से विशेष प्रकार की सेवाओं का विकास किया जा सकता है तथा उनके व्यय में मितव्ययिता लाई जा सकती है। परन्तु हमारे देश में एक बड़ी कठिनाई यह है कि कोई भी संस्था अपने ऊपर आतंक और नियन्त्रण नहीं चाहती। हर व्यक्ति तथा संस्था अपने-अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र रहना चाहता है। इसलिये लोगों का विचार है कि अनुदानों द्वारा स्थानीय शासन प्रबन्ध पर राज्य सरकारों का आतंक बहुत अधिक हो जायगा और उनकी स्वतन्त्रता समाप्त हो जायेगी। परन्तु यह विचार एक संकीर्ण दृष्टिकोण को प्रदर्शित करता है। सिडनी वैब ने कहा है कि स्थानीय संस्थाओं पर किसी प्रकार का भी केन्द्रीय शासन सम्बन्धी नियन्त्रण न होना उचित नहीं है तथा उनको बिना किसी निरीक्षण तथा हिसाबों की जाँच के स्वतन्त्र छोड़ देना, उनको केन्द्रीय अनुभवों तथा विशेष ज्ञान न प्राप्त हो पाने तथा सामान्य हित के लिए परम आवश्यक न्यूनतम स्तर न स्थापित हो पाने और स्थानीय करों की घोर असमानताओं का उपस्थित रहने देना उचित

नहीं है। राज्य सरकारों के विस्तृत ज्ञान और अनुभव का लाभ स्थानीय सरकारें केवल अनुदान प्रणाली द्वारा ही उठा सकती हैं। स्थानीय सरकारें अपने संकीर्ण अनुभव तथा ज्ञान से ऐसी ही नीति अपना सकती हैं जो स्थानीय जनता के लिए तो लाभदायक हो सकती हैं परन्तु यह आवश्यक नहीं कि सारे राष्ट्र के लिए हितकर हो और फिर क्योंकि अनुदानों की राशि का सम्बन्ध सदैव ही स्थानीय सरकारों की सेवाओं से रहता है इसलिए अनुदान-प्रणाली से स्थानीय शासन-प्रबन्ध में मितव्ययिता तथा कुशलता का संचार होगा।

भारत की वर्तमान परिस्थितियों में यह सम्भव नहीं है कि सारे ही स्थानों पर स्थानीय सेवाओं में एक सामान्य राष्ट्रीय न्यूनतम स्तर स्थापित हो सके। पिछड़े हुए प्रदेशों के पास साधन इतने कम हैं कि वह शिक्षा, स्वास्थ्य और संवादवाहन के विकास पर उचित व्यय नहीं कर सकते और यदि वे अपना विकास करने का प्रयत्न करें भी तो व्यक्तियों पर कर-भार बहुत अधिक हो जायेगा, इसलिए यह देखने के लिये कि निर्धन क्षेत्र, बिना व्यक्तियों पर कर-भार बढ़ाए हुए स्थानीय सेवाओं को, प्रदान करने के लिये कुशल बन सकें और न्यूनतम स्तर प्राप्त कर सकें, तो अनुदान प्रणाली ही परम आवश्यक है। अन्त में आजकल तो विभिन्न स्थानों में इतनी घनिष्ठता उत्पन्न हो गई है कि यह उचित न होगा कि एक क्षेत्र के नागरिकों को शहरी सुविधायें प्राप्त हों और दूसरे क्षेत्र में नागरिक इन सुविधाओं से वंचित रहें। ऐसी स्थिति को केवल अनुदानों द्वारा ही दूर किया जा सकता है।

अनुदानों की वर्तमान प्रणाली में अनेकों प्रकार के दोष दृष्टिगोचर होते हैं। यह आवश्यकताओं के अनुकूल भी नहीं है और सारे ही स्थानों पर यह नीति समान भी नहीं है। कुछ नगरपालिकाओं तथा संस्थाओं को खूब सहायता मिल जाती है और कुछ को बिल्कुल भी नहीं मिलती। परिणामस्वरूप विभिन्न संस्थाओं में द्वेष भावना उत्पन्न हो जाती है और चारों ओर से आलोचनायें होने लगती हैं। इसके अतिरिक्त यह अनुदान विभिन्न सेवाओं की लागतों तथा महत्व के अनुसार भी नहीं दिये जाते। इनका सम्बन्ध क्षेत्र, जनसंख्या और क्षेत्र-विशेष के साधनों से बिल्कुल भी नहीं होता। अनुदानों का मुख्य उद्देश्य आर्थिक सहायता प्रदान करना होता है तथा स्थानीय शासन-प्रबन्ध और व्यय पर नियन्त्रण रखना होता है। भारत में अनेकों प्रकार के अनुदान प्रचलित हैं जैसे अनियमित अनुदान, परिमाणिक (Specific) अनुदान, आवर्ती तथा अनावर्ती (Recurring and Non-Recurring) अनुदान इत्यादि। इन अनुदानों का अधिकांश भाग शिक्षा, स्वास्थ्य तथा संवादवाहन को ही प्राप्त होता रहा है परन्तु विगत वर्षों में इन सेवाओं का प्रान्तीयकरण होने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो गई है और जिन-जिन स्थानों पर इन सेवाओं का प्रान्तीयकरण होता जा रहा है वहाँ पर स्थानीय संस्थाओं की आवश्यकतायें कम होती जा रही हैं।

उत्तर-प्रदेश की स्थानीय संस्थाओं से सम्बन्धित अनुदान समिति ने अनुदानों को नियमित करने के अनेकों सुझाव दिये थे। इस समिति के अनुसार अनुदान देने से पहले दो आधारों पर स्थानीय संस्थाओं की आवश्यकताओं की खूब जाँच-पड़ताल

करनी चाहिये । यह जाँच-पड़ताल स्थानीय-संस्थाओं के साधनों और उनकी आवश्यकताओं पर की जानी चाहिये । प्रत्येक स्थानीय संस्था की आवश्यकताओं और साधनों की एक सूची तैयार कर ली जाय जिसके आधार पर राज्य सरकार उन संस्थाओं को सहायता दे । अनुदान प्रणाली में आवश्यक लोच भी होनी चाहिए जिस से कि परिस्थितियों के बदलने के साथ-साथ अनुदानों की राशि में भी परिवर्तन किये जा सकें । इन परिवर्तनों के लिए समय-समय पर अनुदानों तथा स्थानीय संस्थाओं की आर्थिक स्थिति और उनके कार्यक्रमों के उद्देश्यों तथा लाभों का समुचित अध्ययन करना होगा । यदि स्थानीय संस्थायें उत्पादक कार्यों के लिए धन प्राप्त करना चाहती हैं तो उन्हें अनुदानों की अपेक्षा ऋण देने चाहियें, क्योंकि उनको कुछ समय बाद योजनाओं के पूरा होने से आय प्राप्त होने लगेगी ।

जहाँ तक स्थानीय सरकारों द्वारा ऋण प्राप्त करने का सम्बन्ध है राज्य सरकारें स्थानीय सरकारों को जन उपयोगी सेवाओं, वाणिज्यिक सेवाओं इत्यादि के लिए ऋण देती हैं। दूसरे शब्दों में राज्य सरकारें स्थानीय सरकारों को केवल उत्पादक कार्यों के लिए ही ऋण प्रदान करती हैं । विदेशों में स्थानीय संस्थाओं को अनुत्पादक कार्यों के लिए भी ऋण दिये जाते हैं । हमारे देश में स्थानीय सरकारों द्वारा खुले बाजारों से ऋण प्राप्त करने की प्रथा कम ही है । इनका मुख्य कारण यह है कि स्थानीय संस्थाओं की ऋण सम्बन्धी अधिकांश आवश्यकताओं को राज्य सरकारें स्वयं अपने कोष से ही पूरा कर देती हैं और खुले बाजार से ऋण प्राप्त करने की आज्ञा नहीं देती हैं । स्थानीय सरकारों को राज्य सरकारों द्वारा ऋण प्राप्त होने से दो कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है । प्रथम इनको आवश्यकताओं के समय ऋण नहीं मिलता और ऋण प्राप्त करने में बहुत समय लगता है और दूसरे इन ऋणों के ब्याज की दर बाजारों की दर से बहुत ऊँची होती है और इनके भुगतान की शर्तें राज्य सरकार द्वारा निर्धारित की जाती हैं जो पूर्णतया अनुचित हैं । वास्तव में स्थानीय सरकारों के ऋण प्राप्त करने के अधिकारों पर किसी प्रकार का भी प्रतिबन्ध नहीं होना चाहिये । इस सम्बन्ध में उनको पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए । यदि वे चाहें तो राज्य सरकारों से ऋण लें और यदि उन्हें सुविधाजनक हो, तो खुले बाजार से ऋण प्राप्त करें ।

पिछले पृष्ठों में हमने स्थानीय संस्थाओं की वित्त-व्यवस्था से सम्बन्धित समस्याओं का जो विवरण दिया है उससे स्पष्ट है कि इन संस्थाओं का जितना महत्व है उतना इनके विकास की ओर ध्यान नहीं दिया गया । इन संस्थाओं को इतनी सामर्थ्य प्रदान करने के लिए कि यह अपने कार्यों को कुशलतापूर्वक सम्पन्न कर सकें और देश में नागरिकता के स्तर को ऊँचा कर सकें, यह आवश्यक है कि उनको पर्याप्त साधन उपलब्ध किए जायें और कर जाँच आयोग और स्थानीय वित्त समिति की सिफारिशों को कार्य-रूप प्रदान करने का प्रयत्न किया जाय ।

भाग ६

राजकीय ऋण

अध्याय २६

राजकीय ऋण के सिद्धान्त

(THEORY OF PUBLIC DEBT)

राजकीय ऋण क्या है ?—राजकीय ऋण राज द्वारा प्राप्त किये गये ऋण होते हैं। यह राज की आय का एक स्रोत है और विगत वर्षों में यह राजकीय वित्त-व्यवस्था का एक महत्वपूर्ण अंग बन गया है। व्यक्ति की भाँति राज भी संकट या अन्य आवश्यकता के समय ऋण प्राप्त करता है। पिछले अध्यायों में हमने राज की आय के विभिन्न स्रोतों का अध्ययन किया था। ऋण राज की आय का अन्तिम स्रोत है। इस अध्याय में हम राजकीय संस्थाओं द्वारा ऋण प्राप्त करने से सम्बन्धित सिद्धान्तों की विवेचना करेंगे। हमने ऋण को राजकीय आय का एक अंग बताया है, इसका यह अभिप्राय नहीं कि राज को इस स्रोत से आय प्राप्त करना अनिवार्य होता है। वास्तव में ऐसा समझना केवल एक भ्रम होगा। इस सम्बन्ध में राज और व्यक्ति में कोई मौलिक भेद नहीं होता। जिस प्रकार व्यक्ति के जीवन में अनेकों ऐसे अवसर आते हैं जब उसे अपनी आय से अधिक खर्च करना पड़ता है और कभी-कभी खर्चे की राशि इतनी बड़ी होती है कि अपनी बचतों के अतिरिक्त भी उसे अन्य व्यक्तियों से धन प्राप्त करना पड़ता है, उसी प्रकार राज को भी अपनी आय से अधिक खर्च करना पड़ता है और ऋण प्राप्त करने पड़ते हैं। कभी-कभी तो ऋण लेना इतना आवश्यक होता है कि यदि ऐसा न किया जाय तो देश का अस्तित्व जोखिम में पड़ सकता है, जैसे युद्धकाल में या आर्थिक नियोजन काल में। संघीय शासन प्रणाली में प्रत्येक सरकार के ऋणों की प्रकृति, स्रोत तथा उद्देश्य अलग-अलग होते हैं। उदाहरणार्थ, संघ सरकार युद्ध के लिए, ऋण प्राप्त कर सकती है, राज सरकार कृषि के विकास के लिए तथा स्थानीय सरकारें पानी तथा बिजली

आदि के लिए ऋण प्राप्त कर सकती हैं। संघ सरकार विदेशी तथा आन्तरिक दोनों ही प्रकार के ऋण प्राप्त कर सकती है, किन्तु राज तथा स्थानीय सरकारें केवल आन्तरिक ऋण ही प्राप्त कर सकती हैं। यद्यपि सभी ऋणों से तुरन्त प्रत्यक्ष लाभ प्राप्त न होता हो, परन्तु ऋण प्राप्त करने का प्राथमिक उद्देश्य, देश की भलाई करना ही होता है।

सरकार, जो राशि ऋण द्वारा किसी वर्ष में प्राप्त करती है, वह उसकी उस वर्ष की आय का एक भाग होता है। यह आय स्थायी नहीं होती, क्योंकि इसको कुछ समय बाद लौटाना पड़ता है। इसलिये केवल अल्पकालीन दृष्टि से ही हम इसे सरकार की आय कह सकते हैं। दीर्घकालीन दृष्टि से यह आय नहीं कही जा सकती और इस कारण राजकीय आय में केवल उसी आय को सम्मिलित करना उचित होगा, जो सदैव ही सरकार के उपयोग में रहे और जिसे लौटाना न पड़े। यद्यपि कुछ ऋण ऐसे होते हैं जिन्हें लौटाना नहीं पड़ता, केवल उन पर ब्याज ही देना होता है किन्तु ऐसे ऋणों को भी आय में सम्मिलित नहीं किया जा सकता, क्योंकि इनको भी ब्याज के रूप में लौटाना ही होता है।

राजकीय तथा व्यक्तिगत ऋणों में भेद—इसमें कोई संदेह नहीं कि राज भी व्यक्तियों की भाँति ऋण प्राप्त करता है, परन्तु इन दोनों प्रकार के ऋणों की व्यवस्था एवं उपयोग के क्षेत्र में मौलिक भेद होते हैं। हम यहाँ पर इन्हीं भेदों की विवेचना करेंगे :—

(१) व्यक्तिगत ऋणों का व्यय व्यक्ति केवल अपने व्यक्तिगत लाभ के हेतु करता है। इसका कोई लाभ ऋणदाता को प्राप्त नहीं होता, वरन् उसे अपनी वर्तमान आवश्यकताओं की संतुष्टि से वंचित और रहना पड़ता है। दूसरी ओर राज्य जो ऋण अपने नागरिकों से प्राप्त करता है, उसे उन्हीं के लाभार्थ व्यय करता है। राज व्यक्तियों का ही समूह होता है और इसलिए जो कुछ भी राज व्यय करता है उसका अप्रत्यक्ष लाभ व्यक्तियों को ही प्राप्त होता है। कभी-कभी तो व्यक्तियों को प्रत्यक्ष लाभ भी प्राप्त है और इन व्यक्तियों में वे लोग भी होते हैं जो राज के ऋणदाता हैं।

(२) व्यक्ति अपने ऋण को पूरा चुकाता है, अर्थात् व्यक्तिगत ऋण में व्यक्तिगत ऋणदाता को ऋण की पूरी राशि वापस मिलती है, परन्तु राजकीय ऋण में ऋणदाता व्यक्तियों को प्रत्यक्ष रूप से तो ऋण की पूरी राशि का भुगतान मिल जाता है किन्तु अप्रत्यक्ष रूप से उसमें से कुछ राशि कम हो जाती है। बात यह है कि व्यक्ति अपने ऋणों का भुगतान अपनी आय में से ही करता है और इसलिये ऋण का कुल भार ऋण लेने वाले व्यक्ति को ही सहन करना पड़ता है। दूसरी ओर राज ऋण का भुगतान देश के नागरिकों पर कर लगाकर जो आय प्राप्त होती है, उसी के द्वारा करता है। नागरिकों पर कर-भार बढ़ जाता है और उन लोगों को भी सहन करना पड़ता है जिन्होंने राज को ऋण दिए हैं। अतः राजकीय ऋण

व्यवस्था में ऋणदाता को कर-भार सहन करने के कारण, अपने ऋण का पूरा भुगतान नहीं मिलता।

(३) व्यक्तियों की आयु सीमित तथा अनिश्चित होने के कारण, तथा ऋण भुगतान करने का दायित्व केवल ऋणी पर ही होने के कारण, व्यक्तियों को दीर्घ-कालीन ऋण प्राप्त नहीं होते। दूसरी ओर राज व्यक्तियों की भाँति अस्थायी नहीं होता। व्यक्ति आते रहते हैं और जाते रहते हैं परन्तु राज सदैव ही अपने स्थान पर टिका रहता है, केवल सरकार का रूप तथा सरकार चलाने वाले व्यक्ति ही बदल सकते हैं। किन्तु जो भी नये व्यक्ति शासन की बागडोर सँभालते हैं वह अपने पूर्वजों के सब दायित्वों को स्वीकार कर लेते हैं। इसीलिए राज को दीर्घकालीन ऋण प्राप्त हो जाते हैं।

(४) राज के पास सत्ता होती है। वह नागरिकों को ऋण देने के लिए तथा कम व्याज लेने के लिए बाध्य भी कर सकता है। इसके अतिरिक्त स्वयं नागरिक भी देश-प्रेम के जोश में राज को आर्थिक सहायता प्रदान कर सकते हैं। जो ऋण जबरदस्ती लिये जाते हैं उनसे राज की साख खतरे में पड़ जाती है। व्यक्तिगत ऋणों में इस प्रकार की जबर्दस्ती से काम नहीं लिया जा सकता। यह ध्यान रहे कि प्रत्येक सरकार ही नागरिकों से जबरदस्ती ऋण प्राप्त नहीं कर सकती केवल वह ही सरकार जो सार्वभौमिक (Sovereign) हो।

(५) राज अपनी सत्ता के कारण ऋणों के भुगतान करने से भी इन्कार कर सकता है। यद्यपि यह कम ही होता है, और ऐसा करने के भीषण परिणाम हो सकते हैं। यदि आन्तरिक ऋणों के सम्बन्ध में राज ऐसा करता है, तो देश में राज की साख को भारी धक्का पहुँचता है और व्यक्तियों का विश्वास खण्डित हो जाता है और यदि विदेशी ऋणों के सम्बन्ध में इस प्रकार की नीति अपनाई जाती है तो युद्ध तक नौबत पहुँच सकती है, या फिर भविष्य में विदेशी ऋणों को प्राप्त करने में बहुत कठिनाई हो सकती है। व्यक्तिगत ऋण-व्यवस्था में व्यक्ति एक तो ऋण का भुगतान करने से इन्कार नहीं कर सकता, क्योंकि ऋणदाता को कानून की सहायता प्राप्त होती है और दूसरे यदि कोई व्यक्ति ऐसा करता भी है तो उसकी साख खत्म हो जाती है और फिर उसे कोई भी ऋण देने को तैयार नहीं होता।

(६) व्यक्ति की अपेक्षा राज की साख बहुत अधिक होती है। राज को कम सूद की दर पर और अधिक सरलता से ऋण प्रदान कर दिये जाते हैं, जबकि व्यक्तियों को प्राप्त नहीं होते। सरकारी प्रतिभूतियों को किसी समय भी बेचा जा सकता है और ऋण वापिस लिया जा सकता है। परन्तु व्यक्तिगत ऋण में यह सुविधा नहीं होती। इसी कारण व्यक्ति अधिकतर अपने धन को सरकारी विपत्रों में ही लगाना पसंद करते हैं।

(७) राजकीय ऋण देश के भीतर से भी प्राप्त किये जा सकते हैं और विदेशों से भी; जबकि व्यक्तिगत ऋण केवल देश के भीतर ही प्राप्त किये जा सकते हैं; क्योंकि व्यक्ति की साख देश तक ही सीमित होती है।

(८) व्यक्तिगत ऋण केवल उसी समय प्राप्त होते हैं जब व्यक्ति कोई अच्छी धरोहर या जमानत देने को तैयार होता है परन्तु राज्य के लिए ऐसी कोई भी कठिनाई नहीं होती। राज्य की आर्थिक स्थिति तथा कार्य संचालन के बारे में सभी को ज्ञान होता है। इसके अतिरिक्त व्यक्तिगत ऋणों की राशि राज्य की अपेक्षा बहुत कम होती है।

(९) राज्य अपने आप भी ऋण के स्रोत उत्पन्न कर सकता है, अर्थात् नोट छाप कर, परन्तु व्यक्ति के पास ऐसी कोई भी सुविधा नहीं होती।

(१०) राज्य परिस्थितियोंवश ऋण प्राप्त करता है। उसके पास ऋण लेने के अतिरिक्त कोई दूसरा उपाय नहीं होता। दूसरी ओर व्यक्ति ऋण न लेकर केवल अपने खर्चे को कम करके ही परिस्थितियों का मुकाबला कर सकता है। व्यक्ति का व्यय अधिक लोचपूर्ण होता है, किन्तु राज्य का व्यय इतना लोचपूर्ण नहीं होता। राज्य केवल प्रशासन-सम्बन्धी व्यय को ही कम कर सकता है और अन्य व्ययों को कम करना न तो उचित ही होता है और न सम्भव ही। अतः राज्यों को ऋण प्राप्त करके ही अपना काम चलाना पड़ता है।

(११) व्यक्तिगत ऋण अनुत्पादक भी हो सकते हैं, किन्तु राजकीय ऋण साधारणतया उत्पादक ही होते हैं।

(१२) व्यक्तिगत ऋण केवल उसी समय लिए जाते हैं, जब व्यक्ति को धन की आवश्यकता होती है, परन्तु राजकीय ऋण बिना धन की आवश्यकता के भी प्राप्त किये जा सकते हैं। राज्य ऋण लेने को अपनी नीति भी बना सकता है। मुद्रा स्फीति काल में, राज्य व्यक्तियों से ऋण प्राप्त करके उनकी अतिरिक्त क्रयशक्ति को कम कर सकता है और सामान्य मूल्य-स्तर को नीचे गिराने में सफल हो सकता है। इस प्रकार राज्य ऋणों द्वारा देश के उत्पादन तथा वितरण पर प्रभाव डाल सकता है, परन्तु व्यक्ति नहीं।

राजकीय ऋणों की आवश्यकता एवं महत्व—आधुनिक युग, साख का युग है। व्यक्तिगत व्यापार, उद्योग एवं उपभोग बिना उधार लिए सफल नहीं हो पाते और यदि व्यक्ति अपने उत्पादन तथा उपभोग सम्बन्धी कार्यों को बिना ऋण प्राप्त किए कर भी सकता है तो भी वह ऐसा नहीं करता क्योंकि उसके लिए सूद देकर दूसरों के धन से काम करना अधिक लाभकारक होता है। राज्य के विषय में भी यह बात सही उतरती है। हम उन उद्देश्यों का वर्णन बाद में करेंगे, जिनसे प्रेरित होकर राज्य ऋण प्राप्त करता है, किन्तु यहाँ पर केवल इतना कह देना आवश्यक समझते हैं कि राज्य मुख्यतया दो कारणों से ऋण प्राप्त करता है। प्रथम, जबकि उसे धन की बहुत आवश्यकता होती है जो उसे अन्य स्रोतों से तुरन्त मिल नहीं पाता है तो उसे ऋणों का सहारा लेना पड़ता है। हम सभी जानते हैं कि कर की आय कुछ समय बाद प्राप्त होती है और ऋण से आवश्यक धन आवश्यकता के समय तुरन्त ही प्राप्त हो जाता है, इस कारण राज्य ऋणों द्वारा आय प्राप्त करता है। दूसरे, कुछ आर्थिक कारण ऐसे होते हैं जिनके कारण आवश्यकता न होते हुए भी राज्य कर लगाने की

अपेक्षा ऋण लेना अधिक लाभकारक समझता है। इन्हीं दोनों कारणों से आजकल आधुनिक सरकारों के लिए ऋण प्राप्त करना आवश्यक हो गया है। विगत वर्षों में राज्यों के कार्यों में इतनी अधिक वृद्धि हो गई है कि किसी भी समय उन्हें धन की आवश्यकता अनुभव हो सकती है। कभी भी संकट उत्पन्न हो सकते हैं और उनका सामना करने के लिए राज्य की आय के साधारण स्रोत काफी नहीं होते। आजकल राज्य उत्पादक और व्यापारी भी हैं और शासक भी। दोनों ही क्षेत्रों में धन की आवश्यकता दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। राज्य की अपनी बचतें तो होती नहीं जिनमें से वह दिन-प्रतिदिन के खर्चों को पूरा कर सके, क्योंकि कार्यों की वृद्धि के कारण न तो उसके लिए सम्भव ही होता है और न बचत करना राजस्व के सिद्धान्तों की दृष्टि से उचित ही समझा जाता है, इसलिए राज्य को अधिकाधिक ऋणों की व्यवस्था करनी पड़ती है इसीलिए राजकीय ऋणों की संख्या तथा आकार पिछले पचास वर्षों में बहुत विस्तृत हो गया है। अणु-शक्ति के प्रयोग से तो राजकीय ऋणों की बढ़ने की ही सम्भावना है; कम होने की कोई आशा नहीं की जा सकती। आधुनिक राज्यों का दृष्टिकोण समाजवादी होता जा रहा है, इसलिए भी राजकीय ऋणों की महत्ता बहुत हो गई है। प्राचीन काल में तो राजा अपने खजाने में धन जमा करके रखते थे, उनकी आय की अपेक्षा उनका व्यय बहुत कम होता था। परन्तु आजकल ऐसा नहीं होता। ऐसा करना आधुनिक बजट सिद्धान्तों के विपरीत होता है। इसके अतिरिक्त राज्य केवल धन की आवश्यकता की पूर्ति के लिए ही तो उधार नहीं लेता है, वरन् आर्थिक कारणों से भी उधार लेता है। व्यक्तियों को खर्च न करने देने के लिए राज्य उनकी जेबों से ऋण द्वारा धन निकाल लेता है। ऐसा करना देश के हित में होता है। इस नीति से बढ़ता हुआ मूल्य-स्तर नीचे लाया जा सकता है। इस प्रकार राजकीय ऋणों का उद्देश्य केवल धन-सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूरा करना ही नहीं होता है।

राजकीय ऋणों का उद्गम एवं इतिहास—राजकीय ऋणों का इतिहास १७वीं शताब्दी के अन्त से आरम्भ होता है। उससे पहले इस प्रकार के ऋणों का रिवाज न था। राजाओं को ऋण लेने की कोई आवश्यकता ही नहीं होती थी। वे अधिकतर धन जमा करके रखते थे और उसका प्रयोग संकट काल में किया करते थे या पड़ौस के राज्यों को लूटकर या परास्त करके हर्जाना लिया करते थे या धनी व्यक्तियों पर विशेष कर लगाकर धन इकट्ठा कर लिया करते थे। बैस्टेबिल ने अपनी पुस्तक में बड़ा ही सुन्दर एवं रोचक वर्णन दिया है। वह कहता है कि, फिर राजाओं ने बैंकों से ऋण लेना आरम्भ कर दिया, परन्तु ऋण न लौटाये जाने के कारण अनेकों बैंक तथा कम्पनियाँ दिवालिया हो गईं। उसने बताया है कि सन् १३४५ में फ्लोरेन्स में बार्डी नामक इटली की एक बड़ी कम्पनी, एडवर्ड तृतीय के शासन काल में इसी कारण फेल हुई कि राजा को ६०० हजार फ्लोरीन (सोने का सिक्का जो इटली में उस समय प्रचलित था) देने थे। १६वीं शताब्दी में एडवर्ड चतुर्थ तथा ट्यूडर राजाओं ने जबर्दस्ती ऋण प्राप्त किए। प्रारम्भिक काल में जेनिवा तथा

वेनिस में राजकीय ऋण एकत्रित करने के लिए विशेष बैंक स्थापित किये गये थे। यह भी कहा जाता है कि डच लोगों ने विदेशों को ऋण देना तथा प्राप्त करना आरम्भ किया था। कहा जाता है कि हालैंड पहला देश है जिसने नियमित रूप से राजकीय ऋण-व्यवस्था स्थापित की थी। सन् १६६४ में बैंक ऑफ इंगलैंड की स्थापना केवल इसी उद्देश्य से की गई थी। इस प्रकार पिछले सौ वर्षों में राजकीय ऋणों का जितना विकास हुआ है, उससे यही सिद्ध होता है कि आधुनिक ढंग पर राजकीय ऋणों का इतिहास अधिक प्राचीन नहीं है और आजकल कोई भी राज्य ऐसा नहीं है, जिस पर कुछ न कुछ ऋण न हो।

ऋण अथवा कर—कुछ लेखकों ने राजकीय ऋणों की बहुत निन्दा की है और करों द्वारा आय प्राप्त करने को अधिक अच्छा बताया है। यह वाद-विवाद कि कर या ऋण इन दोनों में से आय प्राप्त करने का कौन-सा स्रोत अधिक अच्छा है, बहुत पुराना किन्तु महत्वपूर्ण है। इससे पहले कि हम इस वाद-विवाद पर दृष्टि-पात करें, यह आवश्यक है कि हम यहाँ पर ऋण और करों के मौलिक भेद को स्पष्ट कर दें :—यदि राजकीय ऋण देश के भीतर ही नागरिकों से प्राप्त किया गया है तो ऋणों द्वारा प्राप्त राशि तथा करों द्वारा प्राप्त आय, दोनों ही देश में रहते हैं और नागरिकों के प्रयोग में आते हैं। करों द्वारा प्राप्त आय को लौटाने का प्रश्न ही नहीं उठता, परन्तु ऋणों द्वारा प्राप्त राशि को लौटाना अनिवार्य होता है। परन्तु देश में ऋणों को लौटाने के बाद मुद्रा की मात्रा पूर्ववत् रहती है, क्योंकि जो कुछ वापिस किया गया है वह उन्हीं से लिया गया हुआ होता है। यह ध्यान रहे कि कर द्वारा व्यक्तियों से जो धन लिया जाता है वह उसी प्रकार प्रयोग नहीं किया जाता जिस प्रकार व्यक्तिगत करदाता करते हैं। ठीक यही बात ऋणों के सम्बन्ध में भी सच है। परन्तु यह भी सच है कि करों और ऋणों द्वारा प्राप्त आय भी एक से ही उपयोगों में नहीं लाई जाती, ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार व्यक्ति इन दोनों धन राशियों को समान उपयोगों में नहीं लाते। इसी प्रकार करों का भुगतान अधिकतर वर्तमान आय में से किया जाता है और ऋणों को व्यक्ति सदैव ही अपनी पूँजी में से खरीदता है। इसके अतिरिक्त-करों के रूप में भुगतान की गई राशि सदा के लिए व्यक्तियों के पास से चली जाती है, किन्तु ऋण में दी गई राशि ऋण-दाता को लौटा दी जाती है। यह सच है कि सरकार ऋणों का भुगतान करने के लिए कर लगाती है, इसलिए ऋणदाताओं को अपने मूलधन की पूरी राशि नहीं मिल पाती, क्योंकि इस सम्बन्ध में लगे हुए करों का भुगतान उन्हें भी तो करना पड़ता है।

राजकीय ऋणों तथा करों के भेद को स्पष्ट कर लेने के बाद अब हम इस स्थिति में हैं कि इस वाद-विवाद पर दृष्टिपात कर सकें कि राजकीय आय के स्रोतों में कर अच्छा है या ऋण। हम जानते हैं कि राज्य अपने दिन-प्रतिदिन के कार्यों के लिए ऋण नहीं लेता। यदि राज्य ऐसा करने लगे तो न तो वह ऋण का ही भुगतान कर पावेगा और न उसके व्याज को ही दे पायेगा और दोनों की राशियाँ एकत्रित होती जायेंगी, जिसका भुगतान करने के लिए अन्त में बहुत

ऊँची दर से कर लगाने पड़ेंगे। यदि बार-बार उत्पन्न होने वाले व्ययों के लिए ऋण प्राप्त किये जाते हैं तो ऐसे ऋणों को बार-बार लेना पड़ेगा और हर बार कर लगाने पड़ेंगे, क्योंकि इसके अतिरिक्त और कोई दूसरी विधि भी तो नहीं है। परन्तु ऐसा करने से तो राजस्व का सम्पूर्ण ढाँचा ही छिन्न-भिन्न हो जायेगा। इसलिए आवश्यक यही है कि बार-बार उत्पन्न होने वाले सभी व्ययों को करों द्वारा प्राप्त आय में से पूरा करना चाहिए। यदि इस प्रकार का व्यय किसी विशेष संकट के समय करना पड़ता है तो ऋणों द्वारा पूरा किया जा सकता है। साधारणतया इसको बार-बार उत्पन्न होने वाला व्यय पुकारना नहीं चाहिए क्योंकि संकटकालीन परि-स्थितियाँ बार-बार उत्पन्न नहीं होतीं। जहाँ तक उन व्ययों का सम्बन्ध है, जो पाँच-दस वर्षों में एक बार उत्पन्न होते हैं या जो बार-बार उत्पन्न नहीं होते, उनको ऋणों द्वारा पूरा करने में कोई बुराई नहीं होती क्योंकि ऐसे ऋणों के भुगतान की व्यवस्था आने वाले वर्षों में करों द्वारा सरलतापूर्वक की जा सकती है। परन्तु क्या ऐसी व्यवस्था करना उचित है? इस सम्बन्ध में प्रो० पीगू के विचार विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। बार-बार न उत्पन्न होने वाला व्यय एक प्रकार का पूंजीगत व्यय होता है, इस दृष्टि से कि इस व्यय का भार कई वर्षों में विभाजित हो जाता है अर्थात् इस व्यय से कई वर्षों तक लोगों को लाभ प्राप्त होता रहता है। यह ध्यान रहे कि वह पूंजीगत व्यय इस अर्थ में नहीं होता कि इससे सदैव ही पूंजी वस्तुओं जैसे नहर, कुएँ, फैक्ट्री आदि का निर्माण होता है। यह, इस अर्थ में पूंजीगत व्यय होता है कि एक बार इसको करने के बाद सरकार कुछ वर्षों तक निश्चित रहती है, और एक ही व्यय को प्रत्येक वर्ष नहीं करना होता। आने वाले वर्षों के लोग उसी व्यय के लाभ प्राप्त करते रहते हैं। जब आने वाले वर्षों के लोगों को भी इस व्यय से लाभ पहुँचता है तो यह तो न्यायोचित नहीं होगा कि इस व्यय का कुल भार वर्तमान व्यक्तियों को ही सहन करना पड़े। अतः यह आवश्यक है कि भविष्य में आने वाले लोग भी इस खर्चे का कुछ भार सहन करें। करारोपण द्वारा खर्चे को पूरा करने का अभिप्राय यह है कि सारा भार वर्तमान व्यक्तियों पर ही पड़ेगा। इस-लिए ऐसे व्यय को ऋणों द्वारा पूरा करना चाहिए। जब नागरिक राज्य को ऋण प्रदान करते हैं तो वह अपनी बचतों में से देते हैं, अर्थात् राज्य द्वारा ऋण प्राप्त करने से व्यक्तियों की बचतें कम हो जाती हैं और इन बचतों से भविष्य में प्राप्त होने वाली आय भी कम हो जायगी, जिसका उपयोग पूर्ण रूप से भविष्य में आने वाली संतान ही करती। इस प्रकार आय कम होने से, इन ऋणों का भार भविष्य के लोगों पर भी पड़ेगा। संक्षेप में ऐसे व्यय का लाभ वर्तमान और भविष्य दोनों ही के लोगों को पहुँचता है। इसीलिए इस व्यय की पूर्ति ऋण द्वारा होनी चाहिए, ताकि व्यय का भार वर्तमान और भविष्य दोनों ही के लोगों द्वारा सहन किया जा सके। अतः जो व्यय उत्पादक हैं, अर्थात् जिनका लाभ कई वर्षों तक लोगों को प्राप्त होता रहता है, उनकी पूर्ति ऋणों द्वारा होनी चाहिये और जिस व्यय का लाभ केवल अल्पकाल तक ही सीमित रहता है उसकी पूर्ति करारोपण द्वारा होनी चाहिये।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि आधुनिक सरकारों को अपने विभिन्न प्रकार के व्ययों को (जो असीमित हैं) पूरा करने के लिए ऋण प्राप्त करने ही पड़ते हैं। हम पहले भी कह चुके हैं कि राज्य द्वारा लिये गये सारे ऋण ही उत्पादक नहीं होते, या सारे ऋण ही उत्पादक कार्यों में नहीं लगाये जाते, इसलिये यह सोचना कि राज्य ऋणों को अनुत्पादक कार्यों पर व्यय नहीं करता एक भ्रम होगा। वर्तमान शताब्दी में राजकीय ऋणों की प्रथा बहुत अधिक प्रचलित हो गई है और इसीलिए इसे आधुनिक क्रिया (Modern phenomenon) कहते हैं, क्योंकि आधुनिक समय में राज्यों को इतने कार्य करने पड़ते हैं कि बिना ऋण लिये उनका काम ही नहीं चल सकता। जैसे-जैसे राज्यों के कार्यों में वृद्धि होती चली गई है, वैसे ही वैसे राजकीय ऋणों का आकार एवं मात्रा भी बढ़ती गई है, यद्यपि इनका समय-समय पर बहुत कड़ा विरोध होता रहा है। ग्लेडस्टन (Gladston) राज द्वारा प्राप्त किये गये ऋणों को इसलिये बुरा मानता था, क्योंकि उसका यह विश्वास था कि 'इनसे फिजूल-खर्ची बढ़ती है, युद्ध को प्रोत्साहन मिलता है और उस राष्ट्र के लिए, जो इसका उपयोग करता है, हानिकारक आर्थिक परिस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं।' ह्यूम के अनुसार 'बिना वाद-विवाद के ही यह नीति नाश करने वाली होती है'। प्राचीन आर्थिक लेखक एडम स्मिथ एवं रिकार्डो भी राज्य द्वारा ऋण प्राप्त करने की नीति को बुरा तथा देश के लिए हानिकारक मानते थे। एडम स्मिथ का तो विचार था कि इस प्रकार की नीति दीर्घकाल में देश को नष्ट कर देती है। दूसरी ओर कुछ लेखक ऐसे हुए हैं, जिन्होंने पूर्ण रूप से प्रति विरोधी विचार प्रकट किये हैं और राजकीय ऋणों का केवल पक्ष ही नहीं लिया है वरन् उन्हें आवश्यक भी बताया है। जर्मन अर्थशास्त्री डिज़ल (Dietzel) के अनुसार असाधारण व्यय को ऋण द्वारा पूरा करना इसलिए उचित है कि 'राज्य समाज की अभौतिक पूंजी का एक भाग है और उसकी सेवा के लिए जो कोई भी असाधारण, धन का व्यय किया जाता है, वह विनियोग की भाँति होता है।' परन्तु ये विचार प्रति विरोधी हैं और इनमें से किसी एक को भी सर्वव्यापी कहना उचित न होगा, क्योंकि कभी-कभी तो राज को अपने खर्चों को पूरा करने के लिए ऋण लेना आवश्यक होता है और कभी वह केवल ऋणों द्वारा प्राप्त आय से ही काम चलाता है। यही नहीं, ऋण द्वारा खर्चों को पूरा करना लाभप्रद भी होता है। हम इस वाद-विवाद पर पहले ही दृष्टिपात कर चुके हैं।

ऋणों के उद्देश्य—

आधुनिक काल में राजकीय ऋणों के अनेकों उद्देश्य होते हैं; यह उद्देश्य निम्न प्रकार हैं:—

(१) राज्य ऋणों का सहारा उस समय लेता है, जब कि या तो व्यक्तियों में कर देने की सामर्थ्य नहीं होती या अधिक करारोपण से शान्ति भंग होने का भय होता है। राज्य, ये ऋण साधारण कार्यों को पूरा करने के लिए भी ले सकता है, परन्तु ऐसी नीति केवल अल्पकालीन ही होनी चाहिये क्योंकि अधिक समय तक इस नीति को अपनाने से देश की सत्ता को नष्ट करना होगा।

(२) राज प्राकृतिक संकटों को दूर करने के लिए भी ऋणों का सहारा लेता है। ऐसी असाधारण परिस्थितियों में, जैसे अकाल, बाढ़, महामारी, ज्वारभाटा आदि के समय जबकि देश की अर्थ-व्यवस्था वैसे ही छिन्न-भिन्न हो जाती है, कर लगा कर आय प्राप्त करना तो आन्तरिक विद्रोह को ही जन्म देना होगा। इसलिए राज्य ऐसी परिस्थितियों में ऋण द्वारा काम चलाता है।

(३) राज उत्पादक कार्यों के लिए भी ऋण प्राप्त करता है जैसे, देश के प्राकृतिक साधनों का अधिकतम उपयोग करने के लिए या देश के आर्थिक विकास के लिए। एक अविकसित या कम विकसित देश के लिए तो यह ऋण परमावश्यक होते हैं, क्योंकि इन देशों में कर लगाकर आय प्राप्त करने की अधिक गुंजाइश नहीं होती।

(४) राज, राजकीय उपक्रमों के लिए तथा सार्वजनिक कार्यों (Public works) के लिए भी ऋण प्राप्त करता है। यह कार्य भी उत्पादक होते हैं और प्रत्येक वर्ष राज को इनसे आय प्राप्त होती है। इसी प्रकार राज जनोपयोगी सेवाएँ सम्पन्न करने के लिए भी ऋण लेता है. जैसे नहरें, रेलें, सड़कें आदि बनवाना। इन सेवाओं के मूल्य से भी राज को आय प्राप्त होती है।

(५) आधुनिक काल में अधिकतर राज्यों की प्रवृत्ति समाजवादी होने की ओर है। वे व्यापार तथा उद्योगों का राष्ट्रीयकरण कर रहे हैं और उनका संचालन स्वयं करते जा रहे हैं। आधुनिक उद्योगों में बहुत बड़ी मात्रा में पूँजी की आवश्यकता होती है जिसकी पूर्ति केवल ऋणों द्वारा ही हो सकती है। इसके अतिरिक्त न्याय की दृष्टि से भी यह उचित होता है। हम इसके सम्बन्ध में पहले कह चुके हैं।

(६) कभी-कभी राज ऐसी सेवायें सम्पन्न करने के लिए ऋण प्राप्त करता है जिनसे प्रत्यक्ष रूप से उत्पादन में कोई वृद्धि नहीं होती, किन्तु दीर्घकाल में देश की उत्पादन शक्ति में बहुत वृद्धि होती है, जैसे शिक्षा, स्वास्थ्य आदि से सम्बन्धित सेवाएँ। इन सेवाओं से ऋण की राशि तथा व्याज की राशि का भुगतान करने के लिए, तुरन्त ही धन प्राप्त नहीं होता, वरन् सामाजिक तथा आर्थिक उन्नति होती है।

(७) आधुनिक समय में युद्ध तथा रक्षा-सम्बन्धी व्यवस्था बहुत अधिक खर्चीली तथा महँगी है, जिसको बिना ऋणों की सहायता के किया ही नहीं जा सकता। इसीलिए बड़े से बड़े देशों ने युद्धकाल में ऋण प्राप्त किये हैं।

(८) हम पहले भी कह चुके हैं, कि राजकीय ऋणों का उद्देश्य आजकल केवल धन प्राप्त करना ही नहीं होता, वरन् आर्थिक तथा व्यापारिक दशाओं में स्थायित्व उत्पन्न करना भी होता है। मुद्रा-प्रसार के काल में राज इन ऋणों द्वारा मूल्यों को स्थायी बनाते हैं।

(९) अन्त में राजकीय ऋणों से भाईचारे, पारस्परिक सहयोग तथा निर्भरता की भावना उत्पन्न होती है, इसलिए राजकीय ऋण-व्यवस्था का उद्देश्य राजनैतिक क्षेत्र में मित्रता उत्पन्न करना भी होता है।

उपर्युक्त उद्देश्यों को देखने से पता चलता है कि राज मुख्यतया, चालू व्ययों के लिए, संकटकालीन परिस्थितियों के लिए, उत्पादक कार्यों के लिए, सामाजिक

सेवाओं के लिए और आर्थिक स्थिरता के लिए ऋण प्राप्त करते हैं। साधारणतया, जैसा हम कह चुके हैं, चालू व्ययों को करारोपण द्वारा पूरा करना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने से अपव्ययिता कम होती है और आने वाली सरकारों पर ऋण-भार भी नहीं पड़ता। इसके अतिरिक्त ऋण द्वारा राष्ट्रों के धन उत्पादक कार्यों से निकल कर अनुत्पादक कार्यों में लगने लगते हैं जिसका बुरा प्रभाव राष्ट्रीय उत्पत्ति पर पड़ता है। असाधारण परिस्थितियों की बात दूसरी है। इनमें चालू व्यय को ऋणों द्वारा पूरा किया जा सकता है, किन्तु इसे हम स्थायी नीति का रूप नहीं दे सकते। जहाँ तक संकटकालीन परिस्थितियों का प्रश्न है, उनके लिए ऋण प्राप्त किये जा सकते हैं। हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं कि कर की उत्पादकता की भी एक सीमा होती है। कर की दर को हम अनिश्चित सीमा तक नहीं बढ़ा सकते और किसी न किसी बिन्दु पर अवश्य ही रुकना पड़ेगा। इसके अतिरिक्त कर की दर अधिक बढ़ाने से दीर्घकाल में करदाताओं की बचत करने तथा कार्य करने की शक्ति भी हतोत्साहित होने लगती है। परन्तु यह निश्चित करने से पहले, कि संकटकालीन परिस्थितियों का समाधान करने के लिए ऋण लेना करारोपण की अपेक्षा अधिक उपयुक्त होगा या नहीं, यह भी देखना आवश्यक है कि संकटों की अवधि कितनी है। यदि यह परिस्थितियाँ अल्पकालीन हैं तो ऋण द्वारा पूरा करने में कोई हानि नहीं और यदि दीर्घकालीन हैं तब तो अवश्य ही कर प्रणाली में उचित परिवर्तन करने होंगे। युद्ध अर्थ-व्यवस्था की बात ही बिलकुल निराली है। युद्ध के लिए तो राष्ट्र के सारे साधनों को ही जुटाना पड़ता है। परन्तु युद्ध संचालन इतना अधिक खर्चीला होता है कि राष्ट्रीय स्रोतों से काम नहीं चलता और ऋण प्राप्त करने पड़ते हैं और साथ ही कर भी लगाने पड़ते हैं, अकेले ऋणों से भी काम नहीं चलता और अकेले करों से भी काम नहीं चल सकता। इनमें से किसी एक पर निर्भर रहना बुद्धिमानी नहीं होगी, इसलिए दोनों स्रोतों के अतिरिक्त, यदि और कोई अन्य उपाय किया जा सके तो उसको भी अपनाना चाहिए। कुछ सार्वजनिक कार्य तथा आर्थिक विकास की योजनायें इतनी विस्तृत और विशाल होती हैं और उनमें इतने अधिक धन की आवश्यकता होती है कि इनको कार्यान्वित करने के लिए भी ऋणों का सहारा लेना आवश्यक होता है। ऐसे ऋणों से देश की जनता पर कोई अनुचित भार भी नहीं पड़ता, क्योंकि ये सारे व्यय उत्पादक होते हैं और इनकी आय में से ऋण के मूलधन तथा ब्याज का भुगतान किया जा सकता है। ऐसे ऋणों के भुगतान के लिए करारोपण की आवश्यकता नहीं होती। यह ध्यान रहे कि किसी भी योजना को आरम्भ करने से पहले और ऋण प्राप्त करने से पहले यह निश्चित कर लेना चाहिए कि क्या उस योजना को पूरा करना देश के हित में होगा या नहीं, और दूसरे, यह सिद्ध करना होगा कि क्या उस उपक्रम को सरकार के अतिरिक्त और कोई अन्य संस्था सफलतापूर्वक चला नहीं सकती। यदि ये दोनों बातें सरकार के पक्ष में हों, तो सामान्य रूप से यह कह सकते हैं कि उत्पादक कार्यों के लिए ऋणों द्वारा धन प्राप्त करना उपयुक्त होता है। सामाजिक सेवायें, एक प्रकार के चालू व्यय हैं और बार-

बार उत्पन्न होते हैं। ऐसे व्ययों को करारोपण द्वारा ही पूरा करना चाहिए। आर्थिक जीवन को स्थायी बनाने के लिए ऋणों का जो महत्व है, उसको हम पहले कई बार स्पष्ट कर चुके हैं। लरनर (Lerner) का तो यही कहना है कि राजकीय ऋणों का उद्देश्य धन प्राप्त करना नहीं होना चाहिए, वरन् आर्थिक जीवन को सन्तुलित बनाने के लिए राजकीय ऋणों को प्राप्त करना चाहिए। ऋणों द्वारा मुद्रा-स्फीति काल में व्यक्तियों से अतिरिक्त धन प्राप्त करके मूल्य-स्तर को स्थायी बनाया जा सकता है। इसी प्रकार मुद्रा संकुचन काल में बैंकों से ऋण प्राप्त करके, सरकार नई-नई योजनाओं को चलाकर उस धन को व्यक्तियों में फैला सकती है, ताकि उनकी क्रय-शक्ति बढ़े और गिरते हुए मूल्य बढ़ने लगें। अतः मुद्रा-स्फीति तथा मुद्रा-संकुचन, दोनों स्थितियों में राजकीय ऋण लाभदायक सिद्ध हो सकते हैं।

राजकीय ऋणों का वर्गीकरण—

राजकीय ऋणों के कई रूप हो सकते हैं। हम यहाँ पर इन विभिन्न रूपों का वर्णन करेंगे। ये निम्न प्रकार हैं :—

राजकीय ऋण मुख्य रूप से दो प्रकार के होते हैं :—आन्तरिक तथा बाह्य।

१. आन्तरिक तथा बाह्य ऋण—राज देश के भीतर भी ऋण प्राप्त करता है और विदेशों से भी। जो ऋण देश के भीतर प्राप्त किए जाते हैं, उन्हें आन्तरिक ऋण कहते हैं और जो विदेशों से प्राप्त किये जाते हैं उन्हें बाह्य ऋण कहते हैं। प्रथम प्रकार के ऋण राज को देश के नागरिकों एवं संस्थाओं आदि से ही प्राप्त हो जाते हैं। साधारणतया राज्य देश के भीतर ही ऋण प्राप्त करना चाहता है, परन्तु जब वह अपने प्रयत्नों में अधिक सफल नहीं हो पाता तो उसे विदेशों के आगे हाथ फैलाना पड़ता है। अतः बाह्य ऋण वे होते हैं जो एक राज को अन्य राजों से या अन्य देशों के व्यक्तियों से प्राप्त होते हैं। दूसरे शब्दों में आन्तरिक ऋण उधार लेने वाले राज को अपनी ही मुद्रा में अपने देश की सीमाओं के अन्दर रहने वाले व्यक्तियों से प्राप्त होते हैं तथा बाह्य-ऋण देश के बाहर रहने वाले व्यक्तियों से विदेशी मुद्रा में प्राप्त होते हैं। आन्तरिक ऋण लेना उसी समय अच्छा होता है, जब देश में व्यक्तियों के पास अतिरिक्त धन उधार देने को होता है, क्योंकि व्यक्तिगत व्यवसायों और उपक्रमों में लगाने के लिए भी पूंजी उपलब्ध होती रहती है और सरकार को भी धनराशि प्राप्त हो जाती है। परन्तु यह निश्चित करना सदैव ही सम्भव नहीं होता कि देश में अतिरिक्त धन व्यक्तियों के पास है या नहीं। इसका केवल एक ही सूचक हो सकता है और वह है ब्याज की नीची दर। किन्तु यह भी कोई निश्चित आधार नहीं है, क्योंकि ब्याज की नीची दर केवल धन की अधिकता के कारण ही तो नहीं होती। यह ध्यान रहे कि आन्तरिक ऋण इच्छित तथा अनिच्छित, दोनों ही हो सकते हैं, जब कि विदेशी ऋण केवल इच्छित ही होते हैं। आन्तरिक ऋणों से देश के आर्थिक साधनों तथा राष्ट्रीय आय पर कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता, क्योंकि इन ऋणों से केवल धन की उलट फेर ही होती है। बाह्य ऋणों

में देश का धन देश में नहीं रहता । बाह्य ऋणों में, ऋणदाता देश की राष्ट्रीय आय ऋण देते समय कम हो जाती है, परन्तु ऋण चुकाते समय ऋणी देश से बाहर धन जाता है और राष्ट्रीय आय कम हो जाती है। किन्तु संकट काल में बाह्य ऋणों से बड़ी सहायता प्राप्त होती है, विशेषकर जब देश के भीतर धन प्राप्त नहीं होता। अविकसित देश ऐसे ऋणों द्वारा अपने देश का आर्थिक विकास कर सकते हैं और विदेशी वस्तुओं को भी प्राप्त कर सकते हैं।

आन्तरिक ऋणों का भार—हम कह चुके हैं कि आन्तरिक ऋणों में देश का धन देश के बाहर नहीं जाता और केवल धन का पुनर्वितरण ही होता है, इसलिए ऐसे ऋणों का कोई प्रत्यक्ष मौद्रिक भार नहीं पड़ता है। जहां तक वास्तविक भार का सम्बन्ध है सो इस बात पर निर्भर करता है कि ऋण द्वारा प्राप्त किये हुए धन का उपयोग किस प्रकार किया जा रहा है। यदि ऐसे ऋणों से देश में धन का वितरण असमान होता है तो इनका वास्तविक भार बहुत अधिक होगा। यदि ऋण धनी व्यक्तियों द्वारा खरीदा गया है और उसका भुगतान करने के लिये सरकार छोटी आय वाले व्यक्तियों पर कर लगाती है तो इसका वास्तविक भार बहुत अधिक होगा, और यदि ऋण को निर्धन व्यक्तियों ने खरीदा है और सरकार धनी व्यक्तियों पर कर लगा कर उसका भुगतान करना चाहती है तो उसका वास्तविक भार बहुत कम होगा। दूसरी ओर यदि ऋण द्वारा प्राप्त धनराशि अनुत्पादक कार्यों में लगाई गई है तो इसका वास्तविक भार व्यक्तियों पर अधिक पड़ेगा और यदि उत्पादक कार्यों में लगाई गई है तो देश की आय बढ़ने से व्यक्तियों पर वास्तविक भार कम होगा। परन्तु व्यावहारिक जीवन में अधिकतर ऋणों का वास्तविक भार बहुत अधिक होता है, क्योंकि ये ऋण धनी व्यक्तियों द्वारा खरीदे जाते हैं और कर निर्धन व्यक्तियों को भी देने पड़ते हैं। इन ऋणों का एक दूसरी प्रकार से, प्रत्यक्ष वास्तविक भार भी पड़ता है। निर्धन व्यक्तियों का धन, धनी व्यक्तियों के पास हस्तान्तरित होने के साथ-साथ धन नवयुवकों के हाथों से निकल कर वृद्ध व्यक्तियों के पास चला जाता है और सक्रिय उपयोगों से निकल कर निष्क्रिय उपयोगों को हस्तान्तरित हो जाता है। अधिकांश ऋण वृद्ध व्यक्तियों द्वारा खरीदा जाता है, परन्तु कर का भुगतान अधिकतर नवयुवकों को अपनी वर्तमान आय में से करना पड़ता है, जबकि वृद्ध व्यक्तियों ने ये ऋण पुरानी बचतों में से खरीदा था। इसी प्रकार ऋण तो एकत्रित धन में से खरीदा जाता है, जबकि उसका भुगतान उस धन में से करना होता है जो उद्योग तथा व्यापार जैसे सक्रिय उपयोगों में लगा हुआ है।[1] आन्तरिक ऋणों का अप्रत्यक्ष भार भी देश के नागरिकों पर पड़ता है। ऋणों का भुगतान सरकार करों को लगा कर करती है और इस कारण व्यक्तियों को अधिक कर-भार सहन करना पड़ता है। उनकी बचाने तथा कार्य करने की क्षमता पर बुरा प्रभाव पड़ता है। इसके अतिरिक्त ऋण चुकाने के लिए धन को कभी-कभी ऐसे कार्यों में लगाना पड़ता है जिनसे नागरिकों का हित तुरन्त ही अग्रसर नहीं होता। अतः देश में एक तो उत्पादन कम होने

1. Dalton, *Public Finance*, p. 254.

से और दूसरे धन के वितरण की असमानता बढ़ने से आन्तरिक ऋणों का भार देश के व्यक्तियों पर अप्रत्यक्ष रूप से भी पड़ता है। युद्ध संचालन के लिए प्राप्त किये गये ऋणों का भार भी देश के व्यक्तियों को ही सहन करना पड़ता है। युद्धकाल में एक तो वैसे ही वस्तुओं का अभाव रहने से व्यक्तियों का जीवन-स्तर गिर जाता है और यही प्रभाव मूल्यों के बढ़ने के कारण भी होता है। युद्ध समाप्त होने के बाद बेरोजगारी बढ़ने, मूल्यों और ब्याज की दरों के गिरने के कारण वास्तविक भार भी अधिक होता जाता है। इसके अतिरिक्त बाजार में ब्याज की दर घटाने के कारण सरकारी प्रतिभूतियों पर ऊँची ब्याज की दर होने के कारण उनका मूल्य ऊँचा होता जाता है, जिससे ऋण का भार और भी अधिक हो जाता है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि आन्तरिक ऋणों का मौद्रिक-भार यद्यपि कुछ भी नहीं होता किन्तु वास्तविक भार बहुत अधिक होता है।

बाह्य ऋणों का भार—यह विश्वास किया जाता है कि बाह्य ऋणों का भार उस देश के नागरिकों को सहन करना पड़ता है जो ऋण लेता है। ऐसे ऋणों का मौद्रिक-भार धन की उस राशि से नापा जाता है जो ऋणी देश मूलधन और ब्याज के रूप में विदेशी ऋणदाता को देता है और प्रत्यक्ष वास्तविक भार उस हानि से नापा जा सकता है जो ऋणी देश में से उतना धन निकल जाने के कारण वहाँ के नागरिकों को सहन करनी होगी। यदि ऐसे ऋणों को अमीर लोग चुकाते हैं तो प्रत्यक्ष वास्तविक भार कम होगा अपेक्षाकृत उस स्थिति के जब गरीब लोग उस कर का भुगतान करें। ऐसे ऋणों का अप्रत्यक्ष भार तो ऋणी देश के व्यक्तियों पर पड़ता ही है। कारण यह है कि ऋणी देश की सरकार उन ऋणों का भुगतान करने के लिए कर लगाती है जिसका भार नागरिकों को सहन करना पड़ता है। परन्तु यह विचार पूर्णतया सत्य नहीं है। बात यह है कि जो ऋण हम विदेशों से प्राप्त करते हैं, उनसे हम अपने देश में उत्पादन बढ़ाते हैं और जो सूद या मूलधन देते हैं वह उसी लाभ में से तो भुगतान करते हैं जो उत्पादन में वृद्धि करने से प्राप्त होता है। कुछ वर्षों बाद हम उस ऋण को चुका देते हैं। हमारे देश में औद्योगिक उन्नति भी हो जाती है, विदेशी निर्भरता भी समाप्त हो जाती है और जो धन उन वस्तुओं को खरीदने के कारण हमें विदेशों को भेजना पड़ता था वह भी अब भेजना नहीं पड़ेगा। इसलिये यह सोचना कि बाह्य ऋणों से ऋणी देश के नागरिकों को ऋण का अप्रत्यक्ष भार सहन करना पड़ता है, भ्रमपूर्ण है। सच तो यह है कि दीर्घकाल में ऐसे ऋणों से देश के नागरिकों को कुछ भी भार नहीं सहन करना पड़ता—यदि इन ऋणों को उत्पादक उपयोगों में लगाया गया है। वास्तव में यह बड़ा विवादग्रस्त विषय है और भिन्न-भिन्न व्यक्तियों ने इसके पक्ष तथा विपक्ष में अनेक तर्क रखे हैं। हम निम्न में इन तर्कों को देते हैं :—

बाह्य ऋणों के पक्ष में तर्क—(१) अर्ध विकसित या अविकसित देशों का आर्थिक विकास बिना विदेशी ऋण प्राप्त किये हो ही नहीं सकता। ऐसे देशों को केवल धन ही नहीं चाहिए वरन् वैज्ञानिक, औद्योगिक, यान्त्रिक ज्ञान भी चाहिए

और विदेशी मशीनें भी चाहियें। ये सभी वस्तुयें वाह्य ऋणों के रूप में प्राप्त हो जाती हैं।

(२) युद्ध का सफल संचालन बिना वाह्य ऋणों के सम्भव ही नहीं। संसार का कोई भी ऐसा युद्ध नहीं है जिसमें युद्ध में भाग लेने वाले देशों ने दूसरे देशों से ऋण न लिये हों। इंगलैण्ड को ही देखिये, दूसरे युद्ध में, भारत, मिश्र, अमेरिका आदि देशों से कितनी अधिक मात्रा में उसने ऋण लिये थे।

(३) युद्धकाल में जिन देशों की अर्थ-व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो जाती है उनका पुनर्निर्माण भी विदेशी पूँजी अथवा वाह्य ऋणों से ही किया जाता है। दूसरे युद्ध के बाद की स्थिति हमारे सामने है, और पिछले पन्द्रह वर्षों में विभिन्न देशों ने विश्व बैंक तथा अन्य देशों से कितने ऋण लिये हैं, सब हमारे सम्मुख हैं। भारत को ही लीजिये, जो उन्नति हमारे देश ने की है वह कदापि बिना वाह्य ऋणों के सम्भव न थी।

(४) विदेशी विनिमय दर की प्रतिकूलता को भी वाह्य ऋणों द्वारा दूर किया जा सकता है।

वाह्य ऋणों के विपक्ष में—(१) जो लोग वाह्य ऋणों के पक्ष में नहीं है, उनका पहला तर्क यह है कि विदेशों से ऋण प्राप्त करने से, अपने देश का बहुत-सा धन, ब्याज तथा मूलधन के रूप में, विदेशों के पास चला जाता है और अपने देश को बहुत हानि उठानी पड़ती है।

(२) वे दूसरा तर्क यह देते हैं कि ऐसे ऋणों से ऋणी देश दीर्घकाल में ऋणदाता देश का एक प्रकार से दास बन जाता है।

सच तो यह है कि विदेशी ऋण तनिक भी हानिकारक नहीं हैं यदि उनका प्रबन्ध तथा नियन्त्रण स्वदेशी सरकार के ही हाथ में हो और उनका उपयोग इस प्रकार किया जाय कि देश की उत्पादन शक्ति बढ़े।

२. उत्पादक या पुनरुत्पादक, अनुत्पादक या मृत-भार ऋण—राजकीय ऋणों का दूसरा वर्गीकरण, उत्पादक पुनरुत्पादक (Re-productive) अनुत्पादक या मृत-भार ऋणों में किया गया है। उत्पादक ऋण वे ऋण होते हैं, जिनकी धनराशि को ऐसे व्यवसायों तथा उपक्रमों में लगाया जाय जिनकी आय से उसके ब्याज तथा मूल-धन को ऋण की परिपक्वता (Maturity) के बाद लौटाया जा सके। अधिकतर सरकार इन ऋणों को उन उपक्रमों में लगाती है, जिन पर उसका पूरा नियन्त्रण होता है और ये अधिकतर वे उद्योग होते हैं, जिनका चलाया जाना देश के हित में होता है या जो देश के लिए आवश्यक होते हैं, परन्तु जिनमें निजी उपक्रम भाग लेने के लिए तैयार नहीं होता है जैसे रेलें, नहरें, बिजली-घर इत्यादि। दूसरी ओर वे ऋण जिनको ऐसे कार्यों में लगाया जाय कि ऋण की परिपक्वता के बाद ब्याज तथा मूलधन की राशि का भुगतान उन उपयोगों द्वारा न किया जा सके अर्थात् ऐसे उपयोगों में लगाया जाय कि उनसे कोई भी आय प्राप्त न हो, जैसे युद्ध संचालन पर खर्च करना, अकाल, भूकम्प, बाढ़-पीड़ितों को आर्थिक सहायता देना। ऐसे ऋणों के ब्याज तथा मूलधन

की राशि का भुगतान कर लगाकर किया जाता है। यदि हम उत्पादक शब्द का अर्थ केवल आर्थिक दृष्टिकोण से न लेकर साधारण दृष्टिकोण से लें तो हर व्यय दीर्घकाल में उत्पादक होता है। भूकम्प, बाढ़ आदि पर किया हुआ व्यय भी उत्पादक हो सकता है और यदि उत्पादक नहीं तो रक्षात्मक (Protective) तो अवश्य होता है। इसी प्रकार सामाजिक सेवाओं पर किया हुआ व्यय भी दीर्घकाल में रक्षात्मक होता है, क्योंकि इनसे सामाजिक कल्याण में वृद्धि होती है। अनुत्पादक ऋणों को मृत-भार ऋण भी कहते हैं।

३. **मृत-भार वाला ऋण, सक्रिय एवं निष्क्रिय ऋण**—श्रीमती हिक्स ने राजकीय ऋणों को तीन वर्गों में विभाजित किया है, अर्थात् मृत-भार वाला ऋण (Dead-weight Debt), सक्रिय ऋण (Active Debt) और निष्क्रिय ऋण (Passive Debt)। पहले वर्ग में वे ऋण आते हैं जिनके व्यय से देश की उत्पादन शक्ति में कोई वृद्धि नहीं होती। श्रीमती हिक्स ने अनुत्पादक ऋणों को ही मृत-भार ऋण कहा है। उत्पादक ऋणों को उन्होंने सक्रिय ऋणों का नाम दिया है। उनके अनुसार सक्रिय ऋण वे हैं जिनके व्यय से आय भी प्राप्त होती है और देश की उत्पादन शक्ति में भी वृद्धि होती है, जैसे रेल, नहरों आदि पर व्यय। निष्क्रिय ऋण वे हैं, जिनसे न तो कोई आय ही प्राप्त होती है और न देश की उत्पादन शक्ति में ही वृद्धि होती है, किन्तु जिनके व्यय से व्यक्तियों को सन्तोष प्राप्त होता है, जैसे पार्क, हवा-घर, अजायबघर आदि बनवाना।

४. **इच्छित तथा अनिच्छित ऋण**—राजकीय ऋणों का चौथा वर्गीकरण इच्छित (Voluntary) तथा अनिच्छित या बलात् (Involuntary or Forced) ऋणों में किया गया है। जो ऋण सरकार को केवल घोषणा मात्र से ही प्राप्त हो जाते हैं, अर्थात् जिन्हें नागरिक स्वयं अपनी इच्छा से देते हैं और सरकार की ओर से कोई दबाव नहीं पड़ता, ऐसे ऋणों को इच्छित ऋण कहते हैं। ये ऋण आन्तरिक भी होते हैं और बाह्य भी। जब सरकार को इच्छित ऋण पर्याप्त मात्रा में नहीं मिल पाते तब सरकार नागरिकों पर दबाव डालती है और उनकी इच्छा न होते हुए भी उनसे ऋण प्राप्त कर लेती है। ऐसे ऋणों को अन-इच्छित ऋण कहते हैं। सरकार ऐसे ऋणों को उस समय ही एकत्रित करती है जब संकट काल होता है या जब उसकी साख इतनी कम हो गई होती है या लोगों का विश्वास इतना कम हो गया होता है कि वे सरकार को ऋण देना नहीं चाहते। सरकार अपनी राजनैतिक सत्ता का प्रयोग करती है और नागरिकों को ऋण देने के लिए बाध्य कर देती है। सत्रहवीं तथा अठारहवीं शताब्दियों में ऐसे ऋणों का अधिक रिवाज था। आधुनिक राजकीय ऋण-व्यवस्था में ऐसे ऋणों को कोई स्थान प्राप्त नहीं है। सरकार ऐसे ऋणों के स्थान पर आजकल कर लगाना अधिक उचित समझती है, क्योंकि करों में नागरिकों को उतनी ही नाराजगी होती है जितनी अन-इच्छित ऋणों में, साथ ही एक अच्छी बात यह और होती है कि सरकार को प्राप्त किये हुए धन को लौटाना नहीं पड़ता। यह पूर्णतया सच नहीं है कि अन-इच्छित ऋणों का आजकल प्रयोग नहीं किया जाता। इनके

केवल रूप में ही परिवर्तन हो गया है। उनसे मिलते-जुलते ऋणों का प्रयोग आजकल भी होता है जैसे प्रथम महायुद्ध में जमींदारों तथा आयकर देने वाले व्यक्तियों को युद्ध-बन्ध (War Bonds) खरीदने पड़े थे। परन्तु ऐसे ऋण केवल भीषण संकट में ही लिये जाते हैं।

५. अनिश्चितकालीन अथवा दीर्घकालीन और निश्चितकालीन अथवा अल्पकालीन ऋण—पाँचवें वर्गीकरण के अनुसार राजकीय ऋणों को अनिश्चित-कालीन (Funded) अथवा निश्चितकालीन (Unfunded) ऋणों में विभाजित किया जाता है। पहले प्रकार के ऋणों को दीर्घकालीन या स्थायी ऋण और दूसरे प्रकार के ऋणों को अल्पकालीन या अस्थायी ऋण भी कहते हैं। इस वर्गीकरण पर लेखकों में बड़ा मतभेद है। डा० डाल्टन के अनुसार 'अनिश्चितकालीन ऋण का जब निश्चितकालीन ऋण से भेद किया जाता है, तब इसका अभिप्राय उस ऋण से होता है, जिसका मूलधन कभी भी लौटाना आवश्यक नहीं होता। परन्तु जिसके ब्याज का भुगतान करने की गारण्टी दी जाती है, जैसे इंगलैंड के ब्रिटिश कौन्सल्स (British Consuls)। इसी प्रकार निश्चितकालीन ऋण वे हैं जिनका भुगतान प्राप्त करने के एक साल के अन्दर करना होता है।'[2] किन्तु उनका विचार है कि 'अनिश्चितकालीन, निश्चितकालीन व अल्पकालीन (Floating) शब्दों का प्रयोग अक्सर भ्रमात्मक होता है। इस प्रकार सन् १९१९ में जारी किये गये अनिश्चित-कालीन ऋण को, जो अल्पकालीन ऋण के एक भाग के लिए धन इकट्ठा करने के हेतु था और जिसका सन् १९६० और १९९० के बीच भुगतान होना था, सरकारी तौर पर निश्चितकालीन ऋण कहा गया है।"[3] इसी विषय पर एडम स्मिथ लिखते हुए कहते हैं कि, "व्यक्ति के समान, राष्ट्र भी साधारणतया अपनी व्यक्तिगत साख पर ऋण का भुगतान करने के लिए कोई कोष निश्चित या बन्धक किए बिना ही उधार लेने लगे हैं, और जब उनको इस प्रकार ऋण प्राप्त नहीं हुए तो वे कोष में निश्चित या बन्धक करके ऋण प्राप्त करने लगे हैं।"[4] पहली प्रकार के ऋण निश्चित-कालीन और दूसरी प्रकार के अनिश्चितकालीन ऋण हैं। परन्तु इन शब्दों का प्रयोग आजकल उस अर्थ में नहीं किया जाता जिसमें एडम स्मिथ ने किया था। प्रो० कोहन (Cohn) ने स्मिथ के विचार का समर्थन नहीं किया है। वह स्मिथ द्वारा बताये गये भेद को पुराना बताते हुए कहते हैं कि अनिश्चितकालीन ऋण दीर्घ-कालीन होते हैं और निश्चितकालीन, अल्पकालीन ऋण होते हैं। इसके साथ-साथ उनका यह कथन है कि, "यद्यपि ऋण के विभिन्न कारण तथा उद्देश्य समय की अवधि पर निर्भर करते हैं।" हम इस अर्थ को ऊपर समझा ही चुके हैं जिसमें आज-कल निश्चितकालीन और अनिश्चितकालीन ऋणों को समझा जाता है। वैगनर ने इन दोनों के भेद को समझाने के लिए निम्न बातों का उल्लेख किया है :—

2. Dalton, *Op. Cit.*, p. 238.
3. *Ibid*, p. 239.
4. *Wealth of Nations*, Book V, Ch. III.

(१) निश्चितकालीन ऋण शीघ्र ही समाप्त होने वाली आवश्यकताओं के लिए प्राप्त किये जाते हैं और खजाने के चालू द्रव्य का भुगतान करने के लिए होते हैं। दूसरी ओर अनिश्चितकालीन ऋण स्थायी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पूँजी एकत्रित करने के उद्देश्य से प्राप्त किए जाते हैं।

(२) निश्चितकालीन ऋण अल्पकाल के लिये होते हैं और अनिश्चितकालीन दीर्घकाल के लिए होते हैं।

(३) पहले प्रकार के ऋण का भुगतान थोड़े समय बाद ही करना होता है। यह ऋण दर्शनी भी होते हैं। परन्तु दूसरी प्रकार के ऋण निश्चित शर्तों के अनुसार चुकाए जाते हैं और ऋणदाता देश का, किसी प्रकार का भी, नियन्त्रण मूलधन पर नहीं होता।

सच तो यह है कि इन दोनों प्रकार के ऋणों में भेद करना बहुत कठिन है। इनका वास्तव में सापेक्षिक महत्व है और उपर्युक्त तीन बातों पर निर्भर करता है। प्लेहन का भी यही विचार है। प्लेहन का तो यहाँ तक कहना है कि कौन सा ऋण किस वर्ग में रक्खा जाये, निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यह अफसरों के अपने विचारों पर निर्भर करता है। एक अफसर तीन, पांच या दस वर्षों तक चलने वाले ऋण को अस्थायी कह सकता है और दूसरा केवल छः माह तक चलने वाले ऋण को ही स्थायी कह सकता है। उसके अनुसार निश्चितकालीन ऋण केवल उसी को कहना चाहिये जो उस आर्थिक वर्ष के बाद चलने वाला न हो, जिसके लिए ऋण लिया गया हो। उसने लिखा है कि, "परन्तु इस प्रकार की सीमा के लिए कोई निश्चित प्रथा नहीं है। इन दोनों वर्गों के बीच एक गहरी रेखा खींचने के प्रयत्न में हमारे सामने वही कठिनाई आती है जो प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष करों के बीच भेद करने के प्रयत्न में आई थी। सरकारी कानूनी और वैज्ञानिक प्रयोग इतने भिन्न हैं कि सब अर्थों के मिलाने के प्रयत्न में कुछ भी प्राप्त नहीं होगा।"[5]

६. शोध्य तथा अशोध्य ऋण—राजकीय ऋणों का एक वर्गीकरण और दिया गया है जिसके अनुसार शोध्य (Redeemable) तथा अशोध्य (Irredeemable) ऋण होते हैं। जो ऋण सरकार को एक निश्चित तिथि तक ब्याज सहित चुकाने होते हैं, उन्हें शोध्य ऋण कहते हैं और जो ऋण सरकार को केवल सूद देने की शर्त पर ही, सदा के लिए प्राप्त हो जायें, उनको अशोध्य ऋण कहते हैं। इस प्रकार पहले ऋणों में मूलधन और ब्याज दोनों ही का भुगतान करना होता है और इनका भुगतान एक निश्चित तिथि तक के अन्दर ही करना पड़ता है। दूसरी प्रकार के ऋणों में मूलधन तो नहीं लौटाना पड़ता किन्तु ब्याज का भुगतान सदा के लिए निश्चित दरों के अनुसार चलता रहता है। आधुनिक सरकारें अशोध्य ऋणों का बहुत कम ही प्रयोग करती हैं, क्योंकि इन ऋणों का भार निरन्तर ही नागरिकों पर पड़ता रहेगा और सरकार कभी ऋण-मुक्त नहीं हो पायेगी। परन्तु इस दृष्टि से कि ऋण राशि से जो सेवायें प्रदान की जा रही हैं, उनका लाभ भविष्य में आने वाली

5. *Introduction to Public Finance*, p. 458.

सन्तानों को भी प्राप्त होगा इसलिए ऋण-भार उनको भी सहन करना चाहिए, अशोध्य ऋण ही अधिक उपयुक्त होंगे। इसके अतिरिक्त जिन स्रोतों से निरन्तर लाभ प्राप्त होता रहता है जैसे रेलें, सड़कें उनके लिए भी इन ऋणों को प्राप्त किया जा सकता है, क्योंकि ऋण के ब्याज का भुगतान उनसे प्राप्त होने वाले लाभों से किया जा सकता है। शोध्य ऋण दीर्घकालीन या स्थायी और अल्पकालीन या अस्थायी भी हो सकते हैं। वास्तव में निश्चितकालीन, अनिश्चितकालीन, शोध्य तथा अशोध्य ऋण—दो मोटे वर्गों में रक्खे जाते हैं, अर्थात् स्थायी तथा अस्थायी। आधुनिक सरकारों को दोनों प्रकार के ऋणों की आवश्यकता होती है और इनके अपने-अपने लाभ तथा हानियाँ होती हैं। इनका वर्णन हम निम्न में देंगे :—

अस्थायी ऋणों के लाभ—अस्थायी ऋणों के निम्न लाभ बताये जाते हैं :—

(१) किसी अस्थायी संकट अथवा आवश्यकता की पूर्ति के लिए ऐसे ऋण ही लिए जाते हैं। कभी-कभी सरकार इनको उस समय भी लेती है जब उसे कर की आय के इकट्ठे होने में देर लगने की सम्भावना होती है। संक्षेप में अल्पकालीन परिस्थितियों के लिए अस्थायी ऋण लिये जाते हैं।

(२) जब बाजार में सूद की दर अस्थायी कारणों से ऊँची हो जाती है और उसके शीघ्र ही गिरने की आशा होती है तब अस्थायी ऋण अधिक उपयुक्त होते हैं।

(३) अस्थायी ऋणों को बड़ी सरलता से प्राप्त किया जा सकता है, क्योंकि ऋणदाता ऐसे ऋणों में अपना धन विनियोग करने में हिचकते नहीं हैं।

(४) इनका देश के नागरिकों पर बुरा प्रभाव नहीं पड़ता।

अस्थायी ऋणों की हानियाँ—अस्थायी ऋणों की हानियाँ निम्न प्रकार हैं—

(१) ऐसे ऋणों में अपना धन लगाने में व्यक्तियों को कोई भी आपत्ति नहीं होती। वह इन्हें लाभप्रद तथा सुरक्षित विनियोग समझते हैं जिसके कारण व्यक्ति अपने धन को अन्य विनियोगों से निकाल कर इनमें विनियोग करना आरम्भ कर देते हैं। परिणामस्वरूप उद्योग-धन्धों तथा अन्य उपक्रमों के लिए अल्पकालीन धन की कमी हो जाती है और उनका उचित विकास नहीं हो पाता।

(२) ऐसे ऋण बहुधा दीर्घकालीन ऋण बन जाते हैं, क्योंकि सरकार एक ऋण का भुगतान करने के लिए दूसरा ऋण प्राप्त करती है और इस प्रकार ऋण कभी समाप्त ही नहीं होता।

(३) बार-बार अस्थायी ऋण लेने से सरकार की साख कम हो जाती है, क्योंकि जनता का विश्वास सरकार पर से कम हो जाता है। विदेशों पर भी इनका अच्छा प्रभाव नहीं पड़ता और विदेशी ऋण प्राप्त करने में भी कठिनाई होती है।

(४) इन ऋणों पर कोई कानूनी नियन्त्रण नहीं होता और इनका भुगतान करने के लिए सरकार नोट छापती है। मुद्रा-स्फीति में मूल्य-स्तर बढ़ने से व्यक्तियों को ऐसे ऋणों का अप्रत्यक्ष वास्तविक भार सहन करना पड़ता है और हानि उठानी पड़ती है।

(५) अधिक अस्थायी ऋण लेने के कारण आर्थिक संकटकाल तक में सरकार को ऋण प्राप्त करना कठिन हो जाता है।

स्थायी ऋणों के लाभ—स्थायी ऋणों के लाभ निम्न प्रकार हैं :—

(१) ऐसे ऋणों का भुगतान शीघ्र ही न करने के कारण, सरकार इनकी उचित व्यवस्था कर सकती है। इन ऋणों को दीर्घकालीन विनियोगों में लगाने की योजना बना सकती है तथा ऐसी व्यवस्था कर सकती है, जिससे नागरिकों पर ऋण-भार कम से कम पड़े।

(२) ऐसे ऋण, बीमा कम्पनियों, बैंकों तथा विनियोग ट्रस्टों के लिए विनियोग का एक अच्छा साधन प्रस्तुत करते हैं।

(३) जब बाजार में व्याज की दर नीची होती है तब, स्थायी ऋण प्राप्त करना अधिक उपयुक्त होता है।

(४) ये ऋण अधिक न्यायसंगत होते हैं, क्योंकि इनका भार भविष्य में आने वाली संतानों पर भी डाला जा सकता है।

(५) अधिक दीर्घकाल तक चलने वाले संकटों के लिए स्थायी ऋण आवश्यक होते हैं।

(६) एक बार स्थायी ऋण ले लेने से सरकार को बार-बार ऋण लेने की आवश्यकता नहीं होती और इसलिए सरकार का विश्वास एवं साख भी खण्डित नहीं होते।

(७) ऐसे ऋणों से देश की आर्थिक उन्नति एवं विकास में सहायता मिलती है क्योंकि उसको इनका प्रयोग उत्पादक कार्यों में ही करना होता है।

स्थायी ऋणों की हानियाँ—स्थायी ऋणों की निम्न हानियाँ बताई गई है :—

(१) ऐसे ऋणों से सरकार में फिजूलखर्ची की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है, क्योंकि उन्हें इसकी फिक्र नहीं होती कि ऋण का भुगतान तुरन्त ही करना है और इसलिए इन ऋणों का अप्रत्यक्ष वास्तविक भार व्यक्तियों पर अधिक पड़ता है।

(२) ऐसे ऋणों में व्यक्तियों का धन एक लम्बे काल के लिए फँस जाता है और उनके धन की फेर-बदल (turnover) न होने के कारण देश के उद्योगों के लिए पर्याप्त मात्रा में धन नहीं मिल पाता। इस प्रकार देश की औद्योगिक उन्नति ठीक प्रकार से नहीं हो पाती।

(३) ऊँची व्याज की दरों की स्थिति में यह ऋण उपयुक्त नहीं होते।

वास्तव में स्थायी तथा अस्थायी ऋणों के लाभ तथा हानियों की इस विवेचना का कोई व्यावहारिक महत्व नहीं है, क्योंकि व्यावहारिक जीवन में सरकार को ऊँची व्याज की दरों में भी स्थायी ऋण लेने पड़ते हैं और सस्ती व्याज की दरों में भी अस्थायी ऋण लेने पड़ते हैं। यह केवल परिस्थितियों पर ही निर्भर करता है। यदि आवश्यकता इतनी अधिक है कि बिना ऋण के काम ही नहीं चल सकता और यदि सरकार इस स्थिति में नहीं है कि लिए हुए ऋणों को तुरन्त ही लौटा सके तो सरकार को स्थायी ऋण, हानिकारक होते हुए भी लेने पड़ेंगे। अतः कब सरकार को स्थायी

ऋण लेने चाहियें और कब अस्थायी इसके लिये कोई स्पष्ट, तथा कड़ा नियम नहीं बनाया जा सकता।

७. **अन्य वर्गीकरण**—कुछ लेखकों ने उपर्युक्त मुख्य वर्गों को ही उपविभाजित कर दिया है और राजकीय ऋणों को निम्न वर्गों में और विभाजित किया है।

(अ) बेचा जा सकने वाला ऋण तथा बेचा न जा सकने वाला ऋण (Marketable and Non-Marketable Debt)—प्रथम श्रेणी में वह सरकारी प्रतिभूतियाँ (Securities) होती हैं जिनको बाजार में स्वतन्त्रतापूर्वक बेचा तथा ख़रीदा जा सकता है और दूसरी श्रेणी में वे प्रतिभूतियाँ होती हैं जिनको बाजार में नहीं बेचा जा सकता। यह केवल सरकार को ही पूर्व निश्चित दरों पर लौटाई जा सकती हैं। दूसरी प्रकार की प्रतिभूतियाँ सरकार केवल इसीलिए निकालती है, ताकि बाजार में प्रतिभूतियों के मूल्यों में बहुत अधिक उतार-चढ़ाव न हो।

(ब) सूद सहित तथा सूद रहित ऋण—पहली प्रकार के ऋण वह हैं जिन पर सरकार सूद देती है और दूसरी प्रकार के ऋण वह हैं जिन पर सरकार कोई भी सूद देने का वचन नहीं भरती। दूसरी प्रकार के ऋण अधिक प्रचलित नहीं हैं।

(स) कुल ऋण और शुद्ध ऋण—किसी भी समय या अवधि-विशेष पर सरकार के जितने ऋण होते हैं उन सबके योग को कुल ऋण कहते हैं और यदि ऋणों को भुगतान करने के लिए कोई विशेष कोष सरकार एकत्रित रखती है तो उसको कुल ऋण की राशि में से निकालकर जो कुछ शेष रहता है उसे शुद्ध ऋण कहते हैं।

ऋण चुकाने के ढंग—

(१) ऋण निषेध—व्यक्ति की भाँति राज्य भी ऋण-भार से दबा रहता है और इसलिए शीघ्र से शीघ्र इस भार से मुक्त होना चाहता है। इस भार से मुक्त होने के लिये दो ही मार्ग होते हैं—सरकार या तो ऋण का भुगतान करने से इन्कार कर दे या ऋण को लौटा दे। पहला मार्ग ऊपर से देखने में तो बड़ा सरल प्रतीत होता है परन्तु इसके बड़े घातक परिणाम होते हैं। यदि सरकार आन्तरिक ऋण का भुगतान करने से इन्कार करती है तो जनता उसकी चोरी और डकैती से तुलना करती है, विरोध करती है और भविष्य में कभी भी सरकारी प्रतिभूतियों में धन न लगाने का निश्चय कर लेती है। इसके अतिरिक्त यह मार्ग न्यायसंगत भी नहीं होता और समाज में अशान्ति उत्पन्न होने का भी भय रहता है। बाह्य ऋणों के न चुकाने के तो परिणाम और भी भीषण होते हैं। ऋणी राज्य का मान अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भंग हो जाता है, और मौद्रिक क्षेत्र में उसकी साख समाप्त हो जाती है। कभी-कभी विदेशी ऋणदाता युद्ध तक करने को तैयार हो जाते हैं और यदि वे ऐसा प्रत्यक्ष रूप से नहीं करते तो अप्रत्यक्ष रूप से ऋणी देश के विरुद्ध अन्य राज्यों को भड़काते हैं, उसके विरुद्ध विचार करते हैं और व्यापारिक जगत से उसको निकाल बाहर करने का प्रयत्न करते हैं। अतः ऐसी नीति से केवल मान ही भंग नहीं होता

वरन् व्यापार को ठेस पहुँचती है और युद्ध होने तक नौबत पहुंच जाती है। इस नीति को ऋण निषेध (Debt Repudiation) कहते हैं। सन् १९३० के मन्दीकाल में ऋण निषेध की अनेकों अन्य रीतियाँ अपनाई गई थीं। जैसे, ऋण चुकाने की अवधि को बढ़ा देना, ब्याज की दर को कम करना, मुद्रा-प्रसार द्वारा मुद्रा के मूल्य को कम करना इत्यादि।

(२) वार्षिक वृत्ति—परन्तु व्यावहारिक जीवन में ऐसा बहुत कम ही होता है। अभी पिछले युद्ध में ही चर्चिल और उनके साथियों ने भारत के जो स्टर्लिंग ऋण इंगलैण्ड पर थे, उनका भुगतान न करने के लिये बहुत जोर दिया था किन्तु यह याद रहे कि यह सरकार की ओर से प्रयत्न नहीं था, वरन् कुछ व्यक्तियों की अपनी निजी राय थी। हाँ, तो प्रत्येक राज्य ही इस बात का प्रयत्न करता है कि वह ऋण का भुगतान कर दे। ऋण का भुगतान केवल उसी समय किया जा सकता है जब चालू व्यय की अपेक्षा सरकार की आय अधिक हो। कभी-कभी सरकार परिपक्वता अवधि (maturity date) से पहले भी ऋण का भुगतान किश्तों के रूप में, जैसे-जैसे आय प्राप्त होती जाती है, करती जाती है, या अपने बांड और अपनी प्रति-भूतियों को वापिस खरीदती जाती है या उन्हें खत्म करती जाती है। यह सरकार केवल उसी समय करती है जब उसको या तो आय प्राप्त होती है या जब वह यह देखती है कि उसकी प्रतिभूतियाँ नीची दर पर लोग बेचने को तैयार हैं। ऐसा करने से परिपक्वता तिथि पर सरकार को ऋण की कुल राशि का भुगतान करने की चिन्ता नहीं रहती। इसके अतिरिक्त सरकार को ऋण के भुगतान करने की बात मालूम भी नहीं पड़ती, क्योंकि वह धीरे-धीरे भुगतान करते रहने से एकदम मुक्त हो जाती है। जब सरकार ऋण का भुगतान किश्तों के रूप में प्रति वर्ष चुकाती रहती है तो इस रीति को वार्षिक वृत्ति या (Terminal Annuities) की रीति कहते हैं। इसमें वार्षिक किश्तों की राशि समान रहती है और ब्याज तथा मूलधन दोनों ही सम्मिलित रहते हैं। यह ऋण-भार से मुक्त होने की दूसरी विधि है।

(३) ऋण परिवर्तन—यह ऋण चुकाने की दूसरी विधि तथा ऋण-भार से मुक्त होने की तीसरी विधि है। इस विधि के अनुसार सरकार पुराने ऋण का वास्तव में भुगतान नहीं करती वरन् एक प्रकार से उसका रूप बदल देती है। इस विधि में ऋण की शर्तें और सूद की दर आदि में परिवर्तन किये जाते हैं, जैसे ऋण की दर कम कर देना, या ऋण को अल्पकालीन से दीर्घकालीन में बदल देना। बहुधा ऋण परिवर्तन शब्द को ऋण पुनः शोधन (Refunding) के स्थान पर प्रयोग में लाया जाता है, परन्तु यह पूर्णतया गलत है। पुनः शोधन में तो नये ऋणों को प्राप्त करके पुराने ऋणों का भुगतान किया जाता है। नये ऋण पहले की अपेक्षा कम सूद की दर पर प्राप्त किये जाते हैं। नये ऋणों की निकासी पर पुराने ऋण-दाताओं के लिए दो मार्ग होते हैं—एक तो अपने ऋण को वापिस ले लें या पुराने ऋण के स्थान पर नया ऋण ले लें। ऐसा करने पर अन्त में केवल नया ऋण ही रह जाता है। जब ऋणदाता पुराने ऋण के स्थान पर नया ऋण स्वीकार करने को

तैयार हो जाते हैं तो इसको ही ऋण परिवर्तन कह सकते हैं। जो ऋणदाता नये ऋण को स्वीकार नहीं करते उनको नये ऋण से प्राप्त धन में से पुराने ऋण का भुगतान कर दिया जाता है। ऋण परिवर्तन से हमारा अभिप्राय "साधारण सूद की दरों की कमी से लाभ उठाकर, सूद की राशि को कम करने के लिए, वर्तमान ऋणों को नये ऋणों में बदलने से है।"[6] उसकी व्यवस्था सरकार उसी समय करती है जब वह ऋण की परिपक्वता अवधि आ जाने पर ऋण के भुगतान का प्रबन्ध नहीं कर पाती। इसके अन्तर्गत पुराने बाँडों को रद्द कर दिया जाता है और उनके स्थान पर नये बाँड चालू किये जाते हैं। इन नये बाँडों की शर्तें इतनी आकर्षक बनाई जाती हैं कि लोग नये बाँडों को भी स्वीकार कर लेते हैं। सरकार या तो नये बाँडों और प्रतिभूतियों को वास्तविक मूल्यों की अपेक्षा कम मूल्य पर बेचती है, या यदि वास्तविक मूल्य पर बेचती है तो परिपक्वता तिथि पर उससे अधिक राशि का भुगतान करने का वचन देती है। डाक्टर डाल्टन, इन दोनों रीतियों ही के पक्ष में नहीं हैं। उन्होंने इनकी आलोचना करते हुए स्पष्ट किया है कि पहली रीति में यद्यपि वर्तमान ऋण-भार कम हो जाता है, किन्तु भविष्य में ऋण-भार अधिक हो जाता है क्योंकि बाजार में इन बाँडों और प्रतिभूतियों का मूल्य बढ़ता जाता है और यदि कहीं बाजार में सूद की दर कम हो गई तो ऋण-भार और भी अधिक बढ़ जाता है क्योंकि सरकारी प्रतिभूतियों पर सूद की दर अधिक होने के कारण प्रत्येक व्यक्ति उन्हीं में अपने धन को विनियोग करना चाहेगा। उनके शब्दों को दोहराने के लिए हम कह सकते हैं कि "इस प्रकार के ऋण, विनियोग-कर्ताओं को, उनके व्याज की दर को देखते हुए बहुत प्रिय होते हैं, क्योंकि उनमें पूंजी का मूल्य बढ़ने का व्यावहारिक विश्वास होता है·········परन्तु इसी बात के कारण वह सरकार के अन्तिम भार को बढ़ा देते हैं·········। अधिकांश विशेषज्ञों ने इसकी, अनुचित अर्थ-व्यवस्था कह कर निन्दा की है।"[7]

इस विचार में कोई विशेष तथ्य नहीं है कि ऋण परिवर्तन से ऋण-भार कम हो जाता है। इसका कारण यह है कि व्याज की दरों में एक तो बहुत अधिक परिवर्तन नहीं होते और यदि होते भी हैं तो व्याज की राशि की जो बचत होती है वह कुल बचत का एक छोटा सा भाग होता है। दूसरे, सरकारी आय लगभग पूर्ववत् ही रहती है, क्योंकि जो लाभ सूद की राशि के बचने से होता है, वह करों के न लगाने से जो हानि होगी और उनसे प्राप्त आय में जो हानि होगी उससे समाप्त हो जायेगा। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस प्रयत्न से करदाताओं को भले ही कुछ लाभ हो, सरकारी आय में कोई वृद्धि नहीं होती। इसीलिए अधिकतर लेखकों तथा विचारकों ने इसका पक्ष नहीं लिया है। ऋण परिवर्तन करते समय कुछ बातों की ओर ध्यान देना नितान्त आवश्यक हो जाता है, जैसे मुद्रा बाजार की प्रवृत्तियों का गहन अध्ययन, अर्थात्, मुद्रा की पूर्ति एवं मांग का सम्पूर्ण अध्ययन करते रहना चाहिये।

6. A. G. Buehler, *Public Finance*, p. 756.
7. Dalton : *Op. Cit.*, p. 278.

दूसरे, यह भी आवश्यक है कि भविष्य में व्याज की दर, कर और मूल्य-स्तर की स्थिति कैसी रहेगी; इसका भी थोड़ा सा ज्ञान प्राप्त किया जाय। तीसरे, नये ऋणों की मूलधन की राशि में उस समय तक कोई वृद्धि नहीं होनी चाहिए जब तक ऐसा करना बहुत ही आवश्यक न हो। अन्त में ऋण परिवर्तन की रीति अर्थात् विधि बहुत ही सरल हो, ताकि जन-साधारण की समझ में भी आ जाय।

(४) **निश्चित योजना के अनुसार**—कभी-कभी सरकार ऋण का भुगतान एक निश्चित तथा नियमित योजना के अनुसार कर सकती है, अर्थात् ऋण के भुगतान का कोई उचित प्रबन्ध कर दे और परिपक्वता तिथि पर उस किए गये प्रबन्ध के अनुसार ऋण का पूरा भुगतान कर दे। सरकार कई विधियाँ अपना सकती है जैसे, एक परिशोध कोष पहले से निश्चित करले, या बौंडों का वार्षिक भुगतान करे जिसका निर्णय या तो क्रमानुसार या लौटरी द्वारा करे। हम इन रीतियों का अध्ययन क्रमानुसार करेंगे।

(अ) **ऋण परिशोध कोष (Sinking Fund)**—ऋण परिशोध कोष केवल ऋण भुगतान करने के लिए ही स्थापित किया जाता है। प्रारम्भिक वर्षों में अधिकतर यह प्रथा थी कि प्रत्येक वर्ष कुछ निश्चित धनराशि किसी स्थान पर लगा दी जाती थी। दूसरे वर्ष, पिछले वर्ष का मूलधन व व्याज तथा इस वर्ष के मूलधन को फिर लगा दिया जाता था और हर वर्ष ऐसे ही करते रहने पर मूलधन और व्याज मिलकर ऋण के बराबर हो जाते थे। ऐसे कोष दो प्रकार से स्थापित किए जा सकते हैं—वार्षिक आय में से या ऋण लेकर। नए ऋण लेकर परिशोध कोष चालू करना तो एक प्रकार का ऋण परिवर्तन ही होता है। ऐसे कोषों का उपयोग सर्वप्रथम, इंगलैण्ड में सर विलियम पिट के समय में हुआ था। उस समय, इसकी सलाह प्राइस नामक एक पादरी ने दी थी। उसके बाद परिशोध कोषों का प्रयोग एक साधारण सी बात हो गई। परन्तु आधुनिक परिशोध कोषों का रूप बिल्कुल भिन्न है। आजकल परिशोध कोष एकत्रित नहीं होते या एक वर्ष से दूसरे वर्ष को नहीं ले जाये जाते वरन् प्रत्येक वर्ष कुछ राशि अलग रख दी जाती है और उसी वर्ष ऋण के एक भाग का भुगतान कर दिया जाता है। यह राशि प्रायः पूर्व निश्चित होती है।

डाक्टर डाल्टन ने परिशोध कोषों को निश्चित तथा अनिश्चित कोषों में विभाजित किया है।[8] निश्चित ऋण परिशोध कोष में हर वर्ष एक निश्चित धनराशि अनिवार्य रूप से जमा की जाती है, जबकि दूसरे कोष में धन केवल उसी समय जमा किया जाता है जब उस वर्ष की आय में से कुछ बचा हो। बचत न होने की स्थिति में कुछ भी जमा नहीं होगा। निश्चित कोष की स्थापना तीन आधारों पर की जा सकती है। प्रथम ऋण चुकाने की अवधि के अनुसार ऋण कोष स्थापित किया जाता है। ऋण जितने कम समय के लिए लिया जाता है या ऋण भुगतान करने की अवधि जितनी कम होती है, उतनी ही स्थिति आर्थिक दृष्टिकोण से ठीक रहती है।

8. *Ibid*, p. 270.

एक विशेष ऋण भुगतान कर लगाकर, यदि ऋण का भुगतान एक दम कर दिया जाय तो सबसे अच्छा है, परन्तु साधारणतया इतने सीमित अल्पकाल की बात करना व्यावहारिक नहीं होती। यदि ऋण भुगतान अवधि इतनी अल्प न हो तो अपेक्षाकृत छोटी अवश्य होनी चाहिए। यह बात एक दूसरे दृष्टिकोण से भी सही होती है। यदि ऋण किसी निम्नस्तरीय (Subordinate) सरकार द्वारा पूँजीगत वस्तुएं खरीदने के लिए प्राप्त किया गया है तो यह साधारण सी बात है कि उच्चस्तरीय (Superior) सरकार कुछ शर्तें निर्धारित कर दे। अर्थात् ऋण भुगतान की अवधि निश्चित कर दे। यह स्वाभाविक है कि यह अवधि पूँजीगत वस्तु के जीवनकाल के अनुसार ही निर्धारित की जाय, अर्थात् ऋण का भुगतान पूँजीगत वस्तु के नष्ट होने तक चुका दिया जाय, ताकि उसके नष्ट होते ही कोष के द्वारा फिर से नयी मशीन खरीदी जा सके। देखा जाय तो यह कोष घिसाई कोष के ही समान होता है। यदि ऋण युद्ध के लिए लिया गया है तो युद्ध समाप्त होते ही, युद्ध-सम्बन्धी सामान को बेचकर ऋण का भुगतान करना चाहिए। कहने का अभिप्राय यही है कि ऋण का भुगतान कम से कम समय के अन्दर ही हो जाना चाहिए। दूसरे, ऋण भुगतान अवधि निश्चित कर लेने के बाद यह निश्चित करना चाहिए, कि भुगतान कोषों को इस अवधि पर किस प्रकार फैलाया जाय? भुगतान कोषों का बँटवारा इस समय अवधि में तीन प्रकार से किया जा सकता है, प्रथम वार्षिक भुगतान जब बढ़ता जाय, दूसरा जब समान रहे और तीसरा जब घटता जाय।[9] पहली रीति में निरन्तर जमा होने वाली (Cumulative) परिशोध कोष स्थापित किया जाता है और ब्याज चक्रवृद्धि (Compound) की दर पर बढ़ता जाता है। हर वर्ष इस कोष में एक निश्चित धनराशि जमा की जाती है और प्रत्येक वर्ष का ब्याज भी इसी में जुड़ता चला जाता है। दूसरी रीति में, कोष में, वर्ष में प्राप्त की हुई ब्याज की पूरी राशि जमा नहीं की जाती, वरन् उसका केवल एक भाग ही जमा होता है और शेष को ऋणदाताओं में बाँट दिया जाता है। इस रीति से ऋण-भार प्रत्येक वर्ष समान रहता है। तीसरी रीति में, किसी एक वर्ष में प्राप्त हुई ब्याज की राशि से भी अधिक राशि का भुगतान ऋणदाताओं को कर दिया जाता है। परिणामस्वरूप ऋण-भार प्रतिवर्ष कम होता जाता है। इन तीनों में राजनैतिक दृष्टिकोण से तीसरी रीति सबसे उत्तम है, यदि इसको कार्यान्वित करना व्यावहारिक हो।[10] इन दोनों बातों को निश्चित कर लेने के बाद यह निश्चित करना चाहिए कि इन भुगतानों का बँटवारा विभिन्न प्रकार के ऋणों में किस प्रकार किया जाय? यदि राजकीय ऋणों की प्रकृति एक जैसी होती तो कोई भी कठिनाई नहीं थी, किन्तु व्यावहारिक जीवन में राजकीय ऋणों में एकरूपता नहीं होती। उनमें सूद की दर, भुगतान की अवधि व रीति आदि की इतनी भिन्नतायें होती हैं कि ऋण परिशोध कोष का बँटवारा करना बहुत ही कष्टदायक होता है। ऐसी स्थिति में या तो परिशोध कोष को

9. *Ibid.*, p. 272.
10. *Ibid.*

सरकार के लिए पूर्णरूप से स्वतन्त्र छोड़ दिया जाय, अर्थात् सरकार जिस प्रकार चाहे उसका प्रयोग करे, जिस ऋण को उचित समझे उसका भुगतान करे, या दूसरी विधि यह हो सकती है कि कोष को विशेष ऋणों के लिए एक निश्चित रीति से निश्चित कर दिया जाय और सरकार इस प्रकार निर्धारित कार्यक्रम के अनुसार ऋणों का भुगतान करती रहे। या तीसरी विधि यह हो सकती है कि कोष का कुछ भाग, कुछ विशेष ऋणों के लिए निश्चित कर दिया जाय और शेष के उपयोग के लिए सरकार को स्वतन्त्रता दे दी जाय ताकि वह जिस प्रकार चाहे उसका उपयोग करे। पहली विधि के अनुसार, सरकार को स्वतन्त्रता देनी इसलिए आवश्यक समझी गई है ताकि वह कोष का अधिकतम उपयोग कर सके और उन ऋणों के भुगतान करने पर अपनी दृष्टि केन्द्रित कर सके, जिनका भुगतान किसी विशेष समय पर लाभकारक तथा सस्ता हो। दूसरी विधि के पक्ष में दो तर्क दिए जा सकते हैं। प्रथम, विशेष कोषों को विशेष ऋणों के लिए निर्धारित कर देने से प्रतिभूतियों-विशेष के मूल्य ऊँचे रहते हैं और ऋणी के दृष्टिकोण से उनकी वास्तविक स्थिति सुधर जाती है और उनको बाद में परिवर्तित करना सरल हो जाता है। दूसरा तर्क यह दिया गया है कि ऐसा हो जाने के बाद सरकार कोष का किसी और काम के लिए प्रयोग नहीं कर सकती। दूसरा तर्क अधिक महत्वपूर्ण है। परन्तु यह दोनों विधियाँ दो सीमायें हैं और नीति को व्यावहारिक बनाने के लिए आवश्यक यह है कि सदैव ही बीच का रास्ता अपनाया जावे अर्थात् कोष के कुछ भागों को विशेष ऋणों के लिए निश्चित कर दिया जाय और कोष के शेष भाग को प्रयोग में लाने के लिए सरकार को स्वतन्त्रता प्रदान कर दी जाय।[11]

(ब) भुगतान की दूसरी विधि के अनुसार सरकार ऐसी व्यवस्था कर सकती है कि चालू किए गए बाँडों में से कुछ की परिपक्वता अवधि प्रत्येक वर्ष पूरी हो। ऐसे बाँडों की संख्या क्रम के अनुसार आरम्भ में ही निश्चित कर दी जाती है। इस विधि के अनुसार ऋण का एक भाग प्रत्येक वर्ष चुकता जाता है। इस विधि का प्रयोग अमेरिका में स्थानीय सरकारों द्वारा खूब हुआ है।

(स) उपर्युक्त रीति में ही एक संशोधन कर दिया जाता है वह यह कि बाँडों की संख्या क्रमानुसार आरम्भ में ही निश्चित न करके, लॉटरी के अनुसार प्राप्त कर ली जाती है। इस विधि में एक दोष यह है कि विनियोग-कर्ताओं को यह तो निश्चय होता ही नहीं कि उन्हें ऋण कब वापिस मिलेगा, इसलिये हो सकता है कि उनको ऋण ऐसे समय पर वापिस दिया जाय, जबकि उसके विनियोग के अन्य साधन उनको उपलब्ध न हों और उनका धन बेकार पड़ा रहे।

(५) पूँजी कर (Capital Levy)—ऋण के भुगतान करने के लिए सरकार कोई विशेष कर या पूँजी-कर भी लागू कर सकती है। यह वह कर है जो व्यक्तियों की सम्पत्ति पर लगाया जाता है। एक निश्चित कर-रहित सीमा निर्धारित कर दी जाती है और उसके ऊपर की सम्पत्तियों पर कर लगाया जाता है। यह कर प्रगति-

11. *Ibid.*, p. 274.

शील होता है। यह कर प्रथम महायुद्ध के बाद एक बड़े वाद-विवाद का विषय रहा है। रिकार्डो का विचार था कि एक देश को कठिनाइयों से बचने के लिए अपने आप को ऋण से जल्दी से जल्दी मुक्त कर लेना चाहिये, चाहे ऐसा करने के लिए उसे अपनी सम्पत्ति के किसी भाग का बलिदान ही क्यों न करना पड़े। रिकार्डो के जितने भी अनुयायी हैं वे सभी ऋण भुगतान के लिए पूंजी-कर का समर्थन करते हैं। परन्तु कुछ लोग इसका कड़ा विरोध करते हैं। पूंजी-कर के पक्ष तथा विपक्ष में दिये गए तर्कों का अध्ययन हम यहाँ पर करेंगे।

पूंजी-कर के पक्ष में तर्क—पूंजी कर के पक्ष में निम्न तर्क दिये गए हैं :—

(१) पूंजी-कर द्वारा हम ऋण से मुक्त हो जाते हैं और उद्योगों तथा व्यापार को भी हानि नहीं पहुँचती वरन् उनकी उन्नति होती है, क्योंकि उन पर कर का भार नहीं बढ़ता। साथ ही व्याज के रूप में जो धन जाता, वह बच जाता है, और हम फिर उसका प्रयोग अन्य कार्यों में कर सकते हैं।

(२) युद्ध सम्बन्धी ऋणों को तो तुरन्त ही युद्ध समाप्त होते ही पूंजी कर लागू करके चुका देना चाहिये। युद्ध के बाद मूल्य-स्तर ऊँचा होता है। उस समय ऋण का भुगतान करने से ऋण-भार कम पड़ता है। परन्तु यदि युद्ध के काफी समय बाद जब मूल्य-स्तर कम हो जाय तब ऋण का भुगतान करने से व्यक्तियों पर ऋण का भार अधिक होगा, इसलिए पूंजी-कर की सहायता से युद्ध-ऋणों का तुरन्त ही भुगतान किया जा सकता है।

(३) यह अनुचित होगा कि जिन लोगों ने लड़ाई में अपनी जान खतरे में डाली, मुसीबतें सहन कीं, उनकी लड़ाई से लौटाने के बाद अपनी चालू आय में से ऋण सम्बन्धी व्याज के भुगतान के लिये अन्य भुगतान करना पड़े और ऋण का भार सहन करना पड़े। इस प्रकार युद्ध के लड़ने वालों को युद्ध का भार बहुत अधिक सहन करना पड़ेगा। दूसरी ओर वे लोग जिन्होंने अपनी जानें लड़ाई में भाग न लेकर खतरे में नहीं डाली, जिन्होंने व्यापार तथा उद्योगों से बहुत अधिक लाभ प्राप्त किये हैं, जिन्होंने केवल ऋण ही दिये हैं और उनसे भी उन्हें व्याज की राशि प्राप्त होगी, उनको ऋण का कोई भी भार सहन न करना पड़ेगा। इसलिए यह अन्याय-संगत होगी कि पूंजी-कर लगाकर ऋण का भुगतान कराया जाय।

पूंजी-कर के विपक्ष में तर्क—पूंजी कर के विपक्ष में निम्न तर्क दिये गये हैं :—

(१) इस कर के लगने से व्यक्तियों की काम करने तथा बचत करने की शक्ति पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

(२) इस कर के लगने के कारण विदेशों को पूंजी का स्थानान्तरण होने लगता है।

(३) पूंजी के मूल्यों को आँकने में अनेकों कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं।

(४) इस कर के प्रबन्ध में, अधिक मनमाने ढंग से काम लेना पड़ता है

यह सब कुछ होते हुए भी पूंजी-कर को सामान्य कर प्रणाली में आजकल एक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। युद्धकाल के ऋण-भार को कम करने के लिए तो इसका विशेष रूप से प्रयोग हुआ है। साधारणतया अस्थायी ऋण का भार कम करने के लिए तो पूंजी-कर बहुत ही लाभकारी सिद्ध हो सकता है।

राजकीय ऋणों के प्रभाव—

राजकीय ऋणों की व्यवस्था इतनी महत्वपूर्ण एवं प्रभावपूर्ण होती है कि उसमें सरकार को बड़ी सतर्कता से कार्य करना होता है। किसी भी देश की अर्थ-व्यवस्था, व्यापार, उद्योग तथा व्यक्तियों के उपभोग, धन के वितरण आदि सभी पर राजकीय ऋण प्रबन्ध के बड़े महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ते हैं, ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार करारोपण तथा राजकीय व्यय के प्रभाव होते हैं। आर्थिक शब्दों में आय प्राप्त करना तथा उसको खर्च करना, दो भिन्न-भिन्न क्रियाएँ हैं और इनके प्रभाव भी भिन्न-भिन्न होते हैं। इसीलिए करारोपण और राजकीय व्यय के प्रभावों का अध्ययन पूर्णतया अलग-अलग किया जाता है। राजकीय ऋण-व्यवस्था के संचालन में एक अद्भुत बात यह है कि यह एक ही क्रिया होते हुए भी, दो क्रियाओं, अर्थात् आय प्राप्त करना और व्यय करना, दोनों का मिश्रण है। जब ऋण उगाया जाता है तो उसके प्रभाव अलग पड़ते हैं, जब उसके भुगतान के लिए कर लगाए जाते हैं तो उसके प्रभाव अलग होते हैं और जब लिए हुए ऋणों को खर्च किया जाता है तो उसके प्रभाव अलग पड़ते हैं। इस प्रकार ऋण-व्यवस्था के संचालन से कई तरह के प्रभाव उत्पन्न होते हैं और राजकीय ऋणों केप्र भावों का अध्ययन करने के लिए इन सभी प्रभावों का अध्ययन होना आवश्यक है। परन्तु हम राजकीय ऋण-व्यवस्था के संचालन को केवल एक समुचित क्रिया के रूप में लेते हैं। इस क्रिया के हर पग पर धन एवं क्रय-शक्ति का हस्तान्तरण होता है। जब सरकार किसी ऋण को चालू करती है तब धन का हस्तान्तरण ऋण खरीदने वालों से सरकार को होता है और जब इस राशि को व्यय करती है तो ऋणों द्वारा प्राप्त धन उन व्यक्तियों पर पहुँच जाता है जिन पर उसका व्यय हुआ है। जब ऋणों का ब्याज चुकाने के लिए सरकार कर लगाती है तो फिर करदाताओं से क्रय-शक्ति ऋणदाताओं के हाथों में पहुँच जाती है और जब ऋणों के मूलधन का भुगतान किया जाता है तब भी क्रय-शक्ति का स्थानान्तरण होता है और यह स्थानान्तरण अन्तिम होता है। अतः हम ऋण-व्यवस्था के संचालन को एक समुचित क्रिया मान कर ही उसके प्रभावों का अध्ययन करेंगे।

(अ) उत्पादन तथा उपभोग पर प्रभाव—राजकीय ऋण वर्तमान तथा भविष्य, दोनों ही में देश की उत्पादन शक्ति को प्रभावित करते हैं, क्योंकि राजकीय ऋण व्यक्तियों की कार्य करने, बचत करने और विनियोग करने की योग्यता एवं इच्छा को प्रभावित करते हैं और साधनों का विभिन्न उपयोगों में वितरण करते हैं। जहाँ तक कार्य करने तथा बचत करने की इच्छा का सम्बन्ध है, उस पर दो प्रकार से प्रभाव पड़ता है। यदि ऋण से प्राप्त किया हुआ धन ऐसे कार्यक्रमों पर व्यय

किया जाता है, जो उत्पादक होते हैं और जिनसे व्यक्तियों की उत्पादन शक्ति बढ़ती है तो स्पष्ट ही है कि व्यक्तियों के कार्य करने, बचाने तथा विनियोग करने पर कोई भी बुरा प्रभाव नहीं पड़ता। यदि यह धन ऐसी मदों पर व्यय किया गया जिनसे निर्धन व्यक्तियों की आय बढ़ती है, तो निर्धन व्यक्तियों के काम करने तथा बचाने की शक्ति में वृद्धि होती है। यदि ऋण से प्राप्त किया हुआ धन उत्पादक कार्यों पर लगा दिया जाता है तब तो ब्याज तथा मूलधन के भुगतान के लिए करारोपण की कोई आवश्यकता ही नहीं होती। किन्तु यदि धन अनुत्पादक कार्यों पर खर्च होता है तो सरकार ऋण के ब्याज तथा मूलधन की राशि का भुगतान करने के लिए व्यक्तियों पर कर लगायेगी और तब व्यक्तियों के कार्य तथा बचत करने की शक्ति पर अवश्य ही बुरा प्रभाव पड़ेगा। यदि सरकार ऋण के सूद का भुगतान करने के लिए अपने व्यय में कमी कर देती है और ऐसी मदों पर खर्चों में कमी करती है जिससे उत्पादन में कमी आ जाती है, तब भी देश को हानि होगी और यह ऋण का अप्रत्यक्ष प्रभाव होगा। राजकीय ऋण-व्यवस्था के संचालन से कार्य करने की तथा बचत करने की शक्ति पर एक दूसरे प्रकार से भी बुरा प्रभाव पड़ता है। जब सरकार ऋण एकत्रित करती है तो, जिस धन से व्यक्ति ऋण खरीदते हैं, वह वर्तमान उत्पादन के लिए उद्योग-धन्धों में नहीं लगाया जा सकता जिससे उत्पत्ति को हानि होती है।

राजकीय ऋण-व्यवस्था के संचालन से कार्य करने तथा बचत करने की इच्छा पर तो निस्संदेह ही बुरा प्रभाव पड़ता है। इसमें तो कोई संदेह नहीं कि सरकारी ऋण, व्यक्तियों के लिए विनियोग के सबसे उत्तम और सुरक्षित अवसर प्रदान करते हैं और कुछ लोगों में बचाने की इच्छा उत्पन्न होती है और कुछ पहले की अपेक्षा अधिक बचाने लगते हैं। किन्तु जब सरकार ऋण के सूद की राशि तथा मूलधन का भुगतान करने के लिए कर लगाती है तब उस करारोपण से व्यक्तियों की इच्छा पर बुरा प्रभाव पड़ता है। इसके अतिरिक्त जिन व्यक्तियों ने अपना धन सरकारी प्रतिभूतियों में लगा रक्खा है, उनको तो निरन्तर आय प्राप्त होने का एक साधन उपलब्ध हो जाता है, और उनकी काम करने की इच्छा पर बुरा प्रभाव पड़ता है। यही ऋण के अप्रत्यक्ष प्रभाव हैं। यदि एक दूसरे दृष्टिकोण से देखा जाय तो व्यक्तियों के कार्य करने की शक्ति एवं इच्छा में वृद्धि होती है। जब सरकार ऋण प्राप्त करती है तो सामान्य रूप से व्यापारिक जगत में आशा की लहर उत्पन्न हो जाती है और वे सोचने लगते हैं कि भविष्य में उनकी आय अधिक होगी, इसलिए वह उत्पत्ति बढ़ाने के लिए ऋण बैंकों से लेते हैं और इस प्रकार देश में उत्पत्ति बढ़ती है।

राजकीय ऋण-व्यवस्था से साधनों का स्थानान्तरण वर्तमान उपयोगों से नये उपयोगों में होता है। यह तो स्पष्ट ही है कि जब सरकार ऋण लेती है तो वह उसको उन उपयोगों में तो लगाती नहीं जिनमें व्यक्ति लगाते या जिनमें लगे हुए थे। इसलिए, यदि सरकार ऐसे उपयोगों में लगाती है, जिनसे व्यक्तियों की उत्पादन

शक्ति बढ़ती है तब तो यह अच्छा है और यदि चालू घाटों या युद्ध के संचालन में उसको लगा देती है तब देश पर बुरा प्रभाव पड़ेगा।

राजकीय ऋणों से वर्तमान उपभोग तो हतोत्साहित नहीं होता, किन्तु भविष्य में उपभोग पर अवश्य ही बुरा प्रभाव पड़ता है, क्योंकि सरकार ऋण आदि का भुगतान करने के लिए कर लगाती है, जिसका भुगतान व्यक्ति अपनी वर्तमान आय में से करते हैं और इसलिए उनको अपना उपभोग कम करना पड़ता है। दूसरी ओर सरकार प्राप्त किये हुए ऋण को ऐसी वस्तुओं की उत्पत्ति पर खर्च करती है जिन पर व्यक्ति कभी भी धन लगाने को तैयार नहीं होता। ये वस्तुएँ व्यक्तियों के लिए उपयोगी होती हैं और ये व्यक्तियों को कम मूल्यों पर मिलने लगती हैं जिससे उनका उपभोग का स्तर ऊँचा हो जाता है।

साधारणतया हम कह सकते हैं कि राजकीय ऋण-व्यवस्था से वर्तमान उपभोग तथा उत्पादन तो हतोत्साहित होते हैं और भविष्य में प्रोत्साहित होते हैं।

(ब) वितरण पर प्रभाव—हम पहले कह चुके हैं कि राजकीय ऋणों द्वारा क्रयशक्ति का कई बार हस्तान्तरण होता है। जब सरकार ऋण प्राप्त करती है तो क्रयशक्ति व्यक्तियों से सरकार के पास पहुँच जाती है। यदि यह ऋण केवल धनी व्यक्तियों द्वारा ही खरीदे जायें और सरकार इनसे प्राप्त आय को केवल निर्धन व्यक्तियों पर ही खर्च करे या ऐसी सेवाओं पर खर्च करे जिनसे निर्धन व्यक्तियों को अधिक लाभ पहुँचे तब तो यह हस्तान्तरण न्यायोचित होता है किन्तु स्थिति यदि इसके पूर्णतया विपरीत है तब उससे देश को हानि होगी और धन की असमानतायें घटने के स्थान पर बढ़ेंगी। व्यवहार में अधिकतर यही होता है कि वर्तमान असमानताओं के कारण धनी व्यक्ति ही राजकीय प्रतिभूतियों में अपना धन लगाते हैं, किन्तु ऋण का भुगतान करने के लिए जब करारोपण किया जाता है तब उसका भार निर्धन व्यक्तियों पर अधिक पड़ता है और धन की असमानतायें, प्रायः पहले की अपेक्षा अधिक हो जाती हैं। डाल्टन ने इसे, ऋण का 'वास्तविक भार' कहा है। यदि ऋण-पत्र छोटे मूल्यों के होते हैं और वे छोटी आय वाले व्यक्तियों द्वारा खरीदे जाते हैं तो इन व्यक्तियों को ब्याज का भुगतान होने पर धन की असमानतायें कुछ अंशों तक दूर हो सकती हैं, किन्तु ऐसे ऋण-पत्रों की संख्या बहुत अधिक होते हुए भी उनसे प्राप्त आय का कुल राजकीय ऋण की राशि में अनुपात बहुत कम होता है और इसलिए आय की असमानतायें प्रायः बढ़ ही जाती हैं। इसके अतिरिक्त कुछ व्यक्ति ऐसे उत्पन्न हो जाते हैं जो अपनी आय सरकारी प्रतिभूतियों के स्वामित्व से ही प्राप्त करते हैं। वह सूद प्राप्त करते हैं, जिसका भुगतान करदाता करते हैं। इस प्रकार धन का हस्तान्तरण उन व्यक्तियों से, जो मेहनत करके आय प्राप्त करते हैं, ऐसे व्यक्तियों को होता है, जो बिना मेहनत किए ही सूद की आय बैठे-बैठे खाते हैं। युद्ध-सम्बन्धी ऋणों से तो ये असमानतायें और भी अधिक हो जाती हैं, क्योंकि मूल्य गिरने पर भी व्यक्तियों की सूद की आय उतनी ही रहती है जितनी मूल्य बढ़ने की स्थिति में थी और सूद की दर भी समान रहने पर करदाताओं पर मूल्य गिर

जाने के बाद अधिक भार पड़ने लगता है। इस प्रकार धन और आय, दोनों ही की असमानतायें प्रायः और अधिक हो जाती हैं। यह ध्यान रहे कि यह सारी स्थितियां, जिनका वर्णन अभी हमने किया है, उसी समय उत्पन्न होती हैं, जबकि राजकीय ऋण को अनुत्पादक कार्यों में लगाया जाता है। यदि ऋण उत्पादक कार्यों पर खर्च किया जाए तो धन का वितरण कुछ अंशों तक समान होगा। एक दूसरे दृष्टिकोण से भी ऋण के प्रभावों का अध्ययन किया जाता है और इस दृष्टि से राजकीय ऋणों के प्रभाव बहुधा अच्छे बताए जाते हैं। जब राजकीय ऋण ऐसे कार्यों पर खर्च किये जाते हैं जिनसे निर्धन व्यक्तियों को लाभ पहुँचता है तो उससे धन के वितरण की असमानतायें कुछ अंशों तक कम हो जाती हैं।

(स) व्यावसायिक क्रियाओं तथा रोजगार पर प्रभाव—राजकीय ऋणों द्वारा व्यावसायिक क्रियाओं तथा देश में रोजगारों की स्थिति में भी परिवर्तन उत्पन्न किये जाते हैं। आधुनिक लेखकों के अनुसार राजकीय ऋणों का यह कार्य अधिक महत्व-पूर्ण है। सरकार व्यापार तथा उद्योगों, रोजगार तथा मूल्य-स्तर को अपने व्यय द्वारा नियमित करती है और इस व्यय के लिए, राजकीय ऋणों द्वारा धन प्राप्त करने को आज, राजकीय अर्थ-व्यवस्था में विशेष स्थान तथा महत्व दिया जाता है। आधुनिक 'घाटे की व्यय-व्यवस्था' (Deficit Spending) सिद्धान्त इसी विचार पर आधारित है। व्यापारिक मन्दी में जब चारों ओर निराशा और उदासीनता का वातावरण छा जाता है, व्यापार का गला घुट जाता है, मूल्य, उत्पादन और उपभोग-स्तर गिर जाता है और बेकारी बढ़ती जाती है और साख संस्थाओं की स्थिति खराब हो जाती है, उस समय सरकार ऋण प्राप्त करके स्थिति को सुधारने का प्रयत्न करती है। वह सरकारी प्रतिभूतियों के आधार पर केन्द्रीय बैंक से ऋण प्राप्त करती है और उसे ऐसे कार्यक्रमों पर खर्च करती है, जैसे रेलों, नहरों, सड़कों, नए-नए कारखानों आदि में जिससे अधिकाधिक व्यक्तियों को रोजगार प्राप्त होता है और व्यक्तियों के पास धन पहुँचने से उनकी क्रयशक्ति बढ़ जाती है, मूल्य बढ़ने लगते हैं और व्यापारिक जगत में फिर से स्फूर्ति आ जाती है। कीन्स ने इसे 'नल' 'विस्फोटक क्रिया' (Pump Priming) कहा है और व्यावसायिक मन्दी काल के लिए इसे बहुत महत्वपूर्ण बताया है। साधारणतया इसे हीनार्थ प्रबन्ध (Deficit Financing) से सम्बोधित किया जाता है। गत वर्षों में विशेषकर १९३० के मन्दी काल से इस नीति का बहुत प्रयोग किया गया है। अमेरिका में इस नीति को मन्दी काल में, कार्यान्वित करने में विशेष उत्साह दिखाया गया था। अकेले वर्कर्स प्रोग्रेस एडमिनिस्ट्रेशन (Workers' Progress Administration) नामक संस्था ने ही १००००० से अधिक सार्वजनिक इमारतें, ५६५००० मील लम्बी सड़कें, १८०००० पुल, ३६००० स्कूल तथा पुस्तकालय, ७००० पार्क तथा खेल के मैदान बनवाये तथा उन्नत किए थे। परिणामस्वरूप देश में स्थायी लाभ पहुँचाने वाली सम्पत्ति निर्मित हो गई तथा निराशा के वातावरण में आशा की किरण चमक उठी।[12] अमेरिका के अतिरिक्त

12. K. D. Jalan, : *A Pamphlet on Unemployment in India*, p. 14.

अन्य देशों में भी इस नीति का प्रयोग हुआ है। डाल्टन ने अपने विचारों को प्रकट करते हुए इस नीति को करारोपण की अपेक्षा अधिक उपयुक्त बताया है।[13] उनके अनुसार आवश्यक धन या तो करारोपण द्वारा या ऋणों द्वारा प्राप्त होता है। इन कार्यों के लिए करों द्वारा आय प्राप्त करने में कोई लाभ नहीं होता क्योंकि करारोपण में केवल धन का हस्तान्तरण जनता से सरकार को होता है और जब एक ओर रोजगार में वृद्धि होती है तो दूसरी ओर निजी उद्योगों में पूँजी का अभाव हो जाता है। निजी उद्योगों में उत्पादन कम होने से रोजगार की स्थिति लगभग समान ही रहती है। दूसरी ओर यदि सार्वजनिक कार्यों में ऋणों द्वारा प्राप्त करके धन लगाया जाता है तो उससे साख का विस्तार होने से वस्तुओं की माँग बढ़ती है और रोजगार में वृद्धि होती है। दोनों ओर से, अर्थात् राजकीय खजाने से और निजी जेबों से, उद्योगों में धन का प्रवाह होता है, उत्पादन बढ़ता है और बेकारी कम होने लगती है।

अभी तक हमने केवल मन्दी काल में ही राजकीय ऋणों के प्रभावों का अध्ययन किया है। मुद्रा-स्फीति काल में भी इसका महत्व बहुत अधिक होता है। मुद्रा संकुचन में राजकीय ऋणों के प्रभाव व्यय द्वारा उत्पन्न होते हैं, जब कि मुद्रा-स्फीति में राजकीय ऋण के प्रभाव ऋण उगाने के द्वारा उत्पन्न होते हैं। मुद्रा संकुचन की स्थिति में सरकार केन्द्रीय बैंक से ऋण लेती है और फिर उस धन का प्रसार व्यक्तियों में करती है और मुद्रा-स्फीति में सरकार व्यक्तियों से ऋण प्राप्त करती है और जो अतिरिक्त धन व्यक्तियों की जेबों में होता है उसे निकाल कर क्रय-शक्ति कम करती है जिससे मूल्य-स्तर नीचा हो जाता है और सरकार अपने उद्देश्य में सफल हो जाती है।

राजकीय ऋणों के लाभ—अब हम संक्षेप में राजकीय ऋणों के लाभों की विवेचना करेंगे।

(१) राजकीय ऋणों से देश के उद्योगों को प्रोत्साहन मिलता है, उत्पादन बढ़ता है, राष्ट्रीय आय में वृद्धि होती है और जीवन-स्तर ऊँचा होता है।

(२) ऐसे ऋणों की सहायता से विशालकाय सार्वजनिक कार्य तथा योजनायें, जैसे, जल-विद्युत, सड़कें, नहरें, पुल, रेलें इत्यादि कार्यान्वित की जा सकती हैं और देश में सामाजिक तथा आर्थिक उन्नति होती है और प्रशासन में कुशलता आती है।

(३) प्राकृतिक संकटों को दूर करने में सरकार इन्हीं का सहारा लेती है।

(४) विदेशी आक्रमणकारियों से देश को बचाने के लिए युद्ध-संचालन में राज्यों को गत वर्षों में ऋण द्वारा ही आवश्यक धन प्राप्त हो सका है। इसलिए राजकीय ऋण देश की स्वतन्त्रता को बनाये रखने में तथा नागरिकों की सुरक्षा करने में सहायक होते हैं।

---

13. Dalton : *Op. Cit.*, pp. 228-229.

(५) व्यक्तियों के लिए, राजकीय ऋण विनियोग के सुरक्षित स्रोत प्रदान करते हैं।

(६) व्यक्तियों तथा देश में राजकीय ऋणों द्वारा ज्ञान का प्रसार होता है, साधनों का समान वितरण होता है और पारस्परिक सहयोग तथा सद्भावना भी बढ़ती है।

(७) अविकसित तथा अर्ध-विकसित देशों के आर्थिक विकास के लिए राजकीय ऋण नितान्त आवश्यक है और आज संसार के जितने भी विकसित तथा उन्नत देश हैं, उन सभी ने ऋण प्राप्त करके अपनी आर्थिक उन्नति की है।

राजकीय ऋणों की हानियाँ—जहाँ राजकीय ऋणों से इतने लाभ हैं, इनमें हानियाँ भी बहुत हैं। ये निम्नांकित हैं :—

(१) राजकीय ऋणों से सरकारों में साधारणतया अपव्यय की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है।

(२) आसानी से ऋण मिल जाने के कारण, सरकारों में ऋण लेने की आदत सी उत्पन्न हो जाती है, और इसके दुष्परिणाम जनता को सहन करने पड़ते हैं साथ ही सरकारों के दिवालिया होने का बहुत भय रहता है।

(३) इन ऋणों के कारण बहुधा देशीय साधनों का शोषण विदेशियों के हित में हुआ है। देश के उद्योगों पर विदेशियों का स्वामित्व रहा है। देश का बहुत साधन ब्याज के रूप में विदेशों को जाता रहता है। परिणामस्वरूप देश में पूंजी का निर्माण नहीं हो पाता।

(४) राजनैतिक क्षेत्र में ऋणी देश प्रायः अपनी स्वतन्त्रता खो बैठते है।

(५) राजकीय ऋण राजनैतिक मतभेद, तथा युद्ध जैसे संकट भी उत्पन्न कर देते हैं।

(६) ऐसे ऋणों को प्राप्त करके सरकार अपनी आर्थिक कमजोरियों को छुपाने में सफल हो जाती है और अन्त में राजकीय अर्थ-व्यवस्था इतनी दोषपूर्ण हो जाती है कि फिर कोई उपचार नहीं रहता।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि राजकीय ऋणों के भी, अन्य वस्तुओं की भाँति गुण और दोष हैं। दोषों के गम्भीर परिणामों को कम करने के लिए यह आवश्यक है कि राजकीय ऋण-व्यवस्था का संचालन बड़ी सतर्कता से किया जाए, अनावश्यक ऋण नहीं प्राप्त किये जायें और ऋणों के भावी परिणामों को ध्यान में रखकर उनका उपयोग किया जाये अर्थात् जहाँ तक सम्भव हो ऋण को केवल उत्पादक कार्यों में ही लगाया जाए।

राजकीय ऋण-व्यवस्था की सीमायें—

राजकीय तथा व्यक्तिगत ऋणों के भेद बताते हुए हमने कहा था कि व्यक्ति की अपेक्षा राजकीय साख बहुत अधिक होती है और राज्य की आयु लम्बी होने के कारण उसको दीर्घकालीन ऋण प्राप्त हो सकते हैं तथा राज्य स्वयं अपने से भी ऋण

प्राप्त कर सकता है। इन्हीं बातों को देखते हुए हम राज्य की ऋण प्राप्त करने की शक्ति की सीमाओं का वर्णन यहाँ पर करेंगे। राज्य के ऋण प्राप्त करने के मुख्यतया तीन स्रोत होते हैं : वाह्य ऋण—विदेशों से ; आन्तरिक ऋण—देश की जनता से और स्वयं से—हीनार्थ प्रबन्धन अर्थात् नोट छाप कर। इन तीनों की सीमाओं का उल्लेख हम निम्न में करेंगे :—

(१) **वाह्य ऋण**—विदेशों से ऋण सरलता से प्राप्त नहीं होते। जब कभी भी एक राज्य दूसरे राज्य को ऋण देता है तो पूर्णरूप से देश की आर्थिक स्थिति, राजनैतिक स्थिति, प्रबन्ध की कुशलता, मौद्रिक स्थिरता, ऋण का उद्देश्य, ऋण भुगतान करने की रीति आदि बातों का अध्ययन कर लेता है। आजकल विदेशी जगत में इतनी उलट-फेर हो रही है कि किसी समय भी युद्ध छिड़ सकता है। देश की आन्तरिक सरकार बदलने में तो कोई देर नहीं लगती, पाकिस्तान, बर्मा आदि देशों के उदाहरण हमारे सामने हैं। देश की सरकार बदलने से ऋणों के भुगतान जोखिम में पड़ जाते हैं। इसलिये सबसे पहले एक देश दूसरे देश की राजनैतिक स्थिरता की ओर ध्यान देता है, तत्पश्चात् आर्थिक स्थिरता तथा ऋण के उद्देश्यों और ऋण भुगतान सम्बन्धी शर्तों पर खूब सोच-विचार करता है। आर्थिक स्थिरता का देश के बजटों से पता लग सकता है। आर्थिक स्थिरता और ऋण के उद्देश्यों की जानकारी करना इसलिए आवश्यक है कि ऋणी देश की करदान योग्यता का पता लग जाये। आजकल जितने भी विदेशी ऋण दिए-लिए जाते हैं, उन सब की गारन्टी विश्व बैंक लेता है, यदि ऋणी तथा ऋणदाता देश विश्व बैंक के सदस्य हैं। विश्व बैंक इन्हीं सब बातों पर सोच-विचार करने के बाद ऋण की गारन्टी लेता है। अतः जिस देश में आर्थिक अस्थिरता है, राजनैतिक स्थायित्व जिसमें नहीं है तथा जो देश अनुत्पादन कार्यों के लिए ऋण प्राप्त करना चाहते हैं उनकी साख बहुत ही सीमित होती है, और उन्हें ऋण प्राप्त करने में बहुत कठिनाई होती है।

(२) **आन्तरिक ऋण**—राजकीय आन्तरिक ऋणों की राशि देश की जनता की आर्थिक स्थिति पर निर्भर करती है। देश की प्रति व्यक्ति आय तथा देश में व्यक्तियों के उपभोग स्तर पर बचतों की मात्रा निर्भर होती है। यदि व्यक्तियों में बचत करने की आदत व क्षमता नहीं है, यदि देश में विनियोग करने की सुविधायें नहीं हैं अर्थात् देश में उद्योग-धन्धे उन्नत नहीं हैं और पूंजी का निर्माण बहुत निम्न-स्तर पर है तो सरकार को कभी भी असीमित मात्रा में ऋण नहीं प्राप्त हो सकते। सरकार को देश में प्राप्त होने वाले ऋणों की मात्रा इस बात पर निर्भर करती है कि सरकार की साख कैसी है, अर्थात् सरकार ने पिछले ऋणों का समय पर भुगतान किया है या नहीं और सरकार पर ऋणों की कितनी मात्रा पहले से है। सरकार की ऋण प्राप्त करने की शक्ति इस बात पर भी निर्भर करती है कि सरकार की आर्थिक नीति कैसी है, सरकार देश में अपनी आय को सामाजिक कल्याण तथा उत्पादक कार्यों पर खर्च कर रही है या नहीं, देश में पूंजी का निर्माण हो रहा है या नहीं, देश में सरकार रोजगार बढ़ाने का तथा उद्योग-धन्धों को प्रोत्साहन देने का

प्रयत्न कर रही है या नहीं और लोग सरकार की नीति से सन्तुष्ट हैं या नहीं। यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि सरकार स्वदेशी है या विदेशी। स्वदेशी सरकार के प्रति विदेशी सरकार की अपेक्षा, नागरिकों को अधिक श्रद्धा तथा विश्वास रहता है और उसे सरलता से ऋण प्राप्त हो जाता है। अन्त में आन्तरिक ऋणों की मात्रा इस बात से भी सीमित होती है कि ऋणों तथा सरकारी प्रतिभूतियों की प्रवृत्ति कैसी है। दीर्घकालीन ऋणों को प्राप्त करने में सरकार को सदैव ही कठिनाई होती है। अतः यह सोचना कि सरकार आन्तरिक ऋणों की सीमा का काफी अंश तक विस्तार कर सकती है, पूर्णतया सत्य नहीं है।

(३) **कागजी मुद्रा छाप कर**—आधुनिक काल में इसका बहुत प्रयोग हुआ है। विभिन्न देशों की सरकारों ने इस रीति द्वारा संकटों को दूर करने में काफी सफलता प्राप्त की है। परन्तु इस नीति का भी केवल सीमित प्रयोग किया जा सकता है। अत्यधिक नोट निकासी से मुद्रा-स्फीति का भय रहता है, जो एक बार आरम्भ होकर फिर नहीं रुकती। इसलिए देश को मुद्रा-स्फीति के दुष्परिणामों से बचाने के लिए इस नीति का प्रयोग बहुत ही सतर्कता से करना चाहिए।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि राज्य के ऋण प्राप्त करने की शक्ति भी व्यक्ति की भाँति सीमित होती है।

अर्द्ध विकसित देश तथा राजकीय ऋण—प्राचीन लेखकों का विचार था कि सुदृढ़ वित्तीय व्यवस्था के दृष्टिकोण से तो सरकार को चालू कर-आय में से चालू व्यय की आवश्यकताओं को पूरा करना चाहिए और पूंजीगत व्यय के लिए जनता से ऋण प्राप्त करने चाहिए। किन्तु आधुनिक काल में इस विचार का परित्याग करके यह विश्वास किया जाने लगा है कि कर-आय में से पूंजीगत व्यय को भी पूरा किया जा सकता है। साथ ही सरकार को अपनी विनियोग सम्बन्धी आवश्यकताओं के लिए ऋणों पर ही आश्रित नहीं रहना चाहिए और सरकार की वित्तीय नीति मुख्य रूप से अर्थ-व्यवस्था के विकास-सम्बन्धी आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर निर्मित की जानी चाहिए। अर्द्ध विकसित देशों के लिए तो यह विचार सर्वथा सत्य है।

विनियोग के दृष्टिकोण से राजकीय ऋण सदैव ही दीर्घकालीन होते हैं क्योंकि ऐच्छिक ऋण केवल व्यक्तियों की ऐच्छिक बचत में से प्राप्त होते हैं, अतः यह स्वाभाविक ही है कि घरेलू ऋणों की मात्रा सीमित रहेगी। यह बात सही भी है क्योंकि अर्द्ध विकसित देशों में अधिकांश व्यक्तियों का आय-स्तर न्यून होता है। इसलिए ऐसे देशों में सरकार को बैंकिंग प्रणाली तथा अन्य वित्तीय संगठनों से ही ऋण प्राप्त हो सकते हैं। किन्तु अर्द्ध विकसित देशों में बैंकिंग प्रणाली अभी तक पिछड़ी हुई अवस्था में ही है, इसलिए उससे भी अधिक आशा नहीं की जा सकती। यद्यपि यह सच है कि आर्थिक विकास के प्रथम चरणों में अधिक मात्रा में घरेलू ऋण प्राप्त नहीं होंगे, किन्तु जैसे-जैसे देश का विकास होगा, व्यक्तियों की आय में वृद्धि होगी और बचतें प्रोत्साहित होंगी, सरकार को अधिकाधिक घरेलू ऋण प्राप्त हो सकेंगे। इसके अतिरिक्त सरकार देश में सुदृढ़ बैंकिंग प्रणाली स्थापित करने के लिए भी प्रयत्न कर

सकती है। किन्तु इसमें समय लगेगा और सरकार उतने समय के लिए प्रतीक्षा नहीं कर सकती। इसलिए सरकार को अनिवार्य ऋण, करारोपण तथा मुद्रा-प्रसार का ही सहारा लेना पड़ेगा। हम इसका विवरण पिछले पृष्ठों में दे ही चुके हैं और उसका यहाँ पर दोहराना आवश्यक प्रतीत नहीं होता।

जहाँ तक विदेशी ऋणों का सम्बन्ध है वे या तो विदेशी जनता या विदेशी सरकारों अथवा अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं से प्राप्त किये जा सकते हैं। विदेशों में जनता से ऋण प्राप्त करने की प्रथा काफी पुरानी है, किन्तु आजकल विदेशों में निजी व्यक्तियों से ऋण प्राप्त करना सरल नहीं है, क्योंकि एक तो ऋणों की माँग ही बहुत अधिक है और दूसरे विदेशी व्यक्तियों के लिए विनियोग करने में इतनी अधिक राजनीतिक तथा अन्य कठिनाइयाँ होती हैं कि किसी भी विदेशी तथा विदेशी संस्था को दूसरे देश की सरकारी प्रतिभूतियों में विनियोग करना रुचिकर नहीं लगता। दूसरे महायुद्ध से, यह भली-भाँति विदित है कि विकसित देशों ने अर्द्ध विकसित देशों के आर्थिक विकास में काफी रुचि लेना आरम्भ कर दिया है। एक देश की सरकार द्वारा दूसरे देशों की सरकार को ऋण दिए जाने की बात सामान्य बन गई है। इसके अतिरिक्त विश्व बैंक, अन्तर्राष्ट्रीय विकास एसोसिएशन, अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम, संयुक्त राज्य आयात निर्यात बैंक आदि संस्थायें अर्द्ध-विकसित देशों के लिए विकास सम्बन्धी वित्त के लिए महत्वपूर्ण स्रोत बनती चली जा रही हैं। किन्तु ये संस्थायें ऋण देते समय कुछ आवश्यक शर्तों पर जोर देती हैं जिनको पूरा करना सभी अर्द्ध-विकसित देशों के बस की बात नहीं होती। विकसित देशों द्वारा अर्द्ध-विकसित देशों को दिए जाने वाले ऋणों का एक विशेष महत्व होता है और वह यह कि यदि अर्द्ध-विकसित देशों को ये ऋण अवसाद काल में प्राप्त होते हैं तो उनसे अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक स्थायित्व स्थापित करने में सहायता मिलती है और दोनों ही प्रकार के देशों को लाभ होता है।

विदेशी ऋणों से देश को कई लाभ होते हैं। उनसे प्राप्त सबसे बड़ा लाभ देश को यह होता है कि वह अपने विकास के लिए आवश्यक पूँजी तथा तकनीकी ज्ञान प्राप्त कर सकता है। किन्तु विदेशी ऋणों का भार आन्तरिक ऋणों की अपेक्षा, चाहे उनकी मात्रा समान हो, अधिक होता है। एक तो विदेशी मुद्रा के परिवर्तन में कठिनाई होती है। दूसरे, विदेशों के ऋणों का शोध करने का अभिप्राय यह है कि राष्ट्रीय आय में कमी होगी और देश में स्वर्ण तथा विदेशी मुद्रा के स्रोतों को क्षति पहुँचेगी। इसीलिए यह आवश्यक है कि विदेशों से ऋण बड़ा सोच-समझकर प्राप्त किए जाएं। सर्वप्रथम, ऐसे ऋणों का उपयोग अधिकतर देश में प्रत्यक्ष रूप से आर्थिक समवृद्धि (growth) को प्रोत्साहित करने के लिए ही किया जाना चाहिए ताकि राष्ट्रीय आय में वृद्धि हो, सरकार को करों से अधिक आय प्राप्त हो और भविष्य में मूलधन तथा ब्याज का भुगतान करना सम्भव हो सके। दूसरे, विदेशी ऋणों का विनियोग इस प्रकार किया जाय कि भविष्य में देश का व्यापार-सन्तुलन अनुकूल हो जाए, ऐसा करने के विदेशी मुद्रा के परिवर्तन की कठिनाई अनुभव न होगी। अन्त में, विदेशी

ऋणों को प्राप्त करना उसी समय ठीक होगा जबकि देश के उत्पादक साधन इतने न हों कि उनसे देश की नियोजित समवृद्धि (growth) सम्भव हो सके। अतः स्पष्ट है कि अर्द्ध-विकसित देशों को उस समय तक विदेशी ऋण प्राप्त नहीं करने चाहिए जब तक कि उनके आन्तरिक साधन अपर्याप्त न हों और जब तक वे इन ऋणों का समुचित उपयोग करने की स्थिति में न हों। इसके अतिरिक्त यह भी आवश्यक नहीं कि प्रतिकूल भुगतान संतुलन की स्थिति में विदेशी ऋण अवश्य ही प्राप्त किए जाएं, क्योंकि इसका क्या भरोसा कि जिन कारणों से भुगतान सन्तुलन प्रतिकूल बना है वे विदेशी ऋणों द्वारा दूर हो जाएंगे।[14] इसलिए यह आवश्यक है कि विदेशी ऋण प्राथमिक रूप से प्रतिकूल भुगतान सन्तुलन को दूर करने के लिए नहीं वरन् अर्थ-व्यवस्था के मौलिक दोषों को दूर करने के लिए प्राप्त किए जाएं। सारांश में हम कह सकते हैं कि क्योंकि अर्द्ध-विकसित देशों का उद्देश्य आर्थिक स्थायित्व प्राप्त करना ही नहीं है, वरन् आर्थिक समवृद्धि (growth) प्राप्त करना भी है, इसलिए सरकार को ऋण, व्यय तथा ऋण के भुगतान के बीच समन्वय स्थापित करना चाहिए और वह विदेशी ऋणों को उसी समय प्राप्त करे जबकि उनके बिना आर्थिक विकास सम्भव न हो।

14. Von Philips : Public Finance in Less Developed Economics, p. 103.

अध्याय २७

भारत में राजकीय ऋण

(PUBLIC DEBT IN INDIA)

प्राक्कथन—

संसार में राजकीय ऋणों का आधुनिक इतिहास जनतन्त्रीय सरकार के उदय के साथ-साथ आरम्भ होता है। प्राचीन समय में जबकि सभी स्थानों में साम्राज्यवाद प्रचलित था तो राजा-महाराजा सोने तथा अन्य बहुमूल्य वस्तुओं को अपने खजाने में जमा करके रखते थे और संकटकाल में उनका प्रयोग करते थे। इसके अतिरिक्त वैसे भी उनकी सारी आय खजाने में एकत्रित की जाती थी और उसी में से देश का खर्चा किया जाता था। यह खजाने बहुधा युद्ध काल में खाली हो जाते थे। हिन्दू तथा मुसलिम काल में हमारे देश में ऐसे ही खजानों की प्रथा थी। साथ ही कुछ ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जबकि राजाओं ने व्यक्तिगत साख पर ऋण प्राप्त किये। परन्तु इन ऋणों का देश की सरकार की साख से कोई सम्बन्ध न था और भावी सरकारों पर इन ऋणों के भुगतान की कोई भी जिम्मेदारी नहीं होती थी। इसके अतिरिक्त अधिकतर ये ऋण केवल एक या दो व्यक्तियों से प्राप्त किये जाते थे और इन्हें अत्यन्त गोपनीय रखा जाता था। इसलिए वर्तमान राजकीय ऋण-व्यवस्था एक आधुनिक घटना है क्योंकि न तो अब ऋण गोपनीय ही रखे जाते हैं और न यह केवल एक या दो व्यक्तियों से ही लिए जाते हैं। आजकल तो यह ऋण सम्पूर्ण जनता से प्राप्त किये जाते हैं और संसार के सभी देशों में आपस में इस प्रकार का लेन-देन होता रहता है। प्राचीन समय में यह ऋण अधिकतर संकट काल में ही प्राप्त किये जाते थे परन्तु आजकल यह ऋण केवल संकटकालीन परिस्थितियों को दूर करने के लिए ही नहीं वरन् साधारण परिस्थितियों में भी प्राप्त किये जाते हैं और इनका मुख्य उद्देश्य देश का आर्थिक विकास करना होता है।

हमारे देश में राजकीय ऋणों का इतिहास ईस्ट इण्डिया कम्पनी के समय से आरम्भ होता है। उस समय कम्पनी को अपनी प्रतियोगी फ्रान्सीसी तथा डच कम्पनियों और देशी राजाओं से युद्ध करने के लिए ऋणों की आवश्यकता होती थी और जिन्हें वह इंगलैंड की सरकार से प्राप्त करती थी। सन् १७६५ में जब

कम्पनी को बंगाल की दीवानी मिली तब यह पहले से ही ऋणग्रस्त थी। धीरे-धीरे कम्पनी का व्यापार कम होता गया और उस पर शासन का भार बढ़ता गया। बंगाल से प्राप्त होने वाली आय भी राज्य को बढ़ाने तथा व्यापार सम्बन्धी कार्यों पर व्यय होने लगी। सन् १८१४ में कम्पनी के हाथ में भारत का शासन-प्रबन्ध आ गया और अब कम्पनी के पास व्यापार का एकाधिकार न था। वह अन्य व्यापारी कम्पनियों की भाँति एक साधारण कम्पनी रह गई थी। सन् १८३४ के बाद कम्पनी ने अपने व्यापार को बिल्कुल बन्द कर दिया और उस समय कम्पनी पर ३७० लाख पौंड का ऋण था। इसी वर्ष ब्रिटिश संसद और कम्पनी के डायरेक्टरों के बीच एक समझौता हुआ जिसके अनुसार सारी धरोहर भारत सरकार की ओर से ब्रिटिश सरकार (Crown) के नाम लिख दी गई। कम्पनी के ऋण तथा अन्य दायित्वों का भुगतान भारत को करना था और कम्पनी को १०½% के हिसाब से लाभ का भुगतान करना था जो भारत की आय में से दिया जाना निश्चित हुआ था। कम्पनी के व्यापारिक कार्यकर्ताओं को भी उचित मुआवजा मिलना निश्चित हुआ था और ऋण के भुगतान के लिए एक कोष स्थापित कर दिया गया था। कुछ समय तक तो ऋण की मात्रा घटती गई परन्तु कम्पनी को बहुत से युद्ध लड़ने के कारण ऋण की मात्रा में फिर वृद्धि होने लगी और सन् १८५६ तक कम्पनी पर लगभग ४६० लाख पौंड के ऋण हो गये थे। सन् १८५७ में स्वतंत्रता-संग्राम आरम्भ हुआ जिसमें ४४० लाख पौंड खर्च करने पड़े। इस राशि को भी भारत के राजकीय ऋणों में जोड़ दिया गया। सन् १८७० में भारत के राजकीय ऋणों की राशि एक करोड़ पौंड हो गई थी जिसमें कुछ तो रुपयों के ऋण (Rupee loans) थे और कुछ पौंड ऋण (Sterling loans) थे। रुपया ऋण पर सूद की दर ४½% थी और पौंड ऋण पर ५%।

सन् १८७० में भारत ने निर्बाधावादी नीति को त्याग दिया और राजकीय व्यावसायिक कार्यों का निर्माण आरम्भ किया। भारत सरकार ने रेलों को बनवाना आरम्भ किया, नहरें खुदवानी आरम्भ कीं, सड़कें इत्यादि बनवाना आरम्भ की, जिनके लिए सरकार को और अधिक ऋण लेने पड़े। अब भारतीय ऋणों को दो भागों में विभाजित कर दिया गया—उत्पादक तथा साधारण। १९वीं शताब्दी के अन्त तक भारतीय ऋणों की कुल राशि २३१ करोड़ रु० थी जिसमें १७० करोड़ रु० के उत्पादक ऋण थे। अगले १५ वर्षों के अन्दर इन ऋणों की राशि ४१० करोड़ रु० हो गई। सन् १९२४ तक भारत सरकार ने अपनी ऋण सम्बन्धी नीति में पूर्ण परिवर्तन कर दिया और अनुत्पादक ऋणों को समाप्त करने का प्रयत्न किया, परन्तु क्योंकि भारत सरकार को प्रथम महायुद्ध पर काफी व्यय करना पड़ा इसलिए अनुत्पादक ऋण पूर्णतया समाप्त न हो सके। सन् १९२४ में भारत के साधारण ऋण २०५ करोड़ रुपयों के थे और ५३८ करोड़ रुपयों के उत्पादक ऋण थे। इसी वर्ष भारत सरकार के वित्त सदस्य (Finance Member) सर ब्लैकिट ने ऋण के भुगतान के लिए एक नई योजना निर्मित की। उन्होंने ऋणों का ८० वर्षों में भुगतान करने का निश्चय किया। इस योजना के अनुसार सन् १९२५ से १९३० तक की अवधि में

अनुत्पादक ऋणों की मात्रा को २०५ करोड़ रुपयों से घटा कर १७६ करोड़ रुपये कर दी। परन्तु सन् १९३० के मन्दी काल में भारत सरकार को हीनार्थ प्रबन्धन का सहारा लेना पड़ा और सन् १९३४ में कुल राजकीय ऋणों की राशि १२२४ करोड़ रुपये हो गई।

सन् १९३७ में प्रान्तीय स्वशासन की नीति के कार्यान्वित होने से प्रान्तीय तथा केन्द्रीय सरकारों की आय के साधन अलग-अलग हो गये। इस वर्ष कुल राजकीय ऋण १२०९ करोड़ रुपयों के थे जिनमें से प्रान्तों के हिस्सों में ३० करोड़ रुपये आए और केन्द्रीय सरकार के हिस्से में ११७९ करोड़ रुपयों के ऋण आये। सन् १९३९ में दूसरी लड़ाई आरम्भ हुई और भारत सरकार को फिर से हीनार्थ प्रबन्धन करना पड़ा तथा विदेशी ऋण भी प्राप्त करने पड़े। युद्ध की प्रगति के साथ-साथ इन ऋणों की राशि बढ़ती ही गई और युद्ध के अन्त में यह राशि १८६०·४४ करोड़ रुपये थी। यह राशि निम्न तालिका से स्पष्ट हो जाती है :—

(करोड़ रुपयों में)

पौंड ऋण	....	३४·१९
रुपये ऋण	....	१२१२·१४
अल्प बचत	....	१९५·१८
खजाने के बिल तथा प्रतिभूतियाँ इत्यादि	....	८६·७०
कुल सूद सहित ऋण	....	१८६०·४४

युद्ध के वर्षों में ऋण की प्रगति की समुचित स्थिति निम्न तालिका से स्पष्ट होती है :—

(करोड़ रुपये में)

वर्ष	रुपया ऋण	वाह्य ऋण	वर्ष	रुपया ऋण	वाह्य ऋण
१९३९	७१०	४६९	१९४३	१,२०९	५६
१९४०	७१८	४४२	१९४४	१,३४३	३९
१९४१	८१६	३४५	१९४५	१,५७१	३८
१९४२	९४१	२११	१९४६	१,९३७	२८
			१९४७	२,१२२	३७

सन् १९४७ में, १५ अगस्त को भारत स्वतन्त्र हुआ और देश का विभाजन होने से सम्पूर्ण भारत की धरोहरों (Assets) तथा दायित्वों (Liabilities) का भी विभाजन हुआ। पाकिस्तान के हिस्से में ३०० करोड़ रुपयों के ऋण आये जिनका भुगतान करने के लिए पाकिस्तान सरकार ने भारतीय सरकार को ३% ब्याज की दर से ५० क़िश्तों में देने का वायदा किया और भारतीय सरकार ने इस देश के विभाजन के पहले के सारे ऋणों को चुकाने की जिम्मेदारी अपने सर पर ली। भारतीय ऋणों को अब दो भागों में विभाजित किया गया, प्रथम आन्तरिक अर्थात् रुपया ऋण दूसरे वाह्य अर्थात् पौंड, डालर आदि के ऋण। सन् १९४९ तक वाह्य ऋण

अधिकतर पौंड ऋण थे परन्तु उसके बाद उनमें डालर ऋण भी सम्मिलित कर दिये गए। सन् १९५१ में स्थिति इस प्रकार थी :—

(करोड़ रुपयों में)

ऋण के प्रकार	१९३८–३९	१९४८–४९	१९५०–५१ (बजट)
(१) आन्तरिक ऋण			
(अ) सार्वजनिक ऋण			
(दीर्घ-कालीन व अल्प-कालीन)	४८४·२	१८५१·७	१८४७·६
(ब) निश्चितकालीन	२२५·१	३३६·१	४२६·३
(स) जमा	२७·३	२२५·२	२२४·९
योग	७३६·६	२४१३·०	२४९८·८
(२) इंगलैंड का ऋण			
(अ) सार्वनिक ऋण	४६४·९	३९·५	३२·९
(ब) निश्चितकालीन ऋण	४·२	३·३	३·१
योग	४६९·१	४२·८	३६·०
(३) डालर ऋण	—	—	२६·३
योग	१२०५·७	२४५५·८	२५६१·१

नियोजन काल में राजकीय ऋणों का परिवर्तित स्वरूप—(Changing Pattern of debt during the Period of Economic Planning) नियोजन सम्बन्धी कार्य-क्रमों को पूरा करने के लिये सरकार को अधिकाधिक मात्रा में आन्तरिक एवं वाह्य दोनों ही प्रकार के ऋणों का सहारा लेना पड़ा। आन्तरिक ऋण बाजार तथा अल्प बचतों द्वारा प्राप्त किये गए। सरकार को बाजार से ऋण व्यक्तियों तथा संस्थाओं से प्राप्त हुए हैं। जो आन्तरिक ऋण सरकार ने प्राप्त किये हैं उनमें व्यक्तियों द्वारा दिये गए ऋणों की मात्रा बहुत कम रही है। मार्च, १९६० के अन्त तक कुल ऋणों में व्यक्तियों द्वारा दिये गये ऋणों का प्रतिशत केवल ३·१ ही था और ये ऋण अल्प बचत योजनाओं द्वारा प्राप्त हुए थे। अल्प बचतें मुख्यतया डाकघर बचत बैंक जमा, राष्ट्रीय सुरक्षा प्रमाणपत्र तथा सुरक्षा जमा प्रमाणपत्र और सावधि संचयी जमा योजना (Cumulative Time Deposits Scheme) द्वारा प्राप्त हुई हैं। अल्प बचतों का सबसे बड़ा महत्त्व यह है कि ये देश में उपभोग को कम करके विकास कार्यों के लिए धन जुटाने में सहायता करती हैं।

प्रथम योजना-काल में केन्द्र तथा राज्यों द्वारा प्राप्त किये जाने वाले ऋणों का लक्ष्य ३८५ करोड़ रु० निश्चित किया गया था। इस राशि में राजकोष पत्रों तथा अन्य अस्थायी ऋणों से प्राप्त होने वाली राशि को सम्मिलित नहीं किया गया था। योजना-काल में कुल ६०० करोड़ रु० के ऋण प्राप्त हुए थे जिनमें २०५ करोड़ रु० बाजार ऋणों से, ३०४ करोड़ रु० अल्प बचतों तथा अनिधिजन्य ऋणों (Unfunded Debts) से और ९१ करोड़ रु० अन्य पूंजीगत स्रोतों से प्राप्त हुए।

दूसरी योजना-काल में कुल १२०० करोड़ रु० के ऋण जनता से प्राप्त करने

का निश्चय किया गया था। ७०० करोड़ रु० बाजार ऋणों से और ५०० करोड़ रु० अल्प बचतों द्वारा प्राप्त करने का लक्ष्य था। इसी काल में ४३० करोड़ रु० के ऋण वापस भी करने थे। दूसरी योजना-काल में सरकार को बाजार से ७८० करोड़ रु० के ऋण प्राप्त हुए। इस प्रकार निर्धारित लक्ष्य से ८० करोड़ रु० के अधिक ऋण प्राप्त हुए। इसका कारण यह था कि इस धनराशि में उन ऋण-पत्रों की प्राप्तियों को भी सम्मिलित कर लिया गया था जिन्हें स्टेट बैंक आफ इण्डिया ने खरीदा था और जो पी० एल० ४८० समझौते के अन्तर्गत अमेरिका से आने वाले गेहूँ की बिक्री से प्राप्त धन के विनियोग से खरीदे गए थे। इसी प्रकार इस धन-राशि में उन ऋण पत्रों की राशियाँ भी सम्मिलित कर ली गई जिन्हें रिजर्व बैंक ने खरीदा था। जनता से तो ३०० करोड़ रु० के ही ऋण प्राप्त हुए थे। अल्प बचतों से सरकार को निर्धारित लक्ष्य से १०० करोड़ कम प्राप्त हुए अर्थात् ५०० करोड़ रु० के स्थान पर केवल ४०० करोड़ रु० ही प्राप्त हो सके।

१ अप्रैल, १९६० से सरकार ने एक इनामी बॉण्ड योजना चालू की जिसके अन्तर्गत १०० रु० और ५ रु० के व्याज मुक्त इनामी बॉण्ड जारी किये गये। इस योजना के अन्तर्गत त्रैमासिक लाटरी में निकलने वाले नम्बरों के बॉण्डों के धारकों को इनाम देना निश्चित किया गया। पहली लाटरी एक सितम्बर, १९६० को निकाली गई और अन्तिम लाटरी १ मार्च, १९६५ को निकाली गई। इन बॉण्डों की ५०% प्राप्तियाँ राज्यों को दे दी जाती है और शेष भाग केन्द्रीय सरकार द्वारा रख लिया जाता है। सन् १९६०–६१ तथा सन् १९६१–६२ में इन बॉण्डों की वास्तविक प्राप्तियाँ क्रमशः १५·६ तथा ३·३ करोड़ रु० थीं।

तीसरी योजना में ८०० करोड़ रु० जनता से प्राप्त करने तथा ६०० करोड़ रु० अल्प बचतों द्वारा प्राप्त करने के लक्ष्य निर्धारित किये गए हैं। योजना के प्रथम वर्ष में बाजार से कुल ६२·६ करोड़ रु० और दूसरे वर्ष में ९५·९ करोड़ रु० ही प्राप्त हुए। इस राशि में २३ करोड़ रु० की वह राशि भी सम्मिलित है जो चीनी-संकट की स्थिति में जारी किये गये ४½% सूद वाले १० वर्षीय राष्ट्रीय सुरक्षा बॉण्डों से प्राप्त हुई थी। १२ नवम्बर, १९६२ को स्वर्ण बॉण्ड चालू किये गए जो सोने तथा सोने से बनी वस्तुओं द्वारा खरीदे जा सकते थे। ये बॉण्ड १० रु० और उसके गुणक मूल्य के थे और सोने का मूल्य ५२·५८ रु० प्रति दसग्राम अर्थात् ६२·५० रु० प्रति तोला निश्चित किया गया था। इनकी अवधि १५ वर्ष और सूद की दर ६½% निश्चित की गई। १०,००० रु० से अधिक मूल्य के बॉण्ड खरीदने वालों को व्याज द्वारा प्राप्त होने वाली आय पर कर देना पड़ेगा। ये बॉण्ड धन-कर तथा पूँजी लाभ-कर से भी मुक्त हैं। सन् १९६२–६३ में लगभग ८·७३ करोड़ रु० का सोना प्राप्त हुआ और अनुमान था कि सन् १९६३–६४ में एक करोड़ रु० का स्वर्ण और प्राप्त होगा।

सन् १९६१–६२ में अल्प बचतों से ८७·७५ करोड़, रु० सन् १९६२–६३ में ७४·०९ करोड़ रु० प्राप्त हुए थे। अतः स्पष्ट है कि १२० करोड़ रु० प्रतिवर्ष प्राप्त करने का जो लक्ष्य निर्धारित किया गया, उसकी प्राप्ति नहीं हो सकी। राष्ट्रीय संकट

घोषित होने के बाद दस वर्षीय कोषागार बचत जमा प्रमाणपत्रों तथा बारह वर्षीय राष्ट्रीय योजना बचत प्रमाणपत्रों को समाप्त करके बारह वर्षीय राष्ट्रीय सुरक्षा प्रमाण पत्र और दस वर्षीय सुरक्षा प्रमाण पत्र जारी किए गए जिनकी ब्याज-दर पहले की अपेक्षा ऊँची थीं।

ब्याज मुक्त इनामी बॉण्ड जो १ अप्रैल, १९६० को जारी किए गए थे उनकी बिक्री १ जुलाई, १९६२ से बन्द कर दी गई और उनके स्थान पर १ जनवरी, १९६३ से प्रीमियम इनामी बॉण्ड चालू किए गए। पहले की भाँति ही ये बॉण्ड भी १०० रु० तथा ५ रु० मूल्य के हैं। इनकी अवधि भी ५ वर्ष है और इन पर सूद की दर २% है। इनका भुगतान मूल्य क्रमशः ११० रु० तथा ५·५० रु० निश्चित किया गया है और जो लाटरियाँ निकाली जाएँगी उन पर आने वाले नम्बरों में से केवल बिके हुए नम्बरों के धारकों को ही इनाम दिए जायेंगे।

अगस्त सन् १९६५ में जब पाकिस्तान से युद्ध छिड़ा तो सरकार ने अक्तूबर सन् १९६५ में दो प्रकार के राष्ट्रीय सुरक्षा ऋण पत्र जारी किये—प्रथम अल्पकालीन जो सन् १९६८ में पूरा होना था जिस पर सूद की दर ४½% थी और दूसरा जो सन् १९७२ में पूरा होना था जिस पर सूद की दर ४¾% थी। राष्ट्रीय सुरक्षा स्वर्ण बाँड भी जारी किये गये जिनका भुगतान सन् १९८० में होना था। ये बाँड सोना, सोने के सिक्के तथा सोने के जेवर देकर खरीदे जा सकते थे। बाँड खरीदने वालों को अपना भुगतान सोने में ही वापिस मिलना था। सन् १९८० तक बाँड खरीदने वालों को प्रति १० ग्राम पर २ रुपया वार्षिक भुगतान मिलेगा। जिस पर आय-कर लागू नहीं होगा। यह बाँड हस्तान्तरित होने वाले थे और इन पर न तो धन-कर और न पूंजी लाभ-कर लागू होगा। यह स्वर्ण नियन्त्रण नियमों से भी मुक्त थे। यदि बाँड खरीदने वाले कोई भी व्यक्ति पांच किलो सोने तक का उपहार किसी दूसरे को देगा तो उस पर उपहार-कर भी लागू नहीं होगा। ५० किलो ग्राम मूल्य तक के स्वर्ण बाँडों पर व्यक्ति के मरने के बाद जायदाद कर में सम्मिलित नहीं किये जाएँगे। बाँड खरीदने वालों का नाम भी गुप्त रक्खा जाना था। यह व्यवस्था केवल इसलिए की गई थी कि केवल चोर बाजार में कमाया हुआ धन या स्वर्ण नियन्त्रण अधिनियम के खिलाफ जो सोना खरीद कर जमा कर लिया गया है उसका भार निकाला जा सके। यद्यपि यह योजना युद्ध संचालन के लिये जनता से आवश्यक सोना प्राप्त करने के लिये चालू की गई थी, फिर भी इसकी बहुत कड़ी आलोचनायें की गईं।

अनिवार्य जमा योजना, जो सन् १९६३–६४ में चालू की गई थी, के स्थान पर सन् १९६४–६५ में एन्यूइटी जमा योजना चालू की गई। अनिवार्य जमा योजना के अन्तर्गत कुल ६० करोड़ रु० एकत्रित होने की आशा थी जिनमें से ३५ करोड़ रु० राज्यों को और २५ करोड़ रु० संघ सरकार को मिलने थे। यह तो सर्वविदित ही है कि अनिवार्य बचत योजना का अन्त भारी विरोध के कारण ही किया गया, किन्तु इसका सबसे बड़ा लाभ यह था कि अनिवार्य जमा लौटाई जाने वाली भा

थीं और उन पर ब्याज भी मिलना था। करारोपण की अपेक्षा अनिवार्य जमा योजना निर्धन वर्गों के लिए अधिक अच्छी थी। वास्तव में इस योजना को बन्द करने के बजाय यह अधिक अच्छा रहता कि आय-कर तथा अधिभार-कर की दरों को कम किया जाता और कर रहित न्यूनतम सीमा को ऊँचा किया जाता।

तीसरी योजना काल में (मार्च सन् १९६५ तक) भारत को १९३६·८ करोड़ रुपयों के मूल्य के विदेशी ऋण उपयोग में लाने की अनुमति प्राप्त हो चुकी थी। ३१ मार्च सन् १९६५ तक हमारे वाह्य ऋणों की राशि २१९·२३ करोड़ रुपये थी। दूसरी योजना में जो वाह्य ऋण प्राप्त हुए थे और जिनका हम उपयोग नहीं कर पाए थे उनकी राशि को मिलाकर तीसरी योजना में मार्च १९६५ तक हमें लगभग २६११·९ करोड़ रुपये उपयोग के लिए प्राप्त थे जिनमें से २४३६·३ करोड़ रुपयों का भुगतान विदेशी मुद्रा में करना था और १७५·६ करोड़ रुपयों का भुगतान रुपयों में करना था।

दूसरी योजना के प्रारम्भ से ही भारत के वाह्य ऋणों में काफी वृद्धि हुई है। हमारा स्टर्लिंग ऋण जो सन् १९५५–५६ में २२·६१ करोड़ रु० था, बढ़कर ३१ मार्च, १९६१ को १२२·५० करोड़ रु० और ३१ मार्च, १९६५ को २२९·०९ करोड़ रु० हो गया। इसी प्रकार डालर ऋण में भी वृद्धि हुई है। डालर ऋण जो सन् १९५०–५१ में २४·६० करोड़ रु० था, वह ३१ मार्च, १९६१ को बढ़कर ५२१·४० करोड़ रु० और ३१ मार्च, १९६५ को १४३८·०४ करोड़ हो गया। ये ऋण विश्व बैंक, अन्य अन्तर्राष्ट्रीय एजेन्सियों तथा संयुक्त राज्य अमेरिका से प्राप्त किए। सन् १९६०–६१ में सोवियत ऋण की राशि ६१·५३ करोड़ रु० थी जो सन् १९६४–६५ में २१७·६४ करोड़ रु० हो गई और पश्चिमी जर्मनी से प्राप्त ऋण जो सन् १९६०–६१ में १०८·१७ करोड़ रु० थे, बढ़कर १७८·३४ करोड़ रु० हो गए।

दूसरी योजना में यह आशा थी कि लगभग ९०० करोड़ रु० के ऋण विदेशी बाजारों से प्राप्त हो जायेंगे। किन्तु, वास्तव में १०९० करोड़ रु० के ऋण प्राप्त हुए जो निर्धारित लक्ष्य से १९० करोड़ रु० अधिक थे। ऐसा केवल इसीलिए हुआ कि एक ओर तो आयातों पर कड़े प्रतिबन्ध लगाये गये और दूसरी ओर मित्र देशों तथा विश्व बैंकों से अधिक सहायता मिल गई।

तीसरी योजना में २२०० करोड़ रु० की विदेशी सहायता, ऋणों तथा अनुदान के रूप में प्राप्त होने की आशा प्रगट की गई है। योजना के प्रथम दो वर्षों में क्रमशः २३०·१ करोड़ रु० तथा ३१०·५ करोड़ रु० का वास्तविक उपयोग किया गया जबकि भारत को क्रमशः ४०४·१ करोड़ रु० तथा ५९१·४ करोड़ रु० के कुल विदेशी ऋणों का अधिकार दे दिया गया था। इस प्रकार तीसरी योजना के पहले दो वर्षों में कुल ५४०·६ करोड़ रु० के विदेशी ऋणों का उपयोग हुआ। दूसरी योजना में कुल ६७५·४ करोड़ रु० के विदेशी ऋणों का ही उपयोग किया गया था। इस प्रकार मार्च, १९६३ के अन्त में ११३०·३ करोड़ रु० के विदेशी ऋण ऐसे थे जिनका उपयोग

नहीं हुआ था। भारत सरकार के व्याज वाहक ऋणों की स्थिति का ज्ञान निम्न तालिका से प्राप्त किया जा सकता है।

तालिका

भारत सरकार के व्याज वाहक ऋणों की स्थिति

(करोड़ रु० में)

	१९५०–५१	१९५६–५७	१९६१–६२	१९६२–६३	१९६३–६४ (बजट)
आन्तरिक :—					
(१) ऋण	१४३८·४६	१५८८·४५	२६८८·१३	२८५१·०४	३०६८·२७
(२) कोषागार विपत्रों तथा जमा	३७३·२०	८६५·२५	११८२·३०	१४१४·९८	१८६८·९८
(३) अल्प बचत	३२६·२५	६३८·२०	१०६४·५४	११४२·२४	१२५२·०४
(४) मूल्य ह्रास तथा प्रारक्षण कोष	१५५·५६	२१५·४१	९८·७४	१४१·३३	१७७·४३
(५) संयुक्त राज्य सरकार की प्रतिरूप जमा कोष	——	——	३००·००	३५४·५४	४४४·५४
(६) अन्य	२०७ २६	२०६·७९	३७०·२८	४२८·३१	४७४·८३
(७) योग	२५००·७३	३५१४·१०	५७०४·०४	६३३२·४४	७२८६·०९
वाह्य					
(१) स्टर्लिंग ऋण आदि	३६·१७	२१·७५	१४९·७४	१६८·५५	१९२·८९
(२) डालर ऋण	२४·६०	१३२·९५	६५०·९५	८३९·४६	१०६६·९१
(३) सुरक्षा प्रमाण पत्र	——	——	——	०·०२	०·०४
(४) सोवियत रूस के ऋण	——	६·८३	७३·३५	१०४·९५	१६४·३०
(५) पश्चिमी जर्मनी के ऋण	——	——	१४१·०४	१५५·३८	१४९·६४
(६) अन्य विदेशी ऋण	——	——	७४·८२	६०·०२	१९२·४६
कुल व्याज वाहक ऋण	२५६१·५०	३६७५·६३	६७९३·९४	७६९०·८२	८०५५·६३

निष्कर्ष—उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि भारत सरकार के कुल ऋणों में विदेशी ऋणों का भाग तीव्र गति से बढ़ा है। पिछले १३ वर्षों में विदेशी ऋण ६०.७७ करोड़ रु० (सन् १९५०–५१) से बढ़कर १८०९ करोड़ रु० (सन् १९६३–६४) हो गए थे। अनुमान था कि सन् १९६४–६५ में ये ऋण २४३९ करोड़ रु० हो जाएँगे। सबसे अधिक ऋण डालर देशों से प्राप्त हुए हैं। भारत के कुल ऋणों में सन् १९३९ से अब तक लगभग ८ गुनी वृद्धि हुई है अर्थात् सन् १९३९ में कुल

ऋण राशि १२०५·७६ करोड़ रु० थी, जो बढ़कर ३१ मार्च १९६४ को ८५१९·१५ करोड़ रु० हो गई और ३१ मार्च १९६५ तक उसके ११२७९·८४ करोड़ रु० हो जाने का अनुमान था।

भारत में राजकीय ऋण नीति की समस्यायें—युद्ध-काल में सरकार ने विशेष रूप से सस्ती मुद्रा-नीति को अपनाया था और सभी ऋण ३% जैसी नीची व्याज दर पर प्राप्त किए थे। इतनी नीची दर पर ऋण प्राप्त करना इसलिए आवश्यक था कि युद्ध की लागत भी न बढ़े और राजकीय ऋण का भार भी अधिक न हो। युद्ध के तुरन्त बाद भी सरकार ने ३% व्याज की दर पर ऋण प्राप्त किए थे। कभी-कभी यह सुझाव दिया जाता है कि यदि सरकार व्याज की दर को बढ़ा दे तो उससे अधिक मात्रा में ऋण उपलब्ध हो सकेंगे। किन्तु वास्तव में सरकार की नीति अनुचित प्रतीत नहीं होती, क्योंकि एक तो भारत जैसे निर्धन देश में जहाँ बचतें अल्प हैं, व्याज की दर को बढ़ाने से बचतों में वृद्धि होने की आशा नहीं की जा सकती। दूसरे, विदेशी ऋण भी भारत में बड़ी मात्रा में नहीं आ सकते क्योंकि विदेशियों के लिए व्याज की दर का ऊँचा या नीचा होने का इतना महत्व नहीं है जितना अन्य बातों का। तीसरे, व्याज की ऊँची दर का अभिप्राय यह होगा कि औद्योगिक संस्थाओं के लिए ऋण महँगे हो जायेंगे और सम्भव है कि विनियोग की दर गिर जाए। अन्त में, व्याज की दर को ऊँचा करने से विद्यमान प्रतिभूतियों के मूल्य गिर जायेंगे और विनियोग करने वाली संस्थाओं के आय-व्यय लेखा में गड़बड़ी उत्पन्न हो जाएगी। जहाँ इतनी सारी बातें व्याज दर को नीचा रखने के पक्ष में कही जाती हैं वहाँ इसके विपक्ष में भी कुछ दलीलें दी जा सकती हैं। युद्धकाल के लिए तो यह ठीक था कि व्याज दर नीची रखी जाए, क्योंकि उसका कुछ विशेष उद्देश्य था, किन्तु अब परिस्थितियाँ बदल चुकी हैं और अब व्याज का दर को इतना नीचे रखने के लिए सरकार को घोर प्रयत्न करने होंगे। इसीलिए तो सरकार को कुछ प्रकार के ऋणों के सम्बन्ध में व्याज की दर को ऊँचा करना पड़ा। दूसरी योजना काल में सरकार की अल्प बचत योजनाएँ भी कदाचित् इसीलिए सफल नहीं हुई थी।

वास्तव में देखा जाए तो राज्यों की अपेक्षा, ऋण प्राप्त करने के सम्बन्ध में केन्द्रीय सरकार की स्थिति अधिक अच्छी है। केन्द्रीय सरकार दीर्घकालीन ऋणों के लिए तनिक ऊँची व्याज की दर निर्धारित करने की स्थिति में है। इसके अतिरिक्त विभिन्न राज्यों में भिन्न-भिन्न व्याज दरों पर ऋण प्राप्त किए जाते हैं। स्वाभाविक ही है कि जो राज्य नीची दरों पर ऋण प्राप्त करना चाहते हैं उनको आवश्यक मात्रा में ऋण प्राप्त नहीं हो पाते। इसीलिए कभी-कभी यह सुझाव दिया जाता है कि ऋण प्राप्त करने का काम संघ सरकार द्वारा किया जाय और जो ऋण प्राप्त हों उनको राज्यों में उनकी आवश्यकताओं के अनुसार विभाजित कर दिया जाए। भारत में सरकारों को ऋण प्राप्त करने में इसलिए कठिनाइयाँ होती हैं कि यहाँ की अधिकांश जनता निर्धन है और आय बढ़ने से उनका उपभोग व्यय अधिक हो जाता

है तथा बचत उस अनुपात में नहीं बढ़ पाती। इसके अतिरिक्त व्यक्ति अपनी बचत को सोने तथा चाँदी के रूप में संग्रहीत करना अधिक अच्छा समझते हैं। यही नहीं, बल्कि निजी क्षेत्र भी ऋण प्राप्त करने के लिए सरकार से प्रतियोगिता करता है। इसलिए यह आवश्यक है कि सरकार आवश्यकतानुसार तथा लक्ष्यानुसार ऋण प्राप्त करने के लिए खूब प्रचार करे और अधिकाधिक प्रलोभन प्रदान करे तभी सफलता की आशा की जा सकती है।

भारत के पौंड पावने
(India's Sterling Balances)

पौंड पावने वह अल्पकालीन ऋण थे जो भारत ने ब्रिटिश सरकार को दूसरे महायुद्ध काल में दिए थे। दूसरे महायुद्ध काल और उसके बाद के वर्षों में ब्रिटिश सरकार के नाम यह पौंड पावने बहुत बड़ी राशि में जमा हो गये थे। ब्रिटिश सरकार ने इनके बदले में भारत सरकार को पौंड प्रतिभूतियाँ दे दी थीं जो लन्दन में भारत की रिज़र्व बैंक की ओर से जमा करदी गईं। यह बड़ी साधारण सी बात है कि एक देश की केन्द्रीय बैंक अपने कोषों में विदेशी मुद्रा को भी रखे परन्तु पौंड पावने की स्थिति साधारण विदेशी मुद्रा की तुलना में भिन्न थी क्योंकि रिज़र्व बैंक इनका उपयोग केवल उसी विधि के अनुसार कर सकता था जो भारत और ब्रिटिश सरकार में समझौते के अनुसार निश्चित होती थी। इन ऋण के एकत्रित होने के मुख्य कारण यह थे :—(१) रिज़र्व बैंक ऐक्ट के अनुसार रिज़र्व बैंक को पौंड के बदले में रुपये देने की आज्ञा थी इसलिये ब्रिटिश सरकार ने रिज़र्व बैंक से पौंड प्रतिभूतियों के बदले भारत में रुपये प्राप्त किये और उनका उपयोग युद्ध संचालन में किया और भारत के ऋण ब्रिटिश सरकार पर जमा होते चले गए। (२) भारत सरकार ने ब्रिटिश सरकार की ओर से भारत में जो खर्चे किये उनके बदले में भी प्रतिभूतियाँ दी गईं और पौंड पावने की राशि और भी बढ़ गई। (३) युद्ध-काल में भारत का व्यापार सन्तुलन उसके पक्ष में रहा और निर्यातों के बदले में भी भारत को पौंड प्रतिभूतियाँ ही प्राप्त हुईं। (४) विनिमय नियन्त्रण आदि के कारण भारतवासियों को सारी विदेशी मुद्रा रिज़र्व बैंक को देनी पड़ी। इसके अतिरिक्त भारत को जो डालर युद्ध-काल में प्राप्त हुए वे सब साम्राज्य डालर कोष के लिए अनिवार्य रूप से प्राप्त कर लिए गये थे जिनका उपयोग इंगलैण्ड ने अमेरिका में युद्ध सम्बन्धी सामान खरीदने के लिए किया था और जिसके बदले में भारत को पौंड प्रतिभूतियाँ दे दी गई थीं। (५) युद्ध के प्रारम्भिक वर्षों में भारत ने सोना और चाँदी भी बेचे थे और उनके बदले में उनको पौंड प्रतिभूतियाँ प्राप्त हुई थीं।

इन सब कारणों से युद्ध-काल में भारत के पौंड पावने एकत्रित हुए थे। वैसे तो इनकी राशि बहुत अधिक होती परन्तु दो कारणों से यह कुछ कम रही। प्रथम, भारत ने सन् १९४४ के अन्त तक ब्रिटेन के सारे पौंड ऋणों का भुगतान कर दिया था और दूसरे सन् १९४३ में ब्रिटेन और अमेरिका ने भारतीय मुद्रा बाजार में सोना

वेचना आरम्भ कर दिया था। कुछ भी हो भारत के यह पौंड ऋण एकत्रित हुए जो एक प्रकार से भारतवासियों की वलात् वचतें (forced savings) थीं क्योंकि उनको अपनी मुद्रा के वदले में पर्याप्त वस्तुएँ नहीं मिल पाई थीं और जो कुछ प्राप्त हुई भी थीं उनके मूल्य वहुत अविक थे। इन मूल्यों की वृद्धि के मुख्य कारण यह थे कि एक तो भारत में वस्तुओं का उत्पादन साधारण नागरिकों की आवश्यकताओं से वहुत कम था और दूसरे रिजर्व वैंक ने पौण्ड प्रतिभूतियाँ की आड़ पर आवश्यकता से अविक कागजी मुद्रा छापी थी जिसके कारण भारत में मुद्रा-प्रसार हो गया था। सारांश में इन पौंड पावनों का वास्तविक मूल्य वहुत अविक था क्योंकि इनके लिए भारतवासियों को वहुत त्याग करना पड़ा था।

युद्ध समाप्त होने के वाद जव भारत को अपनी अर्थ-व्यवस्था के पुर्ननिर्माण के लिए इन पौंड पावनों की आवश्यकता हुई तव ब्रिटेन में समाचार-पत्रों और वहाँ के चर्चिल जैसे प्रसिद्ध व्यक्तियों ने इनके भुगतान में अड़चने उत्पन्न कीं और इस वात पर जोर दिया कि पौंड पावनों की पूरी राशि का भुगतान भारत को नहीं होना चाहिये। इन लोगों की ओर से मुख्य दलीलें निम्न प्रकार थीं :—

(१) युद्ध में भारत और ब्रिटेन दोनों ही साझेदार थे। विशेप रूप से जापान के विरुद्ध जो युद्ध लड़ा गया वह प्रत्यक्ष रूप से भारत की रक्षा के लिए था। ब्रिटेन को युद्ध से भारत की तुलना में वहुत अविक हानि हुई थी और क्योंकि यह पौंड पावने युद्ध का ही परिणाम थे इसलिये भारत को इनका पूरा भुगतान नहीं प्राप्त होना चाहिये क्योंकि युद्ध का कुछ खर्चा भारत को भी सहन करना चाहिये। परन्तु इस दलील में कोई भी तथ्य न था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि भारत और ब्रिटेन दोनों ने मिलकर युद्ध लड़ा था परन्तु क्या यह सच नहीं कि ब्रिटेन विना भारत की सहायता के युद्ध में कभी भी सफलता प्राप्त नहीं कर पाता। इसके अतिरिक्त जहाँ तक त्याग की समानता का सम्वन्ध है उसका निर्णय केवल दोनों देशों की प्रति व्यक्ति आय और व्यक्तियों के जीवन-स्तर की तुलना के आधार पर ही किया जा सकता है। और यह स्वीकार करने में कोई भी आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि भारत में ब्रिटेन की अपेक्षा प्रति व्यक्ति आय और जीवन-स्तर दोनों ही वहुत नीचे हैं। यह कहना भी अनुचित है कि भारत ने युद्ध में कोई खर्चा नहीं किया। यदि युद्ध-सम्वन्धी व्यय के आँकड़ों को देखा जाय तो स्पष्ट हो जायेगा कि युद्ध के पहले वर्ष में भारत का युद्ध-व्यय केवल ५० करोड़ रुपये था जो वढ़ कर ७५ करोड़ रुपये हो गया और जापान के युद्ध में आने के वाद सन् १९४४–४५ में ४५० करोड़ रुपये से भी अविक हो गया था। अत: स्पष्ट है कि जापान के युद्ध में आने के वाद से भारत ने काफी युद्ध-व्यय का भार अपने ऊपर ले लिया था। इसलिये पौंड पावने की राशि को कम करने का प्रश्न ही नहीं उठता था।

(२) दूसरी दलील यह दी गई थी कि क्योंकि यह व्यापारिक ऋण नहीं थे इसलिए इनका पूरा भुगतान नहीं होना चाहिये। यह दलील सवसे अविक हास्यप्रद थी। ऐसा प्रतीत होता है कि इन लोगों के अनुसार जो व्यापारिक ऋण नहीं होते हैं

इनको ऋणी की इच्छानुसार कम करने की कोई प्रथा प्रचलित है या अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अधीन ऐसा करने की व्यवस्था उपस्थित है। हम जानते हैं कि इन दोनों में से कोई भी बात नहीं है। सबसे बड़ा प्रश्न तो यह है कि क्या ऋणी को अपने ऋण की राशि को कम कराने का प्रयत्न करना चाहिए और विशेष रूप से उस समय जब कि ऋणी को ऋण उसी के आग्रह पर प्राप्त हुआ हो। इसलिए इस दलील में कोई भी तथ्य नहीं है।

(३) पौंड पावने की राशि को कम करने के पक्ष में एक यह भी दलील दी गई थी कि क्योंकि ब्रिटेन बड़ी विषम परिस्थितियों में से होकर गुजर रहा था इसलिये उसमें इन ऋणों के पूरा भुगतान करने की सामर्थ्य नहीं थी और यदि वह इनका पूरा भुगतान करेगा तो उसकी कठिनाइयाँ और भी अधिक हो जायेंगी। परन्तु यह दलील भी उपयुक्त न थी क्योंकि भारत की भी कठिनाइयाँ ब्रिटेन की अपेक्षा कुछ कम न थीं। जबकि ब्रिटेन की राष्ट्रीय आय भारत की अपेक्षा अधिक बढ़ गई थी तब इन ऋणों के भुगतान से कोई अधिक भार उस पर नहीं पड़ेगा।

(४) अन्त में यह भी कहा गया कि भारत के यह ऋण अनुचित रूप से एकत्रित हुए थे क्योंकि भारत ने ब्रिटेन को जो वस्तुएँ दी थीं उनके मूल्य बहुत ऊँचे थे और इसलिए इन ऋणों को अब कम करना चाहिये। परन्तु इस दलील के विरुद्ध भी बहुत सी बातें कही गई थीं। प्रथम, भारत ने अपनी वस्तुओं के मूल्य अधिक नहीं लिए थे क्योंकि वस्तुओं पर गुणात्मक और परिमाणात्मक, दोनों ही प्रकार के नियन्त्रण सरकार ने लगा रखे थे। जितनी भी आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन था उस पर भारत सरकार का नियन्त्रण था और इस प्रकार भारत सरकार ने ब्रिटिश सरकार की ओर से जो भी वस्तुएँ भारतीय बाजार में खरीदीं वह एकाधिकारी की हैसियत से खरीदी थीं और अधिक मूल्य लेने का प्रश्न ही नहीं उठता था। दूसरे, भारत सरकार ने जो कुछ भी भुगतान किये वह उन्हीं मूल्यों के अनुसार किये थे जो उसने निश्चित कर दिये थे। सरकार ने सड़कों और हवाई अड्डे बनवाने के लिए जो भी ठेके दिए थे उनकी शर्तें स्वयं ही निर्धारित की थीं। इसके अतिरिक्त जो भी मूल्य उन्हें देने पड़े वे श्रम की कमी, यातायात की कठिनाइयों और कम समय में अधिक काम कराने के कारण दिए गए थे। तीसरे, भारत में अन्य वस्तुओं की अपेक्षा खाद्य पदार्थों के मूल्य अधिक ऊँचे थे। सरकार ने खाद्य पदार्थ नहीं खरीदे थे इसलिए सरकार को श्रमिकों को अधिक मजदूरी देनी पड़ी थी। परन्तु इन ऊँची मजदूरियों से भी भारत के श्रमिकों को कुछ भी लाभ नहीं हुआ। भारतवासियों को तो अपनी आवश्यकताओं के लिए पर्याप्त मात्रा में कपड़ा और भोजन भी प्राप्त नहीं हुआ था। जो कुछ थोड़ा बहुत लाभ हुआ था वह केवल कुछ थोड़े से उत्पादकों और ठेकेदारों को ही हुआ था। शेष सभी व्यक्तियों को तो त्याग ही करना पड़ा था और कठिनाइयाँ सहन करनी पड़ी थीं। अन्त में राष्ट्रीय व्यय की जाँच करने के लिए जो ब्रिटिश संसद की विशेष समिति नियुक्त हुई थी उसने बड़े ही स्पष्ट शब्दों में कहा था कि "भारतीय मूल्य बहुत ही कम

ऊँचे थे और साधारणतया ब्रिटेन के मूल्यों की अपेक्षा काफी कम थे।" उसने यह भी स्वीकार किया था कि भारत ने जो वस्तुएँ ब्रिटेन को दी थीं उनके उचित मूल्य लिये गये थे।

भारत के पौंड पावनों की राशि को कम करने के लिए निरन्तर प्रयासों के कारण भारत में बहुत ही अशान्ति थी किन्तु अन्त में ब्रिटिश सरकार ने सद्बुद्धि से काम लिया और पौंड पावनों के भुगतान करने की अनुमति दे दी। पौंड पावनों के भुगतान के सम्बन्ध में सन् १९४७ में कई समझौते हुए थे। हम संक्षेप में यहाँ पर इन समझौतों का वर्णन देते हैं :—

सन् १९४७ का समझौता—१५ अगस्त १९४७ को भारत और ब्रिटेन की सरकारों के बीच एक समझौता हुआ जो केवल ३१ दिसम्बर सन् १९४७ तक के लिए ही था। इसके अनुसार रिज़र्व बैंक ने बैंक ऑफ इंगलैंड में दो खाते खोले थे—पहला चालू खाता और दूसरा बन्द खाता। १४ जुलाई सन् १९४७ को १ अरब १६ करोड़ पौंड की राशि रिज़र्व बैंक के नाम दूसरे खाते में जमा कर दी गई थी और बाकी ६ करोड़ ५० लाख पौंड पहले खाते में जमा कर दिए गए थे। इसमें से ३ करोड़ ५० लाख पौंड चालू व्यय के लिए और तीन करोड़ पौंड सुरक्षित कोष में जमा कर दिए गए थे। समझौते की शर्तों के अनुसार पहले खाते की राशि को किसी भी देश से वर्तमान आवश्यकताओं की वस्तुओं को प्राप्त करने के लिए उपयोग किया जा सकता था।

सन् १९४८ का समझौता—१५ फरवरी सन् १९४८ को एक समझौता फिर हुआ जिसके अनुसार सन् १९४७ के समझौते की अवधि ३० जून सन् १९४८ तक बढ़ा दी गई और दूसरे खाते से १ करोड़ ८० लाख पौंड ३० जून सन् १९४८ तक के चालू खर्च के लिए पहले खाते में जमा कर दिये गये। इस समझौते की अवधि फिर से ३० जून सन् १९५१ तक बढ़ा दी गई, और यह निश्चित हुआ कि ८ करोड़ पौंड जो पहले खाते में जमा थे वह ३० जून सन् १९४९ तक के खर्च के लिए दिये जायेंगे और अगले दो वर्षों के लिए ४ करोड़ पौंड प्रति वर्ष चालू खर्च के लिए दिए जायेंगे। इस प्रकार भारत को ३ वर्ष के अन्दर १६ करोड़ पौंड चालू खर्च के लिए प्राप्त होने की आशा थी। परन्तु दुर्भाग्यवश भारत के आयात इतने अधिक हो गये कि चालू खर्च के लिए बहुत कम राशि रह गई। भारत सरकार के अनुरोध पर ब्रिटिश सरकार जून सन् १९४९ को समाप्त होने वाले वर्ष के लिए ८ करोड़ १० लाख पौंड चुकाने के लिए तैयार हो गई और यह भी निश्चय किया गया कि ५ करोड़ पौंड और भी दिये जायेंगे। साथ ही अगले दो वर्षों के लिए प्राप्त होने वाली राशि ४ करोड़ पौंड से बढ़ा कर ५ करोड़ पौंड प्रति वर्ष कर दी गई।

सन् १९५१ का समझौता—जो समझौता जून १९५१ को समाप्त हुआ उसको ३० जून सन् १९५७ तक बढ़ा दिया गया। यह अन्तिम समझौता था। इस समझौते के अनुसार ३१ करोड़ पौंड की रकम दूसरे खाते में से पहले खाते में जमा कर दी गई। यह राशि भारतीय रिज़र्व बैंक के नाम मुद्रा के सुरक्षित कोष के

रूप में जमा हुई। यह भी व्यवस्था की गई कि १ जुलाई १९५१ के बाद के ६ वर्षों में अधिक से अधिक ३ करोड़ ५० लाख पौंड प्रतिवर्ष दूसरे खाते से पहले खाते में जमा किए जायेंगे। परन्तु इसमें कुछ शर्तें थीं :—(अ) इस राशि में हेर-फेर इस उद्देश्य से की जायेंगी कि पहले खाते में कम से कम ३४ करोड़ पौंड जमा रहे और यदि दोनों सरकारें चाहें तो इससे कम राशि भी रह सकती है। (ब) यदि ३ करोड़ ५० लाख पौंड में से १२ महीनों में कुछ कम का भुगतान किया गया तो शेष राशि को अगले वर्ष की राशि में जोड़ दिया जायगा। (स) यदि भारत सरकार को यह अनुभव हो कि १२ महीने के अन्दर किसी भी समय दूसरे खाते में से ३ करोड़ ५० लाख पौंड से अधिक राशि की आवश्यकता है तो अगले वर्ष में पहले खाते में जमा की जाने वाली राशि में से ५० लाख पौंड तक बिना आपसी बातचीत के लिया जा सकता है और यदि ५० लाख पौंड से अधिक राशि की आवश्यकता है तो दोनों सरकारें आपस में विचार करके निश्चित करेंगी और (द) ३० जून सन् १९५७ को जो राशि दूसरे खाते में बचेगी वह पहले खाते में जमा कर दी जाएगी।

सन् १९५५ के एक समझौते के अनुसार ब्रिटेन की सरकार ने ४ करोड़ पौंड भारत को देने का निश्चय किया जो ब्रिटेन के पास सन् १९४८ से पड़ा हुआ था। यह याद रहे कि भारत सरकार ने सन् १९४८ में ब्रिटेन की सरकार को जो पौंड पेन्शनों का भुगतान किया था उसमें ४ करोड़ पौंड अधिक पहुँच गये थे जिनका भुगतान अब किये जाने का निश्चय हुआ था। यह भुगतान १० वार्षिक किस्तों में किया जायगा और इनमें से ४ किश्तें भारत की विदेशी विनिमय की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए दी जाने वाली थीं।

विभाजन से पहले भारतवर्ष के पौंड पावनों की राशि १७३३ करोड़ रुपये थी और विभाजन के बाद से १५१६ करोड़ रुपये अधिकतर उपभोक्ताओं की वस्तुओं तथा अन्य आवश्यक वस्तुओं के क्रय पर ही खर्च किए गए हैं। प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्त में कुल ७४६ करोड़ रुपये के पौंड पावने रह गये थे। यह अनुमान था कि दूसरी योजना में कुल २०० करोड़ रुपये निकाले जायेंगे परन्तु पहले ही वर्ष में २१९ करोड़ रुपये निकाल लिए गए और सन् १९५७–५८ में २६० करोड़ रुपये और निकाल लिए गए थे और इस प्रकार सन् १९५८–५९ के आरम्भ में कुल २६७ करोड़ रुपयों के पौंड पावने रह गए थे।

मार्च सन् १९५९ में भारत के ५ ऋणदाता देशों और विश्व बैंक के प्रतिनिधियों की जो सभा वाशिंगटन में हुई थी उसने भारत के सामने यह प्रस्ताव रखा था कि भारत को अपनी चालू आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ही पौंड पावनों का प्रयोग करना चाहिए। भारत बड़ी सरलता से इस राशि में से ९३ करोड़ रुपयों को निकाल सकता था क्योंकि कानूनन भारत को २०० करोड़ रुपयों के पौंड पावने रखना आवश्यक थे (समाचार-पत्रों की सूचना के अनुसार इन लोगों का अनुमान भारत के पौंड पावनों की राशि २९३ करोड़ रुपये था जबकि भारत सरकार के

आँकड़ों के अनुसार यह राशि २६७ करोड़ रुपये था)। इस प्रकार ९३ करोड़ रुपयों के पौंड पावने निकाल कर भारत अपनी दूसरी योजना को पूरा करने में सफल हो सकता था। अब यह आशा की गई थी कि क्योंकि भारत की विदेशी मुद्रा सम्बन्धी कठिनाइयाँ बहुत विषम होती चली जा रही थीं भारत सरकार शेष पौंड पावनों का प्रयोग बड़ी सावधानी से करेगी।

विदेशी विनिमय सम्बन्धी कठिनाइयों को दूर करने के लिए भारत को पौंड पावनों का प्रयोग और भी अधिक करना पड़ा और इस प्रकार मार्च सन् १९६५ में केवल ८० करोड़ रुपयों के पौंड पावने शेष रह गए थे।

———

अध्याय २८

युद्ध सम्बन्धी वित्त-व्यवस्था

(WAR FINANCE)

प्राक्कथन—

आधुनिक युद्ध बहुत खर्चीले तथा महंगे होते हैं। वास्तव में आजकल युद्ध को लड़ने के लिए कितने धन की आवश्यकता होगी इसका निश्चित अनुमान नहीं लगाया जा सकता। युद्ध तो अनादि काल से ही होते आए हैं, परन्तु आधुनिक युद्ध की कुछ मुख्य विशेषतायें होती हैं। प्रथम, ये अपने आकार में अन्तर्राष्ट्रीय होते हैं, दूसरे यह एक बहुत बड़े पैमाने पर लड़े जाते हैं और अन्त में आधुनिक युद्ध के लड़ने में मानवीय तथा भौतिक साधनों की बहुत बर्बादी होती है। इसीलिए उनके लिए बहुत बड़ी मात्रा में धन की आवश्यकता होती है और उनके सफल संचालन की पहली शर्त यही है कि उनका वित्तीय प्रबन्ध उचित रूप से किया जाय। इसमें कोई संदेह नहीं कि युद्ध मनुष्यों और सामान द्वारा लड़े जाते हैं परन्तु युद्धों के लड़ने में वित्त का महत्व भी कुछ कम नहीं है, क्योंकि बिना वित्त के युद्ध लड़ने के लिए मनुष्यों की सेवाओं तथा युद्ध सम्बन्धी सामान प्राप्त ही नहीं किया जा सकता।[1] शताब्दियों पहले डैनियल डिफो ने बड़े ही सुन्दर शब्दों में कहा था कि "युद्ध कला का इतना अध्ययन हो चुका है और सभी स्थानों पर उसका इतना ज्ञान लोगों को है कि अब सबसे बड़ी थैली ही युद्ध जीतती है, सबसे बड़ी तलवार नहीं···—क्योंकि मुद्रा ही शक्ति है।"[2] क्राउथर के शब्दों में "आजकल युद्ध एक औद्योगिक धन्धा है। इस पर अर्थशास्त्र के विज्ञान का युद्ध-कला की अपेक्षा अधिक प्रभाव पड़ता है। वर्तमान युद्ध खेल के मैदानों में, ईटन या किसी अन्य स्थान पर नहीं जीता जाता बल्कि हजारों गन्दे औद्योगिक शहरों की खानों तथा कारखानों में।" युद्ध के लिए आवश्यक धन ऋणों और करारोपण द्वारा प्राप्त किया जाता है जिनका प्रभाव राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था के शरीर की एक-एक नस पर पड़ता है। युद्ध वित्त-व्यवस्था का सम्बन्ध केवल युद्ध के लिए धन एकत्रित करने से ही नहीं है वरन इस बात से भी है कि उसको इस प्रकार मितव्ययिता से खर्च किया जाय कि देश के आर्थिक ढांचे में

1. G. Crowther, *Paying War*, p. 4.
2. L. C. Jain, *Indian Economy During the War*.

कम से कम गड़बड़ी हो। सच तो यह है कि युद्ध-संचालन इतना कष्टदायक नहीं होता जितना कि युद्ध के बाद देश की आर्थिक व्यवस्था का पुर्निमाण होता है। अन्तिम दोनों युद्धों ने इस तथ्य की भली भाँति पुष्ट कर दी है। अतः यह सुरक्षा-पूर्वक कहा जा सकता है कि युद्धकालीन अर्थ-व्यवस्था से शान्तिकालीन अर्थ-व्यवस्था का नियमित तथा क्रमबद्ध परिवर्तन अधिकतर उन्हीं वित्तीय तथा मौद्रिक नीतियों पर निर्भर करता है जो युद्धकाल में निर्मित की जाती हैं।

युद्ध की मौद्रिक लागतें—इस प्रकार युद्ध एक महँगा धन्धा है। यद्यपि युद्ध की मौद्रिक लागतों का अन्दाज़ लगाया जा सकता है, किन्तु यह सम्भव नहीं है कि युद्ध की वास्तविक लागतें अर्थात् व्यक्तियों की सम्पत्ति तथा जीवन को पहुँचने वाली क्षति, व्यक्तियों द्वारा बहाया गया खून तथा उनके आँसू और राष्ट्र का नैतिक तथा बुद्धि सम्बन्धी ह्रास आदि का अनुमान लगाया जा सके।[3] युद्ध की नैतिक लागतों का सरलता से उन सरकारी बजटों द्वारा पता लगाया जा सकता है जो युद्धकाल में बनते हैं। १६वीं शताब्दी के युद्ध में भाग लेने वाले देशों की राष्ट्रीय आय का लगभग १ से १३ प्रतिशत भाग खर्च हुआ था। यह औसत प्रथम महायुद्ध में ५०% थी और दूसरे युद्ध में ६० से ७० प्रतिशत थी। निम्न तालिका से युद्ध की महँगाई भली-भाँति स्पष्ट हो जाती है :—[4]

व्यय (लाख में)

देश	१९३८–३९		१९४१–४२		१९४४–४५	
	कुल व्यय	युद्ध सम्बन्धी व्यय	कुल व्यय	युद्ध सम्बन्धी व्यय	कुल व्यय	युद्ध सम्बन्धी व्यय
यूनाइटेड किंगडम (पौंड)	१,१४७	४००	४,८८८	४,०६५	६,१६०	५,१२५
संयुक्त राज्य (डालर)	८,७६५	१,२०६	३२,४९२	२६,०११	९३,९१२	८८,०००
रूस (रूवलस)	१,२४,०००	२७,०००	२,१६,०००	७०,९००	३०५,३००	१,३७,९००
भारत (रुपये)	१,३०८	५२१	१,८७४	१,०५४	५,७२१	४,५६६
जर्मनी (रिचमार्क)	२८,५५०	—	९९,२९२	—	१,२४,००६	—
जापान (यान)	७,८१९	४,५३२	१९,६८९	११,५५५	५३,२४४	३८,०००

युद्ध संचालन सम्बन्धी साधनों का एकत्रीकरण—युद्ध के सफल संचालन के लिए देश के मानवीय तथा भौतिक साधनों का बहुत स्थानान्तरण करना होता है जिसमें व्यक्तियों की मानसिक तथा शारीरिक शक्ति, अचल तथा चल पूँजी, भौतिक तथा अभौतिक पूँजी तथा अन्य ऐसे साधनों का प्रयोग करना पड़ता है जिनसे शान्तिकाल

3. A. C. Pigou, *Political Economy of War.*
4. *World Economic Survey* 1942–44, p. 154.

में राष्ट्रीय आय प्राप्त होती है। युद्धकाल में इनका उपयोग पूर्णतया भिन्न रूप से किया जाता है। इन साधनों में उसी समय वृद्धि हो सकती है जबकि (अ) व्यक्ति अपना उपभोग कम कर दें, (ब) विसाई कोष न स्थापित किया जाय और पूँजीगत वस्तुओं में विनियोग न बढ़ाया जाय, (स) वर्तमान पूँजी को घिसने दिया जाय, (द) उत्पादन तथा राष्ट्रीय आय में वृद्धि हो, (य) बाह्य ऋण प्राप्त किये जायें और (र) विदेशों लगी हुई पूँजी को या तो निकाल लिया जाय या बेच दिया जाय।

जहाँ तक उपभोग को कम करने का सम्बन्ध है या तो व्यक्ति अपनी इच्छा से ही उपभोग को कम कर सकते हैं या उनको उपभोग कम करने के लिए बाध्य किया जा सकता । जनता अपनी इच्छा से खर्च करने की प्रवृत्ति को कम कर सकती है या सरकार अतिरिक्त कर लगाकर, अनिवार्य बचतों की योजना चालू करके, आयातों को कम करके, राशनिंग व्यवस्था चालू करके या इसी प्रकार की अन्य विधियों द्वारा व्यक्तियों को अपना उपभोग कम करने के लिए विवश कर सकती है।

कुल राष्ट्रीय आय का एक भाग मशीनों की टूट-फूट ठीक कराने तथा नई मशीनों को खरीदने के लिए अलग रख दिया जाता है। यदि यह भाग अलग न रखा जाए तो चालू आय को युद्ध के लिए खर्च किया जा सकता है। फिर न तो मशीनों के वर्तमान स्टाक में वृद्धि ही होगी और न मशीनों की टूट-फूट ही ठीक हो पायेगी।[5]

युद्ध के सफल चालन के लिए कभी-कभी यह भी आवश्यक होता है कि पूँजीगत वस्तुएँ अपने वर्तमान उपयोगों में से निकल कर युद्ध सम्बन्धी उपयोगों में लग जायें और इस प्रकार युद्ध में वर्तमान पूंजी का भी उपभोग किया सकता है।

इसके अतिरिक्त युद्ध के लिए पर्याप्त धन उत्पादन को बढ़ा कर प्राप्त किया जा सकता है। उत्पादन को विभिन्न प्रकार से बढ़ाया जा सकता है जैसे, (१) बेकार साधनों को कार्य में लगा कर। (२ काम के घण्टों तथा दिन में फेरियों (shift) में वृद्धि करके। (३) उन सभी व्यक्तियों को काम में लगाकर जो रिटायर हो चुके हैं या बेकार हैं। (४) श्रमिकों की कार्य कुशलता में तकनीकी प्रशिक्षण द्वारा या अन्य विधियों द्वारा वृद्धि करके। (५) संयुक्तिकरण द्वारा उद्योगों की कुशलता को बढ़ा कर। (६) अनुसन्धानों द्वारा उत्पत्ति की विधि को उन्नत करके और (७) औद्योगिक झगड़ों को नये कानून द्वारा कम करके।

विदेशों से ऋण भी प्राप्त किये जा सकते हैं और विदेशों में लगी हुई पूँजी को निकाल कर या बेच कर भी आवश्यक धन प्राप्त किया जा सकता है।

युद्ध वित्त-व्यवस्था की विभिन्न रीतियाँ—युद्ध सम्बन्धी साधनों को उसी समय प्राप्त किया जा सकता है जबकि सरकार के पास युद्ध सम्बन्धी वस्तुओं तथा सेवाओं को प्राप्त करने के लिए पर्याप्त मात्रा में धन हो। इस धन को करारोपण, उधार

5. Cf. Pigou, *Op. cit.*

लेकर, मुद्रा प्रसार द्वारा या इच्छित योगदानों द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। हम इनमें से प्रत्येक का विश्लेषण निम्न में करेंगे :—

करारोपण—युद्धकाल में करारोपण की समस्या शान्तिकाल की अपेक्षा पूर्णतया भिन्न होती है। युद्धकाल में करारोपण की मुख्य समस्या गुणात्मक (Qualitative) न होकर परिमाणात्मक होती है। दूसरे शब्दों में सरकार केवल इसी ओर ध्यान देती है कि करारोपण द्वारा अधिक से अधिक धन कैसे प्राप्त किया जाय और वह युद्ध की लागतें बढ़ने के साथ-साथ नए-नए कर लगाती जाती है और पुराने करों की दरों को बढ़ाती जाती है। सरकार करों की प्रकृति की ओर बिल्कुल भी ध्यान नहीं देती, अर्थात् वह यह नहीं देखती कि कर प्रतिगामी है या प्रगतिशील, प्रत्यक्ष है या अप्रत्यक्ष। उसका मुख्य कर्त्तव्य केवल धन प्राप्त करना होता है। शान्तिकाल में करारोपण की नीति का मुख्य उद्देश्य उपभोग पर पड़ने वाले करों के बुरे प्रभावों को रोकना होता है। परन्तु युद्धकाल में आवश्यक वस्तुओं के उपभोग पर भी प्रतिबन्ध लगाये जा सकते हैं। इस प्रकार आय पर करों की दर को युद्धकाल में किसी भी सीमा तक बढ़ाया जा सकता है और इस बात को बिल्कुल भी विचार में नहीं रखा जाता कि करों से व्यक्तियों के बचाने तथा विनियोग करने की शक्ति पर बुरा प्रभाव पड़ेगा।

यहाँ यह बता देना उचित होगा कि करारोपण द्वारा प्राप्त होने वाली आय मुख्य रूप से कई बातों पर निर्भर होती है—प्रथम, करारोपण की वर्तमान दर; दूसरे, जनता की आर्थिक स्थिति; तीसरे, व्यक्तियों के कर भुगतान करने की इच्छा और अन्त में धन का वितरण। उस देश में जहाँ करारोपण की दर पहले से ही बहुत ऊँची है नए करों को लागू करना सम्भव नहीं होता। यदि करदान क्षमता की अंतिम सीमा का उल्लंघन हो चुका है या यदि देश निर्धन है तो और कर लगाने से कोई भी लाभ नहीं होगा। इसी प्रकार यदि व्यक्ति कर-भार सहन करना नहीं चाहते और करों का भुगतान करने के लिए तैयार नहीं हैं तो करारोपण द्वारा धन प्राप्त नहीं किया जा सकता। करारोपण का सहारा उसी देश में लिया जा सकता है जहाँ धन का असमान वितरण हो। चाहे युद्ध हो या नहीं किसी भी देश में करारोपण नीति उपर्युक्त बातों पर निर्भर होती है।

ऋण प्राप्त करके—ऋणों को, देश में जनता से और विदेशों से भी प्राप्त किया जा सकता है। सरकार देश में आन्तरिक ऋण विभिन्न प्रकार के ऋण चालू करके प्राप्त कर सकती है या बैंकों को अधिक साख उत्पन्न करने के लिए बाध्य करके प्राप्त कर सकती है या सरकार बैंकों से प्रत्यक्ष ऋण प्राप्त करके कर सकती है या अनिवार्य बचतों द्वारा आवश्यक धन प्राप्त कर सकती है। सरकार जो भी विधि चाहे अपनाए परन्तु इतना निश्चित है कि व्याज की दर न्यूनतम होनी चाहिए। क्योंकि नीची सूद की दर से न केवल ऋण की भावी लागतें ही कम रहेंगी, वरन् सरकार को युद्धोत्तर काल में मंदी को दूर करने के लिए सस्ती मुद्रा-नीति अपनाने के लिए उचित सुविधायें भी प्राप्त हो सकेंगी।

करारोपण तथा ऋणों में से कौन सी विधि अधिक अच्छी है ? यह निश्चय करना कठिन है। हम दोनों ही के लाभों तथा दोषों का यहाँ वर्णन करते हैं :—

१. प्रथम, यद्यपि दोनों ही रीतियों का उद्देश्य व्यक्तियों की जेबों से धन निकालना है फिर भी व्यक्तियों को करारोपण की अपेक्षा ऋण प्राप्त करने की नीति अधिक रुचिकर होती है। करारोपण में व्यक्तियों को भारी त्याग करना पड़ता है और उपभोग तथा उत्पादन के स्तरों को कम करना होता है जबकि ऋणों से उनको सूद की कुछ न कुछ आय की प्राप्ति होती है। अतः अकेले करारोपण की रीति को अपनाना ठीक न होगा वरन् इसके साथ-साथ ऋणों को भी प्राप्त करना चाहिए।

२. दूसरे, क्योंकि कर निश्चित दरों पर लगाये जाते हैं, इसलिए करदाताओं से जो धन प्राप्त होता है उसको, वे अपनी-अपनी योग्यतानुसार नहीं देते। दूसरी ओर ऋणों द्वारा लोगों के पास जितना भी अतिरिक्त धन होता है, उसको वे अपनी स्व-इच्छा से दे देते हैं और इस प्रकार ऋणों द्वारा वर्तमान स्रोतों का अधिक उपयोग सम्भव होता है।

३. तीसरे, यह भी कहा जाता है कि कर का भार केवल वर्तमान व्यक्तियों को ही सहन करना होता है जबकि ऋणों का भार भावी सन्तानों को भी सहन करना पड़ जाता है। यह बात करारोपण के सम्बन्ध में तो ठीक है परन्तु ऋणों का भार वर्तमान तथा भावी सन्तानों दोनों ही पर पड़ता है। यदि ऋण वर्तमान उपभोग को कम करके दिये जाते हैं तो ऋणों का भार वर्तमान सन्तानों पर पड़ता है और यदि ऋण बचाई हुई पूँजी में से दिये जाते हैं तब इनका भार भावी सन्तानों पर पड़ता है। चाहे जैसी भी स्थिति हो दोनों ही रीतियों का मिश्रण अधिक न्यायपूर्ण होता है। क्योंकि युद्ध वर्तमान तथा भावी, दोनों ही सन्तानों के लाभ के लिए लड़े जाते हैं।

४. चौथे, करारोपण द्वारा धन का वितरण समान किया जाता है जबकि ऋण धन की *असमानताओं को और भी अधिक* कर देते हैं। करारोपण में धन व्यक्तियों की जेबों से सदा के लिए ही निकल जाता है। परन्तु व्यक्ति ऋण केवल इसी आशा से देते हैं कि उनको भविष्य में और भी अधिक धन प्राप्त होगा, जो वास्तव में होता भी है और इसी कारण ऋणों से धनी व्यक्तियों को अधिक लाभ पहुँचता है।

५. अन्त में ऋणों द्वारा बैंक साख में बहुत अधिक वृद्धि होती है। परन्तु यह ध्यान रहे कि यह केवल उसी समय हो सकता है जबकि व्यक्ति अपनी बचतों में से ऋण न देकर बैंकों से उधार लेकर सरकार को रुपया उधार दें। इस प्रकार ऋणों से मुद्रा प्रसार का भय रहता है, जो करारोपण में नहीं होता।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि न तो अकेला करारोपण और न अकेले ऋण द्वारा धन प्राप्त करने की रीति उपयुक्त है, वरन् युद्ध के लिए आवश्यक धन प्राप्त करने के लिए दोनों ही रीतियों को साथ-साथ अपनाना चाहिये, क्योंकि दोनों रीतियाँ एक दूसरे की पूरक हैं।

मुद्रा प्रसार—युद्ध-वित्त-व्यवस्था के लिए मुद्रा प्रसार न तो आर्थिक दृष्टि से ही और न नैतिक दृष्टिकोण से उचित है। इसके बहुत ही गम्भीर परिणाम होते हैं। इस विधि में या तो सरकार अधिक कागजी मुद्रा छाप सकती है या केन्द्रीय बैंक या किसी अन्य बैंक से ऋण ले सकती है। मुद्रा प्रसार, धनी तथा निर्धन व्यक्तियों के बीच की असमानताओं को और भी अधिक कर देता है। इससे चोर बाजारी, मुनाफाखोरी तथा अन्य सामाजिक कुरीतियाँ उत्पन्न होती हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह विधि अति सरल है परन्तु इसके परिणाम इतने गम्भीर होते हैं कि इसका उपयोग जितना कम किया जाय उतना ही अच्छा है।

इच्छित योगदान—कभी-कभी युद्ध के सफल संचालन के लिये व्यक्ति अपनी स्वेच्छा से योगदान देते हैं। ऐसा वे केवल देश-प्रेम की भावना से करते हैं। परन्तु ऐसे योगदानों की मात्रा बहुत कम होती है और इसलिये इनका कोई विशेष महत्व नहीं होता।

युद्ध के लिए आवश्यक धन प्राप्त करने के लिए सरकार ऊपर बताई हुई चारों विधियों का ही प्रयोग करती है और हर विधि दूसरी विधि के सहयोग से ही सफल होती है। किस समय कौनसी विधि अपनाई जाय, युद्ध की प्रगति पर निर्भर करता है। प्रारम्भिक अवस्था में ऋण प्राप्त किये जाते हैं, फिर मुद्रा प्रसार, फिर करारोपण और अन्त में विदेशी पूंजी को बेचने का कार्य किया जाता है। ऋण लेने के बाद सरकार उन वस्तुओं तथा सामानों को प्राप्त करती है जो बेकार पड़े रहते हैं तथा उन साधनों को नियन्त्रण तथा प्रतिबन्ध लगाकर प्राप्त करती है जो निजी उपयोगों में लगे होते हैं।

अन्तिम युद्ध का चित्र आज भी हमारे सामने है। हम जानते हैं, कि विभिन्न सरकारों ने इन विधियों का प्रयोग किया था। लगभग सभी देशों में राशनिंग और करारोपण का सहारा लिया गया था और बचतों को प्रोत्साहित किया गया था। जब इनसे पर्याप्त धन प्राप्त न हुआ तो ऋण प्राप्त किये गये और सस्ती मुद्रा नीति अपनाई गई। निस्सन्देह ही इससे रोजगार और उत्पादन में वृद्धि हुई और देश में मुद्रा प्रसार की दशायें उत्पन्न हुईं। इस प्रकार उपभोग नियन्त्रित किया गया और अप्रत्यक्ष रूप से कम किया गया। जर्मनी जैसे देशों ने केवल अपने उपभोग को ही कम करके उत्पादन में वृद्धि नहीं की वरन् विदेशी साधनों का भी उपयोग किया। इसी प्रकार ब्रिटेन ने केवल अपने विदेशी विनियोगों को ही समाप्त नहीं कर दिया वरन् विदेशी ऋण भी प्राप्त किये। विदेशों में धन खर्च करने की नीति से उस देश के लिए नई समस्या उत्पन्न हो जाती है जिस देश में वह धन खर्च किया जाता है जैसा कि भारत में हुआ था। यद्यपि मूल्यों के बढ़ने की प्रवृत्ति को रोकने के लिए और जीवन-स्तर को न गिरने देने के लिए मुद्रा प्रसार विरोधक उपाय किये जाते हैं, परन्तु सफलता कम ही प्राप्त होती है।

युद्ध-वित्त-व्यवस्था के प्रभाव—युद्ध अपने साथ अनेकों आर्थिक कठिनाइयाँ लाते हैं, जिनको केवल विरले ही कम कर सकते हैं। मुद्रा प्रसार युद्ध-वित्त-व्यवस्था

का प्रत्यक्ष परिणाम होता है। बढ़ते हुए मूल्य और जीवन-स्तर व्यय यदि समय पर नहीं रुक पाते तो अनेकों आर्थिक कठिनाइयां उत्पन्न कर देते हैं जिनको दूर करना सरल नहीं होता है। प्रथम महायुद्ध के बाद जर्मनी और दूसरे महायुद्ध के बाद चीन बिलकुल नष्ट से हो गये थे। अपने ही देश में हमको दूसरी लड़ाई की दावत का मजा अभी तक आ रहा है।

युद्ध किसी भी राष्ट्र के समस्त आर्थिक जीवन को छिन्न-भिन्न कर देता है। जो आर्थिक शक्तियाँ और साधन सामान्य परिस्थितियों में उत्पादन में लगे होते हैं, उनका स्थानान्तर युद्ध-कार्यों के लिए हो जाता है जिससे सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था में एक ज्वारभाटा सा उत्पन्न हो जाता है और फिर युद्धकाल से शान्तिकाल के लिए इन साधनों का स्थानान्तरण कोई बच्चों का खेल नहीं होता। युद्ध के घातक परिणामों का अनुमान उन देशों की स्थिति से भली-भांति लगाया जा सकता है जिन्होंने युद्ध में भाग लिया था।

युद्ध-वित्त-व्यवस्था का एक स्वाभाविक परिणाम युद्ध ऋणों का एक बड़ी मात्रा में एकत्रित होना है। ऐसे ऋणों का वास्तविक तथा मौद्रिक भार जनता को बहुत अधिक मात्रा में सहन करना पड़ता है और ऐसे ऋणों के भुगतान करने का एक बहुत बड़ा दायित्व राष्ट्र के आर्थिक स्रोतों पर बना रहता है।

अन्त में युद्ध सम्बन्धी व्यय के लिए आवश्यक धन प्राप्त करने में सभी कल्याणकारी कार्यों को स्थगित करना पड़ता है और इस प्रकार आर्थिक जीवन उन्नत होने के स्थान पर नीचा होने लगता है। युद्ध लड़ने में जो भारी व्यय होता है और युद्ध संचालन में जो त्याग करने पड़ते हैं उनका अनुमान प्रैसीडेन्ट आइजनहोवर के निम्न कथन से लगाया जा सकता है जिसे उन्होंने समाचार-पत्रों के निर्देशकों की अमेरिकन सोसाइटी से निवेदन करते समय कहा था। उन्होंने कहा "प्रत्येक बन्दूक जो बनाई जाती है, हर युद्ध का पानी का जहाज जो बनाया जाता है, हर रॉकेट जिसका उपयोग किया जाता है, अन्तिम अर्थ में उस चोरी को संकेत करता है, जो भूखों के यहां की जाती है, जिनको खाना नहीं मिलता, जिनको ठण्ड लगती है और पहनने को कपड़े नहीं होते.........एक आधुनिक भारी बम फैंकने वाले हवाई जहाज की कीमत यह है,... .....३० से भी अधिक शहरों में, ईंटों से बना हुआ एक आधुनिक स्कूल, दो विद्युत शक्ति बनाने वाले कारखाने जिनमें से प्रत्येक ६० हजार जनसंख्या वाले शहरों को बिजली दे रहा है, दो सुन्दर पूर्ण सुसज्जित अस्पताल हैं, लगभग ५० मील लम्बी कंकरीट की प्रधान सड़क है........... हम एक नष्ट करने वाले जहाज के लिए उतना ही धन देते हैं जितना कि उन नये मकानों के लिए देते हैं जो ८ हजार से भी अधिक व्यक्ति के रहने के लिए काफी होते हैं।"[6]

युद्ध के लिए वित्त की व्यवस्था करना कोई सरल काम नहीं है। इसमें कोई संदेह नहीं कि युद्ध को सफलतापूर्वक लड़ने के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति

6. Lumer, *War Economy and Crisis*, p. 229.

की आदतों में मनोवैज्ञानिक उलट-फेर हो। इसके लिए एक बड़ी मात्रा में मानसिक, आर्थिक, राजनैतिक तथा सामाजिक परिवर्तनों की आवश्यकता होती है। यदि युद्ध के लिए वित्त का प्रवन्ध एक योजनाबद्ध ढंग से किया जाय तो काफी अंश तक युद्ध के बुरे प्रभावों को कम किया जा सकता है और यदि युद्ध व्यय को आयोजनाबद्ध ढंग से किया जाय तो युद्ध में भाग लेने वाले देश नष्ट हो सकते हैं। केवल युद्ध को जीतना ही एक मात्र उद्देश्य नहीं होता वरन् देश के आर्थिक तथा सामाजिक सम्बन्धों में न्यूनतम गड़बड़ उत्पन्न करके या देश के नागरिकों की सुरक्षा को कम से कम खतरे में डालकर युद्ध को जीतने का उद्देश्य होता है। जब राजनैतिक सुरक्षा और अपने आप को बचाने का प्रश्न होता है तब युद्ध एक आवश्यक बुराई हो जाती है। युद्ध से विभिन्न देशों की जनता को अनेक प्रकार की मुसीबतें सहन करनी होती हैं। युद्ध के परिणाम और भी अधिक कटु प्रतीत होंगे यदि हम "उन उच्चतम बातों के नष्ट होने की ओर ध्यान दें जो आर्थिक क्षेत्र से बिल्कुल ही परे होती हैं—मनुष्य को अपने वचन का पालन न करना, लड़ाई में भाग लेने वालों के जख्मों तथा बीमारियों से उत्पन्न होने वाले कष्ट, जो लड़ाई में भाग नहीं लेते उनके अत्याचारों तथा विचारों का निम्न होना—जो युद्ध के अनिवार्य परिणाम हैं।"[7]

भारत में युद्ध वित्त-व्यवस्था—यद्यपि भारत स्वयं युद्ध में भाग लेने वाला देश न था किन्तु उसको दूसरी लड़ाई में भाग लेना पड़ा क्योंकि वह ब्रिटिश साम्राज्य का एक भाग था। यदि हम युद्ध से पहले के वर्षों में भारतीय वजटों का अध्ययन करें तो स्पष्ट हो जाता है कि कुछ वर्षों में सन्तुलित वजट रहे हैं और कुछ में आधिक्य वजट भी थे। युद्ध के पहले तीन वर्षों में भारतीय वित्त सदस्य को अधिक कठिनाइयों का सामना नहीं करना पड़ा था। आय और व्यय दोनों ही में साथ-साथ वृद्धि हुई थी और सन् १९४०–४१ में ९०·३ प्रतिशत और सन् १९४१–४२ में ९१·४ प्रतिशत व्यय को आय में से पूरा किया जा सकता था। इसलिए हमारे राजकीय ऋण बढ़ने के स्थान पर सन् १९४०–४१ में १२४७·६७ करोड़ रुपयों से घटकर सन् १९४१–४२ में १२०९·११ करोड़ रुपये रह गये थे।

युद्ध के कारण जो नये कर लगाये गये थे वे प्रगतिशील प्रत्यक्ष कर थे। इन वर्षों में अधिक लाभ कर, अतिकर जैसे प्रत्यक्ष कर लागू किये गये थे। अप्रत्यक्ष करों को भी महत्व प्रदान किया जा रहा था। नई-नई वस्तुओं पर उत्पादन कर लगाये गये थे और पुराने उत्पादक-करों में वृद्धि की गई थी। इन करों का भार बहुत अधिक मालूम नहीं हुआ था, क्योंकि व्यापार कम होने के कारण सीमाकर कम हो रहे थे।

जहाँ तक वजटों का सम्बन्ध है युद्ध के पहले ३ वर्ष अधिक बुरे न थे परन्तु आर्थिक क्षेत्रों में मुद्रा प्रसार बहुत अधिक बढ़ता जा रहा था। ब्रिटिश सरकार के खातों में भारत सरकार को प्राप्त होने वाले युद्ध-व्यय की राशि सन् १९३९–४० में

7. Pigou, *Op. cit.*, p, 47.

जो ४ करोड़ रुपये थी वह सन् १९४१–४२ में बढ़कर १९४ करोड़ रुपये हो गई थी। यह ध्यान रहे कि इन वर्षों में न तो करारोपण और न ऋण प्राप्त करने की ओर ही अधिक ध्यान दिया गया था। केवल पत्र मुद्रा छाप कर ही बजट के घाटों को पूरा किया जा रहा था जो सन् १९३८–३९ में २१०·६४ करोड़ रुपयों से बढ़कर सन् १९३९–४० में २२८·०१ करोड़, सन् १९४०–४१ में २५८·६७ करोड़, सन् १९४१–४२ में ३१९·८९ करोड़ और सन् १९४२–४३ में ५२५·२४ करोड़ रुपये हो गये थे।

युद्ध के अन्तिम ३ वर्षों में भारत की जिम्मेदारियाँ बहुत अधिक बढ़ गई थीं। अब भारत प्रत्यक्ष रूप से लड़ाई में भाग ले रहा था और केन्द्रीय सरकार के बढ़ते हुए व्यय को पूरा करने के लिए नहीं बल्कि रक्षा व्यय को पूरा करने के लिए करारोपण तथा ऋण प्राप्त करने के उपाय किये गये। प्रत्यक्ष करों में ऐसे परिवर्तन किये गए जिनसे अधिक आय प्राप्त हो सके। कुल कर आय में प्रत्यक्ष करों का योगदान सन् १९३८–३९ में २३·६% से बढ़कर सन् १९४४–४५ में ६६·८% हो गया था। अन्तिम वर्ष में अप्रत्यक्ष करों की अपेक्षा प्रत्यक्ष करों का भाग कुछ कम हो गया था। यद्यपि युद्ध काल में राष्ट्रीय आय ४% से ८% तक बढ़ गई थी किन्तु यह केन्द्रीय व्यय के अनुकूल नहीं बढ़ी थी। रक्षा व्यय भी तेजी से बढ़ रहा था। आय में से पूरा होने वाले व्यय का प्रतिशत सन् १९४१–४२ में ६१·४ से सन १९४३–४४ में ५७ रह गया था जो सन् १९४५–४६ में फिर से बढ़कर ७४·४ हो गया था। इन सब का सामूहिक परिणाम यह था कि सन् १९४०–४१ में ९·५३ करोड़ रुपयों से बजट के घाटे बढ़कर सन् १९४३–४४ में १८९·९० करोड़ रुपये हो गये थे। युद्ध के अन्तिम वर्षों में इन घाटों में कमी हो रही थी और यह सन् १९४५–४६ में १२३·४३ करोड़ रुपये रह गये थे।

प्रभाव—बजट के इन घाटों के परिणामस्वरूप सरकार को सस्ती मुद्रा नीति को अपनाने के साथ-साथ ऋण भी प्राप्त करने पड़े थे। फिर भी भारत को प्राप्त होने वाले युद्ध-व्यय से, जिसकी राशि १७३९·७३ करोड़ रुपये थी, जो मुद्रा प्रसार हुआ था उसको सरकार करारोपण तथा ऋण द्वारा रोकने में असमर्थ रही। जहाँ तक उस व्यय को प्राप्त करने का सम्बन्ध था हमारी बजट नीति सफल नहीं हो पाई थी। यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि भारत में युद्ध सम्बन्धी वित्त को प्रदान करने में कागजी मुद्रा का बहुत अधिक हाथ रहा था। मुद्रा प्रसार के कारण ही नहीं वरन् कन्ट्रोल और राशनिंग के कारण भी हमारे देश के चालू उद्योगों में बहुत कमी हो गई थी। विनियोगों में भी वृद्धि नहीं हो पाई थी। इसलिए नहीं जैसा कि कुछ लोगों का विचार है कि भारत में बहुत अधिक कर लगे हुए थे बल्कि इसलिए कि सरकार की ओर से युद्ध के बाद उद्योगों को संरक्षण प्रदान करने के आश्वासन के अभाव में बहुत अधिक आर्थिक अनिश्चिततायें थीं। विदेशों से मशीनों तथा कच्ची सामग्री प्राप्त करने में भी बहुत कठिनाइयाँ थीं।

यह सुरक्षापूर्वक कहा जा सकता है कि अपने व्यय को पूरा करने के लिए

सभी विधियों में असफल रहने के कारण सरकार ने अधिक मुद्रा छाप कर हीनार्थ प्रबन्धन की नीति को अपनाया था।

युद्ध समाप्ति के बाद जनता ने कर-भार से कुछ मुक्ति पाने के लिए बहुत अनुरोध किया। सन् १९४६–४७ में जब पहला शान्तिकालीन बजट बना तो उसमें करों को काफी कम कर दिया गया था और उसमें ४५·२९ करोड़ रुपये का घाटा था। सन् १९४७–४८ में जो अन्तरिम (Interim) बजट श्री लियाकत अली खाँ ने प्रस्तुत किया जिसको 'शरारती' कहा गया है उसमें सारे ही करों को पुरानी दरों पर फिर से लागू कर दिया गया और व्यापार लाभ-कर तथा पूंजी लाभ-कर, दो नये कर और लगा दिये गये और फिर भी २९·४२ करोड़ रुपयों का घाटा रहा। बाद के दो बजटों में करों से मुक्तियाँ प्रदान करने के बाद भी काफी आश्चर्यजनक आधिक्य रहा। सन् १९५०–५१ से लेकर आज तक हमारी बजट नीति मुख्य रूप से विकास योजनाओं के लिए आवश्यक धन प्राप्त करने की ओर ही रही है और आज भी हम हीनार्थ प्रबन्धन की नीति अपना रहे हैं। इस प्रकार युद्ध-काल में जो मुद्रा प्रसार का चक्र आरम्भ हुआ था वह आज भी जीवित है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि भारत को युद्ध संचालन के लिए जो वित्त का प्रबन्ध करना पड़ा था उससे भारतवासियों को बहुत कठिनाइयाँ सहन करनी पड़ी थीं। जनता के नैतिक तथा शारीरिक स्तरों में ही गिरावट नहीं आयी थी वरन् उपभोग तथा उत्पादन के स्तर भी अपनी निम्न सीमा तक पहुँच गये थे। हमारा व्यय भी इतना आयोजनाबद्ध था कि युद्ध के अन्तिम वर्षों में उत्पादन और व्यापार में इतनी कमी हो गयी थी कि भारत में बेकारी अपनी चरम सीमा पर थी और परिणामस्वरूप हमारी अर्थ-व्यवस्था पूर्णतया मरण अवस्था में थी और सरकार की स्थिति बहुत गड़बड़ थी। यह प्रभाव इतने शक्तिशाली थे कि हम आज तक उनसे मुक्त नहीं हो पाये। इसीलिए यह आवश्यक हो जाता है कि हम युद्ध सम्बन्धी वित्त-व्यवस्था एक ऐसे योजनाबद्ध ढंग से करें कि केवल उसको जीतें ही नहीं बल्कि युद्ध के कारण उत्पन्न होने वाली गड़बड़ भी कम से कम रहे क्योंकि वित्त केवल युद्ध संचालन के लिए एक शक्तिशाली साधन ही नहीं है बल्कि युद्ध परास्त अर्थ-व्यवस्था के पुनर्निर्माण में भी इसका उतना ही महत्व है।

अध्याय २६

आर्थिक विकास सम्बन्धी वित्त-व्यवस्था

(FINANCE FOR ECONOMIC DEVELOPMENT)

प्राक्कथन—

आर्थिक विकास एक निरन्तर चलती रहने वाली क्रिया है। जो देश शताब्दियों से विदेशों पर निर्भर रहा हो, जहाँ वैज्ञानिक तथा औद्योगिक उन्नति अपनी निम्नतम सीमा पर हो, जहाँ पूँजी निर्माण, जीवनस्तर और राष्ट्रीय आय बहुत ही कम हो और जहाँ मनुष्य अपनी सामाजिक शृंखलाओं को तोड़ कर स्वतन्त्र होना नहीं चाहता हो, बेकारी, निर्धनता और अशिक्षितता जहाँ की विशेषतायें हों—ऐसे देश पिछड़े हुए कहे जाते हैं और उन्हीं को आर्थिक विकास की आवश्यकता भी होती है, किन्तु उनका आर्थिक विकास करना कोई सरल कार्य नही है। सबसे बड़ी समस्या यह है कि इन देशों के पास करने के लिए काम तो बहुत अधिक है किन्तु समय नहीं है क्योंकि एक तो यह पाश्चात्य देशों की अपेक्षा वैसे ही बहुत पिछड़े हुए हैं और अब यह और अधिक समय अपना विकास करने में लगायेंगे तो और भी पिछड़ जायेंगे। दूसरे, जनसंख्या तेजी से बढ़ने के कारण जो भी कार्य आरम्भ किया जाये, यदि वह उचित समय में पूरा न कर लिया जाये तो बेकार हो जाता है। परन्तु इन सबके लिए धन चाहिए—सड़कों तथा रेलों का विकास एव विस्तार, ताकि वे विकास कार्यक्रमों के भार को सहन कर सकें, औद्योगीकरण के लिए नयी-नयी मशीनें, कृषि विकास के हेतु सिचाई एवं विद्युत-शक्ति के विकास के लिए नये नये बाँध बनाना और बिजली तैयार करने के स्टेशनों की स्थापना, व्यक्तियों की सामाजिक बेड़ियाँ काटने के लिए सामुदायिक विकास, शिक्षा, स्वास्थ्य आदि की सुविधायें उपलब्ध कराने के लिए एक बहुत बड़ी मात्रा में धन चाहिए। किन्तु यह धन की व्यवस्था स्वयं पिछड़े हुए देशों के बस की बात नहीं है। बचतों तथा विनियोगों का स्तर बहुत नीचा होने के कारण पूंजी निर्माण की गति बहुत धीमी होती है और अधिकांश जनता निर्धन होती है। समय बीतने के साथ-साथ निर्धनों की संख्या तो दिन दूनी रात चौगुनी होती जाती है किन्तु धनी व्यक्तियों की संख्या पूर्ववत् ही रहती है। ऐसे देशों की साख भी बहुधा सीमित होती है इसीलिए विदेशी सहायता मिलना भी इतना सरल नहीं होता। पूँजी तथा धन की व्यवस्था के अतिरिक्त अर्ध-विकसित देशों के विकास के सम्बन्ध में और भी अनेकों कठिनाइयां होती है, जैसे

संगठन तथा व्यवस्था सम्बन्धी कठिनाइयाँ। इन देशों में अधिकतर कुशल संगठन-कर्ताओं का अभाव होता है। यदि पूँजी पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हो भी जाये तो भी कुशल संगठनकर्ताओं के अभाव में उसका उचित उपयोग नहीं हो सकेगा। यह सच ही कहा गया है कि आर्थिक विकास की समस्या वित्त की इतनी नहीं है जितनी आर्थिक संगठन की।[1] इसके अतिरिक्त इन देशों में यन्त्रकला बहुत पिछड़ी हुई है। मशीनों के बिना साधनों का अधिकतम उपयोग नहीं हो सकता और इस प्रकार उत्पादन भी अधिकतम होना सम्भव नहीं है। जनसंख्या की वृद्धि अग्नि में घी का काम कर रही है। यह सच ही है कि मुद्रा से विकास खरीदा नहीं जा सकता,[2] किन्तु इन सब समस्याओं में सब से बड़ी समस्या वित्तीय प्रबन्ध की ही है। यातायात और औद्योगीकरण की प्रगति तथा विकास के साथ-साथ अन्य समस्यायें स्वयं समाप्त होती जायेंगी, किन्तु फिर वही प्रश्न है कि वित्त का प्रबन्ध कैसे किया जाये?

आर्थिक विकास सम्बन्धी पूँजी के स्रोत—विकास सम्बन्धी कार्यक्रम को सफल बनाने के लिए, जैसा हम अभी कह चुके हैं, पूँजी की आवश्यकता होती है। आवश्यक पूंजी या तो देश के अन्दर से ही उपलब्ध की जा सकती है या विदेशों से प्राप्त की जा सकती है। हम जानते हैं कि अर्ध-विकसित देशों में पूँजी का निर्माण धीमा होने के कारण पुरानी जमा की हुई पूँजी बहुत कम होती है। यह पूँजी भी केवल थोड़े से व्यक्तियों के हाथों से होती है, जो उसे देना नहीं चाहते, क्योंकि यदि वह उसे अपने पास से अलग कर देंगे तो अपने व्यापार और उद्योगों का क्या करेंगे? सरकार उनसे जबरदस्ती तो छीन नहीं सकती। यह ध्यान रहे कि हम केवल प्रजातन्त्रीय आर्थिक विकास की ही बात कर रहे हैं और जो कुछ भी कहेंगे इसी को दृष्टि में रख कर कहेंगे। इसलिए देश के भीतर पूंजी दो स्रोतों से प्राप्त की जा सकती है :—(१) साधनों को अनुत्पादक उपयोगों से निकाल कर उत्पादक उपयोगों में लगाना और (२) चालू आय को उपभोग से बचतों की ओर मोड़ देना। इन दोनों विधियों की विवेचना हम यहाँ पर करेंगे।

सभी जानते हैं कि पिछड़े हुए देशों में आर्थिक साधनों का उचित उपयोग नहीं हो पाता। कृषि में आवश्यकता से अधिक व्यक्ति लगे होते हैं। समाज में बहुत से बेकार व्यक्ति भार बने फिरते हैं जैसे भिखारी, साधू, धार्मिक उपदेशक या बेकार कर्मचारी, ऐसी श्रमशक्ति का उचित उपयोग होना चाहिए। इसी प्रकार जो भूमि बेकार पड़ी हो तो उस पर कृषि की जाये। पेड़ों की पत्तियों, मनुष्य तथा पशुओं के मल से खाद बनाई जानी चाहिए। नदियों का बहुत सा पानी बेकार जाता है उसका उचित उपयोग किया जाए। बहुत सी पूंजी ऐसे उद्योगों में लगी हुई है जिन की वस्तुओं का उपभोग करने से मनुष्य की शारीरिक एवं मानसिक शक्तियों का ह्रास होता है इसलिए ऐसी वस्तुओं का उत्पादन बन्द करके अधिक उपयोगी वस्तुओं

1. Cf. Maurice Dobb, *Some Aspects of Economic Development*, p. 37.

2. Cf. H. Ellis, "*The Financing of Economic Development in Under-developed Areas,*"—*Indian Economic Journal*, January 1956, p. 253.

का उत्पादन आरम्भ किया जाये। संक्षेप में साधनों को अनुत्पादक उपयोगों से निकाल कर उत्पादक उपयोगों में लगाया जाये। ऐसा करने से हमारी पूँजी की प्रारम्भिक आवश्यकता काफी कम हो जाएगी।

दूसरी विधि में उपभोग को कम करना होगा और बचतों को प्रोत्साहन देना होगा, अर्थात् पूँजी निर्माण की गति को बढ़ाना होगा। बचतों का यह अभिप्राय नहीं कि व्यक्ति अपने उपभोग को कम करके आय के शेष भाग को तिजोरी में बन्द करके या जमीन में गाढ़ कर सुरक्षित रखेंगे। बचतों से हमारा अभिप्राय यह है कि व्यक्ति बचे हुए धन का विनियोग करेंगे। नई-नई मशीनों और औजारों के उत्पादन को प्रोत्साहन देंगे। पूँजीगत वस्तुओं का उत्पादन करेंगे ताकि उत्पादन-क्षमता में वृद्धि हो। अधिकांश अर्ध-विकसित देशों में निर्धनता का एक दूषित चक्र चलता रहता है—आय कम होने से बचतें कम होती हैं, पूँजी निर्माण कम होता है, परिणामस्वरूप उत्पादन शक्ति कम होती है और अन्त में उत्पादन कम होने से आय और भी कम हो जाती है—यह चक्र यूँही चलता रहता है। दूसरी ओर एक दूसरा चक्र आरम्भ हो जाता है। नीची आय के कारण व्यक्तियों की क्रय शक्ति कम हो जाती है, वस्तुओं तथा सेवाओं की माँग कम होने लगती है, विनियोगों को प्रोत्साहन नहीं मिलता, मशीनों का पूरा उपयोग नहीं हो पाता और उत्पादन गिरता जाता है। परिणामतया, आय और कम हो जाती है। इस प्रकार पूँजी निर्माण की धीमी गति ही सारी मुसीबतों की जड़ होती है, जिसकी ओर सरकार को पूरा ध्यान देना चाहिए।

पिछड़े हुए देशों में पूँजी-निर्माण की गति धीमी होने के कारण विदेशों से सहायता लेना आवश्यक हो जाता है। इसका यह अभिप्राय नहीं कि आन्तरिक स्रोतों का स्थान विदेशी सहायता ले सकती है। विदेशी सहायता तो केवल अस्थायी रूप से ही प्राप्त की जा सकती है और केवल आन्तरिक स्रोतों के साथ-साथ ही चल सकती है, देश में निर्धनता के दूषित चक्र को तोड़ने में सहायक सिद्ध हो सकती है और देश में पूँजी-निर्माण का कार्य कर सकती है। किन्तु विदेशी सहायता को आर्थिक विकास का एक स्थायी स्रोत नहीं बनाया जा सकता इसलिए हमें देश में ही आय के स्रोतों को प्राप्त करना होगा।

सरकार देश में ही आवश्यक पूंजी प्राप्त करने के लिए या तो लोगों को बचत करने को विवश कर सकती है, या उन्हें समझा-बुझा सकती है, या स्वयं व्यक्ति भी अपनी इच्छा से बचतें कर सकते हैं। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों तक व्यक्ति स्वयं अपनी इच्छा से बचाया करते थे और पूंजीगत वस्तुओं के निर्माण में लगाया करते थे। यही कारण है कि अमेरिका, इंगलैण्ड आदि विकसित देशों में मशीनों के उपयोग को प्रोत्साहन मिला, व्यापार का विकास हुआ और आधुनिक बैंकिंग प्रणाली का जन्म हुआ। व्यक्तियों को बचत करने के लिए प्रेरणा भी दी जा सकती है। सरकार उनको विनियोग करने तथा बचाने के लिए विभिन्न प्रकार की सुविधायें प्रदान कर सकती है। सरकार करारोपण द्वारा व्यक्तियों से जबरदस्ती

भी वचतें प्राप्त कर सकती है। करारोपण द्वारा प्राप्त की गई राशि को सरकार पूँजीगत वस्तुओं के निर्माण में लगा सकती है, जैसे सड़कें बनवाना, नहरें बनवाना, विद्युत शक्ति के स्टेशन स्थापित करना इत्यादि। व्यक्ति अपने उपभोग को कम करके करों का भुगतान करते हैं और सरकार इस आय को उत्पादक कार्यों में लगा देती है। किन्तु सरकार उसी समय जबरदस्ती करती है जब कि देश में पूँजी निर्माण की गति धीमी होती है। सरकार मुद्रा-प्रसार करके भी लोगों को अपना उपभोग करने को मजबूर कर सकती है। किन्तु क्योंकि मुद्रा-प्रसार आय प्राप्त करने का एक अच्छा उपाय नहीं है और इसके परिणाम बहुत घातक होते हैं इसलिए अधिकतर इस उपाय का सहारा लेना ठीक नहीं होता। अधिकतर सरकार या तो व्यक्तियों को बचाने के लिए प्रेरित करती है या उन्हें विवश करती है। जहां तक व्यक्तियों को बचत करने के लिए प्रेरणा का सम्बन्ध है, सरकार या तो व्यक्तियों को अपना धन निजी विनियोगों में लगाने को प्रेरित कर सकती है या उन्हें ऋण के रूप में देने के लिए प्रेरणा दे सकती है। निजी विनियोगों में व्यक्ति अपनी बचतें उस समय लगाना पसन्द करेंगे जब कि विनियोग करना सुरक्षित और लाभप्रद हो और देश में ऐसी संस्थाएँ स्थापित हों जिनके द्वारा विनियोग किए जा सकते हों। विनियोगों में लाभ की दर बढ़ाने के लिए सरकार उद्योगों को संरक्षण प्रदान कर सकती है या उनको तकनीकी सलाह प्रदान करने की व्यवस्था कर सकती है। सरकार कर-भार भी कम कर सकती है और जिन लाभों को पुनः विनियोग किया जाता है उनको कर-मुक्त कर सकती है। इसके अतिरिक्त सरकार अपनी अप्रत्यक्ष क्रियाओं से भी व्यक्तियों में विनियोग करने की रुचि उत्पन्न कर सकती है जैसे, यातायात के साधनों तथा शक्ति का विकास। इन सब सुविधाओं के अभाव के कारण ही अर्ध-विकसित देशों में व्यक्तियों की विनियोग करने की रुचि बहुत कम होती है। अधिकांश अर्ध-विकसित देशों में उन संस्थाओं का भी अभाव है जो निजी विनियोगों को भी प्रोत्साहन देती हैं। व्यक्तियों को अपनी बचतें जमा कराने के लिए उचित बैंकिंग सेवाएँ उपलब्ध नहीं हो पातीं और इसलिए व्यक्तियों को अपना धन जमीन में गाढ़कर या जेवर इत्यादि के रूप मे अपने पास रखना पड़ता है। सरकार व्यक्तियों से उनकी बचतें ऋण के रूप में प्राप्त कर सकती है। वह ग्रामीण तथा शहरी क्षेत्रों में अल्पबचतों को एकत्रित करने के लिए संस्थाएँ स्थापित कर सकती है और अल्पबचतों के सर्टीफिकेट चालू कर सकती है। सरकार इन बचतों को प्रोत्साहन देने के लिए सूद की ऊँची दर भी घोषित कर सकती है। किन्तु सरकार के ऋण प्राप्त करने की शक्ति इस बात पर निर्भर करती है कि व्यक्तियों को सरकार की साख में कितना विश्वास है।

किन्तु इन सब प्रयत्नों के बाद भी यह सम्भव है कि सरकार को अपनी आवश्यकतानुसार पूँजी प्राप्त न हो पाये, क्योंकि एक तो अर्ध-विकसित देशों में आय कम होने के कारण व्यक्तियों में बचत करने की शक्ति अत्यन्त सीमित होती है और दूसरे, आर्थिक विकास की प्रगति के साथ-साथ सामान्य मूल्य-स्तर में वृद्धि होती

है और परिणामस्वरूप व्यक्ति अपनी बढ़ी हुई आय को उपभोग पर खर्च करना चाहते हैं और अपना जीवन-स्तर पूर्ण विकसित देशों की भाँति ऊँचा करना चाहते हैं। इन सब कारणों से यह सम्भव हो सकता है कि सरकार को व्यक्तियों से जबरदस्ती बचतें प्राप्त करनी पड़ें अर्थात् सरकार को करारोपण करना पड़े। किन्तु करारोपण की विधि भी कुछ अधिक सरल नहीं होती। सरकार को कर लगाते समय बड़ी सावधानी बरतनी होगी। परन्तु करारोपण से व्यक्तियों के कार्य करने तथा बचत करने की शक्ति पर बुरा प्रभाव नहीं पड़ना चाहिये और देश में धन के वितरण में भी असमानतायें बढ़नी नहीं चाहियें। इसके अतिरिक्त करारोपण की भी अपनी एक सीमा होती है जिसका उल्लंघन होना देश के लिए घातक हो सकता है। बहुत अधिक करारोपण से व्यक्तियों को अपनी आवश्यक वस्तुओं के उपभोग को भी कम करना पड़ेगा, और उनकी उत्पादन शक्ति कम होगी। करारोपण, विनियोग तथा बचत करने की शक्ति पर भी बुरा प्रभाव डाल सकता है। इसलिये करारोपण नीति ऐसी होनी चाहिये कि सरकार को अधिक से अधिक धन प्राप्त हो सके, बचतें और विनियोग हतोत्साहित न हों, उपभोग तथा उत्पादन कम न हों और धन का वितरण समान हो। इस प्रकार कुछ क्षेत्रों में करारोपण बहुत भारी हो और प्रगतिशील भी और कुछ क्षेत्रों में बहुत हलका तथा कुछ क्षेत्रों को कर-मुक्त भी रक्खा जा सकता है।

जब आन्तरिक ऋण तथा करारोपण से पर्याप्त धन एकत्रित न हो पायें तो अर्ध-विकसित देशों की सरकारों को घाटे के बजटों द्वारा विकास कार्यक्रम पूरा करना चाहिये। हीनार्थ प्रबन्धन, यदि उचित सीमाओं के अन्दर रहे, तो सबसे उपयुक्त उपाय है। इस नीति से देश में सामाजिक तथा आर्थिक सेवाओं की वृद्धि होती है' बेकार व्यक्तियों को काम मिलता है और क्योंकि सरकार को सार्वजनिक निर्माण-कार्यों को पूरा करने के लिए अनेक प्रकार की वस्तुओं की आवश्यकता होगी, इसलिये निजी विनियोगों को प्रोत्साहन मिलेगा। हीनार्थ प्रबन्धन में सरकार प्रतिभूतियों के आधार पर केन्द्रीय बैंक से ऋण लेती है और केन्द्रीय बैंक उन प्रतिभूतियों के आधार पर नये नोट छाप कर सरकार की वित्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति करती है। परन्तु आवश्यकता से अधिक हीनार्थ प्रबन्धन देश के लिए घातक सिद्ध होता है। अधिक मुद्रा निकासी से मुद्रा-स्फीति को जन्म मिलता है। किन्तु यह आवश्यक नहीं कि हीनार्थ प्रबन्धन से मुद्रा-स्फीति उत्पन्न हो। यदि सरकार नयी मुद्रा को उत्पादन कार्यों पर व्यय करती है और यदि व्यक्ति तीव्र गति से काम करते हैं और बढ़ी हुई आय में से बचत करते हैं तो मुद्रा-स्फीति का भय कभी भी नहीं होता। वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि होती तो अवश्य है किन्तु मूल्य की हर वृद्धि भी तो बुरी नहीं होती और न ही मुद्रा प्रसार का सूचक होती है। केवल वही मूल्य वृद्धि स्फीतिक होती है जो मूल्यों में निरन्तर वृद्धि होते रहने का एक क्रम आरम्भ कर दे। हीनार्थ प्रबन्धन की बुराइयों से सुरक्षित रखने के लिये आवश्यक यह है कि उपभोग की वस्तुओं के उत्पादन में भी वृद्धि हो और सरकार करारोपण तथा ऋण सम्बन्धी नीति भी साथ-साथ

चलाती रहे ताकि व्यक्तियों को अतिरिक्त क्रय-शक्ति को सरकार अपने पास वापिस ले ले।

जब आन्तरिक साधन विकास कार्य क्रम के व्यय के अनुपात में एकत्रित नहीं हो पाते तो सरकार को विदेशों से सहायता माँगनी पड़ती है। विकास कार्यक्रम इतना विशाल होता है कि किसी भी देश के आन्तरिक साधन इतने नहीं हो सकते कि उसके लिए पर्याप्त हों, इसलिए उसे विदेशी सहायता लेनी ही पड़ेगी। पिछड़े हुए देशों को पूंजी के अतिरिक्त मशीनों की भी आवश्यकता होती है, तकनीकी सलाह भी चाहिए तथा वैज्ञानिक जानकारी और अनुसन्धान के लिए उचित ज्ञान तथा सामग्री भी चाहिए, जो उन्हें विदेशों से ही प्राप्त होती है। इस प्रकार विदेशी पूंजी या तो ऋणों के रूप में या सहायता के रूप में प्राप्त होती है। विदेशी सहायता या तो आर्थिक हो सकती है या ज्ञान के रूप में प्राप्त हो सकती है। सरकार या तो विदेशों के व्यापारियों या निजी व्यक्ति एवं संस्थाओं से ऋण प्राप्त कर सकती हैं या विदेशी सरकारों से ऋण ले सकती है या विदेशी सरकारों से प्रत्यक्ष सहायता प्राप्त कर सकती है या अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं से ऋण ले सकती है। दूसरी लड़ाई के बाद से कोलम्बो योजना तथा अन्य योजनाओं में विभिन्न सरकारें एक दूसरे को यथा-शक्ति सहायता प्रदान करती रही हैं। इसी प्रकार अमेरिका की सरकार ने भी पिछड़े हुए तथा अर्ध-विकसित देशों को अनेक प्रकार की सहायतायें दी हैं। अमेरिका क प्रेजीडेन्ट ट्रूमेन के पौइन्ट फोर प्रोग्राम (President Trumen's 'Point Four' Programme) के अन्तर्गत, युद्ध के बाद बहुत से देशों को अमेरिका ने प्रत्यक्ष सहायता प्रदान की है। गत वर्षों में रूस ने भी इस प्रकार की सहायता दी है। इस प्रकार विश्व बैंक तथा अन्य अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं से भी अर्ध-विकसित देशों को काफी सहायता प्राप्त हुई है। सच में विदेशी पूँजी ने विभिन्न देशों के आर्थिक विकास में इतनी सहायता दी है कि उसके पक्ष में जितना कहा जाए उतना कम है। यह सहायता केवल मुद्रा के रूप में ही प्राप्त नहीं हुई है वरन् डाक्टरों, इन्जीनियरों, वैज्ञानिकों, कारीगरों, सलाहकारों, मशीनों, वस्तुओं, कच्ची सामग्री के रूप में भी प्राप्त हुई है। किन्तु विदेशी सहायता में भी कुछ कठिनाइयाँ होती हैं। प्रथम, विदेशी ऋणों या सहायता के सम्बन्ध में यह निश्चित नहीं कि समय पर उपलब्ध हो सकगी। दूसरे, ऐसी सहायता के साथ बहुधा राजनैतिक या आर्थिक शर्तें लगी होती हैं। अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं से जो आर्थिक सहायता या ऋण प्राप्त होते हैं, उनके साथ इस प्रकार की कोई भी शर्त नहीं होतीं और इस प्रकार यह विदेशी सहायता का सबसे अच्छा रूप है। किन्तु विदेशी सहायता को केवल द्वितीय महत्व ही देना चाहिए।[3] विदेशी सहायता से केवल उसी प्रकार काम लेना चाहिए जैसे मशीन में तेल काम देता है, अर्थात् आर्थिक विकास कार्यक्रम की मशीनों को चलाने के लिए शक्ति तो आन्तरिक साधनों से ही प्राप्त करनी चाहिए केवल चिकनाई के लिए विदेशी सहायता से तेल

---

3. United Nations: *Methods of Financing Economic Development in Under-developed Areas*, p. 94.

का काम लेना चाहिए। बड़े-बड़े अर्थशास्त्रियों ने इस बात को स्वीकार किया है कि स्थायी लाभ केवल आन्तरिक साधनों से ही प्राप्त हो सकते हैं। व्यक्तियों में स्वयं बचाने की आदत डालनी चाहिए। विदेशी सहायता से केवल अस्थायी लाभ ही प्राप्त होते हैं। ऊँचे जीवन स्तरों के लिए एक स्थायी आधार समाज के भीतर से ही उत्पन्न होना चाहिए।[4]

भारत में विकास सम्बन्धी वित्त-व्यवस्था—

भारत में सरकार की ओर से आर्थिक नियोजन के हेतु सबसे पहला प्रयत्न सन् १९४३ में हुआ था जबकि वाइसराय की एक्जीक्यूटिव काउन्सिल (Viceroy's Executive Council) की एक पुनर्निर्माण समिति नियुक्त की गई थी। सन् १९४५ में केन्द्रीय सरकार ने प्रान्तीय सरकारों से उनकी अपनी-अपनी विकास योजनाओं की रूपरेखा माँगी, जिनमें से सरकार ने ४० करोड़ रुपयों की लागत की योजनायें चुनी थीं और प्रान्तीय सरकारों को इन योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिए ३५० करोड़ रुपयों के पेशगी अनुदान दिए और १५० करोड़ रुपयों के ऋण दिए।[5] किन्तु युद्धोत्तर काल में उत्पन्न होने वाली अनेकों कठिनाइयों से इन योजनाओं को उतनी सफलता प्राप्त नहीं हुई जितनी आशा की जाती थी। युद्धकाल में मूल्य तो काफी बढ़ ही गए थे, किन्तु युद्ध समाप्त होने के बाद सरकार को मुख्य भय यह था कि कहीं पहली लड़ाई की भाँति, अब भी मन्दी उत्पन्न न हो, इसलिए सरकार ने ऐसी आर्थिक नीति अपनाई कि मुद्रा स्फीति कम होने के स्थान पर और बढ़ने लगी। सन् १९४७ में देश के विभाजन से भारत के लिए पूर्णतया नई समस्याएँ उत्पन्न हो गईं। खाद्यान्न की कमी और भी अधिक हो गई क्योंकि विभाजन के बाद भारत के हिस्से में ८०% जनसंख्या आई लेकिन गेहूँ उपजाने वाले क्षेत्रों का ६५% और चावल उपजाने वाले क्षेत्रों का केवल ६९% भाग ही आया। इसके अतिरिक्त भारत की शरणार्थियों के पुनर्वास की भी समस्या थी। अनुमान है कि सन् १९४८ से १९५३ तक भारत सरकार ने शरणार्थियों के पुनर्वासन पर लगभग ७५ करोड़ रुपये खर्च किए थे। सन् १९४९ में रुपये के अव-मूल्यन से भारत और पाकिस्तान के बीच आर्थिक सम्बन्ध सुधरने के स्थान पर और भी बिगड़ गए और व्यापार तो लगभग बन्द ही हो गया। इन सब कठिनाइयों के कारण भारत सरकार का विकास कार्यक्रमों पर व्यय बहुत कम हो गया। सन् १९५१ में जब कि रिजर्व बैंक ने मुद्रा-स्फीति को रोकने के लिए उचित उपाय किए, तब से बजट में विकास-सम्बन्धी वित्त को एक प्रमुख स्थान प्राप्त होना आरम्भ हुआ और सरकार के 'विनियोगों' तथा विकास कार्यों के लिए ऋणों की राशि बढ़ने लगी। केन्द्रीय सरकार के व्यय में विनियोगों का भाग सन् १९४९ में ३०% से सन् १९५३ में ४०% हो गया था।[6]

4. Cf. Buchanan and Ellis, *Approaches to Economic Development*, p. 201.
5. Report of the *Reserve Bank of India on Currency and Finance*, 1945-46, p. 16.
6. U. N. : *Economic Survey of Asia and the Far East*, 1953, p. 13.

दिसम्बर सन् १९५२ में नियोजन आयोग ने पहली योजना का अन्तिम रूप प्रस्तुत किया और ५ वर्षों में २,०६९ करोड़ रुपयों को व्यय करने का निश्चय किया। बाद में यह राशि २,३७८ करोड़ रुपये कर दी गई थी। प्रारम्भिक व्यय राशि के अनुसार केन्द्रीय तथा राजकीय सरकारों द्वारा १,२५८ करोड़ रुपये ऋणों तथा बजट सम्बन्धी साधनों से प्राप्त होने का निश्चय किया गया था और ८११ करोड़ रुपयों की इस प्रकार कमी रही थी। इसको पूरा करने के लिए २९० करोड़ रुपयों का हीनार्थ प्रबन्धन किया गया और शेष ५२१ करोड़ रुपयों की कमी को विदेशी सहायता, अतिरिक्त ऋणों तथा अतिरिक्त हीनार्थ प्रबन्धन से पूरा करने का निश्चय किया गया था। किन्तु जब योजना में व्यय की राशि को २,३७८ करोड़ रुपये कर दिया गया तब ५२१ करोड़ रुपयों की प्रारम्भिक कमी ८२० करोड़ रुपयों की कमी में बदल गई थी। योजना के ५ वर्षों में १,२७७ करोड़ रुपये बजट से प्राप्त हुए थे, २०३ करोड़ रुपये विदेशी सहायता से प्राप्त हुए थे और ५३२ करोड़ रुपयों का हीनार्थ प्रबन्धन करना पड़ा था। इस प्रकार योजना के लिये कुल धन इन चार स्रोतों से प्राप्त हुआ था : (१) ऋणों (२) करारोपण (३) हीनार्थ प्रबन्धन और (४) विदेशी सहायता।

ऋण प्राप्त करने में सरकार को आशा से भी अधिक सहायता प्राप्त हुई थी। यह ध्यान रहे कि योजना के पहले वर्ष में सरकार को ऋण प्राप्त करने में कोई विशेष सफलता प्राप्त नहीं हुई थी, क्योंकि उस वक्त मुद्रा-बाजार की स्थिति बहुत खराब थी किन्तु अगले दो वर्षों में मुद्रा-बाजार की स्थिति सुधर जाने से सरकार को बहुत सफलता प्राप्त हुई और योजना के चौथे वर्ष में सरकार ने बाजार से बहुत बड़ी मात्रा में ऋण इकट्ठे किये, और ५ वर्षों में जो ऋण प्राप्त हुए उनकी राशि निर्धारित लक्ष्य की अपेक्षा ८७ करोड़ रुपये अधिक थी। योजना से ५ वर्षों में २०२ करोड़ के ऋण प्राप्त हुए थे जबकि लक्ष्य केवल ११५ करोड़ रुपये ही एकत्रित करने का था। इन ५ वर्षों में अल्पबचतों, प्रावदान कोषों इत्यादि से २७० करोड़ रुपयों के स्थान पर ३०४ करोड़ रुपये प्राप्त हुए थे। यह हर्ष की बात है कि सन् १९५०–५१ की अपेक्षा अल्पबचतों से एकत्रित हुई राशि योजना के अन्तिम वर्ष में दुगनी हो गई थी।

प्रथम योजना के काल में केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों को करारोपण से प्राप्त होने वाली राशि में कोई विशेष वृद्धि नहीं हो पाई थी। सन् १९५०–५१ में करों से लगभग ६२६ करोड़ रुपये प्राप्त हुए थे। सन् १९५१–५२ में कोरिया युद्ध के कारण अधिक लाभ प्राप्त होने से करारोपण से ७३८ करोड़ रुपये प्राप्त हुए थे। इसके बाद अगले दो वर्षों में करों से प्राप्त आय में कुछ कमी हो गई किन्तु योजना के चौथे वर्ष में इस आय में फिर वृद्धि हुई और सन् १९५५–५६ में करों से लगभग ७५० करोड़ रुपये प्राप्त हुए थे। योजना के ५ वर्षों में अतिरिक्त करारोपण से १७५ करोड़ रुपयों की अतिरिक्त आय प्राप्त हुई थी और राष्ट्रीय आय में करों का अनुपात जो सन् १९५०–५१ में ६·६% था वह सन् १९५५–५६

में बढ़ कर केवल ७% ही हो पाया। भारत जैसे देश के लिए जहाँ करारोपण प्रणाली काफी सुव्यवस्थित है, करों से इतनी कम राशि प्राप्त होना आश्चर्यजनक बात है।

प्रथम पंचवर्षीय योजना में हीनार्थ प्रबन्धन की नीति को बड़ी सावधानी से लागू किया गया था। अर्ध-विकसित देशों में हीनार्थ प्रबन्धन की नीति बहुत ही लाभप्रद सिद्ध हो सकती है। एक तो यह रोजगारों की संख्या में वृद्धि करने में सहायक हो सकती है और दूसरे पूँजी निर्माण की गति को तीव्र कर सकती है। प्रथम योजना में सरकार के बजट के घाटों ने राष्ट्रीय व्यय में वृद्धि की थी और बजट के घाटों को सरकार ने अपने एकत्रित कोषों से तथा रिजर्व बैंक से ऋण लेकर पूरा किया था। प्रथम योजना में सरकार को यह आशा थी कि २९० करोड़ रुपयों का हीनार्थ प्रबन्धन होगा और क्योंकि यह राशि पौंड पावनों के कोषों से प्राप्त की जानी थी, इसलिए हीनार्थ प्रबन्धन से मुद्रा प्रसार में वृद्धि होने का भय नहीं था। योजना के प्रथम वर्ष में हीनार्थ प्रबन्धन करने की कोई आवश्यकता नहीं हुई क्योंकि सरकार को आवश्यकता से अधिक राशि बजट से ही प्राप्त हो गई थी। योजना के दूसरे और तीसरे वर्षों में घाटों को नकद कोषों से पूरा किया गया था। किन्तु सन् १९५४-५५ के बाद बजट के घाटों को कोष बिलों (Treasury Bills) में वृद्धि करके पूरा किया गया था। योजना काल में राज्य सरकारों के बजट के घाटों का अनुमान लगभग २८० करोड़ रुपयों का था।[7] किन्तु क्योंकि यह राशि अधिकतर जनता से ऋणों द्वारा प्राप्त की गई थी इसलिए इसे हीनार्थ प्रबन्धन नहीं कहा जा सकता। इतना हीनार्थ प्रबन्धन होने के बाद भी भारत में मुद्रा-स्फीति में कोई विशेष वृद्धि नहीं होने पाई थी। यह निम्न तालिका से विदित हो जाता है :—

	थोक मूल्यों सम्बन्धी सूचक अंक (१९३९–१००)	रहन-सहन की लागत सम्बन्धी सूचक अंक (१९४९–१००)
१९५०—५१	४५०	१०१
१९५१—५२	३७८	१०४
१९५२—५३	३८५	१०४
१९५३—५४	३९७	१०६
१९५४—५५	३४०	९९
१९५५—५६	३९०	९६

मुद्रा प्रसार में वृद्धि होने के कई कारण थे। पहला कारण तो यह था कि योजना के अन्तिम दो वर्षों में ही मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि हुई थी, जिसके प्रभाव

7. U. N. : *Economic Survey of Asia and the Far East*, 1953, p. 201.

केवल बाद के वर्षों में ही मालूम होते। इसके अतिरिक्त भारत को विदेशों से जो सहायता प्राप्त हुई थी उससे भी मुद्रा-स्फीति के उत्पन्न होने वाले प्रभावों में कोई विशेष वृद्धि नहीं हो पाई थी, क्योंकि अधिकतर यह सहायता वस्तुओं के रूप में प्राप्त हुई थी और इससे व्यक्तियों के हाथ में अधिक क्रय-शक्ति नहीं पहुँच पाई थी। इसी प्रकार भारत ने पौंड पावनों के कोषों से जो राशि निकाली थी उससे भी व्यक्तियों के हाथों में अधिक क्रय-शक्ति न पहुँच पाने के कारण मुद्रा-स्फीति के प्रभाव बहुत कम रहे थे।

भारत ने प्रथम पंचवर्षीय योजना के पहले तीन वर्षों में विदेशी सहायता में से लगभग १२९ करोड़ रुपयों का उपयोग किया था और चौथे वर्ष में लगभग १६ करोड़ रुपयों का और कुल ५ वर्षों में १८८ करोड़ रुपयों का उपयोग किया था जब कि ५ वर्षों में कुल २९६ करोड़ रुपयों की सहायता प्राप्त हुई थी। इस प्रकार १०८ करोड़ रुपये दूसरी योजना के लिए उपलब्ध थे। विदेशी सहायता मुख्य रूप से गेहूँ, इस्पात और मशीनों के खरीदने में खर्च की गई थी।

दूसरी योजना में वित्त प्रबन्ध—

यद्यपि प्रथम योजना के आरम्भ में भारत सरकार हीनार्थ प्रबन्धन की नीति के पक्ष में नहीं थी[8] किन्तु वित्तीय प्रबन्ध की कठिनाइयों के कारण उन्हें योजना के अन्तिम वर्षों में हीनार्थ प्रबन्धन का सहारा लेना ही पड़ा और जब प्रथम योजना काल में हीनार्थ प्रबन्धन से अधिक मुद्रा-स्फीतिक प्रभाव उत्पन्न नहीं हुए तो सरकार का दृष्टिकोण बिल्कुल ही बदल गया और सन् १९५४–५५ में वित्त मन्त्री ने अपने एक भाषण में कहा कि "ऐसे चिन्ह दिखाई देते हैं जिनसे यह स्पष्ट होता है कि एक बड़ी मात्रा में हीनार्थ प्रबन्धन से विशेषकर जब विकास कार्यक्रमों के लिए किया जाये, कोई भी बुरे परिणाम नहीं होंगे, बल्कि साथ ही साथ अर्थ-व्यवस्था के दोष दूर किये जा सकते हैं।" इसलिए दूसरी पंचवर्षीय योजना में नियोजन आयोग का अनुमान था कि कुल १,२०० करोड़ रुपये का हीनार्थ प्रबन्धन किया जायेगा। किन्तु यह राशि बाद में घटा कर ९०० करोड़ रुपये कर दी गई। दूसरी योजना पहली की अपेक्षा अधिक विशाल थी और योजना के लिए आवश्यक वित्त का प्रबन्ध करने में आयोग का अनुमान था कि घरेलू आय के स्रोतों में राष्ट्रीय आय का अनुपात ७% से बढ़कर १०% हो जायेगा। इसके लिये करारोपण में वृद्धि करनी थी और ऋण प्राप्त करने थे। कुल विकास व्यय की लगभग २५% राशि को हीनार्थ प्रबन्धन द्वारा प्राप्त किया जाना था। ८०० करोड़ रुपयों की विदेशी सहायता प्राप्त करनी थी और २०० करोड़ रुपये विदेशी मुद्रा सम्बन्धी कोषों से प्राप्त करने थे। फिर भी ४०० करोड़ रुपयों की कमी को पूरा करने के लिये करों में वृद्धि करी जानी थी और राजकीय उपक्रम के लाभों को अधिकाधिक उपयोग में लाना था। हम दूसरी योजना के लिए धन को प्राप्त करने के विभिन्न स्रोतों की

8. *The Five Year Plan*, A Summary, p. 15

विवेचना निम्न पृष्ठों में करेंगे और यह देखेंगे कि नियोजन आयोग के अनुमान कहाँ तक सफल हुए हैं।

मई, सन् १९५८ में नियोजन आयोग ने दूसरी योजना के मूल्यांकन तथा सम्भावनाओं पर एक स्मृतिपत्र प्रकाशित किया था जिसमें यह बताया गया कि योजना के लिए आशा से कम साधन उपलब्ध हो सकेंगे। यद्यपि प्रारम्भ से ही करों में काफी वृद्धि की गई, किन्तु कर आय का एक बहुत बड़ा भाग सुरक्षा, गैर-विकास व्यय तथा योजना के अतिरिक्त अन्य विकास-व्ययों पर लगा दिया गया था। इस सबका परिणाम यह हुआ कि प्रारम्भिक वर्षों में ही हीनार्थ प्रबन्धन का सहारा लिया गया। सबसे अधिक कठिनाई भुगतान-संतुलन तथा विदेशी साधनों को प्राप्त करने में अनुभव हुई। योजना के प्रथम दो वर्षों में ही भारत के विदेशी मुद्रा-कोष ४७९ करोड़ रु० से कम हो गए। इसके अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष से जो ९५ करोड़ रु० के ऋण प्राप्त हुए थे, उनको भी समाप्त कर दिया गया। साथ ही यह अनुमान लगाया गया कि योजना काल में ४,८०० करोड़ रु० के स्थान पर केवल ४,२६० करोड रु० ही प्राप्त हो सकेंगे। अतः यह अनुभव किया गया कि योजना के कुछ अनावश्यक भागों में काट-छाँट कर दी जाए। किन्तु नियोजन-आयोग इस विचार से सहमत नहीं था। उसका विचार था कि यदि हम ऐसा करेंगे तो सामाजिक सेवाओं में कमी हो जाएगी या हमको उन परियोजनाओं को अधूरा ही छोड़ना पड़ेगा जो पहले से आरम्भ हो चुकी हैं, फलतः इनमें धन का भारी अपव्यय होगा। इसलिए नियोजन-आयोग का विचार था कि योजना की कुल लागत ४,५०० करोड़ रु० से कम न रखी जाए। परिणामतया योजना को दो भागों में विभाजित कर दिया गया। प्रथम भाग में केवल मूल परियोजनाओं (Core projects) को सम्मिलित किया गया जिनकी लागत ४,५०० करोड़ रु० निश्चित की गई। इसके अन्तर्गत उन कार्यक्रमों को रखा गया जो कृषि-उत्पादन से सम्बन्धित थे तथा उन परियोजनाओं को लिया गया जिनको स्थगित नहीं किया जा सकता था; या जिनमें काफी प्रगति हो चुकी थी। द्वितीय भाग में शेष परियोजनाओं को रखा गया और यह निश्चय किया गया कि ये योजनाएँ उसी समय लागू की जाएँगी जबकि उनके लिए आवश्यक साधन उपलब्ध होंगे। सन् १९५९ में नियोजन-आयोग ने योजना के साधनों तथा लागत पर एक दूसरा स्मृतिपत्र प्रकाशित किया और यह प्रस्ताव प्रस्तुत किया कि योजना की लागत को ४,५०० करोड़ रु० से भी कम कर दिया जाए, किन्तु राष्ट्रीय विकास परिषद् ने यह प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया।

पाँच वर्ष की अवधि में योजना की कुल लागत ४,६०० करोड़ रु० रही। योजना के लिए चालू आय में से कोई बचत प्राप्त नहीं हुई और वास्तव में ५० करोड़ रु० का घाटा निश्चित किया था। इसका अभिप्राय यह हुआ कि योजना के लिए जो अतिरिक्त कर लागू किए जाने थे उनकी आय में से ५० करोड़ रु० गैर-योजनाबद्ध कार्यों पर लगाने का निश्चय किया गया था। प्रारम्भिक अनुमानों के अनुसार योजना के वित्तीय प्रबन्ध में ४०० करोड़ रु० की कमी अनुभव की गई थी

और यह निश्चय किया गया था कि इस कमी को अतिरिक्त करों द्वारा पूरा किया जाएगा। किन्तु वास्तव में अतिरिक्त करों से ४०० करोड़ रु० से भी अधिक आय प्राप्त हुई। इसी प्रकार प्रारम्भिक अनुमानों की अपेक्षा जनता से ८० करोड़ रु० अधिक प्राप्त हुए थे। वास्तव में देखा जाय तो यह अनुमान सही नहीं है, क्योंकि जनता से प्राप्त होने वाले ऋण की राशि निर्धारित लक्ष्य की अपेक्षा ३०० करोड़ रु० कम थी। इसके अन्तर्गत ७८० करोड़ रु० की वह धन राशि भी सम्मिलित कर ली गई जो स्टेट बैंक द्वारा पी० एल० ४८० समझौते के अन्तर्गत ऋण पत्र खरीदने से और रिजर्व बैंक द्वारा ऋण पत्र खरीदने से प्राप्त हुई। अल्प बचतों से भी निर्धारित-लक्ष्य की अपेक्षा १०० करोड़ रु० कम प्राप्त हुए। विदेशी सहायता प्रारम्भिक अनुमानों की अपेक्षा २९० करोड़ रु० से अधिक रही। हीनार्थ प्रबन्धन १२०० करोड़ रु० के प्रारम्भिक अनुमानों के स्थान पर केवल ९४८ करोड़ रुपये तक ही सीमित रहा।

तीसरी योजना में वित्त प्रबन्ध—तीसरी योजना में जिन कार्यक्रमों को पूरा करने का निश्चय किया गया है उनकी लागत का अनुमान ८,००० करोड़ रु० लगाया गया। किन्तु क्योंकि कुछ कार्यक्रमों को चौथी योजना में अन्तरित करने के लिए सोचा गया है इसलिए योजना की वित्तीय लागत ७,५०० करोड़ रु० रक्खी गई है, और यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि जहाँ तक हो अधिकाधिक साधन प्राप्त किए जाएँ और सभी कार्यक्रमों को पूरा किया जाए। तीसरी योजना के वित्तीय साधनों का ज्ञान निम्न तालिका से प्राप्त किया जा सकता है :—

	राशि (करोड़ रु० में)	कुल राशि का प्रतिशत
१. चालू स्रोतों से होने वाली बचत (अतिरिक्त करारोपण को छोड़कर)	५५०	७
२. रेलों का अंशदान	१००	१
३. अन्य सरकारी उद्यमों का आधिक्य	४५०	६
४. जनता से ऋण	८००	११
५. अल्प बचतें	६००	८
६. प्रावदान कोष	२६५	४
७. स्गात समीकरण कोष	१०५	१
८. गैर-योजना व्ययों के अतिरिक्त अन्य पूँजीगत प्राप्तियों का शेष	१७०	२
९. अतिरिक्त करारोपण, राजकीय उद्यमों के आधिक्यों में वृद्धि करने हेतु किये जाने वाले प्रयत्नों सहित	१,७१०	२३
१०. विदेशी सहायता	२,२००	२९
११. हीनार्थ प्रबन्धन	५५०	८
१२. योग	७५००	१००

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि चालू करों से ५५० करोड़ रु० प्राप्त किये जाएँगे। केवल चालू प्राप्तियों के आधार पर ही यह अनुमान है कि रेलों से १०० करोड़ रु० अंशदान के रूप में प्राप्त होंगे। अन्य सरकारी उद्यमों से ४५० करोड़ रु० (३०० करोड़ रु० केन्द्रीय सरकार के उद्यमों से और १५० करोड़ रु० राज्य सरकारों के उद्यमों से) प्राप्त करने की आशा की गई है। किन्तु इस धनराशि में वे राशियाँ भी सम्मिलित हैं जिन्हें राजकीय उद्यम अपने विस्तार कार्यक्रमों, मूल्य-ह्रास सुरक्षित कोषों आदि में लगा सकते हैं। बाजार से ८०० करोड़ रु० के ऋण प्राप्त करने का निश्चय किया गया जिसके अन्तर्गत जीवन बीमा निगम, विभिन्न प्रावदान कोषों (Provident Funds) और अन्य विनियोगों द्वारा सरकारी ऋणपत्रों के विनियोग में वृद्धि करने की व्यवस्था की गई है। अल्प बचतों से ६०० करोड़ रु० प्राप्त किये जाएंगे। यद्यपि योजना काल में विदेशी सहायता के रूप में ३,२०० करोड़ रु० प्राप्त होने का अनुमान है, किन्तु इस धनराशि में से २,२०० करोड़ रु० ही योजना-कार्य के लिए प्राप्त हो सकेंगे, क्योंकि १००० करोड़ रु० अन्य कार्यों में लगेंगे अर्थात् लगभग ५०० करोड़ रु० ऋणों के भुगतान में, ३०० करोड़ रु० निजी-क्षेत्र में और २०० करोड़ रु० अमरीकी पदाधिकारियों के लिए रुपयों के रूप में रखे जायेंगे। हीनार्थ प्रबन्धन ५५० करोड़ रु० तक ही सीमित रखा जाएगा। इसका मुख्य कारण एक तो यह था कि दूसरी योजना काल में मूल्यों में काफी वृद्धि हो चुकी थी और दूसरा कारण यह था कि नये नोटों के प्रकाशन के लिए विदेशी मुद्राकोष अधिक मात्रा में नहीं थे। नियोजन-आयोग ने यह अवश्य स्पष्ट कर दिया है कि वास्तव में हीनार्थ प्रबन्धन का उपयोग किस सीमा तक किया जाएगा, इसका निर्धारण भावी परिस्थितियाँ ही करेंगी। अतिरिक्त करारोपण से १,७१० करोड़ रु० प्राप्त करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया (११०० करोड़ रु० केन्द्रीय सरकार द्वारा और ६१० करोड़ रु० राज्य सरकारों द्वारा)। आयोग के अनुसार अप्रत्यक्ष करों पर अधिक जोर दिया जाएगा।

सन् १९६३ में तीसरी योजना की प्रगति का मूल्यांकन किया गया जिसमें यह बताया गया था कि सन् १९६०-६१ की दरों पर करों से, प्रारम्भिक अनुमानों की अपेक्षा ८०० करोड़ रु० अधिक प्राप्त हो सकेंगे, किन्तु क्योंकि सरकारी व्यय में काफी वृद्धि हो गई है इसलिए शुद्ध प्राप्तियाँ योजना के अनुमान से कम ही रहेंगे। नये करों से भी प्रारम्भिक अनुमान की अपेक्षा अधिक प्राप्तियाँ होंगी और यह अनुमान लगाया गया है कि केन्द्र द्वारा लगाए गए करों से तीसरी योजना में लगभग १,९०० करोड़ रु० प्राप्त होंगे जबकि प्रारम्भिक अनुमान केवल १,१०० करोड़ रु० के ही हैं। यद्यपि राज्यों को करों से लगभग ५०० करोड़ रु० प्राप्त होने की आशा है जबकि प्रारम्भिक अनुमान ६१० करोड़ रु० के निश्चित किए गए हैं, किन्तु केन्द्र और राज्यों को मिला कर प्रारम्भिक अनुमानों की तुलना में ७०० करोड़ रु० अधिक प्राप्त होने की आशा है। रेलों से १०० करोड़ रु० की तुलना में १४०-१५० करोड़ रु० प्राप्त होने की आशा है। जहाँ तक केन्द्रीय सरकारी उद्यमों का सम्बन्ध है, कदाचित

इनसे अनुमानानुसार ३०० करोड़ रु० प्राप्त न हो पाये। हाँ, राज्यों के उद्यमों से ऐसी आशा की जाती है, कि १५० करोड़ रु० प्राप्त करने का लक्ष्य पूरा हो सकेगा। योजना के प्रथम तीन वर्षों में ५२५–५५० करोड़ रु० के ऋण प्राप्त हुए हैं। यह आशा की जा सकती है कि शायद योजनावधि में ८०० करोड़ रु० के निर्धारित लक्ष्य से अधिक ऋण प्राप्त हो सकेंगे। यह ध्यान रहे कि इस राशि में से २७५ करोड़ रु० के ऋण केवल राज्यों ने ही प्राप्त किए हैं। हो सकता है कि केन्द्रीय सरकार के ऋण सम्बन्धी कार्य-क्रम पर इसका बुरा प्रभाव पड़े। इसलिए यह आवश्यक प्रतीत होता है कि राज्यों द्वारा ऋण प्राप्त करने की नीति पर कुछ नियन्त्रण लगाए जाएं। अल्प-बचतों से, प्रथम तीन वर्षों में केवल ३०० करोड़ रु० प्राप्त हुए हैं। अतः स्पष्ट है कि योजनाकाल में अल्प-बचतों से ६०० करोड़ रु० प्राप्त करने का जो लक्ष्य निर्धारित किया गया है, वह पूरा न हो सकेगा, क्योंकि अन्तिम दो वर्षों में अल्प-बचतों से ३०० करोड़ रु० प्राप्त होने की आशा नहीं की जा सकती है। विदेशी सहायता के सम्बन्ध में लक्ष्य पूर्ति की आशा प्रगट की गई है। हीनार्थ प्रबन्धन भी उतनी राशि तक किया जा चुका है जो पूरे योजनाकाल में होना था। भविष्य में कितना और हीनार्थ प्रबन्धन किया जाएगा, यह परिस्थितियां ही बता सकेंगी।

चौथी योजना सम्बन्धी मैमोरण्डम—

अगस्त तथा सितम्बर सन् १९६५ में भारत-पाकिस्तान संघर्ष के कारण चौथी पंचवर्षीय योजना को एक निश्चित रूप प्रदान नहीं किया जा सका फिर भी अक्तूबर सन् १९६४ में चौथी योजना पर जो मैमोरण्डम प्रस्तुत किया गया था उससे चौथी योजना के सम्भावित आकार का अनुमान लगाया जा सकता है। चौथी योजना की कुल लागत २१,५०० करोड़ रुपये निश्चित की गई थी जिसमें से १४,५०० करोड़ राजकीय क्षेत्र थे और ७००० करोड़ निजी क्षेत्र में खर्च होने थे। यह अनुमान इस धारणा पर आधारित था कि गैर योजना व्यय को न्यून रक्खा जाएगा और करारोपण की वर्तमान दर पर ही आय को अधिकतम किया जाऐगा। ऐसी आशा थी कि कर आय में लगभग ८% प्रतिवर्ष की वृद्धि होगी। किन्तु यह तभी होगी जबकि बड़े-बड़े उद्योगों में उत्पादन के आशातीत स्तर प्राप्त होंगे और उत्पादन तथा आय की वृद्धि के साथ-साथ कर आय में भी वृद्धि होगी। गैर कर आय में भी ८% प्रतिवर्ष की वृद्धि होने की आशा थी। यह भी अनुमान था कि प्रशासनिक व्यय में ५% प्रतिवर्ष से अधिक की वृद्धि नहीं होने दी जाऐगी और गैर विकास व्यय में ३½% प्रतिवर्ष से अधिक की वृद्धि नहीं होने दी जाऐगी। इसके अतिरिक्त यह भी धारणा थी कि रक्षा सम्बन्धी व्यय में कोई विशेष वृद्धि नहीं होगी किन्तु पिछले १½ वर्ष में जो घटनाएँ घटीं उन सभी के कारण जैसा सोचा गया था वैसा नहीं हुआ।

यह भी आशा की गई है कि बाजारू ऋणों, छोटी बचतों, प्रावदान कोषों तथा वार्षिक जमाओं और अन्य पूंजी प्राप्तियों में काफी वृद्धि होगी परन्तु ऐसा तभी

हो सकेगा जब कि इस ओर विशेष प्रयत्न किये जायें। इस बात की ओर भी संकेत किया गया था कि केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों को रिजर्व बैंक से सीमित मात्रा में ही ऋण प्राप्त करने होंगे। अर्थात् हीनार्थ प्रबन्धन को नियन्त्रण में ही रक्खा जाएगा। करारोपण के क्षेत्र में, वैसे तो सभी दिशाओं में प्रयत्न किये जाएँगे किन्तु कृषि आयों को अधिकाधिक सम्मिलित किया जाएगा। बिक्री-कर के क्षेत्र का निरीक्षण करने पर भी विचार किया गया था। शहरी सम्पत्ति की मूल्य वृद्धि को करारोपण के क्षेत्र में लाने का भी प्रस्ताव था। कर वंचन को भी कम करने के प्रश्न पर विचार किया गया था। राजकीय उपक्रमों के सम्बन्ध में यह बात आवश्यक रूप से स्पष्ट की गई थी कि लागतों को नीचा रखना बहुत जरूरी था और कुछ उपक्रमों में मूल्यों को बढ़ाना भी उचित समझा गया था। अधिकांश राजकीय उपक्रमों के लिये यह उचित समझा गया था कि मूल्य इस प्रकार निर्धारित किये जाएँ कि विनियोग की गई पूँजी पर १२% का लाभ प्राप्त हो।

जहाँ तक विदेशी मुद्रा सम्बन्धी स्रोतों का प्रश्न है, ऐसा अनुमान लगाया गया था कि चौथी योजना काल में लगभग ५१०० करोड़ रुपयों की विदेशी मुद्रा निर्यातों से प्राप्त हो सकेगी जबकि P. L. ४८० के अन्तर्गत होने वाले आयातों के अतिरिक्त अन्य आयात लगभग ७२०० करोड़ रुपयों के होंगे। इस प्रकार केवल वस्तुओं के आयातों पर ही २१०० करोड़ रुपयों की विदेशी मुद्रा की कमी पड़ेगी। इसके अतिरिक्त विदेशी ऋणों के मूल धन तथा ब्याज के भुगतान के लिए ११०० करोड़ रुपयों की विदेशी मुद्रा की और आवश्यकता होगी। इस प्रकार विदेशी मुद्रा की कुल कमी ३२०० करोड़ रुपयों के लगभग रहेगी और कम से कम इस राशि तक की विदेशी सहायता की आवश्यकता पड़ेगी। यदि हमें विदेशी सहायता की राशि को कम रखना है तो यह आवश्यक है कि हम अपने निर्यातों के लक्ष्यों को प्राप्त करने के प्रयत्न करें।

पंचवर्षीय योजनाओं की वित्तीय व्यवस्था पर एक दृष्टि—

समय-समय पर दूसरी, तीसरी तथा चौथी योजनाओं की सफलता के विषय पर काफी शंकाए प्रगट की जाती रही हैं। देश के सुविख्यात अर्थशास्त्री श्री बी० आर० शिनोय का दूसरी योजना के सम्बन्ध में विचार था कि राष्ट्रीय आय में प्रतिवर्ष ५% वृद्धि के प्रयत्न सफल नहीं हो सकते।[9] विश्व-बैंक मिशन ने भी योजना को अत्यधिक महत्वाकांक्षी घोषित किया था। इसी प्रकार तीसरी योजना के विषय में भी अनेक शंकाएँ प्रगट की गईं और दूसरी योजना के अन्तिम वर्षों में जो काट-छाँट की गई तथा तीसरी योजना के आरम्भिक वर्षों में जो अनुभव हुए हैं, उन्होंने इन शंकाओं को सत्य सिद्ध कर दिया है। वास्तव में किसी भी योजना की अच्छाई और बुराई प्राप्त हो सकने वाले साधनों की दृष्टि से नहीं आँकी जा सकती, वरन् यह

9. B. R. Shenoy: Note of Dissent to the Memorandum on Basic Considerations relating to the Plan Frame, prepared by the Panel of Economists, Plannin g Commission.

देखना आवश्यक है कि देश की आर्थिक आवश्यकताएँ क्या हैं। मान भी लिया जाए कि योजनाएँ महत्वाकांक्षी रही हैं, इसमें कोई बुराई नहीं है। यदि निर्धारित लक्ष्यों की पूर्ति में सफलता प्राप्त नहीं होती तो इसमें कोई विशेष हानि नहीं होती। हमारे उद्देश्य साहसी होने चाहिए और हमें ऊंचे से ऊँचा लक्ष्य निर्धारित करना चाहिए, तभी हम उन्नति करने की आशा कर सकते हैं। आवश्यकता इस बात की है कि हम चाहे जो भी लक्ष्य निर्धारित करें किन्तु उनको कार्यान्वित करने का ठीक ढग से प्रयास सच्चाई और ईमानदारी से करें। आजकल की संकटकालीन परिस्थिति को देखते हुए तो यह और भी अधिक आवश्यक हो गया है।

प्रथम योजना में चालू आय से प्राप्त होने वाली राशि को ५६८ करोड़ रुपयों पर नियत किया गया था और वास्तव में ५७४·३ करोड़ रुपये प्राप्त हुए थे। इस मद में चालू आय की बचतों और अतिरिक्त करारोपण की राशियों को सम्मिलित किया जाता है। दूसरी योजना में इस मद से ८०० करोड़ रुपये प्राप्त होने की आशा की गई थी जबकि वास्तव में १०५२ करोड़ रुपये प्राप्त हुए थे। तीसरी योजना में इस मद के अन्तर्गत २२६० करोड़ रुपये प्राप्त करने का क्ष्लय निर्धारित किया गया था। इस ओर काफी प्रयत्न भी किये गये हैं और केन्द्रीय सरकार ने तो इस दिशा में गम्भीर प्रयत्न किये हैं। किन्तु हमें अपने प्रयत्नों को और भी अधिक करना होगा क्योंकि देश की सुरक्षा सम्बन्धी प्रश्न दिन प्रति दिन गम्भीर रूप धारण करता जा रहा है। हमें न केवल अतिरिक्त कर ही लागू करने होंगे वरन् अपने कर सम्बन्धी ढांचे का संयुक्तीकरण, ग़ैर योजना व्यय को कम और योजना सम्बन्धी साधनों को अधिकतम करना होगा। चीनी आक्रमण तथा भारत-पाक संघर्ष के कारण यह असम्भव ही है कि चालू आय से ५५० करोड़ रुपयों की प्राप्ति हो सके जैसा कि लक्ष्य निर्धारित किया गया है। इसलिये स्पष्ट ही है की जनता को अधिकाधिक कर-भार सहन करने के लिये तैयार रहना चाहिये।

जहाँ तक रेलों तथा अन्य राजकीय उपक्रमों से प्राप्त होने वाले आधिक्यों का सम्बन्ध है, रेलों ने अभी तक निर्धारित लक्ष्यों के अनुसार अपना योगदान दिया है। पिछले वर्षों में रेलों की दरों तथा किरायों में काफी वृद्धि भी हुई है ताकि वे अपने विकास-सम्बन्धी कार्यक्रमों को स्वयं पूरा कर सकें। पहली तथा दूसरी योजनाओं में अन्य सरकारी उपक्रमों से कोई भी साधन प्राप्त करने का प्रस्ताव नहीं रक्खा गया था। किन्तु तीसरी योजना में यह निश्चित किया गया कि राजकीय उपक्रम बिना लाभ तथा बिना हानि की नीति को छोड़े और विकास सम्बन्धी कार्यक्रमों के लिये अपना अंशदान दें। तभी उनसे ४५० करोड़ रुपये प्राप्त करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया है। किन्तु यह ध्यान रहे कि यह लक्ष्य बहुत ऊंचा है और कभी भी प्राप्त नहीं हो सकेगा।

जहाँ तक ऋणों का सम्बन्ध है पहली योजना में बाजार ऋणों तथा अल्प बचतों, निर्धारित बचतों की अपेक्षा अधिक प्राप्तियाँ हुईं। दूसरी योजना में निर्धारित

लक्ष्य प्राप्त न हो सके। तीसरी योजना में १२० करोड़ रुपये अल्प बचतों से प्रति वर्ष प्राप्त करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया था किन्तु यह लक्ष्य प्राप्त होना असम्भव है। यह ध्यान रहे कि भारत जैसे अर्धविकसित देश के लिये अल्प बचतों का बहुत महत्त्व है और इसलिये यह नितान्त आवश्यक है कि ऐसी योजना चालू की जाए जो जनता को अधिक आकर्षण प्रदान कर सके। सन् १९६२ में जो बचत प्रमाण पत्र चालू किये गये थे वे अधिक आकर्षक थे और इनामी बौंडों की योजना अधिक सफल नहीं हुई। इस लिये यह बहुत जरूरी है कि जो भी योजना चालू की जाए वह बहुत सोच समझ कर की जानी चाहिये।

हीनार्थ प्रबन्धन का सहारा प्रथम योजना के प्रथम दो वर्षों में ही लिया गया था। इसकी राशि ४२० करोड़ रु० थी। यद्यपि प्रथम योजना में उसका प्रभाव मूल्यों पर नहीं पड़ा किन्तु दूसरी योजना में उसके प्रभाव दृष्टिगोचर हुए। दूसरी योजना में १२०० करोड़ रु० की निर्धारित राशि के स्थान पर ९४८ करोड़ रु० का ही हीनार्थ प्रबन्धन हुआ। कदाचित् निर्धारित राशि में कमी इसीलिए की गई क्योंकि मूल्यों में तीव्र वृद्धि होना आरम्भ हो गई थी। सन् १९६०-६१ तक मूल्यों में लगभग ३२·३ प्रतिशत की वृद्धि हो गई थी। सबसे अधिक वृद्धि खाद्य पदार्थों में हुई। यह सच है कि इस वृद्धि में मौसम की प्रतिकूलता का भी हाथ था किन्तु अधिक प्रभाव हीनार्थ प्रबन्धन का ही पड़ा। यहां पर यह बता देना आवश्यक है कि ९४८ करोड़ रु० के हीनार्थ प्रबन्धन के अतिरिक्त रिजर्व बैंक तथा स्टेट बैंक ने जो सरकारी प्रतिभूतियां खरीदीं उनसे भी देश की कुल क्रय-शक्ति में वृद्धि हुई और इस सबका सामूहिक परिणाम यह हुआ कि पिछले तीन वर्षों में मूल्य छलांग मारकर ऊँचे हुए हैं। यद्यपि तीसरी योजना में हीनार्थ प्रबन्धन पर कम जोर दिया गया है किन्तु चीनी आक्रमण से उत्पन्न होने वाली परिस्थितियों से सुरक्षा व्यय में वृद्धि हो जाने के कारण यही आशा है कि हीनार्थ प्रबन्धन निश्चित सीमा से कहीं अधिक किया जाएगा।

हमारी योजनाओं में विदेशी सहायता का एक विशेष स्थान है जो मशीनों तथा अन्य पूँजीगत वस्तुओं, कच्ची सामग्री तथा खाद्यान्न प्राप्त करने के लिए आवश्यक है। यह धन-राशियां अधिकतर भारी पूँजीगत तथा मशीनी उद्योगों के विस्तार के काम में लायी गई हैं ताकि भविष्य में विदेशी सहायता के लिए हमारी आवश्यकतायें धीरे-धीरे कम होती जाएं। पहली योजना में चूँकि कृषि पर अधिक जोर दिया गया था, इसलिए अधिक विदेशी सहायता प्राप्त करना अनुभव नहीं हुआ था। दूसरी योजना में अधिक विदेशी साधनों की आवश्यकता अनुभव हुई। परिणामतया जो विदेशी मुद्रा-कोष योजना के आरम्भ में ७३४ करोड़ रु० थे वे गिरकर योजना के अन्त में १३६ करोड़ रु० रह गए। सरकारी क्षेत्र में ८०० करोड़ रु० विदेशी सहायता के रूप में प्राप्त करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया था किन्तु यह अपर्याप्त रहा और सौभाग्यवश विश्व-बैंक तथा अन्य मित्र देशों ने भारत की सहायता करके स्थिति को बिगड़ने से बचा लिया। तीसरी योजना में भी यही शंका है कि विदेशी सहायता

के सम्बन्ध में निर्धारित लक्ष्य पूरे न हो पाएं। विदेशी सहायता के सम्बन्ध में कई समस्यायें उत्पन्न हो जाती हैं, प्रथम, यह कि इनकी प्राप्तियां निश्चित नहीं कही जा सकतीं। द्वितीय, क्योंकि यह सहायता वर्ष के वर्ष-मिलती है इसलिए योजना के कार्यक्रमों से उसका ताल-मेल करना कठिन हो जाता है और फिर इनका भार भी देश पर बहुत अधिक पड़ता है। तृतीय, क्योंकि ये ऋण विशेष कार्यों तथा परियोजनाओं के लिए प्राप्त होते हैं इसलिए किसी और कार्य में इनको नहीं लगाया जा सकता। भारत को हालांकि इसमें कुछ रियायतें कर दी गई हैं किन्तु स्वयं भारत के लिए विशेष कार्यों से हटकर इधर-उधर खर्च करना उचित नहीं है। अतः हमें भविष्य में ऐसे प्रयत्न करने चाहिए कि हमारे निर्यात बढ़ें और धीरे-धीरे विदेशी सहायता कम हो जाए।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि भारत की पंचवर्षीय योजनाओं की प्रगति के साथ-साथ भारत की जनता को अधिकाधिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है तथा भारत सरकार के लिए अनेकानेक समस्यायें उत्पन्न हुई हैं किन्तु फिर भी सरकार तथा जनता दोनों ही को अनेक महत्वपूर्ण अनुभव प्राप्त हुए हैं जिनकी सहायता से हम यह आशा कर सकते हैं कि भविष्य में उतनी कठिनाइयां उत्पन्न नहीं होंगी जितनी पिछले वर्षों में हुई हैं और यदि होंगी भी तो सरकार में इतनी सामर्थ्य उत्पन्न हो गई है कि वह सरलता से उनको सुलझा सकेगी।

अध्याय ३०

हीनार्थ-प्रबन्धन

(DEFICIT FINANCING)

प्राक्कथन—

आधुनिक काल में हीनार्थ प्रबन्धन, राजकीय वित्त प्रबन्ध का विशेषकर अर्ध-विकसित राष्ट्रों के लिये, जो विकास के पथ पर वर्ष प्रति वर्ष आगे बढ़ने की चेष्टा में लगे हुए हैं, एक महत्वपूर्ण स्रोत बन गया है। वास्तव में हीनार्थ प्रबन्धन का आश्रय विभिन्न देशों में संकटकालीन परिस्थितियों, जैसे, अवसाद, युद्ध आदि को दूर करने के लिये, लिया जाता रहा है। पिछली शताब्दी तक तो वित्त अधिकारियों को इसका अधिक ज्ञान भी नहीं था। धन्य है कैन्स के 'सामान्य सिद्धान्त' को जिसने संसार के सम्मुख इस विचार को प्रस्तुत किया और राजकीय वित्त-व्यवस्था की रूपरेखा को बदल कर रख दिया। इस प्रकार एक व्यावहारिक नीति के रूप में इसका उपयोग सर्वप्रथम महामन्दी काल में (Great Depression of Thirties) में रोजगार तथा उत्पादन के स्तरों को गिरने से रोकने तथा अधिक ऊँचा उठाने के लिये किया गया था। इसके पश्चात् इसका उपयोग दूसरे महायुद्ध काल में उत्पन्न होने वाली परिस्थितियों को दूर करने के लिये किया गया। महामन्दी काल में तो केवल औद्योगिक एवं अधिक उन्नत देशों, जैसे संयुक्त राज्य अमेरिका, ने इस नीति को अस्थायी बेकारी को दूर करने के लिये अपनाया था। दूसरे महायुद्ध काल में इसका आकार और भी बढ़ा और इस नीति का उपयोग युद्ध से प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित होने वाले सभी देशों ने किया था किन्तु आजकल तो इसका उपयोग समस्त अर्ध-विकसित देशों द्वारा अपने आर्थिक विकास के लिए वित्त प्रबन्ध करने के लिए किया जा रहा है। अतः स्पष्ट है कि पिछले चालीस वर्षों में हीनार्थ प्रबन्धन के उपयोग में निरन्तर वृद्धि होती आई है और आज यह एक ऐसे विन्दु पर आकर टिक गया है कि जहाँ से इसकी महत्ता को नष्ट करना सरल नहीं है।

हीनार्थ प्रबन्धन का अर्थ :—हीनार्थ प्रबन्धन वित्त प्रबन्ध की एक ऐसी क्रिया है, जिसके द्वारा सरकार बजट के घाटों को ऋण लेकर अथवा अधिक नोट प्रकाशित करके पूरा करती है। साधारणतया बजट के घाटे उस स्थिति को सूचित करते हैं जबकि कुल राजकीय व्यय, कुल राजकीय आय की अपेक्षा अधिक होता है।

बजट के घाटों के विषय में तीन विचार देखने को मिलते हैं:—प्रथम, 'घाटे का राजकीय ऋण सम्बन्धी विचार' (Public debt concept) ; इस विचारधारा के अनुसार जब सरकार का व्यय, पूँजीगत व्यय को सम्मिलित करके, कुल आय से अधिक हो, और इस घाटे की पूर्ति ऋणों द्वारा की जाये और प्रत्येक वर्ष नये ऋणों की राशि घाटे की राशि के बराबर हो, तो इस विधि को हीनार्थ प्रबन्धन कहते हैं। दूसरी विचारधारा के अनुसार जब सरकार शुद्ध सम्पत्ति में होने वाले ह्रास को पूरा करने अथवा सम्पत्ति में शुद्ध वृद्धि करने के हेतु बजट के घाटों को ऋणों द्वारा पूरा करती है तो उसे हीनार्थ प्रबन्धन कहते हैं। दूसरे शब्दों में चालू आय तथा व्यय का अन्तर शुद्ध ऋणों की मात्रा की वृद्धि के बराबर होगा। इसको घाटे का 'शुद्ध पूँजी विचार' (net worth concept) कहते हैं।

इन दोनों विचारों में बजट के घाटों को ऋणों द्वारा पूरा करने की बात कही गई है। ये विचार पाश्चात्य देशों में प्रचलित थे और आज भी इन्हीं का अनुकरण किया जाता है। भारतवर्ष में हीनार्थ प्रबन्धन का अर्थ इससे भिन्न लिया जाता है। जब सरकार की कर आय, तथा पूँजीगत आय अर्थात् ऋण, दोनों मिलाकर, कुल व्यय और पूँजीगत व्यय को मिलाकर, कम हो और इस कमी को पूरा करने के लिए सरकार रिज़र्व बैंक में जमा अपने नक़द कोषों में से धन निकालती है या रिज़र्व बैंक तथा व्यापारिक बैंकों से ऋण प्राप्त करती है या नये नोट छापती है, तो इसे हीनार्थ प्रबन्धन कहते हैं। इन सब उपायों से चालू मुद्रा की मात्रा में वृद्धि हो जाती हैं। बजट के इस प्रकार के घाटों को 'कुल घाटा' (over-all deficit) कहते हैं। यह विचार दो मूलभूत बातों पर आधारित है:—एक तो यह कि देश के बजट-सम्बन्धी घाटों का अनुमान लगाते समय, केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों के कर-सम्बन्धी तथा पूँजीगत, दोनों बजटों को ध्यान में रखना चाहिये, और दूसरे यह कि हीनार्थ प्रबन्धन से चालू मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि होनी चाहिये। इसीलिये इसको घाटे का 'मुद्रा-पूर्ति का विचार' (money-supply concept) कहते हैं।

भारत में हीनार्थ प्रबन्धन साधारण बजट के घाटों को सूचित नहीं करता। यह उस अवस्था का बोध करता है जबकि सरकार का व्यय, उसकी समस्त आय, अर्थात् करों, सार्वजनिक उद्यमों, जनता द्वारा प्राप्त ऋणों, जमाओं तथा कोषों एवं अन्य स्रोतों से प्राप्त आय से भी अधिक हो जाए। इन घाटों को सरकार के केवल कर-आय सम्बन्धी स्रोत के आधार पर ही नहीं वरन् केन्द्र तथा राज्यों के पूंजीगत साधनों के आधार पर भी आंकना चाहिए। इसके अतिरिक्त यह भी देखना चाहिए कि हीनार्थ प्रबन्धन द्वारा घाटे की पूर्ति करने में कितनी नई तथा अतिरिक्त मुद्रा का सृजन हुआ है। मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि हो जाना हीनार्थ प्रबन्ध का एक आवश्यक परिणाम है।[1] नियोजन आयोग के अनुसार: "हीनार्थ प्रबन्धन" शब्द बजट के घाटों के द्वारा कुल राष्ट्रीय व्यय में प्रत्यक्ष वृद्धि को प्रदर्शित करने के लिये प्रयोग किया जाता है, ये घाटे चाहे आय खाते (revenue account) में हों या पूँजी

1. P. T. Baner : *Indian Economic Policy and Development*, p. 33.

खातों (capital account) में। अतः ऐसी नीति का सार यही है कि सरकार, करों, सरकारी उद्यमों, जनता से प्राप्त ऋण, जमा तथा कोषों तथा अन्य साधनों से प्राप्त आय से अधिक व्यय करती है। इन घाटों की पूर्ति, सरकार या तो अपने संचित कोषों द्वारा या वैंकों से ऋण प्राप्त करके (मुख्यतः केन्द्रीय वैंक से ऋण लेकर और इस प्रकार मुद्रा के निर्माण द्वारा) करती है।[2] व्यवहार में यह ऋण केवल रिजर्व वैंक से ही लिये जाते हैं। रिजर्व वैंक सरकारी प्रतिभूतियों के आधार पर नोटों को प्रकाशित करता है, जो सरकार द्वारा उसे हस्तान्तरित की जाती हैं। इस प्रकार नये नोट चलन में आ जाते हैं और चलन में मुद्रा की कुल मात्रा में वृद्धि हो जाती है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि भारत में पाश्चात्य देशों की अपेक्षा हीनार्थ प्रवन्धन का पूर्णतया भिन्न अर्थ लिया गया है। किन्तु दोनों ही अर्थों में समाज के कुल व्यय में वृद्धि होगी।

हीनार्थ प्रवन्धन के सामान्य उद्देश्य विकसित तथा अर्ध-विकसित देशों में—*हीनार्थ प्रवन्धन का उपयोग सर्वप्रथम औद्योगिक तथा विकसित देशों ने अवसाद काल* में बढ़ती हुई बेकारी को रोकने के लिए किया था। ऐसी स्थिति में इस नीति का उद्देश्य, देश के कुल व्यय में वृद्धि करके, बेकार व्यक्तियों तथा उत्पादक साधनों को उत्पादक कार्यों में लगाना होता है। वस्तुओं तथा सेवाओं की प्रभावयुक्त मांग (effective demand) में वृद्धि होने के कारण कार्य करने योग्य व्यक्ति तथा अन्य साधन काम में लग सकेंगे और व्यक्तियों की आय में वृद्धि होगी। इस वृद्धि के गुणक प्रभावों से समाज की कुल आय तथा व्यय में वृद्धि होगी और रोजगार स्तर तीव्र गति से ऊँचा उठेगा। अतः एक विकसित देश में हीनार्थ प्रवन्धन का उपयोग अस्थायी मन्दी तथा उत्पादन के स्तर में गिरावट होने की स्थिति को रोकने के लिये, उत्पादक क्रियाओं को प्रोत्साहित करने के लिए किया जाता है। ऐसे देशों में उत्पादन को बढ़ाने में कोई कठिनाई नहीं होती, क्योंकि साधन देश में होते ही हैं। अतः ऐसे देशों में समस्या केवल निष्क्रिय बचतों और बेकार तथा कुशल श्रमिकों को उत्पादक उपयोगों में लगाने की होती है और हीनार्थ प्रवन्धन से थोड़े ही समय में उत्पत्ति को बढ़ाना सम्भव हो जाता है।

अर्ध-विकसित तथा विकासशील देशों में हीनार्थ प्रवन्धन के सुपरिणाम इतने शीघ्र ही दृष्टिगोचर नहीं होते। इन देशों की आर्थिक अवस्था उन्नत देशों की अपेक्षा काफी पिछड़ी हुई होती है। यहाँ पर आवश्यक साधन पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध नहीं होते। यहाँ के श्रमिक कुशल नहीं होते और जनसंख्या अधिक होने के कारण बेकार व्यक्तियों की संख्या भी बहुत अधिक होती है। देश कई आत्मनिर्भर क्षेत्रों में विभाजित होता है। कृषि मुख्य व्यवसाय होता है, और बाजारों पर एकाधिकारिक व्यवस्था होती है। इन देशों की समस्या निष्क्रिय बचतों तथा कुशल बेकार श्रमिकों को काम में लगाकर उत्पादन में तुरन्त ही वृद्धि करने की नहीं होती,

2. First Five Year Plan, p. 60.

वरन् एक बड़ी मात्रा में अकुशल श्रमिकों को रोज़गार प्रदान करने के लिये औद्योगिक सामग्री का निर्माण करने की होती है। परिणामस्वरूप हीनार्थ प्रबन्धन द्वारा वस्तुओं तथा सेवाओं के उत्पादन को बढ़ाने में काफी समय लग जाता है और हीनार्थ प्रबन्धित व्यय की अधिक से अधिक मात्रा से भी उत्पादन में तात्कालिक वृद्धि सम्भव नहीं होती। हीनार्थ प्रबन्धन द्वारा साधनों के उपयोग तथा उत्पादन में वृद्धि उसी समय सम्भव है जब कि निष्क्रिय बचतें तथा कुशल श्रमिक दोनों ही प्रचुर मात्रा में हों। ऐसे देशों में तो हीनार्थ प्रबन्धन का उपयोग देश के आर्थिक विकास के लिए ही किया जा सकता है और ऐसा होता भी है। जिस प्रकार औद्योगिक देश अपने बजट के घाटों को ऋण द्वारा पूरा करके निष्क्रिय बचतों को सक्रिय बनाने की चेष्टा करते हैं, उसी रूप में यह नीति पिछड़े हुए देशों के लिए उपयुक्त नहीं होती, क्योंकि ऐसे देशों में बचत की मात्रा बहुत कम होती है, और अधिकतर केन्द्रीय बैंक ही विकास-कार्यक्रमों के लिए आवश्यक वित्त प्रदान करता है। पूर्ण विकसित देशों में, क्योंकि हीनार्थ प्रबन्धन से सामान्य मूल्य-स्तर में वृद्धि होती है इसलिए निश्चित आय वाले व्यक्तियों के रहन-सहन का व्यय बढ़ जाता है, उनको अपने उपभोग में कमी करनी पड़ती है और इस प्रकार वे बचत करने के लिए बाध्य कर दिए जाते हैं। किन्तु अर्ध-विकसित देशों में सरकार द्वारा, हीनार्थ प्रबन्धन से 'बाध्य बचत' के रूप में साधन प्राप्त करने का प्रयत्न अधिक सफल नहीं होगा क्योंकि यहाँ पर जन-संख्या का एक बड़ा भाग ऐसे उद्यमों में लगा होता है जिनसे प्राप्त आय से मनुष्य अपना पेट ही भर सकता है। फलतः उसमें बचत करने की सामर्थ्य नहीं होती। इसके अतिरिक्त अधिकांश जनसंख्या मुद्रा का उपयोग कम ही करती है। फिर, इन देशों में निश्चित आय वाले व्यक्तियों की संख्या बहुत कम होती है और सरकार को विकास के लिए साधनों को स्थानान्तरित करने का अवसर कम ही प्राप्त हो पाता है। हीनार्थ प्रबन्धन द्वारा आय में जो भी वृद्धि होती है उसका अधिकांश भाग उपभोग कार्यों पर ही व्यय हो जाता है और बचतों में अनुपातिक वृद्धि नहीं हो पाती। इस प्रकार स्पष्ट है कि अर्द्ध-विकसित देशों में जिन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए हीनार्थ प्रबन्धन का सहारा लिया जाता है उनकी पूर्ति की सम्भावना कम ही रहती है। इसी कारण अर्द्ध-विकसित देशों में हीनार्थ प्रबन्धन का रूप विकसित देशों से कुछ भिन्न ही होता है।

अर्द्ध-विकसित देशों में हीनार्थ प्रबन्धन का स्वरूप—अर्द्ध-विकसित देशों में हीनार्थ-प्रबन्धन की नीति को अपनाने के सम्बन्ध में कई प्रकार के प्रश्नों पर विचार किया जा सकता है, जैसे, क्या ऐसे देशों में हीनार्थ प्रबन्धन द्वारा देश के साधनों में इस प्रकार वृद्धि करना सम्भव है कि अर्थ-व्यवस्था में आर्थिक विकास की स्वतः स्फूर्त अवस्था प्राप्त हो जाए? क्या निर्धनता के दूषित-चक्र को तोड़ा जा सकता है? क्या इस विधि से साधनों को प्रचुर मात्रा में प्राप्त किया जा सकता है? सारांशतः क्या ऐसे देशों में इस विधि को सफल बनाया जा सकता है? इस प्रश्न का उत्तर देते समय कई बातों को ध्यान में रखना पड़ता है। हीनार्थ प्रबन्धन की

सफलता मुख्यतया इस बात पर निर्भर करती है कि विनियोगों तथा उत्पत्ति के बीच के समय में मुद्रा-स्फीति को किस प्रकार तथा किस सीमा तक दूर रखा जा सकता है। विनियोग तथा उत्पत्ति में वृद्धि के बीच समय का अन्तर जितना कम होगा और उत्पादन के लिए पूंजी की आवश्यकता जितनी कम होगी उतना ही हीनार्थ प्रबन्धन के प्रभाव से उत्पन्न होने वाली मुद्रा-स्फीति के प्रभाव कम होंगे। यदि विकास कार्यक्रमों में प्रारम्भ से ही यह प्रयास किया जाए कि उत्पादन में शीघ्र वृद्धि हो जाए तो मूल्यों की वृद्धि कम होगी और जो कुछ होगी भी वह केवल अस्थायी ही होगी। स्वाभाविक ही है कि विकास के अगले चरणों में आय में वृद्धि हो जाने से न तो हीनार्थ-प्रबन्धन की ही अधिक आवश्यकता होगी और न मूल्य ही अधिक बढ़ेंगे। विकास-कार्यों के लिए उस दशा में ऐच्छिक बचतें भी प्राप्त हो सकेंगी।

आर्थिक विकास में हीनार्थ प्रबन्धन के उचित योग देने की सामर्थ्य उस स्थिति में समाप्त हो जाएगी जबकि घाटे का वित्त (Deficit Finance) मुद्रा-स्फीति के कारण, स्फीतिक वित्त (Inflationary Finance) में परिणत हो जाता है। बढ़ते हुए मूल्यों की स्थिति में लगभग सभी क्षेत्रों में अधिकाधिक विनियोग करने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। परिणामतया राजकीय क्षेत्र में राजकीय आय में वृद्धि करने के लिए साधनों का स्थानान्तरण कठिन हो जाता है। इसका मुख्य कारण यह होता है कि स्वयं निजी-क्षेत्र में पूंजी की मांग बहुत अधिक हो जाती है और राजकीय क्षेत्र के लिए आवश्यक पूंजी प्राप्त नहीं हो पाती। निजि-क्षेत्र और राजकीय क्षेत्र में एक प्रकार की होड़ उत्पन्न हो जाती है जिसके फलस्वरूप उपलब्ध वस्तुओं और सेवाओं के मूल्यों में अत्यधिक वृद्धि होने लगती है जिसका परिणाम यह होता है कि सरकार की वास्तविक आय कम हो जाती है और उसे पहले की अपेक्षा कहीं अधिक बड़े घाटे के बजट बनाने पड़ते हैं। इस प्रकार हीनार्थ प्रबन्धन द्वारा स्थिति सम्भलने के स्थान पर बिगड़ जाती है। स्थिति बिगड़ने का एक कारण यह भी होता है कि मूल्यों में वृद्धि की आशा से व्यक्तियों में वस्तुओं के संचय की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। वे यही सोचते हैं कि वे वस्तुओं को या तो और अधिक मूल्य बढ़ने पर बेचेंगे या 'चोर बाजार' में बेचेंगे। इससे विकास की गति को बहुत धक्का पहुँचता है और साधनों का पूर्ण उपयोग नहीं हो पाता। यदि स्थिति ऐसे ही बिगड़ती चली जाती है तो सरकार मुद्रा-स्फीति को न तो मूल्य-नियन्त्रण द्वारा, न राशनिंग द्वारा ही रोक सकती है।

हीनार्थ-प्रबन्धन की प्रभावशीलता—तो प्रश्न यह उठता है कि सरकार किस प्रकार हीनार्थ-प्रबन्धन की नीति को सफल बना सकती है अर्थात् मूल्यों में वृद्धि किए बिना राजकीय क्षेत्र के लिए साधनों का स्थानान्तरण किस प्रकार किया जाए। इस सम्बन्ध में हमें उन सब बातों का विश्लेषण करना होगा जिनका हीनार्थ-प्रबन्धन द्वारा उत्पन्न मुद्रा-स्फीति पर प्रभाव पड़ता है।

(१) राष्ट्रीय आय में द्रव्य का अनुपात—हीनार्थ प्रबन्धन का अर्थ-व्यवस्था पर कितना प्रभाव पड़ता है यह राष्ट्रीय आय में द्रव्य के अनुपात पर निर्भर होता

है । यह अनुपात जितना ही अधिक होगा, प्रभाव उतना ही कम होगा । यदि किसी देश में द्रव्य-आय का अनुपात अधिक होगा तो हीनार्थ प्रवन्धन के कारण द्रव्य में हुई वृद्धि का प्रचलित मुद्रा के साथ सुगमता से ताल-मेल बैठ जायेगा । किन्तु यदि राष्ट्रीय आय में द्रव्य का अनुपात कम होगा तो हीनार्थ प्रवन्धन के फलस्वरूप द्रव्य में हुई वृद्धि का प्रचलित मुद्रा के साथ ताल-मेल न बैठ पाने के कारण मुद्रा-स्फीति का संकट उत्पन्न हो जाएगा । अर्द्ध-विकसित देशों में राष्ट्रीय आय का १६ से २६ प्रतिशत भाग ही द्रव्य के रूप में होता है । अतः ऐसे देशों में राष्ट्रीय आय में द्रव्य का अनुपात कम होता है । ऐसी दशा में जब सरकार अपना घाटा पूरा करने के लिए केन्द्रीय बैंक से ऋण प्राप्त करके अथवा अपने कोष में कटौती करके वित्त की व्यवस्था करती है तो उससे प्रचलन में द्रव्य की मात्रा बढ़ जाती है और मुद्रा-स्फीति की स्थिति उत्पन्न हो जाती है । इस परिस्थिति में, निजी क्षेत्र अपने पास द्रव्य को संचित करके मुद्रा-स्फीति को रोकने में सहायक हो सकते हैं ।

(२) *साख का उपयोग*—*साख के उपयोग में वृद्धि के अनुपात में ही हीनार्थ-*प्रवन्धन के स्फीतिक प्रभाव में वृद्धि हो जाती है । सरकार द्वारा केन्द्रीय बैंक में ऋण लेने और नकद-कोष में कमी करने के परिणामस्वरूप अर्थ-व्यवस्था में नया द्रव्य आता है जिससे साख में वृद्धि हो जाती है । अर्द्ध-विकसित देशों में साख वृद्धि के कारण हीनार्थ-प्रबन्धन का स्फीतिक प्रभाव कम होता है क्योंकि वहाँ साख का उपयोग कम ही किया जाता है । ऐसे देशों में हीनार्थ प्रबन्धन की सीमायें निर्धारित करने में साख द्रव्य अनुपात का महत्वपूर्ण योग होता है ।

(३) **घाटा-आय अनुपात**—हीनार्थ प्रबन्धन के फलस्वरूप मूल्यों में होने वाली वृद्धि में उतनी ही कमी होगी जितनी कि राष्ट्रीय आय अधिक होगी, अर्थात् राष्ट्रीय आय में 'घाटे' का अनुपात कम होने पर मुद्रा-स्फीति का प्रभाव कम होता है ।

(४) **उपभोग की प्रवृत्ति**—उपभोग की प्रवृत्ति जितनी ही कम होगी, मुद्रा-स्फीति का प्रभाव उतना ही कम होगा और हीनार्थ प्रबन्धन के सफल होने की उतनी ही अधिक आशा होगी । किन्तु यह देशवासियों के जीवन-स्तर और प्रतिव्यक्ति आय पर निर्भर होता है । प्रायः व्यक्तियों की आय में वृद्धि के साथ ही उनकी उपभोग की प्रवृत्ति में वृद्धि हो जाती है । फलस्वरूप सेवाओं और वस्तुओं की मांग बढ़ जाती है और उनके मूल्यों में वृद्धि हो जाती है ।

(५) **उपलब्ध साधन**—देश में यदि ऐसे साधन उपलब्ध हैं जिनका उपयोग नहीं हो रहा है तो द्रव्य के परिमाण में वृद्धि होने पर मूल्य वृद्धि से प्रोत्साहन पाकर उनका उपयोग किया जाएगा जिससे उत्पादन बढ़ेगा और हीनार्थ प्रवन्धन के फलस्वरूप होने वाली मुद्रा-स्फीति का प्रभाव कम हो जाएगा । वस्तुओं की माँग और पूर्ति में सन्तुलन स्थापित हो जाने पर मूल्यों में वृद्धि नहीं होगी ।

(६) **द्रव्य संचय की प्रवृत्ति**—देश में द्रव्य संचय की प्रवृत्ति कम होने पर हीनार्थ प्रबन्धन की सफलता संदिग्ध ही होगी, किन्तु यदि लोगों में द्रव्य संचय की

प्रवृत्ति अधिक है तो हीनार्थ प्रबन्धन से प्रचलन में आया हुआ अतिरिक्त द्रव्य वैयक्तिक नकद-कोषों में चला जाएगा। परिणामतः मुद्रा-स्फीति का भय नहीं होगा और हीनार्थ प्रबन्धन सफल होगा।

(७) **विदेशी भुगतान**—हीनार्थ-प्रबन्धन में प्रायः विदेशी भुगतान का सन्तुलन अनुकूल नहीं रहता। अतः आयात और निर्यात के मूल्यों में सन्तुलन बनाये रखने के लिए कभी-कभी विनिमय-दर में परिवर्तन करना आवश्यक हो जाता है। यदि देश के पास काफी परिमाण में विदेशी मुद्रा है तो हीनार्थ प्रबन्धन का प्रभाव कम हानिकारक होगा।

(८) **राजकीय व्यय की मात्रा तथा स्वरूप**—यदि राजकीय व्यय अधिकांश लोगों की नकद आय में वृद्धि करता है अर्थात् नकद मजदूरी के रूप में दिया जाता है तो उससे वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि होगी और हीनार्थ-प्रबन्धन का वांछित फल नहीं मिल सकेगा। किन्तु यदि राजकीय व्यय का स्वरूप इस प्रकार का है कि सरकार लोगों को दिए गए द्रव्य को अधिकांश कर आदि के रूप में पुनः प्राप्त कर लेती है तो उससे मूल्य-वृद्धि की अधिक आशंका नहीं होती।

हीनार्थ प्रबन्धन द्वारा उत्पन्न मुद्रा-स्फीति के प्रभाव को कम या अधिक करने में उपर्युक्त बातों के अतिरिक्त जनता के सहयोग, सरकारी नियंत्रणों की प्रभावशीलता और भविष्य के प्रति जनता के दृष्टिकोण का भी महत्त्वपूर्ण हाथ होता है। अतः उपर्युक्त सभी बातों को ध्यान में रखकर ही हीनार्थ-प्रबन्धन के सुरक्षित आकार के विषय में उपयुक्त निर्णय लिया जा सकता है और उसे सफल बनाया जा सकता है।

अस्फीतिक हीनार्थ प्रबन्धन—आर्थिक स्थिरता की अवस्था में हीनार्थ प्रबन्धन मुद्रा-स्फीति उत्पन्न किए बिना ही दो प्रकार से उपयोग में लाया जा सकता है। प्रथम, राजकीय क्षेत्र में उत्पन्न होने वाले भुगतानों का घाटा बजट के घाटों के बराबर रखकर और द्वितीय, वैयक्तिक बचतों के उस भाग को जो नकद कोष के रूप में रखा जाता है, प्राप्त करके। प्रथम प्रकार की विधि भारत ने प्रथम योजना काल में अपनायी थी जबकि सरकार ने अपने नकद-कोषों (Cash Balances) द्वारा रिजर्व बैंक से स्टर्लिंग खरीदे थे और राजकीय क्षेत्र में होने वाले आयातों का भुगतान विदेशी मुद्रा में किया था। इस प्रकार नकद-कोष का घाटा (बजट का घाटा) स्टर्लिंग कोष से लिये गए हिस्से (भुगतान का घाटा) के बराबर था। यदि भुगतान का घाटा निजी क्षेत्र में हुआ है तो उसके भुगतान के लिए बैंक पहले ही साख उत्पन्न कर चुके होंगे जिसके परिणामस्वरूप मुद्रा-स्फीति अवश्य ही उत्पन्न होगी। यदि भुगतान का घाटा फसलों के खराब होने अथवा दैवी आपत्तियों के कारण हुआ है तब भी हीनार्थ प्रबन्धन से मुद्रा-स्फीति उत्पन्न होगी। अतः स्पष्ट है कि हीनार्थ प्रबन्धन से मुद्रा-स्फीति केवल उसी समय उत्पन्न नहीं होगी जबकि राजकीय क्षेत्र में उत्पन्न भुगतान के घाटे बजट के घाटे के ठीक बराबर हों। दूसरी प्रकार के हीनार्थ प्रबन्धन की चर्चा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की रिपोर्ट में की गई है।[3] व्यक्ति अपनी आय के कुछ भाग

3. E. M. Bernstein : *Economic Development with stability* 1953, p. 41.

को उपभोग पर, विनियोग पर और कुछ भाग को नकद कोष की वृद्धि पर लगाता है। व्यक्ति द्वारा संचित नकद-कोषों को हीनार्थ-प्रबन्धन द्वारा प्राप्त करके आर्थिक विकास सम्बन्धी कार्यों में लगाया जा सकता है। इस आधार पर कितना हीनार्थ-प्रबन्धन सम्भव है, यह कहना तनिक कठिन ही है। यदि बैंक साख और हीनार्थ-वित्त का योग वास्तविक संचित कोष से अधिक होगा तो मुद्रा-स्फीति अवश्य ही उत्पन्न हो जाएगी।

उपर्युक्त विवरण के आधार पर हम कह सकते हैं कि दीर्घकालीन दृष्टिकोण से अर्द्ध-विकसित देशों के आर्थिक विकास के लिए हीनार्थ-प्रबन्धन वित्तीय प्रबन्ध का एक महत्वपूर्ण स्रोत नहीं बन सकता। इसकी सहायता से एक बड़े पैमाने पर पूंजी निर्माण करना सम्भव नहीं है। यह अर्थ-व्यवस्था पर हानिकारक प्रभाव डालेगा। आर्थिक विकास के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि देश को उन सभी विधियों से बचाया जाए जिनसे मुद्रा-स्फीति उत्पन्न होने की सम्भावना हो। मुद्रा-स्फीति बचत के वास्तविक मूल्यों को कम करके लोगों में यह प्रवृत्ति उत्पन्न कर देती है कि वे अपनी बचतों का बहुमूल्य धातुओं अथवा विदेशी मुद्रा में संचय करें। इससे देश में सट्टेबाजी को प्रोत्साहन मिलता है और देश के आर्थिक विकास के लिए पर्याप्त मात्रा में विनियोग भी उपलब्ध नहीं हो पाते। विकसित देश में, क्योंकि हीनार्थ-प्रबन्धन का उपयोग केवल अस्थायी संकट तथा मन्दी को दूर करने के लिए किया जाता है इस लिए मुद्रा के सृजन के फलस्वरूप विनियोग तथा रोजगार गुणकों की गति तीव्र होने के कारण बिना मुद्रा-स्फीति के उत्पादन में वृद्धि हो जाती है और बिना उपभोग को कम किए पूंजी का निर्माण भी हो जाता है। किन्तु अर्द्ध-विकसित देशों में यह सब सम्भव नहीं है। इन देशों में पूंजी की कमी ही मुख्य समस्या है। इसीलिए तो इन देशों में हीनार्थ-प्रबन्धन से विनियोग और रोजगार में वृद्धि होने के स्थान पर मूल्यों में वृद्धि होती है अर्थात् विनियोग तथा रोजगार गुणक के स्थान पर मूल्य गुणक क्रियाशील हो जाता है। आयातों में वृद्धि होती है और भुगतान सन्तुलन की स्थिति बिगड़ जाती है। प्रभावयुक्त मांग की वृद्धि के साथ-साथ उत्पादन में शीघ्र वृद्धि नहीं होती क्योंकि एक तो ऐसे देशों में उत्पादन तथा पूर्ति बेलोच होते हैं, मुद्रा-स्फीति को नियन्त्रित करने की प्रशासनिक व्यवस्था अकुशल तथा अनुपयुक्त होती है तथा मौद्रिक संस्थाओं और आर्थिक स्थिरता में विश्वास नहीं होता। इन सब का सामूहिक परिणाम यह होता है कि देश में सट्टेबाजी में वृद्धि होती है, बचतें कम होती जाती हैं और उत्पादन की गति धीमी होने लगती है जिसके कारण आर्थिक विकास रुक जाता है।

किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि पिछड़े हुए देशों के लिए हीनार्थ-प्रबन्धन का कोई महत्व ही नहीं है। वास्तव में मूल्यों का धीरे-धीरे बढ़ना आर्थिक विकास के लिए आवश्यक होता है, परन्तु मूल्यों की वार्षिक वृद्धि ब्याज की वर्तमान दर से अधिक नहीं होनी चाहिए। यदि ऐसा होता है तो सट्टेबाजी बढ़ेगी और उत्पादन के साधनों का उपयोग विकास-निमित्त न होकर अन्य कार्यों के लिए होगा।

बजट-घाटों को हीनार्थ-प्रवन्धन द्वारा किस प्रकार पूरा किया जाए ?—हम कह ही चुके हैं कि हीनार्थ-प्रवन्धन का उपयोग देश के वास्तविक साधनों को मूल्य-वृद्धि के बिना निजी-क्षेत्र से राजकीय क्षेत्र को स्थानान्तरित करने के लिए किया जाता है। यह कहाँ तक सफल होगा, कई बातों पर निर्भर होता है। यदि बजट के घाटे विदेशी ऋण द्वारा या विदेशी विनिमय कोष में जमा विदेशी मुद्रा के उपयोग द्वारा पूरे किए गए हैं तो सफलता अवश्य ही प्राप्त होगी। यदि बजट के घाटों को जनता से ऋण प्राप्त करके पूरा किया गया है तो निजी व्यय की कमी तथा व्यापारिक बैंकों के नकद-कोषों की कमी जितनी अधिक होगी उतना ही राजकीय क्षेत्र को अधिक साधन स्थानान्तरित होंगे। किन्तु यदि बजट के घाटों को पूरा करने के लिए सरकार ने केन्द्रीय बैंक से ऋण लिए हैं अथवा कागजी मुद्रा का निर्गमन किया है या सरकार ने अपने नकद कोषों में जमा धन-राशि का उपयोग किया है तो वास्तविक साधनों का स्थानान्तरण कम ही होगा क्योंकि मांग बढ़ने के कारण मूल्य बढ़ जाते हैं और सरकार का व्यय भी बढ़ जाता है। करों की आय में मूल्य-वृद्धि के अनुपात में वृद्धि नहीं होती और बजट के घाटे बढ़ते जाते हैं। परिणामस्वरूप सरकार के नकद-कोषों में कमी होती जाती है और ऋणों की मात्रा बढ़ती जाती है।

उपर्युक्त विधियों में से कौन सी विधि अपनायी जाएगी, यह परिस्थितियों पर निर्भर होगा। अर्ध-विकसित देशों में, जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, हीनार्थ प्रवन्धन के प्रभाव से मूल्यों में वृद्धि होने के कारण न तो बचत ही बढ़ती है और न ही विनियोग प्रोत्साहित होते हैं। परिणामस्वरूप विकास का क्रम टूट जाता है। इसलिए यह आवश्यक है कि हीनार्थ प्रवन्धन के स्थान पर किसी दूसरी विधि का उपयोग किया जाए। ये दूसरी विधियां या तो करारोपण में उचित फेर-बदल करने या राजकीय ऋण सम्बन्धी कार्यक्रम में आवश्यक सुधार करने के सम्बन्ध में ही हो सकती हैं। उनके द्वारा निजी आय तथा व्यय में कमी हो जाती है और वस्तुओं के मूल्य बढ़ने से रुक जाते हैं। निर्यात में भी आवश्यक वृद्धि करके वित्तीय साधनों को बढ़ाया जा सकता है।

भारत में हीनार्थ प्रवन्धन—भारत सरकार समय-समय पर बजट के घाटों की पूर्ति, अस्थायी ऋण प्राप्त करके, व नकद-कोषों का उपयोग करके, विदेशी विनिमय कोष का उपयोग करके तथा केन्द्रीय बैंक से ऋण प्राप्त करके करती रही है। युद्ध और युद्ध के तुरन्त बाद के वर्षों में घाटे की पूर्ति स्थायी ऋण में वृद्धि द्वारा की गई थी। सन् १९४७–५१ के बीच के काल में सरकार ने अपने जमा नकद-कोषों का क़ाफी उपयोग किया। इस काल में सरकार ने अपने जमा नकद-कोषों में से १३६·१५ करोड़ रु० खर्च किए थे। इसी कारण मूल्यों में उतनी वृद्धि नहीं हुई थी जितनी होनी चाहिए थी, और जो कुछ वृद्धि हुई भी उसका कारण निजी क्षेत्र में किया गया व्यय था जिसको रोकने के लिए सरकार ने नवम्बर, सन् १९५१ में नई मौद्रिक नीति अपनायी थी। सन् १९५१ में केन्द्रीय तथा राज्य, दोनों ही सरकारों ने आधिक्य के बजट बनाये थे।

प्रथम योजना-काल में प्रारम्भिक अनुमानों के अनुसार लगभग २९० करोड़ रु० तक का हीनार्थ प्रवन्धन करने का निश्चय किया गया था किन्तु इस धनराशि में बहुत अधिक वृद्धि हुई और कुल ४२० करोड़ रु० का हीनार्थ प्रवन्धन किया गया, जो सम्पूर्ण व्यय राशि का २१% था। प्रथम योजना में कुल २०६९ करोड़ रु० का व्यय किया गया था। इसमें से १,४१४ करोड़ बचतों से, आय आधिक्यों और विदेशी सहायता से प्राप्त किए जाने थे। इस प्रकार ६५५ करोड़ रु० की और व्यवस्था करने के लिए अतिरिक्त करारोपण, ऋण, विदेशी सहायता और हीनार्थ प्रवन्धन से आशा की गई थी। अन्त में, वास्तव में ४२० करोड़ रु० का हीनार्थ प्रवन्धन हुआ था, क्योंकि इस काल में रिज़र्व बैंक के विदेशी आदेयों (Assets) में १३८ करोड़ रु० की कमी हुई थी, इसलिए हीनार्थ प्रवन्धन के मुद्रा-स्फीतिक प्रभाव अधिक दृष्टि-गोचर नहीं हुए। दूसरी ओर उत्पादन में वृद्धि हो जाने के कारण थोक मूल्यों का सूचकाङ्क बढ़ने के स्थान पर गिर गया था।

द्वितीय योजना काल में हीनार्थ प्रवन्धन का और भी सहारा लिया गया था और १,२०० करोड़ रु० की व्यवस्था इस साधन से करने का विचार किया गया जो सम्पूर्ण व्यय-राशि का २५% था। दूसरी योजना के प्रथम दो वर्षों तक तो मुद्रा-स्फीति के कोई विशेप प्रभाव प्रतीत नहीं हुए तथा उसके परिणामों को विदेशी विनिमय कोष में से मुद्रा निकालकर भुगतान सन्तुलन के घाटों को पूरा करके रोका गया। किन्तु अन्त में यह कोष भी समाप्त हो गया। यद्यपि प्रथम दो वर्षों में ७०० करोड़ रु० का हीनार्थ प्रवन्धन हो चुका था, परन्तु ऊपर बताये गये कारणों के फल-स्वरूप मुद्रा-स्फीति ने अधिक भीषण रूप धारण नहीं किया और बाद के दो वर्षों में केवल २४८ करोड़ रु० का ही हीनार्थ प्रवन्धन हुआ फिर भी मूल्यों में बहुत काफी वृद्धि हुई। दूसरी योजनाकाल में मूल्यों की मुद्रा-स्फीतिक वृद्धि को रोकने के लिए नये-नये प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष कर लगाये गये। यद्यपि प्रारम्भिक वर्षो में बजटों के घाटे बहुत अधिक थे, बाद के वर्षों में बजट के घाटों को कम किया गया और कुल बजट के घाटे पांच वर्षों में ९४८ करोड़ रु० के थे। यद्यपि रिज़र्व बैंक के विदेशी आदेयों में, इन पाँच वर्षों में, ६१० करोड़ रु० की कमी हुई थी फिर भी मुद्रा-स्फीति को नियन्त्रित नहीं किया जा सका। इस प्रकार दूसरी योजना के अन्त तक मूल्यों में बहुत ऊँचा बढ़ने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो गई थी।

मूल्यों को अत्यधिक वृद्धि के कारण और विदेशी विनिमय कोष में अधिक धन न उत्पन्न होने के कारण तृतीय योजना-काल में हीनार्थ प्रवन्धन की सीमा ५५० करोड़ रु० निश्चित की गई थी।

किन्तु यह आशा विफल ही हुई। योजना के पहले तीन वर्षों में क्रमश: १६८ करोड़ रुपयों, १७१ करोड़ रुपयों और २४१ करोड़ रुपयों का हीनार्थ-प्रवन्धन हुआ था। इस प्रकार इन तीन वर्षों में कुल ५८० करोड़ रुपयों का हीनार्थ प्रवन्धन हुआ था। यदि हम अन्तिम दो वर्षों में हीनार्थ प्रवन्धन की औसत राशि को ४०० करोड़ रुपये नियत कर दें तो तीसरी योजना-काल में कुल हीनार्थ-प्रवन्धन लगभग १०००

करोड़ रुपयों का होगा ।

बढ़ते हुए मूल्यों तथा वेतनों तथा मजदूरियों में वृद्धि करने की निरन्तर बढ़ती हुई माँग को देखते हुऐ अब और अधिक हीनार्थ प्रबन्धन करने की गुंजाइश नजर नहीं आती । अभी तक की स्थिति तो यह रही है कि पहली दो योजनाओं में हमने अपनी आयातों का भुगतान पौंड पावनों की सहायता से किया था किन्तु अब यह सहारा भी खत्म हो चुका है और इसलिए जहाँ तक हो सके हमको हीनार्थ-प्रबन्धन का उपयोग कम ही करना चाहिये । हाँ यदि हम अपने खाद्य उत्पादन में काफी वृद्धि कर सकें और खाद्य मूल्यों में नीचे गिरने की प्रवृत्ति उत्पन्न कर सकें तो हीनार्थ प्रबन्धन का उपयोग करने में कोई हानि नहीं होगी किन्तु यह ध्यान रहे कि ऐसा होना सम्भव नहीं है । इसलिये हमारे देश के नियोजन अधिकारियों को वास्तविकता का दृष्टिकोण अपनाना चाहिये । यदि वे चौथी योजना की रूपरेखा तैयार करने में वास्तविकता को सामने नहीं रक्खेंगे तो देश की आर्थिक स्थिति एक ऐसे निम्न स्तर पर पहुँच जाएगी कि जहाँ से उसको निकालना सम्भव नहीं हो सकेगा ।

अध्याय ३१

बजट-नीति—सैद्धांतिक विवेचना

(THE BUDGETARY POLICY—A THEORETICAL ANALYSIS)

प्राक्कथन—

किसी भी देश की आर्थिक क्रियाओं की दिशा को निर्धारित करने में सरकार की बजट-नीति का प्रमुख हाथ होता है। बजट-नीति से हमारा अभिप्राय सरकार की आय, व्यय तथा ऋण-सम्बन्धी नीतियों से है। इसको राजकोषीय नीति भी कहते हैं। बजट-नीति से देश में वस्तुओं अथवा सेवाओं की कुल मांग प्रभावित होती है और उसी पर देश में आय का स्तर, विनियोगों की मात्रा तथा रोजगार का स्तर निर्भर होते हैं। सरकार अपनी बजट-नीति में तनिक-सा परिवर्तन करके सम्पूर्ण देश की आय, व्यय और रोजगार में निश्चित उद्देश्यों के अनुसार परिवर्तन कर सकती है। यह बात आजकल लगभग सभी अर्थशास्त्रियों द्वारा स्वीकार कर ली गई है। पुराने अर्थशास्त्रियों का केवल यही विश्वास था कि सरकार को संकट-कालीन परिस्थितियों को दूर करने के लिए ही राजकोषीय नीति को अपनाना चाहिये, किन्तु ये लोग इस बात से अनभिज्ञ थे कि राजकोषीय नीति द्वारा सम्पूर्ण आर्थिक नीति की रूपरेखा को बदला जा सकता है। यह तो केवल कीन्स की पुस्तक 'सामान्य सिद्धान्त' के प्रकाशन के बाद ही लोगों को ज्ञात हुआ कि राजकोपीय नीति प्रत्येक अवस्था में प्रभावशील सिद्ध हो सकती है। कीन्स ने स्पष्ट रूप से यह सिद्ध कर दिया कि किसी भी देश की राष्ट्रीय आय उस देश की आर्थिक क्रियाओं की अवस्था का प्रतिनिधित्व करती है और राजकोषीय नीति द्वारा देश की आर्थिक क्रियाओं में मन चाहे ढंग से परिवर्तन किया जा सकता है। तभी से सरकार की बजट-नीति को आर्थिक व्यवस्था के एक अस्त्र के रूप में स्वीकार किया जाने लगा है।

राजकोषीय नीति देश में कुल व्यय को दो प्रकार से प्रभावित कर सकती है—प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष। प्रथम रूप में सरकार या तो अपने व्यय को कम करके या बढ़ाकर या करारोपण द्वारा निजी व्यय को कम करके या बढ़ाकर देश में कुल व्यय की मात्रा को कम या अधिक कर सकती है। राजकीय व्यय में वृद्धि होने से

समाज के कुल व्यय में वृद्धि की जा सकती है बशर्ते कि करारोपण द्वारा निजी व्यय को कम करने का प्रयत्न नहीं किया गया हो। करारोपण को कम करके भी कुल औसत व्यय में वृद्धि की जा सकती है, क्योंकि व्यक्तियों और फर्मों के पास व्यय करने के लिये अधिक धन बच रहेगा। इस प्रकार सरकार अपनी आय तथा विनियोगों के परिवर्तन द्वारा कुल व्यय को प्रभावित कर सकती है। अतः स्पष्ट है कि सरकार की बजट सम्बन्धी कार्यवाहियों से कुल व्यय में उत्पन्न होने वाले प्रत्यक्ष परिवर्तनों के द्वितीय गुणक प्रभाव होते हैं और कुल औसत माँग में उससे कहीं अधिक गुने परिवर्तन हो जाते हैं, यद्यपि प्राथमिक परिवर्तन इस बात पर निर्भर करेंगे कि आय गुणक (Income multiplier) का आकार क्या है। अप्रत्यक्ष रूप में सरकार निजी उपभोग तथा विनियोगों को प्रोत्साहित या हतोत्साहित करके कुल व्यय को प्रभावित कर सकती है। उपभोग तथा विनियोग सरकार की करारोपण तथा व्यय नीति द्वारा प्रभावित होते हैं। कुछ विशेष करों की दरों में वृद्धि होने से निजी व्यक्तियों का उपभोग अथवा विनियोग हतोत्साहित अथवा प्रोत्साहित हो सकते हैं। इसी प्रकार से राजकीय व्यय की कुछ मदों में हेर-फेर द्वारा निजी उपभोग तथा विनियोग सम्बन्धी क्रियाओं को प्रभावित किया जा सकता है। कभी-कभी सरकार बजट-नीति द्वारा अर्थ-व्यवस्था के कुछ क्षेत्रों में परिवर्तन उत्पन्न कर सकती है और इन सब बातों के तनिक से परिवर्तन कुल औसत माँग में अनुपात से कई गुने अधिक परिवर्तन उत्पन्न कर देते हैं।

राजकोषीय-नीति में परिवर्तन करने का अभिप्राय यह होता है कि सरकार या तो बजट के सन्तुलन में परिवर्तन करती है या व्यक्तिगत करों की दरों में परिवर्तन करती है या व्यय की मदों में हेर-फेर करती है ताकि जो भी उद्देश्य उसके सम्मुख हों, उनकी पूर्ति हो जाए। कभी-कभी सरकार अपनी बजट-स्थिति में परिवर्तन इस लिए करती है कि अर्थ-व्यवस्था में उत्पन्न होने वाली दूषित परिस्थितियाँ सुधर जाएँ। किन्तु ऐसा बहुत ही कम होता है कि बजट-नीति में स्वयं ही उत्पन्न होने वाले परिवर्तन अर्थ-व्यवस्था में स्थायित्व उत्पन्न कर सकें और इसीलिए सरकार के लिए कभी-कभी यह आवश्यक हो जाता है कि वह तत्परता से कार्य करे और आर्थिक क्रियाओं को वांछित वास्तविक स्तर पर ला सके।

संतुलित बजट—किसी भी वर्ष में यदि बजट को संतुलित रखा जाता है तो उससे कुल व्यय में और इस प्रकार आर्थिक क्रियाओं में नाम मात्र को ही प्रभाव उत्पन्न किया जा सकता है। यदि सरकार अपने बजटों को निरन्तर सन्तुलित रखने की नीति अपनाती है तो उससे देश की सम्पूर्ण आर्थिक स्थिति में बहुत कम परिवर्तन हो सकेंगे, क्योंकि सरकार केवल उतना ही धन खर्च करती है जो कि वह व्यक्तियों से प्राप्त करती है और जिसे व्यक्ति स्वयं ही खर्च करते यदि सरकार उसे न ले लेती। किन्तु जब राजकोषीय नीति का उद्देश्य आर्थिक क्रियाओं को नियन्त्रित करना होता है तो सरकार या तो घाटे के बजट बनाती है या आधिक्य के। घाटे के बजट यह सूचित करते हैं कि समाज का कुल व्यय एक ऊँचे स्तर पर है। सरकारी व्यय तथा कर-आय में जो अन्तर होता है, वह कुल व्यय को बढ़ाता है और उसका बहुत

अधिक गुणक प्रभाव होता है। इस प्रकार घाटे के बजट राष्ट्रीय आय में वृद्धि करते हैं और कुल मांग में वृद्धि करके देश में आर्थिक क्रियाओं के स्तर को ऊँचा करते हैं, ठीक इसके विपरीत आधिक्य के बजटों की स्थिति में होता है। जब सरकार की आय उसके व्यय से अधिक होती है तो उसका अभिप्राय यह है कि सरकार समाज द्वारा किए जाने वाले कुल व्यय के एक भाग को अपने पास रख लेती है और इस प्रकार उसके गुणक प्रभाव में राष्ट्रीय आय तथा कुल मांग में कमी हो जाती है। स्पष्ट ही है कि देश में आर्थिक क्रियाओं का स्तर भी ऐसी दशा में गिर जाएगा। इसलिए आधिक्य बजट केवल उसी दशा में बनाये जाते हैं जबकि सरकार का उद्देश्य आर्थिक क्रियाओं के स्तर को गिराना होता है, जैसे, भीषण मुद्रा-स्फीति की स्थिति में।

घाटे के बजट सरकार या तो अपने व्यय को बढ़ाकर या अपनी कर-आय को कम करके या दोनों रीतियों द्वारा बना सकती है। ऊपर से देखने पर सरकार के व्यय में वृद्धि होने और कर-आय में कमी होने का एक-सा ही प्रभाव होता है अर्थात् दोनों ही रीतियों से समाज के कुल व्यय में वृद्धि होती है और इन दोनों रीतियों में कोई विशेष अन्तर दिखाई नहीं देता। किन्तु ये दोनों उपाय कभी-कभी विभिन्न ढंगों से अपनाये जाते हैं और इनके भिन्न-भिन्न प्रभाव होते हैं। राजकीय व्यय की वृद्धि कुल व्यय को अधिक तेजी से प्रभावित करती है, अपेक्षाकृत कर-आय की कमी के, क्योंकि राजकीय व्यय द्वारा व्यक्तियों के हाथों में क्रय-शक्ति तुरन्त ही पहुँच जाती है जिसको वे अपनी उपभोग सम्बन्धी आवश्यकताओं पर खर्च कर देते हैं। बेकार व्यक्ति काम में लग जाने के कारण, पहले की अपेक्षा अधिक खर्च करने में समर्थ हो जाते हैं। इसी प्रकार जब सरकार निजी व्यवसायियों द्वारा उत्पादित वस्तुओं को खरीद कर अपने व्यय में वृद्धि करती है तो निजी उत्पादकों को अपने उत्पादन में वृद्धि करने के लिए प्रोत्साहन मिलता है, अधिक श्रमिकों को काम मिलता है और ये प्राप्त होने वाली अतिरिक्त क्रय-शक्ति को खर्च करने लगते हैं। करों में कमी होने से व्यक्तियों के पास अधिक धन रह जाता है और वे उसकी बचत करने लगते हैं, जिसका अभिप्राय यह हुआ कि वे पहले की अपेक्षा कम खर्च करने के लिए लालायित होंगे। किन्तु कर में कमी होने का एक प्रभाव यह भी हो सकता है कि व्यापारी वर्ग बचे हुए धन को विनियोगों में लगा दें और इस प्रकार देश में कुल विनियोगों की मात्रा में वृद्धि हो जाए। यह ध्यान रहे कि राजकीय व्यय में शीघ्र वृद्धि उसी समय हो सकती है जबकि ऐसे व्यय के लिए परियोजनाएँ पूर्ण रूप से तैयार हों और यह एक नियोजित अर्थ-व्यवस्था में ही सम्भव हो सकता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि सरकार दोनों ही रीतियों को अपना सकती है किन्तु इस विषय में सरकार को बड़ा सोच-समझकर काम करने की आवश्यकता होती है।

कभी-कभी सरकार कुल व्यय को इस प्रकार भी प्रभावित कर सकती है कि वह अपने व्यय में जो भी वृद्धि करे उसको अतिरिक्त करारोपण द्वारा पूरा करले। इस रीति से निजी व्यय में कमी किए बिना ही सरकार करारोपण से अतिरिक्त आय प्राप्त

कर सकती है। यह सम्भव है कि व्यक्ति अपने नए कर देयों को अपनी बचतों द्वारा पूरा करें या अपनी निष्क्रिय बचतों को सक्रिय बनायें। इस प्रकार सरकार व्यक्तियों से धनराशि के उस भाग को ले लेती है जो कि व्यक्ति स्वयं खर्च नहीं करते और व्यक्तियों से प्राप्त किए हुए इस धन को स्वयं खर्च करके समाज के कुल व्यय में वृद्धि कर देती है। इस प्रकार सरकार बजट के आकार में परिवर्तन किये बिना ही या ऋण प्राप्त किए बिना ही आर्थिक क्रियाओं में परिवर्तन उत्पन्न कर सकती है। किन्तु ऐसी नीति की कुछ अपनी ही सीमाएँ होती हैं। प्रथम, करारोपण तथा राजकीय व्यय में इस उद्देश्य से किये जाने वाले परिवर्तन से कुल राष्ट्रीय आय में बहुत अधिक परिवर्तन हो जाए यह तनिक असम्भव-सा प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त नये करों को एकत्रित करने तथा लागू करने में अनेक राजनीतिक तथा प्रशासनिक कठिनाइयाँ उत्पन्न हो सकती हैं और इससे निजी विनियोगों पर बुरा प्रभाव भी पड़ सकता है। अन्त में, यह भी सम्भव है कि सभी परियोजनायें तुरन्त ही व्यय के लिए तैयार न हों। अतः बिना घाटे के राजकीय व्यय को बढ़ाने की नीति व्यावहारिक प्रतीत नहीं होती।

हम पहले ही कह चुके हैं कि आधिक्य के बजटों का प्रयोग केवल मुद्रा-स्फीति के काल में ही किया जा सकता है। करारोपण में परिवर्तन किये बिना ही राजकीय व्यय में कमी होने से कुल व्यय में प्रत्यक्ष रूप से कमी हो जाती है और यह सरकार बिना किसी कठिनाई से कर सकती है। किन्तु राजकीय व्यय को बढ़ाये बिना ही करारोपण में वृद्धि करने की नीति तनिक कठिन प्रतीत होती है। ऐसी नीति में राजनीतिक बाधाएँ उत्पन्न होती हैं और प्रशासनिक कठिनाइयाँ भी सामने आती हैं जिनको दूर करना सरल नहीं होता। करारोपण की वृद्धि केवल मुद्रा-स्फीति काल में ही उपयोगी सिद्ध होती है। युद्ध के समय राजकीय व्यय को बढ़ाना ही पड़ता है और नियोजन काल में भी ऐसा ही करना पड़ता है। इन परिस्थितियों में उत्पन्न होने वाली मुद्रा-स्फीति को व्यय पर प्रतिबन्ध लगा कर नियन्त्रित नहीं किया जा सकता और अधिक से अधिक यह किया जा सकता है कि सरकार अपने अनावश्यक व्यय को कम कर दे। ऐसी परिस्थितियों में आधिक्य के बजटों की कोई सम्भावना ही नहीं होती है। इसलिए सरकार को अपनी कर-आय को बढ़ाकर ही स्थिति को काबू में करना होता है। अन्य परिस्थितियों में जबकि सरकार के लिए अपने व्यय में बहुत अधिक कमी करना सम्भव नहीं होता तो वह कुछ कमी अपने व्यय में कर सकती है और कुछ कर-आय में वृद्धि कर सकती है। इस प्रकार स्पष्ट है कि सरकार के लिए राजकोषीय नीति द्वारा आर्थिक क्रियाओं को तीव्र करना अधिक सरल होता है, अपेक्षाकृत आर्थिक क्रियाओं को मन्द करना।

कभी-कभी सरकार व्यक्तिगत करों में हेर-फेर करके आर्थिक क्रियाओं को नियन्त्रित करने का प्रयास कर सकती है। प्रत्येक कर उपभोग तथा विनिमय पर अपना-अपना प्रभाव डालता है और कर विशेष से जो प्राप्तियाँ होती हैं तथा कर ढांचे की जो रूपरेखा होती है उसमें निश्चित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए परिवर्तन किए जा सकते हैं। कुछ कर ऐसे होते हैं जिनमें कुल मौद्रिक-आय में परिवर्तन होने

के साथ-साथ अपने आप परिवर्तन हो जाते हैं और इनके प्रभाव में आर्थिक क्रियाओं में भी परिवर्तन हो जाते हैं। कर-प्रणाली की स्वचालकता कुछ परिस्थितियों में बड़ी ही उपयोगी सिद्ध होती है। राष्ट्रीय मौद्रिक-आय के कम होने की स्थिति में राजकीय आय में कमी होना स्वाभाविक ही है और इस प्रकार गिरती हुई आय अपना प्रभाव उत्पन्न नहीं कर पाती। ठीक इसका विपरीत उस समय होता है जब कि राष्ट्रीय आय की प्रवृत्ति ऊपर की ओर चढ़ने की होती है। आय-कर सब से अधिक स्वचालित स्थायित्व उत्पन्न करने वाला कर होता है। कारपोरेशन-कर में स्थायित्व उत्पन्न करने की क्षमता कम होती है और व्यय कर में उससे कम। सामाजिक सुरक्षा-सम्बन्धी योगदानों में भी यह क्षमता होती है कि वे स्वचालित स्थायित्व उत्पन्न कर सकें। जहाँ तक अप्रत्यक्ष-करों का सम्बन्ध है, उनके प्रभाव अलग-अलग होते हैं। अधिक लोचदार माँग वाली वस्तुओं पर लगे हुए कर इस दिशा में काफी प्रभावशील होते हैं, किन्तु इनके प्रभाव काफी धीमे होते हैं क्योंकि वे थोक व्यापारी, फुटकर व्यापारी इत्यादि कई स्रोतों से एकत्रित किये जाते हैं। विनियोगों पर लगने वाले करों में स्वचालकता बहुत कम होती है। किन्तु कर प्रणाली के स्वचालित लचीलेपन के लाभ सीमित ही होते हैं। यह आर्थिक क्रियाओं में उत्पन्न होने वाले छोटे-छोटे परिवर्तनों को ही दूर कर सकता है, बड़े-बड़े तथा तीव्र और निरन्तर बढ़ने वाली मुद्रा-स्फीति तथा मुद्रासंकुचन की स्थिति को नियन्त्रित करने में सफल नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में सरकार को सोच-समझकर ही नीति निर्मित करनी पड़ती है और कर-प्रणाली में वांछित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए हेर-फेर करनी पड़ती है। आय-कर इस सम्बन्ध में भी बहुत उपयोगी सिद्ध होता है। किन्तु तभी जबकि एक बहुत बड़ी संख्या में विभिन्न आय वाले वर्ग कर-क्षेत्र के अन्तर्गत हों। विनियोग तथा उपभोग पर व्यय-कर, अप्रत्यक्ष-कर, पूँजी-कर और सामाजिक सुरक्षा सम्बन्धी योगदानों का भी वांछित दिशाओं में प्रभाव उत्पन्न किया जा सकता है।

कभी-कभी सरकार राजकीय व्यय के परिवर्तनों द्वारा भी आर्थिक क्रियाओं के स्तर को प्रभावित कर सकती है, विशेषकर आजकल जबकि राजकीय व्यय का क्षेत्र इतना विस्तृत हो चुका है। करों की भाँति सरकारी व्यय की कुछ मदें ऐसी होती है जो काफी अंश तक स्वचालित होती हैं, उदाहरणार्थ, राजकीय व्यापार संस्थाएँ जो मूल्यों को स्थायी बनाने के सम्बन्ध में निजी संस्थाओं की भाँति ही कार्य कर सकती है अर्थात् मूल्यों के बढ़ने की स्थिति में प्रत्यक्ष रूप से सहायता देकर नीचे मूल्यों पर वस्तुओं को बेच सकती हैं और मूल्यों के नीचे गिरने की स्थिति में वस्तुओं को खरीदकर मूल्यों को अधिक नीचे गिरने से रोक सकती हैं। इसी प्रकार सामाजिक सुरक्षा सम्बन्धी व्यय भी काफी लचीला होता है। अवसाद काल में बेकारी भत्ते देकर सरकार समाज की कुल व्यय-शक्ति में वृद्धि कर सकती है और समृद्धि-काल में ऐसे भत्तों को बन्द करके समाज के व्यय को कम कर सकती है। राजकीय व्यय में स्वयं भी उत्पन्न हो जाने वाले परिवर्तनों द्वारा केवल आर्थिक क्रियाओं में उत्पन्न होने वाले छोटे-छोटे परिवर्तनों को ही ठीक किया जा सकता है किन्तु अधिक गम्भीर

समस्याओं के लिए और अर्थ-व्यवस्था में दीर्घकालीन प्रवृत्तियां उत्पन्न करने के लिए यह आवश्यक है कि सरकार निश्चित रूप से तथा नियोजित ढंग से कार्य करे और सावधानी से चुने हुए कार्यक्रमों की पूर्ति के लिए राजकीय व्यय में सचेत होकर फेर-बदल करे। हम पहले ही कह चुके हैं कि राजकीय व्यय अर्थ-व्यवस्था में फैलाव तथा विस्तार की प्रवृत्तियाँ उत्पन्न करता है और ये प्रवृत्तियाँ साधारणतया अर्थ-व्यवस्था के लगभग प्रत्येक क्षेत्र में उत्पन्न हो सकती हैं किन्तु यदि सरकार चाहे तो कुछ चुने हुए क्षेत्रों को भी प्रभावित कर सकती है। इसके अतिरिक्त यह भी ध्यान रहे कि सरकार आर्थिक क्रियाओं का नियन्त्रण अपने व्यय में परिवर्तन करके अधिक अच्छी प्रकार कर सकती है अपेक्षाकृत निजी-क्षेत्र प्रभावित करने के। इसलिए यह आवश्यक है कि सरकार अपने व्यय तथा विनियोगों की दिशाओं का निर्धारण खूब सोच-समझ कर करे। इस दृष्टि से सरकार सामाजिक कल्याण सम्बन्धी कार्यक्रमों को हाथ में ले सकती है, नये राजकीय उद्यमों को स्थापित कर सकती है और पुराने उद्यमों का पुनर्संगठन कर सकती है। साथ ही नदी घाटी जैसी परियोजनाओं को हाथ में ले सकती है।

राजकोषीय नीति की सीमाएं—यहाँ पर यह बता देना अनुपयुक्त न होगा कि राजकोषीय नीति की प्रभावोत्पादकता असीमित नहीं है। वास्तव में राजकोषीय नीति उसी समय प्रभावयुक्त सिद्ध हो सकती है जबकि किए गए उपायों का आकार तथा समय उचित हो। हम सभी इस बात से अवगत हैं कि राष्ट्रीय आय सरकारों द्वारा किए गए व्यय तथा आय पर निर्भर करती है। सरकारों के लिए यह पता लगाना कि समय विशेष में उपस्थित परिस्थितियों के अनुसार व्यय तथा विनियोग की राशि क्या हो या कितनी आय प्राप्त की जाए, सरल नहीं होता। सरकारों में इतनी दूरदर्शिता भी नहीं हो सकती कि वे यह पता लगा सकें कि अर्थ-व्यवस्था में कब अवसाद की स्थिति उत्पन्न होगी और कब समृद्धि की। इसके अतिरिक्त राज-नीतिक तथा प्रशासनिक विलम्ब के कारण, हो सकता है कि समय पर सोचे गए उपाय कार्यान्वित नहीं किये जा सकें। यह भी सम्भव है कि कुछ ऐसे उपाय करने का निश्चय किया जाए जिनके प्रभाव उत्पन्न करने में कुछ अधिक समय लग जाए। राजकोषीय उपायों के वास्तविक प्रभाव इस बात पर भी निर्भर होते हैं कि आय का पुनर्वितरण किस प्रकार हुआ है तथा उसके क्या परिणाम हैं। यदि आय की अतिरिक्त वृद्धियाँ केवल उन्हीं वर्गों की आय में हुई हैं जिनमें बचत करने की आदत है तो समाज की कुल मांग में वृद्धि होने की सम्भावना कम ही होगी। इसी प्रकार यदि वृद्धि उन वर्गों की आय में अधिक होती है जो अपनी आय के अधिकांश भाग को खर्च कर देने में विश्वास करते हैं तो राजकोषीय उपायों का प्रभाव अधिक तीव्रता से उत्पन्न होगा।

कभी-कभी सरकार की कर-नीति भी सरकार द्वारा समाज के कुल व्यय में वृद्धि करने के लिए किए गए प्रयत्नों में बाधक सिद्ध हो सकती है क्योंकि एक ओर तो सरकार समाज के कुल व्यय को बढ़ाने के लिए अपने व्यय में वृद्धि कर रही होती है

और दूसरी ओर समाज की अतिरिक्त आय के एक भाग को परिवर्तित कर-नीति द्वारा वापस ले रही होती है। परिणामतया समाज की कुल आय में वृद्धि होने से कुल व्यय में जो वृद्धि होती, वह नहीं हो पाती। इसके अतिरिक्त व्यापार सन्तुलन में किए जाने वाले परिवर्तनों से भी राजकोषीय नीति के सत्प्रभावों को रोका जा सकता है। यदि सरकारी व्यय में वृद्धि होने के साथ-साथ आयातों में वृद्धि हो जाती है और निर्यातों में कमी तो राजकीय व्यय की वृद्धि से वांछित फल प्राप्त नहीं हो पाएगा, क्योंकि समाज की बढ़ी हुई आय अधिक आयात के कारण विदेशों को चली जाएगी। उसका ठीक विपरीत उस स्थिति में होगा जब कि सरकार समाज के व्यय को कम करने के लिए अपने व्यय में कमी करती है और व्यक्ति देश के निर्यात में वृद्धि करके अधिक आय प्राप्त करने और उसको खर्च करने की चेष्टा करते हैं। राजकोषीय नीति का वांछित प्रभाव इस बात पर भी निर्भर होगा कि व्यक्ति सरकार को किस अंश तक अपना सहयोग देने के लिए तैयार हैं। अर्थात् यदि आय की वृद्धि के साथ-साथ व्यक्तियों में काम करने की इच्छा पूर्ववत् ही रहती है तो राजकोषीय नीति का उद्देश्य प्राप्त हो जाएगा किन्तु यदि सरकार मुद्रा-स्फीति को रोकना चाहती है और व्यक्ति अधिक काम करके और अधिक आय प्राप्त करना चाहते हैं या सरकार मुद्रा-संकुचन के प्रभावों को रोकना चाहती है और व्यक्ति काम करना नहीं चाहते या अपनी आय को खर्च करना नहीं चाहते तो राजकोषीय नीति सफल नहीं होगी। अन्त में राजकीय व्यय नीति का सम्पूर्ण प्रभाव राष्ट्रीय मौद्रिक आय पर उस समय तक उत्पन्न नहीं होगा जब तक कि निजी विनियोग भी सरकार द्वारा प्रदर्शित दिशा में नहीं होते। कहने का अभिप्राय यह है कि यदि सरकार ऋणों द्वारा राजकीय विनियोग के कार्यक्रम को पूरा करती है और नये विनियोगों को उन्हीं उद्योगों में करती है जिन्हें निजी-क्षेत्र अपना कार्यक्षेत्र समझता है तो इस प्रतियोगिता से निजी विनियोगों की राशि कम हो जाएगी। यही नहीं वरन् सरकार द्वारा ऋण प्राप्त करने की नीति से सूद की दर बढ़ जाएगी और निजी विनियोग हतोत्साहित होंगे। ठीक ऐसा ही उस समय होता है जबकि सरकार हीनार्थ प्रबन्धन द्वारा अपने विनियोगों को बढ़ाने की चेष्टा करती है और जब व्यक्तियों में यह अफवाह फैल जाती है कि सरकार का दिवाला निकल गया है जिसके परिणामस्वरूप निजी क्षेत्र के व्यवसायी अपने विनियोगों को कम करने लगते हैं।

बजट-नीति तथा रोजगार—

हम अभी कह चुके हैं कि अर्थ-व्यवस्था में दीर्घकालीन परिवर्तन उत्पन्न करने के लिए तथा आर्थिक क्रियाओं की गम्भीर समस्याओं को दूर करने के लिए राजकीय व्यय तथा करारोपण सम्बन्धी नीतियों को निर्मित करना होता है ताकि निजी व्यय सम्बन्धी परिवर्तनों के प्रभावों को दूर किया जा सके। व्यापार चक्रीय प्रभावों को रोकने के लिए राजकोषीय नीति के कई रूप हो सकते हैं, जिनमें से सबसे महत्वपूर्ण नियोजित सार्वजनिक निर्माण कार्यों की नीति है जिसमें सभी राजकीय संस्थायें एक

पूर्व निश्चित योजना के अनुसार कार्य करती हैं। विनियोग की दर आर्थिक क्रियाओं की अवस्था के अनुसार समय-समय पर बदलती रहती है। इसी प्रकार देश की मौद्रिक नीति का इस कार्यक्रम से समन्वय स्थापित किया जाता है और सूद की दरों में इस प्रकार परिवर्तन किए जाते हैं कि निजी विनियोगों में राष्ट्रीय विनियोगों के अनुकूल बदलने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है, किन्तु ऐसे दीर्घकालीन कार्यक्रम की कुछ अपनी ही कठिनाइयां होती हैं। प्रथम, सार्वजनिक निर्माण कार्यों की पूर्ति के लिए एक निश्चित अवधि की आवश्यकता होती है जिसको बढ़ाना या कम करना सरल नहीं होता। ऐसे कार्यक्रमों पर विनियोग की जाने वाली राशि में परिवर्तन करने के लिए तकनीकी कठिनाइयां भी उत्पन्न होती हैं और कुछ परियोजनाएं तो ऐसी होती हैं जिन पर कार्य आरम्भ करने के बाद बिना भारी हानि उठाये बीच में नहीं रोका जा सकता। सार्वजनिक निर्माण कार्य, देश की व्यावसायिक क्रियाओं से पूर्णतया स्वतन्त्र होते हैं और उनमें आर्थिक क्रियाओं की अवस्था के अनुसार परिवर्तन करने की नीति देश के हित में नहीं होती। राजकीय विनियोगों का एक विशाल कार्य-क्रम निजी विनियोगों को भी हतोत्साहित कर सकता है। यह सम्भव है कि यदि हम बुद्धिमानी से योजना बनायें तो इन कठिनाइयों को दूर किया जा सके, किन्तु अधिक अच्छा यही होगा कि अर्थ-व्यवस्था में स्फूर्ति उत्पन्न करने के लिए व्यापार-चक्र निरोधक उपायों के स्थान पर एक दीर्घकालीन योजना निर्मित करें।

व्यापार-चक्र निरोधक उपायों में एक उपाय यह भी हो सकता है कि अवसाद काल में सरकार एक बड़ी मात्रा में वस्तुओं को खरीदे और समृद्धि काल में उनको बेचे। किन्तु ऐसी नीति सभी वस्तुओं के सम्बन्ध में लागू नहीं की जा सकती, क्योंकि कुछ वस्तुए ऐसी होती हैं जिनकी मांग फ़ैशन तथा रुचि बदलने के साथ-साथ कम या अधिक होती जाती है। सरकार इन वस्तुओं के क्रय-विक्रय के जोखिम को सहन नहीं कर सकती। इसके अतिरिक्त ऐसी नीति में सरकार को अपनी पूंजी पर सूद भी नहीं मिलेगा और बहुत समय तक पूंजी भी बन्द पड़ी रहेगी। यही नहीं, यह भी उपयुक्त प्रतीत नहीं होता कि सरकार इस प्रकार की सट्टे की क्रियाओं में भाग ले। अतः स्पष्ट है कि सरकार द्वारा वस्तुओं के खरीदने तथा बेचने की नीति किसी भी दृष्टिकोण से उपयुक्त नहीं है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि केवल करों तथा राजकीय व्यय में आव-श्यक हेर-फेर करने की नीतियां ही अर्थ-व्यवस्था में स्थायित्व उत्पन्न करने के लिए अधिक व्यावहारिक प्रतीत होती हैं। बुरे समय में करारोपण में कमी और राजकीय व्यय में वृद्धि होनी चाहिए। करों में कमी होने से व्यक्तियों तथा फर्मों की आय में वृद्धि हो जाती है जिसको वे निजी विनियोग में लगा सकते हैं। सरकार श्रम-योजकों तथा श्रमिकों से सामाजिक बीमा के सम्बन्ध में कम योग प्राप्त कर सकती है और प्राप्त होने वाले लाभों को पूर्ववत् ही रख सकती है जिसका परिणाम यह होगा कि श्रमिकों के पास अधिक आय रह जाएगी। सरकार छोटे-छोटे सार्वजनिक निर्माण-कार्यों में अधिक विनियोग कर सकती है। अन्त में, सरकार मजदूरियों के

सम्बन्ध में श्रम-योजकों को आर्थिक सहायता भी दे सकती है। समृद्धि काल में करारोपण में वृद्धि और राजकीय व्यय में कमी करके सरकार आर्थिक स्थिति को ठीक कर सकती है।

यह ध्यान रहे कि व्यापार-चक्रों के काल में राजकोषीय उपायों की प्रभावोत्पादकता इस बात पर निर्भर होगी कि अवसाद काल में बजट के घाटे और समृद्धि काल में बजट के आधिक्य का उपयोग किस प्रकार किया जाता है। यदि बजट के घाटों की पूर्ति जनता से प्राप्त ऋणों द्वारा की जाती है तो सरकार को आशातीत सफलता प्राप्त नहीं होगी। इसलिए सबसे अधिक उपयुक्त तो यही रहेगा कि सरकार केन्द्रीय बैंक तथा व्यापारिक बैंकों से ऋण प्राप्त करे और समृद्धि काल में बजट के आधिक्यों द्वारा पुराने राजकीय ऋणों का भुगतान करे और शेष राशि केन्द्रीय बैंक में जमा कराये।

दीर्घकाल में राजकोषीय नीति—दीर्घ-कालीन नीति का उद्देश्य व्यापार-चक्रीय परिवर्तनों को रोकना तथा अर्थ-व्यवस्था में समवृद्धि की ऊँची दर को बनाये रखना होता है। व्यापार-चक्र निरोधक नीति तो सम्पूर्ण नीति का एक आवश्यक अंग है। इस नीति के अतिरिक्त ऐसे उपाय करने की आवश्यकता भी होती है जिनसे दीर्घकाल में आर्थिक क्रियाओं का स्तर ऊँचा हो सके। संक्षेप में, उद्देश्य यह होता है कि एक निरन्तर बढ़ते हुए स्तर पर राष्ट्रीय आय को स्थायी रखना है और इस स्तर को भी एक बढ़ती हुई दर से ऊँचा उठाना है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि व्यापार-चक्र निरोधक नीति के अन्तर्गत अवसाद काल के परिणामों को रोकने के लिए गम्भीर प्रयत्न करने होंगे और समृद्धि काल में तुलनात्मक रूप से हल्के प्रयत्न करने होंगे। दीर्घकाल में समवृद्धि (growth) की दर को ऊँचा उठाना इस बात पर निर्भर है कि उपस्थित पूँजी तथा मानव-शक्ति के पूर्ण उपयोग की स्थिति में दीर्घकालीन माँग दीर्घकालीन पूर्ति से कम न हो और साधनों के पूर्ण उपयोग की स्थिति में होने वाले उत्पादन में भी वृद्धि होती जाए। जहाँ तक पहली बात का सम्बन्ध है, उसमें कोई विशेष कठिनाई नहीं होती। किन्तु साधनों के पूर्ण उपयोग होने की स्थिति में उत्पादन को बढ़ाने के लिए यह आवश्यक है कि सरकार के कुल व्यय में निरन्तर वृद्धि होती रहे। इसका अभिप्राय यह है कि हीनार्थ प्रबन्धन द्वारा व्यय सरकार की दीर्घकालीन राजकोषीय नीति का मुख्य अंग होना चाहिए। इसके अतिरिक्त यह नीति भी विकसित तथा अर्ध-विकसित देशों में अलग-अलग होगी। विकसित देशों में राजकोषीय नीति का उद्देश्य रोजगार के आकार को बढ़ाना होता है और अर्द्ध-विकसित देशों में पूँजी-निर्माण में वृद्धि करना।

दीर्घकालीन विस्तार के लिए घाटे के व्यय का चरित्र अवसाद काल की अपेक्षा भिन्न होता है। ऐसे घाटों की पूर्ति नई साख को उत्पन्न करके की जा सकती है। राजकीय व्यय का आकार जब बहुत ही बड़ा हो जाए तो करारोपण का सहारा भी लिया जा सकता है और अतिरिक्त करारोपण एक विकासशील अर्थ-व्यवस्था में कर

दाताओं पर अधिक भार नहीं डालेगा, क्योंकि निर्धन तथा धनी दोनों ही वर्गों की आय में वृद्धि होती है। राजकीय व्यय की रूपरेखा में भी आवश्यक हेर-फेर की जा सकती है। राजकीय व्यय, विनियोग और उपभोग, दोनों ही दिशाओं में किया जा सकता है। राजकीय व्यय से निर्धन वर्गों को दी जाने वाली सहायता का अर्थ-व्यवस्था पर अच्छा प्रभाव पड़ता है अपेक्षाकृत उस व्यय के जो गृह-निर्माण पर किया जाता है। किन्तु यह ध्यान रहे कि राजकीय व्यय इस प्रकार संचालित किया जाए कि उससे निजी विनियोग हतोत्साहित न हों। इसके अतिरिक्त राजकीय व्यय द्वारा निजी उपभोग के स्तर भी कम न हों। निजी उपभोग तथा विनियोग के स्तर ऊँचे होने की स्थिति में उनके गुणक प्रभाव बहुत अधिक होंगे जो एक दीर्घकालीन स्थिति के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। सच तो यह है कि राजकोषीय नीति की सफलता बहुत कुछ इस बात पर निर्भर होती है कि नीति के प्रभाव में गुणक (Multiplier) का आकार क्या है।

मुद्रा-स्फीति काल में बजट-नीति—मुद्रा-स्फीति काल में सरकार का मुख्य उद्देश्य समाज की कुल माँग को कम करना होना चाहिए जो केवल आधिक्य के बजटों द्वारा ही सम्भव हो सकता है अर्थात् राजकीय व्यय को कम करना और करारोपण को बढ़ाना। यह उपाय व्यापार-चक्र में समृद्धि की अवस्था में अत्यन्त उपयोगी होता है किन्तु आर्थिक विकास तथा युद्धकाल में आधिक्य के बजट का कोई विशेष व्यावहारिक महत्व नहीं होता क्योंकि इन परिस्थितियों में तो सरकार को खूब खर्च करने की आवश्यकता होती है। ऐसी परिस्थितियों में राजकीय व्यय में हेर-फेर करने के स्थान पर राजकीय आय में फेर-बदल करना अधिक व्यावहारिक सिद्ध होता है। किन्तु यह भी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि करारोपण में परिवर्तन करने से हर प्रकार की मुद्रा-स्फीति को रोका जा सकता है। यदि मुद्रा-स्फीति का कारण श्रमिकों के वेतन की वृद्धि है तो अप्रत्यक्ष करारोपण से वस्तुओं के मूल्य बढ़ेंगे, श्रमिक अधिक ऊँची मजदूरियों की माँग करेंगे और स्थिति सुधरने के स्थान पर और बिगड़ जाएगी। इसलिए अच्छा तो यह होगा की सरकार उपभोग-सम्बन्धी आर्थिक सहायता प्रदान करे ताकि आवश्यक उपभोग की वस्तुओं के मूल्य कम हो जाएँ। इसके अतिरिक्त अर्द्ध-विकसित देशों में अधिक करारोपण उत्पादन को हतोत्साहित करता है जिससे मुद्रा-स्फीति का दबाव और भी अधिक हो जाता है। इसलिए निजी विनियोगों को प्रोत्साहित करने के लिए प्रयत्न करना ही अधिक उपयुक्त रहेगा। निजी बचतों को प्रोत्साहित करने की नीति भी उत्तम रहेगी जिसके लिए निजी उपभोग को कम करना होगा, राजकीय ऋणों को बढ़ाना होगा, कर-नीति में आवश्यक परिवर्तन करने होंगे और मौद्रिक उपायों तथा वस्तुओं पर नियन्त्रण लगाने पड़ेंगे।

मुद्रा-स्फीति काल में राजकीय व्यय को भी कम करने की आवश्यकता होती है। किन्तु चूँकि युद्ध तथा आर्थिक विकास के समय में सरकार का अधिकांश व्यय आवश्यक होता है और उसको कम नहीं किया जा सकता है, इसलिए अधिक से

अधिक यह किया जा सकता है कि सरकार अपने व्यय को मितव्ययी बनाने की चेष्टा करे और अनावश्यक खर्चों को न्यून रखने के लिए प्रयत्न करे।

करारोपण के क्षेत्र में सरकार को नये-नये कर लगाने चाहिए और पुराने करों की दर में वृद्धि करनी चाहिए। अधिकतर, आय-कर, अतिरिक्त लाभ कर जैसे करों का प्रयोग करना चाहिए। भारत जैसे अर्द्ध-विकसित देशों के लिए, जहाँ अधिकांश व्यक्ति प्रत्यक्ष करारोपण के क्षेत्र के अन्तर्गत नहीं आते, अप्रत्यक्ष करारोपण अधिक उपयोगी सिद्ध होगा क्योंकि उसके द्वारा व्यक्तियों की अतिरिक्त क्रय-शक्ति को वापस लिया जा सकता है। यह ध्यान रहे कि सरकार ऐसे अप्रत्यक्ष करों का उपयोग न करे जिनसे वस्तुओं की लागतों के बढ़ने की सम्भावना हो और उत्पादन हतोत्साहित हो। भारत तथा अन्य देशों में युद्ध तथा युद्धोत्तरकाल में ऐसे ही करों का अधिकतर उपयोग किया गया है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि करारोपण नीति का मुख्य उद्देश्य उपभोग के स्तर को नीचा करना होना चाहिए।

राजकीय ऋण-सम्बन्धी नीति भी इस दिशा में बड़ी उपयोगी सिद्ध हो सकती है। यह ध्यान रहे कि सरकार जो भी ऋण प्राप्त करे वे बैंकों के अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों से प्राप्त किये जायें। राजकीय ऋण निजी उपभोग तथा विनियोग को नियन्त्रित करके समाज की कुल माँग को कम करने में सहायता करते हैं। यह भी आवश्यक है कि जब जनता से ऋण प्राप्त करने की नीति निर्धारित कर दी गई है तो साख उत्पन्न करने की नीति को स्थगित कर दिया जाए। यह हो सकता है कि प्रजातान्त्रिक देशों में जनता से आवश्यकता के समय ऋण प्राप्त करना सरकार के लिए सरल न हो। इसके लिए यह आवश्यक है कि सरकार व्यक्तियों को सरकारी बाण्ड खरीदने के लिए आवश्यक प्रलोभन प्रदान करे, जैसे, सूद की ऊँची दर, विभिन्न व्यक्तियों के अनुकूल विभिन्न प्रकार की ऋण योजनाओं को चालू करना इत्यादि। किन्तु यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि राजकीय ऋण-सम्बन्धी नीति मुद्रा-स्फीति को रोकने में उपयोगी सिद्ध होगी ही। भारत सरकार ने दूसरे महायुद्ध काल में राजकीय ऋण सम्बंधी नीति का काफी प्रयोग किया था और उसको सफल बनाने के लिए अनेक उपाय किये थे तथा व्यक्तियों पर दबाव भी डाले थे। युद्धोत्तर काल में भी सरकार ने इस नीति को जारी रखा, किन्तु आशातीत सफलता कभी भी प्राप्त नहीं हुई। आज भी सरकार के सामने बढ़ते हुए मूल्य-स्तर को रोकने की समस्या विषम रूप में उपस्थित है।

निजी बचतों को बढ़ानें से भी मुद्रा-स्फीति को नियन्त्रित किया जा सकता है। सूद की दर को ऊँचा करके निजी बचतों को प्रोत्साहित किया जा सकता है। किन्तु यह उपाय सरकार की सस्ती मुद्रा-नीति से मेल नहीं खाता। निजी बचतों को अधिक करारोपण से भी क्षति पहुँचती है और इसलिए मुद्रा-स्फीति की शक्तियों को इस प्रकार भी नियन्त्रित नहीं किया जा सकता। दूसरे, महायुद्ध काल में कीन्स द्वारा दिए गए सुझावों के अनुसार बहुत से योरोपीय देशों में अनिवार्य बचत योजनायें चालू की गईं, किन्तु ऐसी योजनायें केवल युद्ध जैसी संकट-कालीन परिस्थितियों में

ही सफल हो सकती है। शान्ति-कालीन स्थिति में तो केवल ऐच्छिक बचतों और करारोपण पर ही अधिक भरोसा किया जा सकता है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि युद्ध तथा आर्थिक विकास जैसी स्थितियों में उत्पन्न होने वाली मुद्रा-स्फीति को राजकोषीय उपायों द्वारा नियन्त्रित नहीं किया जा सकता। अवसादकाल में यह नीति उपयोगी अवश्य सिद्ध होती है। मुद्रा-स्फीति के काल में मौद्रिक नियन्त्रण, मूल्य-नियन्त्रण तथा राशनिंग जैसे उपायों का उपयोग राजकोपीय उपायों के साथ-साथ अनिवार्य प्रतीत होता है। सरकार को बड़ा सोच-समझकर और सावधानी से यह निश्चित करना होगा कि इनमें से किन-किन उपायों को किस समय और किस परिमाण में उपयोग किया जाए।

अध्याय ३२

भारत में बजट-सम्बन्धी नीति

(BUDGETARY POLICY IN INDIA)

प्राक्कथन—

पिछले अध्यायों में हमने भारत में संघीय वित्त-व्यवस्था भारतीय कर-प्रणाली तथा बजट संबंधी नीति के विभिन्न पहलुओं पर दृष्टिपात किया था। हम कह चुके हैं कि हमारे देश में कर-प्रणाली को एक ऐसे साँचे में ढाला गया है कि वह न तो देश के आर्थिक विकास में सहायक सिद्ध हुई है और न ही देश में सामाजिक न्याय स्थापित कर सकी है। इसी प्रकार हमारे देश में राजकीय व्यय भी अधिकतर अनुत्पादक रहा है। जो कुछ सामाजिक सुरक्षा-सम्बन्धी व्यवस्था आज है और जो कुछ आर्थिक और सामाजिक पूँजी का निर्माण हुआ है वह केवल पिछले १५ वर्षों की ही कहानी है। यह सच है कि स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व हमें अपने विषय में सोचने तथा निर्णय लेने की स्वतन्त्रता न थी और इसलिए हम वही करने पर बाध्य होते थे जो विदेशी शासक चाहते थे। इसलिए उस काल की नीतियों पर भारतीय छाप न थी और उनके दुष्परिणामों को इतनी जल्दी मिटाया नहीं जा सकता। भारत सरकार ने गत १५ वर्षों में इस ओर घने प्रयत्न किए हैं किन्तु अंग्रेज शासकों द्वारा अपनाई गई नीतियाँ जो विशेष रूप से इंगलैण्ड के हित में थीं, का विष हमारी अर्थ-व्यवस्था की धमनियों में इतना अधिक गहरा पहुँच चुका था कि इतने प्रयत्नों के बावजूद भी अर्थ-व्यवस्था में वह स्फूर्ति उत्पन्न नहीं हो पायी जो साधारण परिस्थितियों में हो सकती थी। हम पहले भी इसकी चर्चा कर चुके हैं कि प्रत्येक देश में सरकार की बजट-नीति उस देश की आर्थिक, सामाजिक तथा राजनैतिक नीति का प्रतीक होती है। कहने का अभिप्राय यह है कि बजट-नीति के अवलोकन से यह पता लगाया जा सकता है कि देश की आर्थिक अवस्था कैसी है, अर्थ-व्यवस्था किन रोगों से पीड़ित है और सरकार उनको दूर करने के लिए कौन-कौन से उपाय कर रही है। यदि हम किसी देश की आर्थिक प्रगति का ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं तो उसकी बजट-नीति का अध्ययन तथा बजटों की प्रवृत्तियों की जानकारी ही उसके लिए एक मात्र साधन है। जहाँ तक हमारे देश का सम्बन्ध है, स्वतन्त्रता से पूर्व के बजटों की चर्चा अधिक विस्तार में करना हमारे लिए न्यायसंगत न होगा, क्योंकि हमें तो बजट

वनाने की पूरी स्वतन्त्रता स्वाधीनता प्राप्ति के बाद ही प्राप्त हुई। इसलिए हम निम्न में सन् १९४७ से पूर्वकाल के वजटों का एक संक्षिप्त विवरण देने के पश्चात् स्वतन्त्र भारत के वजटों का विस्तार में उल्लेख करेंगे।

स्वतन्त्रता से पहले वजट-नीति—स्वतन्त्रता से पहले, भारत में विदेशी सरकार ने जो भी वजट वनाये वे इंगलैण्ड के हित में थे और उनका मुख्य उद्देश्य निर्विवादी नीति का अनुसरण करना था। सन् १९३९ तक सरकार का मुख्य उद्देश्य केवल शासन व्यवस्था को वनाये रखने का और परिणामतया प्रशासन-सम्बन्धी खर्चों को पूरा करने के लिए आवश्यक वित्त प्राप्त करने का था। इस कथन के समर्थन में कई उदाहरण दिए जा सकते हैं, जैसे, भारत को ऐसे सरकारी ऋणों का भार सहन करना जो मुख्यतया ब्रिटिश साम्राज्य के हित में खर्च किए गए थे, मिलों में वने सूती कपड़े पर उत्पादन-कर, रेलों के निर्माण के लिए की गई वित्तीय व्यवस्था, स्वतन्त्र व्यापार तथा साम्राज्य वरीयता (Imperial preference) नीति के प्रभाव में सीमा-करों का निर्धारण इत्यादि। अतः स्पष्ट है कि करारोपण का उद्देश्य, देश में आय की असमानताओं को दूर करना तथा वचतों और विनियोगों को प्रोत्साहित करना और उत्पादन में वृद्धि करना नहीं था। इसी प्रकार राजकीय व्यय का उद्देश्य देश का आर्थिक विकास करना न था। वजट का एक वड़ा भाग सुरक्षा तथा नागरिक प्रशासन के लिए नियत कर दिया जाता था। इसमें सन्देह नहीं कि जनमत के दवाव के कारण, समय-समय पर वित्तीय-नीति में कुछ संशोधन अवश्य किए गए, जैसे, सन् १९१९ के सुधार तथा सन् १९३५ का अधिनियम। किन्तु इन संशोधनों से देश को कोई विशेष लाभ नहीं हुआ क्योंकि ब्रिटिश सरकार के मन में भारत के हित को अग्रसर करने की भावना न थी।

दूसरे महायुद्ध के काल में भारत में किए जाने वाले ब्रिटिश खर्चों के लिए रुपये के रूप में वित्त-प्रवन्ध का उत्तरदायित्व भारत पर डाल दिया गया। ऐसे खर्चों की सीमा का निर्धारण सरल न था और ब्रिटिश सरकार ने अपनी साम्राज्यवादी स्थिति का पूरा लाभ उठाया। इसके अतिरिक्त संयुक्त राज्य अमेरिका की सेना पर जो व्यय किया गया उसके लिए भी आवश्यक वित्त जुटाने की जिम्मेदारी भारत को ही सौंपी गई। इतनी वड़ी मात्रा में वित्त के प्रवन्ध के लिए केवल मुद्रा के विस्तार का ही सहारा लिया गया। एक ओर सुरक्षा-सम्बन्धी व्यय में वृद्धि होने के कारण और दूसरी ओर तात्कालिक विभागों के विस्तार तथा नये-नये विभागों के स्थापित किये जाने के कारण भारत सरकार के वजटों का आकार वर्ष प्रतिवर्ष विस्तृत होता गया। आय-कर, अति-कर (Super tax) तथा कारपोरेशन-कर की दरों में वृद्धि की गई और अतिरिक्त लाभ कर (Excess profits tax) लगा दिए गए। साथ ही सीमा शुल्क और उत्पादन करों में भी परिवर्तन किए गए। इसके अतिरिक्त युद्ध के कारण राजकीय ऋणों का आकार भी विस्तृत हुआ। सन् १९३८–३९ में जो ऋणराशि १२०५·७६ करोड़ रु० थी, वह १९४४–४५ में वढ़कर २२८२·२८ करोड़ रु० हो गई। सरकार ने इन ऋणों को प्राप्त करने के लिए अनेक

युक्तियाँ अपनायीं और अल्प बचतें प्राप्त करने के लिए भी चेष्टा की किन्तु उसे सफलता प्राप्त न हुई और अन्त में कागजी मुद्रा प्रकाशित करनी पड़ी। सन् १९३९-४० में केवल १९८·१३ करोड़ रु० के नोट चलन में थे जिनकी मात्रा सन् १९४५-४६ में ११६२.६४ करोड़ रु० हो गई थी। इसका परिणाम यह हुआ कि देश में गम्भीर मुद्रा-स्फीति की स्थिति उत्पन्न हो गई। सरकार ने मुद्रा-स्फीति को रोकने के लिए उपभोग, मूल्यों, निर्यात एवं आयात, विनिमय एवं उत्पादन आदि पर नियन्त्रण लगाए किन्तु ये प्रभावशाली सिद्ध नहीं हुए। युद्ध के समाप्त होने तक अर्थ-व्यवस्था पर इतना अधिक बोझ पड़ चुका था कि वह उसके दबाव से कराहने लगी थी और स्वतन्त्र भारत की सरकार को ऊँचे मूल्य, अकाल की-सी परिस्थिति, अव्यवस्थित अर्थ-व्यवस्था ही वसीयत में मिली।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद की बजट-नीति—युद्ध के अन्तिम चरण में ही देश के पुनर्निर्माण तथा आर्थिक विकास के लिए कुछ योजनाएँ बनाई गई थीं। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद जब राष्ट्रीय सरकार ने देश के शासन की बागडोर संभाली तो उसका ध्यान सर्वप्रथम देश का नियोजित विकास करने की ओर गया। हमारे संविधान में कुछ नीति-निर्देशक सिद्धान्तों को निर्धारित किया गया। सरकार ने नियोजन आयोग की स्थापना की और उसने देश में कल्याणकारी राज्य स्थापित करने के लिए आर्थिक जीवन में व्यापक रूप से भाग लेना आरम्भ कर दिया। स्वभावतः इसका प्रभाव देश की राजकीय वित्त-नीति पर पड़ा। स्वतन्त्रता के तुरन्त बाद ही राष्ट्रीय सरकार को युद्ध तथा देश के विभाजन के परिणामों का सामना करना पड़ा। सरकार ने मुद्रा-स्फीति विरोधी बहुत से उपाए किए, जैसे, उन कार्य-क्रमों तथा योजनाओं के आकार को या तो कम कर दिया गया या पूर्णतया छोड़ दिया गया जिनसे निकट भविष्य में ही उत्पादन में वृद्धि होने की आशा न थी जैसे, 'अधिक अन्न उपजाओ' आन्दोलन इत्यादि। इसी प्रकार कर-नीति में भी आवश्यक परिवर्तन किए गए। शरणार्थियों के पुनर्वास पर भी सरकार को भारी व्यय करना पड़ा। साम्प्रदायिक उपद्रवों को दबाने पर भी व्यय किया गया। स्वतन्त्र होने के कारण सरकार के सुरक्षा-सम्बन्धी व्यय में भी वृद्धि हुई। लोकतन्त्रीय प्रशासन की व्यवस्था, कूटनीतिक सम्बन्धों की स्थापना पर भी भारी खर्च करना पड़ा। इसलिए सरकार स्वतन्त्रता प्राप्ति के तुरन्त बाद के वर्षों में केवल इन्हीं समस्याओं को सुलझाने में व्यस्त रही। देश के सामाजिक तथा आर्थिक विकास की ओर उसका ध्यान सन् १९५० के बाद ही गया।

नियोजन-काल में बजट-नीति—सन् १९५१ में भारत की प्रथम पंचवर्षीय योजना का श्रीगणेश हुआ। प्रथम योजना बहुत सीधी-सादी थी और उसका प्राथमिक उद्देश्य वित्तीय स्थायित्व को बनाये रखना था। स्वभावतः सरकार की आर्थिक नीति तथा राजकोषीय नीति योजना के लक्ष्यों से प्रभावित हुई। प्रथम योजना-काल में बहुत सीधे-सादे बजट बनाये गए तथा करारोपण को अधिक महत्त्व नहीं दिया गया। केवल केन्द्रीय उत्पादन-करों और निर्यात-करों में मामूली-सी हेर-फेर की गई, अति-करों को

लागू किया गया और कुछ कर-सम्बन्धी रियायतें भी दी गईं। परिणामतः सरकार राष्ट्रीय आय के ८% भाग को करों के रूप में एकत्रित कर लेने से ही सन्तुष्ट रही। इन पांच वर्षों में भारतीय कर-प्रणाली के संयुक्तीकरण की ओर कोई गम्भीर प्रयत्न नहीं किया गया और परिणामस्वरूप करारोपण और आर्थिक नियोजन में सामञ्जस्य स्थापित करना कठिन हो गया। अधिकतर बजटों का निर्माण परम्परा-वादी सिद्धान्तों के आधार पर किया गया था और इसलिए उनमें कुछ निश्चितता तथा उस विचार-शीलता का अभाव था जो नियोजन-काल में बजट बनाने के लिए आवश्यक है। प्रथम योजना-काल में कुल २,०६९ करोड़ रु० व्यय करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया था किन्तु, वास्तव में कुल व्यय १९६० करोड़ रु० ही हुआ। अतिरिक्त करारोपण से जो आय प्राप्त हुई उसे केवल गैर विनियोग सम्बन्धी कार्यक्रमों में ही खर्च किया गया। परिणामस्वरूप सरकारी क्षेत्र में जितने भी विनियोग किए गए उन सब की व्यवस्था बजट के घाटों द्वारा की गई। मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि होने से जो मुद्रा-स्फीति उत्पन्न हुई वह सौभाग्यवश अच्छी फसलें हो जाने के कारण आर्थिक व्यवस्था पर अधिक बुरा प्रभाव नहीं डाल सकी।

दूसरी योजना के काल में भी निरन्तर घाटे के बजट ही प्रस्तुत किए गए। जैसे-जैसे वर्ष बीते, सरकार को कठिनाइयाँ आरम्भ होने लगीं और अर्थ-व्यवस्था पर भिन्न-भिन्न प्रकार के दबाव भिन्न-भिन्न दिशाओं में पड़ने लगे। यद्यपि केल्डोर द्वारा प्रस्तावित धन तथा व्यय करों को लागू किया गया किन्तु अतिरिक्त करारोपण में अप्रत्यक्ष करों को ही अधिक महत्त्व प्रदान किया गया। करारोपण का मुख्य उद्देश्य आय प्राप्त करना था। जीवन की आवश्यक वस्तुओं पर लगे हुए करों की दरों के बढ़ने से निर्धन व्यक्तियों पर कर का भार बहुत बढ़ गया। वास्तव में अप्रत्यक्ष करारोपण का सहारा लेना, भारत जैसे अर्द्ध-विकसित देश के लिए स्वाभाविक ही था। दूसरी योजना में कुल ४८०० करोड़ रु० व्यय करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया था जब कि कुल व्यय ४६०० करोड़ रु० ही हुआ। घाटे के बजटों का मुख्य परिणाम यह हुआ कि देश में मुद्रा-स्फीति का दबाव और भी अधिक हो गया, किन्तु, यह ध्यान रहे कि इस काल में बजट-व्यवस्था पूर्णतया दूसरी योजना की वित्तीय आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर की गई थी।

तीसरी योजना दूसरी की अपेक्षा अधिक महत्त्वाकांक्षी थी। इसमें कुल व्यय ७५०० करोड़ रुपये निश्चित किया गया था जिसमें से ६०३८ करोड़ रुपये केन्द्रीय स्तर पर और १४६२ करोड़ रु० राज्ययीय स्तर पर खर्च होने थे। स्पष्ट है कि इतनी बड़ी राशि का एकत्रीकरण केवल करारोपण, विशेषकर वस्तु करारोपण, द्वारा ही हो सकता था। इसीलिए नियोजन आयोग ने यह स्पष्ट कर दिया था कि तीसरी योजना में अप्रत्यक्ष करारोपण में काफी वृद्धि की जाएगी। इसी उद्देश्य से तीसरी योजना में बजटों का निर्माण किया गया। निम्न तालिका में, नियोजन-काल में संघ सरकार के बजटों की स्थिति का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया गया है।

तालिका १

नियोजन काल में संघ सरकार के बजट

(करोड़ रुपयों में)

	१९५०-५१	१९५६-५७	१९६४-६५	१९६५-६६	१९६६-६७ (बजट)
राजस्व खाता					
(क) आय	४०५·८६	५६३·२३	२०७९·२०	२४६९·५१	२७१९·०२
(ख) व्यय	३४६·६४	४७३·८३	१८५०·०५	२१८७·४२	२४०७·४१
(ग) आधिक्य (+) अथवा घाटा (—)	+५९·२२	+८९·४०	+२२९·१५	+२८२·०९	+३११·६१
पूँजीगत खाता					
(क) आय	१०४·४५	३०२·७५	१७९०·८४	२१६२·८६	२१६०·५०
(ख) व्यय	१८२·५९	६१६·७८	२०८०·००	२२४७·८६	१९५२·५०
(ग) आधिक्य (+)	—७८·१४	—३१४·०३	—२८९·१६	—८५·००	+२०८·००
अथवा घाटा (—)	+१५·२६	+३९·८८	—२०·२९	—	—
विविध					
कुल आधिक्य (+) अथवा घाटा (—)	—३·६६	—१८४·७५	—८०·३०	—१६५·००	—२४·८८

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि संघ सरकार की राजस्व आय तथा पूँजीगत आय, राजस्व व्यय तथा पूँजीगत परिव्यय, सभी में वृद्धि हुई है। इस वृद्धि की दर दूसरी योजना के प्रारम्भ के बाद से अधिक तीव्र होती गई है। भारत सरकार की कुल आय जो सन् १९५०-५१ में ४०५·८६ करोड़ रुपये थी, वह सन् १९५६–५७ में ५६३·२३ करोड़ रुपये, सन् १९६१–६२ में १०३६·७९ करोड़ रुपये हो गई और सन् १९६६–६७ में २७१९·०२ करोड़ रु० हो जाने की आशा है। इस प्रकार पिछले १४ वर्षों में भारत सरकार की आय चौगुनी से भी अधिक हो गई है। इसी प्रकार जो व्यय सन् १९५०–५१ में ३४६·६४ करोड़ रुपये था, वह सन् १९५६–५७ में ४७३·८३ करोड़ रुपये, सन् १९६१–६२ में ९११·९४ करोड़ रु० हो गया और सन् १९६६–६७ में २४०७·४१ करोड़ रु० हो जाने का अनुमान था। अतः भारत सरकार के व्यय में भी ४ गुनी से अधिक वृद्धि हो गई। यहाँ पर यह बता देना आवश्यक है कि भारत सरकार की पूँजीगत आय तथा पूँजीगत व्यय में बहुत ही अधिक वृद्धि हुई है। जो पूँजीगत आय सन् १९५०–५१ में १०४·४५ करोड़ रु० थी, वह सन् १९५६–५७ में ३०२·७५ करोड़ रु०, सन् १९६१–६२ में ९५७·३४ करोड़ रु०, सन् १९६३–६४ में १५७९·४६ करोड़ रु० हो गई और सन् १९६६–६७ में २१६०·५० करोड़ रु० हो जाने की आशा है। इस प्रकार पूँजीगत आय में लगभग १४ गुनी वृद्धि हुई है। भारत सरकार का जो पूँजीगत व्यय सन् १९५०–५१ में १८२·५९ करोड़ रु० था, वह सन् १९५६–५७ में ६१६·७८ करोड़ रु०, सन् १९६१–६२ में ११७१·६१ करोड़ रु०, सन् १९६३–६४ में १८२५·८९ करोड़ रु०

हो गया था और सन् १९६६–६७ में उसके १९५२·५० करोड़ रु० हो जाने का अनुमान था। इस प्रकार कुल पूँजीगत व्यय में १० गुनी वृद्धि हुई है।

भारत सरकार के व्यय की रूपरेखा, पिछले १४ वर्षों में मुख्यतया पंचवर्षीय योजनाओं द्वारा निर्धारित हुई है। यह सन्तोषजनक है कि इस व्यय का अधिक भाग समाज तथा विकास सेवाओं पर किया गया था। राजस्व खाते में इस प्रकार का व्यय सन् १९५०–५१ में ३९·५० करोड़ रु० से बढ़कर सन् १९६४–६५ में १९६·९७ करोड़ रु० हो गया। परन्तु इस व्यय की वृद्धि पूँजीगत खाते में अपेक्षाकृत अधिक हुई है। पूँजीगत खाते में जो विकास-व्यय सन् १९५०–५१ में ५७·४० करोड़ रु० था, वह सन् १९६४–६५ में ६२३·५९ करोड़ रु० हो गया। यदि हम दोनों प्रकार के खातों को एक साथ लें तो कुल व्यय में विकास-व्यय का प्रतिशत सन् १९५०–५१ में २३ से बढ़कर ३० हो गया। यह ध्यान रहे कि यह प्रतिशत सन् १९५६–५७ में ४५ था और तभी से गिरते-गिरते सन् १९६२–६३ में ३५ रह गया। इस गिरावट के दो कारण थे; एक तो राज्यों को दिए जाने वाले अनुदानों में वृद्धि और दूसरे सुरक्षा व्यय में वृद्धि। गैर विकास-व्यय में यद्यपि आरम्भ के ११ वर्षों में काफी कमी हुई किन्तु, पिछले वर्षों में इसमें फिर वृद्धि हो गई है। कुल-व्यय में गैर विकास-व्यय का प्रतिशत सन् १९५०–५१ में ८४ था जो सन् १९६१–६२ में गिर कर ५९ रह गया। किन्तु सन् १९६४–६५ में यह बढ़कर पुनः ७३ हो गया और इसका मुख्य कारण चीनी आक्रमण था जिसके परिणामस्वरूप सरकार को सुरक्षा-व्यय में वृद्धि करनी पड़ी। यह ध्यान रहे कि एक ओर जहाँ कुल-व्यय में गैर विकास-व्यय के प्रतिशत में गिरावट हुई है, दूसरी ओर इसकी धन-राशि में निरन्तर वृद्धि होती गई है अर्थात् सन् १९५०–५१ में इसकी राशि २९१·५५ करोड़ रु० थी जो सन् १९६४–६५ में १३६०·२० करोड़ रु० हो गई। इसी प्रकार ग़ैर विकास पूँजीगत व्यय में भी वृद्धि हुई है। इसकी धन-राशि सन् १९५०–५१ में १३·६३ करोड़ रु० से बढ़कर सन् १९६४–६५ में २८८·८३ करोड़ रु० हो गई।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि भारत सरकार के कुल-व्यय में ग़ैर विकास-व्यय का अनुपात अब भी अधिक है। भारत के सरकारी व्यय का सबसे बड़ा दोष यह भी है कि यह बहुत ही अपव्ययी और अनार्थिक रहा है। विभिन्न समितियों ने सरकार का ध्यान बार-बार इस ओर आकर्षित किया है किन्तु सरकार इस दिशा में सजग होती दिखाई नहीं दे रही है।

राज्य सरकारों का व्यय—राज्य सरकारों के बजटों की प्रवृत्तियाँ भी लगभग ऐसी ही हैं जैसी कि भारत सरकार के बजटों की जिनका हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं। राज्यों की आय, व्यय और पूँजीगत आय तथा व्यय में भी पिछले १५ वर्षों में काफी वृद्धि हुई है। आय तथा व्यय में लगभग पांच गुनी वृद्धि हुई है, पूंजीगत आय में ८ गुनी और पूँजीगत व्यय में ६ गुनी से भी अधिक वृद्धि हुई है। सन् १९५१–५२ में राज्यों के आय सम्बन्धी खाते में विकास तथा ग़ैर विकास सम्बन्धी व्यय लगभग समान था अर्थात् क्रमशः १९६·२१ करोड़ रु० तथा १९६·४२ करोड़

रु० थे। सन् १९५६–५७ में विकास व्यय ३४१·५७ करोड़ रु० हो गया और गैर विकास व्यय २८६·८४ करोड़ रु० हो गया। सन् १९६१–६२ में विकास व्यय ६६०·२३ करोड़ रु० और गैर विकास व्यय ४६१·०४ करोड़ रु० हो गया। सन् १९६४–६५ में विकास व्यय की राशि ९४१·२९ करोड़ रु० थी और गैर विकास व्यय की राशि ६९९·७८ करोड़ रु० थी। यद्यपि सन् १९६१–६२ की तुलना में सन् १९६४–६५ में दोनों ही प्रकार के व्यय की राशि में वृद्धि हुई किन्तु कुल व्यय में विकास व्यय का प्रतिशत ५९ से गिरकर ५७ ही रह गया। कदाचित् इसका कारण संकटकालीन स्थिति थी। राज्यों के पूँजीगत व्यय में भी इसी प्रकार वृद्धि हुई। सन् १९५१-५२ में जो विकास व्यय १००·२९ करोड़ रु० था वही बढ़कर सन् १९५६–५७ में २३८·४९ करोड़ रु० और सन् १९६१-६२ में ३१५·१५ करोड़ रु०, और सन् १९६४-६५ में ४२९·३५ करोड़ रु० हो गया। गैर विकास व्यय सन् १९५१-५२ में २७·२८ करोड़ रु० था, जो सन् १९६४–६५ में ५१·०६ करोड़ रु० हो जाने की आशा है। अतः स्पष्ट है कि जहाँ राज्य सरकारों के विकास व्यय में वृद्धि हुई है, वहाँ गैर विकास व्यय में कमी हुई है किन्तु अभी भी कुल व्यय में गैर विकास व्यय का अनुपात अधिक है। राज्य सरकारों के बजटों की स्थिति का ज्ञान निम्न तालिका से प्राप्त किया जा सकता है :—

तालिका—२

नियोजन काल में राज्य सरकारों के बजट

(करोड़ रुपये में)

राजस्व खाता	१९५०-५१	१९५६-५७	१९६१-६२	१९६३-६४	१९६४-६५	१९६५-६६ (बजट)
(क) आय	३९९·४	५७०·७	१०७३·५	१४९०·२	१६१४·३	१७५९·३
(ख) व्यय	३९२·६	६५४·२	११२१·३	१४१२·५	१६४१·०	१८४०·६
(ग) आधिक्य (+) अथवा घाटा (—)	+३·८	—८३·५	—४७·८	+७७·७	—२६·८	—८१·३
पूँजीगत खाता						
(क) आय	१३५·०	४२६·८	६९९·९	८६४·८	१०८७·५	११३३·६
(ख) व्यय	१८८·७	४५४·०	६६८·५	९१४·३	१०९८·०	११२४·१
(ग) आधिक्य (+) अथवा घाटा (—)	—५३·७	—२७·२	+३१·४	—४९·५	—१०·५	+९·५
विविध	+१·६	—०·८	—२१·०	—३३·६	—२·४	—४·९
कुल आधिक्य (+) अथवा घाटा (—)	—४८·३	—६९·४	—३७·५	—५·४	—३९·७	—७६·७

भारत में संघ तथा राज्य सरकारों, दोनों ही की आय का करारोपण एक प्रमुख स्रोत रहा है और इसमें निरन्तर वृद्धि होती रही है, जैसा कि निम्न तालिका में स्पष्ट है :—

तालिका—३

(करोड़ रुपये में)

	१९५०-५१	१९५१-५२	१९५६-५७	१९६१-६२	१९६४-६५	१९६५-६६ (बजट)
संघ सरकार						
१. कर आय	३५७·००	—	४३९·७६	८७५·३७	१५५४·००	१६८२·७६
२. प्रशासनिक प्राप्तियाँ	१२·५३	—	१६·९०	५३·९२	५०·५४	४३·७५
३. सरकारी उद्यमों का अंशदान	२३·१६	—	३१·८१	६५·६९	६८·७०	७९·२०
४. अन्य आय	१३·१७	—	२०·७६	४१·८१	४०५·९६	३७ः·९८
५. योग	४०५·८६	—	५६३·२३	१०३६·७९	२०७९·२०	२१८२·६९
राज्य सरकारें						
१. कर आय	—	२८१·०५	३६६·७३	६६२·५८	९८३·७३	१०३९·९०
२. प्रशासनिक प्राप्तियाँ	—	३८·१३	६६·७०	८५·५०	११२·८३	११८ ४६
३. सरकारी उद्यमों का अंशदान	—	२४·९२	३४·८८	४६·५२	६२·४६	६१·८६
४. अन्य आय	—	२६·९४	३७·२५	८३·९९	१५९·९९	१८४·७२
५. सहायक अनुदान तथा अन्य आय	—	२५·३६	६५·१०	१९४·८८	२९५·३१	३५४·४५
६. योग	—	३९६·४०	५७०·६६	१०७३·४७	१६१४·३२	१७५९·ः९

नियोजन काल से पूर्व की अवधि की अपेक्षा नियोजन काल में अप्रत्यक्ष तथा वस्तु करारोपण को अधिक महत्व प्रदान किया गया है। जहाँ तक संघ सरकार का सम्बन्ध है, सबसे अधिक वृद्धि उत्पादन करों में हुई है, यहाँ तक कि अब यह भारत सरकार की आय का मुख्य स्रोत है। सीमा शुल्कों की स्थिति यथास्थिर ही रही है। प्रत्यक्ष करारोपण में, आय कर में कोई विशेष वृद्धि नही हुई है और मृत्यु-कर, उपहार-कर तथा धन-कर ने भी कर-सम्बन्धी आय में कोई विशेष योगदान नहीं दिया। जो कुछ वृद्धि हुई है वह कार्पोरेशन-कर के क्षेत्र में ही दिखाई देती है। वास्तव में, इतने सारे प्रत्यक्ष कर होते हुए भी सरकार को अपनी कुल कर-आय का बहुत थोड़ा सा भाग इनसे प्राप्त होता है। इसका मुख्य कारण यह है कि यद्यपि इनमें से बहुत से कर प्रो० केल्डोर के सुझाव का परिणाम हैं किन्तु इन करों को उस प्रकार लागू नहीं किया गया जैसा कि प्रो० केल्डोर का उनके सम्बन्ध में सुझाव था। अतः यह आवश्यक है कि भारत सरकार पुनः इस ओर ध्यान दे और इन करों में आवश्यक हेर-फेर करे ताकि उसकी आय में वृद्धि हो और देश का कर-ढांचा भी समुचित तथा न्यायशील बन सके।

राज्य सरकारों की आय—राज्य सरकारों की आय का मुख्य स्रोत अप्रत्यक्ष करारोपण ही है और अप्रत्यक्ष करारोपण में भी प्रमुख स्थान बिक्री-कर का है। बिक्री-कर लागू होने से पूर्व राज्य सरकारों की आय का मुख्य स्रोत उत्पादन-कर अथवा आबकारी-कर था किन्तु मद्य-निषेध की नीति के कारण इसका महत्व बहुत कम हो गया है। जमींदारी उन्मूलन से कृषि-आय कर तथा मालगुजारी से होने वाली प्राप्तियों में भी कोई विशेष वृद्धि नहीं हुई।

यह सत्य है कि द्वितीय योजना-काल में करारोपण से प्राप्त होने वाली आय आशा से अधिक हुई और तृतीय योजना में भी यही आशा की जाती है कि उसमें भी सरकार को निर्धारित लक्ष्य से अधिक आय प्राप्त होगी किन्तु यह स्थिति अधिक सन्तोषजनक दिखाई नहीं पड़ती, क्योंकि राष्ट्रीय आय के प्रतिशत के रूप में कर से प्राप्त होने वाली आय में पिछले १२ वर्षों में कुल ३ प्रतिशत की ही वृद्धि हुई है जबकि राष्ट्रीय आय में गत १० वर्षों में ५ प्रतिशत से अधिक की वृद्धि हुई है। यह निम्न तालिका से भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है :—

तालिका—४

(करोड़ रु० में)

वर्ष	संघ सरकार की शुद्ध कर-आय (राज्यों के भाग को छोड़ कर)	राज्यों की कुल कर आय	कुल कर आय (संघ तथा राज्यों को मिलकर)	भारत की राष्ट्रीय आय	राष्ट्रीय आय में कर आय का %
१९५३–५४	३४७·७३	३३०·३०	६७८·०३	१०४८०	६·५
१९५४–५५	३८४·१५	३३७·२२	७२१·३७	९६१०	७·५
१९५५–५६	४११·४७	३४९·५३	७६१·००	९९८०	७·७
१९५६–५७	४९३·७६	३६६·७३	८६०·४९	११३१०	७·६
१९५७–५८	५७५·३३	४७१·९८	१०४७·३१	११३९०	९·२
१९५८–५९	५५३·०६	५३७·०६	१०९०·१२	१२६००	८·७
१९५९–६०	६४२·४४	५७७·४२	१२१९·८६	१२९५०	९·४
१९६०–६१	७३०·१४	६२४·७८	१३५४·९२	१४१६०	९·६
१९६१–६२	८७५·३७	६६२·५८	१५३७·९५	१४६३०	१०·५
१९६२–६३	१०६०·९८	७९३·९५	१८५४·९३	१५४००	१२·०
१९६३–६४	१३७४·३३	९३९·०६	२३१३·३९	१७२००	१३·४

तालिका ३ से यह भली-भाँति प्रगट हो जाता है कि सरकारों की गैर कर आय का मुख्य स्रोत सरकारी उद्यम हैं, हालांकि कुल आय में उनका योगदान बहुत कम है। भारत सरकार को मुख्यतया रेलों से और कुछ सीमा तक, डाक व तार विभाग से आय प्राप्त होती है। यद्यपि तीसरी योजना में यह निश्चित किया गया है कि सरकारी उद्यम भी योजना के क्रियान्वयन में अपना योगदान दें किन्तु रेलों के अतिरिक्त अन्य उद्यमों से कोई उल्लेखनीय आय प्राप्त नहीं हो सकी है।

ऋण सम्बन्धी कार्यक्रम—निम्न तालिका से भारत सरकार के आन्तरिक तथा बाह्य ऋणों की अद्यतन स्थिति का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है :—

तालिका—५ (करोड़ रु० में)

	१९५०–५१	१९५६–५७	१९६१–६२	१९६३–६४ संशोधित	१९६४–६५ (बजट)
आन्तरिक ऋण	३०·३४	१५७·७३	२०२·९५	३६६·७०	२९५·००
बाह्य ऋण	७·७५	१०·८४	३१४·३३	५०२·५५	६६६·९७
इनामी बौंड	—	—	३·४७	५·००	६·००
अल्प बचतें	३३·५२	५८·९५	८७·७५	११५·००	१२५·००
स्वर्ण बौंड	—	—	—	५·२२	—
अनिवार्य जमा	—	—	—	१५·००	—

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि भारत सरकार के आन्तरिक तथा बाह्य दोनों प्रकार के ऋणों की मात्रा में बहुत अधिक वृद्धि हुई है। सन् १९५०–५१ में आन्तरिक ऋणों की मात्रा ३०·३४ करोड़ रु० थी जो सन् १९५६–५७ में १५७·७३ करोड़ रु०, सन् १९६१–६२ में २०२·५५ करोड़ रु० और सन् १९६३–६४ में ३६६·७० करोड़ रु० हो गई थी। सन् १९६४–६५ में २९५ करोड़ रु० प्राप्त होने का अनुमान है। इस वर्ष आन्तरिक ऋणों की राशि कम होने का मुख्य कारण सम्भवत: अनिवार्य बचत योजना की समाप्ति ही प्रतीत होता है। उपर्युक्त तालिका से यह भली-भाँति विदित हो जाता है कि खुले बाजार से प्राप्त होने वाले ऋणों की मात्रा दूसरी योजना में निर्धारित लक्ष्य से काफी कम थी। अल्प बचतों से दूसरी योजना में प्रति वर्ष १०० करोड़ रु० प्राप्त करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया था, जबकि केवल १९६०–६१ को छोड़कर किसी और वर्ष में इस लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हो सकी। ठीक यही स्थिति तीसरी योजना में भी है। हमारा लक्ष्य प्रत्येक वर्ष औसतन १२० करोड़ रु० प्राप्त करने का है किन्तु अभी तक किसी भी वर्ष में इस लक्ष्य को प्राप्त नहीं किया जा सका है। इनामी बॉण्डों की जो योजना सन् १९६०–६१ में चालू की गई थी उससे उस वर्ष १५·६३ करोड़ रु० प्राप्त हुए थे, किन्तु बाद के वर्षों में जनता ने उसके प्रति कोई विशेष उत्साह नहीं दिखाया और परिणामस्वरूप उससे प्राप्त होने वाली आय बहुत कम हो गई। सरकार ने सन् १९६३ में इनामी बॉण्डों की एक दूसरी योजना लागू की किन्तु यह भी अधिक सफल होती दिखाई नहीं देती। विगत वर्षों में हमारे विदेशी ऋणों की मात्रा में काफी वृद्धि हुई है। प्रथम योजनाकाल में हमें अधिक विदेशी ऋण प्राप्त नहीं हो सके और उन ५ वर्षों में केवल ३·०९ करोड़ रु० के ही विदेशी ऋण प्राप्त हो सके। परन्तु दूसरी योजना में इनमें काफी तेजी से वृद्धि हुई। सन् १९५६–५७ में हमारे विदेशी ऋणों की मात्रा १०·८४ करोड़ रु० थी जो सन् १९६१–६२ में बढ़कर

३१४·३३ करोड़ रु० हो गई। तीसरी योजना में भी हमें विदेशों से बढ़ी हुई मात्रा में ऋण प्राप्त हो रहे हैं और आशा है कि भविष्य में भी हमारी निर्भरता विदेशी ऋणों पर अधिक होती जाएगी। इस सम्बन्ध में यह ध्यान रहे कि योजना के लक्ष्यों की पूर्ति के लिए हमें विदेशी ऋणों पर अपनी निर्भरता को कम करना चाहिए। इसके लिए यह आवश्यक है कि हमें अपने देश में उपभोग की वस्तुओं, मशीनों तथा अन्य आवश्यक वस्तुओं के उत्पादन को बढ़ाना चाहिए और अपने निर्यातों को तेजी से बढ़ाने की चेष्टा करनी चाहिए।

भारत सरकार ने नियोजन सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये हीनार्थ प्रबन्धन का विशेष रूप से सहारा लिया है। हीनार्थ प्रबन्धन का जो क्रम प्रथम योजना के अन्तिम दो वर्षों में आरम्भ हुआ था वह अब भी चल रहा है। भारत सरकार के बजटों में जो घाटा हुआ है उसको इसी स्रोत से पूरा किया गया है। यह घाटा सन् १९५०–५१ में ३·६६ करोड़ रु० ही था जो बढ़कर सन् १९५६–५७ में १८४·७५ करोड़ रु० हो गया। सबसे अधिक घाटा अर्थात् ४५८·५८ करोड़ रु० सन् १९५७–५८ में हुआ। बाद के वर्षों में यह घाटा कम होता गया और यहाँ तक कि सन् १९६०–६१ में बजट में आधिक्य ही रहा। तीसरी योजना में आरम्भ से ही हीनार्थ प्रबन्धन का सहारा लिया गया हालांकि इसकी मात्रा उतनी नहीं थी जितनी कि दूसरी योजना की अवधि में थी। सन् १९६२–६३ में प्रारम्भिक अनुमानों के अनुसार हीनार्थ प्रबन्धन की मात्रा केवल ८९·५८ करोड़ रु० निर्धारित की गई थी किन्तु चीनी आक्रमण के कारण इसमें वर्ष के अन्त में बहुत वृद्धि हो गई थी। सन् १९६३–६४ में करारोपण में वृद्धि के कारण १५२·६२ करोड़ रु० का ही हीनार्थ प्रबन्धन हुआ और सन् १९६४–६५ में लगभग ८५·५९ करोड़ रु० का हीनार्थ प्रबन्धन किया गया।

सन् १९६२ के अन्तिम माह भारतवासियों तथा भारत की अर्थ-व्यवस्था के लिए अत्यन्त चिन्ताजनक सिद्ध हुए। अक्तूबर, १९६२ में चीनी आक्रमण ने हमारे देश की अर्थ-व्यवस्था को एक भारी धक्का पहुँचाया। सरकार को सुरक्षा व्यय में वृद्धि करने की आवश्यकता अनुभव हुई किन्तु सरकार इस निश्चय पर भी दृढ़ रही कि नियोजन सम्बन्धी कार्यक्रम की गति भी धीमी न पड़े। इसलिए सरकार ने नियोजन का उपयोग आर्थिक विकास के साथ-साथ देश की सुरक्षा सम्बन्धी स्थिति को दृढ़ बनाने के लिए भी किया। वास्तव में सच भी यही है कि देश के आर्थिक विकास के सामने हमें अपनी सुरक्षा को भी समुचित स्थान देना चाहिए और नियोजन की दृष्टि से आर्थिक विकास और सुरक्षा एक दूसरे के विरोधी नहीं हैं। यद्यपि यह हो सकता है कि आर्थिक विकास के साथ-साथ सुरक्षा सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति से सामाजिक सेवाओं पर किया जाने वाला व्यय कुछ कम हो जाय किन्तु वास्तव में हमें कुछ समय के लिए यह त्याग करने हेतु तैयार होना पड़ेगा। नियोजन काल के आरम्भ से ही सरकार ने सुरक्षा-व्यय के स्तर को कुछ नीचा ही रखा ताकि योजनाओं के लक्ष्य की पूर्ति के लिए अधिक साधन प्राप्त हो सकें। दूसरी योजना की अवधि

में कुल व्यय का लगभग ३०% और राष्ट्रीय आय का लगभग २½% सुरक्षा सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति पर व्यय होता था। तीसरी योजना के प्रारम्भिक वर्षों में भी यही स्थिति थी, किन्तु सन् १९६२–६३ के अन्तिम महीनों में बजट के प्रारम्भिक अनुमानों को ३४३.३७ करोड़ रु० से संशोधित करके ४५१.८१ करोड़ रु० करना पड़ा। सन् १९६३–६४ में यद्यपि ७०८.५१ करोड़ रु० इस मद पर खर्च करने का अनुमान लगाया गया था परन्तु वास्तविक व्यय केवल ६९२.५५ करोड़ रु० ही हुआ। सन् १९६४–६५ में ७१७.८० करोड़ रु० खर्च करने का अनुमान था। जहाँ तक पूंजीगत व्यय का सम्बन्ध है, यह दूसरी योजना की अवधि में लगभग ३० करोड़ रु० था किन्तु सन् १९६२–६३ के बजट के प्रारम्भिक अनुमानों को जो ३२.६३ करोड़ रु० थे, संशोधित करके ५२.७५ करोड़ रु० करना पड़ा। सन् १९६३–६४ में ११५.६३ करोड़ रु० खर्च किया गया और सन् १९६४–६५ में १३६.१० करोड़ रु० का पूंजीगत व्यय होने का अनुमान था। इस प्रकार सन् १९६३–६४ में आय तथा पूंजीगत खातों को मिला कर कुल सुरक्षा व्यय ८०८.१८ करोड़ रु० हुआ जो राष्ट्रीय आय का लगभग ५% था। सन् १९६४–६५ में कुल सुरक्षा व्यय ८५३.९० करोड़ रु० नियत किया गया था। इसके अतिरिक्त तीसरी पंचवर्षीय योजना की वार्षिक लागत भी सन् १९६२–६३ में १४८० करोड़ रु० से बढ़ाकर सन् १९६३–६४ में १६५० करोड़ रु० कर दी गई और सन् १९६४–६५ के लिए १९८४ करोड़ रु० नियत की गई। अतः स्पष्ट है कि सुरक्षा तथा आर्थिक विकास सम्बन्धी व्यय को पूरा करने के लिए सरकार को आवश्यक था कि वह अतिरिक्त साधनों की खोज करे। नवम्बर, १९६२ में सरकार ने दस वर्षीय राष्ट्रीय सुरक्षा बॉण्ड तथा स्वर्ण बॉण्ड चालू किये। राष्ट्रीय सुरक्षा बॉण्डों से उस वर्ष २३ करोड़ रु० प्राप्त हुए। स्वर्ण बॉण्डों को सोने, सोने के गहनों और सोने के सिक्कों द्वारा खरीदा जा सकता था। सोने का मूल्य ६२.५० प्रति तोला निश्चित किया गया था और ६½% ब्याज देना निश्चित किया गया। इन बॉण्डों को धन तथा पूंजी लाभ करों से मुक्त कर दिया गया था और यह भी घोषित कर दिया गया था कि बॉण्ड के खरीदारों से यह पूछ-ताँछ नहीं की जायगी कि उनके पास सोना कहां से आया। प्रथम वर्ष में इन बॉण्डों से ३.३९ करोड़ रु० और दूसरे वर्ष से ५.२२ करोड़ रु० की प्राप्ति हुई। इन बॉंडों के अतिरिक्त सरकार ने अल्प बचतों को प्राप्त करने के लिए राजकोषीय बचत जमा सर्टिफिकेट तथा सुरक्षा बचत सर्टिफिकेट और राष्ट्रीय सुरक्षा सर्टिफिकेट जारी किए। ये सर्टिफिकेट राष्ट्रीय योजना बचत सर्टिफिकेट के स्थान पर चालू किए गए थे और इन पर ब्याज की दर भी अधिक थी। अक्तूबर, १९६२ में एक राष्ट्रीय सुरक्षा कोष भी स्थापित किया जिसमें व्यक्ति अपनी इच्छा से नकद रु० तथा सोना देश की सुरक्षा हेतु दे सकता है। प्रथम वर्ष में इस कोष में ४७.२५ करोड़ रु० एकत्रित हुआ और सन् १९६४ के अन्त तक लगभग ५८ करोड़ रु० एकत्र हो चुके थे।

सन् १९६३–६४ में सरकार ने अपने कर सम्बन्धी साधनों को बढ़ाने का प्रयत्न भी किया। प्रत्यक्ष करारोपण के क्षेत्र में कार्पोरेशन लाभों पर एक अति

लाभ-कर लगाया गया और आय-कर पर ४ से १०% तक एक ऐसा अतिरिक्त अधिभार लागू किया गया जिसका एक भाग अनिवार्य जमा योजना में जमा करके चुकाया जा सकता था। सन् १९६४–६५ में अतिलाभ-कर के स्थान पर अधिभार-कर लगाया गया, लाभांश कर लागू किया गया तथा पूँजी लाभ-कर, धन-कर, मृत्यु-कर तथा उपहार-कर की दरों में वृद्धि की गई और व्यय-कर को फिर से लागू कर दिया गया। अप्रत्यक्ष करारोपण में विभिन्न वस्तुओं पर लगे उत्पादन-कर की दरों में वृद्धि कर दी गई। इसके अतिरिक्त अल्प बचतों के क्षेत्र में अनिवार्य जमा योजना के स्थान पर एन्यूटी जमा-योजना लागू की गई जिसमें केवल वही व्यक्ति जमा करायेंगे जिनकी वार्षिक आय १५,००० रु० से अधिक है।

सरकार ने स्वर्ण-नियन्त्रण आदेश (Gold Control Order), ९ जनवरी १९६३ को जारी किया, जिसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति एवं संस्था को ३० दिन के अन्दर अपने पास के सोने की, गहनों को छोड़ कर, घोषणा करनी थी। इस आदेश में प्रत्येक नाबालिग को २० ग्राम और प्रत्येक वयस्क व्यक्ति को ५० ग्राम तक सोना रखने की छूट दी गई। स्वर्ण तथा आभूषणों का व्यापार केवल लाइसेन्स प्राप्त व्यक्ति ही कर सकते हैं। और देश में केवल १४ कैरट सोने के आभूषण ही बनाये जा सकते हैं। इस आदेश का मुख्य उद्देश्य देश में सोने की तस्करी (Smuggling) को रोकना था ताकि देश को विदेशी मुद्रा की हानि न हो और साथ ही व्यक्तियों की सोना जमा करके रखने की जिज्ञासा कम हो जाय तथा नियोजन कार्यों के लिए सोना उपलब्ध हो सके। यद्यपि इस आदेश से आशातीत सफलता तो न मिल सकी तथापि इतना अवश्य हुआ कि सोने के भाव कुछ नीचे गिरे हैं और सोने का तस्कर व्यापार भी कुछ हतोत्साहित हुआ है। इस आदेश के परिणाम स्वरूप अधिकांश सुनार बेकार हो गये और देश में एक हलचल सी मच गई। राज्य सरकारों ने सुनारों को अन्य व्यवसाय करने के लिए ऋण तथा आर्थिक सहायता प्रदान करना आरम्भ किया किन्तु फिर भी अशान्ति बनी ही रही। सितम्बर १९६४ में सरकार ने यह घोषणा की कि स्वयं काम करने वाले सुनारों को पुराने गहनों को ठीक करने तथा पुराने गहनों से नये गहने बनाने की आज्ञा है। यद्यपि इस घोषणा से कुछ बेकार स्वर्णकार काम पर पुनः अवश्य लग गये, किन्तु इससे न तो छुपा हुआ सोना ही बाहर आ सकेगा और न ही सोने की तस्करी रुक पायेगी।

राज्यों के ऋण—हम अध्याय १५ में यह स्पष्ट कर चुके हैं कि तीनों वित्त-आयोगों ने संघ सरकार से राज्य सरकारों को प्राप्त होने वाले सहायक अनुदानों की राशि में निरन्तर वृद्धि करने के सुझाव दिए। राज्य सरकारों के योजना सम्बन्धी अधिकतर खर्चे ऋणों तथा सहायक अनुदानों से पूरे होते हैं। तीसरी योजना ही को लीजिए। राज्यों को योजनाओं की कुल लागत ३,८४७ करोड़ रु० निश्चित की गई है जबकि उनके अपने साधनों का अनुमान केवल १४६२ करोड़ रु० ही लगाया गया है। इसमें से २,३७५ करोड़ रु० की पूर्ति केवल ऋणों तथा संघ सरकार की आर्थिक सहायता द्वारा होगी और शेष १० करोड़ रु० के साधनों की खोज राज्यों को स्वयं

करनी होगी। राज्यों को प्राप्त होने वाले संघीय करों के भाग तथा सहायक अनुदानों की स्थिति इस प्रकार थी :—सन् १९५१-५२ में ५२·९ करोड़ रु० संघीय करों में से प्राप्त होता था जिसकी राशि सन् १९६४-६५ में २५७·९ करोड़ रु० हो गई अर्थात् उसमें ३००% की वृद्धि हुई। इसी अवधि में सहायक अनुदानों में लगभग ८½ गुनी वृद्धि हुई। इस प्रकार राज्यों की कुल आय में से संघ सरकार से मिलने वाली राशियों का प्रतिशत सन् १९५१-५२ में २० की अपेक्षा सन् १९६१-६२ में ४०·८ हो गया, हालांकि १९६४-६५ में यह कम हो गया और ३३·३ रह गया। इसी प्रकार केन्द्रीय ऋणों में भी वृद्धि होती गई है। यह निम्न तालिका से स्पष्ट हो जाता है :—

१९६५ में जब पाकिस्तान से संघर्ष छिड़ा तब सरकार को देश की सुरक्षा के लिये फिर से साधनों को जुटाना पड़ा। अक्टूबर १९६५ में तीन योजनाएँ चालू की गईं। प्रथम योजना के अन्तर्गत दो प्रकार के सुरक्षा ऋण लिये गये, एक तीन वर्षीय ४¾% की सूद पर और दूसरा सात वर्षीय ४¾% वाला। दूसरी योजना में स्वर्ण बाण्ड चालू किए गये जिनकी अवधि २२ वर्ष थी। इन बाण्डों को सोने, सोने के सिक्कों और सोने के गहनों द्वारा खरीदा जा सकता था। इनका भुगतान भी सोने ही में वापिस मिलना था। ये बाण्ड धन तथा पूंजी लाभ-कर से मुक्त थे और उपहार कर तथा जायदाद कर के संबंध में भी छूट दी गई थीं। बाण्ड खरीदने वालों को यह यकीन दिलाया गया था कि उनका नाम नहीं बताया जायगा ताकि वे लोग जिन्होंने कर की चोरी करके सोना इकट्ठा किया था, उनसे अधिक से अधिक सोना प्राप्त हो सके। इन लोगों को प्रति १० ग्राम पर २ रु० प्रति वर्ष की दर से भुगतान मिलता रहेगा। तीसरी योजना में प्रति व्यक्ति की विदेशों से प्राप्त आय के रुपये मूल्य के ६०% तक के आयात लाइसेंस मिलने थे। यह आयकर से मुक्त थी। आयात लाइसेंस द्वारा पूँजीगत वस्तुएँ, मशीन के पुर्जे तथा हिस्से और औद्योगिक कच्ची सामग्री विदेशों से मंगाई जा सकती है। अन्तिम योजना का मुख्य उद्देश्य विदेशी मुद्रा साधनों को बढ़ाना था।

निम्नांकित विवरण से स्पष्ट है कि राज्य सरकारें बहुत अंश तक संघ सरकार पर निर्भर रहती हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ऐसी व्यवस्था से संघ सरकार, राज्य सरकारों की नीति को प्रभावित कर सकती है और उन्हें उन योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिए प्रेरित कर सकती है जो देश के लिए आवश्यक हैं और जिन्हें राज्य सरकारें साधारण स्थिति में कार्यान्वित करने की नहीं सोचतीं। इसके अतिरिक्त संघ सरकार विभिन्न राज्यों की नीतियों तथा विकास में एकरूपता भी उत्पन्न कर सकती है परन्तु इस व्यवस्था के कुछ दोष भी हैं। प्रथम, राज्यों में अपने साधन स्वयं जुटाने की क्षमता उत्पन्न नहीं हो पाती। दूसरे, राज्य अपनी इच्छानुसार तथा राज्य विशेष की परिस्थितियों एवं आवश्यकताओं के अनुसार विकास-योजनाएँ बनाने में सफल नहीं होते और अन्त में राज्य सरकारें इस सम्बन्ध में भी निश्चिन्त नहीं हो पातीं कि वे योजना की रूपरेखा किस प्रकार बनावें, क्योंकि उनको यह

तालिका—६

(करोड़ रु० में)

	१९५१–५२	१९५६–५७	१९६१–६२	१९६५–६६ (बजट)
केन्द्रीय करों से प्राप्तियाँ	५२.६	७८.२	१७८.४	२७१.१०
सहायक अनुदान तथा अन्य योगदान	३३.६	३८.८	२१६.६	३४२.६
ऋण	७३.३	२२१.६	४५२.४	६९३.४
केन्द्र से कुल प्राप्तियाँ	१६०.१	३३८.६	८४७.४	१३०७.३
आय खाते में राज्यों का कुल व्यय	३९२.६	६२८.४	११२१.३	१८४०.६
पूंजीगत व्यय	१५१.३	३१९.४	५०९.१	८३७.२
कुल व्यय	५४३.९	९४७.८	१६३०.४	२६७७.८
केन्द्रीय प्राप्तियों का कुल व्यय में प्रतिशत	२९.४	३५.८	५२.०	४८.८
कुल व्यय में ऋणों का प्रतिशत	१३.५	२३.४	२७.७	२५.९

निश्चित नहीं होता कि उनको संघ सरकार से कितनी सहायता तथा ऋण प्राप्त होंगे। अच्छा तो यही होगा कि राज्यों को अधिक स्वतन्त्रता प्रदान की जाए।

बजट नीति का मूल्यांकन—उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि हमारी बजट नीति का मुख्य उद्देश्य देश के नियोजित विकास को प्रोत्साहन देना रहा है और यह भारत जैसे अर्द्ध-विकसित देश के लिए अत्यन्त आवश्यक है ही। भारत में इस समय मिश्रित प्रणाली स्थापित है इसीलिए सरकार ने राजकीय क्षेत्र में विकास-सम्बन्धी कार्य-क्रमों की पूर्ति के लिए बजट-नीति द्वारा अतिरिक्त साधन जुटाने के प्रयत्न किए हैं और निजी क्षेत्र में व्यक्तियों को करारोपण तथा व्यय द्वारा प्रेरणाएँ और प्रोत्साहन देने के प्रयत्न किए हैं। किसी भी देश की बजट-नीति का उद्देश्य आर्थिक विकास को बढ़ावा देने के साथ-साथ आय की असमानताओं को दूर करना, आर्थिक स्थायित्व उत्पन्न करना तथा पूर्ण रोजगार की स्थिति स्थापित करना भी होते हैं। हम जानते ही हैं कि हमारा योजना-सम्बन्धी व्यय योजना प्रति योजना बढ़ता चला जा रहा है। प्रथम योजना में कुल व्यय १९६० करोड़ रु० से बढ़कर दूसरी योजना में ४,६०० करोड़ रु० और तीसरी योजना में ७,५०० करोड़ रु० का व्यय निर्धारित किया गया और चौथी योजना में लगभग २२,०५० करोड़ रु० व्यय करने का लक्ष्य निर्धारित करने की चेष्टा की जा रही है। इन योजनाओं में अधिकांश विनियोग ऐसी मदों पर किए गए हैं जोकि भविष्य में देश के विकास तथा उसकी आत्मनिर्भरता को बढ़ायेंगे अर्थात् लोहा व इस्पात, मशीनें, ओजार तथा अन्य आधारभूत उद्योग। यह अवश्य है कि उपभोग की वस्तुओं के उत्पादन की ओर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया गया है जिसके अभाव में जनता को ऊंचे भावों के बोझ के नीचे दबना पड़ रहा है किन्तु

नियोजन के प्रारम्भिक चरणों में, विशेषकर अर्द्ध-विकसित देशों के लिए यह स्थिति असाधारण नहीं कही जा सकती।

सरकार ने आर्थिक साधनों तथा बचतों को प्रगतिशील बनाने की दिशा में भी काफी प्रयत्न किए हैं। उदाहरणार्थ करारोपण का प्रभावयुक्त उपयोग, ऋण तथा हीनार्थ प्रबन्धन इत्यादि। अत्यधिक करारोपण व्यक्तियों की प्रेरणाओं को कुचल सकता है किन्तु सरकार ने विभिन्न प्रकार की छूट तथा रियायतें प्रदान करके करारोपण के प्रतिकूल प्रभावों को रोकने का प्रयत्न किया है। सरकार ने समाज की बचतों को भी प्राप्त करने के लिए प्रयत्न किए हैं जैसा कि हम ऊपर बता ही चुके हैं। सरकार हीनार्थ प्रबन्धन की नीति का प्रयोग करने में भी काफी सतर्क रही और परिस्थितियों के अनुसार उसमें आवश्यक फेर-बदल करती रही है। जहाँ तक व्यय का प्रश्न है सरकार ने अधिकांश व्यय परिवहन, विद्युत तथा सिंचाई, लोहा तथा इस्पात जैसे आधारभूत उद्योगों के विकास पर किया है, जिससे निजी क्षेत्र में भी उत्पादन को प्रेरणा मिलेगी।

यद्यपि सरकार ने देश में आय के वितरण की असमानताओं को कम करने के प्रयत्न किए हैं, किन्तु जैसा कि महलनोबीस समिति की रिपोर्ट के प्रथम भाग से विदित होता है, सरकार की करारोपण तथा व्यय-सम्बन्धी नीतियाँ इस दिशा में अधिक सफल नहीं हुई हैं। वास्तव में सरकार ने उतने प्रयत्न नहीं किए हैं जितने करने चाहिए। आय-कर में मध्यम आय वालों को अधिक छूट और रियायतें देनी चाहिए तथा अप्रत्यक्ष करों को कम करना चाहिए। अभी की स्थिति इस बात की द्योतक है कि निम्न आय वाले वर्गों को कर का अधिक भार सहन करना पड़ रहा है। इसलिए यह आवश्यक है कि सरकार इस ओर ध्यान दे और साथ ही अपने व्यय में इस प्रकार की हेर-फेर करे कि सामाजिक सेवाओं पर होने वाले व्यय का कुल व्यय में प्रतिशत बढ़ जाए।

सरकार को सबसे कम सफलता मूल्यों को स्थायी रखने तथा बेकारी को कम करने के सम्बन्ध में मिली है। पिछले दो वर्षों में मूल्यों में इतनी अधिक वृद्धि हुई है कि प्रत्येक व्यक्ति इसके भार से कराह उठा है। यद्यपि नियोजन के प्रथम चरणों में मूल्य में वृद्धि स्वाभाविक ही होती है, किन्तु मूल्यों में इतनी अधिक वृद्धि नहीं होनी चाहिए। सच तो यह है कि भारत सरकार मूल्यों को नियन्त्रित करने की नीति में सफल नहीं हुई है। हीनार्थ प्रबन्धन तथा रिजर्व बैंक और राज्य सरकारों द्वारा ऋण पत्र खरीदे जाने के कारण जो मुद्रा का प्रवाह बढ़ा और जो अतिरिक्त क्रय-शक्ति व्यक्तियों के हाथों में गई, उसको वापिस निकाल लेने में सरकार सफल नहीं हुई है। इसके अतिरिक्त जहाँ योजनाओं की कुल लागत का एक बहुत बड़ा भाग कृषि की उन्नति तथा ग्रामीण क्षेत्रों के विकास हेतु खर्च किया गया है, वहाँ कृषि उत्पादन विशेष कर अनाज के उत्पादन में कोई विशेष वृद्धि नहीं हुई, जिसके परिणामस्वरूप ही मूल्यों की यह वृद्धि हुई है। इसी प्रकार सरकार बढ़ती हुई बेकारी को दूर करने में भी सफल नहीं हुई है।

निष्कर्ष:—उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि भारत की बजट नीति, आर्थिक विकास सम्बन्धी उद्देश्यों की पूर्ति भली प्रकार करने में सफल नहीं हुई है। हमारे आर्थिक विकास का क्रम अभी जारी रहेगा और भविष्य में प्रत्येक अगली योजना में व्यय की राशि पिछली की अपेक्षा अधिक ही होगी। इसके अतिरिक्त देश की सुरक्षा का भी प्रश्न है। अभी तक हम अपनी सीमाओं की अच्छी प्रकार से देख-भाल नहीं करते रहे, जिसके कारण हमें विगत वर्षों में इतनी आपत्ति का सामना करना पड़ा। पाकिस्तान और चीन से हमारे सम्बन्ध सुधरने की कोई आशा नहीं दीखती। इसलिए सरकार को विकास और सुरक्षा, दोनों ही के लिए आवश्यक साधनों को जुटाना पड़ेगा और अपनी बजट नीति को इसके अनुकूल बनाना होगा। योजनाओं के कार्यान्वयन से जो राष्ट्रीय आय में वृद्धि होगी उसका उपयोग बढ़ते हुए अनुपात में विकास तथा सुरक्षा व्यय की पूर्ति हेतु करना होगा। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये अधिकाधिक करारोपण का प्रयोग करना होगा। नये-नये करों को लागू करना होगा तथा पुराने करों की दरों को बढ़ाना पड़ेगा। किन्तु करारोपण के ढांचे को इस प्रकार बदलना होगा कि कर के भार का न्यायपूर्ण वितरण हो और साथ ही देश में बचत तथा विनियोग प्रोत्साहित हों। राज्यों को भूमि कर तथा बिक्री-कर की व्यवस्था में उचित परिवर्तन करने होंगे ताकि इन से अधिक आय प्राप्त हो सके, ये अधिक न्यायपूर्ण बन सकें और कर-वंचन भी रुक सके। कर-वंचन को तो सामान्य रूप से रोकने के लिए सरकार को उपाय करने होंगे। जहाँ तक हीनार्थ प्रबन्धन का सम्बन्ध है, सरकार को काफी सतर्कता से कार्य करना पड़ेगा और इसकी राशि कम से कम रखनी पड़ेगी क्योंकि कीमतों को और अधिक बढ़ने नहीं दिया जा सकता। यह सच है कि आर्थिक विकास के प्रारम्भिक चरणों में प्रत्येक देश ने विदेशों से सहायता प्राप्त की किन्तु विदेशी सहायता पर पूर्णतया निर्भर होना भी तो देश के हित में नहीं होता, इसलिए यह आवश्यक है कि हम विदेशी सहायता पर अपनी निर्भरता को वर्ष प्रति वर्ष कम करते जाएँ। इसके अतिरिक्त हमको अपने निर्यातों में वृद्धि करनी होगी तथा राजकीय उपक्रमों से अधिकाधिक आधिक्य प्राप्त करने होंगे। जहाँ तक राजकीय ऋणों का सम्बन्ध है सरकार को अधिकाधिक मात्रा में अल्प बचतों को प्राप्त करना होगा। बड़े-बड़े ऋण प्राप्त करने के सम्बन्ध में यह ध्यान में रखना होगा कि इनका निजी क्षेत्र पर प्रतिकूल प्रभाव न पड़े।

यह सच है कि राजकीय व्यय साधनों को गतिशील बनाने के लिए आवश्यक होता है किन्तु यदि असावधानी के साथ किया गया व्यय और आवश्यकता न होने पर किया जाने वाला व्यय देश में स्फूर्ति उत्पन्न करने के स्थान पर व्यक्तियों की बचत तथा विनियोग करने की प्रेरणाओं को समाप्त कर देता है। इसलिए यह आवश्यक है कि भारत सरकार अपनी व्यय नीति में उचित हेर-फेर करे। अतः स्पष्ट है कि सरकार को भविष्य में अत्यन्त होशियारी तथा सावधानी से कार्य करना होगा।

भाग ७

वित्तीय प्रशासन

अध्याय ३३

वित्तीय प्रशासन—सिद्धान्त एवं व्यवहार में

(FINANCIAL ADMINISTRATION IN THEORY AND PRACTICE)

प्राक्कथन—

पिछले अध्यायों में हमने देखा है कि सरकार अपने कार्यों को सम्पन्न करने के लिए विभिन्न स्रोतों से आय प्राप्त करती है। प्रश्न यह है कि जो आय सरकार प्राप्त करती है तथा उसको जिस प्रकार खर्च करती है उसकी व्यवस्था का मुख्य उद्देश्य क्या होना चाहिए तथा इस व्यवस्था की विधि क्या हो ? साधारणतया सभी इस विचार से सहमत हैं कि सरकार को अपनी आय तथा व्यय का प्रबन्ध इस प्रकार करना चाहिए कि किसी एक वर्ग पर भार अधिक न पड़े, अर्थात् सभी वर्गों पर आय का भार समान हो और सरकारी व्यय से समाज को अधिकतम लाभ पहुँचे। जिस प्रकार किसी व्यक्ति के लिये अपने हिसाब को ठीक रखना और समय-समय पर विभिन्न मदों पर किये जाने वाले व्यय तथा उनसे प्राप्त होने वाले लाभों में संतुलन स्थापित करना आवश्यक होता है और उसकी जाँच-पड़ताल भी करते रहना आवश्यक होता है ताकि व्यक्ति को अपनी आर्थिक स्थिति का पूरा ज्ञान रहे, उसी प्रकार सरकार के लिए भी यह परम आवश्यक है कि वह अपने हिसाबों को ठीक रखे तथा उनकी जाँच-पड़ताल कराती रहे ताकि आय एकत्रित करने की न्यायशीलता तथा व्यय की मितव्ययिता को निश्चित रूप से प्राप्त किया जा सके। यही वित्तीय प्रशासन की विषय सामग्री है। वित्तीय प्रशासन, राजकीय शासन-प्रबन्ध का ही एक अंग है और यह विज्ञान और कला दोनों ही है। विज्ञान के रूप में यह राजकीय वित्त-व्यवस्था को नियन्त्रित करने तथा उसकी समुचित व्यवस्था करने के लिये निश्चित नियमों तथा सिद्धान्तों की रचना करता है और कला की दृष्टि से यह "सरकारी संगठन का वह भाग है जो राजकीय कोषों के एकत्रण, संरक्षण और वितरण का

राजकीय आय तथा व्यय के समायोजन का, राज्य की ओर से किये जाने वाले साख सम्बन्धी कार्यों की व्यवस्था का तथा राजकीय घर-गृहस्थी के वित्तीय मामलों के सामान्य नियन्त्रण का अध्ययन करती है।"[1]

उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार वित्तीय प्रशासन के अन्तर्गत मुख्यतया चार विषयों का समावेश होता है, अर्थात् (१) राजकीय आय का एकत्रीकरण, संरक्षण तथा वितरण; (२) आय तथा व्यय का समायोजन; (३) राजकीय ऋणों की व्यवस्था और राज्य के वित्तीय मामलों का सामान्य नियन्त्रण। जहाँ तक आय का सम्बन्ध है, आय प्राप्त करने की सारी रीतियाँ देश के संविधान द्वारा निश्चित की जाती हैं। देश की कार्यकारिणी (Executive) सरकार की आय तथा ऋणों का संगठन करती है, हिसाब-किताब की पुस्तकों की जाँच-पड़ताल जांच विभाग द्वारा (Audit Department) द्वारा होती है और देश का केन्द्रीय बैंक सरकारी खजांची का काम करता है। कार्यकारिणी सभा आय तथा व्यय की स्थिति को ध्यान में रखकर अपने अनुमान बनाती है जो मुख्य रूप से वित्त मंत्रालय द्वारा किया जाता है और जिनको स्वीकृति के लिए संसद के सामने रखा जाता है। आय तथा व्यय के सम्बन्ध में समय-समय पर रिपोर्ट तैयार की जाती है और संसद के सामने प्रस्तुत की जाती है ताकि नियन्त्रण की कुशलता बनी रहे।

वित्तीय प्रशासन के मुख्य सिद्धान्त—

वित्तीय प्रशासन की कुशलता के लिए निम्न सिद्धान्तों की रचना की गई है :—

१. प्रभावयुक्त नियन्त्रण—वित्तीय प्रशासन की कुशलता के लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक अवस्था पर कड़ा नियन्त्रण रहे जो कार्यकारिणी सभा तथा कानून बनाने वाली सभा दोनों की ही ओर से होना चाहिये और जहाँ तक सम्भव हो यह नियन्त्रण सरलतम हो।

२. नियम बनाने वाली सभा की इच्छानुसार काम करना—वित्तीय प्रशासन उसी समय कुशल हो सकता है जबकि सभी वित्तीय मामलों में नियम बनाने वाली सभा (Legislature) की इच्छानुसार काम किया जाये। कार्यकारिणी सभा का यह कर्त्तव्य है कि वह उतने ही धन को एकत्रित करे तथा व्यय करने की योजना बनाये जो नियम बनाने वाली सभा द्वारा निर्धारित कर दिया गया है। आधुनिक समय में बजट प्रणाली इस सिद्धान्त का पालन करती है।

३. संगठन की एकता—वित्तीय प्रशासन की व्यवस्था की प्रत्येक अवस्था पर शासन में एकरूपता होनी चाहिये। यह उसी समय सम्भव हो सकता है जब कि सम्पूर्ण व्यवस्था पर केवल एक ही अधिकारी का नियन्त्रण रहे। इसलिए यह आवश्यक है कि वित्तीय प्रशासन पर केन्द्रीय सरकार का नियन्त्रण रहे और प्रत्येक व्यक्ति की जिम्मेदारी निश्चित कर दी जाये। इसके लिये यह आवश्यक है कि वित्तीय

1. Quoted by L. C. Tandon and others: *Public Economics* (Hindi), page 118.

संगठन का एकीकरण कर दिया जाये। केन्द्रीयकरण तथा एकीकरण से केवल यही अभिप्राय है कि विभिन्न अधिकारियों के बीच समचय रहे और उच्च अधिकारियों का निम्न अधिकारियों पर नियन्त्रण रहे।

४. सरलता—वित्तीय प्रशासन व्यवस्था सरलतम रहनी चाहिये और कार्य शीघ्रता तथा नियमितता के साथ होने चाहियें ताकि शासन में मितव्ययिता आये और प्रत्येक व्यक्ति शासन-प्रवन्ध के कार्य संचालन को समझ सके, तभी वित्तीय प्रशासन में कुशलता भी उत्पन्न हो सकेगी। नियमितता तथा मितव्ययिता के लिए यह आवश्यक है कि धन को ऐसे खर्च किया जाय कि उसका पूरा-पूरा लाभ प्राप्त हो सके।

भारत में वित्तीय प्रशासन—हमारे देश में राजकीय वित्त पर निम्न संस्थाओं द्वारा नियन्त्रण किया जाता है :—

१. नियम वनाने वाली सभा (Legislature)।
२. कार्यकारिणी सभा (Executive)।
३. वित्त मंत्रालय (Finance Ministry)।
४. जाँच विभाग (Audit Department)।

१. नियम वनाने वाली सभा—यह सभा राज्य के सभी स्रोतों से प्राप्त आय, राज्य के सभी मदों पर किये गये व्यय, राज्य द्वारा लिये गये सभी ऋणों तथा राज्य के सभी हिसाबों पर नियन्त्रण रखती है। यह कार्यकारिणी सभा को नये कर लगाने तथा वर्तमान करों की दरों को बढ़ाने की आज्ञा देती है। यह खर्च की मदों तथा ऋण प्राप्त करने की योजनाओं तथा स्रोतों को निर्धारित करती है। वास्तव में होता यह है कि यह सभा आय प्राप्त करने के लिए नये करों को लगाने तथा पुराने करों में वृद्धि करने, व्यय की नई मदें तथा पुरानी मदों पर व्यय की राशि को निर्धारित करने और पुराने ऋणों का भुगतान तथा नये ऋण प्राप्त करने के सुझाव स्वयं प्रस्तुत नहीं करती वरन् यह प्रस्ताव कार्यकारिणी सभा द्वारा प्रस्तुत किये जाते हैं जिनको स्वीकार या अस्वीकार करने का अधिकार इस सभा को होता है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि यह सभा स्वयं अपनी इच्छा से कोई भी परिवर्तन नहीं कर सकती, केवल कार्यकारिणी सभा द्वारा रखे गये प्रस्तावों पर ही अपना मत प्रकट कर सकती है और वित्तीय प्रशासन के सभी क्षेत्रों में जो भी नए उपाय किये जायेंगे उन सभी पर कार्यकारिणी सभा द्वारा निर्णय लिये जायेंगे।

नियम वनाने वाली सभा दो समितियों द्वारा वित्तीय नियन्त्रण करती है। प्रथम, अनुमान समिति (Estimates Committee) तथा दूसरी राजकीय हिसाव समिति (Public Accounts Committee)। प्रथम समिति का कर्तव्य यह देखना है कि नियम वनाने वाली सभा द्वारा जो खर्चे मन्जूर किए गए हैं वह मितव्ययिता से किये गए हैं या नहीं; तथा दूसरी समिति यह देखती है कि राजकीय व्यय उचित ढंग से किया गया है और हिसावों को ठीक प्रकार से रखा गया है या नहीं।

(२) कार्यकारिणी सभा—यह सभा सम्पूर्ण देश के लिए एक सामान्य नीति निर्धारित करती है और विभिन्न अधिकारियों के शासन-सम्बन्धी कर्त्तव्यों, उनके वेतनों, उनके अवकाश की अवधि तथा पेंशन आदि को निश्चित करती है। वित्त-सम्बन्धी सभी मामले जिनकी मंजूरी वित्त मंत्रालय से लेनी होती है एक अर्थ समिति (Economy Committee) के पास भेज दिये जाते हैं जिसमें वित्त मंत्री के अतिरिक्त वित्त से सम्बन्धित ५ अन्य मन्त्री भी होते हैं। हर मन्त्री अपने व्यय के प्रस्तावों को इस समिति के अध्यक्ष के पास भेजता है जो खूब जांच-पड़ताल के बाद मंजूरी के लिए समिति के सामने रख देता है। सभी मामलों में समिति का निर्णय अन्तिम रहता है।

(३) वित्त-मंत्रालय—राजकीय वित्त-सम्बन्धी सभी मामलों पर केन्द्र में वित्त मंत्रालयों द्वारा नियंत्रण रखा जाता है तथा राज्यों में वित्त विभाग (Finance Department) द्वारा नियंत्रण रखा जाता है। वित्त मंत्रालय का मुख्य कर्त्तव्य यह देखना है कि सरकारी विभागों में धन को खर्च करने में मितव्ययिता का उपयोग किया गया है कि नहीं, सरकारी कर्मचारियों ने उचित रूप से खर्चा किया है या नहीं तथा यह भी देखना है कि राज्य के विभिन्न विभागों को जितना धन दिया गया था उतना ही वे खर्च कर रहे हैं या नहीं। यदि मंजूर किया हुआ धन वर्ष में खर्च नहीं हुआ है तो राज्यों ने उसे केन्द्र को लौटाया या नहीं। मंत्रालय के पास, विभिन्न खर्च करने वाले विभाग समय-समय पर अपनी रिपोर्ट भेजते रहते हैं जिनकी जांच करने के बाद मंत्रालय को यदि आवश्यकता होती है तो उनको सलाह देता है। यह विभिन्न विभागों के खर्चों में सामञ्जस्य स्थापित करता है और यह प्रयत्न करता है कि विभिन्न विभाग अपने कार्य कम से कम मूल्य पर करें।

वित्तीय प्रशासन की कुशलता के लिए यह भी आवश्यक है कि वित्त मंत्रालय का तथा वित्त विभाग का राजकीय आय पर भी पूरा-पूरा नियंत्रण रहे। खेद है कि देश में राज्यों के वित्त विभागों का आय पर अधिक नियंत्रण नहीं है। राज्यों में मालगुजारी का नियंत्रण वित्त विभाग द्वारा न होकर आय विभाग द्वारा किया जाता है। इसी प्रकार वित्त विभाग का आय की अन्य मदों जैसे आबकारी, रजिस्टरी, जंगलात आदि पर भी बहुत कम नियंत्रण है। हां, इतना अवश्य है कि वित्त विभाग के पास सभी विभागों की रिपोर्ट आती रहती है और आवश्यकता पड़ने पर उनको सलाह देता रहता है। किन्तु केन्द्र में केन्द्रीय आय विभाग पूर्णरूप से वित्त विभाग के निर्देशन में कार्य करता है और केन्द्रीय आय विभाग के हाथ में केन्द्रीय सरकार की अधिकतर आय आती है। वित्त विभाग व्यय को नियन्त्रित करने के अधिकार का पालन करते हुए भी कुछ शक्तियां दूसरे विभागों को हस्तान्तरित कर देता है जो केवल उसके द्वारा निर्धारित कार्यक्रम को ही पूरा करते हैं। अपनी ओर से नए खर्च करने का अधिकार उन्हें नहीं होता। राज्यों में वित्त विभाग का सचिव राज्यों के वित्तीय शासन का नियंत्रण करता है, परन्तु केन्द्र में यह कार्य अलग-अलग विभाग द्वारा किये जाते हैं। आय और व्यय की देखभाल तथा प्रबन्ध आय-व्यय विभाग

करता है और बजट बनाने तथा उसकी देखभाल करने का काम वित्त विभाग द्वारा किया जाता है। यह बांड तथा प्रतिभूतियों द्वारा आय प्राप्त करने के कार्यक्रम को निश्चित करता है, पूंजीगत व्यय के लिए धनराशि निर्धारित करता है और समय-समय पर देश की आर्थिक नीति को देखता-भालता रहता है। आय-व्यय विभाग राजकीय आय और व्यय पर नियन्त्रण रखता है और यह काम वित्त विभाग के उपसचिवों द्वारा किया जाता है जो विभिन्न मन्त्रालयों के आर्थिक सलाहकारों के रूप में काम करते हैं।

(४) जाँच विभाग—कार्य-कारिणी सभा जिस धन को प्राप्त करती है तथा व्यय करती है उसकी जाँच-पड़ताल यह विभाग करता है। यह पूर्णरूप से स्वतन्त्र होता है और कार्य-कारिणी सभा की त्रुटियों को नियम बनाने वाली सभा के सामने रखता है। यह विधि इस प्रकार है : हिसाब की प्रत्येक त्रुटि को नियन्त्रक तथा महालेखा परीक्षक (Controller and Auditor General) उसको राजकीय हिसाब समिति (Public Accounts Committee) के सामने लाता है जो नियम बनाने वाली सभा के सामने प्रस्तुत करती है। इस प्रकार यह महालेखा परीक्षक नियम बनाने वाली सभा तथा कार्यकारिणी सभा के बीच एक आवश्यक कड़ी होती है। कार्य-कारिणी सभा सरकारी कर्मचारियों से सम्बन्धित जितनी भी बातों को निर्धारित करती है उसमें महालेखा परीक्षक यह देखता है कि सरकार की आज्ञाओं का उचित पालन हो रहा है या नहीं और यदि किसी भी विभाग के हिसाब में कोई त्रुटि होती है तो उसको सरकार की दृष्टि में लाने का काम महालेखा परीक्षक का ही होता है।

बजट—हमारे लिए यह जानना भी आवश्यक है कि सरकार वित्तीय प्रशासन सम्बन्धी सिद्धान्तों को किस प्रकार कार्यान्वित करती है। सरकार किस प्रकार आय-व्यय और ऋण-सम्बन्धी नीतियों को व्यावहारिक रूप प्रदान करती है। संक्षेप में इन सब प्रश्नों का उत्तर यह दिया जा सकता है कि सरकार यह सब कार्य बजट द्वारा करती है। इसलिए बजट का अध्ययन किसी भी देश के वित्तीय शासन के अध्ययन का प्रमुख विषय होता है।

बजट का उद्गम फ्रांसीसी भाषा के शब्द 'Bougette' से हुआ है जिसका अर्थ चमड़े का एक छोटा-सा थैला है। १८वीं शताब्दी तक बजट व्यवस्थाओं को गुप्त रखने का रिवाज था। इसलिए सन् १७३३ में इंगलैण्ड में इस शब्द का प्रयोग जादू के पिटारे के अर्थ में किया जाता था और उसको 'बजट खुला' के नाम से पुकारते थे। अतः मौलिक तथ्य यह था कि संसद में प्रस्तुत होने से पहले बजट के प्रस्तावों को वित्त मंत्री के अतिरिक्त और कोई भी नहीं जान पाता था। बजट राजकीय आय तथा व्यय का एक विवरण होता है। परन्तु आजकल बजट का अर्थ केवल थैले या विवरण से ही नहीं लिया जाता वरन् उस थैले के अन्दर ही वस्तुओं और विवरण की मुख्य मदों से लगाया जाता है। इस अर्थ में सर्वप्रथम फ्रांस ने सन् १८०३ में इस शब्द का प्रयोग किया था। बजट की परिभाषा के सम्बन्ध में लेखकों का एक मत नहीं है और इस प्रकार अन्य आर्थिक शब्दों की भाँति बजट

की भी बहुत सी परिभाषाएँ देखने को मिलती हैं। हम इनमें से कुछ परिभाषाएँ निम्न में दे रहे हैं :—

बिल्यू (Beaulieu) के शब्दों में, "यह एक निश्चित अवधि के आय तथा व्यय के अनुमानों का विवरण है। यह एक तुलनात्मक तालिका है जिसमें प्राप्त होने वाली आय की राशियों तथा किए जाने वाले व्ययों को दिखाया जाता है, इसके अतिरिक्त यह उचित अधिकारियों की ओर से एक अधिकार या आदेश है जो खर्च करने तथा आयों को एकत्रित करने के लिए दिया जाता है।"

जेज़ (Jeze) के अनुसार "आधुनिक राज्य में बजट एक भविष्यवाणी है और सभी राजकीय आयों तथा व्ययों का एक अनुमान है तथा कुछ विशेष खर्चों और आयों के लिए धन एकत्रित करने और उनको खर्च करने का एक आदेश है।"

यदि देखा जाये तो इन दोनों परिभाषाओं में कोई विशेष अन्तर नहीं है। दोनों ही परिभाषायें बजट को आयों और व्ययों का अनुमान मानती हैं और आयों को एकत्रित करने तथा उनको खर्च करने के लिये एक आदेश के रूप में स्वीकार करती हैं। बजट की एक संक्षिप्त परिभाषा स्टोर्न (Stourn) ने दी है। वह कहते हैं कि "बजट एक ऐसा लेखा है जिसमें राजकीय आय तथा व्यय की एक स्वीकृत प्रारम्भिक योजना होती है।"

सबसे उपयुक्त परिभाषा विलोबी (Willoughby) ने दी है। उनके शब्दों में "बजट एकदम एक रिपोर्ट, एक अनुमान तथा एक प्रस्ताव है। यह एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा वित्तीय प्रशासन की सभी विधियों को सम्बन्धित किया जाता है, उनकी तुलना की जाती है और समचय स्थापित किया जाता है।"

इन सब परिभाषाओं के आधार पर बजट को संक्षेप में किसी निश्चित अवधि में राजकीय आय तथा व्यय का एक समुचित विवरण कह सकते हैं और इस प्रकार बजट के तीन मुख्य अंग होते हैं। प्रथम, बजट में एक वित्तीय योजना प्रस्तुत की जाती है, दूसरे, इस योजना को बनाने, कार्यान्वित करने तथा नियन्त्रित करने की विधि दी जाती है और तीसरे, इस विधि को कार्यान्वित करने की प्रत्येक अवस्था पर कौन-सा विभाग जिम्मेदार होगा यह भी बताया जाता है।

बजट की तैयारी—जैसा हम पहले कह चुके हैं बजट कार्य-कारिणी सभा द्वारा तैयार किया जाता है। बजट तैयार करने से पहले विभिन्न विभागों के अध्यक्षों को सूचित किया जाता है कि वह अपने-अपने विभाग की आय तथा व्यय के अनुमान भेजें। यह अनुमान मुख्य रूप से दो भागों में विभाजित किये जाते हैं। प्रथम, वर्तमान आय तथा व्यय से सम्बन्धित अनुमान और दूसरे आने वाले वर्ष की आय तथा व्यय के अनुमान। अर्थात् पहले भाग का सम्बन्ध वर्तमान से होता है और दूसरे भाग का सम्बन्ध भविष्य से होता है। पहले भाग में आय और व्यय अलग-अलग दिखाये जाते हैं और इनको अर्थ विभाग से प्राप्त फार्मों पर दिखाया जाता है जिनमें निम्न मुख्य शीर्षक होते हैं :—

(१) पिछले वर्ष की वास्तविक आय तथा व्यय।
(२) चालू वर्ष के आय तथा व्यय सम्बन्धी स्वीकृत अनुमान।
(३) चालू वर्ष के दुहराए हुए आय-व्यय अनुमान।
(४) भावी वर्ष के बजट अनुमान, और
(५) चालू वर्ष तथा पिछले वर्ष के वास्तविक आय-व्यय सम्बन्धी आँकड़े।

भारत में बजट तैयारी:—हमारे देश में संघीय शासन-प्रबन्ध है, इसलिए केन्द्रीय सरकार का बजट अलग तैयार किया जाता है और प्रत्येक राज्य अपना बजट अलग तैयार करता है। उपर्युक्त ५ शीर्षकों में से केवल दूसरे शीर्षक के अतिरिक्त सभी शीर्षकों में सूचना स्थानीय अफसरों द्वारा दी जाती है। इन सब शीर्षकों में तीसरा और चौथा शीर्षक महत्वपूर्ण है। पहले से तीसरे शीर्षक के अन्तर्गत आँकड़े प्राप्त किए जाते हैं और उसके बाद इसके आधार पर चौथे शीर्षक के आँकड़े तैयार होते हैं। इन सब अनुमानों में बड़ी सावधानी से काम लेना पड़ता है, क्योंकि बजट अनुमान आने वाले वर्ष में वास्तविक आय तथा व्यय से बहुत अधिक भिन्न नहीं होना चाहिए। इन भिन्नताओं से बजट बनाने वाले अधिकारियों की हीन कुशलता का परिचय प्राप्त होता है।

अनुमानों के दूसरे भाग में नई-नई योजनाओं, जिनको अगले वर्ष कार्यान्वित किये जाने का विचार है, उन पर किये जाने वाले व्यय का अनुमान होता है। हमारे देश में प्रत्येक राज्य विभिन्न खण्डों तथा जिलों में बाँटा गया है। जिले का अध्यक्ष कलैक्टर होता है जो सरकार की ओर से अपने जिले की आय एकत्रित करता है और उसको खर्च करता है। कलैक्टर आवश्यक सूचनाओं को स्थानीय अफसरों से प्राप्त करता है और उन सबके अनुमानों को जोड़कर शासन तथा अर्थ विभाग को भेज देता है।

इसके बाद बजट तैयार करने का दूसरा खण्ड आरम्भ होता है। इन सब अनुमानों को प्राप्त करके शासन विभाग निरीक्षण करने के बाद अपनी टिप्पणियों सहित अर्थ विभाग को भेज देता है जो इन अनुमानों का निरीक्षण फिर करता है। यदि इन दोनों विभागों में कोई मतभेद होता है तो उसकी सूचना सरकार को दे दी जाती है और सरकार का निर्णय प्राप्त किया जाता है।

अन्त में इन सब अनुमानों के आधार पर अर्थ विभाग बजट तैयार करता है। नए-नए करों के लगाने के प्रस्ताव दिए जाते हैं तथा बचे हुए धन को खर्च करने की योजनायें दी जाती हैं। इन सब निर्णयों के पश्चात् बजट नियम बनाने वाली सभा के सामने प्रस्तुत किया जाता है जो आवश्यक वाद-विवाद के बाद बजट को पास करती है।

हमारे देश में बजट फरवरी के महीने में प्रस्तुत किया जाता है और उसको बनाने का कार्य ६ महीने पहिले से आरम्भ हो जाता है।

अर्थ विभाग बजट को तैयार करके कार्यकारिणी सभा को दे देता है। सभी विभागों के मंत्री अपना-अपना मत प्रकट करते हैं और बजटों को सरकार की सामान्य वित्तीय नीति के अनुकूल बनाने का प्रयत्न करते हैं। कार्यकारिणी सभा की

स्वीकृति के पश्चात् बजट सभी मंत्रालयों की सामूहिक जिम्मेदारी हो जाती है। इसके बाद वित्त-मन्त्री फरवरी के अन्त में या मार्च के आरम्भ में बजट को नियम बनाने वाली सभा के सम्मुख प्रस्तुत करता है। बजट को मंजूर होने से पहले तीन अवस्थाओं में से निकलना होता है। पहला नियम बनाने वाली सभा के सम्मुख उपस्थापन, दूसरा वाद-विवाद तथा मतदान और तीसरा राष्ट्रपति या राज्यपाल की स्वीकृति।

नियम बनाने वाली सभा के सम्मुख बजट को प्रस्तुत करते समय वित्त-मंत्री भाषण देता है। बजट प्रस्तुत होने से पहले के कुछ दिन व्यापारिक जगत में बड़ी उत्सुकता से कटते हैं और व्यापार तथा वाणिज्य में निस्तब्धता सी आ जाती है। वित्त-मंत्री अपने भाषण में पिछले वर्ष के १०—११ महीनों का हिसाब पहले प्रस्तुत करता है और उसके बाद बचे हुए एक दो मास की आय का विवरण देता है और अन्त में आने वाले वर्ष के अनुमानों को पेश करता है। यदि पिछले वर्ष और चालू वर्ष के आँकड़ों में अधिक अन्तर है तो वह उसके कारण प्रस्तुत करता है। वह नए-नए करों तथा पूँजीगत व्ययों के प्रस्ताव देता है। यदि बजट में कोई आधिक्य है तो वित्त-मंत्री उसको खर्च करने का सुझाव देता है और करारोपण में सम्भावित कमी को बताता है। यदि बजट में घाटा है तो वह उसको पूरा करने के लिए अपने उपाय प्रस्तुत करता है। वह पूँजी-निर्माण तथा विकास की उन योजनाओं को भी बताता है जो सरकार कार्यान्वित करने जा रही है और इनसे सम्बन्धित आर्थिक साधनों का भी विश्लेषण करता है। वित्त-मन्त्री के भाषण के बाद उस दिन का कार्य समाप्त हो जाता है और बजट पर विचार करने के लिए कई दिन नियत कर दिए जाते हैं। बजट पर पहले तो साधारण बहस होती है और उसके बाद नई-नई माँगों पर मत प्रगट किया जाता है। इस अवधि में विधानसभा के सदस्य सरकार की आर्थिक नीति की आलोचनाएँ करते हैं। नियम बनाने वाली सभा के सदस्यों को सरकार के प्रत्येक खर्चों पर अपनी राय प्रकट करने का अधिकार नहीं है। हमारे संविधान की धारा ११२ में इन मदों की गणना की गई है। यह इस प्रकार है—

(१) राष्ट्रपति का वेतन, भत्ते तथा उसके दफ्तर से सम्बन्धित अन्य खर्चे।

(२) विधान सभा के अध्यक्ष, उपाध्यक्ष का वेतन तथा लोक सभा के प्रवक्ता तथा उप-प्रवक्ता के वेतन तथा भत्ते।

(३) ऋण-सम्बन्धी मूलधन तथा ब्याज का भुगतान।

(४) ऋण लेने और उसका हिसाब रखने से सम्बन्धित खर्चे।

(५) सर्वोच्च न्यायालय (Supreme Court), उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों को प्राप्त होने वाले वेतन, भत्ते तथा पेंशन।

(६) सर्वोच्च न्यायालय के शासन का व्यय तथा उसके कर्मचारियों के वेतन, भत्ते तथा पेंशन।

(७) कन्ट्रोलर तथा आडीटर जनरल के भत्ते तथा पेंशन और उनके कार्यालयों के शासन-सम्बन्धी व्यय, तथा कार्यालयों में काम करने वाले कर्मचारियों के वेतन, भत्ते और पेंशन।

(८) किसी मुकदमे से सम्बंधित व्यय।

(९) कोई भी अन्य व्यय जिसको विधान तथा राष्ट्रपति ने इस श्रेणी में रख दिया हो।

बजट पर सामान्य विचार प्रगट करते समय सदस्यों को उचित आलोचनाएँ करने का अधिकार अवश्य होता है। सामान्य बहस होने के बाद विभिन्न विभागों के मंत्री अपने-अपने विभागों के लिए अनुदानों की माँग रखते हैं और इन पर अलग-अलग बहस होती है। व्यय की कुछ मदें ऐसी भी होती हैं जिनके लिए संचित कोष (Consolidated Fund) से प्रत्यक्ष माँग की जाती है। इन मदों पर भी सदस्यों को वोट देने का अधिकार नहीं होता। परन्तु इस प्रकार की मदों पर बहस करने का सबसे बड़ा लाभ यह होता है कि सरकार को यह पता लग जाता है कि बजट की ओर से सदस्यों में क्या प्रतिक्रियायें हुई हैं।

हर विभाग का मंत्री अपनी माँगों को प्रस्तुत करते समय एक भाषण देता है। वह चालू वर्ष में किए गए कार्यों की विवेचना करता है और आने वाले वर्ष के लिए योजना प्रस्तुत करता है। जिन सदस्यों को बहस करने में रुचि होती है वे अपनी आलोचनाएँ या प्रशंसा प्रगट करते हैं और अपने सुझाव भी देते हैं। प्रत्येक माँग पर बहस करने के लिए एक निश्चित समय नियत कर दिया जाता है। यदि बहस उतने समय में पूरी नहीं होती तो उसको अधूरा ही छोड़ दिया जाता है और इस प्रकार बजट की बहुत सी मदें ऐसी होती हैं जिन पर बहस हो ही नहीं पाती। किसी की अनुदान की माँग को कम करने के लिए प्रस्ताव दिए जा सकते हैं, जिनका उद्देश्य या तो मितव्ययिता लाने का हो सकता है या आवश्यक सूचना प्राप्त करने का हो सकता है या व्यय के प्रस्ताव के उचित तथा अनुचित होने की बात का पता लगाया जा सकता है। कटौती के प्रस्ताव अधिकतर अन्तिम उद्देश्य से ही रखे जाते हैं और इनकी प्रकृति अधिकतर राजनैतिक होती है। पहले उद्देश्य के दृष्टिकोण से व्यय में काफी बड़ी मात्रा की कटौती के प्रस्ताव रखे जाते हैं। ऐसी स्थिति में मंत्री को यह साफ-साफ बता देना पड़ता है कि कौनसी मद में कटौती की जा सकती है और किन कारणों से दूसरी स्थिति में केवल छोटी सी ही कटौतियों के प्रस्ताव होते हैं। यदि मंत्री-विशेष का उत्तर संतोषजनक है तो कटौती के प्रस्ताव को वापिस ले लिया जाता है और यदि ऐसा नहीं होता तो उस पर वोट लिए जाते हैं। यदि कटौती का प्रस्ताव पास हो जाता है तो इसका अभिप्राय सरकार के प्रति अविश्वास मत से हो सकता है। परन्तु इस स्थिति में यह आवश्यक नहीं कि सरकार अपने पद को त्याग दे।

जब माँगों पर वोटिंग समाप्त हो जाता है तब केन्द्र में राष्ट्रपति और राज्यों में राज्यपाल की स्वीकृति ली जाती है। इन लोगों को यह भी अधिकार होता है कि जिन व्यय की मदों को विधान सभा में स्वीकार नहीं किया है उनके लिए भी स्वीकृति दे दें और यदि चाहें तो बजट को पुनः विचार करने के लिए विधान सभा को लौटा सकते हैं।

अनुपूरक माँगें (Supplementary Demands)—कभी-कभी ऐसा होता है कि पूर्व निश्चित व्यय की राशि से काम नहीं चल पाता और वर्ष के बीच में ही अधिक धन की आवश्यकता अनुभव होती है। ऐसी स्थिति में विधान सभा के सम्मुख अनुपूरक माँगें रखी जाती हैं, जिनका अनुमान लगभग उसी रीति से लगाया जाता है जिससे कि बजट के अनुमान लगाए जाते हैं और इनको पास करने की भी वही रीति अपनाई जाती है जो कि बजट के पास करने में होती है।

सांकेतिक माँगें (Token Demands)—कभी-कभी ऐसा होता है कि सरकार कुछ ऐसी मदों पर खर्च करना चाहती है जो बजट में सम्मिलित नहीं किए जा सकते थे और यह मद इतने महत्वपूर्ण होते हैं कि बिना संसद के सम्मुख लाए हुए और उसकी स्वीकृति प्राप्त किए हुए इन पर खर्च करना भी उचित नहीं होता। ऐसी स्थिति में सरकार एक रुपए तक की माँग रख सकती है; इसका उद्देश्य केवल यही होता है कि विधान सभा से केवल उस मद पर व्यय करने की स्वीकृति प्राप्त हो जाय और व्यय की राशि बाद में निश्चित होती रहेगी।

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि वर्ष के अन्त में सरकार को यह पता लगता है कि कुछ मदों पर व्यय की राशि अधिकृत राशि से अधिक हो गई है जो वास्तव में अनुचित होता है। परन्तु ऐसे खर्च को उचित बताने के लिए अतिरिक्त अनुदानों की व्यवस्था की गई है। इन अनुदानों की माँग करने से पहले इनको राजकीय हिसाब समिति के सामने रखा जाता है और समिति के स्वीकार होने के बाद इनको पास कर दिया जाता है।

करारोपण पर मत लेना (Voting on Taxation)—नए कर लगाने तथा वर्तमान करों की दरों में वृद्धि करने के प्रस्तावों पर धारा सभा में बहस होती है। हमारे देश में केन्द्रीय सरकार कर सम्बन्धी प्रत्येक प्रस्ताव को एक वित्त बिल (Finance Bill) के द्वारा पेश करती है जिसमें उन सब परिवर्तनों को स्पष्ट कर दिया जाता है जो कर-प्रणाली के लिए आवश्यक समझे जाते हैं। यह बिल विधान सभा के सम्मुख रखा जाता है। यदि किसी बिल्कुल ही नए कर का प्रस्ताव होता है तो उसको एक अलग बिल द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। बहुधा इन बिलों को नए वित्तीय वर्ष (Financial Year) आरम्भ होने से पहले ही पास कर दिया जाता है ताकि नए वर्ष में नए करों की या नए परिवर्तनों की व्याख्या की जा सके। यदि बिल को पास करने में देर लगती है तो प्रस्तावों के अनुसार पुराने करों को बढ़ी हुई दरों पर वसूल करना आरम्भ हो जाता है और यदि बिल, प्रस्तुत करने के दो माह के अन्दर स्वीकार नहीं हो पाता तो बीच के काल में वसूल किए गए करों को वापिस करना आवश्यक होता है। यहाँ यह बताना अनुचित न होगा कि विधान सभा प्रस्तावित करों को घटा भी सकती है और समाप्त भी कर सकती है, किन्तु करों को न तो बढ़ा सकती है और न नए करों के लागू करने के प्रस्ताव ही रख सकती है। हमारे देश में दो तरह के बिल इस सम्बन्ध में प्रस्तुत किए जाते हैं, एक तो वित्त बिल और दूसरा द्रव्य बिल (Money Bill)। पहले बिल में कर और व्यय के अतिरिक्त

और बातें भी सम्मिलित होती हैं परन्तु दूसरे बिल में केवल कर और व्यय-सम्बन्धी प्रस्ताव ही होते हैं। इन दोनों बिलों में भेद केवल प्रवक्ता ही करता है जिसका निर्णय अन्तिम होता है। द्रव्य बिल के लिए प्रवक्ता का प्रमाण-पत्र ही प्राप्त करना होता है, परन्तु वित्त बिल बिना राष्ट्रपति की सिफारिश के प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। यह दोनों बिल लोकसभा में ही प्रस्तुत किए जा सकते हैं। द्रव्य बिल लोकसभा में पास होने के बाद राज्य परिषद में भेजा जाता है। यदि राज्य परिषद इसमें कोई संशोधन करती है तो वित्त बिल इन संशोधनों पर विचार करने के लिए फिर से लोकसभा के लिए भेजा जाता है। यदि बिल के सम्बन्ध में दोनों सदनों में मतभेद होता है तो दोनों सदनों के सदस्यों की एक सभा बुलाई जाती है और उस सभा के बहुमत से बिल पास किया जाता है।

बजट का कार्यरोपण (Execution of the Budget)—जब बजट की माँगों पर बहस समाप्त हो जाती है तब एक विनियोग बिल (Appropriation Bill) रखा जाता है, जिसका उद्देश्य पास की हुई माँगों को कानूनी रूप प्रदान करना होता है तथा संचित कोष (Consolidated Fund) में से धन निकालने का अधिकार प्राप्त करना होता है। यह ध्यान रहे कि संचित कोष में से व्यय की राशि किसी दशा में उस राशि से अधिक नहीं हो सकती जिसको वार्षिक आर्थिक विवरण में दिखाया गया था और इस व्यय में संशोधन करने का अधिकार विधान सभा को नहीं होता। हमारे देश में करों की आय को संचित कोष में जमा कर दिया जाता है और फिर इस बिल के अनुसार धीरे-धीरे निकाल कर उसको खर्च किया जाता है। इस बिल का महत्व केवल इतना ही है कि इसके स्वीकार होने के बाद लोकसभा द्वारा पास की गई माँगों में कोई परिवर्तन नहीं हो सकता। इस बिल के पास होने के बाद केन्द्रीय आय बोर्ड (Central Board of Revenue) को आय एकत्रित करने का कार्य सौंप दिया जाता है, जिसको विभिन्न विभाग करते हैं। तत्पश्चात् यह राशि सरकारी कोषागार में जमा कर दी जाती है और फिर उसका व्यय आरम्भ होता है।

बजट पास होने के बाद कार्यकारिणी सभा अधिकृत धन का व्यय करती है। इसका कर्तव्य केवल यह देखना होता है कि धन का व्यय उन्हीं उद्देश्यों तथा उतनी ही मात्राओं में किया जा रहा है या नहीं जिनकी स्वीकृति बजट में प्राप्त हुई है। विधान सभा की ओर से संतुष्टि प्राप्त करने के लिए राजकीय हिसाब समिति इसकी जाँच करती है।

बजट पास होने के बाद विभिन्न विभागों को उनके लिए स्वीकार की गई अनुदानों की राशि को सूचित कर दिया जाता है। कोई भी कर्मचारी उस समय तक खर्चा नहीं करता जब तक कि उसने अपने उच्च अधिकारियों से स्वीकृति न प्राप्त कर ली हो और जब तक कि अधिकृत व्यय सारिणी (Schedule of Authorised Expenditure) में चालू वर्ष के व्यय के लिए धन की व्यवस्था न कर दी गई हो। व्यय की स्वीकृति देने वाले अधिकारी को यह देखना आवश्यक होता

है कि व्यय करते समय नियमितता का पालन किया जाय और व्यय में मितव्ययिता से काम लिया जाए।

वित्तीय नियन्त्रण—जैसा कि हम पहले भी कह चुके हैं हमारे देश में वित्तीय नियन्त्रण इन संस्थाओं द्वारा किया जाता है : प्रथम, स्थायी वित्त समिति (Standing Finance Committee) ; दूसरा नियंत्रक तथा महालेखा परीक्षक (Controller and Auditor General) का विभाग और तीसरा राजकीय हिसाब समिति (Public Accounts Committee)।

स्थायी वित्त समिति प्रत्येक वर्ष लोकसभा द्वारा नियुक्त की जाती है, जिसमें लोकसभा के वे सदस्य होते हैं जिन्हें वित्तीय मामलों में विशेष जानकारी होती है। वित्त मंत्री इसका सभापति होता है और यह समिति वार्षिक आर्थिक विवरण की जाँच करती है तथा नये व्यय और करों से सम्बन्धित नये प्रस्तावों की जाँच करती है और अपने सुझाव देती है जो साधारणतया वित्त मन्त्री स्वीकार कर लेता है। समिति द्वारा जाँच हो जाने के बाद ही बजट लोकसभा में प्रस्तुत किया जाता है।

आय-व्यय सम्बन्धी हिसाबों की जाँच-पड़ताल नियन्त्रक तथा महालेखा परीक्षक द्वारा की जाती है। राज्यों में वह लेखे महालेखपाल (Accountant General) द्वारा रखे जाते हैं और इनकी जाँच महालेखपाल परीक्षक द्वारा होती है जो पूर्णतया स्वतन्त्र होते हैं और कार्यकारिणी सभा की प्रत्येक त्रुटि को लोकसभा के सामने रख सकते हैं। हिसाब-किताबों की जाँच का काम दो भागों में बाँटा जाता है। एक भाग में आय की जाँच की जाती है और दूसरे में व्यय की। जाँच करते समय लेखा परीक्षक यह देखता है कि करदाताओं से सही मात्रा में कर वसूल किया गया है या नहीं और कर निर्वारण करने की रीति में कोई दोप तो नहीं है। व्यय की प्रत्येक राशि की पृथक्-पृथक् जांच होती है तथा आय की कुल राशि से व्यय की कुल राशि मिला ली जाती है। साथ ही यह भी देखा जाता है कि कर-दाताओं को जो छूटें दी गई हैं तथा जिनसे कर वसूल नहीं किया गया है, उसके लिए आवश्यक आदेश प्राप्त कर लिए गये हैं या नहीं और आदेश देने वाले अधिकारी को आदेश देने का अधिकार भी था या नहीं। अन्त में यह भी देखना आवश्यक है कि प्राप्त आय को सरकारी कोषागार में जमा किया गया था या नहीं। लेखा परीक्षा के बाद जो त्रुटियाँ पाई जाती हैं उन पर विभागों के अधिकारियों से उत्तर माँगे जाते हैं और लेखा परीक्षक अन्त में अपनी रिपोर्ट तैयार करके महालेखा परीक्षक के पास भेज देते हैं, जो जनता की जानकारी के लिए समाचार-पत्रों में प्रकाशित कर दी जाती है।

लोकसभा प्रत्येक बैठक के आरम्भ में ही राजकीय हिसाब समिति को नियुक्त कर देती है जो महालेखा परीक्षक द्वारा प्रस्तुत की गई रिपोर्ट की जांच करती है। इसमें लगभग १० सदस्य होते हैं और इसका अध्यक्ष साधारणतया वित्त मंत्री होता है। सलाह देने के लिए नियंत्रक तथा महालेखा परीक्षक भी इसकी बैठकों में भाग लेते हैं। साधारणतया यह समितियाँ व्यय की उन मदों की जाँच

करती हैं जिन पर मत प्राप्त किया जाता है। किन्तु यह उन मदों की भी जांच कर सकती हैं जिन पर मत नहीं लिया जाता। जिस प्रकार स्थायी वित्त समिति आर्थिक विवरण की तैयारी पर नियन्त्रण रखती है उसी प्रकार यह समिति बजट के कार्यान्वित होने पर, आय की वसूली होने पर तथा व्यय की नियमितता पर नियन्त्रण रखती है और उनकी जांच करती है। इन दोनों समितियों द्वारा लोकसभा आय तथा व्यय पर नियन्त्रण रखती है, और इनकी रिपोर्ट अन्त में लोकसभा के सम्मुख बहस के लिए रखी जाती है। हमारे देश में इन समितियों से बहुत लाभ प्राप्त हुए हैं।

राजकीय ऋणों पर नियन्त्रण—राजकीय ऋणों की व्यवस्था एवं शासन पूर्णतया वित्त विभाग के हाथ में होते हैं और लोकसभा केवल अप्रत्यक्ष रूप से नियंत्रण रखती है, क्योंकि वह इन ऋणों से प्राप्त आय को खर्च करने की स्वीकृति देती है। इसके अतिरिक्त इन ऋणों का विस्तृत शासन तथा उनसे सम्बन्धित हिसाबों को रखने की जिम्मेदारी रिजर्व बैंक की होती है। इस सम्बन्ध में बैंक के मुख्य कार्य नये ऋणों को चालू करना, तथा वसूल करना, सूद तथा मूलधन की राशि का भुगतान करना, प्रतिभूतियों को चालू करना, उनका परिवर्तन करना तथा उनको रद्द करना तथा इन सबसे सम्बन्धित रजिस्टरों और किताबों को रखना। इन सब कार्यों को रखने के, रिज़र्व बैंक सरकार से प्रति वर्ष २ हजार रुपये प्रति करोड़ कमीशन लेती है।

बजट बनाने के सम्बन्ध में कुछ महत्त्वपूर्ण बातें—बजट बनाने के सम्बन्ध में जिन महत्वपूर्ण बातों को ध्यान में रखना चाहिये, वे निम्न प्रकार हैं :—

(१) जहाँ तक सम्भव हो बजट संतुलित होना चाहिये। संकट काल में घाटे के भी बजट बनाये जा सकते हैं परन्तु संतुलित बजट ही अधिक रुचिकर है। बजट को दो भागों में विभाजित किया जाता है—आय तथा व्यय। यद्यपि आय और व्यय भी दो प्रकार के होते हैं अर्थात् पूँजीकृत आय और व्यय तथा आय सम्बन्धी आय और व्यय किन्तु इन दोनों में से केवल आय सम्बन्धी आय और व्यय और ऐसा पूँजीकृत व्यय जो अनुत्पादक होता है बजट में सम्मिलित किया जाता है। बजट का संतुलन वास्तव में इस बात पर निर्भर करता है कि वित्त मंत्री ने इसमें किन-किन मदों को सम्मिलित किया है। बहुधा बजट को संतुलित दिखाने के लिये वित्त मंत्री उन मदों को भी सम्मिलित नहीं करता जो उसे करनी चाहियें। डाल्टन ने इसे राजकीय खातों को दिखाने की निपुणता कहा है।

(२) बजट में जो आय और व्यय दिखाये जाते हैं वह उसी वर्ष से सम्बन्धित होते हैं जिसके लिए वह बजट बनाया गया है। इस प्रकार बजट बहीखाते के आधार पर नहीं बनते वरन् नकदी (Cash Bases) के आधार पर बनते हैं।

(३) बजट में सभी प्रकार की आय व व्यय सम्मिलित होने चाहियें। यदि ऐसा नहीं किया जाता तो देश की वास्तविक आर्थिक स्थिति का पता नहीं लगाया जा सकता। बहुत से देशों में रेलों का बजट अलग बनाया जाता है। हमारे देश में

भी ऐसा ही होता है और दामोदर घाटी कारपोरेशन का बजट भी अब अलग बनने लगा है।

(४) बजट में जो अनुमान दिये जाते हैं वह कुल आय और व्यय के दिये जाते हैं, शुद्ध (Net) के नहीं। अर्थात् एक ओर पूरी आय दिखाई जाती है और दूसरी ओर पूरा व्यय। आय को प्राप्त करने में जो व्यय होता है उसे आय में से घटा कर नहीं दिखाया जाता वरन् कुल आय को एक स्थान पर और कुल व्यय को दूसरे स्थान पर दिखाया जाता है।

(५) बजट बनाते समय यह भी ध्यान रखना चाहिए कि जहाँ तक सम्भव हो अनुमान वास्तविकता के समीप हो। सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से तो यह उचित हो सकता है, किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से यह सम्भव नहीं है क्योंकि साधारणतया कर्मचारियों का यही प्रयत्न होता है कि वे आय को कम और व्यय को अधिक दिखायें। इसके साथ-साथ अशिक्षित देशों में तथा बजट के प्रस्तुत होने वाली तिथि से पहले ही बनकर तैयार हो जाने के कारण वास्तविक आय का अनुमान लगाना भी कठिन होता है। भारत में यही कठिनाई अनुभव होती है। हमारे देश में तो वास्तविक आय और व्यय सम्बन्धी ठीक आँकड़े भी प्राप्त नहीं हो पाते हैं और इसीलिये बजटों के अनुमानों तथा वास्तविक आय और व्यय में बहुत अन्तर होता है। बजट के अनुमान ठीक हों, यह इसलिये आवश्यक है कि लोकसभा को यह देखना होता है कि करदाताओं से अधिक कर न लिया जाय और वित्त विभाग को यह देखना होता है कि कोई भी विभाग आवश्यकता से अधिक धन प्राप्त न करले।

(६) बजट साधारणतया वार्षिक ही बनाया जाता है, परन्तु संयुक्त राज्य अमेरिका के कुछ राज्यों में यह दो वर्षीय भी होता है।

(७) बजट अधिकतर समाप्ति के नियम पर आधारित होता है अर्थात् यदि अधिकृत धन को किसी वर्ष खर्च न किया जाय तो बचा हुआ धन दूसरे वर्ष में खर्च नहीं किया जा सकता और उसको लौटाना पड़ता है। इसीलिये वर्ष के अन्त में सभी सरकारी दफ्तरों में उस वर्ष के लिये प्राप्त धन को खर्च करने की दौड़-धूप लगी रहती है।

(८) प्रत्येक राज्य में हिसाब-किताब उसी प्रकार रखा जाता है जिस प्रकार कि केन्द्रीय सरकार रखती है। इसमें यह सुविधा रहती है कि विभिन्न राज्यों में वित्तीय शासन की विधि समान रहती है तथा उनमें आपस में तुलना हो पाने के कारण वित्तीय नियन्त्रण सरल हो जाता है। इस हिसाब-किताब का रूप महालेखा परीक्षक द्वारा निश्चित किया जाता था परन्तु हमारे संविधान में सन् १९५१-५२ में इसमें संशोधन कर दिया गया है और अब आर्थिक विवरण ३ भागों में दिखाया जाता है, पहला संचित कोष, दूसरा सम्भावित और तीसरा राजकीय लेखा।

बजट का महत्त्व—बजट किसी देश की आर्थिक उन्नति का सूचक है। यह देश की सरकार की आर्थिक नीतियों का एक समुचित विवरण होता है और इसलिये इसका राज्य के आर्थिक जीवन में विशेष महत्व है। यह एक ऐसा आधार है जिसके

बिना सामाजिक उन्नति नहीं हो सकती। इसमें उन उद्देश्यों का उल्लेख होता है जिनके अनुसार जनता का धन वैधानिक रूप से खर्च किया जा सकता है और इसमें व्यय की उन सीमाओं का निश्चय किया जाता है जिनका उल्लंघन करना सम्भव नहीं होता। संक्षेप में बजट किसी भी देश की निर्धनता तथा सम्पन्नता का सूचक होता है। बजट की अनुपस्थिति में प्रत्येक विभाग मनमाने ढंग से खर्च करने की ओर आय प्राप्त करने की कोशिश कर सकता है। बजट किसी भी देश में आय और व्यय की क्रियाओं का निर्देशन करता है और इसके बिना सरकार का काम सुचारु रूप से चल ही नहीं सकता। हमारे सामने संयुक्त राज्य अमेरिका का उदाहरण मौजूद है जबकि वहाँ पर बजट की प्रथा नहीं थी। हर एक विभाग अपनी वार्षिक आय तथा व्यय का अनुमान कांग्रेस के सामने रखता था। कांग्रेस के लिए हर एक विभाग की लम्बी-चौड़ी मांगों को पूरा करना असम्भव हो गया और इस लिये सन् १९२१ के बाद बजट-प्रथा चालू की गई। सच तो यह है कि बजट वह अस्त्र है जिसके द्वारा विधान सभा कार्यकारिणी सभा के कार्य पर नियन्त्रण रखती है और इस प्रकार देश की सम्पूर्ण शासन-व्यवस्था का नियमन बजट द्वारा ही सम्भव होता है। आधुनिक समय में बजट द्वारा सामाजिक उन्नति भी की जा सकती है तथा धन की असमानताओं को दूर किया जा सकता है। देश में उद्योग तथा कृषि के लिए आर्थिक सहायता प्रदान की जा सकती है। कर लगाकर धनी व्यक्तियों की जेबों में से धन प्राप्त किया जा सकता है और सरकारी व्यय की नीति से निर्धनों के लिए आवश्यक सेवायें प्रदान की जा सकती हैं। बजट के द्वारा देश में मूल्य-स्तर को भी नियमित किया जा सकता है। अतः स्पष्ट है कि बजट का किसी भी देश के आर्थिक जीवन में विशेष महत्त्व होता है।

भाग-८

बेकारी, पूर्ण रोजगार तथा राजस्व नीति

अध्याय ३४

बेकारी के कारण, प्रभाव तथा उपाय

(UNEMPLOYMENT—ITS CAUSES, EFFECTS AND CURE)

प्राक्कथन—

अब अधिकांश अर्थशास्त्री इस विचार से सहमत हैं कि जब तक व्यापार तथा व्यवसाय की नीति का निर्धारण केवल व्यापारिक तथा व्यावसायिक उद्देश्यों की सफलता के लिए ही किया जाता रहेगा, किसी भी देश की आर्थिक प्रणाली में स्थायित्व आना असम्भव है और उसमें समय-समय पर उतार-चढ़ाव होते ही रहेंगे। इन उतार-चढ़ावों को रोकने के लिए तथा आर्थिक प्रणाली को स्थायी बनाने के लिए यह आवश्यक है कि देश में रोजगार के आकार को नियन्त्रित करने का दायित्व राज्य अपने ऊपर ले। इसीलिए अब सभी क्षेत्रों में, उत्पादन, उपभोग, व्यवसाय, व्यापार आदि सभी में, नीतियों के निर्धारण में, विगत वर्षों में राज्य-हस्तक्षेप एक साधारण सी बात हो गई है। समय-समय पर, पूर्ण प्रतियोगिता के प्रभाव में तथा अधिकतम लाभ प्राप्त करने में लालच से, व्यापारी तथा व्यवसायी वर्ग ऐसी नीतियाँ निर्मित करने लगा था कि मूल्यों में बहुत उतार-चढ़ाव होने लगे थे, जिनसे उत्पत्ति की मात्रा में भी उतार-चढ़ाव होते थे और रोजगारों की स्थिति में भी परिवर्तन होते थे। इसके अतिरिक्त अपने लाभ को अधिकतम करने के लालच से उत्पादक वर्ग ऐसी रीतियों का भी प्रयोग करता था कि रोजगार की स्थिति दिन-प्रतिदिन खराब होती जा रही थी। सन् १९३० के महामंदी काल में तो स्थिति अपनी निम्नतम सीमा पर पहुँच चुकी थी। इसी के बाद बेकारी के विरुद्ध आवाज उठनी आरम्भ

हुई और प्रत्येक देश में सरकार ने इस ओर ध्यान देना आरम्भ किया। इसी के बाद 'पूर्ण रोजगार' के विचार का विकास हुआ और उसे लगभग प्रत्येक देश की व्यावहारिक नीतियों में एक स्थान प्राप्त हुआ। हम इस अध्याय में केवल, बेकारी से सम्बन्धित बातों का अध्ययन करेंगे अर्थात् बेकारी क्या है? बेकारी के कितने रूप हो सकते हैं? बेकारी के क्या कारण तथा परिणाम हैं? और उनको दूर करने के क्या उपाय हैं?

बेकारी क्या है?—साधारणतया बेकारी का अर्थ बिना काम के होने से लिया जाता है। परन्तु इस अर्थ तथा दृष्टिकोण से तो आलसी मनुष्य जो काम करना ही नहीं चाहता, बेकार कहलाता है, इसलिये, आर्थिक दृष्टिकोण से बेकारी से हमारा अभिप्राय उन लोगों के बिना काम के रहने से है जिनमें कार्य करने की इच्छा तथा योग्यता है; अर्थात् जिन व्यक्तियों को उनकी इच्छा तथा योग्यता के विरुद्ध बिना काम के रहने के लिए विवश कर दिया जाता है, बेकार कहलाते हैं। यह हमारी आर्थिक प्रगति का नकारात्मक पहलू है, क्योंकि एक व्यक्ति अपनी इच्छा, योग्यता तथा काम ढूँढ़ने के लिए प्रयत्न करने के बावजूद भी बिना किसी कसूर के काम से अलग रहने को मजबूर कर दिया जाता है। वास्तव में इसका मुख्य कारण हमारी आधुनिक मशीन उत्पादन का संगठन है। बीमार, वृद्ध, जख्मी, पागल तथा अपाहिज व्यक्ति तो काम करने के योग्य ही नहीं होते, इसलिये उनको बेकारों के वर्ग में नहीं रहना चाहिए। वे व्यक्ति भी जो हड़ताल कर रहे होते हैं, बेकार नहीं होते। अतः साधारण शब्दों में हम कह सकते हैं कि बेकारी श्रम बाजार की एक स्थिति है जिसमें श्रम शक्ति की पूर्ति, काम करने के लिए उपलब्ध सुविधाओं तथा अवसरों की अपेक्षा अधिक होती है। केन्स ने बेकारी को दो प्रकार का बताया है—स्वैच्छिक बेकारी तथा अनैच्छिक बेकारी। स्वैच्छिक बेकारी वह होती है जिसमें लोग आलस्यवश या हठधर्मी के कारण या कुछ लोगों के पास पुराना धन जीविका चलाने के लिए होता है, काम करना नहीं चाहते। कभी-कभी सामाजिक रूढ़ियों के कारण व्यक्ति व्यवसायों में काम करना पसन्द नहीं करते और कभी कभी कुछ लोग सौदेबाजी के कारण तथा सौदा न पट पाने के कारण काम करने के बजाय बेकार रहना पसन्द करते हैं। किन्तु केन्स ने जिसे स्वैच्छिक बेकारी कहा है उसमें कुछ सीमा तक विवशता भी पायी जाती है। अनैच्छिक बेकारी वह होती है जिसमें लोगों को काम करने की इच्छा होते हुए भी काम के अवसरों की कमी के कारण काम नहीं मिल पाता। यह बेकारी दो प्रकार की होती है—दृश्य तथा अदृश्य। दृश्य बेकारी वह अवस्था होती है जिसमें व्यक्ति को बिल्कुल काम नहीं मिलता, जैसे, सामयिक बेकारी (Seasonal Unemployment), तकनीकी बेकारी जो उत्पादन में तकनीकी परिवर्तन होने के कारण होती है, और व्यापार चक्रों में उत्पन्न होने वाली बेकारी। इस प्रकार की बेकारी प्रमुखतया विकसित राष्ट्रों में पायी जाती है और यह या तो प्रभावशील माँग की कमी के कारण या श्रम-शक्ति में नई पूर्ति के बढ़ जाने के कारण उत्पन्न होती है। अदृश्य बेकारी में काम की कमी नहीं होती किन्तु इसमें या तो

काम आंशिक रूप से प्राप्त होता रहता है या व्यक्ति को ऐसा काम मिलता है जो कम उत्पादक होता है। अदृश्य बेकारी भी दो प्रकार की होती है अर्थात् अर्द्ध-बेकारी (Under Unemployment), छुपी हुई बेकारी (Disguised Unemployment) अर्द्ध-बेकारी में व्यक्ति को उतना कार्य नहीं मिलता जितना कि वह कर सकता है और छुपी हुई बेकारी में व्यक्ति को जो काम मिलता है वह पूर्णतया उत्पादक नहीं होता। इन दोनों ही प्रकार की बेकारी में श्रम-शक्ति के अनुपात में देश का उत्पादन नहीं हो पाता। ये अर्द्ध-विकसित देशों में ही देखने को मिलती हैं। प्रो० पीगू के अनुसार एक व्यक्ति केवल उसी समय बेकार होता है जबकि उसको काम करने की इच्छा होती है और वह काम पर लगा हुआ नहीं होता है। हमने कई बार 'काम करने की इच्छा' शब्दों का प्रयोग किया है, इसलिए यह परम आवश्यक है कि इन शब्दों का स्पष्टीकरण कर दिया जाये। 'इच्छा' एक सापेक्षिक शब्द है और इसका सम्बन्ध, काम करने के घंटे, मज़दूरी की दर और मज़दूर के स्वास्थ्य से होता है। यदि किसी व्यक्ति को किसी व्यवसाय में केवल छः घंटे ही काम करना पड़ता है जब कि उसे आठ घंटे काम करने की इच्छा है तो इसका यह अभिप्राय नहीं कि वह दो घंटे प्रतिदिन बेकार रहता है। इसके अतिरिक्त नौकर रहने की इच्छा इस बात से भी जानी जाती है कि एक व्यक्ति मज़दूरी की चालू दर पर काम करने को तैयार है या नहीं। परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि यदि कोई व्यक्ति केवल उसी समय काम करना चाहता है जब कि बाजार में मजदूरी की दर १०) प्रतिदिन हो और उस समय उसके काम करने की इच्छा नहीं होती जबकि बाजार में मजदूरी की दर केवल ५) प्रतिदिन है तो उसको बेकार कहा जा सकेगा और अन्त में यदि कोई व्यक्ति अपनी बीमारी के कारण काम नहीं करना चाहता तो उसे बेकार नहीं कह सकते। यद्यपि बेकारी की परिभाषा करना कठिन है, किन्तु इसका अर्थ समझने के लिए हम केवल उपर्युक्त सावधानियों को ध्यान में रखकर काम पर लगे रहने तथा काम पर न लगे होने की स्थिति की तुलना कर सकते हैं। इस प्रकार के अध्ययन करने के लिए, केवल दो आधार ही अपनाने चाहियें—अर्थात् काम करने की इच्छा तथा बिना काम के होना। बेकारी वह स्थिति है जब कोई व्यक्ति बिना काम के रहने के लिए विवश होता है। इस स्थिति में बेकार मनुष्य बिना काम के होता है, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि हर वह व्यक्ति जो कोई काम नहीं कर रहा है बेकार है जैसे साधू, संन्यासी, आवारा घूमने वाले व्यक्ति इत्यादि। वास्तव में इनको बेकार नहीं कहना चाहिये, क्योंकि, इनको काम करने की इच्छा ही नहीं होती। इनको आलसी या समाज पर एक भार कह सकते हैं। दूसरी ओर ऐसे व्यक्ति होते हैं जो काम करने की स्थिति में ही नहीं होते, जैसे बीमार, अपाहिज इत्यादि। ऐसे व्यक्तियों को काम करने योग्य ही नहीं कह सकते। इस प्रकार बेकार केवल वही व्यक्ति होते हैं जिनमें काम करने की इच्छा तथा योग्यता होती है, परन्तु जिन्हें समाज में कोई भी काम करने को नहीं मिलता है और जो काम की खोज में एक स्थान से दूसरे स्थान को मारे-मारे फिरते हैं।

वेकारी के विभिन्न कारण—आज अधिकांश व्यक्ति सामूहिक वेरोजगारी को एक सामाजिक बुराई समझते हैं, परन्तु वेकारी को दूर करने के उपचारों के विषय में व्यक्तियों में एक मत नहीं है। प्रथम, इसलिये कि सब लोग वेकारी के अलग-अलग कारण बताते हैं और दूसरे, इसलिये, कि वेकारी को दूर करने के लिए व्यक्तियों के अपने अलग-अलग विचार हैं और वे अपने अलग-अलग उपचार बताते हैं। परन्तु यह तो प्रत्येक सामाजिक घटना की विशेषता है, और वेकारी के सम्बन्ध में तो समस्या और भी जटिल है, क्योंकि यहाँ तो लोग वेकारी के अनेकों कारण बताते हैं, इसलिये सब एक साथ मिलकर वेकारी को दूर करने का निश्चय करें, यह असम्भव है। हां, पिछले पच्चीस-तीस वर्षों से, लोगों के विचारों में कुछ एकरूपता अवश्य ही आनी आरम्भ हुई है। वैसे तो अनेकों छोटे-छोटे सिद्धान्त देखने को मिलेंगे, परन्तु हम यहाँ पर उनमें से प्रत्येक की बारीकियों में न फंसकर केवल मुख्य-मुख्य सिद्धान्तों का ही विश्लेषण करेंगे। मोटे तौर पर वेकारी के कारणों पर तीन विचार-धाराएँ मिलती हैं।

(अ) प्रथम, सबसे प्राचीन तथा पहली विचारधारा, जिसके अनुसार वेकारी, 'स्वतन्त्र छोड़ो' (laissez-faire) सिद्धान्त, अर्थात्, स्वतन्त्र प्रतियोगिता तथा स्वतन्त्र व्यापार से विचलित होने का दण्ड है। इसको हम 'स्वतन्त्र छोड़ो प्रतियोगिता सिद्धान्त' (Laissez-faire Competition Theory) के नाम से पुकार सकते हैं।

(ब) दूसरी विचार-धारा के अनुसार व्यापार चक्रों के कारणों की जटिलताओं के कारण वेकारी उत्पन्न होती है और व्यापारिक जगत में ये उतार-चढ़ाव प्राकृतिक तथा स्वाभाविक हैं और यदि ये माध्यम प्रकृति के हैं तो इनके परिणाम बड़े ही लाभकारी होते हैं। इसके अन्तर्गत हम व्यापार चक्रों के केवल उन्हीं सिद्धान्तों का विश्लेषण करेंगे जिनसे वेकारी पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है, उनकी नई समस्याओं और इस चक्रीय वेकारी (cyclical unemployment) के सम्बन्ध में उपचार सम्बन्धी नीतियों का वर्णन करेंगे।

(स) तीसरी विचारधारा के अनुसार वेकारी, क्रियाशील माँग (effective demand) के अभाव, उपभोग पर किये जाने वाले पूंजी व्यय के अभाव या विनियोगों के अभाव या दोनों ही, के कारण उत्पन्न होती है। यद्यपि इस प्रकार के विचार १९वीं शताब्दी में ही आरम्भ हो गये थे, किन्तु इनका विकास सर्वप्रथम कीन्स ने अपने 'सामान्य सिद्धान्त' (General Theory) में ही किया था। इसको 'माँग अभाव सिद्धान्त' (Demand Deficiency Theory) कहते हैं।

हम निम्न में इन विचारधाराओं का अध्ययन करेंगे :—

'स्वतन्त्र छोड़ो प्रतियोगिता सिद्धान्त'[1]

इस सिद्धान्त के लेखकों के अनुसार वेकारी का मुख्य कारण बाजार की

---

1. Cf. F. A. Burchardt, *The Causes of Unemployment* Ch. I *in the Economics of Full Employment*, An Oxford University Institute of Statistics's Publication 1948, p. 2.

शक्तियों के स्वतन्त्र कार्य संचालन में या तो सरकार द्वारा या एकाधिकारियों द्वारा बाधायें उत्पन्न करना है। सरकार अपने कानूनों द्वारा मजदूरी की दर ऊँची निश्चित करती है और इसी प्रकार एकाधिकारी भी शक्तिशाली होने के कारण व अन्य प्रतियोगियों को समाप्त करने के कारण वस्तुओं के मूल्य ऊँचे निश्चित करते हैं। साधारण उत्पादकों को इससे हानि होती है। वे मजदूरों की संख्या कम करते हैं और बेकारी उत्पन्न हो जाती है। यदि ये रुकावटें समाप्त हो जायें तो स्वतन्त्र प्रतियोगिता के प्रभाव से मजदूरी की दर नीचे आयेगी और तब अधिक मजदूर रखना लाभप्रद हो सकेगा। यदि सरकार बेकारी को समाप्त करना चाहती है तो उसे एकाधिकारिक कुरीतियों का अन्त करना चाहिये ताकि स्वतन्त्र प्रतियोगिता में कोई बाधा न रहे।

उपर्युक्त विचारधारा अधिकतर उन देशों में प्रचलित है, जहाँ पूँजीवाद का बोलबाला है, जैसे अमेरिका, इंगलैंड इत्यादि। इस विचारधारा में कई सिद्धान्तों का मिश्रण है। हम इन सिद्धान्तों का वर्णन संक्षेप में यहाँ पर करेंगे।

(१) मजदूरी तथा रोजगार का प्राचीन सिद्धान्त—प्राचीन अर्थशास्त्रियों के अनुसार कम मजदूरी से रोजगार में वृद्धि होती है और ऊँची मजदूरी की दर पर बेकारी उत्पन्न होती है। यह मानकर कि मजदूरी की दर ऊँची है और समाज में बेकारी है, हम उनके सिद्धान्त का विश्लेषण इस प्रकार कर सकते हैं। ऊँची मजदूरी की दर नीची होते ही, पहले की अपेक्षा उद्योगपतियों को मजदूरी के रूप में कम भुगतान करना होगा और परिणामस्वरूप उनको अधिक लाभ होंगे। यदि उद्योगपति इन अतिरिक्त लाभों को उपभोग पर या विनियोगों पर व्यय करते हैं तो आवश्यक रूप से कुल रोजगार में वृद्धि होगी। यदि उत्पादक लोग अपने लाभों को पूँजीगत वस्तुओं के उत्पादन में लगाते हैं तो पहले की अपेक्षा रोजगार में और भी अधिक वृद्धि होगी। यह अल्पकाल में पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में होता है। दीर्घकाल में नई-नई मशीनें काम में आयेंगी और यह मानकर कि दीर्घकाल में उत्पादन लागत समान रहती हैं और उत्पादन कला में कोई परिवर्तन नहीं होते, तो पूँजी और श्रम में जो पिछला अनुपात था वह फिर से स्थापित हो जायेगा। उपभोग वस्तुओं के उत्पादन में, रोजगार की वृद्धि के ठीक अनुपात में वृद्धि होगी और अन्त में दीर्घ काल में मजदूरी की दरों और मूल्यों में सन्तुलन स्थापित हो जायेगा। अतः जब उत्पादक मजदूरी कम होने से प्राप्त होने वाले लाभों को अपने उपभोग को बढ़ाने या अपनी पूँजीगत वस्तुओं को बढ़ाने में लगाते हैं तो मजदूरी की दर गिरने पर सामान्य रूप से रोजगारों में वृद्धि होगी। इस सिद्धान्त की प्रमुख विशेषता यह है कि यह लोग यह मानते हैं कि लाभ प्राप्त होने के साथ-साथ उनका व्यय शीघ्र ही या तो उपभोग पर या पूँजीगत वस्तुओं पर होता है। यदि ऐसा नहीं होता तो रोजगार में कोई भी वृद्धि नहीं होगी। रोजगार और उत्पादन पूर्ववत् ही रहेंगे, क्योंकि उनको केवल मजदूरी कम हो जाने के कारण ही मूल्य कम करने से कोई भी लाभ नहीं होगा।

दूसरी स्थिति को लीजिये, अपूर्ण प्रतियोगिता में, उत्पादक बिक्री बढ़ने को

आशा में, वस्तुओं के मूल्य को कम करने की सोचेंगे। वह माँग बढ़ने की आशा में अतिरिक्त मशीनों के लिए आर्डर दे देते हैं। रोजगार में नये आने वाले साधनों को जो आय प्राप्त होती है, उससे वे अधिक वस्तुयें खरीदते हैं और इस प्रकार उत्पादकों को निराशा नहीं होती और उत्पादित वस्तुओं की माँग बढ़ने लगती है। परन्तु इस प्रकार की मजदूरी में कमी होने से कितने श्रमिकों को अधिक नौकरियाँ मिल सकेंगी, इस बात पर निर्भर करेगा कि उद्योगपतियों को बिक्री में कितनी वृद्धि होने की आशा है। अपूर्ण प्रतियोगिता में यह आवश्यक नहीं कि मजदूरी कम होने से लाभ की दर बढ़ ही जाये। पूर्ण प्रतियोगिता की दशा में तो उत्पादकों को मजदूरी के कम होने से उत्पत्ति बढ़ाने के लिए प्रोत्साहन मिलता है, किन्तु अपूर्ण प्रतियोगिता में ऐसा नहीं होता। मजदूरी कम होने के बाद उत्पादक मूल्य को कम करके इस बात की भी प्रतीक्षा कर सकते हैं कि माँग में कितनी वृद्धि होती है। वास्तव में वह विनियोग करके उत्पादन एकदम बढ़ाने के स्थान पर ऐसा ही करेंगे। और सच तो यह है कि बाद की घटनायें उनके इस संकोच की पुष्टि करेंगी और न तो रोजगार में ही वृद्धि होगी और न बिक्री में ही। अपूर्ण प्रतियोगिता में मजदूरी कम करने या अधिक करने से उत्पादकों की माँग बढ़ने या कम होने की आशाओं पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, जैसा कि पूर्ण प्रतियोगिता में होता है। इसलिए प्रश्न यह है कि क्या मजदूरी की दरों में हेर-फेर करने के अतिरिक्त और कोई विधि ऐसी नहीं है, जिससे उत्पादकों की आशाओं पर प्रभाव पड़ सके और रोजगार की स्थिति में परिवर्तन हो सके? प्राचीन अर्थशास्त्रियों के पास तो इसका उत्तर न था, किन्तु आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने इस समस्या का अधिक विस्तृत विश्लेषण अपने क्रियाशील माँग के सिद्धान्त में किया है। यद्यपि बाद के प्राचीन आंग्ल अर्थशास्त्रियों ने पुराने सिद्धान्त में सुधार करने के दो बार प्रयत्न किये परन्तु वे सफल न हो पाये। एक प्रयत्न के अनुसार मजदूरी की दर और मूल्यों में साथ-साथ कमी होने से, व्याज की दरें कम होंगी और विनियोगों को प्रोत्साहन मिलने से रोजगार में वृद्धि होगी। परन्तु यह तो सम्भव नहीं कि सूद की अल्पकालीन दरों में कमी होने से सूद की दीर्घकालीन दरें भी कम हो जायें, क्योंकि जब तक यह नहीं होगा उस समय तक विनियोग प्रोत्साहित नहीं हो सकते। प्राचीन अर्थशास्त्रियों ने यह किस प्रकार समझ लिया कि अल्पकालीन दरों के कम होने से विनियोग बढ़ जायेंगे, स्पष्ट नहीं है। दूसरे प्रयत्न के अनुसार निर्यातों में वृद्धि होने से व्यापार संतुलन देश के पक्ष में हो जाता है, उत्पादन में वृद्धि होती है और रोजगार में वृद्धि होती है।

प्राचीन सिद्धान्त की आलोचना—प्राचीन लेखकों की यह धारणा कि मजदूरी में कमी होने से रोजगार में वृद्धि होगी, इस बात पर आधारित है कि उत्पत्ति में वृद्धि करके उत्पादकों के वास्तविक लाभों में अस्थायी वृद्धि होगी। परन्तु यह धारणा अवास्तविक है क्योंकि लाभ की आशा में विनियोग बढ़ते हैं, न कि उत्पत्ति। उत्पत्ति तो सदैव वास्तविक लाभ की आशा से बढ़ाई जाती है। उत्पत्ति

तथा विनियोगों में वृद्धि करने के लिए योजना बनाने तथा निर्णय लेने में भी समय लगता है और फिर अधिकतर उत्पादकों के लिए यह स्वाभाविक है कि वे 'प्रतीक्षा करो तथा देखो' वाला व्यवहार अपनायें, इसलिए मजदूरी कम होने और नये विनियोगों में वृद्धि होने तक कुछ समय अवश्य ही लगेगा, जिसमें वास्तविक मजदूरी तथा लाभ पूर्ववत् रहेंगे। यह भी सम्भावना है कि भावी मजदूरी तथा मूल्यों की अनिश्चितता के साथ-साथ मूल्यों को कम करने से, उत्पादकों की लाभ की आशा विपरीत दिशा में प्रभावित हो और उत्पत्ति तथा रोजगार बढ़ने के स्थान पर कम हो जायें। इसके अतिरिक्त लाभ की आशाओं पर उत्पादन लागतों के अतिरिक्त अन्य बातों का भी प्रभाव पड़ता है। समाज में अधिकतर बेरोजगारी की स्थिति तथा गिरती हुई माँग और गिरते हुए मूल्यों के साथ-साथ मजदूरी में कमी होने से ऊंचे लाभ की आशा करना व्यर्थ होगा। इसी प्रकार प्राचीन अर्थशास्त्रियों का यह विचार भी कि ऐसी परिस्थितियों में मजदूरी में कमी करके रोजगार की मात्रा में वृद्धि की जा सकती है, ठीक नहीं है, क्योंकि केवल व्यापारिक समृद्धि तथा बढ़ते हुए रोजगारों के काल में ही केवल यह सम्भव हो सकता है। अतः प्राचीन लेखकों की यह धारणा पूर्णतया सत्य नहीं है। मजदूरी की दर में कमी करने से रोजगार में केवल एक उचित मौद्रिक नीति द्वारा ही वृद्धि की जा सकती है।

बेकारी से व्यापार-चक्र सम्बन्धी सिद्धान्त—औद्योगिक देशों के इतिहास के पिछले डेढ़ सौ वर्ष में अनेकों बार समृद्धि के बाद मन्दी और मन्दी के बाद समृद्धि के काल नियमित रूप से आते रहे हैं। इनको अर्थशास्त्रियों ने व्यापार चक्रों का नाम दिया है। इन चक्रों में समय अवधि का अन्तर इतना नियमित होता है और इनकी प्रकृति इतनी समान होती है कि इनके विषय में एक सामान्य सिद्धान्त बनाना अनुचित प्रतीत नहीं होता। १९वीं शताब्दी में और बीसवीं शताब्दी के इन ५९ वर्षों में सिद्धान्तों की निरन्तर रचना होती ही रही है, जो प्राचीन अर्थशास्त्रियों के विचारों के पूर्णतया प्रतिकूल हैं। वैसे तो इन सिद्धान्तों की अपनी-अपनी विशेषतायें हैं, किन्तु इनकी सबसे उत्तम विशेषता यह है कि इन्होंने बेकारी के विभिन्न कारणों का विश्लेषण करने का काफी सफल प्रयास किया है। मोटे तौर पर दो प्रवृत्तियाँ इनमें देखने को मिलती हैं—एक के अनुसार आय तथा रोजगार में जो नियमित रूप से उतार-चढ़ाव होते हैं वे मुख्य रूप से बाह्य कारणों से उत्पन्न होते हैं जैसे वे सिद्धान्त जो चक्रों का मुख्य कारण, फसलों के उतार-चढ़ावों को बताते हैं या व्यापारिक आशा तथा निराशा, बैंकिंग नीति के नियमित उतार-चढ़ाव, या आविष्कारों के परिवर्तनों आदि को बताते हैं, इस प्रवृत्ति के मुख्य द्योतक हैं। दूसरी प्रवृत्ति के अनुसार ये चक्र समय की प्रगति के साथ-साथ तथा अन्य आर्थिक कारणों से स्वयं ही उत्पन्न होते हैं। इनमें वे सिद्धान्त सम्मिलित किये जाते हैं जो इस तथ्य पर जोर देते हैं कि विस्तार की प्रवृत्ति गैर अनुपातिक विकास की ओर होती है, अर्थात् कुछ क्षेत्रों का खूब विकास होता है और कुछ का बिलकुल नहीं, यहाँ तक कि एक ऐसा बिन्दु आता है जब कि विस्तारों में कमी होने लगती है, क्षेत्रीय असन्तुलन

दूर होने लगता है और प्रगति का एक नया मार्ग उत्पन्न होने लगता है। दूसरे शब्दों में ये सिद्धान्त 'समय विलम्ब' (time-lag) के तत्व पर आधारित हैं।

सभी व्यापार चक्रीय सिद्धान्त इसको स्वीकार करते हैं कि निश्चित समय अवधि के बाद सामूहिक बेकारी (mass unemployment) उत्पन्न होती रहती है और इसे भी स्वीकार करते हैं कि यह सामूहिक बेकारी केवल मौद्रिक मजदूरियों के एक बिन्दु पर स्थायी रहने के कारण उत्पन्न नहीं होती। अतः उनके विचार प्राचीन विचारधारा के पूर्णतया विपरीत हैं। यदि देखा जाये तो सामान्य रूप से सभी सिद्धान्त इस ओर संकेत करते हैं कि ये चक्र प्रकृति की देन हैं और स्वाभाविक घटनायें हैं और इनको सहन करने की अपेक्षा मनुष्य के पास और कोई उपचार नहीं है। इनकी कार्यशीलता में हस्तक्षेप करने से कुछ भी लाभ नहीं होता। वैसे तो प्राचीन विचारधारा भी यही थी, परन्तु तनिक गहन अध्ययन से यह स्पष्ट हो जायेगा कि इन दोनों विचारों में मौलिक भिन्नता है। कुछ लेखकों ने अपने व्यापार चक्रीय सिद्धान्तों को इस बात पर आधारित किया है कि माँग और पूर्ति की स्वनियमन करने वाली शक्तियाँ एक प्रकार की प्राकृतिक अवस्था (Natural order) स्थापित कर देती हैं और प्रगतिशील स्वयंक्रियाशीलता (Dynamic Automa'ism) उत्पन्न हो जाती है। इन प्रगतिशील तत्वों से, जैसा कि प्राचीन अर्थशास्त्री सोचते थे, अर्थ-व्यवस्था में स्थिरता नहीं आती और न ही प्रगति में एकरूपता आती है। इस प्रगति तथा विस्तार का मूल्य हमें चक्रीय अस्थिरता के रूप में चुकाना पड़ता है। इनमें से कुछ लेखकों का विचार है कि समृद्धिकाल की अधिकताओं को समतल बनाने के लिए तथा विस्तार सम्बन्धी असन्तुलन को दूर करने के लिए मन्दी परम आवश्यक होती है। साथ ही, मन्दी से अकुशल उत्पादक उत्पादन क्षेत्र से बाहर निकाल दिये जाते हैं, जो हमारी उन्नति पर निरन्तर भार स्वरूप थे और इस प्रकार अति पूँजीकरण भी समाप्त हो जाता है। वास्तव में यदि मन्दी काल स्वयं ही उपस्थित न हो तो इसे कृत्रिम उपायों से उत्पन्न करना होगा। तीसरे प्रकार के कुछ लेखक ऐसे हैं जिनका विश्वास यह है कि चक्रों को जन्म देने वाले जो कारण हैं, वे सामाजिक नियन्त्रण से बाहर हैं और इसलिये कुछ न कुछ उतार-चढ़ाव तो सहन करने ही होंगे। वे यह अवश्य स्वीकार करते हैं कि इन चक्रों की गति एवं तीव्रता को सरकारी प्रयत्नों द्वारा कम अवश्य कर सकते हैं परन्तु व्यापार चक्रों की तीव्रता को नियन्त्रित करने की विधि पर ये लेखक एकमत नहीं हैं। इनमें से कुछ के अनुसार केन्द्रीय बैंक द्वारा सूद की दरों में उचित परिवर्तन इन चक्रों की तीव्रता को कम कर सकते हैं, और कुछ विनियोगों के परिवर्तनों को उपयुक्त स्वीकार करते हैं। इन दोनों विचारों में केवल एक बात ऐसी है जो दोनों प्रकार के लेखक मानते हैं और वह है—विभिन्न समयों पर रोजगार की मात्रा तथा विभिन्न व्यवसायों में उसके वितरण में उलट-फेर करना।

आलोचना—उपर्युक्त विचारों से स्पष्ट है कि व्यापार-चक्र सम्बन्धी जितने भी सिद्धान्त लेखकों ने प्रस्तुत किये हैं, उन सभी से यह स्पष्ट किया है कि व्यापार-

चक्र मनुष्य की शक्ति से बाहर है, अर्थात् मनुष्य उन पर कोई भी नियन्त्रण नहीं कर सकता क्योंकि व्यापार-चक्र प्राकृतिक हेर-फेर, जैसे बुरी और अच्छी फसलों, के कारण उत्पन्न होते हैं, जिनको नियन्त्रित करना मनुष्यों के वस की बात नहीं। परन्तु यह विचार पूर्णतया सत्य नहीं है। इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि हम प्राकृतिक घटनाओं में हस्तक्षेप नहीं कर सकते, परन्तु इतना तो कर सकते हैं कि अच्छे समय में बुरे समय के लिए प्रबन्ध करलें जैसे अच्छी फसलों में बुरी फसलों के लिए अनाज जमा करके रखलें और बुरी फसलों के जोखिम को कम कर दें। फिर यह तो किसी भी प्रकार सत्य नहीं है कि कृषि पदार्थों के मूल्य कम होनें से औद्योगिक उत्पादन भी गिरने लगता है। कृषि पदार्थों के मूल्यों की कमी का एक मात्र प्रभाव यह होता है कि कृषि उत्पादकों और शहरी उपभोक्ताओं में वास्तविक आयों का पुर्नवितरण हो जाता है। इसी प्रकार के उपाय मनोवैज्ञानिक परिवर्तनों या समय विलम्ब के प्रभावों को दूर करने के लिए किये जा सकते हैं। निराशा के वातावरण को, निजी उत्पादकों तथा विनियोगकर्ताओं को आर्थिक सहायता प्रदान करके दूर किया जा सकता है, अत्यधिक आशावादी वातावरण की स्थिति में सूद की दर बढ़ाकर या विनियोगों में लाइसेन्स प्रथा चालू करके स्थिति पर नियन्त्रण किया जा सकता है। "स्वयं उत्पन्न होने वाले चक्र इसलिये ज्वार-भाटे की लहरों के समान नहीं हैं जिनकी शक्ति को हमें अन्धे होकर स्वीकार कर लेना चाहिए किन्तु एक सामाजिक घटना है जिनकी व्यवस्था तथा नियन्त्रण सामाजिक उपायों द्वारा किया जा सकता है।"[2]

जो लोग यह मानते हैं कि मन्दीकाल, समृद्धि काल की अधिकताओं को संतुलित करने के लिए नितान्त आवश्यक है, उनका विचार भी उचित नहीं है। प्रथम, क्या यह सम्भव नहीं है कि कम कुशल उत्पादकों को थोड़े दिन और सहन किया जाये, अपेक्षाकृत सारे संसार को मन्दी काल के चक्र में फाँस देने के ? यदि व्यक्तियों को निरन्तर रोजगार मिलता रहेगा तो कार्यकुशलता की हीनता स्वयं ही दूर हो जायेगी। सभी इस विचार से सहमत होंगे कि सीमान्त उत्पादक के निकल जाने पर जो लाभ होगा वह उस हानि की अपेक्षा बहुत कम होगा जो व्यक्तियों तथा मशीनों के एकदम वेकार हो जाने पर होती है।

जिन लोगों का यह विश्वास है कि निर्वाधावादी नीति से असंतुलनों को दूर किया जा सकता है यह भी ठीक नहीं है। वह यह भूल जाते हैं कि प्राचीन सिद्धान्तों का मुख्य आधार उनका यह अनुमान था कि परिवर्तन बहुत छोटी मात्रा में तथा धीरे-धीरे होते हैं। आकस्मिक तथा बड़े परिवर्तन, जैसे, युद्ध द्वारा उत्पन्न होने वाले परिवर्तन, व्यापार नियन्त्रण, महान् अवसाद जैसी घटनायें प्राचीन आंग्ल सिद्धान्तों के क्षेत्र के बाहर हैं। इसके बावजूद भी प्राचीन लेखक यह स्वीकार करते हैं कि आकस्मिक परिवर्तनों की तीव्रता को कम करने के लिए एक सकारात्मक (positive) सरकारी नीति की आवश्यकता होती है। इसलिए योजनाबद्ध ढंग से किसी भी क्षेत्र की अधिकता

2. Cf. F. A. Burchardt, *Op. Cit.*, : page 16.

या कमी को धीरे-धीरे दूर किया जा सकता है चाहे वह विस्तार के कारण उत्पन्न हो या युद्ध जैसी भीषण घटनाओं के कारण। यह सोचना कि स्वतन्त्र प्रतियोगिता द्वारा असंतुलनों को दूर किया जा सकता है केवल एक भ्रम मात्र है। इसके अतिरिक्त यह भी तो निश्चित नहीं कि मन्दी से अकुशल उत्पादक उत्पादन क्षेत्र से बाहर निकल ही जायेंगे। वास्तव में यदि यह आवश्यक ही है कि समृद्धि काल की अधिकताओं को दूर किया जाए और संतुलनों को ठीक किया जाए तो यह मन्दी काल की अपेक्षा अन्य विवेचनात्मक विधियों (discriminating methods) से भी किया जा सकता है। अन्त में व्यापार चक्र नीति का प्रश्न आता है। इन चक्रों को कम करने और आय तथा रोजगार में निरन्तर परिवर्तनों को रोकने के लिए चक्र की उलटी दिशा में सार्वजनिक निर्माण कार्यों की नीति को अपनाना चाहिए और मुख्यतया निजी विनियोगकर्ताओं की उतार-चढ़ाव की प्रवृत्ति को राजकीय विनियोगों द्वारा दूर किया जा सकता है। जब निजी विनियोग अधिकतम हों तो राजकीय विनियोग न्यूनतम हों और जब निजी विनियोग न्यूनतम हों तो राजकीय विनियोग अधिकतम होने चाहिएँ। दूसरे शब्दों में राजकीय विनियोगों को निजी विनियोगों के पूरक होना चाहिए और वह स्थिति तो आदर्शतम होगी जबकि राजकीय विनियोग निजी विनियोगों से लगभग आधे चक्र पीछे रहें। परन्तु यह विचारधारा भी तर्कयुक्त नहीं है। जब यह स्वीकार कर लिया गया कि राजकीय विनियोग के लिए यह आवश्यक नहीं कि निजी विनियोगों के पीछे-पीछे रहें और वे स्वतन्त्रतापूर्वक किये जा सकते हैं और उनका समय भी स्वतन्त्रतापूर्वक निश्चित किया जा सकता है तो यह भी उचित न होगा कि वे निजी विनियोगों के समानान्तर हों या उनकी विपरीत दिशा में चलें। इस प्रकार तो यह ही कहना ठीक होगा कि राजकीय निर्माण कार्य एक सामान्य गति से चलते रहें। यह ध्यान रहे कि विभिन्न समयों पर विभिन्न प्रकार के राजकीय कार्यों की आवश्यकता होती है। कुछ तो निजी विनियोगों और उपभोग के साथ-साथ चलते हैं जैसे गली तथा सड़कों की सफाई, नालियों का प्रबन्ध, रोशनी की व्यवस्था इत्यादि। कुछ दीर्घ-कालीन प्रकृति के होते हैं, जैसे जंगल लगाने का काम। कुछ ऐसे होते हैं जिन्हें स्थगित नहीं किया जा सकता और जो अनिवार्य हैं, जैसे, रक्षा सम्बन्धी कार्य गोले-बारूद हथियार इत्यादि का उत्पादन और शेष ऐसे होते हैं जिन्हें समयानुसार जल्दी और देर में चालू नहीं किया जा सकता है, क्योंकि यह स्थापनीय हितों को दृष्टि में रख कर चालू किए जाते हैं और यदि इन विनियोगों को व्यापार चक्रों की बुराइयों के कम करने का एक साधन बनाना है तो केन्द्रीय, प्रान्तीय तथा स्थानीय सरकारों को बीच के सम्बन्धों को पुनर्स्थापित किया जाए और केन्द्रीय सरकार को यह अधिकार दिया जाए कि वह स्थानीय सरकारों के निर्माण कार्यों को निश्चित कर सके, तथा उनको व्यापार चक्रीय नियोजन का एक विश्वसनीय अस्त्र बना सके। इसके विरुद्ध कुछ लोगों का कहना है कि स्थानीय संस्थाओं के राजकीय निर्माण कार्य इतने सीमित होते हैं कि वह व्यापार चक्रीय बुराइयों को कम करने में अधिक सफल नहीं हो सकते और न ही उनमें हस्तक्षेप करना उचित हो

होगा। यदि हम व्यापार चक्र नीति के विरुद्ध दी गई दलीलों को संकीर्ण दृष्टिकोण से स्वीकार करलें तो केवल दो ही मार्ग हमारे सामने होते हैं—एक तो समयानुकूल (timeable) राजकीय निर्माण कार्यों की, पहले की अपेक्षा, अधिक व्यवस्था करनी होगी, और दूसरा निजी विनियोगों की स्पष्ट बुराइयों को कम करना होगा। इन सब बातों का विश्लेषण कीन्स के क्रियाशील माँग (Effective Demand) के सिद्धान्त में किया गया है।

माँग अभाव सिद्धान्त—इस सिद्धान्त के अनुसार वस्तुओं तथा सेवाओं की माँग इतनी न होने के कारण, कि कुल वास्तविक साधनों को उपयोग में लाया जा सके बेकारी उत्पन्न होती है। यदि माँग अधिक हो, तो साधनों की अधिक मात्रा का उपयोग होगा और यदि माँग बहुत अधिक हो, जैसे युद्धकाल में, तो साधनों का उपयोग उनकी शक्ति से भी अधिक होगा। इन विचारों पर तो कोई भी मतभेद नहीं है। मतभेद तो केवल उन्हीं दशाओं पर है जब माँग इतनी कम होती है कि पूरे साधनों का उपयोग नहीं हो पाता। हम देख चुके हैं कि प्राचीन लेखकों के अनुसार स्वतन्त्र प्रतियोगिता में माँग कभी भी इतनी कम नहीं होती। माँग केवल उसी समय कम होती है, जबकि बाजार में कृत्रिम उपायों से अपूर्णता तथा स्थिरता उत्पन्न की जाती है। व्यापारचक्रीय सिद्धान्तों ने केवल कुल माँग में समय-समय पर होने वाले परिवर्तनों की सम्भावनाओं का ही विश्लेषण किया है और उन्होंने यह स्पष्ट नहीं किया है कि दीर्घकाल में वस्तुओं तथा साधनों की माँग क्यों कम हो जाती है? इसकी ओर कीन्स ने उचित ध्यान दिया था। माँग अभाव सिद्धान्त के मुख्य तत्व निम्न प्रकार हैं:—

यदि ह यह मान लें कि देश में किसी समय-विशेष पर सभी उत्पत्ति के साधन उपयोगों में लगे हुए हैं और समाज के सदस्य अपनी पूरी वास्तविक आय को खर्च कर देते हैं अर्थात् पूर्ण रोजगार की स्थिति स्थापित है तब प्रश्न यह है कि पूर्ण रोजगार की स्थिति कैसे भंग होती है? और सारे साधनों को उपयोग में न लाने के लिए माँग क्यों कम हो जाती है?

जब व्यक्ति केवल अस्थायी रूप से एक वस्तु के स्थान पर दूसरी वस्तु के लिए माँग करने लगते हैं तो कुल माँग में कमी होने से जो बेरोजगारी उत्पन्न होगी वह भी अस्थायी ही होगी। किन्तु हमें तो माँग की स्थायी कमी के कारण उत्पन्न होने वाली बेकारी के कारणों पर दृष्टिपात करना है। माँग में स्थायी कमी उस समय उत्पन्न होती है जब समाज के कुछ सदस्य अपने खर्चे को कम करने की सोचते हैं और जबकि कुछ लोग अपनी आय से अधिक खर्च करने को तैयार नहीं होते। समाज के एक वर्ग की वस्तुओं और सेवाओं की माँग की कमी दूसरे वर्ग की माँग के न बढ़ पाने से पूरी नहीं हो पाती और कुल माँग कम हो जाती है, उत्पत्ति के साधन बेकार हो जाते हैं और समाज की आय गिरने लगती है। जब व्यक्ति अपनी आय की अपेक्षा अपने व्यय को कम करने की सोचते हैं तो उनकी इस क्रिया को हम उनकी 'बचाने की इच्छा' (desire to save) कहते हैं। व्यय कम होने

से जो साधन बाहर निकाल दिये जाते हैं और जो अन्य उपयोगों में लगाये जा सकते हैं, तो इन दूसरे उपयोगों को 'बचतों के स्थानापन्न उपयोग' (offsets to savings) या 'स्थानापन्न व्यय' (offsetting spending) कहते हैं। स्थानापन्न व्यय कई प्रकार के हो सकते हैं, जैसे, या तो व्यक्ति स्वयं अपने आप अपनी बचत को उपभोग की वस्तुओं के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं पर खर्च करना चाहें, जैसे नये मकान, नयी मशीनों आदि पर, या अन्य व्यक्ति या राजकीय संस्थायें बचत करने वालों की बिना उपयोग की गई क्रयशक्ति को विनियोग या उपभोग की वस्तुओं पर व्यय करना चाहें—

माँग अभाव सिद्धान्त के प्राथमिक कथन को इस प्रकार बता सकते हैं:—यदि व्यक्ति की आय विशेष में से बचाने की इच्छा, समाज के स्थानापन्न व्यय की इच्छा से अधिक है, तो कुल माँग, आय और रोजगार उस स्तर से नीचे गिर जायेंगे। यह स्थिर (Static) तथा परिवर्तनीय (Dynamic) दोनों ही परिस्थितियों में सत्य होता है। यदि बचतों और स्थानापन्न व्ययों का सम्बन्ध बिल्कुल विपरीत हो जाता है तो माँग और रोजगार में वृद्धि होगी अर्थात् जब स्थानापन्न व्ययों की अपेक्षा बचतें अधिक कम हैं तो माँग और रोजगारों में वृद्धि होगी। पहले तो बेकार पड़े हुए साधन काम पर लगेंगे और उत्पादन में भी वृद्धि होगी। यदि स्थानापन्न व्ययों में वृद्धि उस समय हो रही है जबकि देश में पूर्ण रोजगार की स्थिति पहले से ही स्थापित है तो कारखानों तथा अन्य साधनों का उपयोग आवश्यकता से अधिक होने के बाद भी उत्पादन में आवश्यकतानुसार वृद्धि न होने से मूल्यों में वृद्धि होने लगेगी और ठीक वैसे ही स्थिति उत्पन्न हो जाएगी जैसी मुद्रा-स्फीति में होती है। स्थानापन्न व्यय में कितनी वृद्धि से या बचतों में कितनी कमी से (दोनों एक ही बात हैं) आय और रोजगारों में वृद्धि होगी, समाज की बचत करने की सीमान्त प्रवृत्ति (propensity) पर निर्भर करेगा। यदि बचत करने की प्रवृत्ति शून्य है तो तनिक व्यय से भी आय और रोजगार में वृद्धि होगी। बढ़ी हुई आय तथा बढ़े हुए रोजगारों से प्राप्त आय को यदि फिर खर्च किया जायेगा तो परिणामस्वरूप फिर आय और रोजगार में वृद्धि होगी। अतः हम कह सकते हैं कि बचत करने की शक्ति के शून्य पर रहने की स्थिति में व्यय की प्रत्येक क्रिया से आय और रोजगार में आनुपातिक तथा स्थायी वृद्धि होती रहेगी। यदि रोजगार बढ़ने की प्रत्येक अवस्था पर व्यक्ति थोड़ा-थोड़ा बचाना चाहते हैं, अर्थात्, अपनी अतिरिक्त आय को पूरा उपभोग पर खर्च करना नहीं चाहते तो माँग कम होने से रोजगार में कमी होगी और फिर आय कम होगी और आय और रोजगार के स्तर नीचे गिरते चले जायेंगे। कुल आय और रोजगार में वृद्धि के अनुपातों को नापने वाले गुणक (Multiplier) को सरलता से बचत करने की प्रवृत्ति की परस्परता के रूप में निर्धारित किया जा सकता है। बचत करने की प्रवृत्ति जितनी अधिक होगी उतना ही प्रारम्भिक व्यय की वृद्धि विशेष का गुणक प्रभाव कम होगा और जितनी बचत करने की प्रवृत्ति कम होगी उतना ही प्रारम्भिक

व्यय की वृद्धि-विशेष का गुणक प्रभाव अधिक होगा। इस प्रकार स्थानापन्न व्यय की वृद्धि से आय तथा रोजगार में वृद्धि, उस समय तक होगी जब तक कि जो कुछ भी व्यक्ति बढ़ी हुई आय में से बचाते हैं वह इस वृद्धि के बराबर नहीं होता। रोजगार की किसी भी स्थिति-विशेष पर बचतें और स्थानापन्न व्यय एक दूसरे के बराबर होंगे।

समाज के विभिन्न वर्गों, व्यक्ति एवं संस्थाओं द्वारा बचत करने के लिए जो निर्णय लिये जाते हैं, वे व्यक्ति या समाज की आदतों एवं दृष्टिकोणों द्वारा निर्धारित होते हैं। सामान्य रूप से जितनी ऊँची आय होती है उतनी ही अधिक बचतें भी होती हैं। इसी प्रकार समाज की कुल आय जितनी अधिक होती जाती है, उतनी ही समाज की बचतें भी अधिक होती जाती हैं, इसीलिए रोजगार बढ़ने के साथ-साथ समाज अधिक बचाना चाहता है। आय की वृद्धि के साथ-साथ, आय का जितना अधिक अनुपात लाभ कमाने के लिए लगाया जाता है उतना ही बचतों का अनुपात भी अधिक होता जाता है।

अब हम स्थानापन्न व्ययों के सम्बन्ध में कुछ बताने का प्रयत्न करेंगे अर्थात् आर्थिक शब्दों में यह क्या है और यह व्यय किन के द्वारा किया जाता है। व्यक्ति अपने वर्तमान उपभोग को कम करके इसलिए बचतें प्राप्त करता है कि वह उन वस्तुओं पर खर्च कर सके जिनका भुगतान साधारणतया चालू आय में से नहीं किया जाता जैसे मकान बनवाना। कुछ व्यक्ति इसके लिए भी तैयार हों कि वे अन्य व्यक्तियों द्वारा की गई बचतों की क्षति-पूर्त्ति कर दें, चाहे अतिरिक्त पूँजी वस्तुयें खरीद कर या अपनी आय में से अधिक खर्च करके। अतः सामान्य रूप से बचतों के कारण समाज में जो धन की कमी होती है उसकी पूर्त्ति पूँजी वस्तुओं या उपभोग की वस्तुओं पर खर्च करने के लिए ऋण प्राप्त करके कर सकते हैं। व्यक्तिगत ऋणों का अधिकांश भाग विनियोगों में लगा दिया जाता है, किन्तु प्रश्न यह है, कि क्या विनियोग सम्बन्धी व्यक्तिगत निर्णय बिना सोचे-विचारे ले लिए जाते हैं ? या ऋणों को विनियोगों में लगाने के लिए व्यक्तिगत निर्णय किन-किन बातों पर निर्भर करते हैं ? व्यक्तियों को प्रेरित करने या विनियोग करने से रोकने में अनेकों बातों का हाथ होता है, जैसे—सीमान्त लाभ की आशा, दीर्घकालीन सूद की दर, ऋणी के जोखिम तथा ऋण-दाताओं के सम्भावित जोखिम आदि। परन्तु विनियोगकर्ताओं के निर्णय केवल इन्हीं बातों से प्रभावित नहीं होते। यदि वे यह देखते हैं कि उपर्युक्त चार बातों की सामूहिक स्थिति ऐसी है कि उन्हें विनियोग ऋण प्राप्त करके नहीं करने चाहियें, तो भी उनके पास ऐसे साधन होते हैं कि वे बिना ऋण प्राप्त किए ही विनियोग कर लें। हाँ विनियोग की मात्रा उतनी नहीं होगी जितनी ऋण प्राप्त करके होती। ये विनियोग वे घिसाई कोष में से कर सकते हैं और साथ ही वे चालू लाभों में से पुनः विनियोग कर सकते हैं। ऐसा करने से न तो उनका ऋण-भार ही बढ़ता है और न उन्हें अधिक जोखिम ही सहन करना होता है। अतः अल्पकाल में विनियोगकर्ताओं को, जितनी आय अधिक होगी उतना ही विनियोग करने के लिए

उन्हें प्रेरणा प्राप्त होती रहेगी। वे ऋण लेकर विनियोग करने के लिए प्रेरित नहीं होंगे, केवल अपनी ही बचतों का विनियोग पुनः करते रहेंगे। वे विनियोग के लिये कोई भी ऐसी योजना नहीं बनायेंगे, जिसमें अधिक मात्रा में ऋणी तथा ऋणदाता की जोखिम हो। यह पांचवी बात है जिससे विनियोगकर्ताओं के निर्णयों पर प्रभाव पड़ेगा। इसके अतिरिक्त सबसे अधिक प्रभाव माँग के सम्भावित परिवर्तनों का पड़ेगा। इसे तीव्र गति का सिद्धान्त (acceleration principle) कहते हैं। अर्थात् जब माँग में तीव्र गति से वृद्धि होती है तब विनियोग सम्बन्धी निर्णय समान दर से बढ़ते हैं। यदि माँग में वृद्धि की गति कम होती है तो विनियोग निर्णय भी कम होने लगते हैं, और यदि माँग बिलकुल गिर जाती है तो विनियोग केवल बन्द ही नहीं हो जाते वरन् विनियोग की हुई राशि निकलने लगती है। सही अर्थ में, तीव्र गति सिद्धान्त वास्तविक तथ्यों का वर्णन नहीं करता। सच तो यह है कि इस सिद्धान्त का प्रभाव उस समय अधिक होगा जब वर्तमान मशीनों के उपयोग करने की गुंजाइश कम होती है और अधिक श्रमिक काम कर रहे होते हैं। तभी माँग के तनिक बढ़ने पर भी विनियोग निर्णयों की दर बहुत ऊँची होगी और दूसरी ओर जब मशीनों का उपयोग कम हो रहा होता है, अर्थात् जब मशीनों के अधिक उपयोग होने की गुन्जाइश होती है और जब कम श्रमिक लगे होते हैं तब विनियोगों के निर्णयों की दर कम होती है। सातवें, पूर्ति की स्थिति का भी प्रभाव पड़ता है और आठवें, मनोवैज्ञानिक बातें, अर्थात् आशावादी तथा निराशावादी दृष्टिकोण से भी विनियोग निर्णय प्रभावित होते हैं।

बचत करने के निर्णयों तथा विनियोग करने के निर्णयों में सामंजस्य होना या दोनों का एक संतुलित अवस्था में होना असम्भव सा प्रतीत होता है, क्योंकि दोनों प्रकार के निर्णयों पर अलग-अलग बातों का प्रभाव पड़ता है, जो बहुत ही जटिल प्रकृति की होती हैं। पूर्ण रोजगार की स्थिति उसी समय होगी जब ये दोनों निर्णय सन्तुलन पर हों परन्तु यह केवल स्थिर परिस्थितियों में ही होगा। परिवर्तनशील परिस्थितियों में ऐसा होना सम्भव नहीं है। परिवर्तनशील परिस्थितियों में प्राप्त आंकड़ों का प्रभाव पड़ता है क्योंकि निर्णय सदैव ही पिछले आँकड़ों के आधार पर लिये जाते हैं, जो स्वयं निर्णयों के साथ-साथ बदलते रहते हैं। अतः आर्थिक प्रणाली में सदैव ही नये परिवर्तन होते रहते हैं। इस प्रकार व्यापार-चक्रों के उत्पन्न होने का मुख्य कारण—विनियोग निर्णयों के समय क्रम (जिन पर भूत, वर्तमान तथा आशातीत घटनाओं का प्रभाव पड़ता है और जिन पर विनियोगकर्ताओं की लाभ की आशायें निर्भर होती हैं) और बचतों अथवा उपभोग निर्णयों (जो मुख्यतया आय के स्तर तथा वितरण पर निर्भर होते हैं) की जटिल प्रतिक्रिया है। ये चक्रीय परिवर्तन अधिक प्रबल होंगे या कम और यह रोजगार के ऊँचे स्तर पर उत्पन्न होंगे या नीचे स्तर पर, फिर से बचत करने की इच्छा तथा विनियोग करने की प्रेरणाओं के परिमाणात्मक तथा समय अनुसार सम्बन्धों पर निर्भर करता है। जब औसत आय काफी ऊँची होती है, जैसा औद्योगिक देशों में होता है, और जब आय का वितरण

भी काफी असमान होता है, बचत करने की प्रवृत्ति विनियोग करने के निर्णयों की अपेक्षा अधिक प्रबल हो सकती है (उस समय जब रोजगार का स्तर काफी ऊँचा होता है) और पूर्ण रोजगार की स्थिति प्राप्त होना कदाचित् असम्भव ही होता है। इसलिए पूँजीवादी देशों में पूर्ण रोजगार की स्थिति स्थापित नहीं हो सकती क्योंकि वह मुख्य कड़ी गायब ही रहती है, जिससे विनियोग निर्णयों की अपेक्षा बचतें कम हो सकें ताकि सब काम प्राप्त करने वाले श्रमिकों को नौकरी देने के लिए माँग कम न रहे। यह गायब कड़ी राजकीय संस्थाओं की आय तथा व्यय सम्बन्धी नीति होती है।

उपर्युक्त पृष्ठों में हमने बेकारी के कारणों का विश्लेषण करने के लिए प्रस्तुत किये गए विभिन्न सिद्धान्तों का आलोचनात्मक अध्ययन किया है और स्पष्ट किया कि समय-समय पर बेकारी से सम्बन्धित विचारधारा में क्या-क्या परिवर्तन हुए हैं।

विलियम बैवरिज के विचार—विलियम बैवरिज ने बेकारी के निम्न तीन कारण बताये हैं :—

(अ) उद्योग की वस्तुओं को कुल माँग में निरन्तर उत्पन्न होने वाली कमी;

(ब) माँग का अनुचित दिशाओं की ओर स्थानान्तरण; और

(स) श्रम बाजार का अकुशल संगठन, परिणामस्वरूप कभी अपर्याप्त और कभी अत्यधिक मात्रा में मनुष्य नौकरी की तलाश में इधर से उधर फिरते रहते हैं।

बेकारी को रोकने के लिए इन तीनों दिशाओं में ही उपाय होने चाहियें, यद्यपि पहली दिशा सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। यह ही तो कीन्स ने भी बताया है। इसका विश्लेषण हम ऊपर कर आये हैं। दूसरी दिशा में उद्योग की स्थापना के लिए स्थान निश्चित करने पर पूर्ण नियन्त्रण होना चाहिये और तीसरी दिशा में श्रमिकों की गतिशीलता नियन्त्रित होनी चाहिए।

अत्यधिक विशिष्टीकरण—कभी-कभी अत्यधिक विशिष्टीकरण के कारण भी बेकारी उत्पन्न होती है। जब किसी देश में रोजगार की अधिकांश मात्रा ऐसे उद्योगों से प्राप्त होती है जिनकी संख्या बहुत कम होती है तथा जिनमें श्रमिकों को विशेष ज्ञान तथा प्रशिक्षण की आवश्यकता होती है जैसे, ब्रिटेन में कोयला उद्योग, भारत में जूट तथा चीनी उद्योग, कनाडा में गेहूँ—तो परिस्थितियों के परिवर्तन तथा ऐसे उद्योगों की वस्तुओं की मांग में कमी हो जाने से एक बार बेकारी उत्पन्न हो जाती है और फिर क्रम चलता ही रहता है और बेकारी बढ़ती ही जाती है। इसलिए तो गांधीजी ने उद्योगों के विकेन्द्रीयकरण पर इतना जोर दिया था, क्योंकि विविध प्रकार के उद्योग होने से स्थिति अधिक लोचपूर्ण रहती है।

बेकारी के विभिन्न रूप—चैपमेन ने बेकारी को भावगत एवं वस्तुगत (subjective and objective) दो भागों में बाँटा है। पहले प्रकार की बेकारी मनुष्य के शारीरिक तथा मानसिक दोषों के कारण उत्पन्न होती है, चाहे यह दोष जन्मगत हों या प्राप्त किये हुए; चाहे यह दोष उपचार योग्य हों या ठीक न होने

वाले। इसमें अनिच्छित वेकारी भी सम्मिलित है। दूसरे प्रकार की वेकारी उन कारणों से उत्पन्न होती है जो मनुष्य के वश में नहीं होते, जैसे व्यापार-चक्र से उत्पन्न होने वाली वेकारी, मौसमी माँग और पूर्ति के परिवर्तनों के कारण उत्पन्न होने वाली वेकारी, आकस्मिक रोजगार इत्यादि। इस प्रकार वस्तुगत वेकारी के निम्न रूप हो सकते हैं :—

(अ) मौसमी वेकारी, जो उत्पादन में मौसमी परिवर्तनों के कारण उत्पन्न होती है। इसमें कृषि तथा आकस्मिक श्रम आते हैं।

(व) चक्रीय वेकारी, जो आय तथा उत्पादन में समृद्धि तथा मन्दीकाल के परिवर्तनों के कारण उत्पन्न होती है।

(स) सामान्य वेकारी जो श्रमिकों की स्वतन्त्र गतिशीलता के कारण उत्पन्न होती है, जो प्रत्येक समय में ही रहती है। श्रमिक एक स्थान से दूसरे स्थान को, एक उद्योग से दूसरे उद्योग को जाने के लिए पूर्णतया स्वतन्त्र होते हैं और अपनी इस गतिशीलता के कारण वे वेकार रहते हैं, अर्थात् एक स्थान से नौकरी छोड़कर दूसरे स्थान पर पहुँचने पर तुरन्त ही काम नहीं मिल जाता, इसीलिए जब तक उन्हें काम नहीं मिलता वह वेकार रहते हैं। इतनी वेकारी तो हर समय हर समाज में सदैव ही रहेगी। वैवरिज इस सीमा को 'वेकारी की वह न्यूनतम सीमा वताता है जो और कम नहीं की जा सकती' और पीगू इसे एक ऐसी, 'न मालूम होने वाली न्यूनतम सीमा' कहता है, 'जिससे नीचे वेकारी का प्रतिशत कभी नहीं गिरता'।

(द) औद्योगिक ढांचे सम्बन्धी वेकारी (Structural unemployment)—देश के औद्योगिक ढांचे में विभिन्न उद्योगों का आकार एवं महत्त्व अपना अलग-अलग होता है और यह महत्त्व समय-समय पर कम और अधिक होता रहता है। एक उद्योग समाप्त ोता है या क्षीण होता जाता है और दूसरा उद्योग उसका स्थान ग्रहण करता जाता है। क्षीण होने वाले उद्योग के श्रमिक वेकार हो जाते हैं और दूसरे उद्योग को जानने में और काम प्राप्त करने में कुछ समय लगता है। कुछ व्यक्ति तो इतने वृद्ध हो गये होते हैं कि ये नए वातावरण में तथा नई मशीनों पर और नए स्थान पर काम ही नहीं कर पाते। इस प्रकार के श्रमिक क्षीण होने वाले उद्योगों में आधिक्य में होंगे जब कि दूसरे उद्योगों में कमी होते हुए भी श्रमिक नहीं मिल पाते और ऐसी वेकारी समाज में रहती ही है।

वेकारी के प्रभाव—

(अ) आर्थिक—अब तक की विवेचना से स्पष्ट हो गया होगा कि वेकारी आर्थिक, शारीरिक एवं सामाजिक कारणों से उत्पन्न होती है। जब तक निजी लाभ के उद्देश्य से उत्पादन-कार्य किया जाता रहेगा, जब तक सरकार इसका महत्त्व न समझ कर देश के साधनों का विकास नहीं करेगी, इस प्रकार वेकारी चलती रहेगी और प्रतिवर्ष वेकार मनुष्यों की संख्या में वृद्धि होती ही रहेगी। वेकारी, वीमारी और महामारी की भाँति ही एक सामाजिक बुराई है। वेकार मनुष्य के जीवन में न तो कोई उल्लास होता है और न कोई संतोष एवं शान्ति। वेकारी का डर ही

मनुष्य की शक्ति को चूसना आरम्भ कर देता है और वास्तविक बेकारी तो एक बीमारी से भी बुरी है। बेकार होते ही मनुष्य की आय समाप्त हो जाती है और पिछली बचतों के अभाव में मनुष्य का जीवन-स्तर गिरने लगता है। कपड़े की जितनी मात्रा आवश्यक होती है उससे कम कपड़ा पहनने को मिलता है और भोजन जितना मिलना चाहिए, उतना प्राप्त नहीं हो पाता। अतः जीवन की आवश्यक वस्तुओं के उपयोग में गुणात्मक एवं परिमाणात्मक कमी होने लगती है और बेकार मनुष्य के कुटुम्ब का प्रत्येक सदस्य संकट में पड़ जाता है, उनमें से प्रत्येक का शारीरिक ह्रास होने लगता है और कार्यक्षमता गिरने लगती है और थोड़े दिनों बाद श्रमिक की जीविका प्राप्त करने की शक्ति उतनी नहीं रहती जितनी पहले थी। एक दीक्षा प्राप्त निपुण व्यक्ति बेकारी में ऐसे काम तक करने को तैयार हो जाता है, जो अनिपुण व्यक्ति एवं अशिक्षित व्यक्तियों को ही करने चाहियें, किन्तु उसे विवश होकर ऐसा करना ही पड़ता है।

(ब) **सामाजिक**—बेकारी के सामाजिक परिणाम बहुत ही भीषण एवं कड़ुवे होते हैं। व्यक्ति में जुआ खेलने की आदत उत्पन्न हो जाती है। काम न मिल पाने पर वह हताश हो जाता है; अपनी बीवी के जेवर और घर के बर्तन बेच कर या गिर्वी रख कर जुआ खेलता है, इस आशा में कि यह जीत कर आयेगा और बाल-बच्चों की भूख को मिटा सकेगा। परन्तु एक बार हार आरम्भ होकर जीत होना कठिन ही होता है। धीरे-धीरे शराब पीने लगता है, यह समझ कर कि उससे कम से कम कुछ देर के लिए वह सारे संकटों और गमों से मुक्त हो जायगा। धीरे-धीरे वह चोरी करता है और इस प्रकार एक समय में ईमानदार और सच्चरित्र व्यक्ति बेकारी के बाद समाज पर एक भार बन जाता है। उसमें आलसी रहने की आदत उत्पन्न हो जाती है। आरम्भ में तो वह काम ढूंढ़ता भी है, परन्तु ठोकरें खाने के बाद वह घर में पड़ा रहता है या जुआ खेलता है, शराब पीता है या चोरी करता है। वह किसी भी काम को तलाश नहीं करता और यहाँ तक कि उसकी बीवी, माँ तथा घर की औरतें जीविका कमाती हैं और वह निर्लज्ज सा घर में बैठकर खाता है। धीरे-धीरे वह अपनी सारी कला, निपुणता एवं दक्षता खो बैठता है और इस योग्य नहीं रहता कि वह कहीं पर नौकरी कर सके। एक व्यक्ति के बेकार होने से सारा कुटुम्ब नष्ट हो जाता है, बच्चों का भविष्य नष्ट हो जाता है और सामाजिक जीवन समाप्त हो जाता है।

(स) **नैतिक**—साधारणतया सामाजिक और नैतिक प्रभावों में भेद करना कठिन ही होता है परन्तु हम यहाँ पर बेकारी के उन नैतिक प्रभावों का वर्णन करेंगे जो व्यक्तिगत रूप से बेकार व्यक्ति पर पड़ते हैं। व्यक्ति का नैतिक स्तर इतना गिर जाता है कि वह बेकार रहना ही पसन्द करता है। वह अपने कुटुम्ब की स्त्रियों की कमाई हुई जीविका का उपभोग करता है, किन्तु स्वयं काम ढूंढ़ने नहीं जाता। नियमित कार्य से अलग रहने के कारण उसमें जिम्मेदारी की कमी आ जाती है और वह अपने कर्त्तव्य को भी भूल जाता है। शराब पीने और जुआ खेलने जैसी अनैतिक

आदतें उसमें आ जाती हैं। वास्तव में उसका सारा जीवन ही अनियमित एवं अनुशासनहीन हो जाता है। यदि बेकार व्यक्ति जवान है तो वह अनेकों जुर्म करने को तैयार हो जाते हैं, और अपनी शारीरिक शक्ति का प्रयोग अच्छे कार्यों में नहीं करते। बेकार व्यक्ति तनिक सी बात पर झगड़ा, मार-पीट और खून तक करने के लिए उतारू हो जाते हैं। बेकारी के काल में मनुष्यों में जुर्म करने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। सिंग सौंग जेल के वार्डन श्री लॉस ने बताया है कि १९२८-२९ में जब कैदियों की संख्या केवल १०९८ थी, सन् १९३०–३१ में संख्या १३९३ हो गई और चोरी व डकैतियों के जुर्म में कैद की सजा भुगतने वालों की संख्या इसी काल में ३०८ से ५३२ हो गई थी। संयुक्त राज्य अमेरिका में लॉस एन्जिल्स में विश्व मन्दीकाल में बेकारी और जुर्म के सम्बन्ध का स्पष्टीकरण निम्न आँकड़ों से भली भाँति विदित हो जाता है। "जितने भी बड़े-बड़े जुर्म बालिगों द्वारा किये गये थे और जितने भी गम्भीर जुर्म बालकों ने किये थे, उन सभी में सन् १९३० के बाद वृद्धि हुई थी। सन् १९२८ के बाद विशेषकर आर्थिक उद्देश्यों से किये गये जुर्मों की मात्रा में वृद्धि हुई थी। पुलिस विभाग के आँकड़ों से स्पष्ट होता है कि सन् १९२८–२९ से सन् १९३१–३२ के काल में डकैतियों की संख्या दुगनी हो गई थी। इस काल में सेंध लगाकर चोरी करने में ६२·५% से ७२·३% की वृद्धि हुई थी और छोटी चोरियों में ७·३१ की वृद्धि हुई थी। यद्यपि भारत में इन जुर्मों से सम्बन्धित आँकड़ों को प्राप्त करना असम्भव है, किन्तु समाचार-पत्रों की सूचनाओं से यह भली भाँति स्पष्ट हो जाता है कि भारत में भी चोरी डकैती की संख्या दिन प्रतिदिन बढ़ती ही जा रही है और अब तो शिक्षित व्यक्तियों द्वारा उन जुर्मों की संख्या में और भी अधिक वृद्धि हो रही है।

(ब) **बेकारी और समाज**—निरन्तर चलने वाली अनिश्चित बेकारी से समाज इतना असुरक्षित रहता है और समाज के सदस्यों को इतनी कठिनाइयाँ सहन करनी पड़ती हैं कि उनकी गणना करना सरल नहीं होता। जीवन की नीरसता को कम करने के लिए अवकाश भी बहुत आवश्यक है, परन्तु बेकारी जैसा लम्बा अवकाश तो मनुष्य को पूर्णतया बेकार कर देता है जिसका प्रभाव सम्पूर्ण समाज पर ही पड़ता है। सन् १९३० में संयुक्त राज्य में मन्दीकाल का सबसे बुरा परिणाम यह था कि २ लाख से ३ लाख तक बच्चे बेघर के हो गये थे, और इनमें बहुत सी लड़कियाँ वीरान इधर से उधर मारी-मारी फिरती थीं।

कैलीफोर्निया बेकारी आयोग ने अपने निष्कर्षों को संक्षेप में इस प्रकार दिया है :—"कार्यहीनता केवल क्रय-शक्ति को ही नष्ट करके जीवन-स्तर को नीचा नहीं गिराती, वरन् कार्यकुशलता को भी नष्ट कर देती है और अन्त में स्फूर्ति को ही समाप्त कर देती है। इस समय का मेहनती और साधन-सम्पन्न श्रमिक निर्धन हो जाता है, अपने में और समाज में विश्वास खो बैठता है।"

वास्तव में बेकारी सबसे बुरी सामाजिक घटना है। आधुनिक सामाजिक व्यवस्था में जहाँ साधनों की कोई कमी नहीं, लाखों व्यक्ति इस तरह मारे-मारे

फिरें, बिना भोजन और कपड़े के जीवन व्यतीत करें, आधुनिक सभ्यता एवं हमारी वैज्ञानिक प्रगति के मुँह पर एक तमाचा है। बेकारी से उत्पन्न होने वाली अनेकों बुराइयाँ तो समाज की दशा को और भी हीन कर देती हैं। बहुत लम्बे काल तक यह स्थिति चलना असम्भव है। सरकार को इस स्थिति को सुधारने के लिए और भी अधिक प्रयत्न करने ही होंगे अन्यथा बेकार व्यक्तियों को अपने भाग्य का निर्माण करने के लिए स्वयं पग उठाना पड़ेगा।

बेकारी दूर करने के सामान्य उपाय—अभी हमने बेकारी के विभिन्न प्रकार के प्रभावों का अध्ययन किया है। वैसे तो अपने-अपने क्षेत्र में यह बड़े घातक हैं, किन्तु बेकारी के सामूहिक प्रभाव अति तीव्र और इतने भीषण होते हैं कि उनसे उत्पन्न होने वाली हानियों को अच्छे से अच्छे समयों में पूरा नहीं किया जा सकता। श्रमिक की क्षमता का जो ह्रास होता है वह स्थायी होता है और उसको वह अपने जीवन के शेष वर्षों में पूरा नहीं कर सकता। उसके सारे कुटुम्ब का कम से कम कुछ अवधि तक तो अवश्य ही नैतिक स्तर गिर जाता है और स्वयं तो वह चरित्र-हीन हो ही जाता है। वह आत्म-विश्वास खो बैठता है। इन सबका सामूहिक परिणाम यह होता है कि देश की राष्ट्रीय आय गिरती जाती है और इस प्रकार आने वाली पीढ़ियों का भविष्य भी अन्धकारमय होता जाता है। इन सब दोषों को दूर करने के लिए भिन्न भिन्न व्यक्तियों ने भिन्न-भिन्न उपचार बताये हैं। इन सब उपायों को मोटे तौर पर दो भागों में विभाजित किया जाता है :—

(१) सकारात्मक उपाय (Positive measures)।

(२) नकारात्मक उपाय (Negative measures)।

पहले प्रकार के उपायों का मुख्य उद्देश्य अधिक से अधिक संख्या में बेकार व्यक्तियों को काम देना होता है। यह दो प्रकार के होते हैं—दीर्घकालीन और अल्पकालीन। दीर्घकालीन उपाय वे होते हैं जो एक लम्बी अवधि के बाद रोजगार में वृद्धि करते हैं, जैसे, नये-नये औद्योगिक उपक्रम, बहुउद्देशीय योजनायें इत्यादि। अल्पकालीन उपायों से रोजगारों में तुरन्त ही वृद्धि होती है। जैसे बेकारों को आर्थिक सहायता देना। नकारात्मक उपायों का उद्देश्य बेकारों को नई-नई नौकरियाँ प्रदान करके कम करना नहीं होता बल्कि काम ढूँढ़ने वालों की संख्या को कम करके बेकार मनुष्यों की संख्या को कम करना था जैसे युद्ध, प्रवास, जनसंख्या नियन्त्रण इत्यादि। बहुधा सकारात्मक उपायों का ही उपयोग हुआ है। आधुनिक जगत नकारात्मक उपायों के पक्ष में बिल्कुल भी नहीं है।

सामान्य रूप से, श्रमिकों की माँग और पूर्ति में संतुलन स्थापित करना, बेकारी को दूर करने का सबसे उपयुक्त उपाय है। इसके लिए श्रम दफ्तरों को स्थापित करना होगा। भिन्न-भिन्न देशों में श्रम दफ्तर (labour exchanges) पिछले वर्षों में स्थापित किये गये हैं और इनसे देश में श्रम की माँग और पूर्ति में सामंजस्य स्थापित करने में काफी सफलता प्राप्त हुई है। इन संस्थाओं की स्थापना के अति-रिक्त देश में अधिक नियमित कार्य भी प्रदान करना और आकस्मिक श्रमिकों को

नौकर रखने की प्रथा को भी कम किया जाये। जो वेकारी मन्दीकाल में उत्पन्न होती है, उसको सरकारी प्रयत्नों द्वारा रोका जा सकता है। अल्पकालीन उद्योग चालू किये जा सकते हैं और फैक्ट्रियों में कम समय वाली फेरियाँ (Shifts) चालू करके नये श्रमिकों को कार्य दिया जा सकता है। श्रमिकों की माँग में सामान्य वृद्धि करने के लिए और राजकीय क्षेत्रों में श्रमिकों की माँग बढ़ाने के लिए, नये-नये राजकीय उद्योग, सार्वजनिक निर्माण कार्य स्थापित किये जा सकते हैं, जैसे, इमारतों को बनवाना, रेलों, नहरों, बाँधों, सड़कों आदि को बनाना इत्यादि। इन सब प्रयत्नों से केवल उन्हीं व्यक्तियों को नौकरी नहीं मिलेगी जो तत्कालीन इन उद्योगों में लगे हुए हैं और जिनके निकाले जाने का भय है वरन् निजी उपक्रम को भी प्रोत्साहन मिलेगा, क्योंकि इन कार्यों में अधिक श्रमिकों के नौकर होने से उनकी उपभोक्ता वस्तुओं की माँग में वृद्धि होगी। परन्तु इन कार्यक्रमों को बड़े सोच-विचार कर चालू करने की आवश्यकता है और बड़ी सावधानी वरतने की आवश्यकता है। ऐसी संस्थाएँ स्थापित की जायें जो क्षतिपूरक राजकीय व्यय को नियोजित करने तथा उसको कार्यान्वित करने का काम कर सकें। मौसमी वेकारी को दूर करने के लिए, विभिन्न व्यवसायों में सामंजस्य स्थापित किया जाये और रोजगार को पूरे वर्ष पर फैलाया जाये। ऐसे श्रमिक जो नौकरी करने योग्य नहीं हैं, उनकी शारीरिक अयोग्यता को दूर करने के लिए सरकार को उचित प्रबन्ध करना चाहिए और जो नौकरी नहीं करना चाहते और ठलुआ जीवन व्यतीत करने के आदि हो गये हैं, उनको जबरदस्ती काम पर लगाया जाये तथा अनिच्छित वेकारी को दूर करने के लिए और देश को वेकारी के सामूहिक परिणामों से बचाने के लिए वेकारी बीमा योजनाएँ चालू की जायें।

अध्याय ३५

पूर्ण रोज़गार एवं राजस्व-नीति

(FULL EMPLOYMENT AND FISCAL POLICY)

प्राक्कथन—

पिछले अध्याय में हमने बेरोजगारी के विभिन्न कारणों, रूपों और परिणामों का विश्लेषण किया था। हमने देखा कि बेकारी मनुष्य की ही नहीं वरन् सम्पूर्ण देश के सामाजिक और आर्थिक जीवन को नष्ट कर देती है। हमने पिछले अध्याय में बेकारी को दूर करने के विभिन्न उपायों की भी विवेचना की है। आज सभी इस विचार से सहमत हैं कि सरकार अपनी राजस्व सम्बन्धी नीति (Fiscal Policy) से देश में रोजगार की स्थिति को स्थायी बना सकती है। वास्तव में बेरोज़गारी की समस्या एक निरन्तर बदलने वाली समस्या है। इसके लिए एक स्थायी नीति निर्मित नहीं की जा सकती। जनसंख्या के बढ़ने में यदि अन्य परिस्थितियाँ स्थिर रहें तो बेकारी उत्पन्न होना स्वाभाविक है। किन्तु यह तो बेकारी की दीर्घकालीन समस्या है और इसके लिए एक स्थायी किन्तु लोचपूर्ण नीति की आवश्यकता है। यदि देखा जाय तो दीर्घकालीन बेकारी की समस्या अधिक दुखदायी नहीं होती, क्योंकि जनसंख्या की वृद्धि से सक्रिय माँग में वृद्धि होती जाती है। किन्तु अल्पकालीन समस्या अत्यन्त ही विषम होती है, क्योंकि सक्रिय माँग के कम होते ही बेकारी उत्पन्न हो जाती है। हम देख चुके हैं कि व्यापार चक्रीय परिवर्तनों के कारण जो बेकारी उत्पन्न होती रहती है वह समस्त आर्थिक व्यवस्था को छिन्न-भिन्न कर देती है और इसके लिए सरकार के अतिरिक्त और किसी भी ओर से नीति निर्मित होना या सक्रिय माँग की उत्पत्ति के लिए प्रयत्न होना असम्भव ही होता है। बेकारी का एक चक्र एक बार आरम्भ होकर फिर बड़ी कठिनाई से ही रुक पाता है। इसीलिये निर्बाधावादी नीति के अन्त और आर्थिक नियोजन के विचार की प्रगति के साथ-साथ बेकारी को दूर करना और देश के सभी नागरिकों के लिए समुचित रोजगार सुविधाओं की व्यवस्था करना आधुनिक राज्य का एक महत्वपूर्ण कर्त्तव्य समझा जाने लगा है। आजकल राज्य का महत्व केवल जनता की सुरक्षा या देश के प्रशासन के लिए ही नहीं है वरन् व्यक्तियों के कल्याण के लिए भी है। इसीलिए आधुनिक राज्यों को कल्याणकारी राज्य कहते हैं।

ऐसे राज्य में सभी नागरिकों के लिए रोजगार सुविधायें प्रदान करने का प्रयत्न किया जाता है और देश में पूर्ण रोजगार की स्थिति स्थापित करना मुख्य नीति मानी जाने लगी है। यहाँ यह बताना अनुचित न होगा कि विशेष रूप से पूँजीवादी देशों के लिए इस नीति को कार्यान्वित करना तथा निर्मित करना आवश्यक है, क्योंकि व्यापार-चक्र की समस्या केवल पूँजीवादी देशों में ही मुख्य होती है। समाजवादी तथा साम्यवादी देशों में तो इस समस्या की गम्भीरता एवं रूप और आकार बहुत अधिक नहीं होता और वहाँ तो राज्य की नीति पहले से ही पूर्ण रोजगार स्थापित करने की होती है। किन्तु पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में, जहाँ व्यापारिक तथा व्यावसायिक क्षेत्रों में प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र होता है, जहाँ सरकारी नियन्त्रण या तो होता ही नहीं है, या यदि होता भी है तो बहुत ढीला-ढाला होता है, पूर्ण रोजगार नीति का निर्मित होना तथा उसको कार्यान्वित करने के विभिन्न उपायों का स्पष्टीकरण करना सरकारी नीति का एक मुख्य अंग होना चाहिये। परन्तु प्रश्न यह है कि पूर्ण रोजगार क्या होता है? अर्थात् पूर्ण रोजगार का क्या अर्थ है?

पूर्ण रोजगार का अर्थ—केन्स का कथन है कि यदि अर्थ-व्यवस्था में किसी समय अनिच्छित बेकारी न हो तो उस स्थिति को पूर्ण रोजगार की स्थिति कह सकते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि जब तक देश में अनिच्छित बेकारी न हो, चाहे स्वैच्छिक बेकारी और रगड़ात्मक बेकारी (Frictional unemployment) भले ही हो किन्तु ऐसी अवस्था को पूर्ण रोजगार की स्थिति माना जाएगा। रगड़ात्मक बेकारी वह होती है जिसमें श्रम की गतिशीलता के कारण श्रमिक कुछ समय के लिए बेकार रहता है या कच्चे माल, शक्ति की कमी और मशीन के टूटने-फूटने के कारण कारखाने बन्द हो जाते हैं और व्यक्ति को कुछ समय के लिए बेकार रहना पड़ता है।

केन्स के बाद कुछ लेखकों ने पूर्ण रोजगार सम्बन्धी सैद्धान्तिक विचारधारा को आगे बढ़ाने का प्रयास किया है, यद्यपि वे अधिक सफल नहीं हो पाये, तथापि उनका संक्षिप्त विश्लेषण यहाँ पर आवश्यक है। प्रो० केल्डोर के अनुसार पूर्ण रोजगार सम्बन्धी विवेचना में दो बातों की ओर ध्यान देना चाहिए, प्रथम, उत्पादन के साधनों की पूरकता और द्वितीय, उनकी विशिष्टता। साधनों की पूरकता से उसका अभिप्राय यह है कि एक साधन के साथ-साथ उन सभी साधनों की उपलब्धि भी होनी चाहिए जो उसको काम पर लगाने के लिए आवश्यक हैं, जैसे, किसान के लिए भूमि, उसका उपजाऊपन, खाद, बीज, पानी, हल, बैल इत्यादि सभी किसान को काम पर लगाने के लिए आवश्यक होते हैं। यदि ऐसा नहीं होगा तो पूर्ण रोजगार की स्थिति उत्पन्न नहीं हो पाएगी। साधनों की विशिष्टता का अर्थ यह है कि यदि कोई साधन किसी विशेष कार्य को ही कर सकता है और यदि वह विशेष कार्य नहीं मिल पाता तो स्वाभाविक ही है कि वह साधन बेकार ही रहेगा, उदाहरणार्थ, एक टाइप करने वाला जिसे टाइप करने के अतिरिक्त अन्य कार्य तो प्रचुर मात्रा में मिल जाते हैं किन्तु टाइप करने का काम नहीं मिलता, जिसका अभिप्राय यह हुआ

कि देश को उसकी आवश्यकता नहीं है। इस कारण से भी देश में पूर्ण रोजगार की स्थिति उत्पन्न होना कठिन है। आॅकलिन ने केन्स के इस विचार से सहमति प्रगट की है कि पूर्ण व्यवसाय के स्तर को बनाये रखने के लिए प्रभावशील माँग का विशेष महत्त्व है। किन्तु इसके साथ-साथ यह भी आवश्यक है कि उन रुकावटों को भी हटाया जाए, जैसे, बचतों तथा विनियोगों के निम्न स्तर, जो अर्थ-व्यवस्था में विद्यमान होती हैं।

सर विलियम बैवरिज के अनुसार पूर्ण रोजगार एक ऐसी परिस्थिति है, जहाँ बेकार व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक खाली नौकरियाँ होती हैं। इसका यह भी अर्थ है कि, "नौकरियाँ उचित मजदूरियों पर हैं और इस प्रकार की हैं तथा ऐसे स्थानों पर स्थित हैं कि बेकार व्यक्ति से यह सरलता से आशा की जा सकती है कि वे उन्हें ग्रहण करलें। परिणामस्वरूप एक नौकरी के छूटने और दूसरी नौकरी को ढूँढने में बहुत कम समय लगता है।" प्रो० पीगू उस अवस्था को पूर्ण रोजगार की दशा कहते हैं जब सभी स्वस्थ व्यक्ति नौकर होते हैं, यदि वे प्रचलित मज़दूरी की दर पर काम करना चाहते हैं तो।

उपर्युक्त परिभाषाओं में बैवरिज की परिभाषा तो अत्यन्त ही आदर्शवादी और सैद्धान्तिक है, क्योंकि ऐसी अवस्था आना, जबकि बेकार व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक नौकरियाँ हों, सोचा भी नहीं जा सकता और न ही यह सम्भव है। आजकल जबकि जनसंख्या इतनी तीव्र गति से बढ़ रही है ऐसी स्थिति कदापि भी स्थापित नहीं हो सकती है। पीगू के अनुसार सभी स्वस्थ व्यक्तियों को नौकर होना चाहिए। स्वस्थ व्यक्तियों के बेकार रहने की दशा में भी पूर्ण रोजगार की दशा उत्पन्न हो सकती है। वृद्धावस्था में जबकि व्यक्ति नौकरी करने योग्य भी हैं परन्तु सरकारी कानून के अनुसार उनको रिटायर होना पड़ता है, ऐसे व्यक्ति यदि नौकरी नहीं करते और न उन्हें नौकरी मिलती ही है, तो इनकी बेकारी के उपस्थित होते हुए भी क्या पूर्ण रोजगार की स्थिति नहीं कही जा सकती? इसके अतिरिक्त प्रचलित मजदूरी की दर से क्या अभिप्राय है? भिन्न-भिन्न स्थानों और भिन्न-भिन्न उद्योगों की तो बात ही क्या करना, एक स्थान पर एक ही उद्योग की विभिन्न इकाइयों तक में मजदूरी की दरों में समानता देखने को नहीं मिलती। इसी भिन्नता के कारण तो श्रमिकों में गतिशीलता उत्पन्न होती है। मजदूरी की दर की भिन्नतायें तो सदैव ही रहेंगी, जब तक कि सरकार प्रत्येक उद्योग के लिए न्यूनतम मजदूरी निर्धारित नहीं कर देती। इस प्रकार इस परिभाषा में भी अस्पष्टता है और इसका भी केवल सैद्धान्तिक महत्व ही है। हम निम्न में एक परिभाषा और देते हैं :—

पूर्ण रोजगार, "एक ऐसी दशा है जिसमें खाली नौकरियों की संख्या, बेकार व्यक्तियों की संख्या से अधिक कम नहीं है ताकि किसी भी समय पर बेकारी, एक व्यक्ति के एक नौकरी छटने और दूसरी नौकरी ढूंढने में सामान्य विलम्ब के कारण होती है।"

यह परिभाषा भी केवल सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से ही उचित है। सच तो यह है कि पूर्ण स्थिति का विचार स्वयं एक आदर्शवादी विचार है। यह एक उपरिक सिद्धान्त है और क्योंकि यह व्यावहारिक नहीं है इसलिये, जितनी भी परिभाषायें इसकी दी गई हैं वह भी उपयुक्त प्रतीत नहीं होतीं। एक लम्बे वाद-विवाद के बाद अब सभी इस विचार से सहमत हैं कि पूर्ण रोजगार की स्थिति स्थापित होना केवल एक स्वप्न है। न तो प्रत्येक स्वस्थ व्यक्ति को नौकरी मिलना सम्भव ही है और न बेकार व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक खाली नौकरियों का होना ही सम्भव है। इसलिये अब सभी इसको स्वीकार करने लगे हैं कि प्रत्येक समय पर कुछ न कुछ व्यक्ति अवश्य ही बेरोजगार रहेंगे, चाहे सरकार कितने ही प्रयत्न क्यों न करे। इस बेकारी के निम्न कारण होते हैं :—

(१) प्रत्येक समय में समाज के कुछ सदस्य ऐसे अवश्य ही होते हैं, जिन्हें, कितने ही प्रलोभन क्यों न दिये जायें, कितनी भी मजदूरी क्यों न दी जाये, किन्तु उन्हें काम करना अच्छा ही नहीं लगता। ऐसे व्यक्ति ठलुआ जीवन व्यतीत करने के आदी हो जाते हैं और उनकी नस-नस में आलस्य भर जाता है। ऐसे व्यक्ति हमेशा बेकार रहेंगे।

(२) श्रमिकों में गतिशीलता तो होती ही है। मनुष्य एक स्थान पर टिक कर काम करना नहीं चाहता। उसका जीवन नीरस हो जाता है और फिर परिवर्तन तो प्रकृति का नियम भी है। इसलिए श्रमिक एक व्यवसाय को छोड़कर दूसरे व्यवसाय या एक स्थान को छोड़कर दूसरे स्थान को जाना चाहते हैं। एक काम को छोड़कर दूसरे काम का तुरन्त ही मिलना सम्भव नहीं होता। कुछ न कुछ समय अवश्य ही लगता है। इसलिए जब तक कोई दूसरा काम नहीं मिलता तब तक श्रमिक बेकार रहेगा। इस प्रकार की बेकारी समाज में सदैव ही रहेगी।

(३) इसके अतिरिक्त काम को छोड़ना तो सरल होता है किन्तु काम को ढूँढना कठिन होता है। हो सकता है श्रमिक को दूसरा काम ऐसा मिले जिसके लिए उसे कुछ प्रशिक्षण लेना पड़े। इसलिए काम को छोड़कर प्रशिक्षण लेने और दूसरे काम मिलने तक में जो समय लगता है, उसमें व्यक्ति बेकार ही रहेगा।

(४) आकस्मिक श्रमिकों को नौकर रखने की प्रथा प्रायः सभी देशों में है। कुछ व्यवसाय ऐसे होते हैं जहाँ अनिश्चित समय अवधि के बाद काम कुछ दिनों के लिए ही निकलता है और फिर काम बन्द हो जाता है। ऐसे व्यवसायों में मालिकों के लिए यह कभी भी लाभप्रद नहीं हो सकता कि वे श्रमिकों को स्थायी रूप से काम पर रक्खें, जैसे, जहाज पर माल लादने तथा ढोने का काम, क्योंकि श्रमिकों को केवल जहाज आने तथा जहाज जाने पर ही काम मिलता है। अतः ऐसे कार्यों के लिए आकस्मिक श्रमिक नौकर रक्खे जाते हैं। अर्थात् काम उत्पन्न होने पर मजदूर बुला लिए जाते हैं और काम समाप्त होने पर उन्हें हटा दिया जाता है। आकस्मिक बेकारी भी अवश्य ही हर समय में कुछ न कुछ अंश में होगी।

(५) कुछ उद्योग ऐसे होते हैं जिनमें वर्ष में केवल कुछ ही महीनों के लिए

कार्य होता है और शेष महीनों में फैक्ट्रियाँ वन्द रहती हैं जैसे, चीनी उद्योग में। चीनी उद्योग में काम करने वाले फैक्ट्री वन्द होने पर अधिकांश श्रमिक वेकार हो जाते हैं। इसे मौसमी वेकारी कहते हैं। इस प्रकार की वेकारी भी कुछ न कुछ अंश में सदैव ही वनी रहेगी।

(६) समय-समय पर मशीनों तथा उत्पादन कला में परिवर्तन होते रहते हैं। पुरानी फैक्ट्रियों में नये परिवर्तनों के अनुसार परिवर्तन करने के लिए कुछ समय तक के लिए काम वन्द कर दिया जाता है, जिस कारण भी कुछ श्रमिक वेकार हो जाते हैं।

उपर्युक्त सभी कारणों से समाज में हर समय कुछ न कुछ वेकारी अवश्य ही रहेगी। यह अनुमान है कि यह वेकारी कुल रोजगारों की संख्या की २% से ५% तक होगी। इसका अभिप्राय यह हुआ कि यदि हम पूर्ण रोजगार की स्थिति उत्पन्न करने का प्रयत्न करें भी तो भी अधिक से अधिक ९५% से ९८% तक ही श्रमिकों को काम पर लगाया जा सकता है। अधिकतर इसी अर्थ में पूर्ण रोजगार शब्द का प्रयोग किया जाता है।

इसके विपरीत श्रीमती जोन राबिन्सन का कहना है कि पूर्ण रोजगार वह स्थिति होगी जिसमें रगड़ात्मक वेकारी भी न हो। उनका विचार है कि पूर्ण रोजगार की स्थिति में कोई भी मालिक अपने श्रमिकों की संख्या उस समय तक नहीं बढ़ा सकता जब तक कि कोई दूसरा मालिक अपने यहां श्रमिकों की छटनी न कर दे। स्पष्ट है कि श्रीमती राबिन्सन का मत केन्स से कुछ भिन्न है। किन्तु लर्नर श्रीमती राबिन्सन के विचारों से सहमत नहीं है। उसके अनुसार इसका अर्थ यह होगा कि रगड़ात्मक बेकारी न होने के कारण पहले से ही पूर्ण रोजगार की स्थिति मौजूद थी और उसके स्तर को ऊँचा उठाने का प्रयत्न किया जा रहा है। लर्नर के अनुसार पूर्ण रोजगार वह स्थिति है जहाँ से आगे प्रभावशील माँग में वृद्धि होने के कारण तथा उत्पादन में वृद्धि न होने से मुद्रा-स्फीति उत्पन्न हो जाती है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि केन्स के पश्चात् जितने भी विचार प्रस्तुत किए गए हैं वे केन्स द्वारा प्रस्तुत विचार पर आधारित हैं और इनमें प्रभावशील माँग की धारणा ही प्रमुख है। अतः स्पष्ट है कि पूर्ण रोजगार की स्थिति को बनाये रखने के लिए प्रभावशील माँग को जागरूक रखने के लिए सरकार को हर सम्भव प्रयत्न करने चाहिएं।

पूर्ण रोजगार स्थिति प्राप्त करने की रीतियाँ—यह तो हम पहले ही कह चुके हैं कि एक स्वतन्त्र अथवा पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में पूर्ण रोजगार की स्थिति उत्पन्न करने के लिए ही सरकारी प्रयत्नों की आवश्यकता होती है। इस भाग में हम केवल ऐसी ही प्रणाली में पूर्ण रोजगार स्थिति प्राप्त करने के लिए किये जा सकने वाले प्रयत्नों का विश्लेषण करेंगे। ऐसे प्रयत्न तीन प्रकार के हो सकते हैं :—

(१) राजकीय विनियोगों जैसे, स्कूल, अस्पताल, सड़कें, जल-विद्युत इत्यादि या जनता के उपभोग को बढ़ाने (जैसे, कुटुम्ब भत्ते, अप्रत्यक्ष करों को कम करके, आवश्यक वस्तुओं के उत्पादकों को आर्थिक सहायता देकर उनके मूल्यों को नीचा रखना) के लिए, सरकारी व्यय द्वारा रोजगार उत्पन्न करना, परन्तु शर्त यह है कि यह व्यय ऋणों द्वारा प्राप्त धन में से किया जाये। इसे घाटे का व्यय (Deficit Spending) कहते हैं।

(२) निजी विनियोगों को प्रोत्साहन देकर, व्याज की दर, आय-कर को कम कर करके या अन्य उपायों द्वारा।

(३) अधिक ऊँची आय वाले वर्गों से नीची आय वाले वर्गों में आय का पुनर्वितरण करके।

१. **घाटे का व्यय**—इस विधि के अनुसार सरकार ऋणों द्वारा धन प्राप्त करती है और उसको सक्रिय माँग उत्पन्न करने में खर्च करती है। यह धन नये-नये विनियोगों में लगा दिया जाता है, जिनमें अधिकाधिक संख्या में व्यक्ति नौकर रक्खे जाते हैं। उनकी क्रय-शक्ति उपलब्ध होने से वस्तुओं की माँग बढ़ेगी और अन्त में रोजगारों की संख्या में वृद्धि होगी। इसके अतिरिक्त यह धन जनता के उपभोग के स्तर को बढ़ाने पर खर्च किया जा सकता है। क्योंकि यह धन ऋणों द्वारा प्राप्त होता है, इसलिए न तो इनसे निजी विनियोगों की मात्रा कम होगी और न पहले की अपेक्षा उपभोग ही कम होगा, क्योंकि, प्रत्येक समय में व्यक्तियों के उपभोग करने की प्रवृत्ति लगभग समान रहती है और विनियोग तो बचतों में से किये जाते हैं। आय में वृद्धि होने के साथ-साथ कर आय में वृद्धि होने लगती है और धीरे-धीरे बजट के घाटों में कमी आती जाती है। बजट के घाटे स्वयं अपने लिए वित्त का प्रबन्ध कर लेते हैं, क्योंकि बजट के घाटों से जो आय में वृद्धि होती है, उससे बचतों में भी बजट के घाटों के साथ-साथ वृद्धि होती रहती है।

कुछ लोगों का कहना है कि बजट के घाटों के बढ़ने के साथ-साथ व्याज की दर भी बढ़ती जाती है और बजट के घाटों के अनुपात में निजी विनियोगों की मात्रा कम होती जाती है और सरकारी व्यय से जो कुछ भी प्रोत्साहन मिलता है वह निजी विनियोगों में कमी होने से बेकार हो जाता है। यह पूर्णतया सच है, परन्तु यदि सरकार देश में उचित बैंकिंग नीति को निर्मित करे और सामान्य सूद की दर को स्थिर रखने का प्रयत्न करे तो कभी भी निजी विनियोगों में कमी उत्पन्न नहीं होगी। यदि जनता बराबर अपनी बचतों को सरकारी प्रतिभूतियों में विनियोग करती रहे, और बैंकों में जमा न करे या यदि बैंकों में बचत जमा हो भी तो बैंक अपनी नकद जमा की राशि को न बढ़ाकर जनता की ओर से सरकारी प्रतिभूतियाँ खरीद ले तो अवश्य ही सूद की दर बढ़ेगी और व्यक्ति अपना धन व्यापार तथा उद्योगों में न लगाकर सरकारी प्रतिभूतियों में लगायेंगे और निजी विनियोगों की मात्रा कम होती जायेगी। किन्तु यदि, केन्द्रीय बैंक, व्यापारिक बैंकों को इतनी नकदी देता रहे

कि उनको जनता से नकद जमा प्राप्त करने की आवश्यकता अनुभव न हो, तो सूद की दर कभी भी नहीं बढ़ेगी।

घाटे के व्यय की नीति का दूसरा भय लोगों को यह है, कि सूद की दर स्थिर रहने की स्थिति में बजट के घाटे बढ़ने के साथ-साथ देश में मुद्रा-स्फीति की स्थिति उत्पन्न हो जायेगी और मूल्य तथा मजदूरी बढ़ती जायेंगी। इस सम्बन्ध में इतना ही कहना उपयुक्त होगा कि यदि सक्रिय मांग इतनी अधिक हो जाती है कि वस्तुओं की पूर्ति को बढ़ाने के लिए पर्याप्त मात्रा में श्रमिक या मशीनें उपलब्ध नहीं हो पातीं, अर्थात् वस्तुओं की माँग बढ़ने के साथ-साथ उनकी पूर्त्ति बढ़ाना सम्भव नहीं होता तो ऐसी स्थिति में मूल्यों में निस्सन्देह ही बढ़ने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जायेगी। इसलिये सरकार को बड़ी सावधानी से इस नीति को अपनाना चाहिये और उस बिन्दु से आगे इस प्रकार के व्यय को करने का प्रयत्न नहीं करना चाहिये, जिस बिन्दु पर श्रम और मशीनों का पूर्ण उपयोग हो जाये। अतः यह स्पष्ट है कि पूर्ण रोजगार की स्थिति के लिए मशीनों तथा उपलब्ध श्रमशक्ति में एक निश्चित अनुपात रहना अत्यन्त आवश्यक है। एक समय विशेष पर देश में जितने भी श्रमिक हों उनके काम करने के लिए जितनी मशीनों की आवश्यकता हो उतनी मात्रा में तो मशीनें हों ही, बल्कि कुछ मशीनें अलग सुरक्षित कोष में रक्खी रहें ताकि बढ़ती हुई श्रमशक्ति के लिए उपलब्ध हो सकें। यदि मशीनें, उपलब्ध श्रमशक्ति को काम पर लगाने के लिए अपर्याप्त हैं जैसा पिछड़े हुए देशों में होता है, तो पूर्ण रोजगार की स्थिति स्थापित करने में बहुत समय लगेगा और देश में मुद्रा-प्रसार और उत्पन्न हो जायगा। इसलिये पिछड़े हुए देशों को पहले अपने देश में मशीनों के उत्पादन करने के प्रयत्न करने चाहियें और उसके बाद फिर पूर्ण रोजगार की ओर पग उठाना चाहिये। एक दूसरे प्रकार से भी मूल्य में वृद्धि हो सकती है किन्तु इस घटना को मुद्रा-प्रसार नहीं कहा जा सकता क्योंकि यह वृद्धि उपभोग की वस्तुओं की मांग और पूर्ति के असंतुलन द्वारा उत्पन्न होती है। पूर्ण रोजगार की स्थिति से श्रम संघों की सौदा करने की शक्ति में बहुत अधिक वृद्धि हो जाने से मौद्रिक मजदूरी की दरों में वृद्धि हो जाती है जिससे मूल्य बढ़ने लगते हैं और यह क्रम यूं ही चलता रहता है। हां, इतना अवश्य है कि यदि मजदूरी की दरें श्रमिकों की उत्पादन शक्ति के अनुपात में बढ़ रही हैं तो मूल्य-वृद्धि की सम्भावना उत्पन्न ही नहीं होती क्योंकि प्रति इकाई श्रम लागत लगभग समान रहेगी और इसलिए मूल्य बढ़ने का कोई कारण ही नहीं होता। परन्तु यदि मजदूरी श्रम की उत्पादन शक्ति के अनुपात से अधिक बढ़ती है तब मूल्य-वृद्धि का भय अवश्य ही रहता है और इसीलिए सरकार को चाहिये कि वह ऐसी व्यवस्था करे जिससे मूल्य बढ़ने न पायें।

घाटे के व्यय के सम्बन्ध में कुछ लोगों को यह भी आपत्ति है कि राष्ट्रीय ऋण की निरन्तर वृद्धि से ऋण-भार में भी वृद्धि होती जायेगी। परन्तु यह भय भी निराधार है, क्योंकि एक तो बढ़ते हुए राष्ट्रीय ऋण के ब्याज का भार समाज पर नहीं पड़ता और इस क्रिया में केवल धन का हस्तान्तरण ही एक व्यक्ति से

दूसरे व्यक्ति को होता है और वह भी देश के अन्दर ही और दूसरे एक ऐसी अर्थ-व्यवस्था में जिसकी प्रवृत्ति विस्तार की हो यह आवश्यक नहीं कि धन का हस्तान्तरण तत्कालीन कर की दरों पर प्राप्त होने वाली कर आय के अनुपात से अधिक हो।

उपर्युक्त विवरण से हमने घाटे के व्यय के विरुद्ध उत्पन्न होने वाले भयों को दूर करने का प्रयत्न किया है। अब हम इस स्थिति में हैं कि इस नीति की कार्य-प्रणाली का स्पष्टीकरण तनिक विस्तार में कर सकें।

घाटे के व्यय का सामान्य सिद्धान्त यह है कि सरकार अपने व्यय को राजकीय विनियोगों तथा जनता के उपभोग के स्तर को बढ़ाने पर, बिना कर की दरों में परिवर्तन किये, उस बिन्दु तक बढ़ाती जाती है जिस पर इस व्यय द्वारा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से उत्पन्न होने वाली सक्रिय मांग से पूर्ण रोजगार की स्थिति स्थापित हो जाती है। यदि यह मान लें कि सरकार पूर्ण रोजगार की स्थिति स्थापित करने में सफल हो जाती है तो प्रश्न यह है कि निजी विनियोगों की स्थिति क्या होगी? प्रथम, क्या निजी विनियोगों में चक्रीय परिवर्तन होते रहेंगे? और दूसरे निजी विनियोगों का सन्तुलन स्तर क्या होना चाहिये?

यह तो स्पष्ट ही है कि पूर्ण रोजगार की स्थिति में निजी विनियोगों का विकास लगभग स्थिर ही रहेगा। स्वतन्त्र उपक्रम की प्रणाली में मुनाफों में तीव्र उतार-चढ़ाव होने के कारण ही तीव्र गति से विनियोगों में भी चक्रीय उतार-चढ़ाव होते हैं परन्तु पूर्ण रोजगार में उत्पादन तथा लाभों में जनसंख्या की वृद्धि और श्रम की बढ़ती हुई उत्पादन शक्ति के कारण ही दीर्घकालीन परिवर्तन होंगे। यह हो सकता है कि निजी विनियोगों की दर में आकस्मिक उतार-चढ़ाव उत्पन्न हों, किन्तु इनको दूर करने के लिए सरकार उनके साथ-साथ निजी विनियोगों को बढ़ा सकती है। जहाँ तक दूसरे प्रश्न का सम्बन्ध है अर्थात् निजी विनियोगों का सन्तुलन-स्तर क्या होना चाहिये? इस प्रश्न के उत्तर में संक्षेप में इतना ही कहना आवश्यक होगा कि निजी विनियोग ऐसे स्तर पर होना चाहिए जो काम करने योग्य जनसंख्या तथा श्रम की उत्पादकता में वृद्धि होने के साथ-साथ मशीनों की कार्यशक्ति को बढ़ाने के लिए पर्याप्त हों, अर्थात् निजी विनियोग पूर्ण रोजगार में होने वाले उत्पादन के अनुपात में हों। इस उद्देश्य की पूर्ति कई विधियों द्वारा की जा सकती है। जैसे ब्याज की दरों को घटा-बढ़ा कर और आय-कर की दरों को घटा-बढ़ा कर। जब निजी विनियोग बहुत नीचे स्तर पर हों तब सरकार इन दरों को कम कर सकती है और जब निजी विनियोग बहुत ऊँचे स्तर पर हों तब सरकार इन दरों को बढ़ा सकती है। परन्तु यह ध्यान रहे कि पूर्ण रोजगार की स्थिति में इन दरों में हेर-फेर करना इतना सरल नहीं होता।

निजी विनियोगों को प्रोत्साहित या हतोत्साहित करने के अतिरिक्त सरकार प्रत्यक्ष रूप से निजी विनियोगों के क्षेत्र में हस्तक्षेप कर सकती है, जैसे, उनको कम करने के लिए प्रत्यक्ष नियन्त्रण लगा सकती है। यदि सरकार को कुछ विशेष उद्योगों में उत्पत्ति को बढ़ाना है तो सरकार स्वयं उनका उत्पादन आरम्भ कर

सकती है। गन्दी बस्तियों को समाप्त करना (Slum clearance) एक उपयुक्त उदाहरण है।

अब प्रश्न यह है कि सरकार अपने व्यय का कितना भाग विनियोगों पर और कितना निजी उपभोग स्तर को बढ़ाने पर खर्च करे। अधिकतर लोगों का यही विचार है कि सरकार को घाटे का व्यय केवल विनियोगों के सम्बन्ध में ही करना चाहिए। परन्तु इस सम्बन्ध में यह बताना अनुचित न होगा कि कुछ समय बाद राजकीय विनियोग लगभग बेकार ही हो जायेंगे और इसलिये सरकारी व्यय को केवल राजकीय विनियोगों तक ही सीमित रखने का विचार अनुचित होगा जबकि उपभोग बढ़ाने के कार्यक्रम पर किया गया व्यय भी जीवन-स्तर को ऊँचा करने में सफल हो सकता है। अतः सामान्य सिद्धान्त यह होना चाहिए कि सरकारी व्यय का कार्यक्रम सामाजिक आवश्यकताओं की प्राथमिकताओं द्वारा निश्चित हो।

२. निजी विनियोगों को प्रोत्साहित करना—अब हम निजी विनियोगों को प्रोत्साहन देकर पूर्ण रोजगार की स्थिति उत्पन्न करने के विषय पर प्रकाश डालेंगे। इस विचार के अनुसार निजी विनियोगों को इतना प्रोत्साहित करना चाहिये कि उनसे प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से उत्पन्न होने वाली सक्रिय माँग पूर्ण रोजगार स्थापित कर सके। हम यह पहले ही कह चुके हैं कि यदि घाटे के व्यय से पूर्ण रोजगार स्थापित करना है तो निजी विनियोगों को प्रोत्साहन देने वाले उपाय आवश्यक होते हैं। यह ध्यान रहे कि इस प्रकार की सहायता से सक्रिय माँग उत्पन्न नहीं होती, (यह केवल घाटे के व्यय द्वारा ही उत्पन्न होती है), वरन् इसकी आवश्यकता इसलिये होती है कि यह निश्चित किया जा सके कि विनियोग स्तर द्वारा दीर्घकालीन पूर्ण रोजगार उत्पादन की वृद्धि के अनुपात में, उत्पादन शक्ति में वृद्धि हो रही है। परन्तु यह आवश्यक नहीं, कि दीर्घकालीन विनियोग की दर उस विनियोग की दर के बराबर हो ही जाय जो रोजगार के लिए सक्रिय भाग उत्पन्न करने के लिए आवश्यक होती है। हमने केवल यह मान लिया है कि यदि ऐसा नहीं हो रहा है तो सरकार उसको अपने ऋण व्यय द्वारा पूरा करने का प्रयत्न करेगी। यदि यह दर कहीं पूर्ण रोजगार उत्पादन के लिए, जितनी उत्पादन शक्ति को उत्पन्न करने के लिए आवश्यक होती है उससे अधिक हो जाती है तो मशीनों के उपयोग के अंश में निरन्तर कमी होती जायगी और फिर भी निजी विनियोगों को प्रोत्साहित करने का कोई लाभ न होगा। इसके अतिरिक्त मशीनों का कम उपयोग होने से लाभ की दर भी कम होती जायेगी जो निजी विनियोगों को हतोत्साहित करेगी। इस स्थिति को सुधारने के लिए सरकार के व्यय की आवश्यकता फिर होगी और व्याज और आय-कर की दरों को कम करके फिर निजी विनियोगों को प्रोत्साहित करना होगा। परन्तु कुछ समय बाद यह समस्या फिर उत्पन्न होगी। इसलिए निजी विनियोगों को प्रोत्साहन देकर पूर्ण रोजगार उत्पन्न करना उपयुक्त रीति नहीं है। परन्तु कुछ लेखकों को इसमें आपत्ति हो सकती है और वह यह सोच सकते हैं कि निजी विनियोगों को प्रोत्साहित करने से श्रम की तुलना में अधिक मशीनों का उपयोग

होता है और उत्पादकता में वृद्धि होने से जीवन-स्तर ऊपर उठने लगेगा। यह केवल उसी समय सम्भव होता है जब नियोजित उत्पादन की मात्रा निश्चित होती है और यदि विनियोग की जाने वाली पूँजी की मात्रा निश्चित है तो पहली ही स्थिति उत्पन्न हो जायगी। वास्तविक जीवन में दोनों ही स्थितियों के बीच की स्थिति पाई जाती है क्योंकि वस्तुओं के बाजार की अपूर्णताएँ नियोजित उत्पत्ति की मात्रा निर्धारित करेंगी और पूँजी बाजार की अपूर्णताएं उपलब्ध पूँजी की मात्रा को निश्चित करेंगी और इसलिए सूद की दर कम होने से पूँजी के विनियोग में वृद्धि तो हो जायगी किन्तु उतनी नहीं जितनी अनुमान की जाती थी, किन्तु व्यावहारिक जीवन में यह स्थिति सन्देहजनक होती है। वास्तव में प्रति व्यक्ति अधिक पूँजी का उपयोग होने के लिए प्रोत्साहन नये-नये आविष्कारों द्वारा प्राप्त होता है। इसमें सूद की दर का कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता। यही कारण है कि पिछड़े हुए देशों में सूद की दर ऊँची होते हुए भी उतनी ही आधुनिक मशीनों का प्रयोग होता है जितना कि विकसित देशों में। हमने अभी तक यह माना है कि सूद की दर कम होने से विनियोग प्रोत्साहित होते हैं। किन्तु हम पहले भी कह चुके हैं कि यह विधि अधिक सप्रभाविक नहीं है, क्योंकि एक तो ब्याज की दीर्घकालीन दरों में बहुत धीरे-धीरे परिवर्तन होते हैं और फिर एक निश्चित सीमा से नीचे इनको गिराया भी तो नहीं जा सकता। इसी प्रकार आय-कर की दरों को कम करने से जो विनियोग प्रोत्साहित होंगे, उनमें अधिक पूँजीकरण की सम्भावना इसलिए नहीं होती, क्योंकि अधिकांश पूँजीकरण से जो अधिक लाभ होंगे उन पर भी कर देना होगा। इस प्रकार निजी विनियोगों में अधिक उत्पत्ति को प्रोत्साहित करने के लिए या तो प्रत्यक्ष रूप से आधुनिक मशीनों के लिए आर्थिक सहायता प्रदान करना अच्छा होगा या फिर सरकार स्वयं आधुनिक ढंग पर कारखानों का निर्माण करे ताकि निजी उद्योगपति प्रतियोगिता के भय से स्वयं अपने कारखानों को आधुनिक बनाने का प्रयत्न करें।

परन्तु वास्तव में यह नीति पूर्ण रोजगार उत्पन्न करने के लिए संतोषजनक नहीं है। निजी विनियोगों का प्रमुख कार्य देश में उपभोग वस्तुओं का उत्पादन करना है। उपलब्ध श्रमशक्ति के लिए रोजगार प्रदान करना नहीं है। इसके अतिरिक्त विनियोग सुविधाएं उपलब्ध होने से निजी विनियोगकर्ता कितने प्रोत्साहित होंगे यह उनकी मानसिक अवस्था पर निर्भर करता है, क्योंकि यदि विनियोगकर्ता अत्यन्त निराशाजनक हैं तो किसी अंश तक भी प्रलोभन काम नहीं करेगा। इसीलिये निजी विनियोगों को पूर्ण रोजगार प्राप्त करने के लिए प्रोत्साहित करने की नीति संतोषजनक नहीं होती।

२. आय का पुनर्वितरण—बहुधा इस नीति का प्रस्ताव पूर्ण आय प्राप्त करने के लिए दिया गया है। इस नीति का आधारभूत विचार यह है कि जब धनी व्यक्तियों से निर्धनों को आय का हस्तान्तरण किया जाता है तो उसके परिणाम-स्वरूप देश के कुल उपभोग में वृद्धि हो जाती है, क्योंकि निर्धनों में धनी व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक उपभोग करने की प्रवृत्ति होती है। उदाहरणार्थ यदि हम धनी

व्यक्तियों पर आय-कर बढ़ाकर और साथ ही अनिवार्य वस्तुओं तथा अर्ध-आवश्यक वस्तुओं पर अप्रत्यक्ष कर को उसी सीमा तक कम करदें, या परिवार भत्तों को समान राशि दें तो औसत उपभोग करने की प्रवृत्ति में वृद्धि होगी। यदि आय-कर से प्राप्त आय को राजकीय विनियोगों में लगा दिया जाए तो भी सक्रिय माँग में वृद्धि होगी, यदि निजी विनियोगों में कोई भी कमी उत्पन्न नहीं होती। आय-कर की दर इस प्रकार ऊँचे स्तर पर निर्धारित की जाय कि निजी विनियोग हतोत्साहित न हों। इसलिये यह आवश्यक है कि ऊँची आय पर आय-कर की अपेक्षा पूँजी कर लगाया जाये। सरकारी व्यय सदैव ही, पूर्ण रोजगार के लिए, साधारण आय-कर प्रणाली की अपेक्षा अधिक होता है जबकि घाटे के व्यय का सहारा लिया जा रहा हो, क्योंकि घाटे के व्ययों की तुलना में करारोपण से उपभोग में कमी आ जाती है और इसलिए केवल उसी सीमा तक सक्रिय माँग उत्पन्न होती है जब तक कि कर का भुगतान बचतों में से किया जाता है। आय-कर प्रणाली घाटे के बजटों की तुलना में केवल इसी दृष्टि से अच्छी होती है कि इसमें आय का वितरण अधिक न्यायपूर्ण हो जाता है। किन्तु साथ ही साथ इस नीति से जनता को आपत्ति भी अधिक होती है। दोनों ही नीतियाँ अपनाई जा सकती हैं। पहले आय-कर को बढ़ाया जा सकता है और फिर इसी के साथ-साथ घाटे के बजटों से भी काम लिया जा सकता है।

आय का पुनर्वितरण, आय-कर लागू करने से पहले, मूल्य नियन्त्रण द्वारा भी प्राप्त किया जा सकता है। यदि मजदूरी स्थिर रहे और उपभोग की वस्तुओं के मूल्य कम कर दिए जायें तो लगभग उसी प्रकार वास्तविक लाभों का स्थानान्तरण वास्तविक मजदूरी की ओर होगा, जिस प्रकार उपभोग की वस्तुओं के मूल्य स्थिर रहने और मजदूरी बढ़ने की स्थिति में होता। यह नीति उपर्युक्त नीतियों की अपेक्षा अधिक उपयुक्त होगी यदि निजी विनियोगों की स्थिति पहले ही जैसी रहे। हाँ, इतना अवश्य है कि इसका प्रशासन एवं प्रबन्ध उतना सरल नहीं होता। यह भी हो सकता है कि मूल्य नियन्त्रण द्वारा मूल्य स्थिर रक्खे जायें और मजदूरी में वृद्धि कर दी जाए, किन्तु इसमें कठिनाई यह होगी कि मजदूरी बढ़वाने की माँग फिर उन उद्योगों में भी होने लगेगी जिनमें लाभ की दर ऊँची नहीं है और इसलिए इन उद्योगों को बिना आर्थिक सहायता दिये मूल्य स्थिर रखना कठिन हो जाएगा। इसीलिए व्यवहार में दोनों ही रीतियों को अपनाया जाता है। अब हमें यह देखना है कि मूल्य स्थिर रहने पर जब मजदूरी बढ़ाई जाती है तो पूर्ण रोजगार वाली अर्थ-व्यवस्था में उसके क्या प्रभाव होंगे। इस रीति में भी पहली रीति की भाँति मजदूरी बढ़ेगी और लाभ गिरने लगेंगे। परिणामस्वरूप सक्रिय माँग में वृद्धि होगी और इसी लिए पूर्ण रोजगार में, ऊँची आय वालों के उपभोग में कमी करना आवश्यक हो जाएगा। अतः लाभों का मजदूरियों की ओर स्थानान्तरण करने के अतिरिक्त उचित दर पर आय-कर भी लागू करना चाहिए, जिससे उतने ही बजट के घाटे कम हो जायेंगे। कुछ भी हो, दोनों ही स्थितियों में बजट के घाटे उसी अनुपात में कम हो

जायेंगे जिस अनुपात में पुनर्वितरण से उपभोग पर उत्पन्न होने वाले जो प्रभाव होते हैं, उनको दूर करने के लिए अतिरिक्त आय-कर लगाया जाता है। अब हम निम्न निष्कर्षों पर पहुँचते हैं :—

प्रत्येक प्रकार के सरकारी व्यय से चाहे वह राजकीय विनियोगों पर किया जाए या सामूहिक उपभोग बढ़ाने के लिए, आर्थिक सहायता देने के लिए, या तो घाटे के व्यय द्वारा या आयकर में वृद्धि करके, पूर्ण रोजगार की स्थिति प्राप्त की जा सकती है। दूसरी स्थिति में सरकार का व्यय अधिक होगा, क्योंकि आय का भुगतान करने वालों के उपभोग पर अधिक भार पड़ेगा। व्यवहार में जो व्यय आय-कर द्वारा प्राप्त धन में से किया जाता है, जो केवल पूर्ण रोजगार प्राप्त करने के लिए ही लाभकारी नहीं होता, बल्कि आय के वितरण की असमानताओं को भी दूर करता है, जहाँ तक सम्भव हो अधिक से अधिक किया जाए और यदि वह पूर्ण रोजगार प्राप्त करने के लिए पर्याप्त नहीं है तो ऋण प्राप्त करके व्यय को, जितनी आवश्यकता हो बढ़ाया जाए। लाभ की दरों को भी कम करके—चाहे यह कमी उपभोग की वस्तुओं के मूल्यों में कमी करके या स्थिर मूल्यों के साथ मजदूरी को बढ़ाकर प्राप्त की जाए और उसको मूल्य नियन्त्रण के ढाँचे के ही अन्दर रखा जाए, तो भी सक्रिय माँग में वृद्धि होगी और पूर्ण रोजगार स्थिति प्राप्त करने में सरकारी व्यय का काम और भी सरल हो जाएगा।

निजी विनियोगों को उसी सीमा तक बढ़ाना चाहिए, जो जनसंख्या के बढ़ने और श्रम की आवश्यकता के साथ-साथ मशीनों की उत्पादन शक्ति को बढ़ाने के लिए पर्याप्त हो। यह आय-कर को संशोधित करके या ऊँची आय वालों के लिए कर की दरों को कम करके या आय-कर के एक भाग के स्थान पर पूँजी कर लगाकर (ताकि लाभशीलता पर बुरा प्रभाव न पड़े) किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त यह भी आवश्यक होता है कि सरकार स्वयं निजी विनियोगों में भाग ले (जैसे श्रमिकों के रहने के गन्दे स्थानों की सफाई)। परन्तु सरकारी व्यय ऐसा होना चाहिए जो निजी विनियोगों के साथ मिलकर पूर्ण रोजगार उत्पन्न कर सके। राजकीय विनियोगों तथा उपभोग सम्बन्धी आर्थिक सहायता, दोनों मदों के बीच सरकारी व्यय का बँटवारा सामाजिक प्राथमिकताओं के सिद्धान्त के अनुसार होना चाहिए।[1]

राजस्व एवं पूर्ण रोजगार—हम अभी तक पूर्ण रोजगार स्थापित करने की विभिन्न रीतियों का वर्णन कर रहे थे। यद्यपि ऊपर के पृष्ठों में जो विवेचना की गई है वह सब पूर्ण रोजगार और राजस्व के घनिष्ठ सम्बन्धों का ही एक अध्ययन है, किन्तु वह सामान्य नीतियों का ही विश्लेषण था और उनका सम्बन्ध राजस्व से केवल अप्रत्यक्ष रूप से ही था। अब हम निम्न में प्रत्यक्ष रूप से राजस्व और पूर्ण

1. उपर्युक्त सभी विवेचना M. Kalecki के विचारों पर आधारित है—
Cf. M. Kalecki's '*Three ways* to Full Employment'—Part II. *Economics of full Employment*, pp. 39-58.

रोजगार की पारस्परिक निर्भरता की विवेचना करेंगे।

पूर्ण रोजगार तथा राजस्व के प्राचीन सिद्धान्त—प्राचीन आंग्ल अर्थशास्त्रियों का विचार था कि पूर्ति स्वयं अपनी मांग उत्पन्न कर लेती है और निजी उपक्रम सभी उपलब्ध साधनों का उपयोग कर लेता है, यदि मजदूरी तथा लाभों से पर्याप्त लोचपूर्णता है। वे आधुनिक अर्थ-शास्त्रियों की भांति इस बात को स्वीकार नहीं करते थे, कि एक व्यक्ति की आय दूसरे व्यक्ति के व्यय पर निर्भर करती है और यदि कोई व्यक्ति अपनी आय को खर्च न करके बचाता है, तो उससे दूसरे व्यक्तियों की आय कम हो जाएगी वरन् उनका विश्वास था कि समाज में एक व्यक्ति की बचत सदैव दूसरे व्यक्तियों द्वारा विनियोगों में लग जाती है, बेकार नहीं पड़ी रहती। इस लिये यदि सरकार इन साधनों का उपयोग करना चाहती है तो वह निजि उद्योगपतियों को वंचित करके ही कर सकती है। जिसका अभिप्राय यह हुआ कि राजकीय विनियोगों या सरकारी व्यय से किसी प्रकार भी सक्रिय माँग उत्पन्न नहीं होगी और न ही रोजगारों में वृद्धि ही होगी। इसलिये सरकार को अपना बजट संतुलित रखना चाहिये। यही राजस्व का प्रमुख सिद्धान्त था। इसके अतिरिक्त और भी कई सिद्धान्त थे।

(१) बजट को सन्तुलित रखना चाहिये।

(२) बजट को छोटे से छोटा रखना चाहिये।

(३) उपभोग पर कर लगाने चाहियें और बचतों को कर-मुक्त रखना चाहिये।

(४) यदि बजट के घाटों का होना अनिवार्य हो तो दीर्घ कालीन बौंड चालू किये जायें।

(५) ऋण केवल उत्पादक विनियोगों के लिए ही प्राप्त किये जाएँ।

(६) राष्ट्रीय ऋणों का भुगतान करने के लिए ऐसे कर लागू किये जाएँ जो चालू उपभोग को कम करें।

ये सब विचार एक इस मान्यता पर आधारित थे कि निजी विनियोग स्वय पूर्ण रोजगार की स्थिति स्थापित करते हैं और राज्य हस्तक्षेप इस स्थिति को भंग कर देता है।

पूर्ण रोजगार तथा आधुनिक सिद्धान्त—किन्तु केन्स ने अपने सामान्य सिद्धान्त (General Theory) द्वारा प्राचीन लेखकों के विचारों को छिन्न-भिन्न कर दिया। केन्स ने यह सिद्ध कर दिया कि उपभोग को कम करके और आय को बचाकर पूँजी का एकत्रीकरण नहीं होता बल्कि बेकारी उत्पन्न होती है, राष्ट्रीय आय गिरती है और विनियोग कम होने ने पूँजी का एकत्रीकरण कम हो जाता है। आजकल यह कहना सम्भव नहीं है कि 'जो कुछ हम उपभोग नहीं कर पाते व्यापारी उसका उपयोग विनियोग के लिए कर लेता है', बल्कि अब तो यह कहा जाता है कि 'यदि हम उपभोग न करें तो व्यापारी विनियोग करने के लिए तैयार नहीं होंगे।' पुराने लेखकों के अनुसार ऐसा प्रतीत होता था कि मनुष्यों के लिए केवल एक ही

मार्ग खुला हुआ था—या तो उपभोग करें या विनियोग। किन्तु आज यह गलत सिद्ध हो गया है और अब विनियोग और उपभोग दोनों एक दूसरे पर निर्भर होते हैं। बिना उपभोग के विनियोग सिद्ध नहीं होते और दोनों एक साथ गिरते हैं और एक साथ बढ़ते हैं। इन नये विचारों ने राजस्व के सिद्धान्तों में हलचल उत्पन्न कर दी। आजकल यह स्वीकार कर लिया गया है कि निजी उपक्रम पूर्ण रोजगार स्थापित नहीं करते और जितने भी उत्पादक साधन निजी उपक्रम द्वारा उपयोग में नहीं लाए जाते, उन सब पर राज्य, करारोपण के अतिरिक्त अन्य उपायों से, अपना स्वामित्व स्थापित कर लेता है या जब हम यह स्वीकार करते हैं कि समाज का व्यय इतना नहीं है कि सारे उपलब्ध उत्पादक साधन उपयोग में ले लिये जायें और अधिकतम राष्ट्रीय आय उत्पन्न करने के लिए पर्याप्त नहीं हैं, हम यह भी स्वीकार करते हैं कि यदि राज्य अपनी आय की अपेक्षा अधिक व्यय करे तो राष्ट्रीय आय में वृद्धि हो सकती है। अतः सन्तुलित बजटों के विचार को पूर्णतया समाप्त कर दिया गया है। इसके अतिरिक्त राजस्व के सिद्धान्तों में और भी अनेकों परिवर्तन हुए हैं।

केन्स का कथन है कि पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में प्रभावशील मांग कम होने की सम्भावना सदैव ही बनी रहती है, क्योंकि ऐसे देशों में उपभोग की अपेक्षा बचत की प्रवृत्ति अधिक होती है। परिणामतया अतिरिक्त आय के सृजन के साथ-साथ उन वस्तुओं और सेवाओं की मांग में वृद्धि नहीं होती जिनका उत्पादन किया गया था और इस प्रकार अर्थ-व्यवस्था में बेकारी उत्पन्न हो जाती है। ऐसी स्थिति में केन्स का सुझाव है कि राजकीय व्यय द्वारा प्रभावशील माँग को बढ़ाना चाहिए। इसीलिए मन्दीकाल में भी प्रभावशील मांग को बढ़ाने के लिए राजकीय व्यय का महत्व बहुत अधिक हो गया है। उसका कहना तो यहाँ तक है कि राजकीय व्यय को करने के लिए यदि हीनार्थ प्रबन्धन करना पड़े तो भी कोई हानि नहीं। जैसा हम पहले कह चुके हैं, केन्स का कहना था कि पूर्ण रोजगार के स्तर को प्राप्त करने के लिए उपभोग तथा विनियोग, दोनों में ही वृद्धि करना आवश्यक है और निजी क्षेत्र में विनियोगों को उत्साहित करने के लिए भी राजकीय व्यय का प्रयोग करना लाभप्रद सिद्ध होता है। हेन्सन के अनुसार निजी क्षेत्र में विनियोगों की कमी को पूरा करने के लिए नलकूप विस्फोटक क्रिया (Pump Priming) तथा क्षतिपूरक व्यय (Compensatory Expenditure) का प्रयोग किया जा सकता है। पहली क्रिया का उपयोग उस समय किया जाता है जबकि अर्थ-व्यवस्था में किसी कारण से गड़बड़ी उत्पन्न हो गई हो तो उसे ठीक मार्ग पर लाने लिए के सरकार एक मुश्त धनराशि का व्यय करे। दूसरी नीति का प्रयोग निजी विनियोगों की कमी को पूरा करने के लिए करना चाहिए। सरकार को उस समय तक अपना व्यय करते रहना चाहिए जब तक कि निजी विनियोगों की कमी पूरी न हो जाए। हेन्सन ने इस नीति को विपरीत चक्रीय राजकोषीय नीति (Contra-Cyclical Fiscal Policy) के नाम से सम्बोधित किया है। राजकीय व्यय चाहे किसी भी प्रकार किया जाए उसका मुख्य कार्य गुणक प्रभावों द्वारा प्रभावशील

मांग को बढ़ाना होता है। इसलिए पूर्ण रोजगार की स्थिति की स्थापना में इसका विशेष महत्व होता है।

संतुलित बजट की नीति—यदि हम यह मानकर कि पूर्ण रोजगार स्थापित करना राज्य का कर्त्तव्य है तो संतुलित बजटों की नीति द्वारा, अर्थात् बिना ऋण प्राप्त किए हुए पूर्ण रोजगार की स्थापना सम्बन्धी नीति की ओर ध्यान दें तो ज्ञान होगा कि सरकार को आय का वितरण समान करने का प्रयत्न करना होगा। उसको ऐसी नीति अपनानी होगी कि व्यक्ति चालू विनियोग सुविधाओं की तुलना में अधिक बचाने का प्रयत्न करे। आय के समान वितरण में व्यक्तियों के उपभोग करने की सामान्य प्रवृत्ति अधिक होती है। इसलिये, जब कि निजी विनियोग के अवसर स्वयं निश्चित मात्रा में नहीं होते, पूर्ण रोजगार की स्थापना के लिए और आय के पुनर्वितरण के लिए बहुत अधिक प्रयत्न करने होंगे—करारोपण के ढाँचे में, आर्थिक सहायताओं और मूल्य नियंत्रण में परिवर्तन करने पड़ेंगे, ताकि अर्थ-व्यवस्था एक समान स्तर पर रहे। यहाँ पर हम केवल करारोपण को ही आय का समान वितरण प्राप्त करने के एक उपाय के रूप में प्रयोग करेंगे।

करारोपण का महत्व—आधुनिक विचारधारा के अनुसार करारोपण केवल आय प्राप्त करने का ही एक साधन नहीं है, वरन् आय के पुनर्वितरण का एक अस्त्र भी है जब कि प्राचीन लेखकों के लिये यह आय प्राप्त करने का एक साधनमात्र था। उन लोगों का विचार था कि करारोपण से पूंजी का संचय कम हो जाता है। उनके अनुसार क्या यह अधिक अच्छा नहीं है कि रोटी के वितरण की चिन्ता छोड़ कर हम रोटी के आकार को बढ़ाने की ओर ध्यान दें? प्राचीन काल में आय का समान वितरण आर्थिक दृष्टिकोण से नहीं वरन् सामाजिक न्याय के दृष्टिकोण से उपयुक्त माना जाता था। परन्तु आजकल आय के पुनर्वितरण सम्बन्धी उपायों को सामाजिक दृष्टि से नहीं बल्कि आर्थिक दृष्टिकोण से अधिक महत्व दिया जाता है। आजकल उपभोग की अपेक्षा बचतों पर कर लगाने को अधिक उचित स्वीकार किया जाता है। और पुनर्वितरण सम्बन्धी करारोपण को आर्थिक एवं सामाजिक दोनों ही दृष्टि-कोणों से आवश्यक समझा गया है। आर्थिक दृष्टिकोण से यह निजी बचतों को कम करने से सहायक सिद्ध होता है जो बेकारी दूर करने के लिये आवश्यक है। सामाजिक दृष्टिकोण से वह जीवन-स्तरों में समानता स्थापित करता है जो न्याय की दृष्टि से उचित है। अतः पुनर्वितरण सम्बन्धी करारोपण केवल बेकारी दूर करने के लिए ही आवश्यक नहीं है वरन् सामाजिक आय प्राप्त करने के लिये भी आवश्यक है। हम इस अध्याय के आरम्भ में ही कह चुके हैं कि आय के पुनर्वितरण सम्बन्धी करारोपण की नीति निर्धारित करते समय बड़ी सतर्कता से काम करना चाहिये और मुख्य रूप से दो बातों को ध्यान में रखना चाहिये—प्रथम, आय के समुचित वितरण (gross distribution of incomes) न कि शुद्ध वितरण पर कर लगाना चाहिये और दूसरे, करारोपण इस प्रकार किया जाए कि करदाताओं की विनियोग करने की रुचि

कम न हो। उपर्युक्त दोनों बातों को आय कर लागू करते समय ध्यान में रखना चाहिये।

पुनर्वितरण सम्बन्धी करारोपण केवल आयों के आधिक्य को ही कम नहीं करता, वरन् यह निर्धन व्यक्तियों की आय को बढ़ा भी सकता है। आय की यह वृद्धि या तो मुद्रा के रूप में हो सकती है, या वस्तु के रूप में, जैसे पारिवारिक भत्ते या निःशुल्क शिक्षा। कुछ लेखकों का विचार है कि बड़ी आयों पर कर लगा कर छोटी आयों में वृद्धि करने से व्यक्तियों के कार्य करने की इच्छा कम हो जाती है। परन्तु न तो यह सदैव होता ही है और न प्रत्येक प्रकार की सहायता ही के विरुद्ध यह आपत्ति की जा सकती है। उपभोग की आवश्यक वस्तुओं के मूल्य कम करने के लिए दी गई आर्थिक सहायताओं पर कम से कम यह बात लागू नहीं होती। वैसे भी सरकार के लिए यह तो सदैव ही सम्भव है कि आर्थिक सहायता देने की अपेक्षा, मूल्य कम करने के लिए अप्रत्यक्ष कर न लगाए। उपभोग की वस्तुओं पर लगे हुए प्रत्येक कर से उपभोग कम होता है और आर्थिक सहायता से उपभोग बढ़ता है। प्रत्येक कर या आर्थिक सहायता का प्रभाव विशेष इस बात पर निर्भर करता है कि वस्तु विशेष की माँग की लोच कैसी है। साधारणतया यह देखा गया है कि सामूहिक उपभोग की अधिकांश वस्तुओं की माँग आय के परिवर्तनों के सम्बन्ध में लोचदार होती है और मूल्य-नियन्त्रण के सम्बन्ध में बेलोच होती है।

पुनर्वितरण सम्बन्धी करारोपण से पूँजी का संचय कम नहीं होता वरन् उसमें वृद्धि होती है, यदि कर इस प्रकार लगाये जाएँ कि व्यापारियों की विनियोग करने की रुचि कम नहीं होती। निजी विनियोगों को प्रोत्साहन देने के लिए अर्थात् धन का संचय अधिक तीव्र गति से होने देने के लिए—सबसे उत्तम विधि यह है कि उन वस्तुओं के उपभोग को बढ़ावा दिया जाये, जिनके उत्पादन में उस पूँजी का विनियोग किया जा सके। उपभोग की वस्तुओं की माँग बढ़ने से निजी विनियोगों पर कभी भी बुरा प्रभाव नहीं पड़ता। यदि पूर्ण रोजगार भी स्थापित हो गया है तो भी उपभोग की वस्तुओं की माँग बढ़ने से निजी विनियोग हतोत्साहित नहीं होंगे, वरन् वस्तुओं के मूल्य बढ़ने से उपभोक्ताओं की ही वास्तविक आय कम होगी। अतः यदि व्यक्तियों की उपभोग करने की प्रवृत्ति में वृद्धि करने के लिए करारोपण किया जाता है तो वह विनियोगों को हतोत्साहित न करके प्रोत्साहित करेगा। किन्तु यह उसी समय होगा जब कि कर ऐसे लगाये गए हों जिनसे व्यक्तियों के विनियोगों से प्राप्त होने वाले लाभों से कमी नहीं होती।

उपभोग करने की प्रवृत्ति में इतनी वृद्धि हो सकती है कि मुद्रा-प्रसार उत्पन्न हो जाए। किन्तु आधुनिक अर्थ-व्यवस्था में ऐसे मुद्रा-प्रसार का आजकल कुछ भी भय नहीं है; निजी और सरकारी दोनों ही प्रकार के व्ययों से ऐसा हो सकता है। हमें यहाँ पर केवल सरकारी व्यय की ओर ही दृष्टिपात करना है। पूर्ण रोजगार के सम्बन्ध में साधारणतया यह मान लिया जाता है कि सरकार केवल उसी सीमा तक अपना व्यय बढ़ाती है जितना पूर्ण रोजगार की स्थिति को स्थापित करने तथा बनाये

रखने के लिए आवश्यक होता है। किन्तु यह मान्यता अवास्तविक है। आधुनिक समाज में कुछ सामूहिक क्रियाएँ ऐसी होती हैं जिनको प्राथमिकता देनी होती है और जिन पर बहुत अधिक खर्च करना पड़ता है। यदि यह मान भी लिया जाए कि समाज में धन का वितरण इस प्रकार हो रहा है कि देश में उपलब्ध सभी साधनों का उपयोग करने के लिए पर्याप्त है तो भी स्वतन्त्र वास्तविक साधनों को अपने उपयोग के लिए प्राप्त करने के हेतु सरकार करारोपण करेगी। इस प्रकार करारोपण नीति के दो कार्य होते हैं—प्रथम, सरकार इस अस्त्र के द्वारा उन साधनों के निजी उपयोग को नियन्त्रित करती है, जिनकी आवश्यकता स्वय उसको होती है, और दूसरे, इसके द्वारा देश में आय का वितरण ठीक किया जाता है। करारोपण मुद्रा-प्रसार विरोधक भी होता है, अर्थात् करारोपण से सरकार मुद्रा-प्रसार को भी नियंत्रित कर सकती है। ऐसा करारोपण उपभोग को हतोत्साहित करता है। और वास्तविक साधनों को सरकार के उपयोग के लिए उपलब्ध करता है। किन्तु ऐसे करों को केवल उसी समय अच्छा कहा जा सकता है जब सरकार उन साधनों का इस प्रकार उपयोग करती है कि सामूहिक कल्याण में इतनी वृद्धि होती है, जितनी निजी उपयोग में नहीं होती। वास्तव में उपभोग पर जो कर लगाए जाते हैं उनसे प्राप्त होने वाली आय को सरकार को बड़ी सावधानी से और उसका बड़ा ही उत्तम उपयोग करना चाहिये। ऋणों तथा निजी बचतों पर लगाये हुए करों द्वारा जो धन प्राप्त होता है उसके सम्बन्ध में इतनी सतर्कता बरतने की आवश्यकता नहीं होती क्योंकि पहली स्थिति में सरकार उन साधनों को निकाल देती है जिनका उपयोग व्यक्ति अपने लिए करते, किन्तु दूसरी स्थिति में वह ऐसे साधन निकालती है जिनका उपयोग व्यक्ति अपने काम के लिए नहीं करते और उनको बिना उपयोग के पड़ा रहने देते। प्राचीन विचारधारा में इस प्रकार की कोई भी कठिनाई उत्पन्न नहीं होती, क्योंकि प्राचीन लेखकों के अनुसार प्रत्येक कर ही उद्देश्य की पूर्ति करता है, अर्थात् प्रत्येक कर से ही साधन निजी उपयोगों में से निकाल लिए जाते हैं और प्रत्येक कर ही मुद्रा-प्रसार निरोधक होता है। आधुनिक विचारधारा में प्रत्येक कर के प्रभाव अलग-अलग होते हैं और इसी प्रकार हर प्रकार के ऋण के प्रभाव भी अलग-अलग होते हैं। इसलिए सामान्य रूप से यह कहना है कि राजकीय व्यय का इतना प्रतिशत (जैसे ४०%) करों द्वारा प्राप्त आय में से और इतना प्रतिशत (जैसे ६०%) ऋणों से पूरा होना चाहिए, सभी परिस्थितियों के लिए उचित नहीं होगा। इसके अतिरिक्त इन सूचनाओं तथा अनुमानों से मुद्रा प्रसार की नीति के सम्बन्ध में भी कुछ लाभ नहीं होता, जब तक यह न मालूम हो कि करों और ऋणों के स्रोत क्या हैं। अतः पुर्नवितरण सम्बन्धी करारोपण नीति का निर्माण तथा करों का चुनाव बड़ी सावधानी एवं बुद्धिमानी से करना चाहिए।

असन्तुलित बजट की नीति—अभी तक हम सन्तुलित बजट की नीति के आर्थिक प्रभावों का विश्लेषण कर रहे थे। अब हम असन्तुलित बजट की नीति के आर्थिक प्रभावों की विवेचना करेंगे। जब पूर्ण रोजगार की स्थिति की स्थापना के

लिए करारोपण द्वारा आय के पुनर्वितरण से सन्तोषजनक परिणाम प्राप्त नहीं हो पाते, तब घाटे के बजटों का सहारा लेना पड़ता है। घाटे के बजटों का अभिप्राय यह होता है कि सरकार को अपनी आय की अपेक्षा अधिक व्यय करना पड़ता है। इससे पहले कि हम घाटे के बजटों के परिणामों की ओर ध्यान दें, यह बताना आवश्यक है कि पूर्ण रोजगार के लिए राजकीय व्यय का क्या महत्व होता है।

राजकीय व्यय तथा पूर्ण रोजगार—राजस्व नीति के सभी यन्त्रों में राजकीय व्यय को सबसे शक्तिशाली यन्त्र माना गया है। राजकीय व्यय के तीन उद्देश्य हो सकते हैं :—

१–उपभोग को प्रभावित करने के लिए, २–निजी विनियोगों को प्रभावित करने के लिए, और ३–राजकीय विनियोगों के लिए। हम इनका विश्लेषण निम्न अनुच्छेदों में करेंगे।

हम पहले बता चुके हैं कि उपभोगों की मात्रा में कमी होने के कारण ही प्रभावशील माँग कम होती है, अतः प्रभावशील माँग को बढ़ाने के लिए व्यक्तियों की उपभोग शक्ति को बढ़ाना आवश्यक होता है। इस दृष्टि से सरकार को कम आय वाले व्यक्तियों को आर्थिक सहायता प्रदान करनी चाहिए। अमरीका में इस नीति का प्रयोग अवसाद काल में एक बड़े पैमाने पर किया गया था।

निजी विनियोगों में कमी होने के कारण भी प्रभावशील माँग में कमी हो जाती है, विशेषकर पूँजीवादी देशों में। यदि निजी विनियोगों को बढ़ा दिया जाए तो प्रभावशील माँग स्वयं ही बढ़ जाएगी। राजकीय व्यय द्वारा निजी विनियोगों को निम्नांकित प्रकार से बढ़ाया जा सकता है :—(अ) निजी विनियोगों को बढ़ाने के लिए यह आवश्यक है कि ब्याज की दर की अपेक्षा लाभ-दर अधिक हो। सरकार को चाहिए कि वह अपनी नीति द्वारा ब्याज की दर को कम करने का प्रयत्न करे। (ब) सरकार अपनी कर-नीति द्वारा, विशेषकर विभेदात्मक करारोपण द्वारा निजी विनियोगों पर लगे हुए कर को या तो हटा दे या उसे कम कर दे। यह भी एक प्रकार का राजकीय व्यय होगा क्योंकि इस नीति से सरकार की आय में कमी हो जाएगी और इसे छुपा हुआ व्यय कह सकते हैं। (स) सरकार उद्योगों में नवीन उत्पादन प्रणाली तथा नयी मशीनों के प्रयोग के लिए निजी क्षेत्र को आर्थिक सहायता दे। इससे विनियोग प्रोत्साहित होंगे और मांग में वृद्धि होगी। (द) अन्त में, सरकार सीमान्त उद्योगों को आर्थिक सहायता दे। यह आर्थिक सहायता उद्योग-विशेष में लगे हुए श्रमिकों के अनुपात में दी जाए ताकि अधिक श्रमिकों वाले उद्योगों को अधिक सहायता मिलने से प्रभावशील मांग में अधिक वृद्धि हो।

राजकीय व्यय द्वारा सरकार राजकीय क्षेत्र में विनियोगों की मात्रा को बढ़ा सकती है ताकि निजी क्षेत्र में विनियोगों की जो कमी है वह पूरी हो जाए और

प्रभावशील माँग में वृद्धि हो जाए। राजकीय विनियोग निम्न प्रकार किये जा सकते हैं : (अ) सरकार, यदि आवश्यकता हो तब अनुत्पादक कार्यों में भी विनियोग करे ताकि बेकार व्यक्तियों को काम मिले और प्रभावशील माँग में वृद्धि हो। केन्स ने इस नीति को 'leafraching' के नाम से पुकारा है। (ब) सरकार सामाजिक सेवाएं प्रदान करने के लिए जैसे स्कूल, अस्पताल, सड़कें, नहरें इत्यादि बनाने में व्यय कर सकती है। ऐसे व्यय से सामाजिक कल्याण में वृद्धि होने के साथ-साथ उत्पादन व्यय में भी वृद्धि होती है। (स) सरकार कुछ ऐसे खर्चे भी कर सकती है जिससे निजी उपभोगों में वृद्धि हो जाए, जैसे, स्कूल जाने वाले बच्चों को निःशुल्क भोजन, दूध, दवाइयाँ इत्यादि। (द) सरकार उत्पादक उद्यमों में विनियोग करके भी समाज में कुल विनियोगों की मात्रा को बढ़ा सकती है। इस नीति के अन्तर्गत सरकार नये-नये उद्योगों को चालू करे ताकि अधिकाधिक व्यक्तियों को रोजगार मिले और उनके उपभोग स्तर में वृद्धि हो, ताकि समाज की प्रभावशील माँग में वृद्धि हो सके। (य) अन्त में, सरकार निर्यातों को बढ़ाने के लिए राजकीय व्यय को बढ़ाये। ऐसी नीति से देश के उद्योगों का विकास होगा, व्यक्तियों को काम मिलेगा तथा उनकी आय एवं उपभोग में वृद्धि होगी।

अतः स्पष्ट है कि राजकीय व्यय द्वारा विनियोगों तथा उपभोग में विभिन्न प्रकार से वृद्धि करके पूर्ण रोजगार की स्थिति को प्राप्त किया जा सकता है और उसके स्तर को ऊँचा किया जा सकता है।

राजकीय ऋण तथा पूर्ण रोजगार—

इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि बजट के हर घाटे से राष्ट्रीय ऋण में वृद्धि होती है। यहाँ पर दो प्रश्न उठते हैं—प्रथम, राष्ट्रीय ऋण के आकार की कोई सीमा होनी चाहिए या नहीं? और दूसरे राष्ट्रीय ऋण में किस प्रकार के ऋणों द्वारा वृद्धि करनी चाहिए? पहला प्रश्न राष्ट्रीय ऋण की राशि से सम्बन्धित है और दूसरा उसके गुणों से, अर्थात् ऋण दीर्घकालीन बॉण्ड में होना चाहिए या अल्पकालीन पत्रों में या नकदी में।

आन्तरिक राष्ट्रीय ऋण के सम्बन्ध में बहुधा यह आपत्ति दिखाई जाती है कि ऋणों द्वारा जो धन का स्थानान्तर होता है वह अनुचित होता है और इन ऋणों के भार का वितरण भी उचित नहीं होता अर्थात् जिन व्यक्तियों पर भार नहीं पड़ना चाहिए उन पर पड़ता है और जिनको सहन करना चाहिए वे बच जाते हैं। कुछ लोगों का यह भी कहना है कि ये ऋण ऐसे व्यक्तियों से प्राप्त किये हैं जो देने योग्य नहीं। इसलिए जितना ऋण का आधार बढ़ता जाता है उतना ही उसका भार भी जनता पर बढ़ता जाता है। किन्तु यह सही नहीं है। राष्ट्रीय ऋण केवल उसी समय भारयुक्त होता है जबकि सम्पूर्ण ऋण की राशि केवल मुट्ठी भर व्यक्तियों द्वारा ही प्रदान की जाती है और जिनको प्रत्येक वर्ष सूद के रूप में एक बहुत बड़ी धनराशि प्राप्त होती है और इसलिए ये थोड़े से व्यक्ति प्रत्येक वर्ष और

अधिक धनी होते जाते हैं, जो अन्यायपूर्ण है। अतः ऋण के भार बड़े या छोटे आकार के कारण बड़ा या छोटा नहीं होता वरन् ऋण पत्रों के स्वामित्व के कारण ऋण-भार कम या अधिक होता है। राष्ट्रीय ऋण, इसलिये आय के वितरण की असमानतायें भी उत्पन्न कर देते हैं—वास्तव में यही मौलिक समस्या है।

पूर्ण रोजगार प्राप्त करने के लिए, जहाँ तक ऋण की राशि का सम्बन्ध है, जो समस्या ऋण के तत्कालीन प्रभावों की इतनी विषम नहीं होती जितनी कि इस बात की होती है कि हीनार्थ प्रबन्धन द्वारा पूर्ण रोजगार प्राप्त करने की नीति उचित है या अनुचित। युद्ध के लिये प्राप्त की गई ऋण-राशि में प्रत्येक वर्ष वृद्धि होती जाती है, क्योंकि प्रत्येक वर्ष सूद दर सूद लगता जाता है और राशि बढ़ती जाती है। ऐसी वृद्धि से आय के वितरण की असमानतायें और भी बढ़ती जाती हैं। इसलिए राष्ट्रीय ऋण की बहुत बड़ी समस्या आय के वितरण के सम्बन्ध में है और ऋण-भार के स्थानान्तरण की समस्या तो केवल एक सहायक समस्या ही है।

सरकारी बांडों का स्वामित्व व्यक्ति को केवल धन प्राप्त करने का अधिकार ही प्रस्तुत नहीं करता बल्कि वार्षिक आय प्राप्त करने के लिए भी अधिकार प्रदान करता है। जब ऋण पर केवल थोड़े से व्यक्तियों का ही स्वामित्व होता है और ऋण की राशि में प्रत्येक वर्ष वृद्धि होती जाती है तो आय तथा धन प्राप्त करने के अधिकार भी थोड़े से ही व्यक्तियों के हाथों में एकत्रित हो जाते हैं। यदि करों में इस प्रकार हेर-फेर कर दी जाए कि यह अधिकार कम हो जायें तब भी धन प्राप्त करने के अधिकार तो एकत्रित होते ही रहेंगे, चाहे वार्षिक आय प्राप्त करने के अधिकारों में कमी भले ही हो जाय। इस प्रकार धनी व्यक्तियों की संख्या में निरन्तर वृद्धि होती ही रहेगी जो सामाजिक एवं आर्थिक दोनों ही दृष्टिकोणों से अनुचित है। हाँ, पूर्ण रोजगार की दृष्टि से यह उचित हो सकता है, क्योंकि धनी व्यक्तियों की आय में वृद्धि होने से उनके उपभोग करने की प्रवृत्ति भी बढ़ती जाती है, जिससे पूर्ण रोजगार स्थिति स्थापित होने में सहायता मिलती है। परन्तु ऐसे पूर्ण रोजगार को सामाजिक एवं आर्थिक दृष्टिकोण से न्यायोचित नहीं कहा जा सकता। यह ध्यान रहे कि इन मुद्रा स्वत्वों (money titles) का एकत्रीकरण पूर्ण रोजगार की नीति के कारण नहीं होता, बल्कि यह धन की उन असमानताओं के कारण उत्पन्न होता है जो ऋण प्राप्त करने के पहले ही से विद्यमान थीं। इसीलिए तो समय-समय पर उत्पन्न होने वाले अवसाद आवश्यक होते हैं, क्योंकि वह इन मुद्रा स्वत्वों के मूल्य को गिरा देते है।

ऋणों द्वारा प्राप्त राशि को खर्च करने के उद्देश्य या खर्च करने की विधि का न तो ऋण-ग्रस्तता के आकार पर और न सूद की दर पर ही कोई प्रभाव पड़ता है। सरकार इस राशि को जिस प्रकार चाहे व्यय कर सकती है। सरकार के निर्णय आर्थिक उद्देश्यों से निर्धारित नहीं होते बल्कि सामाजिक प्राथमिकता (Social Priority) से निश्चित होते हैं या यह भी देखकर निर्णय लिए जा सकते हैं कि देश

में कौन से आर्थिक साधन बेकार हैं और उनमें से किन को बिना कठिनाई के प्राप्त किया जा सकता है। सामाजिक प्राथमिकता के विचारों से प्रेरित होकर सरकार यह भी सोच सकती है कि स्थायी पूँजी का निर्माण करना अधिक वांछनीय हो सकता है जैसे, सड़कों, स्कूलों, अस्पतालों आदि का निर्माण या सरकार यह भी निर्णय कर सकती है कि वह अपने व्यय को उपभोक्ताओं के व्यय को बढ़ाने के उद्देश्य से करे। दोनों ही स्थितियों में केवल उपभोग में ही वृद्धि नहीं होती बल्कि उत्पादक पूँजी में भी वृद्धि होती है, क्योंकि मशीनों तथा स्थायी पूँजी की माँग केवल वस्तुओं की माँग से ही उत्पन्न होती है। इस प्रकार मुख्य ध्यान देने योग्य बात यह है कि निजी विनियोग की क्रिया एक उत्पादित घटना है, जो लाभ की आशा से प्रेरित होती है और लाभ की आशा स्वयं अन्तिम वस्तु की वास्तविक या आशातीत माँग की वृद्धि पर निर्भर करती है। सरकारी विनियोगों में यह बात नहीं होती, सरकार चाहे तो उपभोग को बढ़ा सकती है या निजी विनियोगों को प्रोत्साहित कर सकती है। किन्तु राशनिंग व्यवस्था में इस प्रकार की स्वतन्त्रता नहीं होती।

जिन लेखकों ने पूर्ण रोजगार के लिए निजी विनियोगों को प्रोत्साहन देने का समर्थन किया है उन्होंने इस ओर कोई ध्यान नहीं दिया कि निजी विनियोग केवल उत्पादित (derived) होते हैं। कर में रियायतें करने और आर्थिक सहायता प्रदान करने से निजी विनियोग प्रोत्साहित तो अवश्य हो सकते हैं, किन्तु पूँजीगत वस्तुओं का संचय उस समय तक निराधार होगा जब तक उपभोक्ताओं की क्रय-शक्ति में वृद्धि नहीं होती। अतः दीर्घकाल में केवल निजी विनियोगों को आर्थिक सहायता प्रदान करके ही समस्या नहीं हल हो जाती। यह केवल मन्दी काल में रोजगार के स्तर को ऊँचा उठाने में सफल हो सकती है, पूर्ण रोजगार के बनाये रखने में नहीं। हम पहले भी इस विषय पर काफी दृष्टि डाल चुके हैं। अब हम इस प्रश्न पर विचार प्रकट करेंगे कि एक बड़े राष्ट्रीय ऋण से मुद्रा-स्फीति उत्पन्न होती है या नहीं ?

व्यक्तियों के पास केवल मुद्रा के एकत्रित होने या मुद्रा-स्वत्वों के अधिकार एकत्रित हो जाने से ही मुद्रा-स्फीति उत्पन्न नहीं होती। मुद्रा-स्फीति उसी समय आरम्भ होती है जब लोग अपनी मुद्रा को खर्च करते हैं। परन्तु प्रश्न यह है कि मुद्रा की उपस्थिति या मुद्रा प्राप्त करने के अधिकारों की उपस्थिति निजी व्यय पर कोई प्रभाव डालती है या नहीं ? मनुष्य का खर्चा उसकी आय से निर्धारित होता है। यदि मनुष्य कुछ भी न बचाकर अपनी पूरी आय खर्च कर देते हैं तो उनका व्यय उस स्थिति की अपेक्षा अधिक होगा जबकि आय में से वह कुछ बचत कर रहे थे। इसी प्रकार व्यय में और भी वृद्धि हो सकती है यदि मनुष्य अपनी पुरानी बचतों को चालू आवश्यकताओं पर खर्च करने लगे। पूर्ण रोजगार वाली अर्थ-व्यवस्था में एकत्रित धन या मुद्रा प्राप्त करने के अधिकारों के एकत्रित करने का कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता, केवल इसी का प्रभाव पड़ता है कि व्यक्ति अपनी पूरी चालू आय उपभोग पर व्यय करना आरम्भ कर रहे हैं या नहीं। यदि वे पूरी आय

खर्च करना आरम्भ कर देते हैं तो अवश्य ही मुद्रा-स्फीति उत्पन्न हो जायेगी। सारांश में उपभोग करने की प्रवृत्ति में तनिक भी वृद्धि होने से पूर्ण रोजगार-व्यवस्था में मुद्रा-स्फीति आरम्भ हो जाती है यदि सरकार वास्तविक साधनों का उपयोग उसी अनुपात में कम नहीं कर देती। इस प्रकार एक बड़ा राष्ट्रीय ऋण मुद्रा-स्फीति को उत्पन्न नहीं करता।

जहाँ तक इस प्रश्न का सम्बन्ध है कि बजट के घाटों के लिए वित्त-प्रबन्ध की कौनसी रीति अपनाई जाये जिससे मुद्रा-प्रसार कम हो, इसके सम्बन्ध में यही कहना होगा कि सरकार को सभी नीतियाँ अपनानी चाहियें, किन्तु किसी समय-विशेष पर केवल वही विधि अपनाई जाए जिसका स्वागत करने के लिए जनता तैयार हो अर्थात् जिसको जनता स्वीकार करले। हम बता ही चुके हैं कि घाटे स्वयं अपने लिए आवश्यक बचतें उत्पन्न कर लेते हैं यदि यह बचतें इच्छित हैं अर्थात् व्यक्तियों ने अपनी सारी आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करके अपनी आय में से यदि कुछ धन बचाया है तो उसका उपभोग पर या विनियोगों में एकदम अकस्मात् ही खर्च होना सम्भव नहीं है। यदि सरकार इन घाटों को पूरा करने के लिए केवल दीर्घकालीन बॉण्ड ही चालू करती है तो बिना किसी उद्देश्य या लाभ के सूद की दर बढ़ जायेगी और यदि सरकार सूद की दर को नीचा रखने के लिए केवल अल्प-कालीन ऋणों या सस्ती मुद्रा निकालकर (ways and means advances) द्वारा घाटों को पूरा करना चाहती है तो बैंकों के नकद आधार (cash basis) में इस प्रकार वृद्धि करने से सूद की दरों का समस्त ढांचा छिन्न-भिन्न हो जायेगा और परिणामस्वरूप पूंजीगत मूल्यों पर बहुत बुरे प्रभाव पड़ेंगे। अतः इन दोनों विधियों में से कोई भी वांछनीय नहीं है। पहली विधि में निजी विनियोग की क्रियाओं की हानि होगी और दूसरी में मुद्रा-स्फीति होगी और विलास की वस्तुओं का उपभोग बढ़ने लगेगा। वास्तव में सरकार को दोनों ही विधियों का प्रयोग करना चाहिये। अर्थात् अल्पकालीन और दीर्घकालीन दोनों ही प्रकार के ऋण-पत्रों को चालू करना चाहिए और यदि फिर भी कुछ कमी रह जाय तो उसकी पूर्ति सस्ती मुद्रा की निकासी करके की जाए। इसकी कोई भी आवश्यकता नहीं है कि बैंकों पर या जनता पर अत्यधिक दबाव डाला जाए या उन्हें समझाया-बुझाया जाए और जो ऋण दान स्वेच्छा से प्राप्त हो रहे हैं उनकी गति को तीव्र किया जाये। यदि व्यक्तियों में बदलना चाहते हैं तो सरकार सूद की दर कम कर सकती है या दीर्घकालीन। यह प्रवृत्ति हो रही है कि वे अल्पकालीन ऋण-पत्रों को दीर्घकालीन बॉण्ड को खरीदने तथा बेचने के मूल्यों के बीच एक कृत्रिम अन्तर उत्पन्न कर सकती है। पूर्ण रोजगार में निजी विनियोग क्रियाओं को केवल सूद की दर में फेर-बदल करके ही नियन्त्रण करना सम्भव नहीं होगा। केवल असाधारण परिस्थितियों के कारण उत्पन्न होने वाली मुद्रा-स्फीति को, भयभीत होकर, मौद्रिक नीति में उलट-फेर करके नियन्त्रण नहीं करना चाहिए। वास्तविक मुद्रा-स्फीति को भारी प्रगतिशील करारोपण से रोकना चाहिए और यदि आवश्यकता हो तो राशनिंग और कन्ट्रोल जैसी प्रत्यक्ष

रीतियां भी अपनानी चाहियें। इन रीतियों को अपनाने में यह सोचने की आवश्यकता नहीं है कि क्योंकि यह पूर्ण रोजगार के स्थायित्व को क्षति पहुँचाएगी इसलिये इनको न अपनाया जाए। वास्तव में पूर्ण रोजगार से प्राप्त होने वाले लाभ मुद्रा-स्फीति की हानियों की अपेक्षा बहुत कम होते हैं।

निष्कर्ष—उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि नयी विचारधारा का यह विश्वास है कि अब यह सरकार की शक्ति में है कि वह साधनों के अधिकतम तथा पूर्ण उपयोग को सम्भव बनाये, क्योंकि उसको यह भी अधिकार है कि व्यक्तियों की आय का एक भाग करों द्वारा प्राप्त करले और इस प्रकार प्राप्त की हुई आय को जिस प्रकार चाहे खर्च करे और उसको यह भी अधिकार है कि वह जनता की इच्छानुसार जिस प्रकार के ऋण-पत्र चाहे छापे चाहे कागजी मुद्रा के रूप में या बॉण्ड और प्रतिभूतियों के रूप में। पूर्ण रोजगार स्थापित करने के लिए वह पुनर्वितरण सम्बन्धी करारोपण (redistributive taxation) भी कर सकती है और घाटे के बजटों का भी सहारा ले सकती है। किन्तु व्यवहार में अकेली कोई भी एक नीति सफल नहीं हो पायेगी। इसलिए व्यावहारिक नीति में दोनों का ही मिश्रण होना चाहिए। परन्तु इसकी सफलता भी इसी बात पर निर्भर करती है कि आय का समुचित या कुल वितरण (gross distribution of incomes) ठीक हो। नई विचारधारा यह भी स्वीकार करती है कि सरकार सूद की दर को भी नियन्त्रित कर सकती है। और लाभकर्त्ता (rentier) की खामोशी या निराशा को भी समाप्त कर सकती है। इसलिए नई विचारधारा को लागू करना, सामाजिक और आर्थिक, दोनों ही दृष्टिकोणों से महत्वपूर्ण है। व्यक्तियों की स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप करने की कोई आवश्यकता नहीं है। कर लगाना और ऋण प्राप्त करना कोई नई बात नहीं है। यह तो सरकार नई विचारधारा के आगमन से पहले ही करती आ रही है, किन्तु आज नई विचारधारा ने इनके उद्देश्य और इनको उपयोग करने के नियमों में परिवर्तन कर दिया है। अब इनका उपयोग निम्न नियमों के अनुसार होना चाहिए[2]:—

प्रथम, सरकार को प्रचलित कर-प्रणाली का ध्यानपूर्वक अध्ययन करना चाहिए और विभिन्न करों के उपभोग, निजी विनियोग तथा निजी बचतों पर पड़ने वाले प्रभावों के आधार पर उनमें भेद करना चाहिए। इस अध्ययन से सरकार यह पता लगा सकेगी कि जिन साधनों को उद्योगपति काम में लगाना नहीं चाहते उन के आकार पर करारोपण के क्या प्रभाव होंगे।

दूसरे, करारोपण का उपयोग केवल, काम में न लाए जाने वाले साधनों के आकार में फेर-बदल करना ही होना चाहिए, जिसकी कमी और वृद्धि सामाजिक प्राथमिकताओं पर निर्भर करेगी।

तीसरे, जो कुछ भी शेष रहता है (दूसरे नियम के अन्तर्गत निर्णय लेने के बाद) सरकार इन बेकार साधनों को हीनार्थ-प्रबन्धन द्वारा अपने उपयोग में ले ले।

2. T. Balogh & Others, *'The Economics of Full-Employment'*, p. 120.

अतः आज नई विचारधारा के प्रभाव में राजकीय वित्त (राजस्व) का रूप और उद्देश्य पूर्णतया बदल गया है। आज राजस्व का प्रमुख उद्देश्य देश में साधनों के पूर्ण उपयोग को सम्भव बनाना है केवल आय और व्यय या शुद्ध वित्तीय दृष्टिकोण से आय प्राप्त करना या व्यय करना नहीं है। नयी विचारधारा में सामाजिक कल्याण का तत्व है और राजस्व का उद्देश्य सामाजिक कल्याण में वृद्धि करना है जब कि प्राचीन विचारधारा में वित्तीय तत्व था और उस समय राजस्व का उद्देश्य व्यक्तिगत हित को अग्रसर करना था। सारांश में राजस्व पूर्ण रोजगार स्थापित करने का एकमात्र अस्त्र है।

अध्याय ३६

भारत में बेरोज़गारी की समस्या
(PROBLEM OF UNEMPLOYMENT IN INDIA)

प्राक्कथन—

वेकारी, पूंजीवादी देशों की एक प्रमुख विशेषता है। अन्तर केवल इतना है कि इस समस्या का आकार एवं प्रकृति प्रत्येक देश में अलग-अलग है। भारत की अर्थ-व्यवस्था भी पूंजीवादी होने के कारण यहाँ पर वेकारी की समस्या भी वहुत विषम है। भारत की वेकारी की समस्या है तो वहुत पुरानी किन्तु दूसरे महायुद्ध के वाद से इस समस्या के आकार और विषमता दोनों ही में वहुत अधिक वृद्धि हो गई है। वेकारी पिछड़े हुए देशों का एक प्रमुख लक्षण होता है। विकसित देशों में जवकि वेकारी मुख्य रूप से औद्योगिक श्रमिकों के वीच होती है पिछड़े हुए देशों में वेकारी लगभग अर्थ-व्यवस्था के प्रत्येक क्षेत्र में ही पाई जाती है। पिछड़े हुए एक अर्द्ध-विकसित देश में वेकारी प्राकृतिक साधनों के अभाव में नहीं होती, जैसे भारत में। हमारे देश में प्राकृतिक साधन प्रचुर मात्रा में होते हुए भी वेकारी अपनी चरम सीमा पर है। विकसित देशों में वेकारी केवल क्षणिक और अस्थायी होती है और केवल उत्पादन विधि में उलट-फेर होने के कारण ही वेकारी को जन्म मिलता है। किन्तु पिछड़े हुए देशों में वेकारी की समस्या वहुत कुछ स्थायी होती है। भारत भी एक पिछड़ा हुआ देश है और यहाँ पर वेकारी और कम रोजगारी (Under-employment) दोनों का ही प्रकोप वहुत कुछ अटल है। यहाँ पर वेकारी तीन प्रकार की हैं :— (अ) कृषि वेरोजगारी, (व) औद्योगिक वेरोजगारी और (स) शिक्षित वर्ग की वेरोजगारी। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् से ही हमारे देश में वेकारी की कठोरता को समझने का प्रयास किया जा रहा है, किन्तु अभी तक कोई उत्तम उपाय इस समस्या को दूर करने के लिए ढूंढ निकालने में सफल नहीं हो पाये हैं। हम इस समस्या के वास्तविक आकार को वताने में भी असमर्थ हैं क्योंकि हमारे देश में पर्याप्त आंकड़ों का अभाव है। किन्तु यह एक ऐसा अटल सत्य है कि इसको सिद्ध करने के लिए आंकड़ों की आवश्यकता नहीं है। यद्यपि रोजगार दफ्तरों की स्थापना के पश्चात् से कुछ आंकड़े अवश्य प्राप्त होने लगे हैं किन्तु वह भी केवल शहरी क्षेत्रों से और कुछ सीमित व्यवसायों से ही सम्वन्धित हैं और इन

आधार पर बेकारी की समस्या के वास्तविक आकार का ज्ञान नहीं प्राप्त किया जा सकता। रोजगार दफ्तरों के आँकड़ों पर एक दृष्टि डालने से यह भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है कि एक ओर काम ढूंढने वालों की संख्या में वृद्धि हो रही है दूसरी ओर रोजगारों के अवसरों में कमी होती जा रही है और इस प्रकार काम ढूंढने वालों की संख्या दिन प्रति-दिन बढ़ती ही जा रही है। किन्तु यह भी पूर्णतया सत्य नहीं है। वास्तव में काम ढूंढने वालों में बहुत से आदमी ऐसे हैं जो काम पर लगे हुए हैं किन्तु अच्छी और स्थायी नौकरी प्राप्त करने के उद्देश्य से उन्होंने रोजगार के दफ्तरों में अपने नाम लिखवा रखे हैं; दूसरी ओर रोजगार दफ्तरों की कार्य-विधि में काम दिलाने का अर्थ बहुत अजीब है। बहुधा यह देखा गया है कि आकस्मिक रोजगार को भी ये दफ्तर काम दिलाने की सूची में सम्मिलित कर देते हैं। इस प्रकार एक मजदूर जो प्रतिदिन एक नये मालिक के साथ माल लादने और ढोने पर सुबह नौकर रखा जाता है और शाम को फिर बेकार हो जाता है; किन्तु वही मजदूर रोजगार के दफ्तरों के रजिस्टरों में हर रोज बेकार रहते हुए भी काम पाने वाले व्यक्तियों की संख्या में वृद्धि करता रहता है। केवल यही नहीं काम देने वाले मालिक भी अधिकतर व्यक्तियों को रोजगार दफ्तरों से प्राप्त नहीं करते हैं। घरों में काम करने वाले नौकरों को रोजगार के दफ्तरों से प्राप्त नहीं किया जाता। इसलिए हर दिशा में गड़बड़ी इतनी फैली हुई है कि बेकारी की समस्या के वास्तविक रूप का पता लगाना सम्भव नहीं है। हमारे देश में एक अजीब बात यह है कि एक ओर जबकि शिक्षा का विस्तार हो रहा है, लोगों को शिकायत है कि देश में शिक्षा का बहुत अभाव है और इसी प्रकार लोगों को यह भी शिकायत है कि देश में प्रशिक्षित व्यक्ति तथा यन्त्रकला और विज्ञान का ज्ञान रखने वाले व्यक्तियों की बहुत कमी है और दूसरी ओर आश्चर्यजनक बात यह है कि अधिकतर बेकारी इन्हीं वर्गों में है। ग्रामीण क्षेत्रों में तो यह सभी को ज्ञात है कि किसान साल में ४ से ६ महीने बेकार रहता है और इसके अतिरिक्त गाँव में छिपी हुई बेकारी (Disguised Unemployment) की समस्या भी बहुत गम्भीर है।

बेकारी के कारण—

सामान्य रूप से किसी भी देश में बेकारी तीन प्रकार से होती है। प्रथम, सक्रिय माँग में कमी होने के कारण; दूसरे, मूल्य तथा लागतों में असंतुलन उत्पन्न होने के कारण और तीसरे, श्रमशक्ति के अनुपात में मशीनों तथा यन्त्रों के न होने के कारण। पूर्ण विकसित पाश्चात्य देशों में बेकारी मुख्य रूप से सक्रिय माँग में कमी होने के कारण उत्पन्न होती है। वहाँ पर अधिकतर मौद्रिक मजदूरी स्थायी रहती है और इसलिए सक्रिय माँग में थोड़े से परिवर्तन होने से भी रोजगार के स्तर में काफी परिवर्तन हो जाते हैं। हमारे ग्रामीण क्षेत्रों में व्यक्तियों की अधिकतर 'लाभ' मजदूरियाँ होती हैं (क्योंकि अधिकतर लोग अपने ही खेतों पर काम करते हैं और किसी के नौकर नहीं होते हैं) साथ ही एक प्रकार की वास्तविक मजदूरी (बहुत

सा अनाज अपने और अपने कुटुम्ब के उपभोग के लिए एकत्रित करके रख लेता है) भी इसके अतिरिक्त प्राप्त होती है। इस प्रकार की मजदूरियों में परिवर्तनों के लिए अधिक गुंजाइश रहती है और इसलिए भारत में रोजगार का स्तर सक्रिय माँग के अनुपात में घटता-बढ़ता नहीं है। भारत में बेकारी की मुख्य समस्या इस बात की है कि पूंजीगत वस्तुओं की पूर्ति में वृद्धि करके और अर्थ-व्यवस्था में संगठन सम्बन्धी उचित परिवर्तन करके रोजगार अवसरों की मात्रा को कैसे बढ़ाया जाये। हमारे देश में पूर्ण रोजगार की स्थापना वर्तमान परिस्थितियों को देखते हुए स्वप्न-मात्र है। ग्रामीण तथा शहरी क्षेत्रों में करोड़ों व्यक्ति बेकार हैं और प्रतिवर्ष जन-संख्या की वृद्धि से इनकी संख्या बढ़ती ही जाती है। ग्रामीण क्षेत्रों में बेकारी के मुख्य कारण श्रमिकों की अगतिशीलता, अशिक्षितता, शारीरिक श्रमिकों का आधिक्य और यंत्रकला में प्रशिक्षित श्रमिकों का अभाव, ग्रामीण क्षेत्रों में पूंजी का अपर्याप्त प्रवाह, खेती केवल जीविका-उपार्जन का साधन होने के कारण और आधिक्य श्रमिकों को रोजगार प्रदान करने के लिए कुटीर उद्योगों का अभाव है। इन कारणों से केवल ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था ही छिन्न-भिन्न नहीं होती बल्कि बेकारी सम्बन्धी नियोजन के कार्यों को सफल बनाने में अनेकों बाधायें उत्पन्न हो जाती है। यद्यपि भारत में प्रत्येक प्रकार की बेकारी के कारण अलग-अलग हैं किन्तु हम इन कारणों की विवेचना करने से पहले कुछ सामान्य कारणों को बतायेंगे। बेकारी के सामान्य कारण निम्न प्रकार हैं :—

(१) **विकास कार्य-क्रम की धीमी प्रगति**—बड़े आश्चर्य की बात है कि जब प्रथम योजना की प्रगति एवं सफलता के कारण रोजगार अवसरों में वृद्धि होनी चाहिये थी, इसके विपरीत प्रथम योजना काल में बेकारों की संख्या और भी अधिक हो गई। इसका मुख्य कारण यह है कि रोजगार अवसरों में जो वृद्धि हुई है वह जनसंख्या की वृद्धि के अनुकूल नहीं है, और साथ ही बढ़ती हुई श्रमपूर्ति के लिये भी हमारी योजनाओं में कोई प्रबन्ध नहीं किया गया है। हमारे पूर्व वित्त मन्त्री श्री देशमुख के अनुसार हमारे देश में जनसंख्या की वृद्धि के कारण प्रत्येक वर्ष बेकार व्यक्तियों की संख्या में १२ लाख काम ढूंढने वालों की वृद्धि होती जाती है। इस प्रकार हमारे देश में बेकारी का मौलिक कारण यह है कि विकास कार्यक्रम की प्रगति जनसंख्या की वृद्धि की दृष्टि से बढ़ती हुई बेकारी के अनुकूल नहीं है।

(२) **भारतीय विश्वविद्यालयों से निकलने वाले शिक्षित व्यक्तियों की संख्या में वृद्धि**—हमारे देश में प्रति वर्ष विश्वविद्यालयों में बी० ए०, एम० ए० पास करने वालों की संख्या बढ़ती ही जाती है जबकि प्रतिवर्ष शिक्षित व्यक्तियों के लिये रोजगार अवसरों में कोई विशेष वृद्धि नहीं होती है। अनुमान है कि सन् १९४७–४८ के बाद हाई स्कूल और इण्टरमीडिएट परीक्षा पास करने वालों की संख्या दुगुनी से भी अधिक हो गई है और बी० ए० तथा एम० ए० पास करने वालों की संख्या में ६६% की वृद्धि हो गई है। शिक्षित व्यक्तियों के रोजगार अवसरों में कमी होती जा रही है।

(३) उद्योग तथा व्यापार में मन्दी—सन् १६५२ के आरम्भ में गिरते हुए मूल्यों के कारण, कोरिया युद्ध समाप्त होने के कारण और अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यों में कमी होने के कारण, व्यापार तथा उद्योग क्षेत्रों में भाग लेने वाले व्यक्तियों को कुछ यह महसूस हुआ कि संसार में वैसी ही मंदी आरम्भ होने वाली है जैसी प्रथम महायुद्ध के बाद उत्पन्न हुई थी। परिणामस्वरूप व्यापारियों और उद्योगपतियों ने अपनी क्रियाओं को संकीर्ण करना आरम्भ कर दिया। निर्यात उद्योगों जैसे जूट, अदरक आदि उद्योगों में तो उत्पादन बहुत ही कम कर दिया जिसके कारण इन उद्योगों में बहुत बेकारी उत्पन्न हो गई। देश के विभाजन होने से कच्चा जूट पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध न हो पाने के कारण विभाजन के बाद काफी वर्षों तक अधिकांश जूट के कारखाने बन्द रहे और अभी तक उनमें उत्पादन युद्ध से पहले की स्थिति प्राप्त नहीं कर पाया है। परिणामस्वरूप इस उद्योग में काफी बेकारी उत्पन्न हो गई है। कपड़ा उद्योग में माल की निकासी न हो पाने के कारण काफी कारखाने बीच-बीच में बन्द होते गये और इस कारण भी बेकारी की समस्या बढ़ती गई।

(४) व्यक्तियों की गिरती हुई क्रय-शक्ति—युद्ध काल में आरम्भ हुआ मुद्रा-स्फीति का चक्र समाप्त होने के स्थान पर तीव्र गति से बढ़ता ही जा रहा है। मूल्य-वृद्धि के कारण व्यक्तियों की क्रय-शक्ति दिन-प्रति-दिन कम होती जा रही है। व्यक्तियों में केवल अपनी चालू आय में से आवश्यकताओं को पूरा करने की ही सामर्थ्य नहीं है बल्कि उन्होंने अपनी पुरानी बचतें भी समाप्त कर दीं। यही कारण है कि आजकल इतनी चोर बाजारी नहीं है और बाजार में वस्तुएँ होते हुए भी उनको खरीदने के लिए व्यक्ति नहीं मिलते।

(५) लागतों तथा मूल्यों के समायोजन का अभाव—गत वर्षों में विक्रेताओं का प्रभाव कम हो गया है और क्रेताओं की शक्ति बढ़ती जा रही है। इसीलिए विक्रेताओं को वस्तुओं के विक्रय में कठिनाइयाँ हो रही हैं। यदि उन्हें वस्तुओं की निकासी करनी है तो वस्तुओं के मूल्य नीचे गिराने ही होंगे। किन्तु उत्पादकों ने अपनी पूंजी का विनियोग मशीनों इत्यादि में उस समय किया था जब कि युद्ध के कारण मूल्य काफी ऊँचे थे। इसके अतिरिक्त मजदूरी की दरें भी लगभग उतनी ही है जितनी युद्ध काल में थीं। इसीलिए वस्तुओं का उत्पादन-व्यय अधिक है और उत्पादकों के लिए यह सम्भव नहीं है कि वे अपने मूल्यों को कम कर सकें। अतः मूल्य और लागतों में समायोजन न हो पाने के कारण बाजार में वस्तुएँ जमा होती जाती हैं। उत्पादकों को अपना उत्पादन कम करना पड़ता है और इस प्रकार श्रमिक बेकार हो जाते हैं।

(६) संयुक्तिकरण—पिछले वर्षों में कुछ उद्योगों में आधुनिकीकरण तथा संयुक्तिकरण की ओर प्रयत्न आरम्भ कर दिये गये हैं जिससे आधुनिक मशीनों के उपयोग के कारण बेकारी बढ़ती गई है।

(७) छटनी (Retrenchment)—युद्धकाल में जो बहुत से नये-नये विभाग स्थापित किये गये थे उनको युद्ध समाप्त होते ही बन्द करना पड़ा। परिणाम-

स्वरूप जो व्यक्ति उन विभागों में काम कर रहे थे उनको काम से अलग कर दिया गया और इस प्रकार बेकारी और अधिक हो गई।

(८) **छोटे उद्योगों की क्षति**—युद्ध-काल में आयातों के अभाव को पूरा करने के लिए और युद्ध सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए बहुत से छोटे-छोटे उद्योग स्थापित हो गये थे जिनसे हजारों व्यक्तियों को जीविका प्राप्त हो रही थी। युद्ध समाप्त होते ही इन उद्योगों को अनेकों प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ा और इनमें से बहुत से समाप्त भी हो गये। परिणामस्वरूप इन उद्योगों में लगे हुए व्यक्ति भी बेकार हुए।

(९) **जमींदारी उन्मूलन**—पिछले वर्षों में हमारे देश में जमींदारों के अधिकारों को समाप्त करने की ओर प्रयत्न हुए हैं और विभिन्न राज्य सरकारों ने जमींदारी और ताल्लुकेदारी का अन्त कर दिया जिसके कारण बहुत से व्यक्ति जो जमींदार थे वह तो बेकार हो ही गए किन्तु जो व्यक्ति जमींदारों के यहाँ नौकर थे वे भी बेरोजगार हो गए।

(१०) **देश का विभाजन**—देश के विभाजन से लाखों शरणार्थी पश्चिमी तथा पूर्वी पाकिस्तान से भारत में आए जिनके लिए कोई पूर्व निश्चित रोजगार के अवसर तो थे नहीं इसलिये इनके आने से हमारे देश की श्रम-पूर्ति में वृद्धि हुई और बेरोजगारों की संख्या और भी बढ़ गई।

उपर्युक्त कारणों से स्पष्ट है कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद हमारे देश में बेरोजगारी की स्थिति दिन-प्रति-दिन बिगड़ती ही गई और आज स्थिति इतनी खराब हो गई है कि उस पर काबू पाना सरल प्रतीत नहीं होता। बेकारी की समस्या की वास्तविक प्रकृति को समझने के लिए यह आवश्यक प्रतीत होता है कि हम प्रत्येक प्रकार की बेकारी की अलग-अलग विवेचना करें। हम निम्न पृष्ठों में संक्षेप में प्रत्येक प्रकार की बेकारी का विश्लेषण करने का प्रयत्न कर रहे हैं।

कृषि सम्बन्धी बेकारी—अन्य कृषि-प्रधान देशों की भाँति भारत में ग्रामीण क्षेत्रों में बेकारी दो प्रकार की पाई जाती है—मौसमी तथा स्थायी। मौसमी बेकारी के समय गाँव वालों के पास कोई काम-धन्धा नहीं होता क्योंकि इन दिनों कृषि का काम बन्द ही रहता है। इसलिए जो लोग खेती करने के मौसम में काम पर लगे होते हैं वे फसल कट जाने के बाद बेकार हो जाते हैं और जब तक दूसरी फसल का काम आरम्भ नहीं होता है, वे बेकार रहते हैं। मौसमी बेकारी के सम्बन्ध में डा० राधाकमल मुकर्जी का अनुमान है कि एक कृषक को उत्तरी भारत में २०० दिन से अधिक के लिए रोजगार नहीं मिलता और इस प्रकार वह साल में १६५ दिन से भी अधिक बेकार रहता है। रॉयल कमीशन का अनुमान था कि कृषक साल में कम से कम २–४ माह तक बेकार रहता है। डा० साल्टर के अनुमानानुसार कृषक वर्ष में ७ महीने बेकार रहता है और जैक का विचार है कि जूट तथा चावल की खेती करने वाले किसानों को केवल ३ या ४ महीने ही काम मिल पाता है। अखिल भारतीय कांग्रेस समिति की एक अनुसंधान समिति की एक खोज के अनुसार दिल्ली

राज्य के ग्रामीण क्षेत्रों में किसान ६ घण्टे प्रतिदिन की दर से साल में केवल ६ से ८ महीने तक ही व्यस्त रहता है। इस समिति के अनुसार भूमिहीन कृषक तो साल में ६ से ७ महीने तक बेकार रहते हैं। कृषि क्षेत्र में बेकारी कई कारणों से है। ये कारण संक्षेप में इस प्रकार हैं :—(१) भारतीय कृषि की प्रकृति एकदम अनिश्चित है। यह वर्षा पर निर्भर है जो कभी भी समय पर नहीं होती। परिणाम-स्वरूप समय-समय पर अकालों का सामना करना पड़ता है और मौसमी बेकारी उत्पन्न होती है। (२) ग्रामीण तथा कुटीर उद्योगों के समाप्त हो जाने के कारण बहुत से व्यक्ति जो इन उद्योगों में लगे हुए थे वे बेकार हो गए। इसके अतिरिक्त जो कुछ व्यक्ति इन उद्योगों में रह भी गये हैं उनकी आर्थिक स्थिति भी ठीक नहीं रहती क्योंकि वे अपनी लागतों और बाजारी मूल्यों में सामंजस्य स्थापित नहीं कर पाते हैं। परिणामस्वरूप या तो बहुत से व्यक्ति बिना लाभ प्राप्त किए ही उन उद्योगों को चलाते रहते हैं जिसका अर्थ कम रोजगारी है या वे उन उद्योगों को छोड़ कर कृषि में भूमिहीन मजदूरों की भाँति काम करना आरम्भ कर देते हैं जिसमें वे मौसमी बेकारी तथा स्थायी बेकारी के शिकार हो जाते हैं। (३) हमारे ग्रामीण क्षेत्रों में अभी तक ग्रामीण उद्योगों की पुनः स्थापना नहीं हो पाई है जिसके कारण जो लोग बेकार होते हैं उनको जीविका उपार्जन का कोई दूसरा साधन उपलब्ध नहीं हो पाता है। (४) जनसंख्या की वृद्धि के कारण भी ग्रामीण क्षेत्रों में बेकारी बढ़ती जा रही है। एक तो पहले ही भूमि पर दबाव बहुत अधिक है। जनसंख्या की वृद्धि की छिपी हुई बेकारी में दिन-प्रति-दिन वृद्धि हो रही है (५) हमारे देश में उपज को बेचने की व्यवस्था भी बहुत खराब है। परिणामस्वरूप कृषकों को उचित 'लाभ' मजदूरी प्राप्त नहीं हो पाती और वे कम रोजगारी के शिकार रहते हैं। (६) अन्त में किसान के ऋणग्रस्त होने के कारण उनकी भूमि महाजनों तथा अन्य ऋण-दाताओं के हाथों में स्थानान्तरित हो जाने के कारण वे भूमिहीन मजदूरों की स्थिति में रह जाते हैं और कुछ समय बाद बेकारों की श्रेणी में शामिल हो जाते हैं।

ग्रामीण क्षेत्रों की बेकारी मुख्य रूप से इन्हीं कारणों से है। इस बेकारी को दूर करने के लिए निम्न कारण अपनाये जाने की सिफारिशें समय-समय पर की जा चुकी है :—(१) भूमि पर जनसंख्या के बढ़ते हुए भार को कम करने के लिए ग्रामीण उद्योगों का विकास अति तीव्र गति से होना चाहिये। (२) मौसमी बेकारी को दूर करने के लिए उत्पादक कार्यों को प्रोत्साहन दिया जाय और अतिरिक्त श्रम-शक्ति को सार्वजनिक निर्माण कार्यों में लगाया जाय; जैसे कुयें बनाना, सड़क बनाना, तालाब बनाना, खाद के गढ़े खोदना इत्यादि। यह सब कार्य सामुदायिक विकास योजना के अन्तर्गत किए जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त मुर्गी पालन, डेयरी उद्योग तथा फल इत्यादि उगाने को अधिक प्रोत्साहन दिया जाय। हमारी योजनाओं ने इन सब के लिए उचित व्यवस्था की गई है। (३) भूमिहीन मजदूरों को भूमि देने की व्यवस्था की जाए ताकि उनकी बेकारी कम हो। इस सम्बन्ध में विभिन्न राज्यों में सरकारों ने भूमि की अधिकतम सीमा निश्चित कर दी है और आशा है कि तीसरी

पंचवर्षीय योजना तक भूमिहीन मजदूरों की समस्या पूर्णतया समाप्त हो जायेगी। (४) ग्रामीण क्षेत्रों में औद्योगीकरण को प्रोत्साहन देने के लिए विद्युत शक्ति अधिकाधिक मात्रा में प्रदान की जाए और ग्रामीण क्षेत्रों में यातायात तथा सम्वादवाहन के साधनों के विकास की ओर ध्यान दिया जाए।

औद्योगिक क्षेत्रों में बेकारी—हमारे देश में एक समय वह भी था जब हमारे उद्योग-धन्धे इतने उन्नत थे कि विदेशी ईर्ष्या किया करते थे और भारत दूर-दूर के देशों से व्यापार किया करता था। साथ ही साथ हमारी कृषि भी काफी उन्नत अवस्था में थी। किन्तु औद्योगिक क्रान्ति के आरम्भ होने से हमारे उद्योग-धन्धों का तो विनाश हो ही गया किन्तु कृषि की भी स्थिति ठीक न रह सकी। परिणामस्वरूप सामाजिक तथा आर्थिक कठिनाइयों से विवश होकर ग्रामीण क्षेत्रों से हजारों की संख्या में लोग शहरों को काम की तलाश में आने लगे। जिसका परिणाम यह हुआ कि औद्योगिक क्षेत्रों में भी बेकारी बढ़ने लगी। औद्योगिक बेकारी के इसके अतिरिक्त और भी बहुत से कारण हैं; जैसे—(१) हमारे देश में औद्योगिक विकास आदि अभी प्रारम्भिक अवस्था में ही हैं और इसमें अभी इतनी शक्ति नहीं है कि अधिक व्यक्तियों को काम मिल सके। (२) भारत में उद्योगों का स्थानीयकरण भी दोषपूर्ण है और सभी क्षेत्रों का औद्योगिक विकास समान रूप से नहीं हो पाया है। (३) युद्ध के बाद मशीनों तथा कच्ची सामग्री के पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध न हो पाने के कारण स्थिति संतोषजनक नहीं है जिसके फलस्वरूप औद्योगिक श्रमिकों की खपत नहीं हो पा रही है। (४) संयुक्तिकरण तथा आधुनिकीकरण के कारण उद्योगों में बेकारी बढ़ रही है। (५) वस्तुओं की सक्रिय माँग में कमी होती जा रही है क्योंकि व्यक्तियों की आय मूल्यों के अनुपात में नहीं बढ़ रही है। अन्त में दूसरी योजना में औद्योगीकरण के जो लक्ष्य निर्धारित किए गए हैं उनकी पूर्ति में विदेशी विनिमय की कठिनाइयों से नई बाधायें उत्पन्न हो रही हैं।

औद्योगिक बेरोजगारी को दूर करने के लिए बहुधा यह उपाय दिये गये हैं—(१) उद्योगों के विकेन्द्रीयकरण की ओर उचित प्रबन्ध किए जाने चाहियें ताकि देश के सभी भागों का सामान्य विकास हो सके और सभी भागों में श्रमिकों को रोजगार अवसर प्राप्त हो सके। (२) देश में नये-नये उद्योगों को प्रोत्साहन देने के लिए प्रयत्न होने चाहियें। पुराने उद्योगों की उत्पादन शक्ति अपनी अधिकतम सीमा पर पहुँच जाने के कारण उनमें अधिक विस्तार करने तथा अधिक रोजगार प्रदान करने की शक्ति उस समय तक नहीं उत्पन्न हो पाएगी जब तक कि उनमें आधुनिक मशीनों का उपयोग नहीं होता। आधुनिक मशीनों का उपलब्ध होना उस समय तक सम्भव नहीं होगा जब तक भारत को पर्याप्त मात्रा में विदेशी मुद्रा प्राप्त नहीं होती तथा भारत स्वयं मशीनों के उत्पादन में स्वावलम्बी नहीं हो जाता। इसीलिए दूसरी योजना में भारी उद्योगों के विकास की ओर अधिक ध्यान दिया गया है और कुटीर तथा छोटे उद्योगों पर उपभोग की वस्तुओं के उत्पादन की जिम्मेदारी रखी गई। (३) औद्योगिक श्रमिकों को अधिक कुशल बनाने के लिए औद्योगिक प्रशिक्षण की

व्यवस्था होनी चाहिये। (४) आवश्यक मात्रा में पूँजी प्राप्त करने के लिये उचित प्रयत्न किये जायें तथा औद्योगिक संगठन एवं प्रबन्ध को कुशल बनाने का प्रयास किया जाये। (५) अन्त में क्योंकि भारत में औद्योगिक विकास के लिए पर्याप्त मात्रा में घरेलू पूँजी उपलब्ध नहीं हो पा रही है इसलिए अधिकाधिक मात्रा में विदेशी पूँजी के विनियोगों के लिए सुविधायें प्रदान की जायें।

शिक्षित वर्ग में बेकारी की समस्या—भारत में शिक्षित वर्ग की बेकारी की समस्या भी कुछ कम विषम नहीं है। पिछले वर्षों में इस समस्या ने बड़ा ही विकराल रूप धारण कर लिया है। यह समस्या सारे भारतवर्ष में फैली हुई है। उत्तर-प्रदेश की सप्रू कमेटी ने भी इस बात का समर्थन किया था। मद्रास समिति ने बताया है कि काम ढूँढने वाले शिक्षित व्यक्तियों और उनके लिए उपस्थित रोजगार अवसरों का अनुपात २ : १ है। सन् १९२७ की पंजाब समिति का भी यही विचार था। इस प्रकार की बेकारी से मनुष्य आत्म-विश्वास खो बैठता है और मनुष्य में शिक्षा के प्रति रुचि समाप्त हो जाती है। शिक्षित नवयुवकों की बेकारी देश की राजनैतिक स्थिरता के लिए भी हानिकारक होती है। एडलर कमीशन ने कहा था कि "इस प्रकार के शिक्षित बेरोजगार समुदाय की उपस्थिति तथा निरन्तर वृद्धि किसी भी देश में और विशेषकर ऐसे देश में जहाँ पर शिक्षित व्यक्तियों की मात्रा थोड़ी ही हो किसी भी प्रकार की सुव्यवस्थित सरकार के लिए भयकर है। जब तक देश की बुद्धिमान मानव जाति का एक बड़ा भाग निरन्तर बढ़ती हुई संख्या में इस प्रकार के अध्ययन में संलग्न है जिससे कि ऐसी ऊँची आशायें उत्पन्न हो जाती हैं जो पूरी नहीं हो पाती हैं और जो पढ़ने वालों को देश और अपने हित के लिए किये जाने वाले कितने ही व्यवसायों के लिए बेकार बना देता है, तब तक कोई भी सरकार चाहे वह कितनी अच्छी प्रकार से संगठित हो, अपना मार्ग आलोचना तथा प्रत्यालोचना से रोक नहीं पायेगी। सहायता की एक ऐसी मांग निरन्तर बढ़ती जायेगी जिसको किसी प्रकार भी पूरा नहीं किया जायेगा।" बम्बई राज्य की एक खोज के अनुसार यह बेकारी अधिकतर २७ वर्ष से नीचे के नवयुवकों में है। इन लोगों में उन लोगों की संख्या अधिक है जिनका ज्ञान मुख्यतया साहित्यिक है तथा उस वर्ग में भी अधिक है जो १० वाँ दर्जा पास नहीं है। यह आश्चर्य की बात है कि शिक्षा के क्षेत्र में प्रशिक्षित व्यक्तियों में अप्रशिक्षित व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक बेकारी है। इसी प्रकार शहरी क्षेत्रों में कानूनी पेशे तथा डाक्टरी पेशे के लोगों में बहुत बेकारी है। इंजीनियरी पेशे की दशा अभी तक संतोषजनक है। रेलों में काम ढूँढने वालों की संख्या बहुत अधिक है किन्तु इनमें अधिकांश व्यक्ति प्रशिक्षित नहीं हैं। शिक्षित बेकारी का मुख्य कारण हमारी शिक्षा प्रणाली है। बहुत पहले महात्मा गांधी ने वर्तमान शिक्षा प्रणाली की आलोचना करते हुए कहा था कि "नई शिक्षा प्रणाली किसी भी प्रकार से हमारी आवश्यकताओं को पूरा नहीं करती। शिक्षा के ऊँचे क्षेत्र में अंग्रेजी को शिक्षा का माध्यम बना देने से ऊपर के शिक्षित व्यक्तियों और नीचे के अशिक्षित व्यक्तियों जिनकी संख्या करोड़ों में है, के बीच एक स्थायी

दीवार खड़ी हो गई है। इसके कारण ज्ञान नीचे की जनता तक नहीं पहुँच पाता। अंग्रेजी भारतीय जीवन को मनोवैज्ञानिक दृष्टि से पंगु बना देती है और व्यक्ति अपने ही देश में अजनबी बन जाता है।" इस प्रकार यह आवश्यक है कि हमारी शिक्षा प्रणाली का रूप ही बदल जाना चाहिये। क्योंकि यह हमारी आर्थिक विकास सम्बन्धी आवश्यकताओं के अनुकूल नहीं है। आर्थिक विकास की दृष्टि से शिक्षित बेकारी को दूर करने के लिए निम्न सुझाव प्रस्तुत किये गये हैं :—(१) वर्तमान शिक्षा-प्रणाली में इस प्रकार सुधार होना चाहिए कि व्यक्तियों को पढ़ने के तुरन्त बाद ही रोजगार प्राप्त हो जाये। इसके लिए यह आवश्यक होगा कि पहले हमें उन व्यक्तियों की संख्या मालूम करनी होगी जिनकी वास्तविक खपत विभिन्न व्यवसायों में व्यक्तिगत रूप से हो सकती है, या जिनकी माँग उत्पन्न होने की आशा है। तत्पश्चात् विभिन्न व्यवसायों के लिए प्रशिक्षित व्यक्तियों की पूर्ति करने के लिए शिक्षा प्रणाली में उचित परिवर्तन करने होंगे। (२) देश में यन्त्र कला तथा औद्योगिक प्रशिक्षण के लिए अधिक मात्रा में विशेष संस्थाएँ स्थापित करनी चाहियें और (३) देश में एक अखिल भारतीय शिक्षा आयोग नियुक्त होना चाहिए जो नियोजन अवधि में प्रत्येक अवस्था पर शिक्षित व्यक्तियों की माँग और पूर्ति का अध्ययन करता रहे और शिक्षा प्रणाली को संशोधित करने के लिए उचित सुझाव देता रहे। उत्तर-प्रदेश की सरकार ने बेकारी की समस्या का अध्ययन करने के लिए सप्रू कमेटी की नियुक्ति की थी। यद्यपि समिति का कार्यक्षेत्र केवल उत्तर प्रदेश तक ही सीमित था और जो कुछ सुझाव इसने दिये वह मुख्य रूप से उत्तर प्रदेश के लिए ही थे किन्तु उसके सुझावों को सारे ही भारत में लागू किया जा सकता है। हम यहाँ पर समिति के मुख्य सुझावों का उल्लेख करते हैं।

समिति का सुझाव था कि जिला बोर्डों तथा नगरपालिकाओं को बाध्य करना चाहिए कि वे सड़कें तथा इमारतों को अच्छी हालत में बनाये रखने के लिए कुशल तथा योग्य इंजीनियरों की सेवाएँ प्राप्त करें। यदि सरकार चाहे तो वह सार्वजनिक स्वास्थ्य कार्यक्रमों में योग्य व्यक्तियों को नौकरी दे सकती है। ५५ साल पर रिटायर होने के कानून का कड़ा पालन किया जाए और किसी भी स्थिति में व्यक्तियों की सेवा-अवधि को बढ़ाया न जाये। किन्तु आश्चर्य की बात है कि उत्तर-प्रदेश की सरकार ने समिति के सुझावों के विपरीत रिटायर होने की आयु ५५ से ५८ साल कर दी है। ऐसा कर देने से नवयुवकों को रोजगार के अवसर तुरन्त ही प्राप्त नहीं हो सकेंगे। समिति का सुझाव था कि बड़े और छोटे पैमाने के उद्योगों का साथ ही साथ विकास किया जाए ताकि वे अधिकाधिक संख्या में नवयुवकों को रोजगार प्रदान कर सकें। अनिवार्य प्रारम्भिक शिक्षा प्रदान करने की व्यवस्था तुरन्त ही की जाये। हाई स्कूल की परीक्षा में दो प्रकार के प्रमाण-पत्र होने चाहियें। प्रथम शिक्षा की समाप्ति का और दूसरा कला-विज्ञान व वाणिज्य सम्बन्धी उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए होना चाहिए। इस प्रकार उच्च शिक्षा केवल उन्हीं व्यक्तियों को प्राप्त होगी जो उसके योग्य हैं तथा यूनिवर्सिटी शिक्षा में अयोग्य विद्यार्थियों की संख्या

और इस प्रकार जो पूंजी बचती है उसको उपभोक्ता वस्तुओं के संगठित उद्योगों के [illegible]ास में लगा दिया जाता जिससे न केवल मुद्रा-प्रसार को रोकने में ही सहायता मिलती वरन् उत्पादक रोजगारों के नये अवसर भी प्राप्त हो जाते। वास्तव में नियोजन आयोग को उपलब्ध वास्तविक साधनों तथा रोजगार और उत्पादन लक्ष्यों [illegible]जस्य स्थापित करने में अधिक समय देना चाहिये था और अधिक बुद्धिमानी [illegible] काम लेना चाहिये था।

यह स्वीकार करने में किसी को भी आपत्ति न होगी कि भारत में बेकारी की समस्या बहुत ही भीषण है और केवल विभिन्न प्रकार के छोटे तथा बड़े उद्योगों के विकास से ही दूर नहीं की जा सकती। इसीलिए यह आवश्यक है कि हम ग्रामीण क्षेत्रों में सड़कें, कुएँ, नहरें, नालियों आदि को बनवाने, बेकार भूमि को खेती योग्य बनाने आदि जैसे कामों में जिनमें अधिक श्रमिकों की आवश्यकता होता है, 'मुक्ति' प्रकार के रोज़गार प्रदान करने पर अपनी दृष्टि केन्द्रित करें और कुटीर उद्योगों को आर्थिक सहायता देकर रोजगार प्रदान करने की ओर अधिक महत्व न दें। यद्यपि नियोजन आयोग ने सामुदायिक विकास क्षेत्रों में इस प्रकार के कार्यक्रमों को कार्य-रोपित करने का प्रयत्न किया है किन्तु उन्होंने प्रो० महलनॉविस की विधि को पूर्णरूप से कार्यान्वित करके और उपभोक्ता वस्तुओं के संगठित उद्योगों की अपेक्षा भारी उद्योगों के विकास की ओर ध्यान देकर एक न्यायशील रोजगार नीति का निर्माण नहीं किया है।

रोज़गार तथा तीसरी योजना—तीसरी योजना में रोजगार सम्बन्धी लक्ष्यों को दीर्घकालीन दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर निर्धारित किया गया था। नियोजन आयोग के अनुमानानुसार १५ वर्षों (१९६१–१९७६) में श्रम शक्ति में लगभग ७ करोड़ की वृद्धि की आशा थी। इसमें से १·७ करोड़ की तीसरी योजना काल में, २·३ करोड़ की चौथी योजना काल में और तीन करोड़ की पाँचवीं योजना काल में वृद्धि होने का अनुमान था। पहली दो योजनाओं में जो रोज़गार-अवसरों में वृद्धि हुई उनमें से अधिकांश ग़ैर-कृषि क्षेत्र को ही प्राप्त हुए। इसी प्रकार तीसरी योजना में भी केवल १·४ करोड़ नये रोज़गार-अवसर प्रदान करने का लक्ष्य नियत किया गया था। १·०५ ग़ैर-कृषि क्षेत्र में और ·३५ करोड़ क्षेत्र में।

फिर भी ३० लाख व्यक्ति बेकार रहते। इसको हल करने के लिये तीसरी योजना में मुख्यतया तीन दिशाओं में कार्य करने की बात कही गई थी। (१) योजना के ढाँचे के अन्तर्गत ऐसे प्रयत्न करना जिनसे रोज़गार प्रभाव-भूत की अपेक्षा अधिक विस्तृत तथा एक सार हों। (२) ग्रामीण औद्योगीकरण का विस्तृत कार्यक्रम आरम्भ करना; और (३) ग्रामीण निर्माण-कार्यों का एक कार्यक्रम निश्चित करना।

इसी प्रकार ग्रामीण क्षेत्रों में नये-नये निर्माण-कार्यों द्वारा जिसमें सभी प्रकार के व्यक्ति तथा संस्थायें सम्मिलित होंगे नये रोज़गार अवसर प्रदान करने थे। अनुमान था कि इन कार्यों के परिणामवश प्रथम वर्ष में १ लाख, दूसरे वर्ष में ४–५ लाख, तीसरे वर्ष में १० लाख और अन्तिम वर्ष तक २५ लाख व्यक्तियों को नौकरियाँ प्राप्त

होनी थीं।

रोजगार तथा चौथी योजना—चौथी योजना की प्रारम्भिक रूपरेखा में लगभग १·८५ से १·९० करोड़ अतिरिक्त व्यक्तियों को रोजगार अवसर प्रदान करने की आशा व्यक्त की गई है। यह अनुमान है कि १·४० करोड़, ग़ैर कृषि क्षेत्र में और ४५ से ५० लाख कृषि क्षेत्र में, नये अवसर प्रदान किये जा सकेंगे।

पिछली योजनाओं की कार्यरोपण के परिणाम, इस दिशा में तनिक भी संतोषजनक नहीं रहे हैं। उदाहरण के लिये दूसरी योजना के अन्त में बेकार व्यक्तियों की संख्या (९० लाख) अधिक थी जबकि आरम्भ में कम (५३ लाख) थी। इसी प्रकार अनुमान है कि तीसरी योजना के अन्त में लगभग ९० लाख या १ करोड़ व्यक्ति बेकार थे और इनकी संख्या (यदि स्थिति ऐसी ही चलती रहती है तो अवश्य ही) १·३० या १·४० करोड़ हो जायेगी। अतः स्पष्ट है कि हमारी नीति इस दिशा में उचित तथा फलदायक सिद्ध नहीं हुई है। नियोजन आयोग को इस ओर व्यवहारिक दृष्टिकोण अपनाना चाहिये, वरना देश के भविष्य के सुधरने की कोई आशा नहीं दीखती।

परिशिष्ट

सन् १९६७–६८ का बजट

उपप्रधान मन्त्री तथा वित्तमन्त्री श्री मोरार जी देसाई ने २५ मई, सन् १९६७ को लोक सभा में नया बजट पेश किया। २० मार्च को अन्तरिम बजट पेश करते समय यह अनुमान लगाया था कि १९६६–६७ के बजट में लगभग ३५० करोड़ रुपयों का घाटा रहेगा जब कि नए बजट में श्री देसाई ने बताया कि यह घाटा केवल ३१३ करोड़ रुपयों का हुआ है। जिसका मुख्य कारण विभिन्न मदों में खर्च में बचत करना है। श्री देसाई ने बताया कि उनका बजट कई कठिन और परस्पर विरोधी बातों को ध्यान में रखकर बना है, जैसे सूखे की स्थिति, मूल्यों की वृद्धि, औद्योगिक क्रियाओं को नई स्फूर्ति देना, निर्यातों के क्षेत्र में जो प्रतिकूल प्रवृत्तियां उत्पन्न हुई हैं उनका निवारण करना और इन सब समस्याओं का इस तरह हल करना कि हमें एक लम्बी अवधि तक संतोषजनक विकास की आशा हो सके जिसमें मूल्य स्थिर रह सकें और आत्मनिर्भरता बढ़ सके, और साथ ही राष्ट्रीय सुरक्षा और सामाजिक न्याय की आवश्यकताओं की भी उपेक्षा न हो।

कृषि उत्पादन में वृद्धि करने के लिये राज्य सरकारों को ५९० करोड़ रुपयों की आयोजना सम्बन्धी सहायता देने का विचार है। विदेशों से रासायनिक खाद्य मंगाने के लिये लगभग ३० करोड़ डौलर की व्यवस्था की जाऐगी। सूखे से कच्चे जूट, कपास, तिलहन और चीनी जैसी आवश्यक वस्तुओं पर भी बुरा असर पड़ा है। कच्चे जूट और कपास के आयात करने की व्यवस्था के अतिरिक्त देश में उत्पादन को बढ़ाने के लिये भी व्यवस्था की जाएगी।

मुद्रा स्फीति तथा मूल्य वृद्धि के विषयों की चर्चा करते हुए श्री देसाई ने बताया कि पिछले तीन वर्षों में मूल्यों में ४६% की वृद्धि हुई है, और इस वृद्धि के रुकने की कोई आशा नजर नहीं आती। जनता अपनी बचतों को अनुत्पादक निवेशों (Investments) में लगाती है, इसलिये सबसे जरूरी बात यह है कि ऐसे प्रयत्न किए जाएं जिससे मुद्रा बाहुल्य की मनोवृत्ति समाप्त की जा सके। इसलिये मौजूदा बजट में केन्द्रीय सरकार के खर्चों को उन्हीं साधनों की सीमाओं के अन्दर रखा जायेगा जो मुद्रा का फैलाव किये बिना जुटाए जा सकें। राज्य सरकारों को चाहिये कि वे भी अपने खर्चों को अपने साधनों की सीमाओं के भीतर रखें और रिजर्व बैंक से अपनी जमा से अधिक रकमें न निकाले। नये बजट में राज्य सरकारों को अन्तरिम बजट की अपेक्षा ९८ करोड़ रुपयों की अधिक सहायता देने का विचार है।

निर्यातों को प्रोत्साहन देने के लिये लाइसैन्स देने की नीति को अधिक उदार

बनाया जायेगा तथा उद्योगों के आधुनिकीकरण और अभिनवीकरण के आधार पर तथा कृषि और उद्योगों के उन क्षेत्रों में जहाँ प्रतियोगिता करने की हमारी स्थिति, दीर्घकालीन दृष्टि से सुदृढ़ है, उनका सोच समझ कर विस्तार किया जाएगा। इसके अतिरिक्त पूँजीगत वस्तुओं के आयात में अधिक स्वतन्त्रता और अधिक विदेशी मुद्रा का प्रयोजन किया जाएगा। आयातों के सम्बन्ध में खास-खास वस्तुओं के लिये वर्तमान पाबन्दियों को नरम किया जाएगा। श्री देसाई ने कहा कि वर्तमान परिस्थितियों में एक ऐसी सुविचारित और विवेकपूर्ण नीति की आवश्यकता है जिसके अनुसार संरक्षण की सीमाएँ समय-समय पर और वस्तु-वस्तु के अनुसार बदलती रहें ताकि धीरे-धीरे एक वस्तु का संरक्षण समाप्त करके उन अन्य वस्तुओं को संरक्षण दिया जाए जिनका उत्पादन देश में शुरू हो जाए।

वजट प्रस्तावों की चर्चा करते हुए श्री देसाई ने निम्न बातों पर प्रकाश डाला :—

(१) निर्यात शुल्क—जूट की चीजों के निर्यात को बढ़ाने के लिये बोरियों के शुल्क में १५० रुपया प्रति मैट्रिक टन, कालीनों के अस्तर और जूट की खास चीजों के शुल्क में ३०० रुपया प्रति मैट्रिक टन और हेसियन की दूसरी चीजों के शुल्क में १५० रुपया प्रति मैट्रिक टन की कमी करने का प्रस्ताव है, जिससे पूरे वर्ष में राजस्व प्राप्तियों में १३.५० करोड़ रुपयों की कमी होगी। जिस खनिज मैंगनीज में १०% या इससे अधिक पर ४८% से अधिक मैंगनीज तत्व नहीं होगा उसके निर्यात शुल्क में ७.५० रुपये प्रति मैट्रिक टन की कमी करने का प्रस्ताव है ताकि जो रेल भाड़े में वृद्धि हुई है उसका असर दूर हो जाए। नीले चूरे सहित खनिज लोहे के चूरे के निर्यात शुल्क में भी एक रुपया प्रति मैट्रिक टन की कमी की जा रही है इन कमियों से साल भर में ८३ लाख रुपयों की कमी होगी। चाय के उत्पादन शुल्क को बढ़ाकर निर्यात शुल्क में २४ पैसा प्रति किलोग्राम की कमी करने का विचार है जिससे प्रति वर्ष ४.६८ करोड़ रुपये की हानि होगी। जूतों और उनके हिस्सों पर फिर से शुल्क लगाया गया है जिससे २.७५ करोड़ रु० की अतिरिक्त आय प्राप्त होगी।

(२) प्रत्यक्ष कर :—प्रत्यक्ष करों में कुछ खास-खास और मामूली रियायतें देने का श्री देसाई का विचार है। यह मुख्य रियायतें इस प्रकार हैं :—

(क) अधिक से अधिक १०,००० रुपये तक की कुल आमदनी वाले निवासी व्यक्तियों के मामले में, एक या इससे अधिक आश्रित माता-पिता या दादा-दादी के भरण-पोषण के लिये ४०० रुपये की निर्धारित छूट देने का मेरा प्रस्ताव है। इस छूट पर, कर की राहत का हिसाब, आय के शुरू के खण्ड पर लगने वाली ५ प्रतिशत की दर से लगाया जाएगा। यह छूट तभी मिल सकेगी जब आश्रित माता-पिता या दादा-दादी की वार्षिक व्यक्तिगत आमदनी १००० रुपए से अधिक नहीं होगी। अनुमान है इस रियायत से राजस्व में लगभग २ करोड़ रुपए की कमी हो जाएगी।

(ख) इस समय हम १५,००० रुपए से अधिक की अनर्जित आय पर अधिक भार (सरचार्ज) लगाते हैं। छूट की इस सीमा को ३०,००० रुपए तक बढ़ा देने का

मेरा प्रस्ताव है। इस रियायत से ७५ लाख रुपए की हानि होगी।

(ग) उन सभी करदाताओं को, जिनकी लाभांश-आय (डिवीडेण्ट इनकम) वर्ष में ५०० रुपए से अधिक नहीं हैं, भारतीय कम्पनियों से प्राप्त सारी लाभांश-आय को अपनी कर-योग्य आय में शामिल न करने की छूट दी जाय। इससे कम और दरमियानी आमदनी वाले समूहों के करदाताओं को शेयरों आदि में पूंजी लगाने के लिए प्रोत्साहन मिलना चाहिए। इस व्यवस्था से राजस्व में लगभग १.५० करोड़ रुपए की कमी का अनुमान है।

(घ) मंजूर-शुदा बचतों की रक़म की मौजूदा सीमा को, जिसे व्यक्तियों और हिन्दू अविभक्त परिवारों के मामले में कर से राहत मिलती है, कुल आमदनी के २५ प्रतिशत से बढ़ाकर ३० प्रतिशत कर देने का प्रस्ताव है। व्यक्तियों के मामले में १२,५०० रुपए की सीमा और अविभक्त हिन्दू परिवारों के मामले में २५,००० रुपए की सीमा को बढ़ाकर क्रमशः १५,००० रुपए और ३०,००० रुपए कर दिया जाएगा।

(ङ) वार्षिकी जमा योजना में ६० वर्ष से अधिक उम्र के लोगों को कोई रक़म जमा कराने की जरूरत नहीं है, अभी आयु सीमा ७० वर्ष है। इसी तरह, सभी निर्धारितियों (असेसीज) के मामले में, जितनी रकम का जमा कराया जाना जरूरी है उसमें १०० रुपए तक या जमा कराई जाने वाली रकम के १० प्रतिशत तक की कमी होने पर जुर्माने के रूप में कोई कर नहीं देना पड़ेगा।

(च) भारतीय वैज्ञानिकों, प्रोफेसरों और अनुसंधान कर्ताओं को, जिनका साल का कुछ हिस्सा विदेशी विश्वविद्यालयों या अन्य शैक्षणिक अथवा विज्ञान सम्बन्धी संस्थाओं में गुजरेगा, विदेशों स्रोतों से प्राप्त पारिश्रमिक के ५० प्रतिशत के बराबर की रक़म को कुछ शर्तों के अधीन, अपनी कर योग्य आमदनी में से घटा देने की अनुमति दी जाएगी।

निगम करों के सम्बन्ध में निम्न रियायतें देने का प्रस्ताव है :—

(१) जिन छोटे उद्योगों तथा व्यापक रूप से नियन्त्रित देशी कम्पनियों की आय ५० हजार रुपए से अधिक नहीं होगी उनको ४५ प्रतिशत की रियायती दर लागू करने का प्रस्ताव है। अभी यह रियायत केवल उन्हीं कम्पनियों को प्राप्त है जिनकी आय २५ हजार रुपए है। इस रियायत से राजस्व में लगभग १८ लाख रुपए की कमी होगी।

पर्यटन उद्योग—पर्यटन उद्योग को प्रोत्साहन देने के लिए, भारतीय कम्पनियों द्वारा संचालित मान्यता प्राप्त होटलों को भी वे ही सुविधाएं देने का विचार है जो प्राथमिकता प्राप्त उद्योगों को मिली हुई हैं। इसके अलावा, इन कम्पनियों द्वारा ३१ मार्च, सन् १९६७ के बाद बनाई जाने वाली होटलों की इमारतों के सम्बन्ध में, निर्माण व्यय के २५ प्रतिशत के बराबर की रकम के प्रारम्भिक मूल्यह्रास की छूट देने का प्रस्ताव है। होटल उद्योग को कुछ और रियायतें देने का भी विचार है।

छूट को अधिक सार्थक बानाने के लिए १९६७–६८ के कर निर्धारण वर्ष से संबंधित कर अवकाश की लाभ की रकम का, जिसका फायदा न उठाया गया हो,

व्यापार के शुरू होने के वर्ष से आठ वर्ष तक आगे ले जाने की अनुमति देने का प्रस्ताव है।

कर संबंधी मौजूदा कानूनों में कुछ बातें ऐसी हैं जिनके कारण कम्पनियों के वांछनीय एकीकरण पर रोक लगती है, क्योंकि उनके कारण इस एकीकरण से कुछ दायित्व आ पड़ते हैं। कानून में इस संबंध में मौजूदा रुकावट को दूर करके इस प्रक्रिया को सुविधाजनक बनाने का प्रस्ताव है।

राज्य सरकारों द्वारा किए गए प्रयत्नों की पूर्ति के लिए, उन औद्योगिक एक्टों को, जिनमें पूर्वी पाकिस्तान, बर्मा, श्री लंका और पूर्वी अफ्रीका के विस्थापित व्यक्ति और विदेशों से लौटे भारतीय काम करते हों, अपनी कर-योग्य आमदनी का हिसाब लगाते समय अपने लाभ के ५० प्रतिशत के बराबर की रकम को, कुछ शर्तों के अधीन घटाने की अनुमति देने का प्रस्ताव है।

शत्रु की कार्रवाई या दैवी विपत्ति के कारण जिन उद्योगों को क्षति पहुँची हो या जो नष्ट हो गए हों उन्हें करों में कुछ रियायतें देने का भी प्रस्ताव है।

देश में वैज्ञानिक अनुसंधान को बढ़ावा देने के उद्देश्य से, ३१ मार्च, सन् १९६७ को वैज्ञानिक अनुसंधान के लिए स्थापित मशीनों और सयंत्रो पर दी जाने वाली विकास छूट की मौजूदा दर को २० प्रतिशत से बढ़ाकर ३५ प्रतिशत की प्राथमिकता दर में बदल देने का प्रस्ताव है। इसके अतिरिक्त वैज्ञानिक अनुसंधान के लिए इस्तेमाल की जाने वाली परिसंपत्ति पर ३१ मार्च, १९६७ के बाद किए जाने वाले सारे पूँजीगत खर्च को उस वर्ष कटौती के रूप में छूट दी जाएगी, जिस वर्ष यह खर्च किया गया हो।

प्रत्यक्ष करों में दी जाने वाली विभिन्न रियायतों से, राजस्व में पूरे वर्ष में कुल मिला कर लगभग ५ करोड़ रुपए की कमी होगी। इस कमी को पूरा करने के लिए करों से पहले से ज्यादा वसूली प्राप्त करने और उद्गम स्थान पर करों की कटौती करने को अधिक व्यापक रूप दिया जाएगा। इसके अतिरिक्त करों के ढ़ांचे को युक्ति संगत और सरल बनाने के लिए भी उपाय किये जाएेंगे। कर संबंधी कानूनों और करों की दरों में जो परिवर्तन किये गए हैं वे पिछले वर्ष की आमदनियों पर लागू न करके अगले वर्ष की आमदनियों पर लगाये जायेंगे। उन क्षेत्रों में से अधिकतर क्षेत्र हटा दिये जायेंगे जिनमें कुल आय पर कर की औसत दर से इस समय छूटों और राहतों का हिसाब लगाना पड़ता है। इन क्षेत्रों में कर लगने योग्य आय का हिसाब करने में छूट और राहत के योग्य सारी आय या उसका उल्लिखित अंश घटाने की अनुमति देने के लिये उपबन्ध बनाये जायें। धर्मार्थ दानों पर कर की छूट लगाने के लिए भी इसी प्रकार के उपबंध बनाये जायेंगे। प्रधानमंत्री की सूखा-पीड़ित सहायता निधि में दिये जाने वाले दान उन दानों की श्रेणियों में शामिल किये जायेंगे जो इस समय कर संबंधी राहत के योग्य हैं और उन पर २ लाख रुपये या कुल आय के १० प्रतिशत भाग की वह उच्चतम सीमा लागू नहीं होती, जो साधारण धर्मार्थ दानों पर लागू होती है।

इस समय केवल वेतनों, प्रतिभूतियों के ब्याज या लाभांशों से बनने वाली उनकी आय में से उद्गम स्थान पर कर काट लिया जाता है। कर-संग्रह को बढ़ाने

और संग्रह-कार्य को शीघ्रता से करने के उद्देश्य से यह विचार किया गया है कि निवासियों के मामले में उद्गम-स्थान पर कर काट लेने के नियम को बैंकों, कम्पनियों और अन्य संगठित संस्थाओं के द्वारा देय, जमा रक़मों, ऋणों या अन्य ऋणों के ब्याज पर तथा व्यवसायिक सेवाओं की फीस और दलाली तथा कमीशन पर भी लागू किया जाए। इसमें कुछ छूट देने की व्यवस्था भी की जाएगी।

डाक और तार—पार्सलों, रजिस्टर्ड अखबारों, बुक-पैकिटों आदि की डाक दर में कुछ वृद्धि करने और रजिस्ट्री फीस, एक्सप्रेस डिलीवरी और बीमे की फ़ीस तथा पैकिटों की हवाई डाक की फ़ीस बढ़ाने का भी प्रस्ताव है, इन वृद्धियों से लगभग १.८४ करोड़ रुपए प्रति वर्ष प्राप्त होंगे। बधाई तारों तथा एक्सप्रेस बधाई तार की दरें भी बढ़ाई जाएँगी। ग़ैर अखबारी अन्तर्देशीय तार की दर में कोई वृद्धि नहीं होगी लेकिन दस शब्दों की बजाय आठ शब्दों पर तार की वर्तमान दर ली जाएगी। टैली-प्रींटर मशीन का किराया बढ़ाने का भी प्रस्ताव है। अन्य प्रकार के तारों की दरों में भी परिवर्तन किये जायेंगे। इन उपायों से १.०२ करोड़ रुपए की अतिरिक्त आय प्राप्त होने का अनुमान है। टेलीफोन सेवाओं के शुल्कों में भी संशोधन किये गये हैं जिनसे १.५८ करोड़ रुपए की वार्षिक आय प्राप्त होगी। उपर्युक्त डाक तार संबंधी परिवर्तनों से पूरे वर्ष में ४.४४ करोड़ रुपया और चालू वर्ष के बाकी भाग में ३ करोड़ रुपया प्राप्त होगा। डाक और तार शुल्कों में किये जाने वाले मुख्य परिवर्तन निम्न प्रकार हैं—

डाक और तार शुल्कों में प्रस्तावित संशोधन

डाक शुल्क

मदें	मौजूदा शुल्क		प्रस्तावित शुल्क	
		पैसे		पैसे
१. रजिस्टर्ड समाचार पत्र	१०० ग्राम तक	१	१०० ग्राम तक	५
	१०० से २०० ग्राम तक	३	१०० ग्राम से २५० ग्राम तक	१०
	उसके बाद प्रति २०० ग्राम	३	उसके बाद प्रति २५० ग्राम	५
	एक से अधिक प्रतियों के लिये अधिक से अधिक १०० ग्राम	३	अधिक से अधिक १०० ग्राम	५
	उसके बाद प्रति ५० ग्राम	२	अधिक से अधिक १५० ग्राम	५
२. पार्सल	प्रति ४०० ग्राम	६०	प्रति ४०० ग्राम	६५
३. रजिस्ट्री फीस		५५		६०

४. बीमा	१००) के मूल्य पर	४०	४५
	प्रति १०० पर (५००० तक)	२०	२५
	प्रति १०००) पर	१००	१००
५. एक्सप्रेस डिलीवरी फीस		१३	१५
६. हवाई अधिभार (प्रति १० ग्राम)		४	५
७. रजिस्टर्ड हुए पत्रिकाओं वाले पुस्तक पैकिट—			
(अ) १०० ग्राम तक		८	१०
(ब) उसके बाद प्रति ५० ग्राम		३	५
८. छपी हुई पुस्तकों वाले पैकेट			
(अ) ५० ग्राम तक		५	५
(ब) उसके बाद प्रति २५ ग्राम		३	५

तार टेलीग्राम

मदें	मौजूदा शुल्क			प्रस्तावित शुल्क	
१. अन्तर्देशीय तार ग़ैर-अखबारी	साधारण रु० पै०	एक्सप्रेस रु० पै०	पहले ८ शब्द या उससे कम	साधारण रु० पै०	एक्सप्रेस रु० पै०
(अ) पहले १० शब्दों या उससे कम	१·००	२·००		१·००	२·००
(ब) प्रत्येक अतिरिक्त शब्द	०·१०	०·२०		०·१०	०·२०
२. बधाई तार					
(अ) पहले ८ शब्द या उससे कम	०·७५	१·५०		०·८०	१·६०
(ब) प्रत्येक अतिरिक्त शब्द	०·१०	०·२०		०·१०	०·२०
३. टैलीप्रिंटर मशीन का किराया	१२५० रु० प्रतिवर्ष			१५०० रु० प्रतिवर्ष	
४. अंशकालिक टेलीग्राफ। टेलीप्रिन्टर सर्किट	पहले घंटे के लिए—पूरे समय के किराये का $\frac{1}{6}$			जब सर्किट की आवश्यकता ८ घंटे से अधिक समय के लिए न हो—पूरे समय के किराये का $\frac{1}{2}$	
समाचार पत्रों और एजेंसियों को दिये गये सर्किटों से भिन्न का किराया।	बाद के प्रत्येक घंटे के लिए—पूरे समय के किराये का $\frac{1}{24}$			जब सर्किट की आवश्यकता ८ घंटों से अधिक समय के लिए हो—पूरे समय का किराया	

उत्पादन-शुल्क और सीमा शुल्क—कहवे और चाय में उत्पादन-शुल्क बढ़ाये गये हैं। इन वृद्धियों से पूरे वर्ष में ८·४० करोड़ रुपये का राजस्व प्राप्त होगा। हैसियन और जूट से बनी अन्य वस्तुओं के मौजूदा बुनियादी उत्पादन-शुल्क क्रमश: २५० रुपया और १२५ रु० प्रति मैट्रिक टन हैं। अब उन्हें बढ़ाकर क्रमश: ३७५ रु० और १७५ रु० प्रति मैट्रिक टन किया जा रहा है। इससे प्रति वर्ष ३·०० करोड़ रुपये का अतिरिक्त राजस्व प्राप्त होगा।

चाय, जूता, सिगरेट—जूतों और उनके हिस्सों, जिनमें अच्छी निर्यात क्षमता हैं, फिर शुल्क लगाने का विचार हैं। यह शुल्क फरवरी, १९६५ के बजट प्रस्तावों के एक अंश के रूप में दी गयी छूट द्वारा हटा दिया गया था। पहले की भांति, बिजली की सहायता के बिना या बिजली से चलने वाले छोटे कारखानों में बनाये गये जूते आगे भी शुल्क-मुक्त रहेंगे। इस प्रस्ताव से प्रतिवर्ष २·७५ करोड़ रु० का अतिरिक्त राजस्व प्राप्त होगा। सिगरेट पर लगे हुए शुल्कों में काफी वृद्धि की जायेगी, जिससे प्रति वर्ष २८·५० करोड़ रुपये का राजस्व प्राप्त होगा। प्रस्तावित वृद्धि सस्ती सिगरेटों की अपेक्षा मंहगी सिगरेटों पर ज्यादा होगी। कुछ वृद्धि सिगार और चुरुट के शुल्क में भी करने का विचार है जिससे लगभग १ लाख रुपया प्राप्त होगा।

अवमूल्यन के समय पेट्रोलियम पदार्थों के उत्पादन-शुल्क और सीमा शुल्क में इस प्रकार फेर बदल किया गया था कि इनके मूल्य में वृद्धि न हो। इससे राजस्व में बहुत कमी हुई। इस कमी की रकम उस राजकीय सहायता की रकम के बराबर थी जो अन्न और रासायनिक खाद पर इसी प्रयोजन के लिए उस समय दी जाती थी। रासायनिक खाद सम्बन्धी राज सहायता कम कर दी गयी है। इसलिए मोटर स्प्रिट के बुनियादी उत्पादन शुल्क को ४५१.०५ रुपया प्रति किलो लीटर से बढ़ाकर ५५० रुपया प्रति किलोलीटर और साफ किए हुए डीजल तेल और उड़ने वाले तेल के बुनियादी उत्पादन-शुल्क को ४४१.०५ रुपया प्रति किलो लीटर से बढ़ाकर ४६१.०५ रुपया प्रति किलो लीटर कर दिया जायेगा। उन पेट्रोलियम पदार्थों पर लगा उत्पादन-शुल्क भी १० प्रतिशत मूल्यानुसार से बढ़ाकर २० प्रतिशत मूल्यानुसार कर देने का विचार है। खनिज तेल से बनने वाले पदार्थों के शुल्कों में की जाने वाली इन वृद्धियों से प्रतिवर्ष २५.६० करोड़ रुपये का राजस्व प्राप्त होगा। प्रस्ताव है कि कृत्रिम या संश्लिष्ट (सिन्थेटिक) विरोना और प्लास्टिक द्रव्यों के बुनियादी उत्पादन-शुल्क को २० प्रतिशत मूल्यानुसार से बढ़ाकर ३० प्रतिशत मूल्यानुसार कर दिया जाय। उससे प्रतिवर्ष ४ ५ करोड़ रुपये का अतिरिक्त राजस्व प्राप्त होगा।

रेयन, एल्यूमीनियम—रेयन और संश्लिष्ट रेशों (सिन्थेटिक फाइबर) और धागे, इनके उत्पादन शुल्कों में काफी वृद्धि की जायेगी। इन प्रस्तावित वृद्धियों से प्रतिवर्ष २२ करोड़ रुपये का अतिरिक्त राजस्व प्राप्त होगा। एल्युमीनियम का उत्पादन शुल्क १९६० से ज्यों का त्यों रहा है और हाल के वर्षों में देश में इसके उत्पादन में बहुत वृद्धि हुई है। प्रस्ताव है कि एल्युमीनियम के ढलों का बुनियादी उत्पादन शुल्क ३००

रुपया प्रति मैट्रिक टन से बढ़ाकर ६५० रुपया प्रति मैट्रिक टन, प्लेटों, चादरों, चक्कों (सर्किल) और पट्टियों (स्ट्रिप) का बुनियादी उत्पादन शुल्क ५०० रुपया प्रति मैट्रिक टन से बढ़ाकर १४५० रुपया प्रति मैट्रिक टन पन्नी (फायल) का बुनियादी उत्पादन शुल्क ६०० रुपया प्रतिमैट्रिक टन से बढ़ाकर २००० रुपया प्रति मैट्रिक टन कर दिया जाय। पाइपों, नलियों (ट्यूब) बाहर की ओर निकलते आकार और खण्डों की चीजों (एक्सटेन्डेड शेप और सेक्शन) का शुल्क भी १० प्रतिशत मूल्यानुसार से बढ़ाकर २० प्रतिशत मूल्यानुसार किया जा रहा है।

उत्पादन शुल्कों के परिवर्तन

(लाख रु० में)

वस्तु	अनुमानित अतिरिक्त आय एक पूरे वर्ष में			
	मौलिक उत्पादन शुल्क	विशेष उत्पादन शुल्क	बिक्री कर के स्थान पर अतिरिक्त उत्पादन शुल्क	योग
मौजूदा मदें				
काफी	८५	१७	—	१०२
चाय	६१५	१२३	—	७३८
सिगार तथा चुरुट	१	—	—	१
सिग्रेट	२०९०	४१८	३४२	२८५०
मोटर स्प्रिट	१६६०	—	—	१६६०
शुद्ध किया हुआ डिज़िल तेल तथा वेपोराजिंग तेल	७००	—	—	७००
पैट्रोल वस्तुएँ	२००	—	—	२००
बनावटी रेज़िन और प्लास्टिक वस्तुएँ	३७५	७५	—	४५०
कृत्रिम सूत तथा धागा	१३९८	८०२	—	२२००
अच्छा बटा हुआ सूती धागा	१३३०	(-) २५०	—	१०८०
सूती कपड़ा	(-) ३००	—	—	(-) ३००
जूट की वस्तुएँ	२७३	२७	—	३००
एल्यूम्यूनियम	९१५	१८३	—	१०९८
योग	९३४२	१३९५	३४२	११९७९
नई मदें				
रबड़ की वस्तुएँ	१६५	३३	—	१९८
जूते तथा उनके हिस्से	२७५	—	—	२७५
योग	४४०	३३	—	४७३
कुल योग	९७८२	१४२८	३४२	१२५५२

इन परिवर्तनों से प्रतिवर्ष १०.९८ करोड़ रुपये का अतिरिक्त राजस्व प्राप्त होगा। रुई के बटे हुए धागे और तागे के उत्पादन शुल्क में वृद्धि करने का भी प्रस्ताव है। इस धागे और तागे से बिजली से चलने वाले कर्घो पर बारीक और बहुत बारीक कपड़ा बनाया जाता है। इन परिवर्तनों के परिणाम स्वरूप ७.८० करोड़ रुपये की अतिरिक्त आय प्राप्त होगी।

इस वर्ष एक नई मद पर उत्पादन शुल्क लगाने का प्रस्ताव रक्खा गया है और वह है रबड़ के पाइप, ट्यूब और पेटियां इन वस्तुओं पर उत्पादन शुल्क की दर मूल्यानुसार १५ प्रतिशत होगी और इससे प्रतिवर्ष १.९८ करोड़ रुपये की आय प्राप्त होगी। उत्पादन शुल्क सम्बन्धी सारे परिवर्तनों से पूरे वर्ष में ११५.५२ करोड़ रुपये की अतिरिक्त आय प्राप्त होगी जिसमें से राज्यों को २२.९८ करोड़ रुपया प्राप्त होगा। यह परिवर्तन पिछले पृष्ठ की तालिका से जाने जा सकते हैं।

आयात शुल्कों से सम्बन्धित परिवर्तन केवल उन्हीं वस्तुओं में किए गये हैं जहाँ उत्पादन-शुल्कों में वृद्धि की गई है या फेर बदल किये गये हैं। विदेशों से मंगाई जाने वाली वस्तुओं पर मौजूदा शुल्कों के अलावा इन वृद्धियों के बराबर प्रति-संतुलन कारी शुल्क भी लगाये जाएंगें। किन्तु एल्यूमिनियम के डलों और तार की छड़ों के सम्बन्ध प्रति संतुलनकारी शुल्क, उत्पादन शुल्कों के बिलकुल बराबर नहीं होंगे बल्कि उनकी दर ४०० रुपया प्रति मैट्रिक टन कम होगी। प्रति-संतुलनकारी शुल्कों की वृद्धि से प्रति वर्ष ७.३३ करोड़ रुपये की अतिरिक्त आय प्राप्त होगी।

क्योंकि यह सभी परिवर्तन चालू वर्ष में केवल १० महीने के लिये लागु होंगे इसलिये इन से इस वर्ष केन्द्र को ९८ करोड़ रुपये की अतिरिक्त आय होगी और डाक और तार दरों के परिवर्तनों से १ करोड़ रुपया प्राप्त होगा। इस प्रकार ९९ करोड़ रुपयों की अतिरिक्त आय से न केवल ९८ करोड़ रुपयों का प्रारम्भिक घाटा पूरा होगा बल्कि कुछ न कुछ रक़म बच रहेगी। इस प्रकार यह एक संतुलित बजट है।

बजट की रूप रेखा निम्न तालिका में दी गई है।

(राजस्व सम्बन्धी बजट Revenue Budget)

आय की मदें	
१. कर आय	
सीमा कर	६५४·०० (-) १०·९२८
संघ उत्पादन कर	१२१५·८८ (+) ९८·१९
कार्पोरेशन कर	३५०·००
आय कर	३९०·००
जायदाद कर	७·२५
धन कर	१२·५०
अन्य भेंट कर	३३·५९
कुल कर आय	२४६३·२२

इससे राज्यों को मिलने वाली राशियों को कम करो।	
आय कर	(—) १३१·५८
जायदाद कर	(—) ६·६४
संघ उत्पादन कर	(—) २३१·५७
	(—) १६·५३*
कुल	(—) ३७०·०६
	(—) १६·५३*
शुद्ध योग	२०६३·१३
	(+) ६७·७१*
गैर कर आय	
ब्याज	४०६·००
मुद्रा तथा टकसाल	७८·०२
अन्य	१२०·२८
कुल	६०७·३०
कुल आय	२७००·४३
	(+) ६७·७१*
व्यय की मदें	
१. प्रशासनिक व्यय	१६३·६२
२. ऋण सेवायें	५१२·६७
३. सामाजिक तथा विकास सेवायें	३१७·७२
४. राज्यों तथा संघ टैरीटरी को अनुदान	४५२·७५
५. विविध	१४३·५०
६. सुरक्षा सेवायें	८४२·४६
७. संचित कोष	२१·१४
कुल व्यय	२४५४·४६

* बजट प्रस्तावों के फल स्वरूप